समयसार सिद्धि

भाग-४

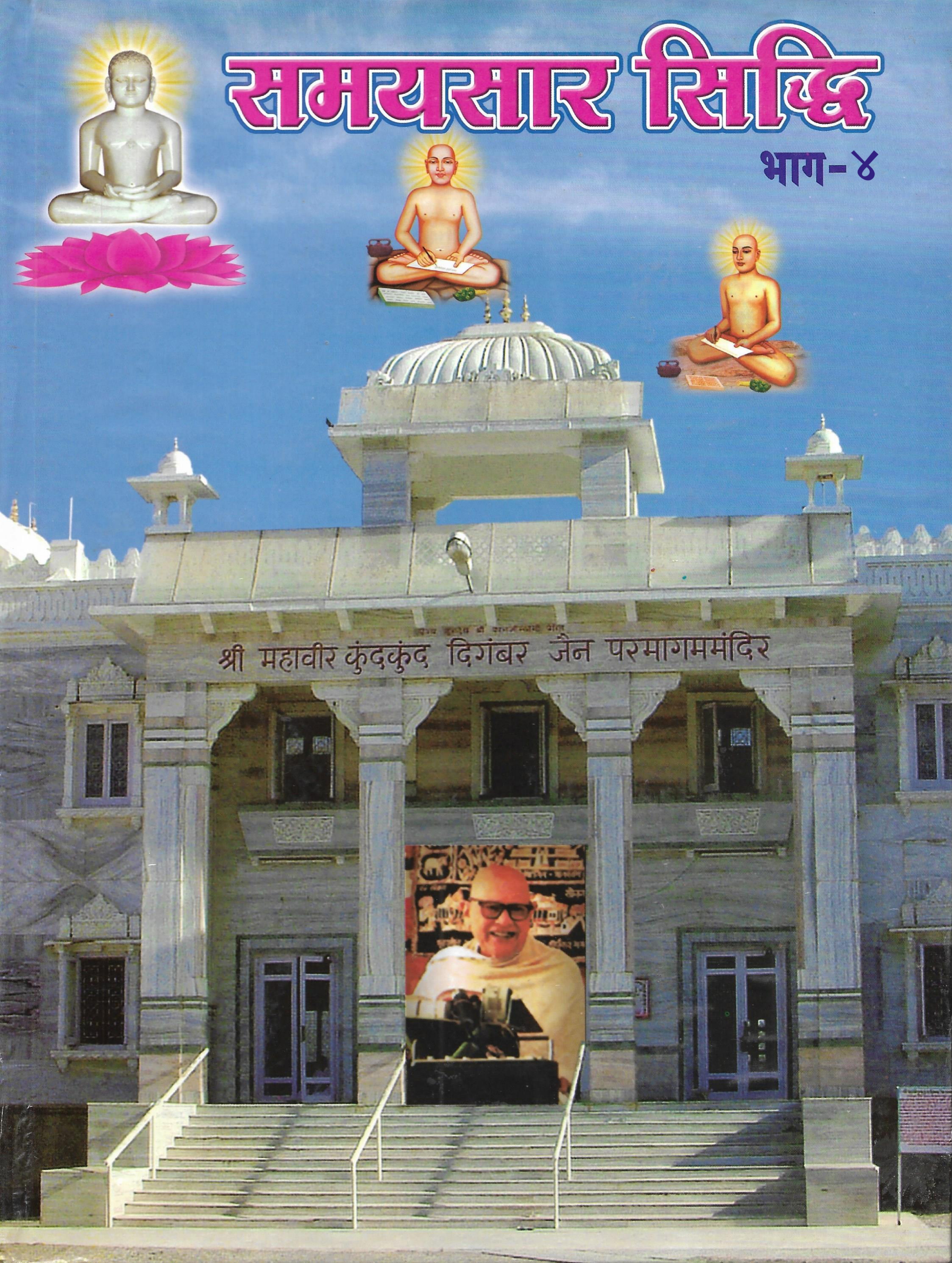
श्री महावीर कुंदकुंद दिगंबर जैन परमागममंदिर

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार सिद्धि

भाग-४

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
उन्नीसवीं बार के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(गाथा ६९ से ९३ तथा कलश ४६ से ५६ तक)
प्रवचन क्रमांक १४४ से १८७

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250, फोन : 02846–244334
2. **श्री कुन्दकुन्द–कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई–400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ–कुन्दकुन्द–कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़–आगरा मार्ग, सासनी–204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए–4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान–302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली–422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर–कुन्दकुन्द–कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट–360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप–सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग-सर्वज्ञ परम देवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यदेशना का अपूर्व संचय करके भरतक्षेत्र में लानेवाले, सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञान साम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकालसर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केलि करनेवाले, चलते-फिरते सिद्ध - ऐसे आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव हुए, जो संवत् 49 में सदेह महाविदेहक्षेत्र में गये और आठ दिन वहाँ रहे थे। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्म चर्चाओं का अमूल्य भण्डार लेकर भरतक्षेत्र में पधारकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें से एक श्री समयसारजी, द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अध्यात्म के प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहन रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञानहृदय को खोलनेवाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्धपद-साधक मुनिसम्पदा को आत्मसात करके, निजस्वरूप के अलौकिक अनुभव से, सिद्धान्त शिरोमणि शास्त्र समयसार की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। उन्होंने श्रीसमयसारजी में निहित सूक्ष्म और गम्भीर रहस्य को, अपूर्व शैली से आत्मख्याति नामक टीका बनाकर, स्पष्ट किया है; साथ ही 278 मंगल कलश तथा परिशिष्ट की रचना भी की है।

इस शास्त्र का भावार्थ जयपुर निवासी सूक्ष्म ज्ञानोपयोगी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्राय: लुप्त हो गया था, सर्वत्र मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त का अभ्यास छूट गया था, परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था - ऐसे विषम काल में जैनशासन के गगन मण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मदृष्टा, आत्मज्ञ सन्त, अध्यात्म युगपुरुष,

निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावी तीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। जिन्होंने इन आचार्यों के ज्ञानहृदय में संचित गूढ़ रहस्यों को अपने ज्ञान-वैभव द्वारा रसपान करके आचार्यों की महा सूक्ष्म गाथाओं में विद्यमान अर्थ गाम्भीर्य को स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा सरल सुगम भाषा में चरम सीमा तक मूर्तिवन्त किया।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिए एक तेजस्वी अध्यात्म दीपक का स्वर्णमय उदय हुआ, जिसने अपनी दिव्यामृत चैतन्य रसीली वाणी द्वारा अध्यात्म सिन्धु के अस्खलित सातिशय शुद्ध प्रवाह को आगे बढ़ाया। आपश्री जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से, अति दृढ़तापूर्वक भवताप विनाशक और परम शान्ति प्रदायक प्रवचन गंगा द्वारा फैलाते रहे; विरोधियों के विरोध का भी, जंगल में विचरते केशरी सिंह की तरह, अध्यात्म के केशरी सिंह बनकर निडररूप से, तथापि निष्कारण करुणावन्त भाव से झेलते रहे। विरोधियों को भी 'भगवान आत्मा' है - ऐसी दृष्टि से देखकर जगत् के जीवों के समक्ष अध्यात्म के सूक्ष्म न्यायों को प्रकाशित करते रहे।

श्री समयसारजी शास्त्र, पूज्य गुरुदेवश्री के कर-कमल में विक्रम संवत् 1978 के फाल्गुन माह में आया था। इस समयसारजी शास्त्र के हाथ में आते ही कुशल झवेरी की पारखी नजर समयसार के सूक्ष्म भावों पर पड़ी और सहज ही अन्तर की गहराई में से भावनाशील कोमल हृदय बोल उठा - 'अरे! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अनादि का अप्रतिबुद्ध जीव प्रतिबुद्ध कैसे हो? - उसका सम्पूर्ण रहस्य और शुद्धात्मा का सम्पूर्ण वैभव इस परमागम में भरा है।

इस शास्त्र का रहस्य वास्तव में तो अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हाथ में यह शास्त्र आने के पश्चात् ही चरम सीमा से प्रकाशित और प्रदर्शित हुआ है। पैंतालीस वर्ष तक स्वर्णपुरी / सोनगढ़ में अध्यात्म की मूसलधार वर्षा हुई है जो सर्व विदित है। पूज्य गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1978 से 1991 - इस तरह तेरह वर्षों तक गूढ़ मन्थन करके जिनवाणी का सम्पूर्ण निचोड़ इस शास्त्र में से ढूँढ़ निकाला और फरमाया है कि —

- समयसार तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट / सर्वोच्च आगमों का भी आगम है।
- समयसार तो सिद्धान्त शिरोमणि, अद्वितीय अजोड़ चक्षु और अन्धे की आँख है।
- समयसार तो संसार विष-वृक्ष को छेदने का अमोघ शस्त्र है।
- समयसार तो कुन्दकुन्दाचार्य से कोई ऐसा शास्त्र बन गया; जगत् का भाग्य कि ऐसी चीज भरतक्षेत्र में रह गयी। धन्य काल!
- समयसार की प्रत्येक गाथा और आत्मख्याति टीका ने आत्मा को अन्दर से डुला

दिया है। समयसार की आत्मख्याति जैसी टीका दिगम्बर में भी दूसरी किसी शास्त्र में नहीं है। इसके एक-एक पद में इतनी गम्भीरता (कि) खोलते-खोलते पार न आये - ऐसी बात अन्दर है।

- समयसार तो सत्य का उद्घाटक है! भारत का महारत्न है!! समयसार.... जिसके थोड़े शब्दों में भावों की अद्भुत और अगाध गम्भीरता भरी है!
- समयसार तो भरतक्षेत्र का प्रवचन का सर्वोत्कृष्ट बादशाह है, यह सार शास्त्र कहलाता है।
- समयसार तो जगत् का भाग्य.... समयसाररूपी भेंट जगत् को दिया, स्वीकार नाथ! अब स्वीकार! भेंट भी दे वह भी नहीं स्वीकारे?
- समयसार तो वैराग्य प्रेरक परमात्मस्वरूप को बतलानेवाली वीतरागी वीणा है।
- समयसार में तो अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत बहाया है, अमृत बरसाया है।
- समयसार एक बार सुनकर ऐसा नहीं मान लेना कि हमने सुना है, ऐसा नहीं बापू! यह तो प्र... वचनसार है अर्थात् आत्मसार है, बारम्बार सुनना।
- समयसार भरतक्षेत्र की अन्तिम में अन्तिम और उत्कृष्टतम सत् को प्रसिद्ध करनेवाली चीज है। भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान सूर्य है। समयसार ने केवली का विरह भुलाया है।
- समयसार की मूलभूत एक-एक गाथा में गजब गम्भीरता! पार न पड़े ऐसी चीज है। एक-एक गाथा में हीरा-मोती जड़े हैं।
- समयसार में तो सिद्ध की भनकार सुनायी देती है। यह तो शाश्वत् अस्तित्व की दृष्टि करानेवाला परम हितार्थ शास्त्र है। समयसार तो साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि / तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है।

ऐसे अपूर्व समयसार में से पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव करके फरमाया कि आत्मा आनन्द का पर्वत है; ज्ञायक तो मीठा समुद्र / आनन्द का गंज और सुख का समुद्र है। न्यायों का न्यायाधीश है, धर्म का धोध ऐसा धर्मी है, ध्रुव प्रवाह है, ज्ञान की धारा है, तीन लोक का नाथ चैतन्यवृक्ष-अमृत फल है, वास्तविक वस्तु है। सदा विकल्प से विराम ही ऐसी निर्विकल्प जिसकी महिमा है - ऐसा ध्रुवधाम ध्रुव की धखती धगश है। भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और कामधेनु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर है।

सनातन दिगम्बर मुनियों ने परमात्मा की वाणी का प्रवाह जीवन्त रखा है। जैनधर्म

सम्प्रदाय–बाड़ा–गच्छ नहीं; अपितु वस्तु के स्वरूप को जैनधर्म कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्र का अर्थ करने की जो पाँच प्रकार की पद्धति — शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ है, उसे अपनाकर कहाँ, किस अपेक्षा से कथन किया जाता है – उसका यथार्थ ज्ञान अपने को–मुमुक्षु समुदाय को कराया है। इस प्रवचन गंगा से बहुत से आत्मार्थी अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, बहुत से स्वरूप के निकट आये हैं और इस वाणी के भाव ग्रहण करके बहुत से आत्मार्थी अवश्य आत्मदर्शन को प्राप्त होंगे ही – यह सुनिश्चित है।

पूज्य गुरुदेवश्री समयसार में फरमाते हैं कि समयसार दो जगह है – एक अपना शुद्धात्मा है वह समयसार है और दूसरा उत्कृष्ट निमित्तरूप समयसारजी शास्त्र है। इस शास्त्र में अपना निज समयसाररूपी शुद्धात्मा बतलाया गया है। प्रत्येक गाथा का अर्थ करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ऐसे भावविभोर हो जाते हैं कि उसमें से निकलना उन्हें सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पंचम काल के अन्त तक जो कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, उसे यह वीतराग की वाणी निमित्त होगी, यह सीधी सीमन्धर भगवान की वाणी है, इसमें एक अक्षर फिरे तो सब फिर जायेगा।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन, अपने वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में फरमाती हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का द्रव्य तो अलौकिक और मंगल है; उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारक है। आपश्री मंगलमूर्ति, भवोदधि तारणहार और महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उनका अपार उपकार है, वह कैसे भूला जाये? पूज्य गुरुदेवश्री को तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तर से मार्ग प्राप्त किया, दूसरों को मार्ग बतलाया; इसलिए उनकी महिमा आज तो गायी जाती है परन्तु हजारों वर्षों तक गायी जाएगी।

पूज्य निहालचन्दजी सोगानी, जिनको पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते हुए भव के अभावरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई – वे फरमाते हैं कि पूज्य गुरुदेव के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी–पूरी बात आ जाती है। सभी बात का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने तैयार करके दिया है; इस कारण कोई बात का विचार नहीं करना पड़ता, वरना तो साधक हो तो भी सब तैयारी करनी पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सभा में समयसार उन्नीस बार पढ़ा और एकान्त में तो सैंकड़ों बार पढ़ा है, तो उन्हें इसमें कितना माल दिखता होगा! कभी ड़ेढ़ वर्ष, कभी दो वर्ष, कभी ढाई वर्ष; इस प्रकार उन्नीस बार पैंतालीस वर्षों में सार्वजनिक पढ़ा है। ये प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री की पैंतालीस

वर्ष की सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई साधना के निचोड़रूप मक्खन है। जैसे-जैसे ज्ञानी की ज्ञानस्थिरता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे एक ही गाथा पर बारम्बार प्रवचन किये जायें तो भी नये-नये भाव आते हैं; इसलिए प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस समयसार सिद्धि, भाग-4, ग्रन्थ में अपूर्व, अनुपम श्री समयसारजी शास्त्र के कर्ताकर्म अधिकार की गाथा 69 से 93 तक, और इनमें समागत कलश 46 से 56 पर पूज्य गुरुदेवश्री के उन्नीसवीं बार के धारावाही प्रवचन नम्बर 144 से 187 प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रवचन-प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दशः लिख लिया जाता है; तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है। प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य में श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट का उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ www.vitragvani.com के शास्त्रभण्डार के अन्तर्गत पूज्य गुरुदेवश्री के शब्दशः प्रवचनों में अपलोड किया गया है।

अन्ततः समयसारस्वरूप निज शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सभी जीव परम शान्ति को प्राप्त हों - इसी भावना के साथ.....

निवेदक
ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई
एवं
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्‌गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्‌या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्‌यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्‌यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्वार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म**

का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त

पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	तारीख	गाथा/कलश नं.	पृष्ठ क्रं.
१४४	२४-११-१९७८	कलश-४६	००१
१४५	२५-११-१९७८	गाथा-६९-७०	०२१
१४६	२६-११-१९७८	गाथा-६९-७०	०३५
१४७	२७-११-१९७८	गाथा-६९-७०-७१	०५०
१४८	२८-११-१९७८	गाथा-७१	०६५
१४९	२९-११-१९७८	गाथा-७१-७२	०७९
१५०	३०-११-१९७८	गाथा-७२	०९६
१५१	०२-१२-१९७८	गाथा-७२	१०८
१५२	०३-१२-१९७८	गाथा-७२	१२१
१५३	२७-१२-१९७८	गाथा-७२	१३७
१५४	२८-१२-१९७८	गाथा-७२	१४९
१५५	३०-१२-१९७८	गाथा-७३, कलश-४७	१६५
१५६	३१-१२-१९७८	गाथा-७३	१८१
१५७	०१-०१-१९७९	गाथा-७४	१९८
१५८	०२-०१-१९७९	गाथा-७४	२१२
१५९	०३-०१-१९७९	गाथा-७४-७५, कलश-४८	२२५
१६०	०४-०१-१९७९	गाथा-७५	२४१
१६१	०५-०१-१९७९	गाथा-७५	२५६
१६२	०७-०१-१९७९	गाथा-७५	२७२
१६३	०८-०१-१९७९	गाथा-७५, कलश-४९	२८८
१६४	०९-०१-१९७९	गाथा-७६	३०७
१६५	१०-०१-१९७९	गाथा-७६-७७	३२२

१६६	११-०१-१९७९	गाथा-७७-७८	३४०
१६७	१२-०१-१९७९	गाथा-७९	३६०
१६८	१४-०१-१९७९	गाथा-७९	३७८
१६९	१५-०१-१९७९	कलश-५०	३९४
१७०	११-०१-१९७९	गाथा-८०-८२, कलश-५०	४१०
१७१	१७-०१-१९७९	गाथा-८३	४३२
१७२	१८-०१-१९७९	गाथा-८३-८४	४४९
१७३	१९-०१-१९७९	गाथा-८५ से ८६	४६८
१७४	२१-०१-१९७९	गाथा-८६	४८८
१७५	२२-०१-१९७९	गाथा-८६, कलश-५१ से ५३	५०५
१७६	२३-०१-१९७९	कलश-५३ से ५५	५२६
१७७	२४-०१-१९७९	गाथा-८७, कलश-५५-५६	५४६
१७८	२५-०१-१९७९	गाथा-८८-८९	५६४
१७९	२६-०१-१९७९	गाथा-८९	५८५
१८०	२८-०१-१९७९	गाथा-९०	६०४
१८१	२९-०१-१९७९	गाथा-९१	६२२
१८२	३०-०१-१९७९	गाथा-९१-९२	६४३
१८३	३१-०१-१९७९	गाथा-९२	६६२
१८४	०१-०२-१९७९	गाथा-९२	६८०
१८५	०२-०२-१९७९	गाथा-९३	६९७
१८६	०४-०२-१९७९	गाथा-९३	७१४
१८७	०५-०२-१९७९	गाथा-९३	७२९

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार परमागम पर

अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

समयसार सिद्धि

(भाग - ४)

—२—

कर्ता-कर्म अधिकार

कलश-४६

अथ जीवाजीवावेव कर्तृकर्मवेषेण प्रविशतः-

(मन्दाक्रान्ता)

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम्।।४६।।

कर्ताकर्मविभावकूं, मेटि ज्ञानमय होय,
कर्म नाशि शिव में बसे, तिहें नमूं, मद खोय।

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब जीव–अजीव ही एक कर्ताकर्म के वेष में प्रवेश करते हैं।' जैसे दो पुरुष परस्पर कोई एक स्वाँग करके नृत्य के अखाड़े में प्रवेश करें, उसी प्रकार जीव–अजीव दोनों एक कर्ताकर्म का स्वाँग करके प्रवेश करते हैं। इस प्रकार यहाँ टीकाकार ने अलंकार किया है।

अब पहले, उस स्वाँग को ज्ञान यथार्थ जान लेता है, उस ज्ञान की महिमा का काव्य कहते हैं:–

श्लोकार्थ : [इह] 'इस लोक में [अहम् चिद्] मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो [एक: कर्ता] एक कर्ता हूँ और [अमी कोपादय:] यह क्रोधादि भाव [मे कर्म] मेरे कर्म हैं' [इति अज्ञानां कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्] ऐसी अज्ञानियों के जो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है, उसे [अभित: शमयत्] सब ओर से शमन करती हुई (–मिटाती हुई) [ज्ञानज्योति:] ज्ञानज्योति [स्फुरति] स्फुरायमान होती है। वह ज्ञानज्योति [परम–उदात्तम्] परम उदात्त है, अर्थात् किसी के आधीन नहीं है, [अत्यन्तधीरं] अत्यन्त धीर है, अर्थात् किसी भी प्रकार से आकुलतारूप नहीं है और [निरुपधि–पृथग्द्रव्य–निर्भासि] पर की सहायता के बिना भिन्न–भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने का उसका स्वभाव है, इसलिये [विश्वम् साक्षात् कुर्वत्] वह समस्त लोकालोक को साक्षात् करती है–प्रत्यक्ष जानती है।

भावार्थ : ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह, परद्रव्य तथा परभावों के कर्तृत्वरूप अज्ञान को दूर करके, स्वयं प्रगट प्रकाशमान होता है।।४६।।

प्रवचन नं. १४४ , श्लोक-४६ दिनाङ्क २४-११-१९७८, शुक्रवार
कार्तिक कृष्ण ९, वीर निर्वाण संवत् २५०४

श्री समयसार – अन्तिम बोल है। थोड़ा हिन्दी चलेगा।

जीव-अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावैं,
सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध भिन्न गहे निजभाव सुदावैं;
श्रीगुरु के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं,
ते जगमाँहि महन्त कहाय वसै शिव जाय सुखी नित थावैं।

जीव-अजीव अधिकार पूरा किया है न! **जीव-अजीव अनादि संयोग...** भगवान परम ज्ञायकभाव, ऐसा जो पारिणामिकस्वभावभाव, उसके साथ अजीव का-निमित्त का संयोग है। **अनादि संयोग मिलै...** उसे **लखि**-जानकर। राग-द्वेष-भेद आदि का संयोग **लखि मूढ़ न आतम पावैं,...** दो संयोग तो देखे परन्तु अलग नहीं देखता। **मूढ़ न आतम**-आत्म-परमस्वभावभाव / पारिणामिकभाव द्रव्यभाव स्वभावभाव को वह नहीं जान सकता। कर्म को राग को और भेद को। वह संयोगी चीज़ है। आहाहा! वह अजीव का संयोग है, उसे देखने से भिन्न आत्मा भगवान शुद्ध चैतन्य को वह नहीं देखता।

सम्यक् भेदविज्ञान भये... परन्तु सम्यक् भेदविज्ञान—राग, दया, दान का राग, कर्म और भेद से सम्यक् भेदविज्ञान भये - सम्यक् अर्थात् सत्य भेदविज्ञान; ख्याल में आवे कि यह राग है, ऐसा नहीं। आहाहा! अन्तर के ज्ञायकभाव को पकड़कर पर से भेदज्ञान करे तो **बुध भिन्न गहे...** तो ज्ञानी आत्मा को अलग ग्रहे। आहाहा! **सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध...** धर्मी-ज्ञानी **भिन्न गहे निजभाव...** निजभाव, परमस्वभावभाव, उसे अपना **सुदावैं**-दाँव-पेच से निज को पकड़े।

श्रीगुरु के उपदेश सुनै... श्रीगुरु का यह उपदेश है - ऐसा कहना है। उसे भेद करके स्वभाव को पकड़ना, यह उपदेश है। **भले दिन पाय...** अहो! ऐसे स्वकाल को प्राप्त करने से **भले दिन पाय अज्ञान गमावैं, ते जगमाँहि महन्त कहाय...** वह जग में महात्मा अथवा महन्त कहने में आता है। **वसै शिव जाय...** शिव में जाये—मोक्षमार्ग में... **सुखी नित थावैं।** मोक्ष होकर नित्य सुखी होता है। यह जीव अधिकार पूरा हुआ।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में जीव-अजीव का प्ररूपक पहला अंक समाप्त हुआ। पहला जीव-अजीव अधिकार का भाग हुआ। एक में जीव है और एक में अजीव है। दोनों को इकट्ठा करके।

अब, दूसरा कर्ता-कर्म।

कर्ताकर्मविभावकूं, मेटि ज्ञानमय होय,
कर्म नाशि शिव में बसे, तिहें नमूं, मद खोय।

आत्मा कर्ता और विकारी परिणाम अथवा द्रव्यकर्म, भावकर्म और द्रव्यकर्म, वह इसका कार्य-यह '**मेटि**'। भावकर्म और द्रव्यकर्म मेरा कार्य और मैं कर्ता-यह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! '**मेटि ज्ञानमय होय**', ज्ञानस्वरूपमय तद्रूप अभेदज्ञान को ही अनुभवे। '**कर्म नाशि शिव में बसे**', वह कर्म का नाश करके मोक्ष अर्थात् निरूपद्रव कल्याण परिणति करके उसमें बसे। '**तिहें नमूं, मद खोय**' ऐसे परमात्मा को अभिमान छोड़कर, आहाहा! '**मद खोय**' निर्मानरूप से, ऐसा कहते हैं। मैं ऐसे भगवन्त को, जिन्होंने आत्मा ज्ञानमय प्राप्त किया है, कर्मों का नाश किया है, ऐसे भगवान को नमन करता हूँ। निर्मानरूप से-गर्व छोड़कर अर्थात् मान छोड़कर (नमस्कार करता हूँ।) आहाहा! यह टीका! यह हिन्दी करनेवाले की टीका का मांगलिक है।

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब जीव-अजीव ही एक कर्ताकर्म के वेष में...' जीव और अजीव मानो कर्ता आत्मा और कर्म रागादि, कर्म आदि-इनका एक वेष लेकर रंगभूमि में आते हैं। **प्रवेश करते हैं।' जैसे दो पुरुष परस्पर कोई एक स्वाँग करके नृत्य के अखाड़े में प्रवेश करें, उसी प्रकार जीव-अजीव दोनों एक कर्ताकर्म का स्वाँग करके...** आत्मा कर्ता और राग आदि अजीव या कर्म जड़, उनका **स्वाँग करके प्रवेश करते हैं। कर्ताकर्म का स्वाँग करके प्रवेश करते हैं। इस प्रकार यहाँ टीकाकार ने अलंकार किया है।**

अब पहले, उस स्वाँग को ज्ञान यथार्थ जान लेता है, उस ज्ञान की महिमा का काव्य कहते हैं :-

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम्॥४६॥

'इस लोक में मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो एक कर्ता हूँ और यह क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं'... ऐसा अज्ञानी अनादि से मानता है। आहाहा! भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप, उसका कर्म तो ज्ञान और आनन्द, वह कर्म है। ज्ञान-आनन्द उसका कर्म है; उसे छोड़कर मैं कर्ता और ये रागादि पुण्य-पाप के भाव और जड़कर्म, वह मेरा कार्य...

आहाहा ! यह अज्ञान है। क्रोधादिभाव, वे मेरे कर्म हैं **'इति अज्ञानां कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्' ऐसी अज्ञानियों के जो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है...** मैं एक-आत्मा 'एक'-ऐसा लिया है न ? आत्मा तो एक कर्ता; मैं अकेला कर्ता राग का, कर्म का मैं अकेला कर्ता, अकेला। दूसरा उसका कर्ता और मैं कर्ता नहीं, ऐसा नहीं, मैं एक ही कर्ता। आहाहा ! क्या कहा यह ? मैं आत्मा... क्रोध शब्द से (आशय है) विकार। विकारी भाव का मैं अकेला कर्ता हूँ। विकारीभाव विकार से हुआ और मैं कर्ता नहीं - ऐसा नहीं, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा ! इसमें अकेला विकार लिया है, अर्थ में द्रव्यकर्म (और विकार) दोनों लिये हैं। उन्होंने तो अकेला जड़ लिया है, कलश टीकाकार ने कर्म जड़ लिया है। यहाँ विकार लिया है; परमाध्यात्म तरंगिणी में द्रव्यकर्म-भावकर्म दोनों लिये हैं, परन्तु वह तो एक हो, वहाँ दूसरा होता है। आहाहा !

यह क्या कहते हैं ? कि मैं एक आत्मा, एक-रागादि का मैं एक कर्ता हूँ। रागादि का कर्ता पर और मैं कर्ता नहीं, ऐसा नहीं। आहाहा ! राग—दया, दान, पुण्य-पाप के भाव का मैं एक कर्ता हूँ। मैं मेरे ज्ञान का कर्ता और उनका कर्ता पर - ऐसा नहीं,.. आहाहा ! ऐसा अज्ञानी मानता है। ऐसी बहुत सूक्ष्म बात है ! शब्द ऐसा है न ! **एक कर्ता...** यह शब्द पड़ा है न ? इसका अर्थ ? कि राग, पुण्य-पाप, वह दूसरी चीज़ है और मैं आत्मा दूसरी चीज़ हूँ—ऐसा न मानकर, मैं एक आत्मा ही विकार का कर्ता हूँ। विकार का कर्ता पर और मैं आत्मा अकर्ता, ऐसा नहीं। मैं अकेला विकार का कर्ता हूँ। आहाहा ! विकार का कर्ता पर और मैं उसका जानने-देखनेवाला हूँ—ऐसा न मानकर... ऐसी बात है। मैं एक चैतन्यमूर्ति भगवान ! इसे यह खबर नहीं, परन्तु मैं एक इस विकार का, मैं एक इसका कर्ता, मैं एक जड़कर्म का कर्ता; जड़ कर्म का कर्ता कर्म और मैं कर्ता नहीं, ऐसा नहीं। समझ में आया ? ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। आहाहा !

ऐसा संयोग से है—भेद, रागादि संयोग से तो है; इसलिए संयोग का मैं अकेला कर्ता हूँ; संयोगी चीज़ों का संयोग कर्ता और मैं कर्ता नहीं - ऐसा नहीं, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा ! **'इस लोक में मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा 'अहम् चिद्'...** है न ? **'अहम् चिद्'** तो एक कर्ता मैं, किसका ? पुण्य और पाप, क्रोधादि... यहाँ क्रोध क्यों लिया ? कि स्वभाव

की रुचि नहीं और विकार की रुचि है, उसे स्वभाव के प्रति क्रोध हुआ है। आहाहा! ऐसा है। और उत्तम क्षमा आदि से विरुद्ध वह क्रोध है न? आहाहा! ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि, आहाहा! उनका मैं अकेला कर्ता हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है। मैं उनका जाननेवाला-जानने का मेरा कार्य / कर्म और यह राग का कार्य पर का – ऐसा वह नहीं मानता। ऐसी बात है। **मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा...** चिद् है न, चिद्? मैं चिद्स्वरूप आत्मा **एक ही कर्ता हूँ...** विकार का, जड़ का, कर्म का मैं एक ही कर्ता हूँ, और **यह क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं...** आहाहा! ये क्रोधादिभाव, यह जड़ कर्ता और उसका कार्य, ऐसा न मानकर, आहाहा! मैं एक ही उनका कर्ता हूँ, दो नहीं बीच में। आहाहा! ऐसा जो अज्ञान, वह पर का कर्ता मानता है। आहाहा!

'अमी' अमी अर्थात् **यह**। यह विद्यमान हैं क्रोधादि, ऐसा कहते हैं। है न? वह 'अहम्' यह 'अमी' यह। आहाहा! मैं चैतन्य आत्मा 'अमी' 'यह'। आहाहा! विकारी भाव क्रोध, मान, आदि मेरे कार्य हैं। आहाहा! **'इति अज्ञानां कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्' ऐसी अज्ञानियों के जो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है...** आहाहा! यह विकारभाव संयोगी है; वह स्वभावभाव नहीं है, तथापि वह मेरा स्वभाव; आत्मा उस विकारीभाव का मैं अकेला कर्ता हूँ, आहाहा! विकारी भाव मेरा कार्य है – ऐसा अज्ञानी मानता है। वास्तव में तो विकारीभाव का जानना, वह मेरा कार्य है। आहाहा! ऐसी बात है। भगवान आत्मा का कार्य तो जानना-देखना, वह उसका कार्य है और रागादि कार्य तो इस कर्म का-पर का-अजीव का कार्य है। आहाहा! ऐसा न मानकर, मैं एक ही उसका (रागादि का) कर्ता हूँ, दो नहीं। आहाहा! (-ऐसा अज्ञानी मानता है)। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

ऐसी **कर्ताकर्म की प्रवृत्ति...** परिणाम में। उसे अब बस वहाँ रह गया... **'अभितः शमयत्' सब ओर से शमन करती हुई (-मिटाती हुई) ज्ञानज्योति...** आहाहा! मैं तो ज्ञानज्योतिस्वरूप हूँ। मेरा कार्य विकार, वह मेरा कार्य ही नहीं। आहाहा! मेरा कार्य तो विकार को स्पर्श किये बिना, जानना-देखना, मेरा ऐसा वह कार्य मेरा है। विकार के परिणाम को छुए बिना, स्पर्श किये बिना और उनकी अस्ति है, इसलिए जानने के परिणाम यहाँ हुए – ऐसा भी नहीं। मेरे जानने के परिणाम, वे मुझसे (हुए हैं)। स्व और

पर को जानने के परिणाम, वह मेरा कार्य है और मैं उसका कर्ता हूँ। ऐसी बातें हैं। आहाहा! समयसार!

उसे '**अभितः**' **सब ओर से शमन करती हुई...** किसी भी पहलू से ज्ञाता, राग का कर्ता, ऐसा व्यवहार से नहीं और निश्चय से नहीं, ऐसा। निश्चय से नहीं, परन्तु व्यवहार से है या नहीं, कहे? कहते है (कि) नहीं; सब प्रकार के पर से पृथक् पड़ गया है। आहाहा! **सब ओर से शमन करती हुई (-मिटाती हुई) ज्ञानज्योति...** चैतन्य ज्योति, जलहल प्रभु, आहाहा! ऐसे चैतन्य ज्योति के अस्तित्व को दृष्टि में लेने से... आहाहा! वह दृष्टि राग के कर्ता-कर्मपने थी, आहाहा! उस दृष्टि को त्रिकाली ज्ञायक पर स्थापित करने से... आहाहा! वह **ज्ञानज्योति स्फुरायमान होती है।** कर्ता-कर्म में विकार स्फुरायमान था। आहाहा! अज्ञानी को कर्ता-कर्म में विकार प्रगट स्फुरायमान (था)। यह मेरा कार्य है (-ऐसा था)। यह ज्ञानज्योति होने पर,.. आहाहा! चैतन्यज्योति की अन्तर्दृष्टि होने पर वह ज्ञानज्योति स्फुरायमान होती है, वह उसका कार्य है-ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है! आहाहा! 'प्रभु का मारग है शूरों का, कायर का वहाँ काम नहीं।' आहाहा!

आहाहा! यह क्या कहा? ऐसा कहता था कि मैं एक विकार का अकेला कर्ता हूँ, वह अज्ञान था। उस अज्ञान को **सब ओर से शमन करती हुई...** वह निश्चय से भी नहीं और व्यवहार से भी नहीं। आहाहा! मैं तो ज्ञान ज्योति स्फुरायमान, उस राग को जाननेवाला ज्ञान स्वयं को जानता हुआ और राग को जानता हुआ, वह व्यवहार से, ऐसा ज्ञान स्फुरायमान होता है। वे ज्ञान के परिणाम, वह मेरा कार्य और मैं कर्ता, ऐसी बात है। अरे रे! इसके संसार के उद्धार का मार्ग यह है। आहाहा!

स्फुरायमान होती है। आहाहा! अर्थात् क्या कहते हैं? शक्तिरूप से तो था, आहाहा! उसने ऐसा लिखा है कि पारिणामिक शक्ति तो थी, केवलज्ञान हो, तब वह व्यक्तरूप होती है, ऐसा लिखा है उस सागर ने - ज्ञानसागर ने। अरे भाई! यहाँ तो ज्ञानस्वभाव, स्वभाव का सत्व त्रिकाली क्या था, उसे इसके ऊपर भेदज्ञान से दृष्टि पड़ने पर उस ज्ञान का पारिणामिकभाव है, उसकी पर्याय में व्यक्तता प्रगट होती है। आहाहा! वह

पारिणामिकभाव जो शक्तिरूप था, ज्ञानरूप, वस्तुरूप था, उसे राग से भिन्न करने पर यह ज्ञानज्योति शक्ति में से व्यक्तता की स्फुरायमान हुई। यहाँ स्फुरायमान कहा है न। आहाहा! ओहो!

सन्तों, आपकी बात कहीं मिले ऐसी नहीं है, प्रभु! आहाहा! और मीठी मधुर सीधी बात। आहाहा! ऐसा कि व्यवहाररत्नत्रय का व्यवहार से तो कर्ता हूँ न? निश्चय से नहीं, ऐसा नहीं है, **सब ओर से...** कहते हैं। आहाहा! ऐसी ज्ञानज्योति चैतन्यस्वरूप वस्तु जो त्रिकाल, उसे राग से भिन्न करने पर जहाँ भान हुआ, वहाँ ज्ञान, शक्तिरूप से जो स्वभाव था, उसकी व्यक्तिरूप से पर्याय प्रगट हुई, वह मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता, यह तो एक भेद से यह समझाना है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

ऐसी चीज़! अमृतचन्द्राचार्य ने पंचम काल में अमृत भरा है! पंचम काल के साधु हैं। आहाहा! आत्मा को कहाँ काल है? आहाहा! उसका कहाँ अन्त है, अर्थात्? काल है। आहाहा!

परमस्वभावभाव भगवान आत्मा... रागादि को शमन करती हुई... यह मेरा कार्य नहीं, आहाहा! और मेरा कार्य तो स्फुरायमान—चैतन्य की शक्ति में से प्रगट अवस्था, जो राग को जाननेवाली और स्वयं को जाने, वह मेरा कार्य है। आहाहा! ओहोहो!

कैसी है ज्ञानज्योति? **परम उदात्त है...** आहाहा! यह तो परम उदात्त। **अर्थात् किसी के आधीन नहीं...** आहाहा! ओहोहो! वह राग के आधीन नहीं। वह राग के आधीन थी, वह छूटा, ऐसा भी नहीं, कहते हैं। वह तो ज्ञानस्वरूप भगवान... है, ऐसी पर्याय में परम उदात्त प्रगट हुई है। आहाहा! किसी के आधीन नहीं है। आहाहा! **अत्यन्त धीर है...** आहाहा! **अर्थात् किसी भी प्रकार से आकुलतारूप नहीं है...** उसमें अर्थ यह किया है धीर, धीर है, शाश्वत्, त्रिकाली। भान आया त्रिकाली का-ऐसे वह त्रिकाली ज्योति, शाश्वत् है, शाश्वत् है। आहाहा! धीर, धीर, धीर अत्यन्त धीर है और '**निरुपधि-पृथग्द्रव्य-निर्भासि**' **पर की सहायता के बिना...** आहाहा! रागादि मन्दता की सहायता के बिना, देव-गुरु-शास्त्र की सहायता के बिना, आहाहा! ऐसी बातें हैं! अमृत का खजाना खोल दिया है। आहाहा!

भगवान आत्मा अमृत के स्वभाव से भरपूर प्रभु, वह अत्यन्त उदार है, आहाहा! उदात्त-आधीन नहीं-आकुलता नहीं। आहाहा! **'निरुपधि-पृथग्द्रव्य-निर्भासि' पर की सहायता के बिना...** निरुपधि का अर्थ किया, उपधि नहीं अर्थात् पर की सहायता नहीं। **'पृथग'** भिन्न-भिन्न द्रव्य निरभासी, **भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने का उसका स्वभाव है...** आत्मद्रव्य और रागादि परद्रव्य, आहाहा! को भिन्न-भिन्न प्रकाशित करने का जिसका स्वभाव है। आहाहा! वाह! प्रभु! तू कैसा है कि तेरा स्वभाव, तेरा स्वद्रव्य और ये रागादि परद्रव्य इन्हें भिन्न-भिन्न प्रकाशित करने का, प्रभु! तेरा स्वभाव है। आहाहा! **पर की सहायता के बिना भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने का...** आहाहा! कर्म परद्रव्य है, राग पर है; भगवान ज्ञायकस्वरूप स्व है, ऐसे भिन्न-भिन्न द्रव्यों को... यहाँ तो दो द्रव्य लिये हैं। राग, पुण्य, पाप भावकर्म, वह सब परद्रव्य है, परद्रव्य। आहाहा! **पर की सहायता के बिना भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने का उसका स्वभाव है...** आहाहा!

'विश्वम् साक्षात् कुर्वत्' वह समस्त लोकालोक को साक्षात् करती है... श्रुतज्ञान की पर्याय में भी साक्षात करता है और पूर्ण ज्ञान में वह होता है, तब प्रत्यक्ष साक्षात् होता है। आहाहा! श्रुतज्ञान में-पर्याय में राग को परद्रव्यरूप से भिन्न रखकर, स्वद्रव्य को अपने स्वभाव में स्थापित करके, आहाहा! अरे रे! विश्व को साक्षात् **'कुर्वत्'** वह पर्याय समस्त पदार्थों को जानने की ताकतवाली है। नीचे परोक्ष है, केवलज्ञान होने पर प्रत्यक्ष है। आहाहा! ऐसा उपदेश, लोगों को पकड़ना कठिन है। लोगों को... बापू! परन्तु सत्य ही यह है, भाई! सत्य को कोई काल बाधक नहीं है, आहाहा! सत्य तो त्रिकाल सत्य है, आहाहा! जिसे काल बाधक नहीं है, जिसे संयोग बाधक नहीं है, जिसे संयोगभाव बाधक नहीं है। आहाहा! बाधक नहीं है और स्पर्श नहीं करते। आहाहा! ऐसा चैतन्यस्वभावी भगवान स्फुरायमान विश्व को जानते हुए विश्व स्फुरायमान होता है। स्व और पर को जानते हुए स्फुरायमान होता है। पर का कर्ता था, वह स्व-पर को जानते हुए स्फुरायमान होता है। आहाहा!

अज्ञान में जो रागादि का कर्ता था... आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा का

भाव, वह शुभ (भाव) मेरा कर्तव्य है, ऐसा मानता था, वह तो अज्ञान है, भाई! तुझे खबर नहीं। उन दो द्रव्यों का कर्ता हुआ। तेरा और उनका दो होकर तू कर्ता हुआ। आहाहा! ऐसी बात है।

इसमें तो धीरज का काम है, भाई! एक श्लोक तो देखो! यह दिगम्बर सन्त! आहाहा! वे हजार वर्ष पहले हुए हैं, भगवान के बाद तो पन्द्रह सौ वर्ष, हैं? तथापि.. आहाहा! अमृत बहाया है। दिगम्बर सन्त! आहा! एक-एक अक्षर में, एक-एक शब्द में उसका वाच्य अलौकिक है। आहाहा! कर्ता-कर्म अधिकार शुरु करते हुए यह मांगलिक किया। आहाहा! जो अज्ञानरूप से राग और जड़कर्म का कर्ता मानता था, मानता था, इससे माने उस प्रकार कहीं स्वभाव में नहीं था। यह क्या कहा? स्वभाव में यह मान्यता नहीं थी। मानता था वह अज्ञानी। आहाहा! राग मेरा कार्य है, व्यवहाररत्नत्रय, दया, दान, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम, वह सब राग है। वह राग मेरा कार्य है, ऐसा वह (अज्ञानी) मानता था। वह मान्यता कहीं स्वभाव में नहीं थी। आहाहा! स्वभाव तो उस मान्यता से पर / भिन्न है। आहाहा! समझ में आया?

आहाहा! यह एक स्वभाव का कर्ता था, दो नहीं। एक मानता था अज्ञानी। वह एक मेरे स्वभाव का कर्ता, वह पर का (कर्ता) नहीं, ऐसा ज्ञान स्फुरायमान हुआ और स्फुरायमान होने पर विश्व को साक्षात् किया। विश्व अर्थात् समस्त पदार्थ। आहाहा! स्वयं को जाना, विश्व को भी जाना, ऐसा कहा। जो विश्व अर्थात् परकार्यरूप से मानता था, आहाहा! उस विश्व को जाननेरूप प्रत्यक्ष किया। आहाहा! कहो राजमलजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा! ओहोहो! ऐसी बात तो अरबों रुपये दे तो भी मिले, ऐसा नहीं है, यह ऐसी चीज़ है। आहाहा! अभी तो बहुत गड़बड़ हो गयी है। बहुत गड़बड़ हो गयी है, प्रभु! आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा का अर्थ करने से पहले अमृतचन्द्राचार्य ने यह मांगलिक किया है। आहाहा! बहुत भरा है, एक कलश में बहुत भरा है। एक गाथा में और एक पद में बहुत भरते हैं। आहाहा! श्रीमद् में आता है न? ज्ञानी के एक वाक्य में अनन्त आगम रहा है। आहाहा! श्रीमद् में आता है, ज्ञानी के एक वाक्य में अनन्त-अनन्त आगम रहा है। सत्य

बात है। उसकी खिलावट करते-करते तो पार नहीं आवे, ऐसे भाव अन्दर भरे हैं। एक-एक श्लोक में और एक-एक पद में (ऐसे गम्भीर भाव भरे हैं)। आहाहा!

भावार्थ : ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है... ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है। राग का कर्ता नहीं है, ज्ञानस्वरूप आत्मा है। आहाहा! **वह, परद्रव्य तथा परभावों के...** दोनों लिये इसमें, उसमें '**कोपादय**' शब्द डाला है न, वापिस परद्रव्य कर्म आदि, परभाव-पुण्य-पाप के भाव। इस **कर्तृत्वरूप अज्ञान को दूर करके...** क्योंकि वह (आत्मा) तो ज्ञानस्वरूप प्रभु है, वह परद्रव्य और रागादि के कर्तापने को दूर करके, आहाहा! **स्वयं प्रगट प्रकाशमान होता है।** पर्याय में प्रकाशमान होता है। शक्तिरूप से तो था, परन्तु पर्याय में प्रगट प्रकाशमान होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान में प्रकाशमान होता है और पूर्ण केवलज्ञान में प्रकाशमान होता है। आहाहा! बहुत कठिन काम, बापू!

गाथा-६९-७०

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो।।६९।।

कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्व-दरिसीहिं।।७०।।

यावन्न वेत्ति विशेषान्तरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीव:।।६९।।

क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मण: सञ्चयो भवति।
जीवस्यैवं बन्धो भणित: खलु सर्व-दर्शिभि:।।७०।।

यथायमात्मा तादात्म्यसिद्धसम्बन्धयोरात्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्यन्नविशंकमात्मतया ज्ञाने वर्तते तत्र वर्तमानश्च ज्ञानक्रियाया: स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति, तथा संयोगसिद्धसम्बन्धयोरप्यात्मक्रोधाद्यास्रवयो: स्वयमज्ञानेन विशेषमजानन् यावद्भेदं न पश्यति तावदशंकमात्मतया क्रोधादौ वर्तते तत्र वर्तमानश्च क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात्प्रतिषिद्धत्वेऽपि स्वभावभूतत्वाध्यासात्क्रुध्यति रज्यते मुह्यति चेति।

तदत्र योऽयमात्मा स्वयमज्ञानभवने ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाण: प्रतिभाति स कर्ता यत्तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रियमाणत्वेनान्तरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म। एवमियमनादिरज्ञानजा कर्तृकर्म-प्रवृत्ति:।

एवमस्यात्मन: स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य तमेव क्रोधादिवृत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेव परिणममानं पौद्गलिकं कर्म सञ्चय-मुपयाति।

एवं जीवपुद्गलयो: परस्परावगाहलक्षणसम्बन्धात्मा बन्ध: सिध्येत्।

स चानेकात्मकैकसन्तानत्वेन निरस्तेतरेतराश्रयदोष: कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तम्।।६९-७०।।

अब, जब तक यह जीव, आस्रव के और आत्मा के विशेष को (अन्तर को) नहीं जाने, तब तक वह अज्ञानी रहता हुआ, आस्रवों में स्वयं लीन होता हुआ, कर्मों का बन्ध करता है, यह गाथा द्वारा कहते हैं:-

रे आत्म आश्रव का जहाँ तक, भेद जीव जाने नहीं।
क्रोधादि में स्थिति होय है, अज्ञानि ऐसे जीव की।।६९।।

जीव वर्तता क्रोधादि में, तब करम संचय होय है।
सर्वज्ञ ने निश्चय कहा, यों बन्ध होता जीव के।।७०।।

गाथार्थ : [जीव:] जीव [यावत्] जब तक [आत्मास्रवयो: द्वयो: अपि तु] आत्मा और आस्रव – इन दोनों के [विशेषान्तरं] अन्तर और भेद को [न वेत्ति] नहीं जानता, [तावत्] तब तक [स:] वह [अज्ञानी] अज्ञानी रहता हुआ [क्रोधादिषु] क्रोधादिक आस्रवों में [वर्तते] प्रवर्तता है; [क्रोधादिषु] क्रोधादिक में [वर्तमानस्य तस्य] प्रवर्तमान उसके [कर्मण:] कर्म का [संचय:] संचय [भवति] होता है। [खलु] वास्तव में [एवं] इस प्रकार [जीवस्य] जीव के [बंध:] कर्मों का बन्ध [सर्वदर्शिभि:] सर्वज्ञदेवों ने [भणित:] कहा है।

टीका : जैसे यह आत्मा, जिनके तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध है, ऐसे आत्मा और ज्ञान में विशेष (अन्तर, भिन्न लक्षण) न होने से उनके भेद को (पृथक्त्व को) न देखता हुआ, नि:शंकतया ज्ञान में आत्मपने से प्रवर्तता है, और वहाँ (ज्ञान में आत्मपने से) प्रवर्तता हुआ वह, ज्ञानक्रिया का स्वभावभूत होने से निषेध नहीं किया गया है इसलिए, जानता है-जाननेरूप में परिणमित होता है, इसी प्रकार जब तक यह आत्मा, जिन्हें संयोगसिद्ध -सम्बन्ध है, ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में भी अपने अज्ञानभाव से, विशेष न जानता हुआ उनके भेद को नहीं देखता, तब तक नि:शंकतया क्रोधादि में अपनेपने से प्रवर्तता है, और वहाँ (क्रोधादि में अपनेपन से) प्रवर्तता हुआ वह, यद्यपि क्रोधादिक्रिया का परभावभूत होने से निषेध किया गया है, तथापि उस स्वभावभूत होने का उसे अध्यास होने से, क्रोधरूप परिणमित होता है, रागरूप परिणमित होता है, मोहरूप परिणमित होता है। अब यहाँ, जो यह आत्मा अपने अज्ञानभाव से; ज्ञानभवनमात्र[1]

---

[1] भवन=होना वह; परिणमना वह; परिणमन।

सहज उदासीन (ज्ञाता-द्रष्टामात्र) अवस्था का त्याग करके अज्ञानभवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है, वह कर्ता है; और ज्ञानभवनव्यापाररूप प्रवृत्ति से भिन्न, जो क्रियमाणरूप[1] से अन्तरङ्ग में उत्पन्न होते हुए प्रतिभासित होते हैं; ऐसे क्रोधादिक वे, (उस कर्ता के) कर्म हैं। इस प्रकार अनादिकालीन अज्ञान से होनेवाली यह (आत्मा की) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। इस प्रकार अपने अज्ञान के कारण कर्ताकर्मभाव से क्रोधादि में प्रवर्तमान इस आत्मा के, क्रोधादि की प्रवृत्तिरूप परिणाम को निमित्तमात्र करके स्वयं अपने भाव से ही परिणमित होता हुआ पौद्गलिक कर्म इकट्ठा होता है। इस प्रकार जीव और पुद्गल का, परस्पर अवगाह जिसका लक्षण है ऐसा सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है। अनेकात्मक होने पर भी (अनादि) एक प्रवाहपना होने से जिसमें से इतरेतराश्रय दोष दूर हो गया है, ऐसा वह बन्ध, कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का निमित्त जो अज्ञान, उसका निमित्त है।

भावार्थ : यह आत्मा, जैसे अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमित होता है, उसी प्रकार जब तक क्रोधादिरूप भी परिणमित होता है, ज्ञान में और क्रोधादि में भेद नहीं जानता तब तक उसके कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है; क्रोधादिरूप परिणमित होता हुआ वह स्वयं कर्ता है और क्रोधादि उसका कर्म है। और अनादि अज्ञान से तो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है, कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से बन्ध है और उस बन्ध के निमित्त से अज्ञान है; इस प्रकार अनादि संतान (प्रवाह) है, इसलिए उसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता।

इस प्रकार जब तक आत्मा क्रोधादि कर्म का कर्ता होकर परिणमित होता है, तब तक कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है और तब तक कर्म का बन्ध होता है।

गाथा - ६९-७० पर प्रवचन

अब, जब तक यह जीव आस्रव के और आत्मा के विशेष को नहीं जाने... क्या कहते हैं यह ? भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप तथा पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वे आस्रव हैं। आहाहा! वे परद्रव्य हैं, वे परभाव हैं, ऐसे जीव और आस्रव के और आत्मा के विशेष को यह जीव, आस्रव के और आत्मा के अन्तर को न जाने, आहाहा! वह पुण्य और पाप का भाव वह आस्रव है... आहाहा! और भगवान आत्मा

---

[1] क्रियमाणरूप से=किया जाता वह-उसरूप से।

ज्ञानानन्दस्वरूप है। इन दोनों के अन्तर को न जाने, आहाहा! दोनों की जाति की भिन्न जाति को न जाने, आहाहा! **तब तक वह अज्ञानी रहता हुआ, आस्रवों में स्वयं लीन होता हुआ,...** आहाहा! क्योंकि दोनों की भिन्नता को नहीं जाना, इसलिए दोनों को एक माना; इसलिए आस्रव में लीन होकर, वह रागादि में लीन होता हुआ **अज्ञानी रहता हुआ, कर्मों का बन्ध करता है,...** आहाहा! **यह गाथा द्वारा कहते हैं :-**

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो॥६९॥

कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्व-दरिसीहिं॥७०॥

रे आत्म आश्रव का जहाँ तक, भेद जीव जाने नहीं।
क्रोधादि में स्थिति होय है, अज्ञानि ऐसे जीव की॥६९॥

जीव वर्तता क्रोधादि में, तब करम संचय होय है।
सर्वज्ञ ने निश्चय कहा, यों बन्ध होता जीव के॥७०॥

दो कहे, देखा? आस्रव और आत्मा। दोनों एक हो गये। '**कम्मस्स संचओ होदी**' त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा, आहाहा! जिनेश्वरदेव ने, उस अज्ञानी को बन्ध का कारण है, ऐसा कहा। आहाहा! उसकी टीका।

जैसे यह आत्मा,... जैसे 'यह' आत्मा, **जिनके तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है...** जिन्हें तद्रूप स्वभाव के साथ आत्मा को सम्बन्ध है। **ऐसे आत्मा और ज्ञान में...** आत्मा और ज्ञान दोनों को तादात्म्यसम्बन्ध है। अग्नि और उष्णता का तादात्म्यसम्बन्ध है, वैसे भगवान आत्मा को और जानक गुणस्वभाव को तादात्म्यसम्बन्ध है, तद्रूप सम्बन्ध है। आहाहा! यह आत्मा और ज्ञान दोनों एक ही चीज़ है। राग, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, ये परद्रव्य हैं। आहाहा!

अरे! ऐसी बातें हैं। कठिन काम, बापू! भाई! फिर लोग ऐसे बाहर आवे न यह बात, (इसलिए कहे) ऐई एकान्त है.. एकान्त है। कहो प्रभु! मार्ग तो यह है, बापू! क्या हो? शुरुआत का मार्ग यह है, शुरुआत का, हों! आहाहा!

वे कहते हैं कि पहले व्यवहार करो, फिर निश्चय होगा, राग करो फिर अरागपना प्रगट होगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा वस्तुस्वरूप भगवान के स्वभाव में नहीं है। आहाहा! है? यह आत्मा जब तक यह आत्मा, जिन्हें तद्रूप से तद्स्वभावरूप से सम्बन्ध है, **ऐसे आत्मा और ज्ञान में विशेष (अन्तर, भिन्न लक्षण) न होने से उनके भेद को (पृथक्त्व को) न देखता हुआ,...** ज्ञान और आत्मा दोनों तद्रूप है, इसलिए उनका भेद नहीं देखता, आहाहा! ऐसा कैसे कहा है कि ऐसे ज्ञान और आत्मा अर्थात् मानो दो हो गये? ऐसा नहीं। ज्ञान और आत्मा तद्रूप से एक सम्बन्ध है। ऐसा जिसने, आहाहा! **उनके भेद को (पृथक्त्व को) न देखता हुआ,...** सम्यग्दृष्टि जीव, धर्म की पहली सीढ़ीवाला जीव, आहाहा! ऐसा कि ऐसे आत्मा और यह ज्ञान है, ऐसा ज्ञात होता है न? ज्ञान, वह आत्मा, परन्तु इससे वह ज्ञान और आत्मा दोनों भिन्न नहीं है, तद्रूप है। आहाहा! ऐसा है। **तादात्म्य-सिद्धसम्बन्ध है...** तादात्म्यसम्बन्ध है, ऐसा नहीं लिया। तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध है, निश्चित यह सम्बन्ध है।

भगवान (आत्मा) और ज्ञान, आत्मा और ज्ञान तद्रूपसिद्धसम्बन्ध है। निश्चित हुआ तद्रूपसम्बन्ध है। आहाहा! ऐसा आत्मा और ज्ञान में अन्तर, भिन्नता नहीं जानता हुआ ज्ञानी **उनके भेद को (पृथक्त्व को) न देखता हुआ, निःशंकतया ज्ञान में आत्मपने से प्रवर्तता है,...** यह क्यों कहा? कि ज्ञान यह जानना, ज्ञान और आत्मा; ज्ञान वह शास्त्र का ज्ञान, ज्ञान वह नहीं। अन्दर जो ज्ञान और आत्मा दोनों तद्रूप हैं। इससे ज्ञानी उसे ज्ञान में निःशंक रहता है, वह आत्मा में निःशंक रहा है। आहाहा! आत्मा **निःशंकतया ज्ञान में आत्मपने से प्रवर्तता है,...** आहाहा!

धर्मी जीव, सम्यग्दृष्टि जीव, ज्ञान और आत्मा तादात्म्य मानता हुआ, ज्ञान में निःशंकरूप से वर्तता है, वह आत्मा ही वर्तता है। आहाहा! निःशंक रीति से ज्ञान में, ऐसा कि यह ज्ञान और ऐसा आत्मा, दो हो गये न? इसलिए भिन्न हैं ये? नहीं, नहीं; ज्ञान और आत्मा दोनों एक ही वस्तु है। तादात्म्यस्वरूप है। इसलिए **निःशंकतया ज्ञान में आत्मपने से प्रवर्तता है,...** क्योंकि ज्ञान और आत्मा तादात्म्य है। आहाहा! निःशंकरूप से ज्ञान में अपनेरूप से वर्तता, भाषा है। ज्ञान, वह मैं हूँ। जानन.. जानन प्रकाश का पूर-नूर, आहाहा! जाननस्वभाव, वह मैं हूँ—ऐसा निःशंक रीति से अपनेरूप वर्तता है। ज्ञान में अपनेरूप

वर्तता है। ज्ञान वह आत्मा, ऐसा निःशंक है, इसलिए वह ज्ञान में निःशंकरूप से अपनेरूप वर्तता है। आहाहा! अरे! ऐसा मार्ग अब। **और वहाँ (ज्ञान में आत्मपने से) प्रवर्तता हुआ वह, ज्ञानक्रिया...** देखो अब, अपनेरूप वर्तता हुआ कहा न ? यह ज्ञान; ज्ञान और आत्मा तद्‌रूप है, इसलिए ज्ञान में निःशंकरूप से अपनेरूप वर्तता हुआ... वर्तता, वहाँ पर्याय हो गयी। आहाहा! वह ज्ञानक्रिया हुई, वह ज्ञान की क्रिया। आहाहा! **वह, ज्ञानक्रिया का स्वभावभूत होने से...** आहाहा! ज्ञान और आत्मा यह तद्‌रूप होने से निःशंकरूप से ज्ञान में वर्तते हुए अपनेरूप वर्तता है; इसलिए **वह, ज्ञानक्रिया का स्वभावभूत होने से...** आहाहा! उस ज्ञान में एकाग्रता, ऐसी जो ज्ञानक्रिया। आहाहा! **वह, स्वभावभूत होने से निषेध नहीं किया गया है...** वह ज्ञानक्रिया निषेध नहीं की गयी है। आहाहा!

मुमुक्षु : विकारी क्रिया का निषेध किया गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बाद में कहेंगे। राग जो क्रिया, राग, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम, वह राग की क्रिया है, उसे निषेध किया गया है। कहा था न तब ? बहुत वर्ष पहले 'चोटीला' (में) गुलाबचन्दजी थे। बहुत वर्ष की दीक्षा तब थी, रतनचन्दजी के गुरु। इकट्ठे हो गये तो बहुत प्रसन्न हुए और फिर एकान्त में बात चली। मैंने कहा, देखो भाई! ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष क्या है ? यह ज्ञान अर्थात् शास्त्र का ज्ञान, और क्रिया अर्थात् यह राग की (क्रिया), ऐसा नहीं। तब तो अभी उसमें (स्थानकवासी में) थे न, साथ में उतरे थे चोटीला में तब। ज्ञान अर्थात् आत्मा का ज्ञान और उसमें एकाग्रता, वह ज्ञान की क्रिया, वह क्रिया धर्म का कारण, मोक्ष का कारण है। आहाहा! सत्य बात है कहा, स्वीकार किया। परन्तु अब जाना कहाँ, वाड़ा छोड़ा नहीं जाये। मार डाला। मूर्ति शास्त्र में है, ऐसा स्वीकार किया। स्थानकवासी के बत्तीस सूत्र में मूर्ति की पूजा और मूर्ति है। है, यह बात सत्य है, कहा। क्या करना ? हमें तो निःशंक, शंका.. शंका.. शंका.. शिष्य देखेंगे तो इसमें मूर्ति है तो हमें नहीं मानेंगे, ऐसा बेचारे बोले। पचपन वर्ष की दीक्षा थी तब, फिर बढ़ी होगी। आहाहा! बहुत कठोर काम बापू! मान छोड़ना (बहुत मुश्किल है)! यह मेरी भूल है, यह मार्ग नहीं, ऐसा।

यहाँ यह कहते हैं, देखो! यह **ज्ञानक्रिया...** ज्ञानक्रिया अर्थात् क्या ? कि आत्मा और

ज्ञान, जैसे शक्कर और मिठास तदरूप मिठास है; इसी प्रकार भगवान और ज्ञान तदरूप है; इसलिए आत्मा में एकाग्र न कहकर ज्ञान में एकाग्र होकर, वह ज्ञानक्रिया धर्म का कारण है, वह मोक्ष का कारण है। आहाहा! यहाँ अभी तो बस यह आत्मा का छोड़कर बात, सम्यग्दर्शन और ज्ञान नहीं, मात्र व्रत करो, तप करो, अपवास करो, भक्ति करो, पूजा करो.. अरे प्रभु! आहाहा! यह तो राग और आस्रव की क्रिया है, यह कहीं आत्मा की धार्मिक क्रिया नहीं है। बहुत कठिन काम, बापू! आहाहा! भाषा कैसी प्रयोग की है, देखो न! ज्ञानक्रिया अर्थात् ज्ञायकस्वरूप जो भगवान, उसमें निःशंकरूप से वर्तते हुए जो परिणति हुई, वह ज्ञानक्रिया है। आहाहा!

यह बात (संवत्) १९८२ में हुई थी। पुनातर! तुम्हारे लोकासा का उपाश्रय है न, वहाँ उतरे थे हम, पहले ८२-८२। तुम उस समय नहीं थे, ८२ का वर्ष। कितने (वर्ष) हुए? ४१ वर्ष हुए? हें? ५३-५३ वर्ष हुए। ८२ का वर्ष। वह ताराचन्दभाई वारिया थे न, वे कहे कि महाराज! इसमें यह सब तुम तो कहते हो कि राग है, वह आत्मा का नहीं है। राग, दया, दान, व्रत का राग, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है, यह धर्म तो लोगों को कठिन पड़ेगा। लोकासा के उपाश्रय में बात हुई थी। पहले ८२ के वर्ष में आये थे। १८ और ३५=५३ हुए, नहीं। ५३ कहा। तुम देखो, ऐ पुनातर? तुम्हारे पुनातर की ओर से नहीं? ज्ञानसागर तुम्हारे पुनातर की ओर से प्रकाशित हुआ है। देखो, उसमें कहा है। मन की सरलता, काया की सरलता, वचन की सरलता, अविसंवाद यह भाव शुभ, यह नामकर्म बंधन का कारण है। नहीं? तुम्हारे पुनातर की ओर से (प्रकाशित है)। देखो उसमें! यह तो ८२ के वर्ष की बात है। क्योंकि वे सब क्रिया.. क्रिया.. क्रिया.. किया ही करे, यह प्रौषध करे और चौदस-पूर्णिमा आवे तब पहले आवे, चौदस के शाम से पहले आवे और प्रौषध करे। वीरजीभाई और वे दोनों, हों! यह तब (वे) एक आये थे, भाई! यह क्रिया नहीं बापू! आहाहा! आहाहा!

भगवान आत्मा वस्तु है, उसका कोई स्वभाव त्रिकाल रहनेवाला होगा या नहीं? जैसे स्वयं त्रिकाल प्रभु है तो उसका ज्ञानस्वभावगुण त्रिकाल है। आहाहा! तद्रूप से आहाहा! वह ज्ञान की क्रिया स्वभावभूत प्रगट होती है, राग से भिन्न पड़कर और ज्ञान में

नि:शंकरूप से वर्ते, तब ज्ञान और आत्मा दो हुए, गुण और गुणी अभेद, उसमें नि:शंकरूप से वर्ते, वह पर्याय हुई। आहाहा! द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों आ गये। आत्मा वस्तु, उसका ज्ञान तादात्म्य गुण त्रिकाल, उस ज्ञान में नि:शंकरूप से वर्तता, वह आत्मा ही वर्तता है, क्योंकि आत्मा और ज्ञान एक है। ज्ञान में नि:शंकरूप से वर्तते हुए जो ज्ञानक्रिया हुई, वह **स्वभावभूत होने से...** वह तो स्वभावभूत क्रिया है। आहाहा! जो स्वभाव में शक्ति थी, वह पर्याय में ज्ञानरूप परिणमित हुई, श्रद्धारूप, शान्तिरूप (परिणमित हुई)। **वह, ज्ञानक्रिया का स्वभावभूत होने से निषेध...** वह क्रिया निषेध नहीं की गयी है, वह क्रिया तो होती है। आहाहा! **इसलिए, जानता है-जाननेरूप में परिणमित होता है,...** आहाहा! वह जाननक्रिया, वह ज्ञान में नि:शंकरूप से वर्तते हुए जो क्रिया हुई, वह जाननक्रिया निषेध नहीं की गयी है। आहाहा! परन्तु वह जाननेरूप परिणमता है। **इसलिए जाननेरूप में परिणमित होता है,...** वह स्वभावभूत क्रिया है-रागरूप परिणमित नहीं होता परन्तु जाननेरूप परिणमित होता है, वह ज्ञानक्रियारूप स्वभाव है। आहाहा!

इतना सब अन्तर / भेद कहाँ डालना? अभी बहुत गड़बड़ है। आहाहा! अभी तो यह देशसेवा करो और भगवान की सेवा करो और यह करो और वह करो। अररर!

मुमुक्षु : यह ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ज्ञानक्रियाभ्याम्। आहाहा! **निषेध नहीं किया गया है इसलिए,...** है? **जानता है-जाननेरूप में परिणमित होता है,...** ऐसे जानता है अर्थात् जानने की क्रिया, जानने की क्रिया, जानता है अर्थात् जाननेरूप परिणमित होता है। आहाहा!

द्रव्य जो आत्मा, उसका ज्ञानगुण जो त्रिकाल तादात्म्यरूप, इससे ज्ञान में नि:शंक वर्तते हुए वह आत्मा में ही वर्तता है और नि:शंकरूप से वर्तते हुए जो क्रिया जाननेरूप हुई, उसरूप वह परिणमित हुआ है। वह द्रव्य, गुण उस पर्यायरूप परिणमा है, वह परिणमन है, वह धर्मक्रिया है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **इसलिए जाननेरूप में परिणमित होता है,...** लो!

'तत्र वर्तमानश्च ज्ञानक्रियाया: स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति', देखो! **'अप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति'** बस लो! जानता है, इतना ही शब्द है न? क्या कहा? कि

आत्मा और ज्ञान दोनों तद्रूप हैं, इसलिए ज्ञान में निःशंकरूप से वर्तते हुए वह आत्मा में ही वर्तता है, क्योंकि दोनों एक हैं, वह निःशंकरूप से वर्तते जानपनेरूप जो परिणमन हुआ, वह स्वाभाविक क्रिया / धार्मिक (क्रिया) है। शुद्धपरिणमन है, वह धार्मिक क्रिया है। उसका **निषेध नहीं किया गया है...** उसे वह यह क्रिया और परिणति है, इसलिए निषेध, पर्याय ऐसा नहीं। पर्याय हुई न ? ऐसा कि पर्याय हुई न ? इसलिए निषेध, ऐसा नहीं है। पर्याय, वह शुद्ध परिणमन है, इसलिए निषेध नहीं किया गया है। ऐसा कि क्रिया तो हुई, पर्याय तो हुई, तो निषेध तो पर्याय का निषेध है या नहीं ? वह द्रव्यदृष्टि में पर्याय नहीं आती, द्रव्यदृष्टि उसके घर, परन्तु उसकी परिणति जो है, वह तो स्वभावभूत क्रिया है। आहाहा ! इसलिए उसका निषेध नहीं किया गया है। विशेष कहेंगे......

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १४५, गाथा-६९-७० दिनांक २५-११-१९७८, शनिवार, कार्तिक कृष्ण १०

समयसार, ६९-७० गाथा : कर्ता-कर्म अधिकार।

यहाँ तक आया है, **जाननेरूप में परिणमित होता है,...** क्या कहा? कि जो यह आत्मा है, और इसका स्वभाव जो ज्ञान है, उस ज्ञान और आत्मा को तादात्म्यसम्बन्ध है, अभेद सम्बन्ध है, तद्रूपसम्बन्ध है। इससे जो प्राणी अन्तर में ज्ञान में एकाग्र होकर नि:शंकरूप से 'ज्ञान, वह मैं'—ऐसे अन्तर में वर्ते, उसे जाननक्रिया-शुद्धस्वाभाविक क्रिया प्रगट हो, वह क्रिया, धार्मिक क्रिया है। ऐसी बात है। यह आत्मा और ज्ञान, जानना वह; ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का ज्ञान, वह नहीं। अन्दर ज्ञानस्वभाव, स्वभाववान आत्मा और उसका ज्ञानस्वभाव, वह तद्रूपसम्बन्ध है; इसलिए ज्ञान में अपनेरूप से वर्तता-नि:शंकरूप से ज्ञान में वर्तता, जो ज्ञान की क्रिया निर्मल होती है, वह स्वभावभूत है। वह क्रिया निषेध नहीं की गयी है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें। वीतराग मार्ग....

क्योंकि यह आत्मा, ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप, यह त्रिकाल वीतरागी ज्ञान है। वीतरागी द्रव्यस्वभाव है। ऐसे ज्ञान में अर्थात् स्वभाव में नि:शंकरूप से अपनेरूप ज्ञान में वर्तते हुए जो ज्ञान की स्वभावभूत क्रिया प्रगट होती है, उस क्रिया का निषेध नहीं है; वह तो इसकी क्रिया है, स्व-स्वभाव की (क्रिया है), उसे यहाँ धार्मिक क्रिया कहा गया है। आहाहा! उसमें कहाँ पकड़ना क्या? अनन्त काल से यह बिना खबर भटकता है। ऐसी दो बातें की थी। अभी पूछा था वापिस। विशेष-अन्तर है न शब्द में? विशेष-अन्तर जानता अर्थात्? विशेष अर्थात् लक्षणभेद और अन्तर अर्थात् उनका (आत्मा और आस्रव का) भेद, ऐसे दो। आहाहा! आत्मा और ज्ञान इनका विशेष अर्थात् अन्तर-भिन्न लक्षण और उनका भेद नहीं जानता हुआ... आहाहा! अब ऐसी बातें! यह ज्ञानस्वभाव भगवान आत्मा, उसे ज्ञान में और आत्मा में भेद और भिन्न लक्षण नहीं जानता हुआ, इसलिए उन्हें भेद नहीं देखता हुआ। आहाहा!

यह ज्ञानस्वभाव जो भगवान आत्मा, उसमें अपनेरूप से अर्थात् आत्मा जैसे स्वयं है, अपनेरूप, वैसे ज्ञान भी अपनेरूप है, क्योंकि ज्ञान और आत्मा दोनों तन्मय है। आहाहा! वह ज्ञानस्वभाव जो है, उसमें अपनेरूप नि:शंकरूप से; आत्मा और ज्ञान में भिन्नता नहीं

है; इसलिए भेद नहीं है। आहाहा! ऐसे आत्मा के ज्ञानस्वभाव में नि:शंकरूप से अपनेरूप 'यह मैं हूँ'—ऐसे वर्तता हुआ, वह क्रिया ज्ञान स्वाभाविक निर्मल क्रिया, रागरहित वीतरागीक्रिया हुई। वह क्रिया, धार्मिक क्रिया है। आहाहा! **(ज्ञान में आत्मपने से) प्रवर्तता हुआ...** ऐसा है न ? ज्ञान में अपनेरूप वर्तता है, स्वभाव में। आत्मा और ज्ञान एक है; इसलिए ज्ञान में अपनेरूप वर्तता है, ऐसा। वह क्रिया (स्वभावभूत होने से) **निषेध नहीं किया गया है...** क्योंकि वह क्रिया तो आत्मा की है। आहाहा! आत्मा धर्मी और ज्ञान उसका धर्म / स्वभाव है। उस ज्ञान में अपनेरूप वर्तकर जो एकाग्र हो, उसे ज्ञान की निर्मल क्रिया होती है, वीतरागी पर्याय होती है; उसका निषेध नहीं किया गया है। वह क्रिया स्वयं की है। आहाहा!

अब ऐसा कहाँ! निवृत्ति नहीं मिलती, एक तो धन्धे के-संसार के पाप के कारण पूरे दिन। अब उसमें ऐसी बातें सुनने को मिलती नहीं। अरे! क्या हो ? अनन्त-अनन्त काल से वीतराग-सर्वज्ञ परमेश्वर, जो धार्मिक क्रिया कहते हैं, इसे सुनने को मिलती नहीं, वह क्या करे ? आहाहा!

यहाँ अपने यह बात तो आ गयी। **इसलिए (जानता है) जाननेरूप...** अर्थात् जाननेरूप से **परिणमित होता है,...** रागरूप से नहीं। आहाहा! क्योंकि ज्ञान और आत्मा एक अभेद है, दोनों के लक्षण ही एक हैं, तथा दोनों का भेद नहीं है; इसलिए ज्ञान में अपनेरूप से वर्तता हुआ; वह स्वाभाविक क्रिया जो है, वह **जानता है-जाननेरूप में परिणमित होता है,...** वह क्रिया जानने की है। आहा! इतने सब शब्द हैं न, अब इसमें कहाँ ? यह यहाँ तक अपने आ गया है।

इसी प्रकार... अब यहाँ से नया है। यह तो कल आया था, भाई! यह वीतरागमार्ग सूक्ष्म है, बापू! भाई! प्रभु! तू सूक्ष्म चीज़ अन्दर है। आहाहा! इसलिए उसे समझने के लिये तो बहुत धीरज चाहिए। आहा!

जिस प्रकार आत्मा ज्ञान के स्वभाव से अभेद है, इसलिए उसमें वर्तता हुआ, जो क्रिया निर्मल वीतरागीपर्याय हो, वह तो आत्मा की क्रिया है, धार्मिक क्रिया है; वह क्रिया निषेध नहीं की गयी है। आहाहा!

इसी प्रकार जब तक यह आत्मा,... है न? पाँचवीं लाईन है। **इसी प्रकार जब तक यह आत्मा, जिन्हें संयोगसिद्ध-सम्बन्ध है, ऐसे आत्मा और क्रोध...** आहाहा!

भगवान आत्मा, ज्ञान और (भगवान) आत्मा का स्वभावसम्बन्ध, तादात्म्यसम्बन्ध है और आत्मा को तथा पुण्य-पाप के भाव को—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि भाव, वह राग है, उसे यहाँ क्रोध कहा है। क्योंकि आत्मा के स्वभाव का प्रेम-जिसे स्वभाव का (प्रेम) नहीं है और जिसे राग का प्रेम है, उसे आत्मा के प्रति क्रोध है। आहाहा!

भगवान आत्मा! आहाहा! आनन्द और ज्ञानस्वभाव में तन्मय है। उसे छोड़कर जो राग हो—चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का (भाव हो), अशुभराग की तो बात क्या करना, परन्तु जो शुभराग है, आहाहा ! उसमें, **जिन्हें संयोगसिद्ध-सम्बन्ध है...** इस राग को और आत्मा को संयोगसिद्ध सम्बन्ध है; स्वभावसिद्ध सम्बन्ध नहीं है। जैसे ज्ञान और आत्मा को स्वभावसिद्ध सम्बन्ध है, वैसे राग को और आत्मा को संयोगसिद्ध सम्बन्ध है—संयोगीभाव है। उसका (-आत्मा का) स्वभावभाव नहीं है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म हो, लोग क्या करे! कहो, पुनातरजी! ऐसी बातें, बापू! प्रभु क्या हो?

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, जिनेश्वरदेव का यह हुकम है। प्रभु! तू आत्मा है न! आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द है न! ज्ञान मुख्य क्यों कहा? (इसलिए कहा) कि ज्ञान की पर्याय प्रगट है, इससे उसे समझना ठीक पड़ता है। आहाहा! ज्ञान.. जानना... जानना... जानना... जानना... ऐसा स्वरूप है, उसे और आत्मा को तद्रूपसम्बन्ध है, तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध है, तद्रूप से-निश्चित स्वभाव है; उसी प्रकार आत्मा को और पुण्य-पाप के भाव को... आहाहा! तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है, परन्तु संयोगसम्बन्ध है। आहाहा! वे तो संयोगी भाव हैं; वे आत्मा का भाव नहीं। आहाहा!

जब तक यह आत्मा, जिन्हें संयोगसिद्ध-सम्बन्ध है, ऐसे आत्मा और क्रोधादि... क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्हें यहाँ राग-द्वेष के भाव में खताया है। राग के दो भाग—माया और लोभ; द्वेष के दो भाग—क्रोध और मान। आहाहा! ये राग और द्वेष के भाग चार, ऐसी कषाय; कषाय के दो भाग—राग और द्वेष; राग-द्वेष के दो भाग; राग—माया और लोभ; द्वेष—क्रोध और मान, ऐसा जो कषायभाव, आहाहा! है? उसे और आत्मा को संयोगसिद्ध -सम्बन्ध है, संयोग-संयोगसम्बन्ध है, ऐसा यहाँ नहीं कहा, उसमें ऐसे तादात्म्यसिद्ध

सम्बन्ध है, वैसे इन्हें संयोगसिद्ध सम्बन्ध है, इसकी (आत्मा की) चीज़ नहीं। आहाहा! वह संयोगी चीज़ है। आहाहा!

जिन्हें संयोगसिद्ध-सम्बन्ध है, ऐसे आत्मा... को (और) पुण्य-पाप के भाव को-आस्रव, वे आस्रव हैं, शुभ और अशुभभाव, वह आस्रव है। यह क्रोध, मान, माया, लोभ का भाग है। आहाहा! **आस्रवों में भी...** 'भी' क्यों कहा ? कि आत्मा ज्ञानस्वभाव में वर्तता है, वह तो यथार्थपना है, परन्तु पुण्य और पाप के आस्रवभाव में जो वर्तता है, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा! अरे! ऐसा कहाँ समझना कठिन पड़े! आहाहा! इन **क्रोधादि आस्रवों में...** अर्थात् पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव, वे सब आस्रव हैं। आस्रव अर्थात् ? जिनसे नये कर्म आवें; वह धर्म है, ऐसा नहीं है; धर्म में तो स्वाभाविक धार्मिक क्रिया जो वीतरागी हो, वह धर्म और यह राग की क्रिया आदि जो है, वह धार्मिक क्रिया नहीं-आस्रव है, इससे तो नया बन्ध पड़ता है। आहाहा! भाषा सादी परन्तु भाव... प्रभु! बहुत सूक्ष्म है, बापू! इसमें अभी तो बहुत गड़बड़ हो गयी है। आहाहा!

जैसे एक लोहे में या लकड़ी में लाख चिपकाते हैं लाख, वह तो संयोगी चीज़ हुई, उसका स्वभाव नहीं; इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी वस्तु प्रभु आत्मा को यह पुण्य-पाप के भाव, वह संयोगसिद्ध सम्बन्ध—आस्रव है। आहाहा! **संयोगसिद्ध-सम्बन्ध है, ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में भी अपने अज्ञानभाव से,...** किसी कर्म के कारण, ऐसा नहीं। आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञान, आनन्दस्वभावी चीज़ के अज्ञान के कारण, अपना जो ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द जो भगवान आत्मा का स्वभाव है, उसके अज्ञान के कारण, उसका ज्ञान नहीं होता। आहाहा! है ? बापू! यह तो धार्मिक बात, अध्यात्म की सूक्ष्म (बात) है। भाई! वीतराग परमेश्वर जिनेश्वरदेव का कथन बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! कहते हैं कि उन **आस्रवों में भी अपने अज्ञानभाव से, विशेष न जानता हुआ...** विशेष-अन्तर दो शब्द पड़े हैं न ? यह राग की क्रिया और आत्मा, दोनों को भिन्न न जानता हुआ, विशेष न जानता हुआ, दोनों के लक्षण भिन्न हैं, ऐसा न जानता हुआ। आहाहा! **उनके भेद को नहीं देखता...** अन्तर। उनका भेद पृथक्ता, उसे अज्ञानी नहीं देखता। आहाहा!

मुमुक्षु : लक्षण देखे तो भेद देखे।

पूज्य गुरुदेवश्री : लक्षण का विशेष भेद, लक्षण वह तो विशेष में गया परन्तु अब यह भेद नहीं देखता, ऐसा कि दोनों के अलग अर्थ किये हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी सूक्ष्म बातें कहना और (पूछना) समझ में आया, ऐसा कहना वापस। मार्ग प्रभु! (अलौकिक है)। क्या हो! यह बातें तो अनन्त काल से सुनी हैं, भाई! सम्प्रदाय में तो अभी यही चलता है - यह करो... और यह करो... और यह करो... व्रत करो और अपवास करो। अरे! भगवान! बापू! मार्ग अलग है, भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर यह कहते हैं, उसे सन्त जगत के लिये प्रसिद्ध करते हैं, दिगम्बर सन्त! आहाहा!

यह भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वभावी प्रभु है। उसे यह राग का भाव, वह तो संयोगसिद्धसम्बन्ध, वह तो आस्रवरूप है। आहाहा! पुण्य और पाप के भाव - चाहे तो दया का हो, दान का हो, व्रत का हो, अपवास का हो - सब विकल्प राग है। आहाहा! यह रागभाव, आत्मा के साथ संयोगसम्बन्ध से है, संयोगसिद्धसम्बन्ध है; स्वभावसिद्धसम्बन्ध नहीं। आहाहा! आहाहा! उन **आस्रवों में भी अपने अज्ञानभाव से, विशेष न जानता हुआ...** भिन्न लक्षण और अन्तर को नहीं जानता हुआ, **उनके भेद को नहीं देखता...** आहाहा! भारी सूक्ष्म बातें, बापू! ऐसी बातें। आहाहा! जिससे जन्म-मरण मिट जाये, वह प्रभु! वह क्रिया कोई अलौकिक है। आहाहा! बाकी यह क्रिया तो (राग की क्रिया तो) जन्म-मरण के कारण की है। आहाहा!

वह उनका भेद नहीं देखता। किसका? आत्मा का और पुण्य-पाप के भाव का, विशेषता के लक्षण का भेद नहीं जानता, तथा भेद है, ऐसा नहीं जानता। दोनों के लक्षण भिन्न हैं तथा भेद भिन्न हैं, दोनों एक नहीं हैं। आहाहा! और **भेद को नहीं देखता...** भेद देखता नहीं, **तब तक निःशंकतया...** यह पुण्य-पाप का भाव, जो क्रोधादि... भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु से पुण्य के परिणाम का प्रेम, वह क्रोध है, वह स्वभाव के प्रति विरोध / क्रोध है। आहाहा! पर की दया का भाव, वह राग है और राग है, उसका जिसे प्रेम है, उसे स्वभाव के प्रति क्रोध है। अरर! ऐसी बातें! उसे स्वभाव के प्रति मान नहीं है, उसे विकार का मान है कि यह मैं हूँ। आहाहा! ऐसे क्रोधादि भावों के **भेद को नहीं देखता, तब तक निःशंकतया...** जैसे उसमें ऐसा आया था कि ज्ञान और आत्मा एकरूप तद्रूप है, इसलिए ज्ञान में निःशंकरूप वर्तते हुए अपनेपने वर्तता है। आहाहा! आहाहा!

तब तक निःशंकतया पुण्य-पाप के भाव में-प्रेम में अपनेरूप से वर्तता है। आहाहा! **वहाँ (क्रोधादि में अपनेपन से) प्रवर्तता हुआ...** अर्थात् कि पुण्य-पाप के भाव को यहाँ क्रोध कहा है, वह स्वभाव के प्रति विरोध है, इसलिए उसे क्रोध कहा है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि पर की दया पालना, वह धर्म, ऐसा जगत कहता है। आहाहा! तब यहाँ तो कहते हैं कि पर की दया पाल तो नहीं सकता, परन्तु पर की दया का भाव तुझे आवे, वह राग है। उस राग को और आत्मा को संयोगसिद्धसम्बन्ध है। आहाहा! ऐसी बातें!

हमारे तो सम्प्रदाय में यह चलता था। बेचारे हीराजी महाराज थे, वे बात करते, तत्त्व की कुछ खबर नहीं थी। हीराजी महाराज कहते—पर की दया, (वह) अहिंसा, वह परम धर्म है। बस, यह बात करते। आहाहा! कहीं यह तत्त्व था ही नहीं। आहाहा! (संवत्) १९७०, ७१, ७२, ७३ चार वर्ष। बेचारे गुजर गये। आहा! 'अहिंसा परमोधर्मः' पर जीव की दया पालना, यही सिद्धान्त का सार है, यह अहिंसा धर्म है, ऐसा जिसने जाना, उसने सब जान लिया, ऐसा कहते थे। यहाँ कहते हैं कि बापू! यह तेरी बात एकदम असत्य है। आहाहा! अहिंसा तो उसे कहते हैं कि जो ज्ञानस्वभावी आत्मा, ऐसा जितना है, उतना प्रतीति में लेकर उसमें एकाग्र हो, उसे दया और अहिंसा कहते हैं। ऐसी व्याख्या! पूर्व-पश्चिम का अन्तर है! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! जैसे तेरा ज्ञान और आनन्द स्वभाव है, वैसे यह राग तेरा स्वभाव नहीं है। यह तो संयोगी-सम्बन्ध से उपाधिभाव आया है। आहाहा! तुमने हीराजी महाराज को देखा है या नहीं हिम्मतभाई ? हें! देखा था ?

मुमुक्षु : न, नहीं देखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन हिम्मतभाई ने, छोटी उम्र में देखा होगा, इन हिम्मतभाई ने नहीं देखा होगा, (संवत्) १९७३ में गुजर गये। १९७३ के चैत्र कृष्ण अष्टमी को रास्ते में गुजर गये। 'खेराली' और (वढवाण) कांप के बीच में, खेराली और कांप के बीच में १९७३ के चैत्र कृष्ण अष्टमी (को गुजर गयी), इतने वर्ष हुए, हें ? ६२ वर्ष हुए। आहाहा!

अरे रे! **अपने अज्ञानभाव से,...** कर्म के कारण, ऐसा नहीं। आहाहा! अपना ज्ञान और आनन्दस्वभाव प्रभु, आहाहा! उसे जाने बिना अज्ञान के कारण। आहाहा! क्या है

टीका, यह अमृत है न! आहाहा! **विशेष न जानता हुआ...** आहाहा! दोनों के लक्षण और अन्तर को नहीं जानता हुआ, इन क्रोधादिरूप वर्तता हुआ। आहाहा! क्रोधरूप वर्तता हुआ, पुण्य और पाप के भाव में **अपनेपने से प्रवर्तता है,...** आहाहा! **निःशंकतया क्रोधादि में अपनेपने से प्रवर्तता है, और वहाँ (क्रोधादि में अपनेपन से) प्रवर्तता हुआ वह, यद्यपि क्रिया का परभावभूत होने से निषेध किया गया है...** आहाहा!

भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वभावी प्रभु में जो यह राग होता है, उस क्रिया को क्रोध गिनकर भगवान ने निषेध किया है। वह क्रिया कहीं तेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! आहाहा! निःशंकतया पुण्य-पाप के भाव में अपनेरूप प्रवर्तता है, देखा? यह राग है, वह मेरा है। है संयोगी चीज़, तथापि अज्ञानी, स्वभाव के अज्ञान के कारण... आहाहा! उस राग को अपनेरूप मानता हुआ वर्तता है **(क्रोधादि में अपनेपन से) प्रवर्तता हुआ वह, यद्यपि क्रिया का परभावभूत...** है, वह वैभाविक क्रिया है, विकारी क्रिया है। आहा! वह आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध क्रिया है। आहाहा! **निषेध किया गया है...** भगवान ने उसका निषेध किया है। आहा!

भाई! दया, दान के परिणाम, वह राग है, वह वास्तव में तो क्रोध है। उसमें स्वभाव के प्रति विरोध है। उस क्रिया का भगवान ने निषेध किया है। अर्थात् वह क्रिया तेरी नहीं है। आहाहा! वह क्रिया तो बन्ध का कारण-आस्रव का कारण, नये आवरण आवे, उनका कारण है। वह क्रिया तेरी नहीं है। आहाहा!

तथापि... निषेध किया गया है, तथापि... आहाहा! भगवान सर्वज्ञ जिनेश्वरनाथ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने वह राग की क्रिया परभावभूत होने से (उसका) निषेध किया है कि वह तेरा स्वरूप नहीं है, उससे तुझे धर्म नहीं होगा; वह तो अधर्म है। आहा! जगत को भारी कठिन पड़ता है। आहाहा! **स्वभावभूत होने का... उस स्वभावभूत होने का उसे अध्यास होने से,...** आहाहा! अज्ञानी को, वह शुभ-अशुभभाव, वह मेरा स्वभाव है, इसका उसे अभ्यास हो गया है। मेरा स्वभाव अन्दर ज्ञान और आनन्द है, उसे भूलकर, आहाहा! और यह पुण्य और पाप का भाव, इनका उसे अभ्यास आदत में आ गया है। स्वभावभूत होने का उसे अभ्यास है, वह मेरी क्रिया है, मेरे आत्मा की क्रिया है—ऐसे स्वभावभूत मानकर... आहाहा! गजब टीका है न! है? मिलना मुश्किल पड़े ऐसा है, बापू!

मुमुक्षु : तथापि (कुछ लोग) दुरुह कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुरुह यह तो और दूसरा – यह तो स्पष्ट किया। फिर भाई कहते हैं ऐसे वे लोग कहते हैं कि समयसार की भाषा सीधी थी। दोनों को भिन्न किया, अब ऐसा कि टीकाकार ने दुरुह कर दिया है। अरे बापू! स्पष्टीकरण किया, प्रभु! तुझे संक्षिप्त भाषा में न समझ में आये, उसका स्पष्टीकरण करके विशेष किया है, भाई! अर र! सत्य बात है, भाई ने ऐसा कहा वैसे (वे लोग) कहते हैं। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि '**जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि।**' इतना था, उसमें से बस, परन्तु यह स्पष्टीकरण है। इतनी भाषा में न समझे, उसकी टीका; टीका अर्थात् स्पष्टीकरण करके समझाया है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, प्रभु!

मुमुक्षु : महिमा आनी चाहिए, उसके बदले ऐसे शब्द...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसमें क्या हो? आहाहा! विद्वानों ने इसको दुरुह कर डाला। अररर! ऐसा कर डाला, आचार्यों ने यह किया है न, आचार्य हैं ये। कुन्दकुन्दाचार्य के शब्द, वे आचार्य हैं और यह टीका है, (वे) अमृतचन्द्राचार्य महासन्त.. आहाहा! एक हजार वर्ष पहले भरतक्षेत्र में चलते सिद्ध जैसे थे। आहाहा! यह कहते हैं प्रभु! तू कहाँ भूला है, भाई! लोग नहीं कहते कि भींत भूला, निकलना चाहिए दरवाजे से, उसके बदले दीवार में निकलना चाहे, ऐसे सिर लटकाकर, हैं? ऐसे निकलना चाहिए स्वभाव से अन्दर, उसके बदले विभाव से मानों में धर्म करके निकल जाऊँगा... मर जायेगा, बापू! आहाहा! भाई! तेरे हित की बात है न, प्रभु! आहाहा!

यह भगवान आत्मा, वह जैसे त्रिकाल वस्तु है, वैसे उसका ज्ञान और आनन्द आदि त्रिकाल स्वभाव है, तो उस स्वभाव में निःशंकरूप से अपनेरूप वर्ते, वह तो आत्मा में वर्तता है और वह तो स्वाभाविक क्रिया निर्मल वीतरागी है। उसका निषेध नहीं किया गया है। वह तो यथार्थ क्रिया है। आहाहा! आहाहा! यह कल कहा नहीं था? उस चोटीला में रतनचन्दजी थे न? लींमड़ी संघाड़ा के सतावधानी के गुरु थे गुलाबचन्दजी, वे साथ उतरे थे उसमें यह बात निकली थी। तब तो उसमें (स्थानकवासी में) थे, (संवत्) १९८९ या ९० का वर्ष होगा लगभग। हम दोनों साथ उतरे थे। उनकी उम्र बड़ी, ५५ वर्ष की थी तो दीक्षा के बाद तो बहुत वर्ष जिये थे। पश्चात् यह (बात) निकली कि ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष

अर्थात् क्या कहा ? यह तो (कहे) इस शास्त्र का जानना और यह राग की क्रिया, वह ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष है। (हमने कहा) ऐसा नहीं है, भाई! आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु का ज्ञान और उस ज्ञान में एकाग्रता होने की क्रिया, वह क्रिया, यह ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष है। वे जरा नरम व्यक्ति (थे), कहा कि बात सत्य लगती है। बापू! मार्ग यह है कहा। ९० के साल की बात, लगभग ९० की होगी क्योंकि सदर में आना था न राजकोट ? तब होगा, ऐसा लगता है, कितने वर्ष हुए ? ४५ वर्ष पहले की बात है। बात सत्य है कहा, परन्तु यह तो बाहर ऐसी बात नहीं है न ? न हो तो क्या करना, कहा। आहाहा!

और मूर्ति की बात निकली थी। स्थानकवासी थे न, तब तो उसमें थे न ? कहा कि मूर्ति शास्त्र में है। है, उन्होंने स्वीकार किया। गुलाबचन्दजी, रतनचन्दजी के गुरु थे। है, मूर्तिपूजा है, शास्त्र में है परन्तु स्थानकवासी मानते नहीं, इसलिए कोई शिष्य चतुर होगा और यह पढ़ेगा तो मूर्ति इसमें है तो गुरु की-हमारी श्रद्धा उड़ा देगा। बेचारे ने स्वीकार किया। क्या हो बापू! मार्ग तो यह है, भाई! आहाहा! यह शुभभाव आवे, तब मूर्ति की पूजा और उसका निमित्तपना होता है; धर्म नहीं, परन्तु अशुभ से बचने के लिये ज्ञानी को भी शुभ का भाव आता है, तथापि यहाँ तो कहते हैं कि उस शुभभाव को अपना मानकर वर्ते, आहाहा! ज्ञानी को वह आवे परन्तु पररूप से जानने के लिये आता है। आहाहा! अज्ञानी को उस शुभभाव में अपनेरूप से वर्तता हुआ.. आहाहा! अरे! इसमें लोगों को ऐसा कठिन पड़ता है।

यद्यपि क्रोध, मान, माया अर्थात् राग, द्वेष की लोभ की क्रिया निषेध की गयी है तो वह परभावभूत होने से (निषेध की गयी है)। उसमें (ज्ञान क्रिया में) ऐसा था न (कि) स्वभावभूत होने के कारण। आहाहा! **निषेध किया गया है, तथापि उस स्वभावभूत होने का उसे अध्यास...** अज्ञान में अनादि से राग की क्रिया का अभ्यास होने से। आहाहा! **स्वभावभूत होने का उसे अध्यास होने से,...** वह मानो कि मेरी, यह मेरी स्वाभाविक क्रिया है क्योंकि स्वभाव है, वह तो देखा नहीं, जाना नहीं। आहाहा! इसलिए राग की क्रिया को उसे **स्वभावभूत होने का उसे अध्यास होने से,...** आहाहा! **क्रोधरूप परिणमित होता है,...** अर्थात् स्वभाव से विरुद्ध ऐसे रागरूप होता है, यह रागरूप हुआ, वह क्रोधरूप हुआ। आहाहा!

अरे रे! ऐसी बातें सुनने को भी नहीं मिलती। इस बेचारे की जिन्दगी कहाँ जाये

बापू! आहाहा! भविष्य का अनन्त काल इसे भटकने में जाता है! आहाहा! ऐसा अन्तर तत्त्वस्वरूप इसे सुनने को नहीं मिले तो वह विचारे कब और अन्दर में जाये कब? आहाहा! **क्रोधरूप परिणमित होता है,...** अर्थात् द्वेष हुआ, **रागरूप परिणमित होता है,...** यह माया और लोभ हुआ, **मोहरूप...** अर्थात् पर में सावधानीरूप-मिथ्यात्वरूप **परिणमित होता है।** आहाहा!

भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वभावी प्रभु, उस राग की क्रिया से अत्यन्त भिन्न है। ऐसे भगवान के ज्ञानस्वरूप को न जानते हुए... भगवान दूसरा नहीं, हों! यह (निज आत्मा) भगवान। आहाहा! इसके स्वरूप को न जानते हुए, राग की क्रिया मेरी है, ऐसे स्वभावभूत वर्तता हुआ, आहाहा! वह मिथ्यात्वरूप से परिणमित होता है। आहाहा! वह रागरूप से, द्वेषरूप से, मिथ्यात्वरूप से, (परिणमित होता है)। आहाहा! तब आत्मा और ज्ञान दोनों एकमेक तद्रूप हैं, ऐसे ज्ञान में वर्तता हुआ वह वीतरागी पर्यायरूप वर्तता हुआ और सम्यग्दर्शनरूप वर्तता हुआ (परिणमित होता है), वह स्वभावभूत क्रिया है। आहाहा!

ऐसे दस-बीस हजार लोग हों, ऐसी बातें करे, वहाँ पागल जैसी बातें लगे, ऐसा वे (वह तो कहे) और अन्य बातें तो ऐसे झापटे मारते हुए, यह तो ऐसा करना, ऐसा करना और ऐसा करना। है? दया पालना, भक्ति करना, मन्दिर बनाना, ऐसा करना, वैसा करना। अब सुन न! पर को तो कौन करे? अररर! आहाहा! रात्रि को तो जरा सूक्ष्म कहा था। यह पैर है न, पैर, यह परमाणु है, यह जड़। ऐसी जो गति होती है न, शरीर की पर्याय, उस पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं, वैसे ही उस पर्याय का कर्ता वह परमाणु भी नहीं। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! वह पर्याय जो ऐसे-ऐसे होती है, यह लो, देखो न यह लो, ऐसी होती है न ऐसी, यह पर्याय है ऐसी, परमाणु तो कायम रहकर यह अवस्था होती है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा तो कर्ता नहीं परन्तु इस पर्याय का उसका परमाणु भी कर्ता नहीं। पर्याय स्वयं कर्ता होकर हाथ चलता है - गति करता है। आहाहा! अब ऐसी बातें! रात्रि को जरा सूक्ष्म निकला था थोड़ा। आहाहा!

अब यहाँ तो कहते हैं कि यह सब शरीर की क्रिया, वाणी की और यह और यह पैसा लेना और देना और मकान, माल, लेना-देना और बेचना, वह सब क्रिया मेरी है, वह मूढ़ है। आहा! यह पैसा जो है, यह नोट, ऐसे-ऐसे जाता है, वह उसकी पर्याय है। मैं उस

पर्याय को करता हूँ, ऐसी मान्यता अत्यन्त मूढ़ और जड़ को आत्मा माननेवाला है परन्तु उस नोट की पर्याय जो है, ऐसे-ऐसे जाती है, उस पर्याय का कर्ता उसके रजकण भी नहीं। आहाहा! पर्याय का कर्ता पर्याय है, ऐसी बातें हैं। आहाहा!

अरे! भगवान तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव का यह हुकम है और यह जैन के नाम धरानेवाले को, भगवान क्या कहते हैं, इसकी खबर नहीं होती! आहाहा! अरे! जैसे कहा न (पंचास्तिकाय की) ६२ वीं गाथा में (कहा) भाई! कि आत्मा में राग और द्वेष होता है, उस राग-द्वेष की क्रिया का परिणमन षट्कारक से, उस राग का कर्ता राग, कर्म राग, साधन राग में सब है। आत्मा कर्ता-वर्ता नहीं। आहा! अब यहाँ जो रागादि की क्रिया षट्कारक कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान होती है; वैसे कर्म की पर्याय जो होती है ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि पर्याय, उसका कर्ता आत्मा तो नहीं, परन्तु उसकी पर्याय उसकी ज्ञानावरणीय आदि (कर्मरूप) पर्याय हुई, उसका कर्ता वे परमाणु नहीं। आहाहा! ऐसी बात परमात्मा के अतिरिक्त, वीतराग सर्वज्ञदेव के अतिरिक्त कहीं नहीं है। आहा! कान्तिभाई! वहाँ कभी सुना नहीं था।

मुमुक्षु : था ही कहाँ सुनने का?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भगवान परमात्मा सीमन्धर भगवान विराजते हैं। वहाँ यह बात करते हैं, प्रभु! वह यहाँ आयी है। आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं कि प्रत्येक - छह द्रव्य ज्ञेय हैं, उनकी जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होनी है, वह षट्कारक के कारण से परिणमती है, द्रव्य से नहीं; पर से तो नहीं। आहाहा! परन्तु वह पर्याय जो रागादि की होती है, वह आत्मद्रव्य और गुण से तो नहीं, पर कर्म के कारण से नहीं, क्योंकि कर्म तो जड़ परद्रव्य है, इसमें (पर्याय में) रागादि हों, वे कर्म के कारण नहीं तथा द्रव्य-गुण के कारण नहीं। आहाहा! उसकी पर्याय का कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, वह पर्याय राग की कर्ता पर्याय, राग कर्म, राग साधन, राग अपादान, राग में से राग हुआ है। आहाहा! आहाहा!

यह पृष्ठ ऊपर होता है न ऐसे, देखो! यह इसकी पर्याय है। परमाणु-मिट्टी है, यह तो मिट्टी-पुद्गल है, वह इस अंगुली ने ऊँचा किया, यह तो नहीं; आत्मा ने इसे ऊँचा किया, यह तो नहीं, परन्तु यह पर्याय ऐसे हुई, उसके परमाणु ने ऐसा किया, ऐसा भी नहीं। देवीलालजी! रात्रि में नहीं थे? हैं? थे! बहुत सूक्ष्म आया था। जिन्दगी में नहीं सुना होगा,

ऐसा कल था, इतना सब स्पष्टीकरण अभी नहीं आता। रात्रि को बहुत आया था, पौन घण्टे। आहाहा! आहाहा! वीतराग.. वीतराग.. वीतराग.. सर्वज्ञ परमात्मा का जो तत्त्वज्ञान (है, वह) अलौकिक है! वीतराग के अतिरिक्त कहीं यह बात (नहीं है) अरे! उनके सम्प्रदाय में भी – जैन नाम धराते हैं, उसमें भी नहीं है। अर र! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, वह अज्ञानी अपने द्रव्य-गुण को नहीं जानता और उस पर के कारण राग हुआ है, ऐसा भी नहीं। अपने अज्ञान के कारण राग की पर्याय को 'मेरी है' ऐसा स्वयं क्रोधरूप से (अर्थात्) स्वभाव के विरोधरूप से परिणमता है। यद्यपि उस क्रिया का निषेध किया गया है, वह कहीं तेरी स्वाभाविक क्रिया नहीं है। **तथापि उसे...** है ? आहाहा!

अब यहाँ, जो यह आत्मा अपने अज्ञानभाव से;... आहाहा! **ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन...** क्रिया **(ज्ञाता-द्रष्टामात्र) अवस्था...** आहाहा! यह आत्मा, भाई! यह तो अध्यात्म के शब्द हैं। यह कहीं वार्ता नहीं है, भाई! आहाहा! यह तो तीन लोक का नाथ भगवान, विश्वदर्शी प्रभु की पर्याय की विकारी की और अविकारी की क्रिया की यह बात है। आहाहा!

वह **अपने अज्ञानभाव से; ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञाता-द्रष्टामात्र) अवस्था...** है ? ज्ञान का होना अर्थात् ज्ञानस्वरूप प्रभु उस ज्ञान का होना, उसमें ज्ञान का होना ही होना चाहिए। ज्ञानरूप परिणमन ही होना चाहिए। ज्ञान का होना पर्याय, हों! ज्ञान, ज्ञान तो त्रिकाल है परन्तु ज्ञान का होना जो उसकी वर्तमान पर्याय होना चाहिए। आहाहा! **ज्ञानभवनमात्र...** नीचे (फुटनोट में) अर्थ किया है। **भवन=होना वह; परिणमना वह; परिणमन। परिणमन सहज उदासीन...** जो **सहज उदासीन...** आहाहा! **(ज्ञाता-द्रष्टामात्र) अवस्था...** होना तो यह चाहिए, कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा और उसका ज्ञानस्वभाव, उस ज्ञान की जो अवस्था, उदासीन—राग से और पर से भिन्न, ऐसी ज्ञाता-दृष्टा की पर्याय, वह ज्ञान-दर्शन के स्वभाववाली होना चाहिए। आहाहा!

ज्ञान दर्शन और आनन्द का स्वभाव, तद्‌मय ऐसा प्रभु, उसकी पर्याय में उसके ज्ञाता-दृष्टा की पर्याय होना चाहिए। आहाहा! है ? उसका **त्याग करके...** देखा ? यह अवस्था उसकी... भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा का कन्द प्रभु पूर्ण, उसकी तो राग से उदासीन भिन्न और ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था होनी चाहिए। इसके बदले उस अवस्था का

त्याग करके... अवस्था हुई थी और त्याग करके, ऐसा नहीं। यह क्या कहा? यह भगवान आत्मा द्रव्य और गुण जो ज्ञानानन्द से तादात्म्य है और उसकी जो पर्याय होनी चाहिए, उसकी पर्याय तो ज्ञाता-दृष्टा होनी चाहिए, वह उसकी अवस्था है। द्रव्य और गुण का तादात्म्य है, ऐसा समझे, तब उसकी पर्याय में तो राग से और पर से भिन्न उदासीन ज्ञाता -दृष्टा की पर्याय होना चाहिए। वह होना चाहिए, उसका त्याग करके... अज्ञानी उसका त्याग करके अर्थात् उसने वह की ही नहीं। अब ऐसी बातें! आहाहा! सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, रात्रिभोजन छोड़ो हो गया धर्म। धूल में भी नहीं है। सुन न अब! अभी तो राग क्या, देह क्या, पर क्या, स्व क्या? यह तो भान नहीं होता! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, आहाहा! वह अवस्था होती थी और छोड़ी है, ऐसा नहीं है परन्तु वास्तव में तो द्रव्य जो वस्तु है और उसका ज्ञान और आनन्द जो स्वभाव है, उसकी पर्याय ज्ञाता-दृष्टारूप पर्याय में होना चाहिए; उसके बदले वह अवस्था न करके, वह अवस्था न करके, उस अवस्था का त्याग करके... है न? आहाहा! आहाहा! अवस्था हुई है और त्याग करके, ऐसा नहीं। आहाहा! परन्तु जो उसका ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है, उसकी पर्याय तो ज्ञाता-दृष्टारूप होनी चाहिए, ऐसा न होने से... आहाहा!

उसका **त्याग करके अज्ञानभवन-व्यापाररूप...** आहाहा! **(अर्थात्) क्रोधादि-व्यापाररूप प्रवर्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है,...** आहाहा! अर्थात्? कि भगवान आत्मा त्रिकाली, वैसे उसका ज्ञान-आनन्द त्रिकाली स्वभाव, तो उसकी पर्याय तो ज्ञातादृष्टापने की होना चाहिए। उसका त्याग करके अज्ञानी, आहाहा! वह **अज्ञानभवनमात्र...** अर्थात् रागपना मेरा है, ऐसा अज्ञानभाव। यह राग वह अज्ञानभाव है; वह आत्मभाव नहीं है। आहाहा! है न? **अज्ञानभाव से; ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञाता-दृष्टामात्र) अवस्था का त्याग करके...** आहाहा! **अज्ञानभवन-व्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है,...** अज्ञानी को, राग में प्रवर्तता हूँ, ऐसा प्रतिभासित होता है। होना तो चाहिए ज्ञाता-दृष्टा की पर्याय, ज्ञाता-दृष्टारूप से निर्मल होनी चाहिए; उसे छोड़कर-उसका त्याग करके अर्थात् (वह ज्ञाता-दृष्टा की पर्याय) नहीं करके, राग की क्रिया में प्रवर्तमान अज्ञानी को प्रतिभासित होता है। आहाहा! **अज्ञानभवन-व्यापार...** विकाररूप **प्रवर्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है, वह कर्ता है;...** आहाहा! उस

विकारी रागादि की क्रिया करता प्रतिभासित होता है, वह अज्ञानभवनमात्र, उसका वह कर्ता पर्याय है; द्रव्य कर्ता कहो, वह उपचार से है परन्तु वह पर्याय उसका वह कर्ता है। आहाहा!

अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं) उसकी (आत्मा की) अवस्था तो ज्ञाता-दृष्टारूप होनी चाहिए, वस्तु है ज्ञान और आनन्द का कंद प्रभु, तो उसकी अवस्था तो उसके प्रकार की ज्ञाता-दृष्टा और आनन्द की होना चाहिए। आहाहा! उसका त्याग करके अर्थात् (ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था) न करके, आहाहा! राग की क्रिया के परिणमन में प्रवर्तता हुआ 'मैं राग में प्रवर्तता हूँ', ऐसा भासित होता हुआ, वह राग का कर्ता होता है। समझ में आया? आहाहा!

सूक्ष्म.. सूक्ष्म कहना और समझ में आता है? बापू! मार्ग ऐसा है, भाई! अनन्त काल से इसने देखा या एक समय जाना नहीं उसे। आहाहा! मुनि हुआ तो अनन्त बार पंच महाव्रत पालन किये, शास्त्र के ग्यारह अंग का ज्ञान किया। भाई! परन्तु वह वस्तु पर है। आहाहा! वह आत्मा की अवस्था नहीं। आहाहा! आत्मा की अवस्था / पर्याय तो द्रव्य-गुण-पर्याय... पर्याय शुद्धरूप परिणमे, वह उसकी पर्याय है, परन्तु उसका तो इसे लक्ष्य नहीं, द्रव्य-गुण का जो स्वभाव है, उसका तो इसे लक्ष्य नहीं, इसलिए इसकी जो पर्याय शुद्ध होनी चाहिए, उसके स्थान में उसे छोड़कर राग की क्रिया में प्रवर्तता हुआ 'राग, वह मेरा कार्य है' ऐसे कर्ता होकर मानता है। आहाहा!

अब इसमें कितना याद रखना? है? **प्रवर्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है, वह कर्ता है;...** मैं राग में प्रवर्तमान हूँ और राग मेरी क्रिया है, उसका वह स्वयं कर्ता है। वास्तव में तो वह पर्याय ही कर्ता है। समझ में आया? आहाहा! विशेष कहेंगे.....

(***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १४६, गाथा-६९-७० दिनांक २६-११-१९७८, रविवार, कार्तिक कृष्ण ११

श्री समयसार, कर्ता-कर्म अधिकार, ६९-७० पहली गाथा है, यहाँ से लेना। 'अब यहाँ' यहाँ से फिर से, है बीच में ?

यह आत्मा,... कर्ता-कर्म का अधिकार है न! अज्ञानी कर्ता होकर राग को कैसे करता है ? आहाहा! भगवान आत्मा तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप है। उसकी दशा तो वीतरागी उदास दशा प्रगट हो। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय अनन्त गुण का पिण्ड, यह तो द्रव्य-गुण (हुए), उसकी अवस्था वीतरागी होनी चाहिए। आहाहा! क्योंकि वीतरागी द्रव्य है, वीतरागी गुण है, तो उसकी दशा—अवस्था—ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था, वीतरागी पर्याय प्रगट होनी चाहिए, वस्तु यह है। आहाहा!

तथापि **अब यहाँ, जो यह आत्मा अपने अज्ञानभाव से;...** आहाहा! स्वयं अनन्त -अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का नाथ प्रभु, शुद्ध चैतन्य, ऐसे स्वभाव के अज्ञान के कारण, आहाहा! है ? **अज्ञानभाव से;... आत्मा अपने अज्ञानभाव से;...** कर्म के कारण नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा आनन्द और शान्तस्वरूप अकषाय वीतरागमूर्ति प्रभु के अज्ञान के कारण,.. आहाहा! अपने स्वभाव के भान का अभाव, ऐसे अज्ञान के कारण, **ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञाता-दृष्टामात्र) अवस्था...** आहाहा! वास्तव में तो ज्ञाता-दृष्टा ऐसा इसका स्वभाव है; इसलिए इसकी ज्ञाता-दृष्टा की दशा होनी चाहिए। आहाहा!

है ? **ज्ञानभवनमात्र...** जो **सहज, ज्ञानभवनमात्र...** अर्थात् आत्मा का सहज स्वभाव, उसरूप होना। ज्ञानभवन का अर्थ यह (है)। आत्मा का जो त्रिकाली वीतरागी स्वभाव, उसकी दशा-उसकी पर्याय होना चाहिए। अरे! ऐसी बातें! **ज्ञानभवनमात्र...** अर्थात् आत्मा के स्वभाव भवन होने मात्र, आहाहा! जो सहज उदास, आहाहा! राग और निमित्त से तो प्रभु उदास है (-ऐसा) उसका स्वभाव है। ऐसा सहज ज्ञाता-दृष्टा। है ? **अवस्था का त्याग करके...** आहाहा! अर्थात ? कि भगवान आनन्द और ज्ञान, आनन्दस्वरूप प्रभु, वह ज्ञान और दर्शन का पिण्ड प्रभु, उसकी अवस्था ज्ञाता-दृष्टा की होनी चाहिए। ऐसी अवस्था

का अपने स्वभाव के अज्ञान के कारण उस अवस्था का त्याग करके... आहाहा! क्या कहा यह? इसमें सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा!

यह चैतन्य वस्तु भगवान परमानन्द, वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञ ने जो देखा - कहा, ऐसा वह अनन्त गुण का सागर प्रभु, उसकी दशा तो जानने-देखने की अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा की अर्थात् कि वीतरागी अवस्था वहाँ होना चाहिए। क्योंकि वीतरागस्वरूप द्रव्य, वीतराग-स्वरूप गुण, आहाहा! उसकी अवस्था वीतराग—रागरहित ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था होनी चाहिए, परन्तु अज्ञानी... आहाहा! वह अपने वीतरागी आनन्द के स्वभाव के अज्ञान के कारण वह अवस्था नहीं होती; और अवस्था का त्याग अर्थात् होती नहीं, उसका त्याग करके - ऐसा अर्थ है। आहाहा! क्या शैली! आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य ने अमृत बहाया है। आहाहा!

भगवान! तू तो परमात्मस्वरूप है न, प्रभु! तो परमात्मस्वरूप, वीतरागस्वरूप, आनन्दस्वरूप, जिनस्वरूप, आहाहा! उसकी दशा तो जिनपर्यायरूप, वीतरागीरूप होना चाहिए, यह उसका कार्य है और यह आत्मा उसका कर्ता है। ऐसा होना चाहिए। आहाहा! इसे यह ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था, स्वभाव के अज्ञान के कारण उस अवस्था का त्याग करके; आहाहा! है? **सहज उदासीन अवस्था...** उदासीन अवस्था, क्योंकि उदास—वस्तु ही पर से भिन्न अत्यन्त उदास है। राग और पुण्य में भी आवे नहीं, ऐसी वह चीज़ है। आहाहा! ऐसी सहज ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था का... स्वभाव के अज्ञान के कारण उस अवस्था को उत्पन्न नहीं करता। उसे अवस्था का त्याग करके, (ऐसा कहा है)। अरे! ऐसी बातें अब। अब इसमें धन्धे के कारण निवृत्त नहीं होता, उसे यह समझना (कठिन है)। ऐ, चिमनभाई! आहाहा!

कहते हैं कि भगवान आत्मा तो ज्ञान-दर्शन और आनन्द का कन्द प्रभु है। वह तो ज्ञान और दर्शन का धारक भगवान है। ऐसे आत्मा की दशा तो सहज, उदासीन, ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था होनी चाहिए। आहाहा! परन्तु उस आत्मा के वीतरागी स्वभाव को न जानकर, अज्ञानभवनमात्र से... आहाहा! है? **अवस्था का त्याग करके...** अवस्था है, उसका त्याग करके - ऐसा नहीं, परन्तु अवस्था होनी चाहिए, उसका त्याग करके। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

भगवान आत्मा अनन्त गुणसम्पन्न द्रव्य-पदार्थ (है) तो उसकी अवस्था तो सहज.. ज्ञाता-दृष्टा / जानने-देखने के परिणामरूप वीतराग अवस्थारूप होनी चाहिए। उसके बदले, अपने ऐसे स्वभाव के अज्ञान के कारण उस ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था को उत्पन्न नहीं करता, उस ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था का त्याग करके (-ऐसा कहा है)। रमणीकभाई! यह सब सूक्ष्म है। वहाँ तुम्हारे पैसे में कुछ समझ में आये, ऐसा नहीं वहाँ धूल में। आहाहा! आहाहा! क्या अमृतचन्द्राचार्य! आहाहा! आत्मा को किस प्रकार प्रसिद्ध करते हैं! और वह इसे (अज्ञानी को) प्रसिद्ध क्यों नहीं होता? आहाहा! आत्मख्याति टीका है न! आहा! भगवान! तू पूर्ण आनन्द और ज्ञान-दर्शन से भरपूर प्रभु है न! आहाहा! तो प्रभु! तेरी अवस्था पर के करनेपने की तो नहीं होती, राग के करनेपने की तो नहीं होती; तेरी अवस्था जानने-देखने के वीतराग परिणामरूप अवस्था तेरी होती है। आहाहा!

जिसे अपना आनन्दस्वरूप भगवान, उसके अज्ञान के कारण... यह ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था होनी चाहिए, उसका त्याग करके। आहाहा! **अज्ञानभवन-व्यापाररूप...** आहाहा! अर्थात् राग का, पुण्य-पाप का भाव, वह अज्ञान है, उसमें ज्ञान नहीं है। समझ में आया? **ज्ञानभवनमात्र सहज अवस्था का...** उत्पत्ति का **त्याग करके...** अज्ञानी अज्ञानभवनमात्र, आहाहा! यह पुण्य और पाप के रागादिभाव वे अज्ञान हैं, इस आत्मा का ज्ञान उनमें नहीं है। आहाहा! **अज्ञानभवन-व्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तमान होता हुआ...** आहाहा! इसे अन्दर में स्वभाव का अनादर, और राग का प्रेम है, उसे यहाँ क्रोध कहते हैं। आहा! **क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है,...** उसे तो इस राग में प्रवर्तता हूँ, ऐसा इसे भासित होता है। अज्ञानी को, आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उसकी अवस्था ज्ञाता-दृष्टा की, आनन्द की, शान्ति की, वीतरागदशा होना चाहिए, परन्तु उसका त्याग करके अर्थात् उसके स्वभाव के अज्ञान से, अज्ञानपने का व्यापार अर्थात् राग और पुण्य आदि के परिणाम में... आहाहा! प्रवर्तता हुआ अज्ञानी को प्रतिभासित होता है, वह राग में प्रवर्तता हुआ प्रतिभासित होता है। वह आत्मा उस राग का कर्ता है। ऐसी बातें हैं। आहाहा! समझ में आया?

आहाहा! जो ज्ञाता-दृष्टा वीतरागीस्वरूप प्रभु के ज्ञान के अभाव के कारण; उसे

ज्ञान और आनन्द की दशा होनी चाहिए, उसके अभाव में अर्थात् उसका त्याग करके... आहाहा! मानो कि उसकी दशा तो वीतरागी हो, ऐसा कहते हैं। उसका त्याग करके; रागादिभाव जो अज्ञानभाव, जिसमें ज्ञान नहीं। आहाहा! जिसमें चैतन्य के नूर के पूर के प्रकाश का अंश जिसमें नहीं है, आहाहा! ऐसे जो पुण्य-पाप के रागादिभाव, उनमें प्रवर्तता हुआ, मैं मानों उनमें प्रवर्तता हूँ—ऐसा अज्ञानी को प्रतिभासित होता है। वह अज्ञानी उस राग का कर्ता है। आहाहा! ऐसी गाथा है! आहाहा! समझ में आया?

अनादि से ऐसा कर रहा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पर के कार्य करता है, यह प्रश्न यहाँ है ही नहीं। रमणीकभाई! यह तुम्हारे कारखाने और चिमनभाई के कारखाने, कान्तिभाई का वह क्या बड़ा है, उसे पाउडर... आहाहा! उसकी क्रिया करता प्रतिभासित होता है, यह तो यहाँ है ही नहीं। क्योंकि वह क्रिया यह करता ही नहीं। आहाहा! परन्तु यहाँ तो भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं, वह सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं। भाई! तू तो वीतरागमूर्ति जिनस्वरूप है न! आहाहा!

'घट घट अन्तर जिन बसै, घट घट अन्तर जैन' तू जिनस्वरूप है, तो उसकी दशा जैन की-वीतरागीदशा हो, वह जैन है। आहाहा! अब ऐसी बातें। इन क्रियाकाण्डियों को इसमें कुछ सूझता नहीं। यह सामायिक की और प्रौषध किया और प्रतिक्रमण किये (ऐसा मानते हैं, परन्तु) यह धूल भी नहीं है, सुन न! सब अज्ञानभाव की क्रिया है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! इन्द्र और गणधरों की समक्ष में तीन लोक के नाथ तीर्थंकर की ऐसी दिव्यध्वनि थी, उसे गणधर ने झेली और शास्त्रों की रचना की, उसमें का यह शास्त्र है। यह तो कुन्दकुन्दाचार्य ने रचा है। आहाहा! प्रभु! तू कौन है? तू शरीर नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, दया, दान के रागादि के भाव नहीं। अरे! एक समय की अवस्था भी तू नहीं। आहाहा! तू तो अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त गुण का गोदाम है। आहाहा! ऐसे अनन्त गुण के गोदाम अर्थात् स्वभाव को न जानकर, इस भगवान पूर्णानन्द को ऐसे अन्दर ध्येय में लेना चाहिए, आहाहा! उसे (ध्येय में) न लेकर राग की क्रिया चाहे तो दया, दान, व्रत आदि की हो, वह अपने त्रिकाली स्वभाव के अज्ञान के कारण... यह (आत्मा की) अवस्था निर्मल होना चाहिए, उसका त्याग करके और राग में प्रवर्तता हुआ प्रतिभासित होता है, वह

आत्मा राग का कर्ता है। सुमनभाई! यह तुम्हारे कानून-फानून में ऐसा कहीं नहीं आता होगा उसमें। यह तुम्हारे तो कानून कहाँ था, वह तो रामजीभाई (था)। आहाहा! आहाहा! गजब बात करते हैं न! संक्षिप्त भाषा में कितना समाहित कर दिया है! हैं? इसका द्रव्य, उसका गुण, उसकी पर्याय वीतरागी होना चाहिए। उसके बदले उस वस्तु के स्वभाव का अनजान-अज्ञानी अनादि से, जो दशा आनन्द और शान्ति की होना चाहिए, उसे उत्पन्न नहीं करता अर्थात् उसका त्याग करता है। आहाहा! अब ऐसी बात कहाँ है, बनियों को फुरसत नहीं मिलती।

यह बात आयी है। तुमने सुनी है, रमणीकभाई? जापान में एक बड़ा ऐतिहासिक (इतिहासकार) है। बड़ा पुराना ऐतिहासिक, ६७-६८ वर्ष की उम्र का है। बहुत-लाखों पुस्तकों का ऐतिहासिक / इतिहास का (जानकार है) और उसका लड़का है, उन दोनों को यह (इतिहास का) रस है। उसने समाचार-पत्र में दिया है। बहुत पुराना ऐतिहासिक (है, उसने कहा है) अरे! जैनधर्म तो अनुभूतिरूप धर्म है। यहाँ यह कहा न, कहा न, जो आनन्द और ज्ञानस्वरूप है... इतनी सब तो उसे खबर नहीं होगी परन्तु उसकी अनुभवदशा होनी चाहिए, 'यह अनुभूति, वह जैनधर्म है'—ऐसा कहा है। यहाँ कहा न, ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था का त्याग करके अर्थात् उसकी अनुभूति की अवस्था का त्याग करके। आहाहा! उसने तो ऐसा कहा कि ऐसा जैनधर्म, परन्तु बनियों को हाथ लगा। बनिये व्यापार में फँसकर पड़े हैं, उन्हें यह सूझे कहाँ से? ऐसा लिखा है। ऐई! रमणीकभाई! वह ऐतिहासिक उलाहना देता है, जापान का है। आहाहा! सुनते हैं न सब लोग। आहा! हीराभाई! वह जापानी ऐसा कहता है कि बनियों को यह मिला और बनिये व्यापार के कारण निवृत्त नहीं कि इसमें क्या चीज़ है। आहाहा!

यहाँ आया न? यहाँ क्या आया देखो! क्रोधादि व्यापाररूप प्रवर्तता हुआ। है न? अर्थात्? कि भगवान आत्मा वीतरागी जिनस्वरूपी बिम्ब आत्मा है। उसकी जिन अवस्था अर्थात् वीतरागी अवस्था, उदास अवस्था होनी चाहिए। उसका त्याग करके, स्वभाव के अभावरूप पुण्य-पाप के प्रेमरूप, स्वभाव के प्रति क्रोधरूप, आहाहा! स्वभाव के प्रति क्रोधरूप अवस्था के व्यापार में प्रवर्तमान होता हुआ... रमणीकभाई! यह तुम्हारी

बहियों में भी नहीं मिले। यह बहिन वहाँ बहुत ध्यान रखे, परन्तु यह कहीं नहीं मिले। बहिन ध्यान रखती है न, ऐसा सुना है न, आहाहा! आहाहा! प्रभु, प्रभु! वीतरागमार्ग तो देखो। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा सिद्ध करते हैं कि भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति है - जिनस्वरूपी है। उसका गुण भी वीतरागस्वभावस्वरूप है और उसकी पर्याय वीतरागभाव की राग से उदास और पर से उदास-भिन्न, उसकी वीतरागदशा उत्पन्न होनी चाहिए। द्रव्य-गुण वीतराग तो अवस्था वीतराग होनी चाहिए। आहाहा! उसका वह अज्ञानी, अपने त्रिकाली स्वभाव के ज्ञान का अभाव (होने से) आहाहा! अरे, लालभाई नहीं आये, उन्हें जरा पैर का है न? आहाहा!

अपना जो व्यापार ज्ञाता-दृष्टा का (होना) चाहिए। आहाहा! और उसके परिणाम जो वीतरागी परिणाम, वह उसका व्यापार चाहिए, उसके बदले... आहाहा! व्यापार शब्द पड़ा है? यह तुम्हारा व्यापार आया यह सब, तथापि वह व्यापार यह (अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा की परिणति।) वह कारखाने में काम करे, वह व्यापार इसका नहीं है। आहाहा! कारखाने की जो अवस्था होती है, उसका व्यापार आत्मा करे, यह तो अज्ञान में भी नहीं है। आहाहा! उसकी जो अवस्था कारखाने की होती है, उस अवस्था का कर्ता वे परमाणु पुद्गल भी नहीं हैं। वह पर्याय उसकी करता है। पर्याय, पर्याय की कर्ता। आहाहा!

एक बार वहाँ - उज्जैन-उज्जैन गये थे न। लालचन्दभाई का वह मिल-मिल है न, तीन करोड़ का। (वे तो) गुजर गये परन्तु भ्रमणा में सब ऐसा सब चलता हो और ब्राह्मण के पास (जाप) जपावे, ऐसा कुछ ऐसे लाभ हो। वहाँ ले गये थे एक बार, चरण करने। वह पूरी मशीन अकेला एक व्यक्ति ही खड़ा हो बस! (ऑटोमेटिक) वह अपने आप चले। रुई डाले वहाँ ऐसा कपड़ा होकर बाहर निकले, ऐसी तीन करोड़ की मशीन है, परन्तु वह जो पर्याय होती है, वह साथ में व्यक्ति खड़ा हो, उसने तो नहीं की परन्तु वह पर्याय जो ऐसे-ऐसे होती है, उसका कर्ता वह परमाणु जो पुद्गल है, वह उसका कर्ता नहीं। उसका आत्मा तो उसका (मशीन की पर्याय का) कर्ता नहीं; उसे राग होता है, वह भी उसका कर्ता नहीं। राग उसका कर्ता नहीं, और वह पर्याय होती है, उसका उसके परमाणु

हैं, वे भी कर्ता नहीं, अरे रे! यहाँ तक जाना। वीतरागमार्ग की बहुत गहराई, बापू! आहाहा! उसकी पर्याय का कर्ता वह पर्याय है।

यहाँ कहते हैं कि उस पर्याय का कर्ता कौन? यह राग की। अज्ञानी, स्वभाव के अज्ञान के कारण जो रागादि में प्रवर्तता है, वह पर्याय का कार्य किसका? वह अज्ञानी का; वास्तव में तो वह पर्याय का कार्य है। आहाहा! अज्ञानपर्याय। आहाहा! द्रव्य-गुण नहीं। आहाहा!

यह **सहज उदासीन (ज्ञाता-द्रष्टामात्र)...** ज्ञाता-दृष्टामात्र! राग भी उसमें नहीं चाहिए। व्यवहाररत्नत्रय का जो विकल्प / राग है, वह भी उसकी अवस्था नहीं। आहाहा! वह तो ज्ञाता-दृष्टा की वीतराग अवस्थामात्र, आहाहा! उसका **त्याग करके...** अर्थात् उसे उत्पन्न नहीं करता हुआ। आहाहा! ऐसा सहज गहरा मार्ग है। बनियों को हाथ आया, परन्तु बनिये (को) निवृत्ति नहीं मिलती। ऐई चिमनभाई!

मुमुक्षु : यह बात सत्य, परन्तु कर सके तो वह बनिया ही करेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात सत्य, तथापि करेंगे तो ये ही करेंगे। हैं? आहाहा! ऐसा मार्ग।

तीर्थंकर—सर्व अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवलियों ने यह कहा। भगवान (तीर्थंकरदेव) महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, उन (सीमन्धर) भगवान ने कहा, वह स्वयं झेला, जाना और यहाँ आकर इस शास्त्र की रचना हुई। अरे रे! इस शास्त्र की टीका की रचना हुई, उसका कर्ता, कहते हैं कि यह आत्मा नहीं। अरे रे! उस पर्याय का कर्ता उनके परमाणु नहीं। अर र! ऐसी बातें। पर्याय जो परमाणु की जो यह टीका हुई, वह पर्याय, पर्याय का कर्ता है। यहाँ आत्मा में पर्याय तो वीतरागी होना चाहिए। क्योंकि स्वयं वीतरागमूर्ति प्रभु है। आहाहा! परन्तु उसके स्वभाव के ज्ञान के अभाव के कारण... मैं ऐसा आत्मा पूर्णानन्द और अनन्त गुण का पिण्ड हूँ। उसके-स्वभाव के भान के अभाव के कारण; उसकी दशा का त्याग करके और राग के व्यापार में प्रवर्तता हुआ, उसे स्वभाव से विरुद्ध जो क्रोध, उस क्रोध में प्रवर्तता है। क्रोध क्यों कहा? कि जिसे राग का प्रेम है, उसे स्वभाव के प्रति क्रोध है। अरे! अब ऐसी बातें! कहो, कान्तिभाई! ऐसा स्वरूप है। आहाहा!

जिसे यह शुभभाव हो, उसका भी जिसे प्रेम है—रुचि है, उसे भगवान अनन्त आनन्द का कन्द वीतरागमूर्ति प्रभु के प्रति उसे द्वेष है। द्वेष का भाग क्रोध और मान है। आहाहा! ऐसे व्यापाररूप प्रवर्तता हुआ **प्रतिभासित होता है,...** ऐसा क्या कहा यह? अज्ञानी, स्वभाव के अज्ञान के कारण राग के अज्ञानरूप व्यापार में प्रवर्तमान होता हुआ, उसका कर्ता मैं हूँ, ऐसा प्रतिभासित होता है। उस राग का कर्ता मैं हूँ, ऐसा अज्ञानरूप से उसे प्रतिभासित होता है। आहाहा! **वह कर्ता है;...** इतना तो कल आ गया था। यह तो फिर से (लिया है क्योंकि) ये सब नये आये हैं न? यहाँ तक तो कल आया था।

और... अब कर्म। वह कर्ता प्रतिभासित होता है, ऐसा लिया। अब उसका कर्म क्या? कर्ता का कार्य क्या? **और ज्ञानभवनव्यापाररूप प्रवृत्ति से भिन्न,...** यहाँ यह डाला है (कहा है)। देखा? और फिर उस ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन अवस्था का त्याग करके, कहा... आहाहा! कर्ता सिद्ध करना है। अब यहाँ **ज्ञानभवनव्यापाररूप...** आत्मा के स्वभाव का व्यापार होना चाहिए। आहाहा! भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का (धारक) स्वाभाविक वस्तु है। उस स्वभाव की अवस्था होनी चाहिए... आहाहा! इस ज्ञानभवनव्यापार अर्थात् यह, आत्मा के स्वभाव का पर्याय में (परिणमन) होना, उसके व्यापाररूप **प्रवृत्ति से भिन्न,...** आहाहा! ज्ञाता-दृष्टा के वीतरागी परिणाम का ज्ञानभवन अर्थात् आत्मा का होना, ऐसा जो आत्मा का व्यापार, उससे-प्रवर्तन से भिन्न। आहाहा!

उसमें ऐसा कहा था कि ज्ञाता-दृष्टा की सहजदशा का त्याग करके, कर्ता भासित होता है। अब यहाँ कर्म भासित होता है, ऐसा कहा है। आहाहा! गजब बात, टीका तो कोई (अद्भुत है)! आहाहा! ज्ञान अर्थात् आत्मा का होना, अर्थात् वीतरागी पर्यायरूपी व्यापार होना, उसके प्रवर्तन से भिन्न। वीतरागी कार्य होना चाहिए, वीतरागी द्रव्य-गुण है, इसलिए वीतरागी पर्याय होना चाहिए, परन्तु उस प्रवर्तन से भिन्न... अपने आप यह सब बैठे (समझ में आये), ऐसा नहीं है यहाँ! इस बहिन की पुस्तक का पूछा है। यह बहिन की पुस्तक को तो बड़े अमलदार अधिकारी अभी पड़ते हैं। कितनी बार, दो-दो, चार-चार बार पढ़ गये और तुम्हें पूछा, पढ़ा नहीं अभी? कहो, आहाहा! पढ़ा है तुमने? कितनी बार, एक? (श्रोता : दो बार)। आहाहा! यह टीका है, देखो न! कहते हैं, द्रव्य-गुण और पर्याय, ऐसे निर्मल द्रव्य, निर्मल गुण तो उसकी निर्मल अवस्था होना चाहिए। उसका इसे ख्याल नहीं है;

इसलिए अज्ञानभाव से राग में प्रवर्तता हुआ प्रतिभासित होता है, वह पर्याय उसकी कर्ता; द्रव्य को कर्ता कहना, वह उपचार से है। आहाहा!

यहाँ अब कर्म, ज्ञान का भवन होना - आत्मा के स्वभाव का वीतरागभावरूप से होना, ऐसा जो व्यापार, उसके **प्रवृत्ति से भिन्न, जो क्रियमाणरूप से अन्तरंग में उत्पन्न होते हुए...** किये जाते हों, ऐसे अन्तरंग में उत्पन्न होते प्रतिभासित होते हैं। यह मुझसे हुए है, ऐसा इसे प्रतिभासित होता है। मैंने किया, यह वापस पहले कर्ता हुआ। अब यह राग है, वह मुझसे हुआ, ऐसा इसे प्रतिभासित होता है, यह राग इसका कार्य है। ये कारखाने के काम और व्यापार-धन्धा के (काम) वे नहीं।

मुमुक्षु : मुम्बई में तो सही न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह धूल में भी नहीं, मुम्बई में कहाँ था? आहाहा! भाषा सादी है, भाव गम्भीर भरे हुए हैं।

मुमुक्षु : इसीलिए तो आप स्पष्ट करके बताते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत सूक्ष्म है इसलिए। आहाहा!

क्रियमाणरूप से अन्तरंग में उत्पन्न होते हुए प्रतिभासित होते हैं;... पर्याय में राग उत्पन्न होता है, ऐसा अज्ञानी को कार्य भासित होता है। आहाहा! अन्तरंग में लिया न, बाहर का कोई कार्य अन्दर है नहीं। आहाहा! यह हाथ हिला सकता नहीं, भाषा बोल सकता नहीं, पलक पलटा सकता नहीं, दाल-भात खा सकता नहीं, दाढ़-दाँत को (कुरेदकर) ऐसा कर सकता नहीं। आहाहा! आहाहा! कहो, छोटाभाई! ऐसा सूक्ष्म है, बापू! आहाहा! यह जैनदर्शन! यह दिगम्बर दर्शन। आहाहा! अरे रे! सुनने को मिलता नहीं, इसे सुनने का समय कभी निकालता नहीं। समझ में आया? जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! देखो न! चन्दुभाई चले गये न बेचारे! आहाहा! यहाँ बैठते थे। यहाँ लाओ और यहाँ आओ, ऐसा कहते, तब वहाँ पेशाब (के कारण दूर बैठते) देह की स्थिति पूरी हो, वहाँ क्या हो? अहमदाबाद में वाँचनकार, बहुत मुख्य व्यक्ति, जोरदार व्यक्ति। आहाहा! वह चले गये।

मुमुक्षु : संस्कार लेकर गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : संस्कार लेकर गये - संस्कार लेकर गये हैं और मेरे हिसाब से

तो वे स्वर्ग के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं जायेंगे, ऐसा वह व्यक्ति था। आहाहा! शरीर की निर्बलता हो गयी थी। परन्तु... आहाहा!

क्या कहा? कर्ता और कर्म सिद्ध करना है। कर्ता सिद्ध किया कि अज्ञानी ज्ञानभवनमात्र के परिणाम को नहीं उत्पन्न करता, उसे छोड़कर और राग का कर्ता हूँ, राग मैं करता हूँ, ऐसा अज्ञानी को कर्ता प्रतिभासित होता है। आहाहा! तब कर्म? **ज्ञानभवनव्यापाररूप प्रवृत्ति से भिन्न,...** अर्थात् यह प्रवर्तन नहीं है वहाँ, आहाहा! आत्मभवन-व्यापाररूप ज्ञान शब्द से (आशय) आत्मा। आत्मा के होनेरूप व्यापाररूप प्रवर्तन से भिन्न, क्योंकि आत्मा के भवनरूप व्यापार तो वीतरागभाव है, वह वीतरागीभाव उसका कर्म है। आहाहा! आत्मभवन व्यापाररूप प्रवर्तन से भिन्न **क्रियमाणरूप से अन्तरंग में उत्पन्न होते हुए...** मानों मुझसे किये जाते हों, ऐसे अन्तरंग में उत्पन्न होते हुए राग को स्वयं कर्मरूप प्रतिभासित होता है। राग मेरा कार्य है, ऐसा अज्ञानी को भासित होता है। आहाहा! परन्तु यह राग इसका कार्य, ऐसा प्रतिभासित होता है, यह पर के कार्य मैंने किया, यह तो बात ही झूठ है। सुमनभाई! आहाहा! यह सिद्धान्त! मानों मुझसे किये जाते हों, ऐसे। क्रियमाण अर्थात् यह राग मुझसे किया जाता हो, ऐसा उसे कर्म भासित होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह मेरा कर्तव्य है, ऐसा भासित होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ऐसी बात है। कितना समाहित कर दिया है। कर्ता-कर्म दो में। आहाहा!

ऐसे क्रोधादिक वे, (उस कर्ता के) कर्म हैं। अज्ञानी का कर्ता अज्ञानी, और उसके पुण्य-पाप के भाव स्वभाव से विरुद्ध भाव, ऐसे क्रोधादि का कार्य उसे होता है, ऐसा भासित होता है। मैं तो क्रोध करता हूँ, आहाहा! यह करता हूँ वह नहीं, मैं तो क्रोध करता हूँ, मान करता हूँ, राग करता हूँ—ऐसा भासित होता है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? दिगम्बर सन्तों के सिवाय (ऐसी बात कहाँ है?) गजब काम किया है। हैं!

मुमुक्षु : यहाँ तो हम आपसे सुनते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन तीन-चार लाइनों में कितना भरा है! आहाहा! आहाहा! तेरी गम्भीरता का पार नहीं प्रभु! तू तुझे भूला, इसकी गम्भीरता का पार नहीं, उसमें आया है

न, अनुभवप्रकाश में (आया है)। तेरी शुद्धता तो बढ़ी, परन्तु तेरी अशुद्धता भी बढ़ी है। तीर्थंकर जैसों के समवसरण में गया परन्तु तूने अशुद्धता नहीं छोड़ी। अनुभवप्रकाश में आता है। दीपचन्दजी (ने कहा है)। आहाहा!

पर्याय में द्रव्य को ध्येयरूप से लेकर ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था होनी चाहिए, वह उसका कर्म और कार्य है। उसे छोड़कर... आहाहा! ज्ञानभवनमात्र व्यापार के प्रवर्तन से भिन्न... आहाहा! अर्थात् कि वस्तु और वस्तु का स्वभाव अविकारी वीतरागमूर्ति का कार्य तो वीतराग प्रवर्तन होना चाहिए। उस वीतराग प्रवर्तन के कार्य से भिन्न, आहाहा! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : निहाल कर दे, ऐसी....

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे, निहाल क्या? विभाजन कर डाल अन्दर से आर-पार! भगवान अन्दर भिन्न त्रिलोकनाथ है और यह तुझे क्या हुआ है? आहाहा!

ऐसे क्रोधादिक... क्रोध कैसे कहा? समझ में आया न? यह राग और दया, दान, व्रत तथा काम, क्रोध के परिणाम हुए, उसकी रुचि है और इसे उनकी दृष्टि है और वे इसे पोसाते हैं। भगवान इसे पोसाता नहीं। आहाहा! जो कुछ विकल्प हुआ, शुभ-अशुभभाव का (विकल्प हुआ), उसका इसे पोषाण है, पोसता है-पोसता है, रुचि है; इसलिए इसे भगवान का अनादर है। परमात्मप्रकाश में कहा है कि जिसने राग के भाव को उपादेयरूप से स्वीकार किया, उसने भगवान तीन लोक का नाथ परमात्मा स्वयं उसे हेय है। आहाहा! आत्मा हेय है। शशीभाई! तूने अनादि से हेय किया, प्रभु! आहाहा! भगवानस्वरूप परमात्मा का आदर नहीं करके, अज्ञानभाव से अर्थात् उस स्वरूप के माहात्म्य के अभाव में, आहाहा! तुझे राग का माहात्म्य आया। आहाहा! प्रभु! तुझे उस विकारी पर्याय का माहात्म्य आया। आहाहा! इसलिए वीतरागी प्रवर्तन से वह राग प्रवर्तन भिन्न जाति का है। आहाहा! हीराभाई! ऐसा है। आहाहा!

क्या टीका, क्या इसकी गम्भीरता! क्या इसके भाव! आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य एक हजार वर्ष पहले दिगम्बर सन्त... आहा! जिन नहीं परन्तु जिन सरीखे, उनकी यह टीका है, बापू! जिन है न? मोक्षतत्त्व कहा है न, उन्हें (भावलिंगी सन्तों को) तो मोक्ष कहा है,

मोक्षमार्ग में परिणमित मुनियों को मोक्षतत्त्व है, ऐसा कहा है, आहाहा! यहाँ उन सन्तों को विकल्प आया है, उसके वे कर्ता तो नहीं और यह टीका हो तो इसके कर्ता भी तीन काल में नहीं परन्तु उसमें ऐसी वाणी रच गयी है। आहाहा!

प्रभु! तू कर्ता तो वीतरागी पर्याय का होना चाहिए, उसके बदले राग पर्याय का कर्ता तुझे प्रतिभासित होता है, वह अज्ञान है और वीतरागी परिणाम, वह तेरा कार्य है-ऐसा भासित होना चाहिए। उसे छोड़कर राग में प्रवर्तनरूप, वीतराग प्रवर्तन से भिन्न जाति जो राग है, उसमें प्रवर्तता हुआ तुझे भासित होता है, कहते हैं वह तेरा - अज्ञानी का कार्य है। आहाहा! यह हाथ हिला सकता है, वह तो नहीं। गजब बात है। हैं? कहा था न यहाँ? जो पैर-पैर चलते हैं, वह पैर जमीन को स्पर्श नहीं करते। अब यह किसे जँचे? स्पर्श नहीं करता। स्पर्श करे तो दोनों एक हो जायें और वे पैर हिलते हैं, वह आत्मा से नहीं, आत्मा को विकल्प आया कि ऐसे होवे, उससे नहीं, तथा वह पैर ऐसे हिलता है, वह पर को स्पर्श किये बिना, वह हिलने की क्रिया उसके परमाणु से नहीं। उसकी पर्याय (का) उसकी पर्याय कर्ता है।

भाषा देखो न! **ज्ञानभवनव्यापाररूप...** आत्मा के स्वभाव के व्यापाररूप वीतराग परिणाम के प्रवर्तन से भिन्न, आहाहा! क्रियमाणरूप से मानों कि किया जाता हो, मैं करता हूँ, ऐसा अन्तरंग में उत्पन्न होते प्रतिभासित होते हैं, ऐसे वे विकारी भाव उसका कार्य है। कर्म अर्थात् कार्य है। आहाहा! श्लोक (गाथा) बहुत अच्छा आ गया है, अभी तुम्हारे डॉक्टर आये हैं न! कहो झाँझरी! झाँझरी अभी आये हैं आज। आहाहा!

क्या इनकी (आचार्य की) शैली, क्या इनकी धारा! आहाहा! प्रभु! तू तुझे भूलकर राग का तू कर्ता होता है, भाई! वीतरागी प्रवर्तन के कार्य को छोड़कर, प्रभु! तूने राग के कार्य मेरे माने हैं, ऐसा कहना है। आहाहा! यह कर्ता-कर्म की सिद्धि की। अरे! यह कहाँ पकड़े साधारण मनुष्य। आहाहा!

इस प्रकार अनादिकालीन... अनादि काल के **अज्ञान से...**

अज्ञान से... आहाहा! निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया, जैन दिगम्बर साधु हुआ, पंच महाव्रत (पालन किये) आहाहा! परन्तु वह सब राग है, वह मेरा

कार्य है, ऐसा इसे भासित हुआ है। आहाहा! **इस प्रकार अनादिकालीन... अज्ञान से होनेवाली यह (आत्मा की) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है।** लो! इस प्रकार अज्ञान से कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। आहाहा! अब यह सब बड़े गृहस्थ मर जाये न, करोड़पति, पचास लाख और धूल लाखवाले, वे उद्योगपति थे, उसने उद्योग बहुत किया, समाचार-पत्र में ऐसा आवे (कि) उद्योगपति थे। उद्योगपति इस धूल के?

मुमुक्षु : मानना तो पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : मानता है, वह तो अज्ञान हुआ। आहाहा! ऐसा कि जन्मे तब माँ-बाप के पास कुछ नहीं था, पश्चात् स्वयं जवान अवस्था हुई, अपनी चतुराई से उद्योग बढ़ाया और उद्योगपति हुए तथा चालीस-चालीस करोड़ इकट्ठे किये। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि राग का उद्योगपति हो, वह भी मिथ्यादृष्टि है। ऐई! वीतरागपर्याय का उद्योगपति हो, वह धर्मी है। आहाहा!

इस प्रकार अपने अज्ञान के कारण... वापस यह ऐसा क्यों हुआ कि कर्म का जोर है, इसलिए हुआ, ऐसा नहीं है। इसके स्वरूप का इसे भान नहीं है, इसलिए हुआ है। आहाहा! **इस प्रकार अपने अज्ञान के कारण कर्ताकर्मभाव से क्रोधादि में प्रवर्तमान...** अर्थात् पुण्य-पाप के भाव जो आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध हैं, उनमें वर्तते हुए। **इस आत्मा के, क्रोधादि की प्रवृत्तिरूप परिणाम को निमित्तमात्र करके...** अज्ञानी के वे क्रोध, मान, माया के अथवा राग के प्रेमरूपी जो क्रोध, स्वभाव के प्रति अनादर, उसकी परिणति का निमित्तमात्र करके **स्वयं अपने भाव से ही परिणमित होता हुआ (पौद्गलिक) कर्म...** यह तो मात्र निमित्त है, उस समय में परमाणु कर्म होने के योग्य वे अपने भाव से परिणमते हुए, यह तो निमित्तमात्र है। निमित्त-निमित्त क्यों कहा कि वे कोई इसके-कर्म के पुद्गल को परिणमाता नहीं। कर्म की पर्याय को वह परिणमाता नहीं। आहाहा! निमित्तमात्र, ऐसा। निमित्तमात्र। अज्ञानी के राग के कर्तापने के निमित्तमात्र को पाकर परमाणु कर्म की अवस्था को धारण करते हैं। आहाहा! **स्वयं अपने भाव से...** पर्याय से। **परिणमित होता हुआ पौद्गलिक कर्म इकट्ठा होता है।** वहाँ कर्म के परमाणु इकट्ठे होते हैं, यह तो परिणाम इसमें तो निमित्तमात्र हैं, इस समय में उन परमाणुओं में कर्म की अवस्था होने की योग्यतावाले

परिणमते हैं, वे अपने भाव से परिणमते हैं। वे आत्मा के राग के भाव से नहीं। आहाहा! समझ में आया?

दूसरे प्रकार से कहें तो भगवान आत्मा में विकार होने का कोई गुण नहीं है। आत्मा में अनन्त गुण हैं, अनन्त-अनन्त गुण, अनन्त-अनन्त गुण में कोई एक गुण विकार करे, ऐसा कोई गुण नहीं है, परन्तु पर्याय की बुद्धिवाले अज्ञानी कर्म-विकार को पर्याय में करते हैं। समझ में आया? ऐसे कर्म की अवस्था पुद्गल में होनेवाली अवस्था, पुद्गल में ऐसा कोई गुण नहीं कि कर्मरूपी अवस्था हो। समझ में आया? पुद्गल में ऐसा कोई गुण नहीं की कर्म की अवस्था हो। परन्तु उसकी पर्याय में अद्धर से कर्म की अवस्था परमाणु में होती है। आहाहा!

प्रवृत्तिरूप परिणाम को निमित्तमात्र करके स्वयं अपने भाव से... पर्याय से **परिणमित होता हुआ...** पर्याय से परिणमित होता हुआ - भाव से परिणमित होता हुआ, ऐसा। परमाणुओं में कर्म होने के योग्य है पर्याय में, वह अपने भाव से / पर्याय से परिणमता हुआ; उसके द्रव्य-गुण के भाव से परिणमता, वह नहीं। आहाहा! गजब टीका करते हैं! आहाहा! स्वयं अपने में पर्याय से ही परिणमता हुआ। आहाहा! है! स्वयं अपनी पर्याय से ही परिणमता हुआ **पौद्गलिक कर्म इकट्ठा होता है।** उसे परमाणु वहाँ बँधते हैं, उनकी अपनी पर्याय की योग्यता से। यह (रागादि) तो निमित्तमात्र है।

इस प्रकार जीव और पुद्गल का, परस्पर-अवगाह... बस! एक क्षेत्र में रहना इतना अवगाह सम्बन्ध। आहाहा! भगवान आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर, अज्ञानभाव से राग का कर्ता भासित होता है और राग उसका कर्म भासित होता है, उतना राग का निमित्तमात्र करके, उस समय के परमाणुओं की पर्याय अपनेरूप से परिणमती है और उसके एकक्षेत्रावगाह में रहती है, जहाँ आत्मा है, वहाँ कर्म रहते हैं। आहाहा! **परस्पर-अवगाह जिसका...** परस्पर-अवगाह जिसका **लक्षण...** देखा! परस्पर। आत्मा अपने राग-द्वेष से पड़ा है, कर्म उसकी अवस्था से, परस्पर एक-दूसरे के अवगाह-एक क्षेत्र में रहे हैं। आहाहा! समझ में आया?

अब यह एक व्यक्ति कहता है कि मैं पन्द्रह दिन में समयसार पढ़ गया। बापू! हैं!

आहाहा! गम्भीरता का पार नहीं... बापू! यह तो तीन लोक के नाथ सन्तों की यह वाणी है। सन्त, सन्त हैं। वे वीतरागमूर्ति हैं। आहाहा! आहाहा! दिगम्बर सन्त।

ऐसा सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है। ऐसे सम्बन्धरूप बन्ध—एकक्षेत्रावगाह रहना। देखा? **सम्बन्धरूप बन्ध...** तीन बातें लीं। समय हो गया है। वहाँ ऐसा कहा था कि पुण्य और पाप संयोगसिद्धसम्बन्ध है। समझ में आया? आहाहा! और यह एक अवगाहरूपी सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध है, बाकी कोई सम्बन्ध इन्हें है नहीं; सब अपने-अपने से रहे हैं। **अनेकात्मक होने पर भी...** अर्थात् अनेकपने की भिन्नता होने पर भी **एक प्रवाहपना होने से जिसमें से इतरेतराश्रय दोष दूर हो गया है...** इसका व्याख्यान थोड़ा बाकी है, थोड़ा कल कहा जायेगा। (***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १४७, गाथा-६९-७०-७१ दिनांक २७-११-१९७८, सोमवार, कार्तिक कृष्ण १२

श्री समयसार, गाथा ६९-७०, अन्तिम बात है। **इस प्रकार जीव और पुद्गल का...** है न अन्तिम? **परस्पर अवगाह जिसका लक्षण है, ऐसे सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है।** क्या कहा? कि जैसे आत्मा को और ज्ञान को तादात्म्यसम्बन्ध सिद्ध है, उसी प्रकार आत्मा को और राग को संयोगसिद्धसम्बन्ध है। आहाहा! आत्मा और ज्ञान वह तद्रूप, अग्नि और उष्णता जैसे तद्रूप सम्बन्ध है, उसरूप सम्बन्ध है, वैसे भगवान आत्मा को और ज्ञान को, तद्रूप / उसरूप सम्बन्ध है। उसे तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध कहा। और पुण्य और पाप के भाव का आत्मा के साथ संयोगसिद्धसम्बन्ध है। वह स्वभावसिद्ध -सम्बन्ध है, यह संयोगसिद्धसम्बन्ध है। आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप, उसे पुण्य और पाप के भाव संयोगसिद्धसम्बन्ध है, स्वभाव नहीं। ऐसा सूक्ष्म है। तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध और संयोगसिद्धसम्बन्ध और यहाँ अवगाह, यहाँ तो अवगाह के ऊपर लेना है न अन्तिम? आहाहा! तीन सम्बन्ध है। ये दो हुए।

तीसरा, आत्मा जब राग-द्वेषरूप परिणमता है, तब कर्म के परमाणु वे स्वयं के कारण से उस प्रकार से परिणमने की योग्यतावाले परिणमते हैं। आहाहा! परमाणु तो अनन्त हैं, परन्तु उस काल में वहाँ जितने राग-द्वेष हुए, उनके प्रमाण में उसकी अपेक्षा बिना... निमित्त है न वह तो? कर्म के परमाणु अपनी योग्यता से कर्मरूप होने के योग्य थे, वे कर्मरूप होते हैं, आहाहा! और जब राग-द्वेषरूप होता है, तब नये कर्म संयोगसम्बन्ध में जो आते हैं, भावसंयोग ... तो आवे वह संयोग है परन्तु एक क्षेत्रावगाहसम्बन्ध है, बस। आत्मा को और कर्म के परमाणुओं को एक क्षेत्र में रहना, इतना सम्बन्ध है। आहाहा!

ऐसा सब सूक्ष्म, लो। अब बनिये यह सब निर्णय करने को निवृत्त कब हो? चिमनभाई!

मुमुक्षु : समझना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझना पड़ेगा। लो, भाई! कहते हैं। स्वयं के लिये।

मुमुक्षु : समझने का अपने लिये ही है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने लिये ही है न! बात सच्ची।

यह इसकी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अनादि से ऐसी है। यह कहेंगे कि यह जीव जब अपने स्वभाव को भूलकर अज्ञानभावरूप राग-द्वेषरूप होता है, उस काल में कर्म के परमाणु कर्मरूप होने के योग्य थे, वे कर्मरूप होते हैं। इस प्रकार दोनों को एक क्षेत्र में रहने का सम्बन्ध है। एक क्षेत्र में एक-दूसरे को स्वभावसम्बन्ध है, ऐसा नहीं। आहाहा! इस प्रकार जीव और पुद्गल का परस्पर अवगाह-परस्पर अवगाह, जहाँ कर्म के परमाणु हैं, वहाँ आत्मा के राग-द्वेष के परिणामवाला जीव है, ऐसा परस्परअवगाहसम्बन्ध है। जहाँ आत्मा है, राग-द्वेष के परिणाम, उसी काल में कर्म के परमाणु का उसी क्षेत्र में अवगाहन-रहे हुए हैं। आहाहा! ऐसा सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है। समझ में आया?

अनेकात्मक होने पर भी... अब क्या कहते हैं? कि आत्मा और परमाणु—कर्म। अनेक हैं, एक नहीं, दोनों भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा भिन्न द्रव्य है, कर्म के परमाणु भिन्न द्रव्य है। यह **अनेकात्मक...** अनेकस्वरूप **होने पर भी, (अनादि) एक प्रवाहरूप होने से...** अर्थात्? कि आत्मा भी अपने को भूलकर राग-द्वेषरूप परिणमता है, वह भी अनादि प्रवाह है। और कर्म भी कर्मरूप प्रवाह है, वह भी अनादि प्रवाह है। इसके कारण यह और इसके कारण यह, ऐसा नहीं है। आहाहा! एकदम सूक्ष्म बात है।

ऐसे अनेक अर्थात् दोपना भिन्न-भिन्न होने पर भी एक प्रवाहरूप होने से... प्रवाह एक ही है। विकाररूप आत्मा स्वयं स्वतः अनादि परिणमता है और कर्म के परमाणु कर्मरूप भी अनादि स्वयं से परिणमते हैं। यह हो तो यह परिणमे, यह हो तो यह परिणमे, ऐसा इतरेतराश्रय दोष इसमें नहीं आता। आहाहा! ऐसी बातें, यह तो न्याय के ग्रन्थ की बातें हैं।

जिसमें से इतरेतराश्रय दोष दूर हुआ। अर्थात्? कि जीव राग-द्वेषरूप परिणमा, तब कर्म के परमाणु परिणमे उसके आश्रय से, ऐसा नहीं है। वे वहाँ परिणमने के योग्यतावाले परमाणु अनादि से ऐसे परिणमते हैं, यहाँ राग-द्वेष की योग्यतावाला जीव राग-द्वेषरूप अनादि से परिणमता है। इस प्रकार दोनों भिन्न होने पर भी, एक-दूसरे के आश्रय से होते हैं, ऐसा नहीं है। दोनों स्वतन्त्र हैं। आहाहा! ऐसा सब। ऐसा कहकर कर्ता-कर्म के प्रवृत्ति सिद्ध की। स्वयं आत्मा विकारी पर्याय कर्ता, विकारी पर्याय, कर्म। पर के

साथ का सम्बन्ध नहीं अज्ञानभाव से। इस प्रकार जिसमें से इतर... इतर अर्थात् एक-दूसरे के आश्रित है, ऐसा प्रवाह नहीं। स्वतन्त्र प्रवाह है। आहाहा! नहीं तो ऐसा हो कि राग-द्वेष हो, तब कर्म, कर्मरूप परिणमे, इतना सम्बन्ध रहता है आश्रय? कि, नहीं। यह तो वह कर्मरूप हुए प्रवाह में वह उसके कारण से। राग-द्वेषरूप होना, जीव को जीव के कारण से। आहाहा! **ऐसा वह बन्ध कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का निमित्त जो अज्ञान, उसका निमित्त है।** आहाहा!

जहाँ जीव ने राग-द्वेष किये अज्ञानभाव से, उसी काल में वहाँ कर्म के परमाणुरूप परिणमनेवाले परिणमे, ऐसा बन्ध सिद्ध होता है। और वह बन्ध, कर्ता-कर्म प्रवृत्ति का निमित्त अज्ञान। आत्मा में जो कर्ता-कर्म रागादि का कर्ता और उसका कर्म, ऐसा जो अज्ञान, उसका निमित्त है, कौन? बन्ध। पूर्व का जो बन्ध है, वह यहाँ कर्ता-कर्म का जो अज्ञान है, उसमें वह निमित्त है। आहाहा! और उस बन्ध में भी वह राग-द्वेष के परिणाम निमित्त हैं, बस इतना है। यह तो न्याय का मार्ग है, भाई! बनिये को न्याय में कहाँ अब ऐसा। आहाहा! समझना पड़ेगा, बापू! आहाहा! वापस जो बन्ध हुआ, वह और इस ओर अज्ञान का निमित्त। वह बन्ध हुआ है, वह अज्ञानी जो अज्ञान है, करेगा, उसमें वह निमित्त है और बन्ध हुआ, उसमें अज्ञानभाव जो हुआ, वह उसे निमित्त है। आहाहा! ऐसा है।

भावार्थ :- यह आत्मा, जैसे अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमित होता है... अपने आनन्द और ज्ञानरूप परिणमता है, होता है, **उसी प्रकार जब तक क्रोधादिरूप भी परिणमित होता है,...** क्रोध अर्थात् (विकार)। **ज्ञान में और क्रोधादि में भेद नहीं जानता।** ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का होना, और रागरूप होना, इन दो का भेद अज्ञानी नहीं जानता। आहाहा! दो का अन्तर नहीं जानता, तथा दो की भिन्नता नहीं जानता। विशेष, अन्तर है न दो शब्द? विशेष, अन्तर, दो में विशेषपना और अन्तर अर्थात् भेदपना। समझ में आया या नहीं? **भेद नहीं जानता, तब तक उसे कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है।** आहाहा! आत्मा की पर्याय कर्ता और राग उसका कर्म। परन्तु आत्मा कर्ता और विकारपना कर्म, ऐसा यहाँ कहा जाता है। वास्तव में तो अज्ञानभाव ऐसा जो पर्याय, वह कर्ता और रागादिभाव उसका कर्म, परन्तु अज्ञान आत्मा ने किया है, ऐसा कहकर अज्ञानभाव का कर्ता आत्मा और अज्ञानभाव

उसका कार्य, रागादि का। आहाहा! देखा? तब तक उसे **क्रोधादिरूप परिणमित होता हुआ, वह स्वयं कर्ता है।** देखा! **और क्रोधादि उसका कर्म है।**

वास्तव में तो वह विकारी परिणाम स्वयं ही कर्ता और विकारी परिणाम स्वयं ही कर्म है। आहाहा! क्योंकि भगवान आत्मा में द्रव्य-गुण कोई ऐसा नहीं कि विकार का कर्ता हो। यह क्या कहा? भगवान आत्मा में इतने अमाप गुण हैं परन्तु ऐसा कोई गुण नहीं कि जो राग का कर्ता होकर परिणमे, ऐसा कोई गुण नहीं है। परन्तु ऐसा स्वरूप जो है ज्ञातादृष्टा, उसके अज्ञान के कारण जो पर्याय हुई, वह अज्ञान की पर्याय कर्ता और वह अज्ञान पर्याय राग उसका कार्य। आहाहा! ऐसा मार्ग अब।

अनादि अज्ञान से तो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। अज्ञान से। कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से बन्ध है, वह तो अनादि से है। उसमें कोई पहले इसे यह हुआ और फिर यह हुआ, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! ऐसा कि जीव ने अज्ञान किया और फिर बन्धन हुआ, उसी काल में, ऐसा कुछ नहीं है। यह तो यहाँ बन्ध का प्रवाह है और यहाँ अज्ञान का प्रवाह, ऐसा अनादि से चलता है। आहाहा! अब इसमें धन्धा-मुम्बई के धन्धे के कारण उसमें यह बात...

मुमुक्षु : यह बात विचारनी पड़ेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : विचारनी (पड़ेगी)। आहाहा!

यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि भगवान आत्मा अपने स्वभावरूप परिणमे, वह तो उसका स्वरूप है। समझ में आया? परन्तु वह अपने स्वभाव को पर्याय में न जानकर, अज्ञानभावरूपी भावकर्म का कर्ता होता है, वह राग, वह इसका कार्य और अज्ञानभाव, वह उसका कर्ता। द्रव्य तो, द्रव्य और गुण तो है, वह है। आहाहा! ऐसा मार्ग, वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं होता। सबने गप्प मारी है। यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर ने सर्वज्ञपने में सब जाना, इच्छा बिना वाणी निकली। उस वाणी में स्व-पर कहने की ताकत है। आत्मा में स्व-पर को जानने की ताकत है। वाणी में स्व-पर को जानने की ताकत नहीं। आहाहा! आत्मा में स्व-पर को कहने की ताकत नहीं।

क्या कहा? भगवान आत्मा स्व-पर को कहे, ऐसी उसमें ताकत नहीं। स्व-पर को जाने, ऐसी उसकी ताकत है। वाणी में स्व-पर को कहना, ऐसी ताकत है परन्तु वाणी में

स्व-पर को जानना, ऐसी ताकत नहीं। आहाहा! **अनादि अज्ञान से तो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है।** उस **कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से बन्ध है और उस बन्ध के निमित्त से....** वापस वह बन्ध हुआ न? उसके **निमित्त से अज्ञान है। इस प्रकार अनादि सन्तान (प्रवाह) है, इसलिए उसमें...** एक दूसरे का आश्रय-दोष भी नहीं आता। ऐसा कि इसने राग किया और तब बन्धन हुआ और बन्धन का निमित्त हुआ, इसलिए यहाँ अज्ञान हुआ, ऐसा एक-दूसरे के आश्रित (नहीं है), स्वतन्त्र है। प्रवाहरूप से अनादि से इस प्रकार स्वतन्त्र है। एक-दूसरे के आश्रय से हो, ऐसा अनादि प्रवाह में इतरेतराश्रय दोष नहीं आता। आहाहा! यह गाथायें सूक्ष्म। पहली गाथा कर्ताकर्म की सूक्ष्म। भाई! आहाहा!

इस प्रकार जब तक आत्मा क्रोधादि कर्म का कर्ता होकर... विकारी परिणाम का कर्ता होकर कि जो विकारी परिणाम जीव को संयोगसम्बन्ध से है, स्वभावसम्बन्ध से नहीं। आहाहा! ऐसे संयोगीसम्बन्ध के पुण्य-पाप के भाव का कर्ता होकर परिणमता है, तब तक कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है, आहाहा! और तब तक कर्म का बन्ध होता है। यह अपने आप पढ़ा है या नहीं कभी। चिमनभाई! निवृत्ति नहीं, भाई! बड़े भाई कहते हैं, इन भाई को कल पूछा नहीं? उन रमणीकभाई को कहा, यह बहिन का पुस्तक पढ़ा? तो कहे पढ़ा ही नहीं, कहो अब। अरे! अब मार डाला जगत को। ऐसी पुस्तक बाहर निकली, वह भेंट तो दी है न? जो आत्मधर्म मँगाते हैं, उन्हें भेंट दी है। बहुत समय से आ गया है तो भी पढ़ा नहीं। आहाहा! बहियाँ पढ़ी हैं मुम्बई में। मोहनगरी कहा न? अरे रे! समय चला जाता है। अपना जो कर्तव्य है, उसे यह जीव समझता नहीं, अवतार चला जाता है, बापू! आहाहा! घड़ी-घड़ी जाए, वह मृत्यु के समीप जाता है। आहाहा! दो घड़ी, चार-चार घड़ी चला जाता है, वैसे-वैसे देह छूटने के समीप जाता है। आहाहा! छूटने का तो है ही, पृथक् तो है ही, परन्तु बाह्य क्षेत्रान्तर-आगे जाने का काल, इसे समीप आता है। आहाहा!

गाथा–७१

कदास्या: कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरिति चेत् –

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।।७१।।

यदानेन जीवेनात्मन: आस्रवाणां च तथैव।
ज्ञातं भवति विशेषान्तरं तु तदा न बन्धस्तस्य।।७१।।

इह किल स्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभाव:। तेन ज्ञानस्य भवनं खल्वात्मा, क्रोधादेर्भवनं क्रोधादि:। अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं, यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि, यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं, यतो यथा क्रोधादिभवने क्रोधादयो भवन्तो विभाव्यन्ते न तथा ज्ञानमपि। इत्यात्मन: क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वम्।

इत्येवमात्मात्मास्रवयोर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्ति–र्निवर्तते, तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्‌गलद्रव्यकर्मबन्धोऽपि निवर्तते।

तथा सति ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध: सिध्येत्।।७१।।

अब प्रश्न करता है कि इस कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव कब होता है? इसका उत्तर कहते हैं:–

ये जीव ज्यों ही आश्रवों का, त्यों हि अपने आत्म का।
जाने विशेषांतर, तब ही बन्धन नहीं उसको कहा।।७१।।

गाथार्थ : [यदा] जब [अनेन जीवेन] यह जीव [आत्मन:] आत्मा का [तथा एव च] और [आस्रवाणां] आस्रवों का [विशेषांतरं] अन्तर और भेद [ज्ञातं भवति] जानता है [तदा तु] तब [तस्य] उसे [बन्ध: न] बन्ध नहीं होता।

टीका : इस जगत में वस्तु है, वह (अपने) स्वभावमात्र ही है और 'स्व' का

भवन (होना) वह स्व-भाव है (अर्थात् अपना जो होना-परिणमना, सो स्वभाव है); इसलिए निश्चय से ज्ञान का होना-परिणमना, सो आत्मा है और क्रोधादि का होना-परिणमना, सो क्रोधादि है। तथा ज्ञान का जो होना-परिणमना है, सो क्रोधादि का भी होना-परिणमना नहीं है, क्योंकि ज्ञान के होते (-परिणमने के) समय जैसे ज्ञान होता हुआ मालूम होता है, उसी प्रकार क्रोधादिक भी होते हुए मालूम नहीं पड़ते; और क्रोधादि का जो होना-परिणमना, वह ज्ञान का भी होना-परिणमना नहीं है, क्योंकि क्रोधादि के होने के (-परिणमने के) समय जैसे क्रोधादिक होते हुए मालूम पड़ते हैं, वैसे ज्ञान भी होता हुआ मालूम नहीं पड़ता। इस प्रकार क्रोधादि के और आत्मा के निश्चय से एकवस्तुत्व नहीं है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवों का विशेष (-अन्तर) देखने से जब यह आत्मा उनका भेद (भिन्नता) जानता है, तब इस आत्मा के अनादि होने पर भी अज्ञान से उत्पन्न हुई ऐसी (पर में) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति निवृत्त होती है; उसकी निवृत्ति होने पर अज्ञान के निमित्त से होता हुवा पौद्गलिक द्रव्यकर्म का बन्ध भी निवृत्त होता है। ऐसा होने पर, ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है।

भावार्थ : क्रोधादिक और ज्ञान भिन्न-भिन्न वस्तुऐं हैं; न तो ज्ञान में क्रोधादि है और न क्रोधादि में ज्ञान है, ऐसा उनका भेदज्ञान हो, तब उनका एकत्वरूप का अज्ञान नाश होता है और अज्ञान के नाश हो जाने से कर्म का बन्ध भी नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान से ही बन्ध का निरोध होता है।

गाथा - ७१ पर प्रवचन

अब पूछते हैं। शिष्य ने जब ऐसा सुना तब, अब उसे जिज्ञासा उत्पन्न हुई। आहाहा! ऐसा लिया है न? इस प्रकार जब सुना कि आत्मा अज्ञानभाव से विकार का कर्ता होता है और विकार उसका कार्य होता है, उस काल में कर्म के परमाणु होनेयोग्य अपनी पर्यायरूप परिणमे, वह बन्ध कहलाता है। उस बन्ध का निमित्त यह परिणाम, और उस बन्ध का निमित्त भविष्य के अज्ञान का निमित्त। समझ में आया? आहाहा!

अब पूछते हैं कि प्रभु! **इस कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव कब होता है?** अरे रे! यह तो अज्ञानभाव से यह कर्ता है और बन्धन होता है, वह दुःखी है। आहाहा! वह दुःख में घिर गया है। आहाहा!

अज्ञानभाव से विकार का कर्ता होता है, वह दुःख के भाव में प्रभु! वह घिर गया है। आहाहा! यह उसका अभाव कब हो? ऐसी जिसे अन्तर में से समझने की जिज्ञासा हुई है, उसे यह कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा! उसे ख्याल में आया कि आत्मा अपने स्वभाव का अजान-अज्ञानभाव से उसके स्वभाव में नहीं, ऐसे संयोगसिद्ध-सम्बन्धवाले रागादि, वह कर्ता होता है और रागादि उसका कार्य होता है, यह तो दुःख की दशा हुई। आहाहा! तो ऐसी कर्ताकर्म की प्रवृत्ति अज्ञानभाव कर्ता और राग उसका कार्य, ऐसी कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव प्रभु! कब होता है? आहाहा! कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का सिद्ध अन्त तो हमने जाना। परन्तु वह अज्ञानभाव कर्ता और राग-द्वेष कार्य, आहाहा! उसका अभाव किस प्रकार होता है? प्रभु! आहाहा!

क्योंकि भगवान और गुरु जो कहते हैं भले यह बात ऐसी, परन्तु वे कहते हैं, वीतरागभाव प्रगट करने के लिये यह कहते हैं। उसमें रुकने को कहते हैं, ऐसा नहीं। समझ में आया? इससे शिष्य को प्रश्न उठा, प्रभु! तब हमको कहो न, तुम्हारे जो कहने का आशय तो आचार्य को वापस वीतरागभाव ऐसे होता है, ऐसा तुम्हें जो योगफल लाना है। समझ में आया? तो वह किस प्रकार होगा? आहाहा! ऐसी बातें, उपदेश। लोग अब बड़े धन्धे में रच-पच गये। जिस सम्प्रदाय में जन्मे, जिस कुल में जन्मे, जिसका संग रहा, वह बात इसे बैठ गयी। जैसी 'कुलेसमुपन्ने'—जिस कुल में उपजा, और उस कुल में जो उसकी जाति-धर्म हो उसका, उसे ऐसे धर्मी का संग हुआ, उसकी बात इसे बैठी। नया सत्य क्या है, आहाहा! विचार करने का अवसर नहीं होता। शिष्य को तो यह प्रश्न उठा है। आहाहा! प्रभु! जब आत्मा का अजान, स्वभाव में अज्ञानभाव में कर्ता अज्ञान होकर दुःख के भाव जो रागादि, उसका कार्य करे और इस प्रकार अनादि से परिभ्रमण कर रहा है, उसके कारण निमित्त से सामने बन्ध होता है, उस बन्ध का वापस उदय हो, तब वह यहाँ अज्ञान करे, उसे निमित्त हो। करे उसे निमित्त हो। समझ में आया? तो अब न करे, वह किस प्रकार? ७१ (गाथा)।

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से॥७१॥

नीचे हरिगीत।

ये जीव ज्यों ही आश्रवों का, त्यों हि अपने आत्मा का।
जाने विशेषांतर, तब ही बन्धन नहीं उसको कहा॥७१॥

आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी भगवान की दिव्यध्वनि का सार है। आहाहा!

टीका :- इस जगत में... एक तो यह जगत है, ऐसा सिद्ध किया। वस्तु है जगत, ज-ग-त तीन अक्षर हैं, एकाक्षरी। काना, मात्रा, बिन्दी कुछ नहीं होता। भगवान की वाणी जैसे निरक्षरी है, वैसे यह 'जगत' तीन अक्षर निरक्षरी है अर्थात् इन्हें काना-मात्रा नहीं है। ज-ग-त जो पूरा जगत जो स्वयं अपनी स्थिति में रहकर परिणमता है, उसे जगत कहते हैं। यह जगत, उसकी अस्ति सिद्ध की। वस्तु है, इस जगत में जो वस्तु है। यह जगत है और उसमें **जो वस्तु है, वह स्वभावमात्र ही है...** आहाहा! वस्तु है, वह तो स्वभावमात्र ही है। जीव का स्वभाव ज्ञानानन्द, उस स्वभावमात्र ही वस्तु है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! इस जगत में, आहाहा! वस्तु है। शब्द ही 'वस्तु' प्रयोग किया है क्योंकि जिसमें अनन्त गुण बसे हुए हैं, आहाहा! जगत है, उसमें अनन्त द्रव्य रहे हुए हैं। इसी प्रकार यह वस्तु भगवान है, उसमें अनन्त गुण बसे हुए हैं। यह भी गुण का एक महाजगत है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वह स्वभावमात्र ही है। वस्तु है, वह तो जो सिद्धान्त पहला, पश्चात् आत्मा में उतारेंगे। वस्तु है, वह स्वभावमात्र ही होती है वस्तु तो। **और 'स्व' का भवन (होना) वह स्व-भाव है।** आहाहा! वस्तु सिद्ध की, पश्चात् वह वस्तु स्वभावमात्र ही है, ऐसा सिद्ध किया। अब उसका 'स्व' का भवन, वह स्वभाव है। उसकी जो पर्याय परिणमती है, उसका नाम स्वभाव है। आहाहा! वह तो समयसार है, भगवान की वाणी है, कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी, बापू! आहाहा! **स्वभावमात्र ही...** वापस है, देखो? और स्व का भवन, वह स्वभाव है, वह स्वभाव ही है, वस्तु है, वह स्वभावमात्र ही है और उस स्वभाव का भवन-होना। भवन / होना, वह स्वभाव है। **(अपना जो होना - परिणमना सो स्वभाव है।)** इतना साधारण सिद्ध किया। **इसलिए निश्चय से ज्ञान का होना...** क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वभाव वस्तु है, अब वह ज्ञानस्वभाव है, उसका होना। क्या कहा? पहला तो सिद्धान्त सिद्ध किया कि इस जगत में वस्तु है, वह स्वभावमात्र है, बस। सामान्य, बस। और उस स्वभाव का परिणमना, वह स्वभाव है। आहाहा!

इसी प्रकार यह भगवान आत्मा वस्तु है, उसका ज्ञान स्वभाव त्रिकाल है। और वह वस्तु है वह ज्ञानस्वभाव है और उस ज्ञानस्वभाव का ज्ञानरूप परिणमना, वह उसका स्वभाव है। आहाहा! क्या बात, क्या बात! आहाहा! गजब बात है। लॉजिक से-न्याय से, वस्तु है - ऐसा सिद्ध किया। और वह वस्तु स्वभावमात्र ही है तथा आत्मा आत्मारूप ही है, वह आत्मा ज्ञानस्वभावमात्र ही है। आहाहा! ज्ञान के साथ अनन्त गुण भले रहे, और उस ज्ञान का पर्याय में ज्ञानरूप परिणमना, आत्मा के स्वभाव का स्वभावरूप परिणमना, आहाहा! है? होना, स्व का होना, स्व... भाव कहा न? तो स्व जो ज्ञानस्वरूप भगवान, उसका भवन, स्व का भवन, स्वभाव का स्व का भवन, वह स्वभाव है अर्थात् अपना जो होना अर्थात् कि जो स्वभाव अपना है, उसरूप परिणमना, आहाहा! वह स्वभाव है। **इसलिए निश्चय से ज्ञान का होना—परिणमना वह आत्मा है।** देखो? क्योंकि भगवान आत्मा वह ज्ञानस्वभाव वस्तु है, और उस ज्ञानस्वभाव का पर्याय में ज्ञानरूप, आनन्दरूप, शान्तिरूप परिणमना, वह उसका स्वभाव है। आहाहा!

वास्तव में भगवान ज्ञान का होना, क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वभाव है। आत्मा वस्तु है, उसका ज्ञान स्वभाव है और **इसलिए निश्चय से ज्ञान का होना परिणमन, वह आत्मा है...** आहाहा! **और क्रोधादि का होना-परिणमना, वह क्रोधादि है।** आहाहा! विकाररूप होना, वह विकार है; वह आत्मा नहीं। पुण्य और पाप के भावरूप होना, वह विकाररूप होना, वह विकार है; वह आत्मा नहीं। आहाहा! और ज्ञान का जो होना, परिणमना है, अर्थात् कि -भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी, ज्ञानस्वभावी मुख्य लेना है न? बाकी तो अनन्त स्वभाव परन्तु ज्ञान वह मुख्य वस्तु है। **इसलिए ज्ञान का जो होना-परिणमना है, वह क्रोधादि का परिणमना नहीं है...** आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी है। उसका ज्ञान, आनन्द और शान्ति का होना, वह आत्मा। परन्तु उसका रागरूप होना, वह नहीं, वह आत्मा नहीं। आहाहा! क्या बात! समयसार तो इस भरतक्षेत्र में अलौकिक बात है। इसकी एक-एक गाथा एक-एक पद!

कहते हैं कि वस्तु जगत में है, और वह वस्तु स्वभावमात्र ही है और उस स्वभाव का परिणमना मात्र, वह वस्तु है; इसी प्रकार भगवान आत्मा है और उसका ज्ञान, आनन्द

आदि स्वभावमात्र है और उस ज्ञान–आनन्द स्वभावमात्र का ज्ञान और आनन्दरूप होना, वह आत्मा है, आहा! परन्तु उसका विकाररूप भी होना, वह नहीं। आहाहा! वह वस्तु नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! इसका अर्थ ऐसा है कि जिसने आत्मा है, ऐसा जिसने दृष्टि में लिया, तब तो वह आत्मा का ज्ञान और आनन्द स्वभाव है, और जहाँ यह दृष्टि में लिया तो ज्ञान और आनन्दरूप होना, वह आत्मा है। परन्तु उसके आनन्द और ज्ञानरूप होना, उसके साथ रागरूप होना, वह आत्मा नहीं है। आहाहा!

यहाँ पर का करनेपने की तो बात ही नहीं है। यहाँ तो उसका स्वभाव जो है भगवान आत्मा! ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता ऐसा जो वस्तु का स्वभाव है, उस वस्तु का स्वभाव त्रिकाल है, वह द्रव्य त्रिकाल है, परन्तु वर्तमान में उस स्वभाव का होना, ज्ञानरूप, आनन्दरूप, शान्तिरूप, स्वच्छतारूप, प्रभुतारूप... आहाहा! उस स्वभाव का होना, वह आत्मा है। वह द्रव्य गुण और पर्याय तीन होकर आत्मा कहा। समझ में आया? और उस समय राग के प्रेमरूप परिणमना, वह आत्मा नहीं, वह आत्मा का स्वभाव नहीं और स्वभावरूप परिणमने के अतिरिक्त यह परिणमना, वह आत्मा नहीं। आहाहा!

ज्ञान का परिणमना, वह क्रोधादिक का भी परिणमना नहीं है क्योंकि ज्ञान के होते (परिणमने के) समय जैसे ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है... क्या कहते हैं कि भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वभाव वस्तु है, और जब ज्ञान और आनन्दरूप परिणमता है, तब उसे आनन्द और ज्ञानरूप होना भासित होता है। आहाहा! है? ज्ञान का परिणमना मालूम पड़ता है, अर्थात्? आत्मा आनन्द और ज्ञानरूप परिणमता है, वैसा पर्याय में मालूम पड़ता है। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप स्वभाव है और उस शुद्धरूप परिणमता है, ऐसा मालूम पड़ता है, उस समय क्रोधरूप भी परिणमता हूँ, ऐसा मालूम नहीं पड़ता। आहाहा! क्या शैली! क्या टीका! गजब बात है, भाई! भगवान–भगवान की साक्षात् वाणी में आयी हो, वह सन्तों ने ऐसी बातें की हैं, भाई! परन्तु उसे सुनने के लिये पात्रता चाहिए। आहाहा!

आत्मा के स्वभावरूप परिणमने में जैसे स्वभाव होता मालूम पड़ता है। शान्ति हुई, आनन्द हुआ, ऐसा मालूम पड़ता है, उस समय क्रोधादिक भी मालूम नहीं पड़ते, उस

समय रागरूप होता हूँ, यह उसे देखने में नहीं आता, क्योंकि वह है नहीं। आहाहा! जैसे स्वभाव का होना – वस्तु की दृष्टि करने से वस्तु का जो स्वभाव है, उस स्वभावरूप होना जैसे भासित होता है... आहाहा! है ? वैसे विकाररूप होना वहाँ भासित नहीं होता; अर्थात् विकाररूप होना है ही नहीं। आहाहा! सुजानमलजी! यह ऐसी बातें हैं, ऐसी बातें हैं। आहाहा! कर्ताकर्म की व्याख्या है न ?

भगवान आत्मा वस्तु ज्ञान-आनन्द आदि स्वभाव की चीज़, वह स्वयं अपनी दृष्टि में लेकर, ज्ञानरूप स्वभाव का होना, ऐसा अन्दर मालूम पड़ता है। आत्मा आनन्दरूप परिणमता है, ज्ञानरूप परिणमता है, ऐसी दृष्टि द्रव्य के ऊपर हुई है, उसका स्वभाव ऐसा परिणमता है, ऐसा मालूम पड़ता है, तथा उसे ख्याल में आता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कितने ही कहते हैं न कि भाई! आत्मा को सम्यग्दर्शन होता है, वह खबर कैसे पड़े ? अरे प्रभु! तू यह क्या कहता है ? आहा! यह यहाँ कहते हैं। समझ में आया ?

वस्तु है, वह स्वभावमात्र है-ऐसा पहले सिद्ध करके, पश्चात् स्वभाव स्व-भाव है, उस स्व का होना – परिणमन में, वह उसकी चीज़ है। इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द आदि स्वभावभाव, वह वस्तु है और इसलिए स्वभावमात्र वस्तु है तो उस स्व का होना, वह आत्मा है। आहाहा! अर्थात् ? कि उस समय ज्ञान और आनन्दरूप होना, वह आत्मा है। और उस समय ज्ञान और आनन्द होना मालूम पड़ता है, ख्याल में आता है, वैसे रागरूप होना वह उसमें नहीं होता इसलिए मालूम नहीं पड़ता। आहाहा! अकेले न्याय भरे हैं। आहा!

यहाँ तो ऐसा कहते हैं, जब भगवान आत्मा वस्तु है, और वह स्वभावमात्र वस्तु है – ऐसी दृष्टि हुई, तब उसका – स्व का भवन हुआ, वह जो वस्तुस्वभाव है, उसका स्व, स्वभवन वह स्वभाव। उसके परिणमन में स्व का शान्ति का, ज्ञान का, आनन्द का होना, वह स्व का भवन है, और इससे वह स्व का भवन मालूम पड़ने पर, ख्याल में आने पर, वेदन में ज्ञात होने पर, आहाहा! उस समय राग का भी होना है, ऐसा मालूम नहीं पड़ता। क्योंकि रागरूप हुआ नहीं। आहाहा!

गजब काम किया है। पंचम काल के मुनियों ने थोड़े शब्दों में कितना भरा है! शिष्य

का ऐसा प्रश्न था कि प्रभु ! राग कार्य और कर्ता अज्ञानी, ऐसी प्रवृत्ति कब बन्द पड़ती है ? वह प्रवृत्ति कब नहीं होती ? तब उसका उत्तर दिया कि प्रभु ! तू एक वस्तु है या नहीं ? और वस्तु है, उसमें बसे हुए ज्ञान, आनन्द आदि स्वभाव है या नहीं ? और स्वभाव है तो उसका परिणमन स्वभावरूप होता है या विभावरूप होता है ? आहाहा ! एक बार मानधाता हो तो गर्व उतर जाए ऐसा है उसे। आहाहा ! ऐसी बातें हैं, बापू !

कहते हैं कि वस्तु है तो उसमें अनन्त स्वभाव बसे हुए हैं, तो वह वस्तु स्वभावमात्र ही है, और स्वभाव उसे कहते हैं, कि वह स्वभाव है, परन्तु वह जाना किसमें ? कि स्व का भवन हो उसमें वह स्वभावमात्र वस्तु है, ऐसा ज्ञात होता है। आहाहा ! कहो शुकनलालजी ! यह शुकन का कायदा। आहाहा ! ऐसी बात।

यह प्रभु स्वयं आत्मा है, वस्तु है, तो उसका स्वभावमात्र है अर्थात् कि उसमें बसे हुए गुण हैं, उन मात्र है, ऐसा। वस्तु है, वह स्वभावमात्र है, उसमें जो त्रिकाली बसे हुए गुण, उन स्वभावमात्र वह वस्तु है। आहाहा ! और उस स्वभावमात्र वस्तु है, ऐसा ख्याल कब आवे ? कि वह स्वभावमात्र स्वभवनरूप परिणमे तब ख्याल में आवे ? तब आत्मा शुद्धरूप परिणमता है, वह मेरा कार्य है, ऐसा ख्याल में आने पर वस्तु में अनन्त स्वभाव था, उसका ख्याल आया, उसका परिणमन होने पर उसका ख्याल आया और परिणमन में स्वभाव का परिणमन ख्याल में आता है। आहाहा ! आहाहा !

जैसे स्वभाव का होना, पर्याय में स्वभाव का होना जैसे मालूम पड़ता है, वह ज्ञान में ज्ञात होता है कि यह स्वभाव शुद्धरूप परिणमा, ऐसा ज्ञान जानता है, क्योंकि वह रागरूप परिणमना, वह है नहीं; इसलिए उसे रागरूप होना मालूम नहीं पड़ता। आहाहा ! उस समय जरा रागादि हो, तथापि स्वाभाविक वस्तु जो अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसका जहाँ स्वीकार हुआ अर्थात् परिणमन में स्व का भवन हो, स्व के भवन में ज्ञान और आनन्द का होना मालूम पड़ता है, उस समय राग हो, तथापि राग का ज्ञान हो, वह मालूम पड़ता है।

मुमुक्षु : राग मालूम नहीं पड़ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! ऐसी बातें हैं। कहो कान्तिभाई ! यह कान्ति की व्याख्या चलती है आत्मा की कान्ति अन्दरखाने, आहाहा ! आत्मा की कान्ति मालूम पड़े, तब राग

की अकान्ति मालूम नहीं पड़ती, कहते हैं। उस समय राग हो, तथापि स्व का परिणमन होने पर स्वयं अपने को जाननेरूप परिणमता है, तथा उस समय राग को रागरूप है भले, परन्तु उसके जाननेरूप वह परिणमे, वह तो अपना स्वभाव ही ऐसा है। स्व-परप्रकाशक स्वभावरूप होना, वह उसका स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

अमृत बहाया है, दिगम्बर सन्तों ने जगत का उद्धार (हो), दोष कैसे निकल जाए, उसकी बात की हैं। आहाहा! कर्ता-कर्म प्रवृत्ति कैसे रुक जाए! हैं? अज्ञानरूप से कर्ता कर्म है, ऐसा कहकर भी तात्पर्य तो वापस उन्हें वीतरागता बतलानी है न? वहाँ रोका है, ऐसा नहीं। समझ में आया? आहाहा! आहाहा!

जैसे आत्मा का स्वभाव मालूम पड़ता है, वैसे विकारी भी होता मालूम नहीं पड़ता। एक बात। **और क्रोधादि का जो होना-परिणमना, वह ज्ञान का भी होना-परिणमना नहीं है।** अर्थात्? स्वभाव से विरुद्ध विभाव का परिणमना, आहाहा! जो परिणमना, वह ज्ञान का भी परिणमना, ऐसा नहीं है। विकार का परिणमना वह अलग चीज़ है और ज्ञान का परिणमना वह अलग चीज़ है। आहाहा! गजब बातें, भाई! कहो रसिकभाई! यह थोड़ी-बहुत सुनकर नहीं बैठे ऐसा यह। बड़ा अभ्यास करना पड़ेगा। आहाहा!

क्रोधादि का जो होना, वह ज्ञान का भी होना, अर्थात्? विकाररूप होना—ऐसा भासित हो, वहाँ ज्ञान भी होना भासित हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया? क्रोधादिक का जो होना, वह आत्मा का भी—स्वभाव का भी होना नहीं है, **क्योंकि क्रोधादि के होने में जैसे क्रोधादि होते मालूम पड़ते हैं...** आहाहा! वे मालूम पड़ते हैं, देखा! अज्ञानी के अज्ञान में विकाररूप होना मालूम पड़ता है कि यह विकार होता है, आनन्द नहीं है वहाँ। आहाहा! विकाररूप अर्थात् दु:खरूप परिणमना जैसे मालूम पड़ता है, वैसे आत्मा के सुखरूप भी परिणमना मालूम पड़ता है, ऐसा उसे नहीं है। जिसे राग के दु:ख के भाव का परिणमना मालूम पड़ता है, उसे आत्मा का होना उसे है ही नहीं; इसलिए मालूम नहीं पड़ता। समझ में आया? आहाहा!

जैसे भगवान आत्मा... इसमें पुनरुक्ति लगे, ऐसा नहीं है। आहाहा! आत्मप्रभु वस्तु है, इसलिए वस्तु शब्द प्रयोग किया है, क्योंकि उसमें अनन्त स्वभाव बसे हुए हैं और उस

स्वभावमात्र वह वस्तु है। दो, अब स्वभावमात्र में स्व का अब पर्याय में स्व का होना, जैसा उसका स्वभाव है—ज्ञान, आनन्द, शान्त, वीतराग आदि, वैसा ही स्व का पर्याय में होना, वह उसका आत्मा का होना, और जो आनन्द और ज्ञान का होना वेदन में—अनुभव में आवे, उसे राग का होना भी नहीं है, इसलिए राग का (होना) मालूम नहीं पड़ता। राग होने पर भी, जब ज्ञान का परिणमन स्व-परप्रकाशकरूप से परिणमता है, तब परिणमन में सुख है, ज्ञान है - ऐसा मालूम पड़ता है, साथ में राग है—ऐसा मालूम नहीं पड़ता। आहाहा! यह समयसार! आहाहा!

क्या कहा यह? कि भगवान आत्मा ज्ञान और (आनन्द) आदि अनन्त (गुण), ज्ञान की मुख्यता ली है परन्तु उन सब स्वभाव का जो होना, स्वभाव का रहना वह आत्मा। अब उस स्वभाव का स्व का भवनम्—स्व वस्तु जो स्वभाव है, उसका पर्याय में होना, वह जो मालूम पड़ता है और ख्याल में आता है, उस समय क्रोध भी परिणमता है, ऐसा ख्याल में आवे-ऐसा नहीं होता। आहाहा! यह तो अभी याद रखना कठिन। चिमनभाई! उस लोहे का सब धम धमाधम सब याद रहे। आहाहा!

क्रोधादिरूप होना-परिणमना नहीं है, क्यों? कि **क्रोधादि होने में जैसे क्रोधादि होते मालूम पड़ते हैं।** अर्थात् कि विकार की पर्यायबुद्धि में जैसे विकार ख्याल में आता है, आहाहा! वैसे ज्ञान होता मालूम नहीं पड़ता, उस समय वह आत्मा स्वभावरूप परिणमा है, ऐसा उसे है ही नहीं। आहाहा!

राग के, पुण्य-पाप के परिणामरूप परिमणता हुआ जहाँ भासित होता है, तब उसका आत्मा आनन्दरूप परिणमता नहीं है, इसलिए वह आनन्दरूप भासित नहीं होता। आहाहा! ऐसी बातें! एक श्लोक में भी गजब किया है न! क्रोधादि होते मालूम पड़ते हैं। विकार होता है, दुःख होता है, दुःख के वेदन के ख्याल में, भगवान का आत्मा भी स्वयं आत्मा के आनन्दरूप परिणमता है, ऐसा वहाँ है ही नहीं। है ही नहीं, इसलिए मालूम नहीं पड़ता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १४८, गाथा-७१ दिनांक २८-११-१९७८, रविवार, कार्तिक कृष्ण १३

समयसार, गाथा-७१ है।

टीका - इस जगत में वस्तु है, वह (अपने) स्वभावमात्र ही है... जो कोई वस्तु है वस्तु, वह अपने स्वभावमात्र ही है। **और 'स्व' का भवन (होना) वह स्व-भाव है...** वस्तु है, यह आत्मा पर घटित करेंगे। वस्तु जो पदार्थ है, वह प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावमात्र स्वरूप है। और स्व का भवन, स्व स्वभाव जो है—उसका होना—परिणमन होना—स्व का भवन, स्वभाव का भवन (अर्थात्) स्वभाव का परिणमन होना, वह उसकी पर्याय है, यह धर्म है यहाँ आत्मा में, विशेष कहेंगे।

इसलिए निश्चय से ज्ञान का होना-परिणमना सो आत्मा है... क्या कहते हैं? कि आत्मा जो है, वह ज्ञानस्वरूप-आनन्दस्वरूप-शुद्धस्वरूप है। वह आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप पर्याय में होना (-परिणमना) ज्ञान का होना-शुद्धस्वरूप का परिणमन होना, वह आत्मा। ऐसी बातें हैं। निश्चय से ज्ञान का होना, वह आत्मा है। यह क्या कहा? कि आत्मा तो ज्ञान-प्रज्ञा, ज्ञानस्वरूप है, वह आत्मा है-वस्तु है, उसका ज्ञानस्वभाव है, वस्तु आत्मा है, उसका ज्ञान स्वभाव है-ज्ञान स्वभाव है, उस ज्ञान का भवन-परिणमन होना, वह स्वभाव का परिणमन है। वह आत्मा है। अरे! ऐसा है!

धर्मी को धर्म किस प्रकार होता है? कि धर्मी ऐसा जो आत्मा, उसका जो ज्ञान-आनन्द आदि जो स्वभाव, उस ज्ञान-आनन्द स्वभाव का धारक आत्मा, उस आत्मा पर दृष्टि होने से, उसका ज्ञान और आनन्दरूप होना, वह उसका धर्म और पर्याय है। ऐसी बातें हैं, सूक्ष्म बात है, भाई!

आहाहा! तीन बातें की न? कि जो वस्तु है-जैसे वस्तु आत्मा, तो उस स्वभावमात्र वस्तु है। वह विकार-फिकार उसमें है नहीं। अपना ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता (आदि) जो स्वभाव है, उस स्वभावमात्र वस्तु है, और उस स्व-भाव का स्व-भवनम्-अपनी पर्याय में / अवस्था में स्व-भाव का परिणमन—दशा का होना, वह आत्मा है। ऐसा है, कर्ताकर्म अधिकार है न!

(कहते हैं) आत्मा ज्ञान-प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप प्रभु उस स्वभावमात्र ही वह आत्मा और स्व का भवनम् (अर्थात् कि) उस ज्ञान को पकड़कर, वस्तु ज्ञानस्वरूप है, ऐसी पर्याय में पकड़ करके, पर्याय में जो ज्ञान का, श्रद्धा का, शान्ति का, आनन्द का परिणमन होना, वह उसका कार्य है। समझ में आया?

और क्रोधादिक का होना-परिणमना सो क्रोधादि है... क्या कहते हैं? आहाहा! वह स्वभाव जो भगवान आत्मा का, सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा (कि) आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है। (अब) जिसकी ऐसी दृष्टि नहीं और जो पुण्य-पाप के भाव (जो) स्वभाव से विरुद्ध भाव, उनकी रुचि से जो परिणमन होता है, वहाँ विकार दिखता है, वहाँ आत्मा (दिखता) नहीं। आहाहा! वीतरागमार्ग बहुत अलौकिक! आहाहा! पर्याय में स्वभाव का भवन-(परिणमन) न होना और पर्याय में पुण्य-पाप के विकार के भाव होना (तो उसे) वही भासित होता है, वह आत्मा नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

'क्रोध'-क्रोध अर्थात् (आत्म) स्वभाव जो चैतन्य ज्ञान और आनन्द आदि स्वभाव, उसकी रुचि न होकर, पुण्य-पाप के भाव में रुचि होना, इसका नाम क्रोध है। इसका नाम स्वभाव के प्रति अनादर है। आहाहा! ऐसी बात! भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति, सच्चिदानन्द प्रभु, वह अपना स्वभाव, उस स्वभाव से विरुद्ध विकार की रुचि होना—चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हों, वह राग है और राग की रुचि होना, वह क्रोध है। स्वभाव ज्ञायक चैतन्य प्रभु से विरुद्ध विकार की रुचि होना, वह स्वभाव से विरुद्ध क्रोधभाव है। ऐसी बातें हैं!

क्रोधादिक का होना-परिणमना सो क्रोधादि है। तथा ज्ञान का होना-परिणमना सो क्रोधादिक का भी होना... ऐसा है नहीं। क्या कहते हैं? बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी-आनन्दस्वरूपी प्रभु है, तो उस ज्ञान को पकड़ करके ज्ञान का होना, शुद्ध स्वभाव का होना है और विकार का भी होना—ऐसा है नहीं। आहाहा! ज्ञान का होना-परिणमना, वह क्रोधादि का भी होना, (ऐसा नहीं है)। अर्थात् क्या कहते हैं? कि आत्मस्वभाव जो शुद्ध चैतन्यघन प्रभु, उसकी दृष्टि से जो परिणमन-जो शुद्ध का होना और वही (परिणमन) शुद्ध का भी होना और विकार का भी होना, ऐसा नहीं होता। आहाहा!

ऐसा मार्ग है! दुनिया को बाहर से धर्म मानना... धर्म कोई अलौकिक चीज़ है, भाई!

(कहते हैं) धर्मी ऐसा भगवान आत्मा, उसका ज्ञान-आनन्द आदि धर्म-स्वभाव, उसकी पर्याय में स्वभाव का परिणमन होना, वह आत्मा और उस स्वभाव का परिणमन होना और उसी समय (एक ही समय) स्वभाव से विरुद्ध विकार का भी परिणमन होना, ऐसा नहीं होता। ऐसी बात है। आहाहा! है?

ज्ञान के परिणमन के समय क्रोधादिक का भी होना नहीं है, आहाहा! गहन बात! **जैसे ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है...** (क्या कहते हैं?) कि भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द-अतीन्द्रियस्वरूप है तो जब ज्ञान और आनन्द का परिणमन होता मालूम पड़ता है, उसी समय राग का-विकार का होना मालूम नहीं पड़ता। अर्थात् (आत्मा-ज्ञान) विकाररूप नहीं होता तो विकाररूप होता मालूम नहीं पड़ता। भारी न्याय! बात समझ में आती है? यह तो (समयसार कर्ताकर्म अधिकार) की ७१ गाथा। कुन्दकुन्दाचार्य, (वे) भगवान (सीमन्धरनाथ) के पास गये, आठ दिन रहे, वहाँ से आकर (यह शास्त्र) बनाया और इसकी टीका अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त हैं, उनकी यह टीका है। आहाहा!

कहते हैं कि जिसे आत्मा ज्ञान और आनन्द (स्वरूप) है, उसका परिणमन स्वभावरूप होता हुआ मालूम पड़ता है, उसी प्रकार राग का भी होना मालूम पड़े, ऐसा है नहीं। 'एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती।' आहाहा! इसी प्रकार जब भगवान... आत्मा... आहाहा! शुद्ध पवित्र आनन्दकन्द प्रभु! अपने शुद्ध आनन्दरूप जब परिणमता है, तब विकाररूप भी परिणमन होना, ऐसा नहीं होता। समझ में आया? ऐसा मार्ग बापू बहुत... (आहाहा!) शुद्ध चैतन्यघन आत्मा, उस शुद्ध चैतन्यघन का परिणमन पर्याय में शुद्ध वीतरागी पर्याय-आनन्द की पर्याय-ज्ञान की पर्यायरूप होना तो वह तो आत्मा है, परन्तु उसी समय में राग का भी परिणमन होना, ऐसा नहीं होता। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें हैं।

तथा क्रोधादिक भी होते मालूम नहीं पड़ते... जैसे स्वभाव शुद्ध चैतन्य प्रभु, उसका परिणमन आनन्द और शान्ति का होना मालूम (पड़ता है) अर्थात् ज्ञान में जानने में आता है, इसलिए उससे विरुद्ध विकार के भाव मालूम नहीं पड़ते। क्योंकि विकार होता

ही नहीं। आहाहा! है ? सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो अध्यात्म ग्रन्थ-शास्त्र! उसमें दिगम्बर सन्त / केवली के पथानुगामी, केवली परमात्मा ने कहा, वह बात जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। जगत को जँचे, न जँचे, स्वतन्त्र है। वस्तु यह है। आहाहा! **और क्रोधादिक का होना-परिणमना सो ज्ञान का भी होना-परिणमना नहीं है।**

क्या कहते हैं ? स्वभाव जो शुद्ध चैतन्य भगवान (आत्मा), उसकी रुचि छोड़कर, पुण्य-पाप की रुचि में आया, तब आत्मा के प्रति (स्वभाव से) विरुद्ध क्रोध हुआ, तो क्रोध में क्रोध मालूम पड़ता है, उस समय में आत्मा का-ज्ञान का परिणमन है, ऐसा है नहीं। ऐसी बातें हैं, बापू! भगवान तीर्थंकरदेव जिनेश्वरदेव ने जो कहा, उसे सन्त जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! दिगम्बर मुनि आत्मज्ञानी-ध्यानी आनन्द में रहनेवाले, आहाहा! वे कहते हैं कि जब आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध पुण्य और पाप के (भाव), उनका प्रेम है (उनकी रुचि है) तो उसे स्वभाव के प्रति क्रोध हुआ, तो क्रोध का होना मालूम पड़ता है, (परन्तु) तब आत्मा के अनुभव का आनन्द होता दिखाई दे, ऐसा है नहीं। जिसे विकार की रुचि है तो विकार की रुचिवाले को विकार (ही) भासित होता है, उसे आनन्द की तो रुचि नहीं तो आनन्द भासित हो, ऐसा है नहीं। अरे! ऐसा मार्ग किस प्रकार का! कर्ताकर्म अधिकार सिद्ध करना है न!

जब आत्मा... अरे रे! उसका ज्ञान भी नहीं हो, पहिचान भी नहीं हो, कहाँ जायेगा ? यहाँ (कहते हैं), भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का जिसका स्वभाव है-वह वस्तु अतीन्द्रिय आनन्दस्वभावमात्र है। ज्ञानमात्र की मुख्यता ली है परन्तु वह (आत्मद्रव्य) सभी गुण के स्वभावमात्र है, तो अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभावमात्र वह वस्तु! उस अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव का भवन (-परिणमन), अतीन्द्रिय आनन्द-स्वभाव आत्मा, उस अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव, उस स्वभाव का—स्व का भवनम्—(अर्थात् कि) पर्याय में (-परिणमन में) अतीन्द्रिय आनन्द होना, वह आत्मा है। और उस समय राग की-पुण्य आदि के भाव की रुचि (होती) नहीं, रुचि नहीं तो उसकी रुचिवाले भाव (पुण्य-पाप के) तो स्वभाव के प्रति क्रोध, वह है नहीं। आहाहा! समझ में आये उतना समझना बापू! यह तो वीतराग जिनेश्वर का मार्ग कोई अलौकिक है! आहा! यहाँ तो लॉजिक-न्याय से भी सिद्ध करते हैं। आहाहा!

(कहते हैं), क्रोध अर्थात् स्वभाव की रुचि छोड़कर, पुण्य और पाप के विकारीभाव की रुचि हुई, वह क्रोध है—स्वभाव का अनादर है। भगवान त्रिकाली आनन्दस्वरूप प्रभु (निजात्मा) उसकी रुचि का अभाव अर्थात् कि अनादर है और राग की रुचि के भाव का आदर है। तब राग की रुचि का भाव क्रोध, (तो) जब क्रोध मालूम पड़ता है, उस समय आत्मस्वभाव का परिणमन है, ऐसा मालूम पड़े, ऐसा है नहीं। शान्तिभाई! आहाहा! ऐसा है। चाहे जितनी भाषा सादी करे परन्तु वस्तु तो (जो) हो, वह होगी न! दूसरी कहाँ से आवे? आहाहा!

और क्योंकि क्रोधादिक होने के समय... क्या कहते हैं? भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावमय-आनन्दस्वभावमय से विरुद्ध (भाव) जो पुण्य-पाप के भाव, उनकी रुचि से... 'जब क्रोधादिक होने के समय' उस विकार की रुचि के समय, **जैसे क्रोधादिक होते मालूम पड़ते हैं...** वहाँ तो स्वभाव के प्रति विरुद्धभाव का प्रेम मालूम पड़ता है। समझ में आया?

भगवान आत्मा! आहाहा! सर्वज्ञ जिनेश्वर त्रिलोकनाथ ने जो आत्मा कहा, वह आत्मा अपना ज्ञान-आनन्द आदि स्वभावमात्र वह आत्मा है, परन्तु उसकी रुचि छोड़कर पुण्य-पाप की रुचि होना, वह क्रोधादि कहे जाते हैं। (श्रोता के सन्दर्भ में कहा-) इनकी अस्थिरता बहुत है। बाहर देखादेख करते हैं। मैंने इन्हें बहुत बार कहा पहले से। आहाहा! कितनों को ऐसा कि अपने को आता है न! और इस जाति का आता है, दूसरा भले मस्तिष्क भटका करे, नहीं इसे नहीं आया कुछ। आहाहा! मार्ग बहुत अलग है, भाई! आहाहा!

आहाहा! क्या कहते हैं, आहाहा! भगवान प्रभु यह आत्मा! भगवानरूप से (तो) बुलाते हैं आचार्य! इस आत्मा को ७२ गाथा में आयेगा अभी। भगवान आत्मा! आहाहा! भग (अर्थात्) ज्ञान-आनन्द आदि लक्ष्मी भरी है जिसमें, यह तुम्हारी धूल की नहीं। यह लक्ष्मी (तो) पत्थर है यह तो। आत्मा में ज्ञान-आनन्द-शान्ति, भग अर्थात् स्व अर्थात् लक्ष्मी, वान, वह स्व-लक्ष्मीवान अन्दर भगवान आत्मा है। आहाहा!

ऐसा जो भगवान अपना स्वभाव सम्पन्न है, उस स्व का भवनम्-(स्व-भाव), वह

तो द्रव्य और गुण कहे, पहले वस्तु कही, क्या ? उसे स्वभाव कहा, वह गुण कहे, अब उस स्वभाव का परिणमन होना वह पर्याय, उसे आत्मा कहते हैं। और क्रोधादिक के होते समय भगवान आत्मा का जो स्वभाव चैतन्यमूर्ति, उसकी रुचि छोड़कर जिसने दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव किये (भाव आये), वह पुण्य (भाव) राग है, उसकी जिसे रुचि है-(पुण्यभाव की)। जिसे रुचि है, उसे क्रोधादिक होते समय—उसकी रुचि के समय क्रोध हुआ तो वह (भाव) तो स्वभाव के प्रति विरुद्धभाव हुआ। आहाहा! बात पकड़ना कठिन पड़े! यह वीतराग जिनेश्वर का पन्थ कोई अलौकिक है। आहाहा!

जैसे कि स्वभाव जो त्रिकाली भगवान आत्मा का, उसकी रुचि नहीं है और उससे विरुद्ध (भाव जो) पुण्य-पाप के (परिणाम) उनकी रुचि-भाव है तो उसे यहाँ क्रोध कहा गया है। (आत्मा का) स्वभाव क्षमा का समुद्र, भगवान-उत्तमक्षमा आदि का समुद्र उस क्षमारूप परिणमे तो वह आत्मा, परन्तु उससे विरुद्ध के राग की रुचि में परिणमे, वह अनात्मा—क्रोध! आहाहा! वे क्रोधादिक मालूम पड़ते हैं, उस समय **क्रोधादिक होते मालूम पड़ते हैं, वैसे ज्ञान भी होता मालूम नहीं पड़ता...** उस समय आत्मा की आनन्दरूप दशा है नहीं। राग की रुचि का परिणमन (है उस) काल में आनन्द की रुचि का परिणमन नहीं है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर फरमाते हैं, वह सन्त दिगम्बर मुनि आढ़तिया होकर वीतराग का मार्ग दुनिया को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! आहाहा!

जैसे कि स्वभाव जो ज्ञाता-दृष्टा-आनन्द आदि की जिसे रुचि नहीं है और जिसे पुण्य-पाप के भाव की रुचि के भाव हैं, तो उसे क्रोध मालूम पड़ता है-स्वभाव से विरुद्ध भाव मालूम पड़ता है, वह विरुद्धभाव मालूम पड़ता है, उस समय भी ज्ञानस्वभाव का मालूम पड़ना है ही नहीं। (जो है ही नहीं) तो मालूम पड़ना कहाँ से आया ? पण्डितजी! ऐसी बातें हैं। क्या करे ? दुनिया कहाँ पड़ी है और कहाँ रह गया मार्ग! आहाहा! क्या गाथा! आहाहा!

मुमुक्षु : अमृत का सागर भरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सागर भरा है। आहाहा! भगवान! तू तो अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है न, प्रभु! तुझमें तो अतीन्द्रिय आनन्द स्वभाव (पूर्ण भरा) है न!

भगवान के (अरिहन्त भगवान के) दर्शन है, वह तो शुभभाव है और शुभभाव की जिसे रुचि है, उसे (निज) स्वभाव के प्रति क्रोध है। जगत! बात कठिन, बापू! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है। दुनिया ने सुना ही नहीं। आहाहा! यहाँ यह कहते हैं। अमृतचन्द्राचार्य हजार वर्ष पहले हुए, दिगम्बर सन्त! दो हजार वर्ष पहले हुए कुन्दकुन्दाचार्य, उनके (शास्त्र की) टीका करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं कि जिसे भगवान आत्मा-अतीन्द्रिय (आनन्द) स्वभाव का पिण्ड प्रभु, उसकी जिसे रुचि नहीं—उसका अवलम्बन नहीं—उसका आश्रय नहीं और जो पुण्य-परिणाम का अवलम्बन करता है—पुण्यपरिणाम की रुचि है, उस समय (उसे) आत्मा के प्रति क्रोध है। आहाहा! वह आत्मा का अनादर करता है। आहाहा! गजब बात है, भाई!

(कहते हैं कि) शुभभाव जो है, उसकी जिसे रुचि है, उसे स्वभाव के प्रति अनादर है अर्थात् उसे (आत्म) स्वभाव के प्रति क्रोध है और जिसे पुण्यपरिणाम की रुचि है, उसे क्रोध है तो उस रुचि में क्रोध मालूम पड़ता है। स्वभाव से विरुद्ध भाव मालूम पड़ता है, उस समय स्वभाव से अविरुद्ध परिणमन नहीं है, तो (वह) मालूम कहाँ से पड़े? चन्दुभाई! ऐसा मार्ग है, प्रभु! क्या हो? दुनिया से निराला है। आहाहा! दुनिया को अन्तर आत्मधर्म क्या चीज़ है, इसकी खबर नहीं। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि जिसे क्रोधादि मालूम पड़े जिस समय, उस समय ज्ञान भी होता हुआ मालूम नहीं पड़ता, क्योंकि उस शुभभाव की रुचि के प्रेम, स्वभाव के प्रति अनादर—क्रोध, उस क्रोध का परिणमन भासित होता है। उसे ज्ञान का परिणमन-धर्म का परिणमन है नहीं। है नहीं तो भासित कहाँ से हो? आहाहा!

और जिसे आत्मा आनन्दस्वरूप! क्या हो? 'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान।' वस्तु क्या है, उसकी खबर नहीं। यहाँ तो यह कहते हैं कि जिसे शुभभाव जो है दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव, वे शुभ हैं। उस शुभ की जिसे रुचि है, उसे (निज) स्वभाव के प्रति अनादर ऐसा क्रोध मालूम पड़ता है। आहाहा! गजब बात है! और जिसे क्रोध मालूम पड़ता है, उसे उस समय में स्वभाव की रुचि का परिणमन है नहीं, (है नहीं) तो वह मालूम नहीं पड़ता। आहाहा! समझ में आया?

(श्रोता को कहा) वहाँ बैठे सामने वापस, ठीक बैठना है, अनजाना बापू किसी दिन आवे। समझ में आया? सूक्ष्म बात, बापू! यह धर्म कोई अलौकिक चीज़ है, एक सेकेण्ड भी धर्म किया नहीं, अनन्त काल में। समझ में आया? 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो'—मुनि हुआ-दिगम्बर मुनि, अट्ठाईस मूलगुण, पंच महाव्रत (पालन किये) परन्तु वह तो आस्रव और राग (है और) उसकी रुचि है, उसे स्वभाव के प्रति क्रोध है। आहाहा! झांझरीजी! आहाहा! जिसे स्वभाव चैतन्य प्रभु वस्तु जो आत्मा है, उस स्वभावमात्र वस्तु है; विभाव-बिभाव उसमें है नहीं, गुण में नहीं। गुण तो अकेला स्वभाव आनन्द-ज्ञान-शान्ति के स्वभाव की मूर्ति प्रभु, उस स्वभाव का भवनम्-उस स्वभाव का पर्याय में भवनम् (परिणमन), तो स्वभाव शुद्ध है-पवित्र है, 'है' तो भवनम् पवित्र होता है-वीतरागी पर्याय होती है। तो वह वीतरागी पर्याय हो, वह आत्मा! परन्तु उस समय स्वभाव की रुचि से विरुद्ध-विभाव की रुचि क्रोध मालूम नहीं पड़ता। उसमें है नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

जैसे ज्ञान होता मालूम नहीं पड़ता, इस प्रकार क्रोधादिक और आत्मा को निश्चय से एक वस्तुपना नहीं है... आहाहा! भगवान! सन्त ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब बात की है न!

कर्ताकर्म (अधिकार है न!), जिसे यह शुभराग जो दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव (जो) शुभ है, उसकी जिसे रुचि है, उसे (निज) स्वभाव के प्रति क्रोध है। आहाहा! उसे भगवान (आत्मा) अनन्त गुण का पिण्ड रुचता नहीं। उस समय शुभभाव की रुचि में, स्वभाव का अनादर ऐसा क्रोध मालूम पड़ता है। समझ में आया? विकार मालूम पड़ता है। विकाररहित त्रिकाली आनन्द का नाथ प्रभु (निजात्मा) की रुचि का अभाव है। आहाहा! समझ में आया?

शुभराग है-शुभ दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के, नामस्मरण, यात्रा के भाव वह सब शुभ (भाव) है। यहाँ परमात्मा (सन्त) ऐसा कहते हैं कि इस शुभभाव की जिसे रुचि है, उसे आत्मा के प्रति क्रोध है। आहाहा! उसे भगवान निर्मलानन्द प्रभु नहीं रुचता। शुद्ध चैतन्यघन उसकी रुचि में—पोषाण में आया नहीं। आहाहा! ऐसी बात दिगम्बर सन्तों

के अतिरिक्त कहीं है नहीं। उनके सम्प्रदायवालों को भी खबर नहीं होती, वहाँ अन्यत्र तो कहाँ थी? आहाहा! कहो, सुरेन्द्रजी! है? (कहते हैं) क्रोध अर्थात् कि विकार भाव की रुचि, वह क्रोध। विकारभाव की रुचि, वह क्रोध-वह मान-वह माया और वह लोभ! आहाहा! क्या टीका!

इस प्रकार आत्मा के और क्रोधादि के निश्चय से एक वस्तुपना नहीं है। दोनों एक वस्तु नहीं। शुभ-अशुभ राग की रुचि वह क्रोध, वह दूसरी चीज़ और भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप का परिणमन, वह दूसरी चीज़। दोनों चीजें भिन्न हैं। आहाहा! आत्मा और क्रोधादिक एक वस्तु नहीं है। जैसे जहर और शक्कर एक वस्तु नहीं है, वैसे पुण्य-पाप के परिणाम की रुचि का भाव, वह अन्य वस्तु है और भगवान की (निजात्मा की) रुचि का परिणमन भाव अन्य चीज़ है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। जिन्दगियाँ जगत की चली जाती हैं ऐसे अभिमान और अभिमान में! कोई वस्तु की-तत्त्व की खबर बिना। ऐसी चीज़ भगवान की-परमेश्वर की वाणी में बात आयी है।

इस प्रकार आत्मा और आस्रवों का विशेष (अन्तर) देखने से... देखो! क्या कहा? आत्मा वह तो आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु, और उससे विरुद्ध पुण्य-पाप के परिणाम भाव आस्रव, पुण्य परिणाम के भाव, वह आस्रव है, वह धर्म नहीं; वह तो नये कर्म आने का कारण है। ऐसा आस्रव और आत्मा! है? आहाहा! **आत्मा और आस्रवों का विशेष (अन्तर) देखने से...** आहाहा! विशेष की व्याख्या की। अब अन्तर की बाद में करेंगे। ऐसा भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप वस्तु और राग की रुचि का भाव, (वह) क्रोध, वह अन्य वस्तु, वह आस्रव अन्य वस्तु। आहाहा! जब आत्मा उनका भेद देखता है, यह अन्तर हुआ। विशेष और अन्तर दो शब्द पड़े हैं न? मूल शब्द में विशेष, अन्तर, दो का विशेष अर्थात् भिन्नता और उनका भेद। आहाहा!

आत्मा और आस्रवों के—आस्रव शब्द जो उस स्वभाव की रुचि छोड़कर, पुण्य-पाप की रुचि का भाव, वह मिथ्यात्व और राग-द्वेष, वह आस्रव। समझ में आया? और यहाँ भगवान आत्मा उससे भिन्न। इन दो को भिन्न न देखने से... और जब यह आत्मा और उनकी भिन्नता जानता है-विशेष अन्तर देखता है। आहाहा! देखा! वह अन्तर नहीं देखने

से वह अज्ञान; दोनों का अन्तर देखने से (वह ज्ञान)। आहा! यह आत्मा जब यह भेद जानता है कि पुण्य-पाप के भाव, वे आस्रव हैं-विकार हैं-रुचि पर है और भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप का परिणमन भिन्न है।

तब इस आत्मा के अनादि होने पर भी अज्ञान से उत्पन्न हुई ऐसी (पर में) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति निवृत्त होती है.. क्या कहा यह? यह पुण्य-पाप के जो भाव, वह आस्रव है, वह धर्म नहीं-संवर नहीं-आत्मा नहीं। आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव आस्रव हैं, और मेरी चीज़ (आत्मा) भिन्न है, ऐसे अन्तर-भेद करके, अपने स्वरूप का ज्ञान करता है। आहाहा! **तब अज्ञान से उत्पन्न हुई ऐसी पर में...** अनादि से राग मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता, ऐसी जो अज्ञान की प्रवृत्ति अनादि से थी, आहाहा! समझ में आया? यह शुभभाव है—राग, वह मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता, यह अनादि अज्ञान है। कर्ताकर्म अधिकार है न! आहाहा!

'करे करम सो ही करतारा, जो जाने सो जाननहारा,
जाने से कर्ता नहिं होई, कर्ता सो जाने नहिं कोई॥

अनादि से भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यघन को भूलकर, जो राग—जो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम वह राग है। उसकी रुचि है, वह आस्रव की रुचि है। यह अनादि का कर्ता (भाव) अज्ञान और उस आस्रव की रुचि, वह उसका कार्य, अनादि का है। आहाहा! बात सुनना कठिन पड़े! क्या कहते हैं! अरे, प्रभु! यह कभी सुना ही नहीं। वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ किसे धर्म कहते हैं और किसे आस्रव कहते हैं, (इसकी) खबर नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अनादि की अज्ञान से उत्पन्न हुई, अपने आनन्द और ज्ञानस्वरूप का जिसे अज्ञान है और राग जो पुण्य-पाप के परिणाम, वह आस्रव है, वह मेरा कार्य है-ऐसी अनादि की कर्ताकर्म की प्रवृत्ति मिथ्यात्व में थी। आहाहा! है? वह (प्रवृत्ति) निवृत्त होती है, वह निवृत्त होती है। (किस प्रकार से)? मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूपी शुद्ध, वह शुद्ध परिणमन मेरा, वीतरागी परिणमन वह मैं, ऐसी जब दृष्टि और भान हुआ, तो राग मेरा कर्तव्य और राग मेरा कार्य, यह दृष्टि अज्ञान की छूट जाती है। है या नहीं अन्दर? है इसका अर्थ

करते हैं। यह टीका तो हजार वर्ष पहले की है। श्लोक (मूल गाथायें) दो हजार वर्ष पहले की हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त के श्लोक (मूल गाथायें) हैं। यह टीका अमृतचन्द्राचार्य (दिगम्बर सन्त) की टीका है। समझ में आया? अरे! आहाहा! है?

क्या कहा? कि आत्मा जो परमात्मस्वरूप ही विराजता है।'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, इसी वचन से समझ रे जिनप्रवचन का मर्म'। कैसे जँचे? परन्तु अभी प्रवृत्ति के कारण निवृत्ति नहीं मिलती! निर्णय करने का भी अवसर-समय नहीं मिलता! 'जिन सो ही आत्मा'—वीतरागी स्वभाव से भरा भरपूर (परिपूर्ण), वह आत्मा, उसका जिसे भान हुआ—मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूपी परिणमन करनेवाला मैं और राग की रुचि छूटकर राग का परिणमन मेरा नहीं, वह मेरा कार्य नहीं।

ऐसी अज्ञान से अनादि से कर्ता (होता था), अज्ञान और राग मेरा कार्य, ऐसी जो बुद्धि मिथ्यात्व में थी। यह आनन्द का मैं प्रभु हूँ-मैं तो शुद्ध परिणमन करनेवाला, शुद्ध परिणमन वह मेरा कार्य है, उसकी (आस्रवों की) राग की एकताबुद्धि करने के भाव की बुद्धि थी, वह छूट गयी। आहाहा! भाई! धर्म कोई अलौकिक चीज़ है!

अनन्त-अनन्त बार मुनिपना लिया, दिगम्बर मुनि अनन्त बार हुआ-मिथ्यादृष्टि। अट्ठाईस मूलगुण क्या नहीं (पालन) किये? 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो', छहढाला में आता है परन्तु 'आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो'—आत्मज्ञान, राग से भिन्न मेरी चीज़! और मेरी चीज़ तो शुद्ध-पूर्ण स्वभाव से भरपूर है, ऐसे ज्ञान बिना लेश (जरा भी) सुख नहीं पाया। पंच महाव्रत के परिणाम वे दुःख हैं-आस्रव हैं। आहाहा! अरे रे! खबर नहीं होती! खबर नहीं होती!

अनादि से अज्ञान में राग मेरा कार्य है और मैं उसका कर्ता हूँ, यह अज्ञानबुद्धि है (परन्तु) जब आत्मा ज्ञानस्वभावी-शुद्धस्वभावी, उस शुद्ध का परिणाम का कार्य उसका, ऐसा भान हुआ, तब राग का कार्य मेरा है, ऐसी अनादि की अज्ञानबुद्धि का नाश हो गया और (आत्म) ज्ञान के परिणमन की उत्पत्ति हुई, आत्मा के शुद्ध परिणमन की उत्पत्ति और राग मेरा कार्य है और मैं उसका कर्ता हूँ, ऐसी अज्ञानबुद्धि का नाश; ध्रुव (आत्मद्रव्य) तो है ही। समझ में आया? आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है, बापू! बहुत। अनजाने व्यक्ति को तो ऐसा

लगे कि यह क्या कहते हैं ? क्या अब ऐसा तो कुछ यह करना-यह करना (ऐसा) तो कहते नहीं। व्रत करना और अपवास करना और तपस्यायें करना, अरे! सुन न भाई! यह मन्दिर बनाना और यह तो सब क्रिया पर की, होनेवाली वह तो होती है, तेरा भाव वहाँ हो तो कहते हैं शुभभाव हो। शुभभाव, वह राग है-आस्रव है। आहाहा!

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य (मूल गाथा में कहते हैं) '**जईया इमेण जीवेण**' ये शब्द पड़े हैं न! (गाथा ७१) '**जईया इमेण जीवेण**' इसका अर्थ चलता है। यह जयसेन आचार्य की '**जईया**' टीका में भाई ने ऐसा लिया है '**जईया**' इसका अर्थ '**जईया**' का अर्थ धर्मलब्धिकाल। काललब्धि नहीं। है ? ७१ है न! है न, वह तो पहले बात हो गयी है बहुत। जईया-जईया जब श्री धर्मलब्धिकाल, ऐसा। (परन्तु) काललब्धि, ऐसा नहीं। श्री धर्म लब्धिकाल। आहाहा! जईया का अर्थ इतना किया 'जब जिसे धर्मलब्धिकाल' अर्थात् भगवान पूर्णानन्द प्रभु शुद्धचैतन्यघन (निजात्मा) जब दृष्टि में आया और तब उसे 'धर्मलब्धिकाल'—शान्ति और वीतरागपर्याय हुई, वह धर्मलब्धिकाल में। संस्कृत टीका है, जयसेनाचार्य की (टीका है)। यह अमृतचन्द्राचार्य की टीका चलती है। आहाहा!

आहाहा! '**जईया इमेण जीवेण**' अर्थात् क्या कहते हैं ? एेटले का अर्थात् आत्मा में जब धर्मलब्धिकाल होता है, आहाहा! अर्थात् पूर्ण स्वभाव-भरपूर भगवान आत्मा, ऐसी दृष्टि होती है तब धर्मलब्धिकाल कहा जाता है। तब उसे राग का कर्ता मैं और राग मेरा कार्य, ऐसी अज्ञानबुद्धि छूट जाती है। आहाहा! है न ? '**अप्पणो असवाण य नरवे**' दो भेद पड़े तब धर्मलब्धिकाल में। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म अब कहाँ लोगों को निवृत्ति नहीं मिलती, पूरे दिन पाप में पड़े हैं, पाप-धन्धा रुचे, उसमें और ऐसी पुण्य की बातें भी सुनने को मिले नहीं। धर्म तो कहीं एक ओर रह गया। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं, एक बार सुन तो सही! यह जब आत्मा और आस्रवों का अन्तर (भेद) देखने से (अर्थात् कि) यह पुण्य-पाप के भाव आस्रव है-मलिन है-दुःख है-अचेतन है और भगवान आत्मा आनन्द है-चेतन है-शुद्ध है-पवित्रता का पिण्ड है। यह दोनों भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं। है ? उनका भेद जानता है। **तब इस आत्मा के अनादि होने पर भी अज्ञान से उत्पन्न हुई ऐसी कर्ताकर्म की प्रवृत्ति निवृत्त होती है।**

तब राग मेरा कर्तव्य और मैं (राग का) करनेवाला, ऐसी अज्ञानबुद्धि का सर्वनाश होता है।

जब आत्मा आनन्दस्वरूप की प्रतीति करता है, अनुभव (करता है), मैं तो आनन्द और शुद्ध चैतन्यघन हूँ। आहाहा! ऐसे सम्यग्दर्शन के काल में-धर्मलब्धिकाल में। समझ में आया? तब अज्ञान से उत्पन्न हुई राग की कर्ताकर्म की बुद्धि का तब नाश होता है। बाकी कोई बात करने से, व्रत करने से, टीका करने से (कर्ताबुद्धि का नाश) नहीं होता, वह तो राग है। आहाहा! समझ में आया?

तब इस आत्मा के अनादि होने पर भी... क्या कहते हैं यह? जैसे भगवान आत्मा अनादि का, उसका शुद्धस्वभाव का पिण्ड प्रभु अनादि होने पर भी, यह राग मेरा कार्य (कर्तव्य) और राग का हमारा कार्य है, ऐसी अज्ञानबुद्धि भी पर्याय में अनादि की है। समझ में आया? राग चाहे तो शुभ हो या अशुभ, परन्तु वह राग मेरा कर्तव्य है और मैं उसका कर्ता हूँ, यह अज्ञानबुद्धि अनादि की चली आती है, यह कर्ताकर्म अधिकार है, ७१ गाथा है। समझ में आया?

अज्ञान से उत्पन्न हुई... कर्म से उत्पन्न हुई—ऐसा नहीं। 'कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई, (अग्नि सहे घनघात लोह की संगति पाई)' कर्म तो जड़ है-मिट्टी-धूल है। अपना स्वभाव चैतन्य, भगवान पूर्णानन्द प्रभु, उसके अज्ञान से, उसका ज्ञान नहीं होने से। राग का कार्य मेरा और मैं (उसका) करनेवाला, ऐसी अज्ञानबुद्धि उत्पन्न (अनादि की) हुई है। अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति निवृत्त होती है। सम्यग्दर्शन हुआ-शुद्ध चैतन्य वस्तु मैं हूँ, मैं तो पूर्णानन्दस्वरूप हूँ, ऐसी परिणति श्रद्धा-ज्ञान में हुई, तब अनादि की कर्ताकर्म बुद्धि का नाश हुआ। आहाहा! उसकी निवृत्ति होने से, अज्ञान के निमित्त से होता हुआ। उस अज्ञान के निमित्त से पुद्गल (का सम्बन्ध) बँधता था, वह रुक गया। आहाहा!

क्या कहा यह? कि जब आत्मा आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप उसका स्वभाव, उस स्वभाव की दृष्टि मालूम पड़ी, तो परिणमन में-पर्याय में भी अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान की पर्याय स्वरूप में सम्यक्त्व की हुई तो इस कारण से अनादि की (मान्यता थी कि) राग का कर्तव्य मेरा और राग का करनेवाला मैं, यह (अभिप्राय) अज्ञानबुद्धि का

नाश होता है। अज्ञान के निमित्त से जो पुद्‍गल कर्म का बन्ध अनादि से होता था, वह अनादि का कर्म का बन्ध भी निवृत्त हुआ, उसे (अब) बन्ध नहीं होता। आहाहा!

अज्ञान की निवृत्ति हुई तो अज्ञान से बँधनेवाले कर्म भी नहीं बँधते। आहाहा! क्या हो? **ऐसा होने से ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है।** है? संस्कृत है। **ऐसा होने से ज्ञानमात्र से बन्ध का निरोध हो जाता है।** ज्ञान शब्द से यह आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है ऐसा परिणमन हुआ, ज्ञान का, इस ज्ञान के परिणमनमात्र से बन्ध रुक जाता है। ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का ज्ञानपना, वह ज्ञान नहीं। ज्ञानस्वरूप चिद्‍घन ज्ञातादृष्टा भगवान आत्मा की पर्याय में आत्मा का परिणमन अर्थात् ज्ञान का परिणमन या स्वभाव का परिणमन, ऐसे ज्ञानमात्र से अज्ञान की निवृत्ति हुई और अज्ञान से बन्ध होता था, वह बन्ध भी रुक गया, समझ में आया? आहाहा! अब ऐसी सूक्ष्म बातें। कितनी याद रखना एक घण्टे में!

वह तो कुछ कहे (करने का कि) यह व्रत करो, यात्रा करो, अपवास करो, भक्ति करो, मन्दिर बनाओ तो समझ में तो आये। अनादि से अज्ञान है, उसमें क्या समझना तुझे? यह बात निराली प्रभु वीतरागमार्ग की। आहाहा!

इस कारण से ज्ञानमात्र से ही... यह स्वरूप का ज्ञान हुआ। राग की रुचि छूट गयी, त्रिकाल ज्ञायकभाव का पोषण-रुचि हुई तो सम्यग्ज्ञान हुआ, तो सम्यक्-ज्ञानमात्र से बन्ध का निरोध हो जाता है। है अन्त में? **ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है।** आहाहा! यह आत्मा का अनुभव-ज्ञान हुआ, वह ज्ञान, हों! यह शास्त्र का ज्ञान (वह ज्ञान) नहीं है। चैतन्य भगवान आत्मा-ज्ञान का सरोवर-सागर प्रभु! उस अपने ज्ञानगुण के बन्ध का निरोध सिद्ध हो गया। इस सम्बन्धी का। समझ में आया? यह विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १४९, गाथा-७१-७२ दिनांक २९-११-१९७८, बुधवार, कार्तिक कृष्ण १४

समयसार, ७१ गाथा का भावार्थ है। गाथा हो गयी।

क्रोधादिक और ज्ञान भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं... क्या कहते हैं? यह जो कुछ पुण्य और पाप के भाव होते हैं, दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रत, तप, इनका जो भाव हो, वह शुभराग है और वह शुभराग है, उसकी जिसे रुचि है, उसे क्रोधी कहा जाता है। आत्मा पूर्ण-स्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप वीतरागमूर्ति आत्मा की रुचि छोड़कर यह शुभ-अशुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव में जिसकी रुचि है, उसे आत्मा के प्रति अनादर क्रोध है। अरे! ऐसी बात है। उसे आत्मा पूर्णानन्द प्रभु शुद्ध अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड, वह महाप्रभु महात्मा महत् आत्मा की जिसे रुचि नहीं, उसे इन पुण्य के परिणाम की रुचि है, उसे यहाँ आत्मा के प्रति अरुचि है, अर्थात् क्रोध है ऐसा कहा जाता है। आहाहा! कठिन बात।

जो शुभ और अशुभभाव... यह ८३ गाथा में आया न भावपाहुड़ में? पूजा, व्रत, तप, भक्ति, वन्दन, स्तुति, यह सब भाव राग है; यह कहीं जैनधर्म नहीं है। यह राग है, उसे जो धर्म मानता है, इससे उसे राग के प्रति प्रेम है। आहाहा! और इसलिए उसे निर्विकारी, अरागी स्वभाव भगवान आत्मा के प्रति उसे अरुचि है। रुचि है राग की; स्वभाव के प्रति अरुचि है। आहाहा! ऐसी बात है। यह क्रोधादि अर्थात्? शुभभाव जो दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव में प्रेम है, उसे क्रोध कहते हैं, यह क्रोध, वह दूसरी चीज़ है और ज्ञान अर्थात् आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, वह अलग चीज़ है, यह दोनों चीज़ एक नहीं है। आहाहा! है? क्रोध, मान, माया, लोभ अर्थात् स्वभाव से विरुद्ध भाव, ऐसा भाव और ज्ञान अर्थात् आत्मा शुद्ध चैतन्य वीतरागमूर्ति प्रभु, ये दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, कहो। आहाहा!

शरीर, वाणी, मन, वह तो भिन्न है, जड़ है, वह तो इसकी नहीं, इसमें नहीं। परन्तु पुण्य और पाप के भाव वे स्वरूप में नहीं हैं। यह आत्मा इसमें नहीं, तथापि उनका जिसे प्रेम है, उसे जड़ का प्रेम है, उसे भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव शुद्ध चैतन्यस्वरूप, भगवान ने जिसे आत्मा कहा, वह पूर्णानन्दस्वरूप है, उसके प्रति उसे द्वेष है अर्थात् द्वेष

और आत्मा दो भिन्न चीज़ें हैं। आहाहा! **न तो ज्ञान में क्रोधादिक है...** अर्थात् ज्ञानस्वरूप जो भगवान आत्मा; ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं, जैसे शक्कर में मिठास है, वैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है। जैसे शक्कर मिठासस्वरूप है, वैसे भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञानस्वरूप आत्मा और उससे विरुद्ध विकार, वे दोनों एक नहीं हैं। ज्ञान में क्रोधादि नहीं है। आहाहा!

चैतन्य तत्त्व जिसे भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर ने आत्मा (कहा है)। नव तत्त्व है न? नव तत्त्व में जो पुण्य और पाप का तत्त्व, वह तो विकारी तत्त्व है, और नव तत्त्व में आत्मा, वह तो ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। नहीं तो नौ होंगे नहीं। आहाहा! यह ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा त्रिकाली ज्ञातादृष्टा स्वभाव में विकार का भाव है नहीं। जो विकार का प्रेम है, वह भाव ज्ञानस्वरूप में नहीं है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश।

है? ज्ञान अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप प्रभु में राग का प्रेम, ऐसा जो क्रोध, वह स्वरूप में नहीं है। **और न क्रोधादिक में ज्ञान है...** और आत्मा जो ज्ञानस्वरूप प्रभु, वह आत्मा है, वह चैतन्यवस्तु, उसमें वह क्रोध नहीं। समझ में आया? और क्रोधादि में ज्ञान नहीं। उसे यह पुण्य और पाप के भाव का प्रेम है, उसमें आत्मा नहीं। ऐसा है।

मुमुक्षु : ऐसा ही सीखनेयोग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही स्वरूप है, बापू! क्या हो? आहाहा!

अनन्त काल से चौरासी के अवतार कर-करके भटक मरा है। कौवे के, कुत्ते के, नरक के, यह उसकी व्याख्या भगवान करे, तब सुनी न जाए, ऐसे इसने दुःख सहन किये हैं। यह अपने स्वरूप को राग से भिन्न जाने बिना। आहाहा! यह राग स्वरूप है, वह मेरा है और राग है, वह मेरा कर्तव्य है, वह मिथ्यादृष्टि वहाँ रुक गया। आहाहा! उसे जैनधर्म की खबर नहीं।

जैनधर्म उसे कहते हैं कि जो राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का भाव वह राग है, उससे भिन्न आत्मा आनन्दकन्द ज्ञानस्वरूप है, उसका अनुभव हो, वीतरागी पर्याय में उसका अनुभव हो, उसे धर्म-जैनधर्म कहते हैं। अरे, ऐसी व्याख्या। अन्य तो कहे अहिंसा परमो धर्म। पर की दया पालना, वह अहिंसा ही नहीं है, वह तो हिंसा है। पर की

दया का भाव, वह राग है और वह हिंसा है। आहाहा! कठिन बात, बापू! वीतराग परमेश्वर जो आत्मा कहते हैं, जिसे भगवान पुण्य तत्त्व कहते हैं नव तत्त्व में, उस पुण्यतत्त्व के प्रेम में आत्मा नहीं है। आहाहा! और आत्मा ज्ञान-शुद्ध चैतन्यस्वरूप में वह राग और राग का प्रेम उसमें नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

ऐसा उनका भेदज्ञान हो... है ? ऐसा उनका भेदज्ञान हो, अर्थात ? जितना पूजा, भक्ति, दया, दान, व्रत, तप का भाव है, वह सब राग है और उसका प्रेम है, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! क्योंकि वह आस्रव है, उस आस्रव का जिसे प्रेम है, वह मिथ्यादृष्टि है। और जिसे आस्रव से रहित भगवान चैतन्य वीतरागस्वरूप आत्मा है, उसका जिसे प्रेम है, एकाग्रता है, उसे धर्म है। कहो, देवीलालजी! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! दुनिया से तो फेरफार।

ऐसा उनका भेदज्ञान हो... अर्थात् कि उस राग की क्रिया के परिणाम हैं, वे आस्रव हैं, वह मैं नहीं। मैं उनमें नहीं, वे मुझमें नहीं। मुझमें तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप वह मैं, ऐसा इस राग भाव से भिन्न जो भेदज्ञान हो, **तब उनके एकत्वरूप का अज्ञान नाश होता है।** आहाहा! यह राग और भगवान आत्मा दोनों भिन्न हैं, ऐसा अन्दर भेदज्ञान हो, भेदज्ञान भिन्न। तब उसे राग की एकता टूट जाती है। राग, वह मैं हूँ और राग, वह मेरा कर्तव्य है, यह छूट जाता है। आहाहा! भाषा तो सादी है, बापू! भाव तो गहरे हैं। अभी वीतरागमार्ग को कुचल डाला है, राग और क्रियाकाण्ड में यह व्रत करो, अपवास करो और दान, दया करो और उसमें धर्म माना, वह राग में धर्म माना। मिथ्यात्व के कारण भटक मरेगा वह ८४ के अवतार में कहीं पता नहीं लगेगा। आहाहा!

जिसे ऐसा अन्तर में... शरीर से तो भिन्न प्रभु आत्मा अन्दर, परन्तु ऐसी क्रियायें जो दया, दान, व्रत, पूजा की जो राग है, उनसे प्रभु भिन्न है तथा शरीर, कर्म, पैसा, वह तो अजीवतत्त्व में जाते हैं और यह पुण्य-पाप के भाव, वे आस्रवतत्त्व में जाते हैं, भगवान आस्रवतत्त्व और अजीवतत्त्व से भिन्न चीज़ अन्दर है। आहाहा! ऐसा कब निवृत्त हो मनुष्य। पूरे दिन पाप में-प्रपंच में पड़े, व्यापार... व्यापार... व्यापार..., अकेला पाप; धर्म तो नहीं, पुण्य भी नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि एक बार यह राग की क्रिया जो पुण्य की अन्दर हो और भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, ऐसी दो के बीच की भिन्नता का ज्ञान हो। दो की एकता का ज्ञान टूटकर भिन्नता का ज्ञान हो, तब राग की एकता का जो अज्ञान था, वह नाश हुआ। आहाहा! मार्ग ऐसा प्रभु! है भाई! अनन्त काल में इसने मुनिव्रत लिया, पंच महाव्रत पालन किये, २८ मूलगुण, नग्नमुनि, हों! यह वस्त्रसहित हैं वे तो कुलिंगी हैं, वह तो भगवान का लिंग ही नहीं। यह तो नग्न मुनि दिगम्बर हुआ। पंच महाव्रत पालन किये, हजारों रानियों का त्याग किया परन्तु वह राग की क्रिया है, वह धर्म है, ऐसा इसने माना। आहाहा! इस राग से भगवान अन्दर निरावरण... निरावरण निर्लेप चीज़ अन्दर पड़ी है, उसे इसने जाना नहीं, इसने उसका आश्रय लिया नहीं। आहाहा! इसलिए एकत्वबुद्धि से चार गति में भटक मरा है, जिसे ऐसा भेदज्ञान हो, **उसे एकत्वरूप का अज्ञान नाश होता है और अज्ञान के नाश हो जाने से कर्म का बन्ध भी नहीं होता।** उस सम्बन्धी जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी से बन्ध होता है, वह नहीं होता। समझ में आया? आहाहा! पाव घण्टे चल गया। कितना सरस था, चला गया। मुश्किल से कभी हो, उसे पाव घण्टे मिले नहीं। आहाहा! बहुत सरस बात चल गयी।

इस प्रकार ज्ञान से ही बन्ध का निरोध होता है। अन्तिम शब्द। आहाहा! अर्थात? कि आत्मा अन्दर ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु, यह जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का भाव वह राग, उस राग से भिन्न आत्मा का ज्ञान हो, तब उसे राग की एकता का अज्ञान टले और एकता का अज्ञान टलने से उसे बन्धन नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है। क्या हो? अनन्त काल से भटका है, ८४ के अवतार, नरक और निगोद, कौआ और कुत्ता और कंथवा का भव कर-करके कचूमर निकल गया है। आहाहा!

मुमुक्षु : अनादि का दुःख ही भोगता आया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख ही, अकेला दुःखी है। यह सब करोड़पति और अरबोंपति बेचारे भिखारी दुःखी हैं। भिखारी हैं, मुझे पैसा दो, मुझे इज्जत दो, पुत्र हो, माँगनेवाला बड़ा भिखारी है। आहाहा! यहाँ परमात्मा कहते हैं कि वह तो वरांका, रंक, भिखारी है। आहाहा!

जिसे यह आत्मा अन्दर 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसा जो स्वरूप अन्दर है,

उसमें अनन्त आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी पड़ी है, उसकी तो जिसे पिपासा नहीं, और इस धूल की बाहर की, स्त्री, पुत्र, पैसा, जो इसमें नहीं है, जिसमें यह नहीं है। धूल भी नहीं सम्बन्ध। माने तो वह अज्ञान है। किसके साथ सम्बन्ध किया है ? यहाँ तो 'समकित के साथ सम्बन्ध किया, निज परिवार हुआ गाढ़ा।' आहाहा!

भगवान आत्मा सर्वज्ञ केवली जिनेश्वरदेव कहते हैं वह, हों! दूसरे आत्मा-आत्मा करे, वीतराग के अतिरिक्त, वे सब आत्मा जानते नहीं। सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव परमेश्वर ने जो अन्दर आत्मा अनन्त... अनन्त... अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, आहाहा! वह अन्तर की स्वलक्ष्मी का सागर है। आनन्द, ज्ञान, शान्ति आदि लक्ष्मी का सागर है, उसे न मानकर, उसे न स्वीकारकर, राग की क्रिया और राग के फलरूप संयोग को स्वीकार करता है, वह मूढ मिथ्यादृष्टि चार गति में रूलने का अभिलाषी है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! भावार्थ में बहुत गया। आहाहा!

गाथा-७२

कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति चेत् -

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीय-भावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।७२।।

ज्ञात्वा आस्रवाणा-मशुचित्वं च विपरीत-भावं च।
दु:खस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीव: ।।७२।।

जले जम्बालवत्कलुषत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुचय: खल्वास्रवा:, भगवानात्मा तु नित्यमेवातिनिर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलम्भकत्वादत्यन्तं शुचिरेव। जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्यस्वभावा: खल्वास्रवा:, भगवानात्मा तु नित्यमेव विज्ञानघन-स्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वादनन्यस्वभाव एव।

आकुलत्वोत्पादकत्वाद्दु:खस्य कारणानि खल्वास्रवा:, भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद्दु:खस्याकारणमेव।

इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते, तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धे:। तत: क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्य-विनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बन्ध-निरोध: सिध्येत्।

किञ्च यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानम् ?

यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेष:। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्रवेभ्यो निवृत्तम्?

आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदापि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेष:। आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोध:। इति निरस्तोऽज्ञानान्श: क्रियानय:। यत्त्वात्मास्रवयो-र्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानान्शो ज्ञाननयोऽपि निरस्त: ।।७२।।

अब पूछता है कि ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध कैसे होता है? उसका उत्तर कहते हैं:-

अशुचिपना, विपरीतता ये आश्रवों का जानके।
अरु दु:खकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव करे।।७२।।

गाथार्थ : [आस्रवाणाम्] आस्रवों की [अशुचित्वं च] अशुचिता और [विपरीतभावं च] विपरीतता तथा [दु:खस्य कारणानि इति] वे दु:ख के कारण हैं, ऐसा [ज्ञात्वा] जानकर [जीव:] जीव [तत: निवृत्तिं] उनसे निवृत्ति [करोति] करता है।

टीका : जल में सेवाल (काई) है, सो मल या मैल है, उस सेवाल की भाँति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभव में आते हैं; इसलिए वे अशुचि हैं-अपवित्र हैं और भगवान आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यमात्रस्वभावरूप से ज्ञायक हैं, इसलिए अत्यन्त शुचि ही है-पवित्र ही है-उज्ज्वल ही है। आस्रवों के जड़स्वभावत्व होने से वे दूसरे के द्वारा जानने योग्य हैं (-क्योंकि जो जड़ हो वह अपने को तथा पर को नहीं जानता, उसे दूसरा ही जानता है); इसलिए वे चैतन्य से अन्य स्वभाववाले हैं; और भगवान आत्मा तो, अपने को सदा विज्ञानघनस्वभावपना होने से, स्वयं ही चेतक (-ज्ञाता) है (-स्व को और पर को जानता है-); इसलिए वह चैतन्य से अनन्य स्वभाववाला ही है (अर्थात् चैतन्य से अन्य स्वभाववाला नहीं है)। आस्रव आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं; इसलिए दु:ख के कारण हैं; और भगवान आत्मा तो, सदा ही निराकुलतास्वभाव के कारण किसी का कार्य तथा किसी का कारण न होने से, दु:ख का अकारण ही है (अर्थात् दु:ख का कारण नहीं)। इस प्रकार विशेष (-अन्तर) को देखकर जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों के भेद को जानता है, उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है, क्योंकि उनसे जो निर्वृत्त नहीं है, उसे आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक (यथार्थ) भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुई। इसलिए क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्ति के साथ जो अविनाभावी है, ऐसे ज्ञानमात्र से ही, अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्म के बन्ध का निरोध होता है।

और, जो यह आत्मा, और आस्रवों का भेदज्ञान है, सो अज्ञान है या ज्ञान? यदि अज्ञान है तो आत्मा और आस्रवों के अभेदज्ञान से उसकी कोई विशेषता नहीं हुई। और यदि ज्ञान है तो वह आस्रवों में प्रवृत्त है या उनसे निवृत्त? यदि आस्रवों में प्रवृत्त होता है तो भी आत्मा और आस्रवों के अभेदज्ञान से उसकी कोई विशेषता नहीं हुई। और यदि

आस्रवों से निवृत्त है तो ज्ञान से ही बन्ध का निरोध सिद्ध हुआ क्यों न कहलायेगा? (सिद्ध हुआ ही कहलायेगा।) ऐसा सिद्ध होने से अज्ञान का अंश ऐसे क्रियानय का खण्डन हुआ। और यदि आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है, ऐसा सिद्ध होने से ज्ञान के अंश ऐसे (एकान्त) ज्ञाननय का भी खण्डन हुआ।

भावार्थ : आस्रव अशुचि हैं, जड़ हैं, दुःख के कारण हैं और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुखस्वरूप है। इस प्रकार लक्षणभेद से दोनों को भिन्न जानकर आस्रवों से आत्मा निवृत्त होता है और उसे कर्म का बन्ध नहीं होता। आत्मा और आस्रवों का भेद जानने पर भी यदि आत्मा आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं, किन्तु अज्ञान ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि अविरत सम्यक्दृष्टि को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों का तो आस्रव नहीं होता किन्तु अन्य प्रकृतियों का तो आस्रव होकर बन्ध होता है; इसलिए उसे ज्ञानी कहना या अज्ञानी?

उसका समाधान :- सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी ही है क्योंकि वह अभिप्रायपूर्वक के आस्रवों से निवृत्त हुआ है। उसे प्रकृतियों का जो आस्रव तथा बन्ध होता है, वह अभिप्राय पूर्वक नहीं है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव है; इसलिए जब तक उसके चारित्रमोह का उदय है, तब तक उसके उदयानुसार जो आस्रव-बन्ध होता है, उसका स्वामित्व उसको नहीं है। अभिप्राय में तो वह आस्रव-बन्ध से सर्वथा निवृत्त ही होना चाहता है। इसलिए वह ज्ञानी ही है।

जो यह कहा है कि ज्ञानी को बन्ध नहीं होता, उसका कारण इस प्रकार है :- मिथ्यात्वसम्बन्धी बन्ध जो कि अनन्त संसार का कारण है, वही यहाँ प्रधानतया विवक्षित है। अविरति आदि से जो बन्ध होता है, वह अल्प स्थिति-अनुभागवाला है, दीर्घ संसार का कारण नहीं है; इसलिए वह प्रधान नहीं माना गया। अथवा तो ऐसा कारण है कि -ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है। जब तक ज्ञान में मिथ्यात्व का उदय था, तब तक वह अज्ञान कहलाता था और मिथ्यात्व के जाने के बाद अज्ञान नहीं किन्तु ज्ञान ही है। उसमें जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है, उसका स्वामी ज्ञानी नहीं है, इसलिए ज्ञानी के बन्ध नहीं है; क्योंकि विकार जो कि बन्धरूप है और बन्ध का कारण है, वह तो बन्ध की पंक्ति में है, ज्ञान की पंक्ति में नहीं। इस अर्थ का समर्थनरूप कथन आगे गाथाओं में आयेगा।

गाथा - ७२ पर प्रवचन

अब पूछता है कि - ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध कैसे होता है ? क्या कहा यह ? यह आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। ज्ञान-अर्थात् यह शास्त्र का जानना वह, यह ज्ञान नहीं। अन्तर स्वयं शक्कर जैसे मिठास का पिण्ड है, वैसे यह भगवान ज्ञान स्वभाव का पिण्ड है। यह सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है, ऐसा स्वरूप का राग से भिन्न पड़कर, स्वरूप का-ज्ञान का ज्ञान हुआ, ज्ञानस्वरूप ऐसा आत्मा, उसका ज्ञान हुआ, राग से भिन्न करके, और उस ज्ञानमात्र से अज्ञान टलकर कर्म का बन्ध टूट जाता है।

तब शिष्य पूछता है, आहाहा! इस ज्ञानमात्र से ही, बस ? जहाँ ज्ञान हुआ, उससे ही बन्ध रुक गया ? ज्ञानमात्र से ही, राग के विकल्प से भिन्न पड़ तू प्रभु! आहाहा! उसे ज्ञान कहा जाता है। संसार की होशियारी और वकीलात की, डॉक्टर की, वह ज्ञान नहीं है। वह तो सब कुज्ञान है। आहाहा! ज्ञान तो प्रभु उसे कहते हैं, जो ज्ञानस्वरूपी प्रभु चैतन्यघन, उसे राग के विकल्प से भिन्न करके और ज्ञान में एकाग्र होकर शक्ति में से व्यक्तता ज्ञान की प्रगट हुई, उसे यहाँ ज्ञान कहा जाता है। आहाहा!

भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो है वह है। बापू! अरेरे! शिष्य का प्रश्न है, कि तुमने तो (कहा कि) आत्मा है राग से भिन्न, यह विकल्प जो है शुभ-अशुभ दया, दान, व्रत, पूजा का, वह भाव राग है और उससे प्रभु भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान हुआ, और उस भेदज्ञानमात्र से उसे कर्मबन्धन रुक गया ? तो ज्ञानमात्र से कर्म रुक गया ? ऐसा प्रश्न है। आहाहा!

अरे रे! सुनने को मिले नहीं ऐसी बात है। बेचारे जिन्दगी में... परमात्मा की सत्य बात सुनने को ही नहीं मिलती, वह जिन्दगी क्या कहलाये ? वह तो पशु जैसी जिन्दगी है। आहाहा! ऐसी बात! शिष्य को जब ऐसा कहा गया, कहने में ऐसा आया न, तब प्रश्न उठा न ? कि जब यह भगवान अन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप, सत्, शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का सागर भगवान, आहाहा! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द ही छलाछल भरा है, जिसमें अतीन्द्रिय ज्ञान भरपूर भरा है, जिसमें शान्ति का सागर है, ऐसे भगवान आत्मा का जिसे राग के परिणाम से भिन्न ज्ञान हुआ, तो वह वस्तु का ज्ञान हुआ। वास्तविक है, उसका ज्ञान हुआ

और इसके ज्ञान से कर्मबन्धन रुक गया। यह किस प्रकार? ऐसा पूछता है। समझ में आया?

बन्ध का निरोध कैसे होता है? यह क्या कहते हैं? जिसे अन्दर में जिज्ञासा ऐसी हुई, यह सुनने के बाद, उसे ऐसी जिज्ञासा हुई कि प्रभु आत्मा सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूपी प्रभु... सच्चिदान्द अर्थात् अन्यमती सच्चिदानन्द कहे, वह नहीं, हों! यह तो सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु अन्दर है, भाई! आहाहा! ऐसा जो भगवान परमेश्वर जिनेश्वर ने कहा, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका जिसे राग से भिन्न पड़कर ज्ञान हुआ, और उसे कर्मबन्धन रुक गया, ऐसा शिष्य ने सुना, तब उसे प्रश्न उठा, ऐसे जीव को। ऐसे साधारण सुनने आता है, उसके लिये यह नहीं है। आहाहा!

जिसे अन्दर से ऐसा प्रश्न उठा कि प्रभु! आपने तो राग की क्रिया, जो बन्ध की है, आस्रव की है, उससे भिन्न आत्मा का ज्ञान—भेदज्ञान हुआ, उतने ज्ञानमात्र से वह अज्ञान टलकर कर्मबन्धन रुक गया। वह किस प्रकार, प्रभु! ऐसी उसे अन्तर में से जिज्ञासा आयी है। है? पूछता है कि ज्ञानमात्र से ही बन्ध का, देखा? मात्र से ही, आहाहा! बन्धन रुक गया, 'निरोध कैसे होता है?' **उसका उत्तर कहते हैं,...** ऐसी जिसे जिज्ञासा प्रश्न में उठी है, उसे यह उत्तर दिया जाता है। आहाहा!

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीय-भावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो॥७२॥

नीचे हरिगीत–

अशुचिपना, विपरीतता ये आस्रवों का जानके।
अरु दुःखकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव करे॥७२॥

आहाहा! **टीका - जल में शैवाल (काई) है।** यह पानी... पानी। शैवाल, काई। जैसे जल में शैवाल है, मैल-मल है, वह मैल है। **जल में शैवाल (काई) है सो मल या मैल है, उस शैवाल की भाँति आस्रव...** आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव और अशुभभाव, इन दोनों को यहाँ आस्रव कहा। आस्रव—जिससे नये आवरण आवें। जहाज में छिद्र होता है और जैसे पानी प्रविष्ट होता है; इसी प्रकार जिसके परिणाम में ऐसे पुण्य

और पाप के भावरूपी छिद्र है, उसे नये आवरण आते हैं, इसलिए उस परिणाम को आस्रव कहा जाता है। आहाहा! अब ऐसी बातें।

शुभ और अशुभभाव, वे काई की भाँति आत्मा में मैल है। आहाहा! कहते हैं कि अन्दर में दया का, दान का, व्रत का, तप का, अपवास का जो भाव उठता है, वह राग है। अररर! उसे धर्म माननेवाले को ऐसा कहना। और वह राग, वह आस्रव है, और वह आस्रव है, वह मैल है। वह आस्रव है, वह मल है, मैल है। आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! मार्ग कोई अलग है। आहाहा!

शिष्य को प्रश्न उठा, उसका यह उत्तर है। और यह उत्तर बराबर सुनता है, भगवान! आत्मा को भगवानरूप से बुलायेंगे अभी। **जल में शैवाल (काई) है सो मल या मैल है...** शैवाल की भाँति पुण्य और पाप के भाव, वे शैवाल की भाँति मल है। जैसे जल में शैवाल, मल और मैल है, वैसे ही भगवान आत्मा में यह शुभ-अशुभभाव, वह मल है, मैल है और मैलरूप से अनुभव में आते हैं। आहाहा! भाषा तो देखो! ओहोहो! जैसे पानी में शैवाल मल है और मैल है, उसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु, ज्ञान का सागर आत्मा, उसमें यह पुण्य और पाप के भाव मल हैं, मैलरूप अनुभव में आते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब बातें! पंच महाव्रत के परिणाम और बारह व्रत के भाव, वे सब विकल्प हैं, राग हैं, मल हैं, मैल हैं, मैलरूप अनुभव में आते हैं, कहते हैं। आहाहा!

कहाँ लोगों को बेचारे चार गति में भटकते प्राणी... अरे रे! मनुष्यपना हुआ और कितने ही तो मरकर पशु में जायेंगे, क्योंकि धर्म क्या है, यह अभी सुनने को मिला नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन! तेरा नाथ आत्मा जो है, उसमें जो यह पुण्य के परिणाम उठते हैं, दिखते हैं, वह मैल है, हों! आहाहा! अब यहाँ वह उसे धर्म मानता है, आहाहा! ऐसी दृष्टि की ऊंधाई और विपरीतता, जिसका फल निगोद है। एक शरीर में अनन्त जीव, आहाहा! उसमें वह अनादि से निगोद में वास करता है। वे मैलरूप अनुभव में आते होने से अशुचि हैं। कौन? यह शुभ-अशुभभाव। और अशुभ तो ठीक परन्तु अपने यहाँ अधिक वजन शुभ में है। आहाहा! अभी तो शुभ का ठिकाना नहीं, अकेले अशुभ के

पाप में पड़े हैं, उनकी तो बात क्या करना ? परन्तु यहाँ तो शुभ में आया, वह भी अशुचि और मैल है। आहाहा! जैसे जल में शैवाल मैल है, वैसे त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव इन्द्र और गणधरों के समक्ष में परमात्मा ऐसा फरमाते थे, वह यह भाषा है। आहाहा!

सीमन्धर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं वे, वह वहाँ से यह वाणी आयी है। आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं। यह आज्ञा नहीं माँगते सामायिक और उपवास (में) सीमन्धरस्वामी से। थी कब सामायिक, मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : आज्ञा माँगना वह कहीं मिथ्यात्व है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आज्ञा माँगना वह शुभ है और शुभ में धर्म माने, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! कहो, देवीलालजी! बापू! नाथ! मार्ग बहुत अलग है, भाई! अरे रे! अभी तो सुनने को मिलना मुश्किल पड़ गया। भगवान तीन लोक के नाथ सीमन्धर प्रभु, वहाँ मुनिराज आठ दिन गये थे। यह कुन्दकुन्दाचार्य (गये थे), वहाँ से लाकर यह शास्त्र बनाये। आहाहा! भगवान ऐसा कहते थे। श्रोता को जिज्ञासा, जिसे राग से भिन्न होते ज्ञानमात्र से कर्म कैसे रुक जाए, ऐसी जिसे जिज्ञासा है, उसे यह उत्तर दिया गया है। क्यों वे अटक जाते हैं कर्म ? कि जल में जैसे शैवाल है, वैसे भगवान आत्मा पवित्र का पिण्ड है, उसमें यह पुण्य के परिणाम मल और मैलरूप अनुभव में आते हैं। आहाहा! मैलरूप है, इतनी बात नहीं ली, वह मैलरूप अनुभव में आते हैं। आहाहा! है ?

मैलरूप अनुभव में आते हैं। उन्हें अशुचि क्यों कहा ? आहाहा! क्या सन्तों की-दिगम्बर मुनियों की वाणी है! वे केवली के पथानुगामी, आहाहा! वह केवली होने के लिये यह पुकार है। आहाहा! प्रभु! एक बार सुन। आहाहा! कि जैसे जल में शैवाल मैल और मल है, मल और मैल है, ऐसा कहा; इसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्द का नाथा सच्चिदानन्द प्रभु सिद्धस्वरूपी आत्मा स्वभाव है आत्मा का। आहाहा! कैसे जँचे! आहाहा! यह पैसा पाँच-पच्चीस हजार पैदा हों, वहाँ बनाओ लापसी आज। अरे! ऐसे गहल-पागल सब हैं।

मुमुक्षु : पागल को होशियार बनानेवाले हैं न आप ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! होशियार तो यह करे तो होशियार हो।

आत्मा में राग का भाव जो दिखता है, पूजा का, भक्ति का, दया का, दान का, व्रत का, तप का, वैयावृत्य का, भक्ति का, भगवान की स्तुति का, वह सब राग है, और वह राग मल है। भगवान निर्मलानन्द में वह राग मल है, वह मैलरूप अनुभव में आता है। आहाहा! बहुत अच्छी गाथा है। इसलिए वे अशुचि हैं। यह पुण्य और पाप के भाव **अशुचि है, अपवित्र है।** आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम वह राग है, वह अशुचि है, वह अपवित्र है, वह मैलरूप अनुभव में आते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : आप स्पष्ट करते हो न इसलिए जरा राड पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके बिना पकड़ में नहीं आता न! अरे रे! यह सब सुन-सुनकर कान फूट गये थे, एक तो दुकान का धन्धा, और स्त्री-पुत्र के पाप, उसमें सुनने जाए तो वह अब सुनावे कुगुरु। श्रीमद् कहते हैं घण्टा भर मिले, सुनने जाए, वहाँ कुगुरु लूट लेता है। व्रत करो, अपवास करो, तुम्हारा कल्याण होगा। लूट डालता है लुटेरा। आहाहा! समझ में आया? श्रीमद् ऐसा कहते हैं। आहाहा!

श्रीमद् एक बार श्रीमद् को कोई बोलता था अवगुण, उसका अमुक श्रीमद् का एक चूड़ा में था रायचन्द दोशी, रायचन्द दोशी थे। बहुत वृद्ध।

मुमुक्षु : आपने देखे हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : रायचन्द दोशी को देखा है। हम तो यहाँ हम ७१ में चूड़ा आये थे पहले, उससे पहले तो मैं ६९ में चूड़ा गया था। गुलाबचन्दजी वहाँ थे ६९ के वर्ष, गुलाबचन्दजी थे वह है न मार्केट, बाजार में नहीं मकान में? नीचे शाकभाजी और ऊपर वहाँ आवास था, ६९ के वर्ष चूड़ा गये थे पहले-पहले। तब सौभाग्यचन्द डॉक्टर थे। यह तो बहुत वर्ष की बातें हैं। ६६ वर्ष पहले, पश्चात् दोबारा गये ७१ में दीक्षा लेकर गये थे, तत्पश्चात् वहाँ गुलाबचन्दभाई वोरा थे। उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का नियम लिया और उनका पिता था, ७१ की बात है। दीक्षा लेकर गये थे।

यहाँ तो कहना है कि यह राग है, वह मैल है, अशुचि है। वह सौभाग्यभाई था, वह ऐसा था, उसका एक पुत्र मर गया, तथापि किसी को रोने न दे, भगवान भगवान करो, तथापि वह तो सब शुभभाव है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु तब उसे धर्म मानते थे।

आहाहा! सौभाग्यभाई थे, बाहर दवाखाना, बहुत वर्ष हो गये ६६ वर्ष (हुए)। आहाहा! अरे! भगवान! क्या करे? प्रभु परमात्मा जिनेश्वरदेव का यह पुकार है। प्रभु! तुझे पुण्य और पाप के भाव जो होते हैं, वे मैलरूप अनुभव में आते हैं, उन्हें आत्मा के कहना, यह कैसे कहा जाए बापू? यह कहते हैं, देखो! **वह अशुचि है, अपवित्र है।** आहाहा!

अब आया। भगवान आत्मा! ऐसे देखो, भाषा तो देखो! आहाहा! आत्मा अन्दर जो है, उसे यहाँ भगवानरूप से बुलाया है। आहाहा! इन पुण्य के परिणाम को अशुचि और मैल बताकर, भगवान अन्दर आत्मा जो इनसे भिन्न है। अरे! **भगवान आत्मा तो,...** आचार्य महाराज सन्त दिगम्बर आत्मध्यानी ज्ञानी, अनुभवी जंगल में बसनेवाले यह सन्त हैं, वे ऐसा कहते हैं कि भगवान आत्मा तो... आहाहा! भाई! तुझे जो पुण्य के परिणाम हुए—दया, व्रत, भक्ति आदि, वे तो मैल हैं और यह भगवान आत्मा तो, आहाहा! उनसे भिन्न है। उस आस्रव से भिन्न है। नवतत्त्व है न? उसमें यह पुण्य-पाप का भाव, वह आस्रव है और आत्मा, आत्मा जीव ज्ञायक, इससे भिन्न है। आहाहा!

'आत्मा' **भगवान आत्मा तो सदा ही अति निर्मल...** ऐसी भाषा क्यों प्रयोग की? कि पुण्य-पाप का भाव तो क्षणिक है, मैल है, मैलरूप अनुभव में आता है, तब यह तो भगवान सदा अति निर्मल, त्रिकाल निर्मल है। आहाहा! समझ में आया? **भगवान आत्मा तो सदा ही...** वह पुण्य और पाप के भाव क्षणिक हैं, अशुचि हैं, वर्तमानमात्र है मैल। और भगवान आत्मा तो सदा अति निर्मलानन्द है। अरे रे! कैसे जँचे? आहाहा!

मुमुक्षु : विचार करे तो जँचे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ओहोहो! यह तो बैठे क्या? बैठाकर चले गये अनन्त मोक्ष में गये। आहाहा! **भगवान आत्मा तो सदा ही अति निर्मल...** त्रिकाल निर्मलानन्द प्रभु अन्दर विराजता है, जैसे स्फटिक निर्मल होता है। आहाहा!

ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की, त्यौं ही जीव स्वभाव रे
श्री जिनवर ने धर्म प्रकाश्या, प्रबल कषाय अभाव रे॥

क्योंकि भगवान अति निर्मलानन्द प्रभु है, उसकी जिसे श्रद्धा, ज्ञान और रमणता हुई, उसे भगवान ने धर्म कहा। आहाहा! बाकी दया, दान, व्रत आदि के परिणाम हैं, वे

अधर्म हैं। अररर! यह सुना जाये नहीं, क्या करे? अनन्त काल से भटकता है। यह ८४ के अवतार कर-करके, आहाहा! यह **भगवान आत्मा तो सदा ही अति निर्मल चैतन्यमात्र स्वभावरूप से...** यह तो चैतन्यमात्र, जानना-देखना स्वभाव, जानना-जानना ज्ञातादृष्टा स्वभाव ऐसा मात्र, मात्र अर्थात् ज्ञातादृष्टापना ही उसका सब स्वरूप है। आहाहा! जैसे स्फटिक निर्मल है, वैसे यह भगवान आत्मा सदा अति निर्मलानन्द चैतन्यमात्र वस्तु है। आहाहा!

स्वयं अपने को जाने नहीं और पर को जानने की चतुराई की बातें कर-करके मर गया। आहाहा! भगवान आत्मा तो, भाषा देखी? आचार्य तो 'भगवान आत्मा' ऐसा बुलाते हैं। तेरा आत्मा, वह भगवान आत्मा है। आहाहा! भाई! तू सदा ही निर्मल, अति निर्मल। अकेला निर्मल नहीं, अति निर्मलानन्द प्रभु, आहाहा! शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द प्रभु आत्मा। अभी, हों! तीनों काल। आहाहा! अति निर्मल चैतन्यमात्र स्वभावरूप से ज्ञायक होने से, यह तो जानने-देखनेवाला प्रभु है। आहाहा! उसमें राग, पुण्य और पाप वह वस्तु में है ही नहीं। वह तो मलिनरूप दशा में आये, उन्हें तू अपना माने, मर जाएगा, चौरासी के अवतार में भटक मरेगा। आहाहा!

ज्ञायक होने से अत्यन्त शुचि है,... अत्यन्त शुचि ही है... वे पुण्य और पाप के भाव अत्यन्त अशुचि, आया न? यह अत्यन्त शुचि है, ऐसा लेना। समझ में आया? 'निर्मल है' भगवान तो अन्दर निर्मल है। **पवित्र ही है, उज्ज्वल ही है।** आहाहा! उसे अन्दर में राग से भिन्न करके इसका (आत्मा का) अनुभव करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान और धर्म है। बाकी सब थोथा है। आहाहा! यह राग के परिणाम जो हैं, वे अशुचि, आस्रव, मैल। उनसे (भिन्न) अति निर्मलानन्द प्रभु ऐसा उसका अन्दर आश्रय लेकर निर्मल का अनुभव करना, उसे यहाँ जैनधर्म और मोक्ष का मार्ग कहते हैं। उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र उसे कहते हैं। आहाहा!

यह बहुत अन्तर परन्तु बात-बात में अन्तर। वे लोग कहते हैं न? 'आणंदा कहे परमानन्दा, माणसे माणसे फेर, एक लाखे तो न मणे ने एक त्राम्बियाना तेर' इसी प्रकार भगवान को और जगत की वाणी को बात-बात में अन्तर है। अरे रे! यह तो अति निर्मल,

अत्यन्त शुचि है, यह दो बोल लिये। अर्थात् क्या ? कि राग है, वह दुःख है, मैल है, अशुचि है; यह प्रभु अन्दर शुचि है–ऐसा जिसने भेदज्ञान किया, उसे सम्यग्ज्ञान हुआ। उस सम्यग्ज्ञान से उसे बन्ध–कर्म का बन्धन रुक जाता है। ऐसा एक बोल कहा।

दूसरा—**आस्रवों के...** यह पुण्य और पाप के भाव जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, वैयावृत्य, आहाहा! भगवान का स्मरण स्तुति, यह भाव आस्रव है। इन **आस्रवों के जड़स्वभावत्व होने से...** आहाहा! शान्ति से (समझना)। यह राग है, वह आस्रव है, वह जड़ है। क्योंकि देखो! क्योंकि **जड़स्वभाववत्व होने से वे दूसरे के द्वारा जाननेयोग्य है...** राग स्वयं क्या है, वह राग नहीं जानता, राग तो अजीव है, अचेतन है। आहाहा! उसमें चैतन्य प्रभु का अंश नहीं है। आहाहा! जिस भाव से पुण्य बँधे—ऐसा भाव, वह जड़ है, कहते हैं। क्योंकि वह स्वयं दूसरे के द्वारा जानने में आता है। स्वयं के द्वारा स्वयं जान नहीं सकता राग। आहाहा! **आस्रवों के जड़स्वभावत्व होने से वे दूसरे के द्वारा जाननेयोग्य है...** वे चैतन्यस्वभाव द्वारा जाननेयोग्य है। वे स्वयं अपने को नहीं जानते कि मैं यह राग हूँ। आहाहा! समझ में आया ?

(क्योंकि जो जड़ हो वह अपने को और पर को नहीं जानता)। राग अपने को नहीं जानता तथा राग साथ में चैतन्य भगवान है, उसे वह राग नहीं जानता तथा राग द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। बहुत अन्तर, बहुत अन्तर। यहाँ दया, दान, व्रत, पूजा के भाव को यहाँ भगवान कहते हैं कि वह राग है और राग है, वह जड़ है; यह (आत्मा) चैतन्य के नूर का पूर जो भगवान आत्मा, उसका एक अंश उसमें (राग में) नहीं है, वह तो अचेतन अंश है। आहाहा! दूसरे के द्वारा जाननेयोग्य है। **(क्योंकि जो जड़ होता है, वह अपने को और पर को नहीं जानता। उसे दूसरा ही जानता है।)** आहाहा!

इसलिए वे चैतन्य से अन्य स्वभाववाले हैं... क्या कहा यह ? विकल्प जो उठा है दया, दान, व्रत, राग, वह चैतन्यस्वभाव से ज्ञात हो ऐसा है। है ? वे चैतन्य से अन्य स्वभाववाले हैं, इसलिए वे चैतन्य नहीं है। आहाहा! यह टीका! वह राग अपने को और पर को नहीं जानता, इसलिए वह राग जो क्रिया दया, दान, व्रत के परिणाम, वे चैतन्य से अन्य स्वभाववाले हैं। चैतन्य का स्वभाव जानना–देखना, इससे अन्य स्वभाववाले और

जड़ हैं, वह तो। सुना जाए नहीं, उसमें सम्प्रदाय के आग्रह में पड़े हों उन्हें तो। वस्तु कोई निराली है। भगवान सर्वज्ञ कहते हैं कि उसे तो रुचि से इसने सुना नहीं। आहाहा! इसलिए वह पर है। आहाहा! ...

भगवान आत्मा तो... अब इसके सामने लेते हैं। देखा! वापस भगवान आत्मा तो... जब पुण्य और पापभाव जड़ हैं, चैतन्यस्वभाव से अन्य स्वभाववाले हैं, तब भगवान आत्मा कैसा है? आहाहा! **अपने को सदा विज्ञानघन स्वभावपना होने से...** आहाहा! प्रभु आत्मा तो सदा ही, अपने को सदा विज्ञानघन स्वभाव, वह तो विज्ञानघन स्वभाव, वह तो घन स्वभाव, उसमें विकल्प का प्रवेश नहीं। आस्रव का, जो रागादि है, उस वस्तु में प्रवेश नहीं। विज्ञानघन स्वभाव भगवान आत्मा अन्दर विराजता है। अरे रे! आहाहा!

वह तो सदा और अपने को सदा विज्ञानघन, घन, आहाहा! पहले का घी ऐसा होता था घी, अब तो सब गड़बड़ हो गया है। परन्तु पहले के पचास-साठ वर्ष पहले के भैंस की घी ऐसा होता था कि चपटी कलछी प्रवेश करना मुश्किल पड़े। अँगुली तो कैसे प्रवेश करे? अरे! निकले वह फाँस लगे, ऐसा घी था, साठ वर्ष पहले, फाँस लगे, फिर छह महीने उसका दु:ख। उसमें अँगुली प्रवेश करे नहीं, वैसे यह भगवान विज्ञानघन प्रभु में यह दया, दान का विकल्प प्रवेश नहीं कर सकता घन में। आहाहा! अब ऐसी बातें, यह तो क्या जैन वीतराग की ऐसी बातें होंगी?

भाई! हम तो जैनमार्ग में तो दया पालो और व्रत करो, अपवास करो और रात्रिभोजन नहीं करो, ऐसा सुनते हैं। छह परबी दया पालो, ब्रह्मचर्य पालो, ऐसा तो सुना। अरे प्रभु! सुन न अब, सुना है और खबर नहीं हमें? उन मन्दिरमार्गी में तो भक्ति करो और पूजा करो, यात्रा करो। अरे भाई! बापू! यह तो सब राग की क्रिया है। उसे आत्मज्ञान हो और आत्मज्ञान होने पर उसे सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्दर्शन होने पर उसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का जो बन्ध है, वह अटक जाए। इतना बन्ध उसे हो नहीं, इसलिए निराला अकेला हो जाए। विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १५०, गाथा-७२ दिनांक ३०-११-१९७८, गुरुवार, कार्तिक कृष्ण अमावस्या

समयसार, गाथा ७२। दो बोल चले हैं।

क्या दो चले? कि जैसे आत्मा में... (पानी में) शैवाल है, वह मल है, वह मैल है; उसी प्रकार पुण्य और पाप के भाव जो आस्रव है, वह मल है, मैलरूप से अनुभव में आते हैं। यह भगवान आत्मा निर्मलानन्द प्रभु शुद्ध आनन्दघन है, वह आस्रव से भिन्न है। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव हों, वह भाव आस्रव है, वह अशुचि है, वह अपवित्र है, मल और मैलरूप अनुभव में आते हैं। भगवान आत्मा... आहाहा! सदा अति निर्मल है, वह आस्रवतत्त्व से भिन्न, सदा अति निर्मलानन्द प्रभु, चैतन्यमात्र स्वभाव से ज्ञायक है। उसमें आस्रव है नहीं, वह आस्रव से भिन्न है। एक बोल हुआ।

दूसरा बोल—वह आस्रव जो है शुभ-अशुभभाव, वह जड़ है क्योंकि वह स्वयं अपने को जानते नहीं और दूसरे के द्वारा ज्ञात होते हैं, इसलिए वे दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम को यहाँ जड़ कहा है। आहाहा! भगवान आत्मा विज्ञानघन है। विज्ञानघन स्वभाव होने से स्वयं चेतक है। अपने को जाने और राग को वह जाने। आस्रव का जो राग है वह नहीं जानता अपने को, नहीं जानता पर को। पर द्वारा जानने में आता है, इसलिए जड़ है। आहाहा! दो बोल तो कल हो गये।

अब तीसरा बोल—**आस्रव...** भगवान आत्मा तो आनन्दस्वरूप है, उसमें जो यह पुण्य-पाप के भाव वह आकुलता के उपजानेवाले हैं। आहाहा! यह शुभ और अशुभभाव **आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिए दुःख के कारण हैं।** आहाहा! यह शुभ-अशुभभाव, हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना का भाव या दया, दान, पूजा, भक्ति का भाव, वह आकुलता को उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिए वे दुःख के कारण हैं, आहाहा! वे दुःख के कारण हैं। आहाहा! और भगवान आत्मा, तीसरा बोल है। आहाहा! भगवान आत्मा, ऐसा कहकर बुलाया है प्रभु को, आहाहा! भग अर्थात् आनन्द और ज्ञान आदि लक्ष्मी का वान—उसका रूप है। ऐसा जो यह भगवान आत्मा, द्रव्यस्वरूप है। आहाहा!

भगवान आत्मा तो सदा ही निराकुल स्वभाव के कारण... उसका स्वभाव तो

सदा ही निराकुल स्वभाव, अतीन्द्रिय आनन्द स्वभाव। आहाहा! इस कारण से, आहाहा! इस कारण-ऐसा है न? **स्वभाव के कारण किसी का कार्य तथा किसी का कारण नहीं होने से दुःख का अकारण है...** यह शुभ और अशुभभाव, आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी दुःखरूप है, कहते हैं। आहाहा! आकुलता का उत्पन्न करनेवाला है। तब भगवान आत्मा निराकुलता स्वभाव के कारण, आनन्द के स्वभाव के कारण, आहाहा! किसी का कार्य नहीं है। अर्थात्? कि उसे द्रव्य-गुण और पर्याय, द्रव्य आनन्द, गुण आनन्द और पर्याय आनन्द, उसके आनन्द की पर्याय किसी का कार्य नहीं है। अर्थात् कि व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह कारण और आत्मा की आनन्द पर्याय कार्य, ऐसा नहीं है। ऐसी बातें हैं। समझ में आया? ऐसा इसे भेदज्ञान करना पड़ेगा। आहाहा!

यह भगवान आत्मा अनाकुल आनन्दस्वभाव के कारण वह किसी का कार्य नहीं है। वह द्रव्य, गुण कार्य नहीं है, परन्तु उसकी पर्याय भी किसी का कार्य नहीं है। क्योंकि वह भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप, उसका जहाँ दृष्टि में स्वीकार होने पर आनन्द की पर्यायरूप हो, वह कार्य, आनन्दरूपी आत्मा का वह कार्य है। वह आनन्द की, धर्म की, सम्यग्दर्शन-ज्ञान की पर्याय, वह राग का कार्य नहीं है। आहाहा! राग है, वह आकुलता है, तब प्रभु आत्मा है वह अनाकुलता है। दोनों के लक्षण ही अत्यन्त भिन्न हैं। आहाहा! इसलिए जो कुछ दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, नामस्मरण, पंच परमेष्ठी का स्मरण आदि जो भाव, वह सब राग और आकुलता का कारण है। आहाहा!

तब भगवान आत्मा अनाकुल आनन्दस्वरूप होने के कारण, उस राग की मन्दता का वह कार्य नहीं, उसकी धर्म पर्याय; द्रव्य-गुण तो नहीं, परन्तु उसकी धर्म पर्याय आनन्द की (पर्याय), वह राग का-व्यवहार राग कषाय मन्द वह कारण और आनन्द की पर्याय कार्य—ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें। **तथा किसी का कारण नहीं है...** भगवान आत्मा अनाकुल आनन्दस्वरूप की दृष्टि करने से वह आनन्द की पर्याय का कारण है, परन्तु वह राग का कारण नहीं है। आनन्द की पर्याय के कार्य का द्रव्य कारण है। आहाहा! अर्थात्? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय, उसका कारण द्रव्य वस्तु, कारणपरमात्मा स्वयं कारण है, परन्तु उसका कारण राग और पर्याय की मन्दता, वह

उसका कारण नहीं है। आहाहा! तथा उस आनन्द की पर्याय आत्मा अनाकुल आनन्दस्वरूप का जहाँ भान हुआ तो उसकी पर्याय आनन्द की, वह राग का कारण नहीं। आहाहा! जैसे वह राग आकुलता, वह आनन्द की पर्याय का कारण नहीं, उसी प्रकार आनन्द की पर्याय राग का कारण नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

प्रभु में अनन्त-अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुण में एक-एक गुण का अनन्त का रूप है। उसमें राग का रूप नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा अनन्त गुणस्वरूप प्रभु, आहाहा! वह स्वयं अपने एक-एक गुण में, अनन्त-अनन्त गुण में उसका रूप है, परन्तु उसमें राग का रूप नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा एक समय में अनन्त-अनन्त गुण का सागर प्रभु, वे अनन्त गुण हैं, उतनी संख्या से अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... का पार नहीं, वे सब गुण, उसके एक-एक गुण में उसका रूप है, जैसे कि आत्मा में ज्ञानगुण है और एक अस्तित्वगुण है, तो अस्तित्वगुण ज्ञानगुण में नहीं है। एक गुण दूसरे में नहीं है, परन्तु एक गुण का रूप उसमें है। अर्थात् ज्ञानगुण अस्तित्वरूप है, वह अस्तित्व का रूप है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। परन्तु उसमें कोई राग, व्यवहार दया, दान, व्रत आदि का राग, वह उसका गुण नहीं, इसलिए उसका रूप उसके किसी गुण में नहीं है। आहाहा! इसलिए वह राग का कारण नहीं तथा राग का वह कार्य नहीं। आहाहा! अरे! ऐसा भगवान आत्मा (अन्दर विराजता है)। पहले कहा था। बहुत विचार किये, बहुत, परन्तु सर्वदर्शी और सर्वज्ञशक्ति का अनन्त गुण में रूप है, किस प्रकार? अगम्य बात हो पड़ती है। आहाहा! समझ में आया?

अनन्त भगवान के अनन्त गुण—स्वभाव-धर्म वह एक-एक गुण में अनन्त गुण का रूप है, अब उसमें अस्तित्वगुण में सर्वदर्शी और सर्वज्ञ का रूप, कोई अजब प्याला है। आहाहा! भगवान आत्मा में ज्ञानगुण है, परन्तु उसमें अस्तित्वगुण जो है, वह उसमें नहीं, तथापि अस्तित्व का रूप है अर्थात् कि ज्ञान स्वयं है अस्तित्वरूप से। वह स्वयं के कारण अस्तित्व है, वह अस्तित्वगुण के कारण अस्तित्व नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह तो अजर प्याला है, बापू! वीतराग का मार्ग आत्मा, आहाहा! अर्थात्? कि चाहे जितनी राग की मन्दता का भाव हो, तथापि उसका वह कारण आत्मा का द्रव्य, गुण और

पर्याय उसका कारण नहीं। तीनों, हों! एक द्रव्य-गुण नहीं, हों! समझ में आया? तथा वह राग का कार्य नहीं। द्रव्य-गुण-पर्याय। द्रव्य-गुण तो राग का कार्य भले न हो, वह तो शाश्वत चीज़ है, परन्तु उसकी जो परिणति धर्म की हुई, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय हुई, उसका वह राग कारण नहीं। अब यह अभी बड़ा विवाद है। पण्डितजी! आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय कारण-साधक, निश्चय साध्य है, ऐसा (लोग) कहते हैं। अरे भाई! यह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। यहाँ तो यह स्पष्ट बात है।

प्रभु! अनन्त गुण की प्रभुता से भरपूर प्रभु में एक प्रभुत्व नाम का गुण है प्रभु में, तो उसके अनन्त गुण में उसकी प्रभुता का रूप है। आहाहा! उसका ज्ञानगुण प्रभु, दर्शनगुण प्रभु, चारित्रगुण प्रभु, अस्तित्वगुण प्रभु, प्रमेयत्वगुण प्रभु। आहाहा! ऐसे अनन्त गुणों में प्रभुत्व का रूप शक्ति है, परन्तु उसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं कि राग का कारण हो। भारी कठिन! उसमें कोई ऐसा गुण नहीं कि राग का कारण हो तथा वह राग का कार्य हो, ऐसी उसमें शक्ति नहीं है। राग कारण और धर्म की पर्याय कार्य, ऐसा है नहीं। आहाहा! अब ऐसा इसे निर्णय करना पड़ेगा, प्रभु! आहाहा!

पूरे दिन व्यवसाय... व्यवसाय पाप का धन्धा, उसमें रचपच कर घुस गया है। उसमें पुण्य के शुभभाव का अवसर भी थोड़ा सुनना कि...

मुमुक्षु : उसमें समझ में नहीं आता, आप क्या कहना चाहते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहा कि बनिये को व्यापार-धन्धे के कारण पुण्य की भी निवृत्ति नहीं मिलती, पूरे दिन यह किया और यह किया यह स्त्री, पुत्र सम्हाले, धन्धा और ग्राहक सम्हाले और यह दिया और ऐसा दिया और यह एक दिन में दो हजार की आमदनी हुई न, आहाहा! ऐसा पूरे दिन बाईस घण्टे पाप।

मुमुक्षु : पाप की आमदनी हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप की आमदनी है। भाई! परन्तु यह पाप के भाव कोई आत्मा में गुण है और उसके कारण हुए हैं, ऐसा नहीं है। यह तो पर्याय में इसने खड़े किये हैं, आहाहा! और वापस उनसे निवृत्त नहीं होता। निवृत्त होवे तो एकाध घण्टे सुनने या दर्शन-देवदर्शन और एकाध घण्टे यह शुभभाव। ऐरण की चोरी और सुई का दान। आहाहा!

भगवान! तेरा त्रिकाली स्वरूप ऐसा है, उसकी दृष्टि हुए बिना इसे धर्म की पर्याय नहीं प्रगट होगी। यह शुभ-अशुभभाव तो दु:खरूप है, यह बहुत कषाय की मन्दता के शुभभाव किये, उससे इसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! देखो, यह वीतरागमार्ग! आहाहा! जिनेश्वर त्रिलोकनाथ। आहाहा! रात्रि में तो कहा था न, यह वीतराग के ऊपर से कहा था। आत्मा में अनन्त गुण हैं, वे सब वीतरागभाव से सब हैं। आहाहा! जीवत्वशक्ति, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, उन सब में वीतरागता भरी है। आहाहा! उनमें राग नहीं भरा है, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? आहाहा! वह राग का कार्य नहीं, तथा राग का वह कारण नहीं। आहाहा! क्योंकि वह वस्तु भगवान आत्मा जितने अनन्त अमाप... अमाप... अमाप... गुणों की संख्या बिना का अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त को अनन्तगुणा कर डालो तो भी पार नहीं, इतने गुण उसमें है। वे सब गुण वीतरागस्वभाव से है। आहाहा! वे वीतरागस्वभावी गुण, उनका धारक भगवान वीतरागी आत्मा। आहाहा! उस वीतरागी पर्याय का कारण द्रव्य है, परन्तु वह राग का कारण नहीं, तथा राग का, वह वीतरागी धर्म की पर्याय राग का कार्य नहीं। आहाहा! निवृत्ति नहीं मिलती, दुनिया में रचपच गया। अरे रे! इसे जन्म-मरण के अन्त का अवसर इस स्थिति बिना आवे, ऐसा नहीं है प्रभु! आहाहा!

अनन्त-अनन्त संख्या का पार नहीं, इतने-इतने गुण आत्मा में। यहाँ तो विचार यह आया था वीतराग हुआ, सब वे वीतरागी स्वभाव, उसमें से हुआ है। वे सब अनन्त गुण वीतरागस्वभाव से है। आहाहा! ऐसा जो वीतरागस्वभाव अनाकुल आनन्दस्वभाव ऐसा जो भगवान आत्मा, वह राग जो आकुलता है, उसका यह कारण नहीं है। (राग) अध्धर से उत्पन्न होता है, पर्यायबुद्धि से, आहाहा! यह तो कहा था न एक बार कि जो विकार होता है, ऐसे अनन्त-अनन्त गुण में से कोई ऐसा गुण नहीं कि जो विकार का कारण हो, आहाहा! इसी प्रकार पुद्गल में भी अनन्त परमाणुओं में ऐसा कोई गुण नहीं कि कर्म की विकारी अवस्थारूप हो। कर्म की अवस्थारूप हो, ऐसा कोई परमाणु में गुण नहीं है, परन्तु वह पर्याय में ही विकृत अवस्था हो, ऐसा उसका भाव है। आहाहा!

इसी प्रकार भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का प्रभु, ऐसा कोई गुण नहीं कि व्रत के परिणाम का कारण हो। आहाहा! व्रत अर्थात् आस्रव। उसका कोई अनन्त-अनन्त

(गुण का) माप नहीं, जैसे अलोक का अन्त नहीं कि कहाँ अलोक पूरा हुआ? आहाहा! चारों ओर अलोक; लोक तो पूरा हुआ असंख्य योजन में, पश्चात् अलोक कहाँ पूरा हुआ? उसका जहाँ अन्त नहीं, उसी प्रकार भगवान के अनन्त गुणों में अन्तिम अनन्त इस अनन्तानन्त में से अन्तिम अनन्त यह, (ऐसा) अन्त नहीं है। आहाहा! ऐसे अनन्त गुण में से, कोई एक भी गुण ऐसा नहीं कि राग को करे। आहाहा! अज्ञानी निमित्त के वश होकर पर्याय में विकार को करता है। आहाहा! उस विकार की दशा का कारण आत्मद्रव्य नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग है। आहाहा!

लोग कहीं न कहीं उलझ पड़े हैं। आहाहा! वह राग का कारण तो नहीं परन्तु उसके अनन्त गुण जो निर्मल है, उसका कार्य तो निर्मल है, वह राग का कार्य नहीं। समझ में आया? आहाहा! जैसे वह राग का कारण नहीं, वैसे राग का वह कार्य नहीं। आहाहा! क्या बात करते हैं!

पर्यायबुद्धि में निमित्ताधीन होकर, अध्धर से विकृत अवस्था खड़ी करता है यह। आहाहा! उस अवस्था का कारण वह द्रव्यस्वभाव नहीं है। आहाहा! है? भगवान आत्मा... भगवानरूप से तो बुलाया है। आहाहा! पामर को प्रभुरूप से पुकारा है। पर्याय में पामर, परन्तु वस्तु में प्रभु है, प्रभु! आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, तीन जगह आया, भगवान... भगवान... भगवान। **सदा ही निराकुल,...** तीनों काल, आहाहा! जैसे आदि और अन्त बिना का तत्त्व है, वैसे आदि और अन्त बिना का उसका निराकुल स्वभाव है। आहाहा! और वस्तु स्वयं अनादि-अनन्त है, ऐसा उसका अनाकुल गुण भी अनादि-अनन्त है। आहाहा! ऐसे **सदा ही...** सदा ही है न! **निराकुल स्वभाव के कारण...** आहाहा!

क्या आचार्यों ने दिगम्बर सन्तों ने काम किया जगत का! केवलज्ञान के पथानुगामी केवली की बात ऐसी सरल शब्दों में रख दी है। आहाहा! उस समय उनकी दशा आनन्द में रमते थे, यह विकल्प आया तो कहते हैं कि इस विकल्प का कारण हम नहीं हैं तथा विकल्प के कारण से हमारा यह कार्य ज्ञान-आनन्द का है, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह किसी का कार्य नहीं अर्थात् कि कोई देव, गुरु और शास्त्र की कृपा से वह आत्मा का कार्य हो, ऐसा नहीं है। उनके कारण से यहाँ कार्य हो, ऐसा नहीं है तथा किसी के कार्य का स्वयं कारण है, ऐसा नहीं है। आहाहा! किसी का कार्य नहीं—किसी का कार्य नहीं, तथा किसी

का कारण नहीं। आहाहा! कितना समाहित किया है! अकार्यकारण नाम का गुण ४७ (शक्ति) में आता है न? अकार्यकारण... उसमें अकार्यकारण नाम का गुण प्रभु में है, तो उसके ज्ञानगुण में भी अकार्यकारण का रूप है, कि जिससे वह राग का कार्य नहीं, और राग का ज्ञान पर्याय कार्य नहीं। राग का कारण और कार्य नहीं तथा राग का कार्य स्वयं राग का कारण नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो वीतरागमार्ग है। आहाहा!

जिसके इन्द्र एकावतारी देव जिनके पास पिल्ले की भाँति सुनने बैठे, वह चीज़ कैसी होगी, बापू! आहाहा! बत्तीस लाख विमान का स्वामी इन्द्र शकेन्द्र, एकावतारी—एक भव में मोक्ष जानेवाला है, वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाला है। भगवान की वाणी सुने जब समवसरण में, आहाहा! वह वाणी कैसी होगी? आहाहा! वह वाणी यह है। आहाहा! भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वाणी है, उसे सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं। प्रभु! तू कौन है? तू अनन्त-अनन्त पवित्र गुण का पिण्ड है। तेरा कोई गुण राग को करे, ऐसा तेरा कोई गुण नहीं, तथा कोई गुण राग का कारण हो, ऐसा नहीं है। राग का कार्य हो, वह तो नहीं परन्तु राग का कारण हो, ऐसा गुण ही नहीं है। आहाहा! **दुःख का अकारण ही है...** प्रभु तो आस्रव के दुःख का अकारण है। आहाहा! ऐसा है।

शुभ-अशुभभाव जीव की पर्याय में होते हैं, कहीं जड़ में नहीं होते, तथापि वह वस्तु भगवान आत्मा उन पुण्य-पाप के आस्रव का कारण नहीं है। आहाहा! है? दुःख का अकारण ही है, दुःख अर्थात् आस्रव। आहाहा! अरे रे! लोगों ने वीतराग का मार्ग कुछ का कुछ कर डाला। मार्ग क्या है, उन्हें सुनने को मिलता नहीं। वे कब समझें और कब जायें। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, यह शुभ और अशुभभाव का भगवान कारण नहीं है, अकारण है। समझ में आया? वह आत्मा की पर्याय में होते दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, वह दुःख है, उस दुःख का भगवान आत्मा अकारण है। अरे रे! ऐसी बातें! अरे रे! है? आहाहा!

पर्याय में जो कुछ शुभ-अशुभभाव होता है, वह दुःखरूप है। चाहे तो तीर्थंकरगोत्र बँधे जिस भाव से, वह भाव दुःखरूप है, राग है, आकुलता है। प्रभु तो ऐसा कहते हैं, उसका भी कारण आत्मा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस भाव का कारण आत्मा नहीं है। अरे रे! आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग है। सर्वज्ञ वीतराग जिनेश्वर ऐसा फरमाते हैं, उसे सन्त—दिगम्बर सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं।

आहाहा! कि जिस भाव से व्रत हो व्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य (और अपरिग्रह), ऐसे पाँच महाव्रत, वह विकल्प है, वह राग है, वह आस्रव है, वह दुःख है। अररर! यह बात! यह व्रत के परिणाम, वह आस्रव दुःख है, उनका आत्मा कारण नहीं है। है या नहीं अन्दर? वस्तु कहाँ बेचारे लोगों को बेचारों को कुछ खबर नहीं होती। क्या चीज़ है, सुनने में भी मिलती नहीं। आहाहा!

यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य, परमात्मा—भगवान के पास गये थे, आठ दिन रहे थे, वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये। शास्त्र बनाया, उसमें यह बात आयी है। आहाहा! कि यहाँ जो व्रत का विकल्प उठे, आहाहा! पंच महाव्रत का विकल्प अर्थात् राग उठे, वह दुःख है, आस्रव है, उसका आत्मा कारण नहीं है। आहाहा! क्या कहते हैं? सुना जाये ऐसा नहीं साधारण लोगों को बेचारों को। जैनधर्म क्या है, यह सुना नहीं। अजैन को जैनपना मानकर सब जिन्दगी बिताते हैं। आहाहा!

यहाँ परमात्मा जिनेश्वरदेव ने कहा हुआ इन कुन्दकुन्दाचार्य के (शब्द हैं)। एक हजार वर्ष पहले के अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त की यह टीका है। गजब है! क्या कहा यहाँ? **दुःख का अकारण ही है...** अर्थात्? आहाहा! यह व्रत के परिणाम, तीर्थंकरगोत्र बाँधने के परिणाम, वे सब आस्रव हैं और वह दुःखरूप है, उसका अकारण—भगवान आत्मा कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? है या नहीं अन्दर? उसकी क्या बात करना प्रभु! आहाहा! जिसकी गम्भीरता का पार नहीं, उसकी एक-एक लाईन एक-एक गाथा... गजब बात है, प्रभु! यह क्या कहते हैं, देखो न! अमृतचन्द्राचार्य महाराज दिगम्बर सन्त, वे कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा की टीका करते हैं, कि इस गाथा में ऐसा भरा है। आहाहा!

एक बार सम्मेदशिखर में यह बोल एक घण्टे चला था, सम्मेदशिखर यात्रा गये थे न! यह बोल एक घण्टे चला था। बेचारे अनजाने लोग, सुना हुआ न हो। बस यह यात्रा करना और भक्ति करना, पूजा करना, वह धर्म, ऐसा मानकर पड़े हों बेचारे। उसमें यहाँ कहते हैं कि यह पूजा, भक्ति और महाव्रत का भाव, वह आस्रव है, वह दुःख है, उस दुःख का कारण आत्मा नहीं है। आत्मा तो अनाकुल आनन्दस्वरूप है, आनन्दस्वरूप वह दुःख का कारण कैसे होगा? आहाहा!

मुमुक्षु : ...दु:ख लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दु:ख की खबर नहीं, उसे दु:ख क्या? वह तो उसका स्वरूप ही ऐसा है। ज्ञानी जाने, तब उसे ऐसा लगे, धर्मी जानता है तब राग वह आस्रव है और दु:ख है। उसका कारण मेरा प्रभु आत्मा उसका कारण नहीं। अध्धर से विकृतदशा उत्पन्न हुई है। आहाहा! यह इसमें तो बहुत समाहित कर दिया है। अभी यह कारण-कार्य का झगड़ा चलता है न? व्यवहार कारण और निश्चय कार्य; व्यवहार साधन और निश्चय साध्य, इन सबका स्पष्टीकरण इसमें आ जाता है। आहाहा! एक बोल में तो सब पूरा स्पष्टीकरण है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि तू जिसे व्यवहार साधन कहता है, वह तो राग आकुलता और दु:ख है। अररर! वह दु:ख कारण और आत्मा की निर्मलदशा कार्य! बड़ा झगड़ा उठता है। सोनगढ़ का एकान्त है, ऐसा (वे लोग) कहते हैं। कहो, प्रभु कहो! आहाहा! यहाँ तो इस एक ही लाईन में... आहाहा! तू अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु सर्वज्ञ वीतराग ने देखा, केवली जिनेश्वर वीतराग, वह अनन्त गुण अनाकुलस्वरूप है सभी गुण। आहाहा! जब ऐसा लें कि सुख यह है, सुख-सुख तो प्रत्येक गुण में सुख का रूप है। आहाहा! ऐसा जो अनाकुल सुख का सागर भगवान आत्मा, वह राग जो दया, दान, व्रत, भक्ति का राग, उसका वह भगवान कारण नहीं। आहाहा! सुनना कठिन पड़ता है। सुना न हो जैन के धर्म में आकर। हम स्थानकवासी हैं, हम मन्दिरमार्गी हैं, हम जैन हैं, बापू! यह जैनपना अलौकिक बात है। जैन कोई सम्प्रदाय नहीं। जैन तो वस्तु का स्वरूप है। यह कहा न अनाकुलस्वरूप, वह जिनस्वरूप है। आहाहा!

भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण, वे सब वीतरागस्वरूप गुण हैं, इसलिए भगवान आत्मा जिनस्वरूप है। आहाहा! उसका एक अस्तित्वगुण, जीवत्वगुण, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्यगुण प्रत्येक गुण वीतरागस्वभाव से भरपूर है, और इसलिए उसे 'जिन सो ही आत्मा' 'घट-घट अन्तर जिन बसे', घट-घट अन्तर में जिन अनाकुल आनन्द और अनाकुल स्वभाव वीतरागस्वभाव का पिण्ड आत्मा घट-घट में बसता है प्रभु! आहाहा! ऐसा जो अनाकुल वीतरागी स्वभाव आत्मा, वह राग का कार्य नहीं। वीतरागदशा, वह राग का कार्य कैसे होगी? वीतरागी गुण, वीतरागी द्रव्य और वीतरागी

पर्याय। आहाहा! कि वीतरागी गुण है, वह तीनों में व्यापता है। ऐसी जो वीतरागी शक्ति का सागर भगवान, उसकी जो वीतरागी निर्दोष धर्म पर्याय, वह राग का कारण नहीं, आहाहा! तथा वह राग का कार्य नहीं। इस प्रकार ऐसे अनाकुल अनन्त वीतरागी गुण से राग उत्पन्न नहीं होता, तथा उन गुण की पर्याय राग से उत्पन्न नहीं होती। आहाहा! **अर्थात् दुःख का कारण नहीं है।** यह एक बोल, इसमें पौन घण्टा गया, ऐसा, लो। आहाहा! ऐसी बात है।

यह तो भगवान जिनेश्वरदेव की वाणी है, भाई! परमात्मा त्रिलोकनाथ... आहाहा! तुझे यदि धर्म करना हो तो, अनाकुल गुण से भरपूर द्रव्य है, उसकी दृष्टि कर, ऐसा कहते हैं। आहाहा! और उस दृष्टि का कारण तो अनाकुल द्रव्य है, उस दृष्टि का कारण—'राग कारण और दृष्टि कार्य—सम्यग्दर्शन कार्य', ऐसा है नहीं। ऐसे सम्यग्ज्ञान का कारण द्रव्यस्वभाव जो अनाकुल वीतरागी स्वभाव, वह सम्यग्ज्ञान की पर्याय का कारण है। उस सम्यग्ज्ञान की पर्याय का कारण, शास्त्र का ज्ञान करना, वह कारण, उसका सम्यग्ज्ञान कार्य है—ऐसा नहीं है। अरे! अरे! ओहोहो!

मुमुक्षु : अलौकिक बातें हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलौकिक बातें हैं, बापू! इस प्रकार आत्मा के अनाकुल वीतरागी गुण हैं, उनका कारण होकर चारित्र वीतरागी पर्याय होती है, वह वीतरागी पर्याय राग का कारण नहीं, तथा वह वीतरागी चारित्र राग का कार्य नहीं। आहाहा! ऐसी बातें क्या होगी यह? जैनधर्म तो यह दया पालना, व्रत करना, भक्ति और यात्रा और दौड़ादौड़ करते हैं न? यह हो गया धर्म! धूल भी नहीं, सुन न! जहाँ धर्म के स्वभाव से भरपूर आत्मा को कारण बनावे तो उसे धर्म की पर्याय का कार्य हो, परन्तु राग को कारण बनाकर धर्म की पर्याय का कार्य हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तीन बोल हुए। आज एक बोल हुआ, कल दो बोल हुए थे न।

इस प्रकार विशेष (अन्तर) को देखकर... अर्थात्? कि राग का भाव और स्वभावभाव दोनों भिन्न हैं। वह राग चाहे तो महाव्रत का हो या भक्ति, पूजा, दान का हो, वह राग और आत्मस्वभाव दो को दो के विशेष जानकर, दो की भिन्नता जानकर, दो अत्यन्त भिन्न जाति के हैं। आहाहा!

अब इसमें महिलाओं को बेचारों को निवृत्ति नहीं मिलती। पूरे दिन पकाना और यह लड़के, और अब ऐसी बातें कान में (पड़ना मुश्किल), वह सीधा-सट्ट था सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो। अरेरे! जिन्दगी चली जाती है। ऐसी चीज़ अन्तर में जाने और पहिचाने बिना उसका परिभ्रमण मिटता नहीं, भाई! ८४ (लाख) के अवतार में घानी में पिलता है यह। आहाहा!

जहाँ यहाँ राग को दुःख कहा तो फिर संयोग हैं, वे तो निमित्त हैं, दुःख के (निमित्त हैं)। समझ में आया? अन्दर में जो पुण्य और पाप का भाव होता है, वह दुःख है, बाहर की लक्ष्मी और प्रतिकूलता, वह दुःख नहीं, वह तो दुःख का निमित्त है। आहाहा! अन्दर शरीर में छुरे की चोट लगी, वह दुःख नहीं। उसमें जो द्वेष होता है, वह दुःख है और उसमें वह तो निमित्त है, वह चीज़ तो, आहाहा! ओहोहो! कितना समाहित किया है।

अलौकिक बात है, बापू! जिनेश्वर मार्ग तीर्थंकरदेव का। अरे! वाड़ा में तो सुनने को मिले ऐसा नहीं है, बापू! वाड़ा बाँधकर बैठे रे अपना पन्थ करने को। यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का यह पन्थ है। यह तो अन्दर वीतरागी धर्मदशा... आहाहा! वीतरागी धर्मदशा जिसे धर्म कहें, वीतराग भाव को, उस दशा का कारण तो वीतरागी गुण से भरपूर द्रव्य वह कारण है। वह कारणपरमात्मा इस कार्य का कारण है। आहाहा! यह राग की क्रिया लाख, करोड़, अरब करे तो वह कारण है और अन्दर धर्म की पर्याय कार्य है, ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! कहो अजितभाई! वहाँ नैरोबी में कुछ मिले, ऐसा नहीं है। वहाँ धूल भी नहीं। पैसा है वहाँ। ऐ... भारमलभाई! आहाहा! नशा चढ़ जाए ऐसा है। आहाहा!

स्वभाव अनाकुल आनन्द और अनाकुल वीतरागस्वभाव से भरपूर अनन्त गुण की ओर का झुकाव हो जाए, वह यह वस्तु है। आहाहा! समझ में आया? इसे बाहर के कोई कारण की अपेक्षा खोजनी पड़े, यह तो आता है न? सोलहवीं गाथा-प्रवचनसार में! वह तो एक ही चारों ओर की शैली, दिगम्बर सन्त और आचार्यों की कथनशैली, चाहे जहाँ से मिलान करने जाए तो अविरोधी भाव खड़ा होता है। आहाहा!

तो इस प्रकार **इस प्रकार विशेष देखकर...** विशेष देखकर, रागादि दुःखरूप हैं,

उनका कारण आत्मा नहीं और दु:ख का वह कार्य नहीं आत्मा। आहाहा! इस प्रकार दोनों की भिन्नता देखकर, अरे रे! दो की विशेषता देखकर **अन्तर देखकर जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों का भेद जानता है...** इस प्रकार अन्तर देखकर, दोनों के स्वभाव को देखकर जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों का भेद जानता है। अनाकुल अनास्रवी प्रभु परमात्मा वीतराग मूर्ति और राग, राग और आस्रव दु:ख दोनों का भेद जानता है। 'दो' के भाव का भेद भिन्नता जानता है, तब यह आत्मा आस्रवों से, क्रोधादि आस्रवों से भेद जानता है, **उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है।** आहाहा!

जब यह आत्मा ऐसे आस्रव के भाव को और स्वभावभाव को, दोनों को भिन्न जानता है, अन्तर जानता है, उस समय... आहाहा! आत्मा और आस्रवों का भेद जानता है, **उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है।** अर्थात्? भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप, उससे विरुद्ध जो आस्रव, उनका जो प्रेम, उसका नाम क्रोध कहते हैं। आहाहा!

महाप्रभु विराजता है, उसका अनादर करके राग के प्रेम में जाता है, उसे आत्मा के प्रति क्रोध है। आहाहा! **उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है।**

मुमुक्षु : अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शुभभाव की रुचि का भाव, वह क्रोध है। यह जब दो की भिन्नता जानता है, तब उस भाव से निवृत्त होता है, आहाहा! और स्वभाव सन्मुख होता है। आहाहा! ऐसा है।

दोनों का अन्तर देखकर, जब यह आत्मा और आस्रवों का भेद, भिन्नता अन्तर देखकर पश्चात् 'दो' का विशेष, अन्तर था न? भाई! विशेष अन्तर अर्थात् विशेष और अन्तर के दो भाग किये। अर्थात् विशेष में ऐसा कहा कि जब इस प्रकार विशेष देखकर यह 'विशेष'; जब यह आत्मा और आत्मा का भेद जानता है, यह अन्तर! विशेष अन्तर। आहाहा! क्या वाणी! अकेले मन्त्र हैं। आहाहा! उसी समय स्वभाव से विरुद्ध ऐसे आस्रव का जो प्रेम था, वह क्रोध था, उससे वह निवृत्त होता है। आहाहा! अब इसकी विशेष बात कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १५१, गाथा-७२ दिनांक ०२-१२-१९७८, शनिवार, मागसर शुक्ल २

समयसार, गाथा ७२। यहाँ तक आया है पीछे, **इस प्रकार विशेष देखकर...** सरदारजी को बताओ, बताया? क्या कहते हैं? इस प्रकार अन्तर देखकर अर्थात्? पहले आ गया है कि यह आत्मा जो है, वह ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, और उसमें जो यह शुभ-अशुभभाव होता है, यह शरीर तो मिट्टी जड़ है, परन्तु अन्दर में जो कुछ हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना के भाव हों, वह पापवासना है और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का भाव हो, वह पुण्यवासना है, दोनों विकार है। दोनों नये कर्म के आने का कारण आस्रव है। जहाज में जैसे छिद्र पड़े, वैसे भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन होने पर भी, जिसकी दशा में पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव होता है, वह छिद्र है, उससे नये आवरण आते हैं, इसलिए वह आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रज्ञाब्रह्म और यह पुण्य और पाप के भाव मैल—अशुचि; प्रभु आत्मा पूर्णानन्द का शुचि—पवित्र; पुण्य और पाप के भाव जड़, क्योंकि शुभ-अशुभभाव स्वयं को नहीं जानते, चैतन्यस्वभाव द्वारा जानने में आते हैं। इसलिए वे शुभ-अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव को यहाँ जड़ कहा गया है। बहुत कठिन बात है, बापू! आहाहा! और... दो बोल हुए।

यह शुभ-अशुभभाव अशुचि-मैल; भगवान पूर्णानन्द निर्मलानन्द अति निर्मल स्वरूप भगवान आत्मा है। पुण्य-पाप भाव जड़, अचेतन स्वभाव में चैतन्य का स्वभाव उनमें अभाव, तब उनसे भिन्न भगवान विज्ञानघन आत्मा है, ज्ञान का घन है, चैतन्य का पिण्ड है। दो।

तीसरी बात। पुण्य और पाप के भाव, शुभ-अशुभ की वृत्तियाँ जो आस्रव हैं, वह दुःखरूप है। आहाहा! शरीर, वाणी, मन, वह तो पर है, जड़ है, अजीव है। वे कोई आत्मा में है नहीं परन्तु उसमें जो यह पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव होते हैं, वह आकुलता है, दुःख है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। वह अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु है। ऐसी दो के बीच की भिन्नता जानकर... सूक्ष्म बात है, भाई! जगत से अलग है। आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव,... आहाहा! चाहे तो दया के, दान का, व्रत, भक्ति, तप का,

परमात्मा के स्मरण का भाव भी राग है। वह वृत्ति का उत्थान है, वह आस्रव है, मलिन है, जड़ है, दुःख है। आहाहा! भगवान आत्मा अन्दर शुचि अर्थात् पवित्र है, चैतन्य विज्ञानघन है और अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। आहाहा! इस प्रकार दोनों के बीच की भिन्नता-भेद जानकर। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! है?

इस प्रकार भिन्नता देखकर... इसका अर्थ हुआ। यह तीन बोल कहे न? इस प्रकार दोनों की भिन्नता देखकर **जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों का भेद जानता है...** यह अन्तर हुआ, वह विशेष था। आत्मा ज्ञायक चैतन्यमूर्ति प्रभु और पुण्य-पाप के भाव अशुचि, दुःख और जड़, इन दोनों के बीच के अन्तर में अन्तर—भेद जानता है, तब दो में से भेद करके... आहाहा! आत्मा और आस्रव का भेद जाने। भाई! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! अनन्त काल में इसने आत्मज्ञान क्या चीज़ है, उसका इसने ज्ञान किया ही नहीं। अनादि से, अनादि का भगवान आत्मा तो है, वह कोई नया नहीं है। है, है और है, वह भटकता है ८४ की योनि के अवतार में। यह पुण्य और पाप के भाव आस्रव हैं, मलिन हैं, उन्हें मेरा मानता है, इसलिए यह भटक मरता है। अररर! ऐसी बातें हैं।

ऐसा जब भेद जानता है, कि मैं तो ज्ञानस्वरूप चैतन्यमूर्ति अतीन्द्रिय आनन्द, यह आस्रव जो राग भाव पुण्य-पाप के भाव, उनका मैं कारण नहीं तथा यह पुण्य के दया, दान, व्रत के परिणाम का मैं कार्य नहीं। मैं तो शुद्ध चैतन्यघन हूँ। आहाहा! जैसे गेहूँ में कंकड़ भिन्न है। बोले तब ऐसा कहे कि क्या बीनते हो? गेहूँ बीनते हैं ऐसा कहे। गेहूँ नहीं बीनते, कंकड़ बीनते हैं। गेहूँ तो बहुत हैं, वह कहाँ बीने? परन्तु भाषा ऐसी है कि गेहूँ बीनता हूँ, यह तो कंकड़ बीनता है। इसी प्रकार आत्मा में शुभ और अशुभभाव वह कंकड़ जैसे मैल हैं। आहाहा! भगवान आत्मा आनन्द का... वस्तु है न? तत्त्व है न? तत्त्व आत्मा, तत्त्व है तो वह वस्तु है तो उसमें उसका स्वभाव है। अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान उसका स्वभाव है। ऐसे स्वभाव को और इस पुण्य-पाप के विभाव आस्रव को दोनों को अन्दर में भिन्न करे। जैसे कंकड़ और गेहूँ भिन्न करते हैं। अब ऐसी बातें। जगत को निवृत्ति नहीं मिलती और ऐसी बातें। बापू! मार्ग तो यह है।

अन्दर भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु सत् अर्थात् शाश्वत्, चिद् अर्थात् ज्ञान और

आनन्द का सागर वह है, उसे यह पुण्य-पाप के भाव से भिन्न जाने, **तब वह उनसे निवृत्त होता है।** आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! जगत को समझना कठिन पड़े, कभी किया नहीं, ऐसा। यह जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों का भेद जानता है। आहाहा! यह शुभ और अशुभ जो भाव हैं, वे मलिनभाव हैं और मैं निर्मल हूँ, ऐसा दो के बीच का विशेष और भेद -अन्तर जानता है जब, **उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है।** अर्थात्? जो वस्तु आत्मा है, वह सच्चिदानन्द प्रभु आनन्दकन्द ज्ञानघन है, उसमें पुण्य और पाप के भाव का जिसे प्रेम है, उसे आत्मा के स्वभाव के प्रति अरुचि-क्रोध है।

फिर से, भगवान आत्मा वस्तु है-तत्त्व है-अस्ति-मौजूदगी चीज़ आत्मा, वह तो अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है, उसमें जो यह पुण्य और पाप के भाव होते हैं, आहाहा! वे मलिन हैं, दु:खरूप हैं, आस्रव हैं, नये आवरण का कारण हैं। इन दो के बीच का अन्तर में भेद जाने, भेद जाने, दोनों भिन्न है—ऐसा जाने। आहाहा! अब यह ऐसा मार्ग दुनिया को... तब उसी समय क्रोध अर्थात् स्वभाव का चैतन्यस्वरूप जो आनन्दकन्द प्रभु, उससे विरुद्ध जो पुण्य के भाव, उसका उसे प्रेम है, उसे आत्मा के प्रति क्रोध है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप शुद्ध ज्ञानघन का जिसे प्रेम नहीं और यह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के पुण्यभाव होते हैं, उनका जिसे प्रेम है, उसे आत्मा के प्रति द्वेष है, क्रोध है। अरे रे! और जिसे राग के परिणाम से, इन शुभ-अशुभभाव से भिन्न हूँ—ऐसा जहाँ भान हुआ, तब उनके प्रति जो प्रेम था और स्वभाव के प्रति की अरुचि और अनादर था, उस भाव से निवृत्त होता है। ऐसी क्या बात आयी।

अब कोई दया पालने का कहे, भक्ति करने का कहे तो समझ में तो आये। अब यह तो अनन्त काल से समझे, क्या है उसमें कुछ? अनन्त काल से अज्ञान कर रहा है। आहाहा! प्रज्ञाब्रह्म प्रभु, ज्ञान का सागर अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्ण ब्रह्म प्रभु, आहाहा! ऐसा वह मेरा स्वरूप है और उससे यह पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव, चाहे तो यह दया, दान, व्रत, भक्ति, भगवान की भक्ति का भाव भी राग और आस्रव है। ऐसी बात है, बापू! आहाहा! वह विकारी भाव और अविकारी चैतन्यमूर्ति प्रभु दो के बीच का जब भेद

जानकर भेद करता है, तब वह शुभ-अशुभभाव मेरे हैं, ऐसी जो मान्यता थी, उससे निवृत्त होता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

फिर से, यह आत्मा जो वस्तु है पदार्थ-तत्त्व, वह अस्तिरूप मौजूदगी चीज़ है, यह ज्ञान और आनन्द का कन्द है, पिण्ड है और उसमें जो यह हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना, काम, क्रोध के भाव और दया, दान, व्रत, भक्ति, तप का भाव, यह दोनों आस्रव हैं, मलिनभाव हैं। ऐसे मलिनभाव के लक्षण को जानकर और भगवान आत्मा निर्मलानन्द त्रिकाली शुद्ध चैतन्य है, ऐसा जानकर और दो का भेद जानकर, राग के प्रेम में जो था, वह राग के प्रेम से निवृत्त होता है। ऐसा है। दुनिया में क्या चलता है, सब खबर है। यह मार्ग कोई अलग प्रकार है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

तब यह स्वभाव के प्रति जो विरुद्धभाव था, वह विरुद्धभाव और स्वभावभाव दो की जहाँ अन्दर विभाजन और भिन्नता जानी, तब उस आत्मा से विरुद्ध जो पुण्य-पाप के भाव थे, उनसे अभिप्राय में निवृत्त होता है, श्रद्धा में निवृत्त होता है, वे मेरे थे, ऐसा जो मानता था, उनसे निवृत्त होता है। आहाहा! समझ में आया? **उन क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है।** अर्थात्? जहाँ आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, चैतन्य ब्रह्म, चैतन्य आनन्द; और यह पुण्य-पाप के भाव दुःखरूप और मलिन। शरीर, वाणी वह तो जड़ है- वह तो मिट्टी-धूल है। उससे तो कुछ सम्बन्ध है नहीं। इसमें होनेवाले दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव, वे मलिन और दुःखरूप हैं। मैं एक अनाकुल निर्मलानन्द शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसा दो के बीच भेदज्ञान हुआ, भिन्नता का भान हुआ, उस समय वह आत्मा पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं, ऐसा जो मानता था, वह उनसे निवृत्त होता है। यह ऐसी बात है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

उसी समय... भाषा है, देखा? यह तो मन्त्र हैं, यह कोई कथा नहीं है। आहाहा! आत्मा ऐसा ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला स्वभाव आत्मा और पुण्य-पाप के भाव अजान (जड़) भाव विकार दो को अन्तर में जहाँ भिन्नरूप से जानता है, उसी समय वह पुण्य-पाप के भाव से, मेरे हैं, ऐसे अभिप्राय से निवृत्त होता है। ऐसी बातें हैं। दुनिया से तो पागल जैसी लगे

ऐसी है। है न, खबर है न, दुनिया को जानते हैं न। आहाहा! समझ में आया? समझ में आया अर्थात्? समझ जाए तब तो ठीक परन्तु कहाँ किस पद्धति से कहा जाता है, वह गन्ध आती है? आहाहा! झांझरीजी! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

छिलका और दाना दोनों जहाँ भिन्न जाने तो छिलके को निकाल डाले। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु वह दाना-कस है और यह पुण्य और पाप के भाव जो उत्पन्न होते हैं, वे छिलके हैं। ये दो (हैं ऐसा) अन्दर में जब भेद ज्ञात होता है, तब उन छिलकों से निवृत्त होता है। यह पुण्य और पाप के भाव मेरे नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञानस्वरूपी सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द हूँ, ऐसी अन्तर्दृष्टि होने पर इन पुण्य और पाप के भाव से विमुख होकर उनसे निवृत्त होता है। अरे... अरे! ऐसी बातें हैं। कहो, पण्डितजी! अभी तो यह धमाल चलती है जगत में। आहाहा! हें?

मुमुक्षु : अनादि से चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि से है, अनादि से। भगवान आत्मा तो अनादि है। है, उसकी उत्पत्ति होगी? है, उसकी आदि होगी? है अन्दर आत्मा। वह तो है, वह अनादि से है। है, वह वर्तमान में है, और है वह भविष्य में भी रहनेवाला है, वह अनादि-अनन्त प्रभु आत्मा है, परन्तु उसके भान बिना, जो इसकी चीज़ में नहीं, जो इसके स्वभाव में नहीं, ऐसे पुण्य और पाप के भाव को अपना मानकर उसमें मिठास वेदकर उसके दुःख के दिन निकालता है यह। वह चार गति में इस प्रकार से भटकता है। आहाहा!

जब इसे दो के बीच का अन्तर ज्ञात होता है, बादाम का छिलका ऊपर का भिन्न और बादाम भिन्न; इसी प्रकार भगवान आत्मा बादाम की भाँति आनन्द और ज्ञान की डली मिठास का पिण्ड वह है, वह सुख का सागर है। कैसे जँचे? उस सुख के सागर की मिठास का पिण्ड प्रभु, वह पुण्य-पाप के भाव शुभ-अशुभ, वह छिलके ऊपर की छाल है। आहाहा! वह छाल है और मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा जहाँ अन्दर यथार्थ ज्ञान भेदज्ञान, वह पुण्य-पाप के भाव से मेरी चीज़ भिन्न, ऐसा भेदज्ञान होने पर, वे पुण्य-पाप के भाव अभिप्राय से मेरे थे, ऐसा माना था, उस अभिप्राय से वे मेरे (हैं, ऐसी मान्यता) छूट जाते हैं। श्रद्धा में वे मेरे हैं, यह छूट जाता है। आहाहा!

अब ऐसी बातें! यह तो मानो क्या होगा, ऐसा कैसा धर्म? बापू! हें! वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव का यह हुक्म है, जिसे आत्मा सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु है, जिसमें ज्ञानस्वभाव पूर्ण भरा है, ऐसा जिसे भान होकर दशा में सर्वज्ञदशा हुई, आहाहा! 'ज्ञ' स्वभाव, सर्वज्ञ स्वभाव स्वरूप है, प्रभु का-आत्मा का। उसे अन्तर में एकाग्र होकर जो दशा में सर्वज्ञ हुए, तीन काल-तीन लोक जिसने जाने, ऐसे सर्वज्ञ भगवान की वाणी में यह आया। इच्छा बिना वाणी की ओम् ध्वनि निकली। उसमें यह आया कि प्रभु! तू कौन है? और तुझमें यह उपाधि के भाव क्या हैं यह? शरीर, वाणी और मन तो जड़ है, भिन्न है, परन्तु अन्दर जो हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, काम-क्रोध, मान, माया, मोह, लोभ, यह वासना का भाव और दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, भगवान का स्मरण आदि का भाव, वह सब राग है, विकार है। अरेरे! इस विकारभाव से तेरी जाति, तेरी नात, तेरा स्वरूप भिन्न है। आहाहा! ऐसा जिसे अन्दर में... आहाहा!

वह कपड़े का दृष्टान्त आता है न? कि अपना कपड़ा था, वह धोबी को दिया हुआ, परन्तु वह लेने गया वहाँ वह कपड़ा नहीं आया और दूसरे का कपड़ा आ गया। यह कोट, बोटा देते हैं न? पश्चात् अन्दर में नाम लिखते हैं, पीछे में रखते हैं न 'एम' या उसका या कुछ नाम लिखते हैं, अपना नाम 'ऐसा' कि जो-जो नाम हो, वह यहाँ पीछे उसमें दूसरा आ गया कपड़ा, सो रहा था, उसमें वह मूल कपड़ेवाला आया कि भाई! यह कपड़ा तो मेरा है, तेरा नहीं, देख! तेरे कोट में तो अमुक नाम होगा। यह इसमें मेरा नाम है। ऐसा देखने पर, हाँ, यह कपड़ा मेरा नहीं है, यह कपड़ा मेरा नहीं है—ऐसा जहाँ निर्णय हुआ, वहाँ कपड़े का त्याग दृष्टि में से हो गया। भले अभी ओढ़कर पड़ा हो। समझ में आया? परन्तु अभिप्राय में से यह मेरा नहीं है, यह छूट गया, त्याग हो गया। फिर ओढ़कर भले बाद में दे दे। इसी प्रकार भगवान आत्मा सच्चिदानन्द, ज्ञानानन्द, सहजानन्द प्रभु आत्मा, वह पुण्य और पाप के भाव दूसरे के कपड़े जैसे ओढ़कर बैठा है, आहाहा! उसे धर्मात्मा ने बतलाया, भाई! यह शुभ और अशुभभाव कपड़ा, यह तेरा नहीं, यह तेरी चीज़ नहीं। आहाहा! तेरी चीज़ तो अन्दर आनन्दकन्द प्रभु ज्ञातादृष्टा जाननस्वभाव का सागर प्रभु, वह तू है; यह तो कपड़ा भिन्न चीज़ है, छोड़ दे। आहाहा! ऐसी वस्तु है।

अभी इस दुनिया में तो चलता है कि ऐसा करो, भक्ति करो, यह करो, व्रत पालन

करो, अपवास करो। अरे! प्रभु! सुन न, यह सब बातें हैं, वह सब राग की क्रिया की बातें हैं। आहाहा! अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु ज्ञान का चन्द्र शीतल छाया, शीतल स्वरूप प्रभु का, उसमें यह पुण्य और पाप के भाव विकारी अशीतल, दुःख और जहर जैसे हैं। आहाहा!

इस प्रकार दो के बीच अन्तर में दो के लक्षणों को भिन्न जानकर, दो के भाव के स्वभाव को भिन्न जानकर, पुण्य और पाप के भाव से विमुख होता है, वह अभिप्राय में यह मेरे नहीं—ऐसा निवृत्त होता है, तब उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान होता है। आहाहा! यह कहाँ? कहो अजितभाई! ऐसे उन रुपये-बुपये में कुछ सूझ पड़े ऐसा नहीं है, उसमें कुछ। अरे! यह किस प्रकार की बात! बापू! यह अन्तर की बातें हैं। भगवान! यह तेरे घर की बातें हैं, परन्तु तूने कभी सुनी नहीं। सिरपच्ची करके मर गया अनादि से। वस्तु है न अन्दर? आत्मा वस्तु है न? तो वस्तु है तो उसमें कोई अन्दर... अन्दर... अन्दर... शक्तियाँ, गुण बसे हुए है न? जैसे शक्कर है, वह वस्तु है न? तो शक्कर में मिठास और सफेदाई आदि गुण बसे हुए हैं न? इसी प्रकार भगवान आत्मा वस्तु है न? वस्तु है तो बसे हुए अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि गुण बसे हुए हैं अन्दर। आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव उसमें बसे हुए नहीं। यह अध्धर से कृत्रिम नया विकार होता है। आहाहा!

(कहते हैं कि) उनसे जब निवृत्त होता है। **क्योंकि उनसे जो निवृत्त न हो...** अब इसमें जरा विवाद है दो में। क्या कहते हैं कि जहाँ अन्दर इन शुभ-अशुभभाव को मैलरूप से जाना और निर्मलानन्द प्रभु को जाना, तब अभिप्राय-श्रद्धा में से वे मेरे हैं, यह श्रद्धा में से निवृत्त हो गया। मेरे नहीं। और श्रद्धा में से यदि निवृत्त न हो, तो उसने आस्रव को जाना ही नहीं। आस्रव को भिन्न दो को जाना ही नहीं। आहाहा! **उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है, क्योंकि उनसे जो निवृत्त नहीं है, उसे आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक (यथार्थ) भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुई।** आहाहा! क्या मन्त्र हैं अकेले! क्या कहा? आहाहा!

नाक का मैल है न गुंगा, वह गुंगा अलग चीज़ है और आत्मा अन्दर अलग चीज़ है। इसी प्रकार आत्मा में शुभ और अशुभभाव, पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव वे नाक के मैल ऐसे गुंगा है। आहाहा! एक बार यह बात हुई थी, यह तो ७५

वर्ष पहले की बात है, अभी तो शरीर को ८९ वर्ष हुए, शरीर को ८९ वर्ष हुए, ९०-९० यह वैशाख शुक्ल दूज को ९० लगेगा जन्म का, गर्भ का तो ९० चलता है, क्योंकि माता के गर्भ में आया, तब से यहाँ का आयुष्य है न ? आहाहा ! परन्तु यह तो ७५ वर्ष पहले जब स्कूल में पढ़ते थे, तब एक भावसार था। सुन्दरजी रूपा नाम का भावसार था। मित्र साथ में पढ़ते। वह ऐसा था कि नाक में से गुंगा निकालकर दाँत के नीचे ऐसे दवाबे। इतने से उसे सन्तोष न हो (तो) जीभ का टेरवा छुआवे और गुंगा का स्वाद ले। अरे ! परन्तु तू क्या करता है सुन्दरजी ? उसका नाम सुन्दरजी था। उसके पिता का नाम रूपा, भावसार थे, यह उमराला, इस देह का जन्म है न, उमराला यहाँ से ग्यारह मील, देह वहाँ का हमने उसे कहा ऐ सुन्दरजी ! यह तू क्या करता है ? और निकाल डाले, और आड़ी-टेढ़ी नजर हो, वहाँ दूसरा निकाले, दवाबे और... अरे भाई ! यह तू क्या करता है ? भाई ! मुझे आदत पड़ गयी है, ऐसा बेचारा कहता था। मुझे यह आदत पड़ गयी है। परन्तु अरे ! हम यहाँ बैठे हैं, यह बनिया के लड़के, अच्छा शरीर, उसमें तू यह गुंगा का स्वाद लेता है। इसी प्रकार यह आत्मा सुन्दर रूपा है, यह तो बना हुआ है, हों ! सुन्दरजी रूपा उसके पिता का नाम रूपा, उमराला जन्मस्थान, ग्यारह मील है न यहाँ से। तेरह वर्ष वहाँ रहे न जन्मस्थान में, नौ वर्ष दुकान पालेज, भरूच और वड़ोदरा के बीच पालेज है, वहाँ नौ वर्ष दुकान घर की थी पिताजी की, वहाँ नौ वर्ष (रहे) परन्तु यह ८० वर्ष की-७८ वर्ष पहले की बात है, तब ग्यारह वर्ष की उम्र थी। आहाहा !

यहाँ प्रभु कहते हैं कि तू सुन्दर रूपा तेरा आनन्दरूप और ज्ञानरूप प्रभु है। आहाहा ! उसमें पुण्य और पाप के गुंगा को निकालकर स्वाद लेता है, प्रभु ! तुझे शोभा नहीं देता। आहाहा ! अन्दर प्रभु तू सच्चिदानन्द प्रभु है न, भाई ! वस्तु हो, जो वस्तु हो, वह दुःखरूप नहीं हो सकती, पहला न्याय-लॉजिक समझो। जो वस्तु हो, आत्मा है वह वस्तु है, तो वह स्वयं दुःखरूप नहीं हो सकती। वस्तु हो, वह तो आनन्दरूप और ज्ञानरूप हो सकती है। ऐसी चीज़ जो अन्दर आत्मा ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु, उसे भूलकर यह पुण्य-पाप के भाव के गुंगा का स्वाद लेता है, वह भटकने के लक्षण हैं सब ८४ योनि में अवतार के कारण हैं। आहाहा !

एक बार तो छोड़। आहाहा ! अरे प्रभु ! तुझे अवसर आया मनुष्यपना मिला, सच्चा

उपदेश तुझे कान में पड़ता है। आहाहा! यह ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप प्रभु, वस्तु है-वस्तु है, तत्त्व है, उसमें जो यह पुण्य-पाप की विकृत दशायें—भाव होते हैं, वे दुःखरूप हैं। अभिप्राय में उन्हें भिन्न जानकर तथा अभिप्राय से वहाँ से विमुख हो। आहाहा! श्रद्धा से वापस मुड़, अभिप्राय से वापस मुड़। यह पुण्य-पाप के भाव दुःखरूप हैं, मेरा स्वरूप अन्दर आनन्द है। आहाहा! ऐसा है, ऐसा जहाँ जानता है, तब उन पुण्य-पाप के भाव को यहाँ क्रोध कहा है, उनसे निवृत्त होता है। आहाहा!

हाथ में रस्सी पकड़ी है, ऐसा जाना हो और आ गया हो सर्प। रस्सी-रस्सी रात्रि में मानों डोरी पड़ी है, ऐसे ली, ऐसे फिर मानो यह तो सर्प, फिर छोड़ देता है। उसी प्रकार भगवान आनन्द का नाथ प्रभु, ज्ञानप्रज्ञा का सागर आत्मा, वह पुण्य-पाप के जहर के प्याला हाथ में लिये। उसने अन्दर भी जाना कि यह तो दुःख और विकार है, छोड़ देता है। भाई! ऐसी बातें होती हैं। यह सादी में सादी भाषा है। इसमें कोई संस्कृत और व्याकरण का ऐसा कुछ नहीं है। सरदारजी! भगवान! बहुत सादी भाषा प्रभु तेरी है। आहाहा! आहाहा!

यह आत्मा आस्रवों से पारमार्थिक निवृत्त न हो तो **आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक (यथार्थ) भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुई है।** क्या कहा? कि शुभ-अशुभभाव वह मैल है और प्रभु है निर्मलानन्द अन्दर, इन दो की भेदज्ञान की सिद्धि होवे तब तो उनसे वह निवृत्त होता ही है, परन्तु यदि निवृत्त न हो तो उसे भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं है। यह तो मन्त्र हैं। यह कोई कथा नहीं बापू! आहाहा! यह तो सर्प का जहर चढ़ा हो, उसे मन्त्र से उतारते हैं न? बिच्छू का जहर, बिच्छू, मन्त्र; इसी प्रकार यह अनादि का जहर चढ़ा है। आहाहा!

यह शुभ और अशुभभाव, वह अशुभभाव तो ठीक परन्तु शुभ इसे कठिन लगता है, पर की दया पालने का भाव वह शुभ है, राग है, आहाहा! गाँधी (महात्मा गाँधी) व्याख्यान में आये थे न राजकोट (में), मोहनलाल गाँधी (संवत्) १९९५ में व्याख्यान में आये थे, तब यह कहा था कि पर की दया का विकल्प उठता है, वह राग है और पर की दया पाल सकता हूँ, यह क्रिया का अभिमान मिथ्यात्व है। कठिन बात है, प्रभु! आहाहा! मैं दूसरे को जिला सकता हूँ, दूसरे को सुख की सामग्री दे सकता हूँ, यह मिथ्या अभिप्राय है।

आहाहा! यह यहाँ से तो छूटा, पर की क्रिया तो मेरी नहीं, शरीर की या यह लेने-देने की। परन्तु अन्दर में भाव होता है शुभ और अशुभ। इसे यदि सुखी होना हो, यह पुण्य और पाप के भाव मेरे हैं, वह दु:ख के पन्थ में पड़ा है, दु:ख के रास्ते में है। आहाहा! जिसे यह दु:ख का पन्थ छोड़ना हो और सुख के पन्थ में आना हो, आहाहा! तो यह शुभ-अशुभभाव मेरा स्वरूप नहीं है, वह तो कृत्रिम विकृत खड़ा हुआ भाव है। अकृत्रिम मेरा त्रिकाली आनन्दकन्द स्वरूप प्रभु, वह इनसे भिन्न है, इस प्रकार इनसे विमुख होकर भेदज्ञान करे और विमुख न हो तो उसे भेदज्ञान की सिद्धि ही हुई नहीं है। आहाहा! उन्हें दु:खरूप जानकर विमुख न हो तो उसे विमुख होने का भेदज्ञान हुआ ही नहीं है। आहाहा! ऐसा है।

यह दुनिया से पूरा अलग प्रकार लगे, धर्म के नाम से जहाँ बातें चलती हों, उनसे अलग। संसार के नाम से तो अकेला पाप स्त्री, पुत्र और धन्धा तथा धर्म के नाम से दया, दान, व्रत, तप, भक्ति और पूजा और धमाल चलती है। वह भी वृत्ति है, एक राग है। आहाहा! वह और मेरी चीज़ अन्दर शाश्वत् अनादि-अनन्त नित्यानन्द सहजात्मस्वरूप प्रभु भिन्न है, ऐसा जिसे भान हो, वह पुण्य और पाप के भाव से निवृत्त होता है, अभिप्राय में से छूट जाता है, वे मेरे हैं-यह अभिप्राय छूट जाता है। भले अस्थिरता रहे, परन्तु अभिप्राय में वे मेरे थे, यह अभिप्राय छूट जाता है और यदि उनसे अभिप्राय न छूटे तो उसे भेदज्ञान ही नहीं हुआ।

अरे! अरे! ऐसी बातें हैं। पौन घण्टे में तो ऐसी बातें, उसमें यह सब चलता है। बातें सम्प्रदाय में इसमें की कोई बात आयी ही नहीं। सब खबर है, बापू! तुम्हारी सब पूरे सम्प्रदाय की। पूरे हिन्दुस्तान को देखा है। दस-दस हजार मील तो यह तीन बार घूमे हैं, पूरे हिन्दुस्तान में। यह बात अलग है, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : परमात्मा होने का मार्ग तो अलग प्रकार का ही होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अलग प्रकार है, भाई! अनन्त-अनन्त काल बीता। यह ८४ के अवतार में यह आत्मा तो अनादि का है, उसे यह ८४ लाख योनि में अवतार कर-करके अनन्त काल गया है, भाई! परन्तु कहीं यह आत्मा राग से भिन्न है, ऐसा इसने ज्ञान नहीं किया। वहाँ रुक गया, या दया पालन की, व्रत किये और अपवास किये और तपस्यायें

कीं और भगवान का भजन किया, अब यह सब राग है, वहाँ रुक गया परन्तु अन्दर भगवान भिन्न है। यहाँ आत्मा अर्थात् भगवान, हों! आहाहा! यह आ गया। इसमें अपने तीन बार भगवान... भगवान कहा है। भग अर्थात् लक्ष्मी अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति यह जिसमें लक्ष्मी 'भग' पड़ी है, 'भग' अर्थात् लक्ष्मी, उसका वान, वह लक्ष्मीवान है, प्रभु। यह धूल की नहीं, हों! धूल की लक्ष्मी का धनी तो जड़ है। लक्ष्मीपति, ऐसा कहते हैं न? उद्योगपति और नरपति, वे तो सब जड़ मूढ़ है। आहाहा!

अन्दर लक्ष्मी अन्दर अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द जिसका स्वभाव है, उसे हद क्या? जिसका स्वरूप शाश्वत है, उसे मर्यादा क्या? ऐसी अपरिमित, अमर्यादित ज्ञान, आनन्द और शान्ति का सागर भगवान, आहाहा! उससे जहाँ विरुद्ध भाव को जहाँ पहिचाना, वह अभिप्राय से विमुख न हो तो उसने पहिचाना ही नहीं है। समझ में आया? समझ में आया तो विश्राम का वाक्य है। विश्राम का वाक्य है न? किसी को ऐसा कहते हैं, ऐसा कहते हैं बात करते-करते कुछ बीच में आवे कि ऐसा कि वहाँ उसे समझ में आता है? ऐसा यह विश्राम का वाक्य है। आहाहा! और यह विश्राम तब इसे मिलता है कि पुण्य और पाप के भाव से विमुख होकर नित्यानन्द प्रभु में आवे तो विश्राम मिले, बाकी विश्राम मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा अन्दर है न, बापू! आहाहा!

आहाहा! **आत्मा और आस्रव के पारमार्थिक (यथार्थ) भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुई... इसलिए क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्ति के साथ जो अविनाभावी है...** अर्थात्? यह शुभ-अशुभ के भाव से निवृत्त हुआ और आत्मा के स्वभाव में आया, उसके साथ ऐसे ज्ञानमात्र से, वह ज्ञान जहाँ हुआ मैं आत्मा शुद्ध चैतन्य हूँ और रागादि विकार है, वह अन्दर ज्ञान-भान हुआ, उस ज्ञानमात्र से ही अज्ञान से होता पौद्गलिक कर्म का बन्ध निरोध हो जाता है। उसे नये आवरण नहीं आते। आहाहा!

फिर से। जब पुण्य और पाप, क्रोध अर्थात् पुण्य-पाप भाव के आस्रवों से अर्थात् बन्धन के कारणों से निवृत्ति के साथ अभिप्राय से जहाँ निवृत्त हुआ तो उसके साथ अविनाभावी जो ज्ञान, आहाहा! राग से निवृत्त हुआ, तब अविनाभावी जो ज्ञान, उस ज्ञानमात्र से अन्दर

बन्ध रुक गया। जानना; ज्ञान हुआ जहाँ आत्मा का और राग का भिन्न, वहाँ बन्धन रुक गया। अज्ञान से बन्धन होता था, वह बन्धन नहीं होता। आहाहा! भान हुआ न, भान!

एक माँ-पुत्र थे। माँ नई थी, नई माँ और स्वयं पुरानी का, वह नई माँ जवान अवस्था में जरा। उसमें उसकी बहू है वह नहाने गयी और बहू के वस्त्र उसकी माँ ने पहने हुए, नई माँ, वस्त्र। यह बना हुआ (प्रसंग) है। वह उसकी बहू है, वह वस्त्र कपड़े धोने गयी और उसके बहू के कपड़े हैं, वह उसकी नई माँ ओढ़कर सो रही थी, उसमें उस लड़के को विषय की वासना आ गयी। इसलिए ऐसे ठल्ला मारा, वह मानो कि बहू है, वहाँ वह जाग गयी। कैसे भाई? बहू नहाने गयी है। ऐसा जहाँ कहा, वहाँ दृष्टि बदल गयी, एकदम। यह भान हुआ वहाँ यह तो कहे मेरी नई माँ, इन कपड़े के कारण मैं उलझन में आ गया था। वह समझ गयी। क्यों भाई! बहू नहाने गयी है। ऐसा जहाँ कहा, वहाँ अरे! यह तो माँ। दृष्टि बदल गयी। इसी प्रकार पुण्य और पाप के भाव मेरे हैं, ऐसा मानकर सो रहा है, उसे भगवान और ज्ञानी ने बतलाया, बापू! यह भाव तेरे नहीं। आहाहा! जाग रे जाग! तेरे नहीं। वहाँ अभिप्राय में से पृथक् पड़ गया। मेरे जो माने थे, वह अभिप्राय छूट गया। मेरी बहू है, ऐसा जो अभिप्राय था, वहाँ मेरी माँ है, ऐसा हो गया। यह बोटाद में बना है। यहाँ तो बहुत वर्ष हो गये न, ६६ वर्ष तो दीक्षा लिये हुए हैं। दुकान छोड़े ६६ वर्ष ६७ वर्ष में बहुत सब देखा जगत को। आहाहा! अरेरे! प्रभु! तू कौन है? आहाहा! तेरी शाश्वत् असली चीज़ क्या है? तू तेरी शाश्वत् असली चीज़ क्या है? कि शाश्वत् की असली चीज़ तो ज्ञान और आनन्द तुझमें है। आहाहा! यह तो वियोग हो जाता है, शरीर छूट जाता है, चला जाता है और दूसरा आता है, परन्तु अन्दर में जो शुभ और अशुभभाव, वह इसकी चीज़ नहीं, यह असली चीज़ नहीं, यह नकली चीज़ नई उत्पन्न हुई। समझ में आया? आहाहा!

इसी प्रकार जहाँ दो के बीच के लक्षण और स्वभाव का भेद जाना, इससे वह अभिप्राय में से श्रद्धा में से मेरा माना था, वह उसे छूट जाता है और यदि नहीं छूटे, नहीं छोड़े तो उसे भेदज्ञान हुआ नहीं। दो को भिन्न जाना नहीं। यहाँ भाई! दूसरे ऐसा कहते हैं कि पूर्ण आस्रव से छूट जाए तो उसे, यह यहाँ बात नहीं है। यहाँ उसकी बात नहीं है, यहाँ

ऐसा कि आस्रव से निवृत्ति न हो, परन्तु वह अभिप्राय से निवृत्त न हो, अभिप्राय जो मेरा (पना) था, उसमें से छूट जाये और यदि नहीं छूटे तो भेदज्ञान नहीं है।

मुमुक्षु : भावार्थ में तो स्पष्ट लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा है परन्तु वे मानते नहीं। वे लोग, वे पण्डित हैं न वे रतनचन्दजी और वे सब, वे इस गाथा का अर्थ करनेवाले भी कहाँ?

यहाँ तो यह १९वीं बार चलता है, सभा में पूरा समयसार १८ बार तो पूरा हो गया है। एक-एक शब्द का एक-एक अक्षर का अर्थ (हो गया है) परन्तु वे लोग उल्टे अर्थ करते हैं कितने ही। पूर्ण-पूर्ण पुण्य-पाप के भाव से छूट जाए एकदम तो उसे भेदज्ञान कहलाये।

मुमुक्षु : परन्तु भेदज्ञान से संवर हुआ संवर, चौथे गुणस्थान में तो होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह है, परन्तु वे उसे नहीं मानते। वे तो कहे पूर्ण त्याग चाहिए। यहाँ तो अर्थ में यह बात है, ऐसा स्वयं लेते हैं। मेरे रूप से मानता था, यह अभिप्राय छूट गया परन्तु अभी पुण्य-पाप के भाव रहे हैं, अस्थिरता के, जब तक अन्तर स्वरूप में रमणता न हो, तब तक वे भाव होते हैं, परन्तु मेरे रूप से थे, यह बात छूट गयी है। आहाहा!

कफ आया हो, उसे निकालने में जरा देर लगे मोटा होवे तो, परन्तु अभिप्राय में से हो गया कि यह छोड़ना है, यह छोड़नेयोग्य है, फिर छूटने में जरा देरी लगे, उसे ऐसा लम्बा हो, तो भी अभिप्राय में वह मेरा है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। इसी प्रकार अन्दर श्रद्धा में शुभ-अशुभभाव मेरे हैं, वह भाव छूट गया, तथापि अभी शुभभाव होता अवश्य है। पूर्ण वीतराग पूर्ण परमात्मदशा न हो, तब तक होता है, परन्तु अभिप्राय में से मेरे थे, यह अभिप्राय छूट गया। आहाहा! सरदारजी! भाषा तो सादी है, हों! है तो ऊँची वस्तु बापू! यह दुनिया। आहाहा!

आस्रवों से निवृत्ति के साथ जो अविनाभावी है। अर्थात् ज्ञानमात्र, ऐसे। आस्रवों से निवृत्त हुआ, वहाँ ज्ञानमात्र हुआ ही है अन्दर। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञान का पिण्ड प्रभु, ज्ञान, ज्ञान अर्थात् जानना हों! ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का ज्ञान पृष्ठ, यह नहीं। अन्दर जाननस्वभाव, जैसे शक्कर का मीठा स्वभाव; वैसे भगवान आत्मा का ज्ञानस्वभाव शाश्वत्

त्रिकाली स्वभाव, उस ज्ञानस्वभाव का जहाँ राग से भिन्न हुआ, वहाँ ज्ञानस्वभाव से ही बन्ध रूक गया। उसका ज्ञान हुआ, उसमें बन्ध रुक गया, अस्थिरता की बात थोड़ी रही, वह बात अलग है। अभी उतना थोड़ा बन्ध होता है, परन्तु वह मेरा है, ऐसे अभिप्राय में जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का बन्ध था, वह बन्ध वहाँ रुक जाता है। यह भाषा जरा शास्त्र की है। आहाहा!

ऐसे ज्ञानमात्र से ही... आहाहा! यह सर्प है, ऐसा जहाँ पकड़ा गया है, यह मेरे हाथ में डोरी, और सर्प है ऐसा ज्ञान हुआ, वहाँ छूट गया है। भले ऐसे छोड़ने में अभी देरी लगे ऐसी, परन्तु अभिप्राय में से तो छूट गया है। और अभिप्राय में से न छूटे तो उसे राग और स्वभाव के बीच का भेदज्ञान नहीं हुआ। आहाहा! यह बात समझ में आये ऐसी है, प्रभु! तेरे घर की सादी भाषा प्रभु है, वह सादा है आत्मा और सादी भाषा है। उसमें कोई संस्कृत और बड़ी व्याकरण की (बात नहीं है)। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। विशेष कहा जाएगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १५२, गाथा-७२ दिनांक ०३-१२-१९७८, रविवार, मागसर शुक्ल ३

गाथा ७२ समयसार। अन्तिम पैराग्राफ है न टीका का! जरा सूक्ष्म अधिकार है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि इस देह में, जो देह है वह तो जड़-मिट्टी है परन्तु अन्दर में आत्मा जो चीज़ है, वह जाननस्वभाव से भरपूर ज्ञानस्वरूपी जिसका ज्ञानस्वभाव जिसमें कर्म भी नहीं, शरीर भी नहीं और जिसमें पुण्य और पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव होते हैं, वे बन्ध के कारण विकार हैं। इस भगवानस्वरूप में वे नहीं हैं। चैतन्यबिम्ब प्रभु ज्ञायकस्वभाव जिसके स्वभाव में ज्ञान और आनन्द आदि परिपूर्ण भरे हैं। कठिन बात है, भाई! आहाहा! ऐसा आत्मा और उसकी दशा में वर्तमान में हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, यह पापबन्धन के कारण हैं। और दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, यह भाव पुण्यबन्धन का कारण है; यह धर्म नहीं। आहाहा! यह मैल है। कल आया था न? शुभ और अशुभभाव अशुचि है, मैल है। भगवान ज्ञायकस्वरूप तत्त्व चैतन्य, वह निर्मलानन्द प्रभु है। इन दो का जिन्हें भेदज्ञान होता है। सूक्ष्म बात है, भाई! यह मलिनभाव, जड़भाव यह दुःखभाव से आत्मा ज्ञानभाव, चैतन्यभाव, सुखभाव, दो के बीच का जिसे भेदज्ञान होता है। सूक्ष्म बात है भाई! यह मलिनभाव, जड़भाव यह दुःख भाव। इनसे आहाहा! आत्मा ज्ञानभाव, चैतन्यभाव, सुखभाव, आहाहा! दो के बीच का जिसे अन्तर में भिन्नता का ज्ञान होता है। दूसरी दृष्टि से कहें तो वर्तमान दशा में जो होनेवाले पुण्य-पाप के भाव, उनके ऊपर जो दृष्टि है। पर्यायदृष्टि, अवस्था, विकारदृष्टि वह दृष्टि छूटकर त्रिकाली आनन्द प्रभु सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा तत्त्व, उसके ऊपर जिसकी दृष्टि जाती है, वह पुण्य-पाप के भाव से निवृत्त होता है। ऐसी बातें हैं भगवान! आहाहा!

जिसे अपने ज्ञानस्वरूप (ऐसा) प्रभु आत्मा प्रज्ञा-प्रज्ञाब्रह्म, ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु आत्मा है, उसकी दशा में वर्तमान हालत में अनादि से शुभ और अशुभभाव हुआ करते हैं, वे दुःखरूप हैं, उनसे (भिन्न) आत्मा आनन्दस्वरूप है। आहाहा! वस्तु है, वह कोई दुःखरूप नहीं होती। दुःख, वह विकृत है और भगवान अन्तःस्वरूप है। अविकृत आनन्दस्वरूप है। आहाहा! इन दो का जिसे अन्तर में भिन्नता का भान होता है, वह आत्मा के स्वभाव से भिन्न जो पुण्य-पाप के भाव, उनसे अभिप्राय से वह निवृत्त हो जाता है। वे

मेरे हैं, ऐसा जो माना है, ऐसी जो श्रद्धा और अभिप्राय, उससे छूट जाता है और अपना ज्ञानस्वभाव चैतन्य शाश्वत् आत्मा शाश्वत् वस्तु है, नया हुआ नहीं। वह अनादि का तत्त्व है। सत् है, सत् है। है, उसकी आदि क्या? है, उसका नाश क्या? है, उसके स्वभाव से खाली क्या वह? आहाहा! ऐसा जो आत्मा उसे जिसने पुण्य और पाप के भाव से वर्तमान बुद्धि की विकृत बुद्धि से छूटकर और निर्विकारी भगवान आत्मा, ऐसी जिसे दृष्टि हुई, वह श्रद्धा में से पुण्य-पाप के भाव (से) निवृत्त हुआ, (कि) वे मेरे नहीं। ऐसी बात है, बापू! जगत से अलग बात है। आहाहा! कहो पण्डितजी! बड़े प्रोफेसर हैं, संस्कृत के पण्डित हैं। उस संस्कृत का यहाँ काम नहीं।

यहाँ तो भगवान चैतन्यस्वरूप अन्दर जलहल ज्योति शाश्वत् वस्तु है। उसे जिसने अशाश्वत् अर्थात् कृत्रिम जो पुण्य और पाप के भाव, उनसे शाश्वत् चीज़ को जिसने भिन्न जाना, आहाहा! वह अभिप्राय से, आशय से, श्रद्धा से उन पुण्य-पाप के भाव से निवृत्त हो जाता है। वे मेरे नहीं। आहाहा! तब उसे आत्मा का ज्ञान होता है और वह ज्ञान होने पर आत्मा में जो अतीन्द्रिय आनन्द है, उस अतीन्द्रिय आनन्द का उसे वहाँ स्वाद आता है। आहाहा! जो अनादि काल से पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव जो राग है, उसका उसे अनादि से स्वाद है, अनुभव है, वह विकार का स्वाद और अनुभव है, वह दुःख का अनुभव है। आहाहा! उससे विमुख होता है अन्दर में, तब उसे आत्मज्ञान होता है कि यह आत्मा तो परिपूर्ण वस्तु है। तब उसे आत्मा में ज्ञान होने पर आस्रवों से निवृत्त होने पर, अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का जो सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका उसे आंशिक स्वाद आता है। अरे! अरे! यह क्या होगा?

यह बाहर के जो मैसूर और यह खाते हैं, उनका स्वाद जीव को नहीं है, क्योंकि वे तो जड़ हैं और आत्मा तो अरूपी वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श बिना की चीज़ है। वह मैसूर, पेड़ा, लड्डू को वह खाता नहीं। मात्र इसका लक्ष्य वहाँ जाता है और यह ठीक है, ऐसा राग उत्पन्न करता है, उस राग का स्वाद और राग का अनुभव करता है। अरे! अरे! इसी प्रकार स्त्री का शरीर, यह माँस और हड्डियाँ, चमड़ी को जीव नहीं भोगता, क्योंकि वह तो जड़-धूल है और यह प्रभु तो अरूपी है। आत्मा तो रंग, गन्ध, रस, स्पर्शरहित चीज़ है। परन्तु अनादि से उस चीज़ पर लक्ष्य जाकर यह मुझे ठीक पड़ता है, ऐसा जो रागभाव

उत्पन्न करता है, उस राग का अनुभव करता है, शरीर को नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

सरदारजी! समझ में आये ऐसा है। भाषा सादी है, भगवान! यह तो अलौकिक परम सत्य है, प्रभु! क्या कहें? आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर से सिद्ध हुई यह बात है, परन्तु जगत को सुनने को मिलना मुश्किल पड़े ऐसा है। आहाहा!

कहते हैं, यह आया न? अन्तिम पैराग्राफ **और जो यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है...** है लाईन? दूसरा पैराग्राफ, क्या कहा यह? कि यह आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, और पुण्य और शुभ-अशुभभाव ये आस्रव के-दुःख के कारण हैं। इन दो का जिसे भेदज्ञान होता है, आहाहा! दो का जिसे भिन्नपने का ज्ञान होता है, **वह अज्ञान है या ज्ञान?** अब बात को सिद्ध करते हैं, क्या सिद्ध करते हैं? कि जो आत्मा है ज्ञान और आनन्दस्वरूप और पुण्य-पाप के मलिनभाव दुःखरूप, उनसे भिन्न होकर जो आत्मा का ज्ञान हुआ, उस ज्ञानमात्र से ही उसे कर्म बन्धन रुक जाता है। आहाहा! मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ। ज्ञान और आनन्द तथा यह रागादि दुःखरूप की दशा विकृत है, ऐसा दो के बीच का भेदज्ञान होने पर उसे आनन्द का अनुभव होता है और आस्रव से निवृत्त होता है, अभिप्राय से।

अब यहाँ यह सिद्ध करते हैं कि वह तो ज्ञान जहाँ हुआ ज्ञानभाव। कल दृष्टान्त नहीं दिया था स्त्री का, नई माँ का। स्त्री है, ऐसा जाना था। जहाँ अरे! यह तो माता। भले नई माँ परन्तु माता-जननी, ऐसा जहाँ ज्ञान ख्याल में आ गया, वहाँ वह विकारबुद्धि थी, वह एकदम मिट गयी। जहाँ ज्ञान हुआ, यह तो माता, यह मेरी जननी है। इस शरीर की जननी, हों! आत्मा की जननी नहीं, हों! आत्मा तो अनादि है। यह धूल। ऐसा जहाँ ख्याल आया स्त्री है, ऐसा विचारा था, तब उसे विकार की बुद्धि उत्पन्न हुई थी। यह तो माता, विकारबुद्धि गयी। आहाहा!

इसी प्रकार पुण्य और पाप के भाव मेरे हैं, ऐसा माना था, तब तक तो उसका अज्ञान था और उसे दुःख का वेदन था। आहाहा! मेरे हों, वे भिन्न पड़े नहीं; भिन्न पड़ें, वे मेरे नहीं। यह शुभ और अशुभभाव विकार है, वे भिन्न पड़ जाते हैं। भिन्न पड़े, वह मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! अरे! ऐसी बातें!

मेरा भगवान आत्मा तो ज्ञान और आनन्द, इस स्वभाव से कभी भिन्न नहीं पड़ता, जिसका भाव स्वभाव है जिसका, उससे वह भिन्न नहीं पड़ता और पुण्य-पाप के भाव से तो भिन्न पड़ जाता है। आहाहा! पाप के भाव के समय पुण्य नहीं, दया, दन, व्रत उस समय नहीं। हिंसा, झूठ, भोग, विषय, वासना के भाव के समय, तत्पश्चात् जब दया, दान आवे तब वे भाव नहीं, तब छूट जाते हैं, वे नहीं इसलिए। और दया, दान का भाव आवे, तब पापभाव छूट जाता है। पापभाव छूट जाता है, तब दया, दान, पुण्यभाव आता है। दोनों छूटनेयोग्य चीज़ है। आहाहा! यदि दोनों अपने हो तो छूट नहीं सकते, इसलिए अपने नहीं, अतः छूट जाते हैं। आहाहा! ऐसी बातें, भाई!

इस प्रकार जिसने अन्दर में आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान होने पर कर्मबन्धन रुक जाता है, उसे उस प्रकार का अनन्त संसार का बन्धन हो, उतना रुक जाता है, अस्थिरता का उसे यहाँ गिना नहीं है। अनन्त संसार में भटकने का जो बन्धन है, वह विकार और निर्विकारी चीज़ दो के बीच का भेदज्ञान, ज्ञानमात्र होने से वह विकार का बन्धन रुक जाता है। यदि उस ज्ञानमात्र से विकार का बन्धन न रुके तो हम तुझसे पूछते हैं, कहते हैं लॉजिक से कि **यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है, वह अज्ञान है या ज्ञान?** जैसे यह वकील वकालत करते हैं न, ऐसा प्रश्न अभी किया है। क्या कहा यह? कि आत्मा अन्दर शाश्वत् वस्तु है। है... है... है... है... है... है... है... अनादि से है, अभी है, भविष्य में रहेगा, है। ऐसा जो आत्मा और पुण्य-पाप जो कृत्रिम जो पर्याय में-अवस्था में होते विकार का भेदज्ञान होने मात्र से—ज्ञानमात्र से बन्धन रुक जाता है। और यदि ज्ञानमात्र से बन्धन न रुके तो हम तुझसे प्रश्न करते हैं, कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात है। कि यह भेदज्ञान है, वह अज्ञान है या ज्ञान? इन शुभ-अशुभभाव से ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु पृथक् पड़ा, ऐसा जो ज्ञान, वह ज्ञान, अज्ञान है या ज्ञान?

यहाँ ज्ञानमात्र से बन्धन रुकता है, यह बात सिद्ध करनी है। जहाँ भान हो गया जहाँ कि अरे! मैं तो चैतन्यमूर्ति और यह विकार है, वह तो मलिन और दुःखरूप, ऐसा जहाँ अन्दर भेदज्ञान अर्थात् भिन्न पड़ गया ज्ञान, उस ज्ञानमात्र से ही इसे संसार का-अनन्त संसार का बन्धन रुक जाता है। इसे अनन्त संसार का भटकना टूट जाता है। यदि न टूटता

हो तो हम प्रश्न करते हैं, कहते हैं, सुन, कि जो आत्मा अन्दर शाश्वत् वस्तु है और पुण्य-पाप जो कृत्रिम क्षणिक है, उनसे भेद पड़ा, वह ज्ञान है या अज्ञान ? यह वकील को पूछे न वे बड़े हों, पूछे कोर्ट में। हमको भी पूछते थे।

कहा था न अभी ? हमारे ऊपर तो बहुत बीत गयी है, बहुत सब बीत गयी, बहुत बीत गयी है, ६३ के वर्ष में बड़ा केस अफीम का हमारे ऊपर चलता था। ६३ के वर्ष। कितने वर्ष हुए ? ७२ वर्ष। दुकान के ऊपर थे। दुकान है न हमारी तो पालेज में। भरूच और बड़ोदरा के बीच (पालेज में) बड़ी दुकान है न, वहाँ अभी भी चालीस लाख रुपये हैं, तीन लाख की आमदनी है। वहाँ अब अभी जानेवाले हैं। लड़कों ने प्रार्थना की है न। कल सोमवार अहमदाबाद है, परसों वड़ोदरा है, पाँच दिन वड़ोदरा और फिर दिन वहाँ पालेज में। लड़के हैं, प्रार्थना है। आहाहा ! यहाँ क्या कहना था ?

मुमुक्षु : वड़ोदरा का केस।

पूज्य गुरुदेवश्री : वड़ोदरा का केस था। अफीम का। दुकान में ओपीयम नहीं वह पुलिस बक्षीस लेने आये, बक्षीस। वह हमारे पिताजी कहें, भाई ! तुम्हारे साथ हमें क्या सम्बन्ध है ? हमारे तो व्यापार, इसलिए व्यापारी के साथ सम्बन्ध हो अथवा जो रेल के मास्टर हैं, उनके और पोर्टर हो उनके सम्बन्ध होता है। माल आवे और जावे इसलिए। तुम्हारे साथ सम्बन्ध नहीं होता, इसलिए आठ आने लो। वह कहे रुपये लूँगा। यह ६३ की बात है। संवत् १९६३। हो गया विवाद। उसमें बड़ी दिक्कत आयी।

उस कोर्ट में गये थे कोर्ट में। उसने फरियाद की वहाँ वड़ोदरा। हमने फरियाद की थी भरूच। हमने वकील रखा था। तब १७ वर्ष की शरीर की उम्र, १७। १० और ७। यह तो ७२ वर्ष पहले की बात है। अभी ८९ है। तब वह प्रेसीडेन्ट था वड़ोदरा में। ऐसे गाँव के बाहर है बड़ा प्रेसीडेन्ट, उसे तीन हजार का वेतन तब (मिलता था)। ६३ के वर्ष में तीन हजार का वेतन, प्रेसीडेन्ट, जज, यह जज भाई कहते हैं प्रेसीडेन्ट। मैंने तो वहाँ देखा न सवा महीने, हमारा केस चला था। हमने ऐसे देखा। होशियार व्यक्ति और तीन हजार का वेतन तब, हों ! ६३ के वर्ष। ऐसे देखा। कहे, यह अफीम के गुनहगार। बनिये का मुँह तो देखो, कहते हैं।

मुमुक्षु : थरथराते थे, काँपते थे आप वहाँ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन, कौन काँपे ? यही कहता हूँ। वह तीन घण्टे ऐसे मेरी साक्षी ली। बड़ी कोर्ट, तीन हजार का वेतन, तब, तीन हजार का अर्थात् पच्चीस-तीस गुना हो गया अभी तो, आहा! पौन लाख, लाख। उस कोर्ट में वह और उसका शिरस्तेदार था मुख्य, लकड़ी का वह अन्दर रहता हो उसकी बैठक और फिर हमें गुनहगाररूप से कठघरे में बैठावे, नहीं, अन्दर प्रेसीडेन्ट ने कहा, बाहर खड़े रखो, यह लोग तो बिल्कुल बनिया, इनके मुख के सामने देखो तो, अफीम के (गुनहगार नहीं लगते)। भाई तीन घण्टे तक लिया मेरा (बयान)। कोर्ट में वह प्रेसीडेन्ट अंग्रेजी बोलता हो परन्तु उसका शिरस्तेदार था वह हिन्दी में और मैं गुजराती बोलता, तीन घण्टे। १७ वर्ष की उम्र की बात है। ७२ वर्ष पहले, परन्तु सत्य था वह तीन घण्टे ऐसा कहा। लोगों को ऐसा हो गया, मेरे सगे-सम्बन्धी साथ में थे उनको, कानजी कैसे हुआ ? कुछ धुज-और कुछ नहीं धुज, सत्य है वह कह दिया हमने तो। कोर्ट में तीन हजार का वेतन हो या धूल हो, हमारे क्या है ?

यहाँ हमारे गांडाभाई थे, फावाभाई के बापू। है न अभी लड़का वहाँ सूरत (में) उसके पास अभी अस्सी लाख रुपये हैं। अस्सी लाख, सूरत में है। उसके पिता के पिता को गुनहगार में इकट्ठा गिना था। तीन घण्टे ऐसे साक्षी दी। मेरी उम्र १७ वर्ष की, और रूपवान शरीर, अभी तो ८९ वर्ष, बाहर निकले और पूछा, भाई! कैसे हुआ तुझे ? ऐसी कोर्ट में तीन घण्टे। कुछ नहीं हुआ, कहा। सत्य था, वह मैंने तो रखा है, सत्य को आँच क्या है ? मैंने तो सत्य कहा है कि बात बिल्कुल झूठी है। अफीम-बफीम हम व्यापारी लाये नहीं और कुछ है नहीं, यह सब गुनाह खोटा किया है। उसको इनकार कर गया, प्रेसीडेन्ट को। करना क्या ? अन्त में वे कोर्ट लाये, वड़ोदरा की कोर्ट पालेज में लाये। जहाँ केस हुआ था न पालेज ? इस भरूच के पास पालेज है ? भरूच और वड़ोदरा के बीच वहाँ वह कोर्ट में केस लाये। चुकादा दे दिया।

प्रेसीडेन्ट ने चुकादा दिया। मेरी तीन घण्टे की साक्षी। यह बिल्कुल गुनहगार नहीं है, केस झूठा खड़ा किया है। और उसने यहाँ तक कहा कि जिस पुलिस ने तुम्हारे ऊपर यह केस किया है... हमें तो सात सौ का खर्च हुआ था, सात सौ रुपये का खर्च तब की

बात है, हों! यह ६३ की, सात सौ का खर्च हुआ था, सवा महीने जाना-आना न। तुम उस पुलिस से सात सौ रुपये ले सकते हो क्योंकि तुम्हारा केस खोटा था। अब कहा, बेचारे को जाने दो न, गरीब व्यक्ति है। यहाँ तो सहज ही ऐसा बन गया, कोई ऐसा व्यक्ति निकला कि उस पुलिस को मार डाला, कोई उसका दुश्मन होगा कोई, मार डाला। हमने तो कहा, नहीं, गरीब व्यक्ति है बेचारा। ऐसा कि मेरे सात सौ गये तो। यहाँ वह कहाँ मुझे कमी पड़नेवाली है? यहाँ क्या कहना है? कि तीन घण्टे सच्ची बात थी, उसे देखने में कुछ कँपकँपी नहीं होती थी। वड़ोदरा की बड़ी कोर्ट बाहर है। बड़े वृक्ष और बड़ी प्रेसीडेन्ट की वह... उसका वह पंखा होता है न बड़ा ऐसा, वह पंखा नहीं, परन्तु वस्त्र का बड़ा जोरदार बाहर से डोरी खींचते हैं न, वहाँ तीन घण्टे तक खड़ा रहना पड़ा, परन्तु सत्य था, इसी प्रकार यह सत्य बात है। इस प्रकार यह भगवान परमात्मा सन्त जगत को सत् की प्रसिद्धि करते हैं, मार्ग यह है, दूसरा नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन, भगवान! तू आत्मा है न आनन्द और ज्ञानस्वरूप, ऐसा जिसे पुण्य और पाप के भाव से भिन्नता का भान हुआ, तो उस ज्ञानमात्र से उसका बन्धन रुक गया। न रुके तो मैं तुझसे प्रश्न करता हूँ, कहते हैं, ऐसा कहते हैं। यह कोर्ट लगायी है। वह कोर्ट तो बड़ी कोर्ट थी। **यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है, वह अज्ञान है या ज्ञान?** यह प्रश्न पड़ा, पूछा। तब कहते हैं कि यदि अज्ञान है ऐसा तू कहे, तब तो उन पुण्य और पाप के भाव से भिन्न पड़ा नहीं, इसलिए उसमें वह अज्ञान प्रवर्तता है। देखो, यह कोर्ट के न्याय। यह वीतराग सर्वज्ञ की कोर्ट है-कॉलेज है, यह सर्वज्ञ की कॉलेज है।

हम पूछते हैं, भगवान चैतन्य ज्योति प्रभु आत्मा ज्ञान सागर शाश्वत वस्तु ऐसा जिसे पुण्य और पाप के विकल्प की वृत्ति से भिन्न भान हुआ, उस भानवाले को बन्धन रुक गया, उस ज्ञानमात्र से बन्धन रुक गया। जहाँ भान हुआ कि अरे! मैं तो चैतन्य शुद्ध और यह तो अशुद्धता भिन्न, ऐसे भानमात्र से उसे संसार का भटकना रुक गया। और यदि भटकना नहीं रुके तो हम तुझसे पूछते हैं कि पुण्य और पाप के भाव से भिन्न आत्मा का ज्ञान हुआ, वह ज्ञान है या अज्ञान है? वह कहे कि अज्ञान है, **तो आत्मा और आस्रवों के अभेदज्ञान से उसकी कोई विशेषता नहीं हुई...** यदि अज्ञान है तो पुण्य और पाप के भाव और आत्मा

की भिन्नता तो कुछ न हुई, वह भेदज्ञान ही नहीं हुआ। न्याय समझ में आता है ? न्याय में 'नि' धातु है, न्याय कोर्ट यह न्याय सर्वज्ञ के घर का न्याय है, न्याय अर्थात् 'नि' धातु है। वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसमें उसे ले जाना, ले जाना, उसका नाम न्याय। यह सरकार के न्याय, वे तो जगत के घढ़े हुए, उसकी सरकार ने। यह तो वस्तु का न्याय। 'नि' धातु न्याय में। ले जाना, जैसा स्वरूप है, उसमें ज्ञान को ले जाना और विकार से हट जाना। आहाहा!

यहाँ पूछते हैं कि भेदज्ञान होने पर कर्म का बन्धन रुक जाता है, ज्ञानमात्र होने पर। पहिचान जहाँ हुई कि यह मेरी माँ, आहाहा! वहाँ विकार की वृत्ति से आया था, एकदम बन्द। इसी प्रकार जो पुण्य और पाप के विकृत भाव, उनसे भगवान चैतन्य शाश्वत् भिन्न है, ऐसा भानमात्र ज्ञान होते ही उसे संसार का भटकना रुक जाता है। यदि न रुकता हो तो मैं प्रश्न करता हूँ। सन्त कहते हैं, आचार्य कहते हैं कि वह भेदज्ञान अज्ञान है या ज्ञान ? यदि तू अज्ञान कहे तो तू पुण्य-पाप में प्रवर्तता है, यह भेदज्ञान तो हुआ नहीं। इस शुभ-अशुभभाव में प्रवर्तता है, उसे भेदज्ञान तो हुआ नहीं, इसलिए यह ज्ञान है, वह खोटा है, अभेदज्ञान से उसकी कोई विशेषता नहीं है। पुण्य और पाप के भाव विकारी और निर्विकारी प्रभु दोनों की एकता जो है, उसमें भिन्नता तो पड़ी नहीं। अभेदज्ञान दोनों का अभेद हो गया। पुण्य-पाप और आत्मा दोनों अज्ञान में एक हुए तो उन्हें भिन्नता हुई नहीं।

दूसरा प्रश्न। **यदि वह ज्ञान है...** शुभ-अशुभभाव जो विकृत अवस्था है, उससे ज्ञानानन्द नित्य शाश्वत प्रभु भिन्न है, ऐसा जो ज्ञान है **और यदि ज्ञान है तो वह आस्रवों में प्रवृत्त है या उनसे निवृत्त...** आहाहा! यह तो कोर्ट के बड़े कानून हैं। यदि यह ज्ञान है तो वह पुण्य-पाप के भाव में प्रवर्तता है या निवृत्त है ? यदि प्रवर्तता हो तो वह ज्ञान नहीं है। उसे ज्ञान हुआ ही नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू!

अरे रे! हिन्दुस्तान की आत्मविद्या का लोगों ने लोप कर डाला। यह वस्तुस्थिति है। विद्यमान वस्तु भगवान की विद्या अर्थात् आत्मविद्या। त्रिकाली भगवान आत्मा विद्यमान एक नित्य वस्तु शाश्वत है। अकृत, अविनाशी—ऐसी यह चीज़ आत्मा शाश्वत है, उसका जो ज्ञान, वह आत्मविद्या। इस हिन्दुस्तान की मूल चीज़ यह थी। आहाहा! वह चीज़ अभी

गड़बड़ में चली गयी है। आहाहा! अन्य में तो है ही नहीं विलायत, लन्दन और अफ्रीका, ऐई! यह हमारे अफ्रीका में रहे। यहाँ का अफ्रीका में मन्दिर हुआ है न अभी? ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस को पन्द्रह लाख का मन्दिर इन लोगों ने बनाया है। यह सब गृहस्थ हैं, ६०-७० लाख रुपये इनके पास हैं। ऐसे-ऐसे साठ घर हैं, नैरोबी अफ्रीका। यह वहाँ से आये हैं, भाई! पन्द्रह लाख का मन्दिर ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस से मुहूर्त किया है। पन्द्रह लाख का मन्दिर बनानेवाले हैं। विनती करने आनेवाले हैं। अब हो, (वह सही)। शरीर तो अब शिथिल पड़ गया है। वापस प्लेन में पाँच घण्टे जाना।

यहाँ तो क्या कहना है? आहाहा! यह विकारभाव और आत्मस्वभाव स्वदेश, आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह अपने आ गया है, बहिन में (बहिनश्री के वचनामृत) कि चैतन्य... दोपहर में फिर पढ़ता था न।... यह आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप आनन्द, श्रद्धा, शान्ति आदि का स्वभाव, यह इसका स्वदेश है, यह इसका स्वदेश है और पुण्य-पाप के विकल्प आवें, वह परदेश है। आहाहा! अरे! भगवान आनन्द का नाथ प्रभु सत् शाश्वत् चिद् ज्ञान और आनन्द, वह हमारा देश है, वह हमारा स्थान है, वह हमारी जमीन है, वह हमारी भूमि है। यह हमारा परिवार वहाँ बसता है। यह ज्ञान, आनन्द, शान्ति आदि परिवार अन्दर बसता है। अररर! उसमें से जहाँ पुण्य का भाव आवे दया-दान का, वह भी विकार है, वहाँ ऐसा होता है, अरे रे! हम हमारे स्वदेश में से निकलकर परदेश में कहाँ आये? कठिन काम है।

यह बात अपने आ गयी है। ४०१ (बोल), बहिन के वचन हैं न? ४०१, हों! लो ४०१ है। ***यह विभावभाव हमारा देश नहीं है।*** कौन? पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग का भाव, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। वह हमारा... यहाँ एक बहिन है, सरदारजी! बहिन है, उनके यह सब वचन हैं। अभी पुस्तक हो गयी है। है, है न ऊपर? यह विभाव हमारा देश नहीं है। है? इस परदेश में हम कहाँ आ पड़े? आहाहा! अन्दर में शुभभाव आवे, वह परदेश है, विभाव है, स्वदेश नहीं। आहाहा! है? हमें कहीं नहीं सुहाता। शुभ और अशुभभाव भी हमें नहीं सुहाता, वह तो विकार है। हमारा देश तो आनन्दस्वरूप ज्ञान, श्रद्धा, आनन्द स्थित है अन्दर। अरे रे! इस

विकल्प में कहाँ आ पड़े। आहाहा! है? यहाँ हमारा कोई नहीं है। जहाँ ज्ञान, आत्मा में ज्ञान, श्रद्धा आनन्द चारित्र-स्थिरता और आनन्द, वीर्य-पुरुषार्थ अनन्त गुणरूप हमारा परिवार अन्दर बसता है। आहाहा! आत्मा में अनन्त शक्ति और गुणरूप परिवार बसता है, वह हमारा स्वदेश है। आहाहा! हम अब स्वरूप स्वदेश की ओर जा रहे हैं। आहाहा!

इनको एक पुस्तक देना। अब आये तो दो तो सही सरदारजी को। पढ़ेंगे। हम शीघ्रता से हमारे मूल वतन में जाकर... आहाहा! मूल वतन में अन्दर ज्ञान, दर्शन और आनन्द, यह हमारा मूल वतन है। यह अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम आवे, वह हमारा वतन नहीं। आहाहा! हमारे वतन में जाकर निश्चिन्तता से बसना है, जहाँ सब हमारे हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, बापू! मार्ग कोई, अभी तो बहुत बिखर गया है, बहुत सब देखा है न? हम तो सब बड़े-बड़े माहात्माओं को मिले हैं न सबको। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन! वस्तु, जो वस्तु है आत्मा, वस्तु शाश्वत है, जिसमें ज्ञान आनन्द और शान्ति भरे हैं, वह चीज़, वह स्वदेश है और उसमें से पुण्य और पाप के विकल्प उठते हैं, वृत्तियाँ उठती हैं, वह परदेश विभाव है। उस विभाव का और स्वभाव का जहाँ भेदज्ञान हुआ, भिन्न भान हुआ, वह ज्ञान है या अज्ञान? कि देखो, उसे अज्ञान कहे, तब तो वह पुण्य-पाप में वर्तता है, उसमें कुछ भेद नहीं पड़ा। यदि उसे ज्ञान कहे तो वह ज्ञान पुण्य-पाप में वर्तता है या भिन्न पड़कर वर्तता है? कि पुण्य और पाप में वर्तता है, तो वह ज्ञान ही नहीं है। आहाहा! है?

आस्रवों में प्रवर्तता है या उनसे निवृत्त है? आस्रव में प्रवर्तता है **तो भी वह आत्मा और आस्रवों के...** अभेदत्व से अभेद हो गया, भेद तो रहा नहीं। तू उसे ज्ञान कहे और फिर पुण्य-पाप के बन्ध में और आस्रव में-विकार में वर्ते तो वह ज्ञान नहीं रहा, वह ज्ञान नहीं हुआ, आहाहा! न्याय समझ में आता है? यह तो लॉजिक से बात है बापू यह तो। आहाहा! अरे रे! यह वार्ता कहाँ है, भाई! यदि तू उसे ज्ञान कहे, और फिर भी वह ज्ञान पुण्य-पाप में वर्ते, तो वह ज्ञान ही नहीं है। यदि अज्ञान कहे, तब तो पुण्य-पाप में वर्तता है तो भेदज्ञान तो है ही नहीं वहाँ। ज्ञान कहे और पुण्य-पाप में वर्ते तो भी वह ज्ञान नहीं। आहाहा! आहाहा! और यदि आस्रवों से निवृत्त है, यदि वह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा

चैतन्य हूँ, ज्ञानस्वभावी वस्तु मेरा स्वभाव जनना-प्रज्ञास्वरूप ऐसा जो ज्ञान हुआ, वह यदि आस्रवों में प्रवर्तता है तो वह ज्ञान नहीं, और निवृत्त है, आहाहा! **आस्रवों से निवृत्त है तो ज्ञान से ही बन्ध का निरोध सिद्ध हो गया।**

ज्ञानस्वभावी भगवान ऐसे जहाँ राग से भिन्न पड़ा ज्ञान, वह ज्ञान आस्रव में नहीं प्रवर्तता। वह तो ज्ञान, ज्ञान में प्रवर्तता है; इसलिए उस ज्ञानमात्र से कर्मबन्धन रुक जाता है। आहाहा! ऐसी बातें! दुनिया की जाति में अब उसे यह बातें करे, कोई ऐसा करे और कोई ऐसा। बाकी मार्ग अलग भाई! परम सत्य की भनकार अलग प्रकार की है, भाई! आहाहा!

ऐसा सिद्ध होने से अज्ञान के अंश ऐसे क्रियानय का खण्डन हुआ। यह क्या कहा? कि अन्दर दया, दान, व्रत और भक्ति के परिणाम करते-करते कल्याण होगा, इसका निषेध किया। क्योंकि वह अज्ञान का अंश है वह। राग है, उसमें ज्ञान नहीं, वह क्रिया राग की है। आहाहा! क्या लॉजिक और न्याय से बात सिद्ध की है! यदि यह ज्ञानमात्र हुआ, आहाहा! उसमें राग और पुण्य-पाप के परिणाम जो हैं, वह क्रिया है राग की, और उससे भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान, उसमें प्रवर्ते नहीं, वह प्रवृर्ते अपने में। इसलिए जो कोई राग की क्रिया, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से कल्याण होता है, ऐसा माने तो उस अज्ञान के अंश क्रियानय का खण्डन किया। वह चीज़ खोटी है, उससे कल्याण है नहीं। अरे! आहाहा! अज्ञान और क्रियानय का खण्डन, क्रिया अर्थात् राग। यह राग है और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा और भगवान का स्मरण, वह सब विकल्प की वृत्ति का उत्थान है-उत्थान है, वह राग है। उस राग की क्रिया का खण्डन किया कि वह कोई धर्म नहीं है। एक बात।

और यदि आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है। यह क्या कहा? कंकड़ और गेहूँ, दो भिन्न किये। वे गेहूँ गेहूँ में रहे, कंकड़ भिन्न; इसी प्रकार पुण्य-पाप के विकल्पों की वृत्तियाँ रही, वे कंकड़ में रख और भगवान ज्ञानस्वरूप स्वयं चैतन्य है, उसमें स्थिर हुआ, आहाहा! ऐसे ज्ञान से ही आस्रवों से निवृत्ति हो गयी। और यदि आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है। यह क्या कहा? धारणा

में आया कि यह पुण्य-पाप के भाव भिन्न हैं और आत्मा भिन्न है—ऐसी धारणा हुई, परन्तु यह धारणा हुई किन्तु वह ज्ञान वापस प्रवर्तता है पुण्य-पाप में। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा!

कहते हैं कि यह शुभ-अशुभ की लगनियों की वृत्तियाँ उठे, उसमें यदि ज्ञान प्रवर्तता हो तो वह तो अज्ञान है, भले जानपना हो, उसके ख्याल में आया, परन्तु ख्याल में आने पर भी प्रवर्तता है तो राग में, पुण्य-पाप में, तो वह ज्ञान ही नहीं है। आहाहा! क्या कहते हैं ?

फिर से। दो, तीन बार चार बार कहें तब मुश्किल से (पकड़ में आये)। आहाहा! चैतन्यस्वरूप वस्तु भगवान ज्ञानमूर्ति आत्मा शाश्वत और पुण्य-पाप के कृत्रिम विकल्प भाव, आहाहा! इन्हें जाना, ख्याल में आया परन्तु ख्याल में आने पर भी वह ज्ञान, वहीं का वहीं वर्तता है तो वह ज्ञान ही नहीं है, अर्थात् जानपना हुआ, अर्थात् कि मुझे अब ज्ञान सम्यक् हुआ, ऐसे एकान्त ज्ञाननय का खण्डन किया। क्या कहा ? पहले ऐसा कहा कि शुद्ध चैतन्यमूर्ति ध्रुव वस्तु और पुण्य-पाप के कृत्रिम विकारी भाव, इनका इनसे धर्म माने कोई तो उसका यहाँ निषेध किया कि दया, दान, व्रत आदि के विकल्प हैं, वे तो राग हैं और राग से प्रभु भिन्न है तो भिन्न का भान नहीं और राग में प्रवर्तता है, वह तो धर्म नहीं। एक बात।

अब कोई कहे कि क्रियानय का खण्डन किया। अब ज्ञाननय का खण्डन अर्थात् ? कि यह जो शुभ-अशुभभाव है और यह मैं भिन्न हूँ, ऐसा एक जानपने में, ख्याल में बात आयी, परन्तु ख्याल में रखकर वापस वर्तता है उसी का उसी में, तो वह ज्ञान नहीं है। न्याय समझ में आता है ? यह तो कोर्ट रखी है कॉलेज की। कितना ही पढ़ा हुआ हो, फिर कॉलेज में जाये न ? कितना ही-कितना ही जानपना होना चाहिए तो यह पकड़ में आये ऐसी बात है। क्या कहा यह ? कि आत्मा जो शुद्ध चैतन्यघन प्रभु और पुण्य-पाप के विकल्प विकार, उस विकार से कोई धर्म मानता हो तो वहाँ से निवृत्त हो तो धर्म हो, ऐसा कहकर उसका खण्डन किया।

दूसरी बात। यह कोई जानपने का नाम धराकर और हमको ज्ञान है परन्तु हम शुभ-

अशुभभाव में प्रवर्तते हैं, तो वह ज्ञान एकान्त ज्ञान खोटा है, तो उस ज्ञाननय का खण्डन कर दिया। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञाननय और निश्चयाभास इनमें कुछ अन्तर है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह एक ही हुआ, एक ही।

कोई क्रिया जड़ हो रहे शुष्क ज्ञान में कोई;
माने मारग मोक्ष का करुणा उपजे जोई।

यह श्रीमद् का वाक्य है। श्रीमद् राजचन्द्र। कोई क्रिया जड़ हो रहे, कोई दया, दान, व्रत, तप और भक्तिभाव से धर्म माननेवाले वे क्रिया जड़ हैं। आहाहा! और शुष्क ज्ञान में कोई–और ज्ञान की बातें करे परन्तु पुण्य और पाप से भिन्न नहीं करता और स्वभाव में नहीं आता, तू शुष्क ज्ञानी, रूखा ज्ञानी, खोटा ज्ञानी है। आहाहा!

मुमुक्षु : धारणा ज्ञान की ऐसी कीमत?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा तो ग्यारह अंग का जानपना अनन्त बार हुआ है। उसमें आया नहीं था उसे ख्याल में? अनन्त बार–अनन्त बार पढ़ा है। ख्याल में तो आया था न कि राग और यह दोनों भिन्न कहते हैं। इतना ज्ञान की धारणा में आया था, परन्तु ज्ञान राग से निवृत्त होकर अन्दर में प्रवर्तता है, वह प्रगट नहीं हुआ था, भेद करके। उस ज्ञाननय का खण्डन किया, अकेला जानपना नाम धरावे और अन्दर ज्ञान में न जाये और पुण्य–पाप में प्रवर्ते तो वह ज्ञान नहीं है। ऐई! यह तो...

मुमुक्षु : बारम्बार निर्णय करनेयोग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू! करनेयोग्य है, भाई। ऐसा मनुष्य देह मिला। अरे! यह नहीं करे तो तू कहाँ जायेगा? तू तो आत्मा अनादि रहनेवाला है, देह छूटकर भी कहीं तो जाएगा। भान नहीं तो कहाँ जाएगा भटकने। आहाहा! इसलिए यह तो इसे शब्द का भान करना पड़ेगा। आहाहा! करना पड़ेगा नहीं, वस्तु का स्वरूप ही है, उस प्रकार से जानना पड़ेगा। आहाहा! यह कल्याण है, भाई! दुनिया तो अनेक प्रकार से ऐसे लोक की सेवा करना। लोक का यह करना, सबकी करुणा करना, दूसरे को आहार–पानी देना, भूखे को आहार–पानी देना, प्यासे को पानी देना, मकान न हो, उसे मकान देना, इन सब क्रिया में

धर्म नहीं है। यह राग की-पुण्य की क्रिया है। कठिन बात है, भाई! मार्ग तो परम सत्य यह है 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पंथ'। मार्ग, दुनिया के कान में न पड़े और सुनने में मिला नहीं, इसलिए कहीं सत् थोड़े ही बदल जाए ऐसा है ? आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि यदि उसे तू ज्ञान कहे और वह ज्ञान आस्रव में पुण्य-पाप में प्रवर्ते तो वह ज्ञान ही नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। सुनने में मुश्किल पड़े, वह उपदेश ऐसा होवे कि ऐसा करो, ऐसा करो, देश सेवा करो, देश के लिये शहीद हो जाओ। मरते हैं न ? यह देश के लिये मरे न ? सब बहुत देखा है। आहाहा!

मुमुक्षु : आप पुण्य को उड़ाते क्यों हो ? पुण्य से आगे बढ़ने का कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पुण्य है, वह राग है; इसलिए भिन्न कर तो आगे बढ़ा कहलाये। ऐसी बात, बापू! आहाहा!

पूरी दुनिया फँस गयी हैं कहीं न कहीं, कहीं न कहीं। जहाँ-तहाँ फँसे हैं। कहीं कोई पुण्य में फँसे और कोई देशसेवा में और इसमें और उसमें। हम दुनिया की सम्हाल रखते हैं और देश को सुखी करने के मार्ग में हैं। सब अज्ञानी की भ्रमणा है। आहाहा! सुखी होने का पन्थ तो प्रभु! तुझमें है। आहा! यह पुण्य-पाप के भाव से रहित प्रभु आत्मा आनन्दस्वरूप है। वस्तु है, वह अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। उस आनन्दस्वरूप में राग से भिन्न पड़कर अन्दर में आनन्द में आना, यह इसका नाम धर्म है, बाकी सब बातें व्यर्थ हैं। फिर करोड़ों रुपये खर्च करे और करोड़ों के मन्दिर बनावे और प्रतिमा बनावे और बड़ी वीर रथयात्रा और गजरथ करते हैं न ? गजरथ करते हैं, दिगम्बर में। पाँच-पाँच लाख खर्च करके। करोड़ खर्च करे न धूल में, वहाँ कहाँ धर्म था ? आहाहा! वहाँ भाव शुभ हो, पुण्य हो। पुण्य, वह बन्धन का कारण है। कहो, देवीलालजी!

दो बातें आयीं, राग से धर्म माननेवाले, उन क्रियानयवालों का खण्डन किया और ज्ञान और जानपना करे, और राग में प्रवर्ते, तो उस ज्ञान—एकान्त ज्ञान का खण्डन किया। यह ज्ञान उसे कहते हैं कि जो राग से निवृत्त हो और प्रवृत्ति छोड़कर अन्दर में जाये, उसे ज्ञान कहते हैं। नहीं तो ज्ञान रूखा-शुष्क ज्ञानी है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! ऐसा है। इतनी लाईन में कितना भरा है, यह तो। यह तो सिद्धान्त है न, मन्त्र है, प्रभु! जागते जागती

ज्योति प्रभु को जगाने के यह तो मन्त्र हैं। आहाहा! परन्तु बहुत कठिन पड़े, अभी प्रवृत्ति इतनी अधिक हो गयी। ओहोहो! मानो किसी को वस्त्र न हो, उसे वस्त्र के ढ़ेर दें, गाड़ा के गाड़ा भरकर वस्त्र देते हैं न! यहाँ पालीताणा में ऐसा बहुत कि साधुओं के लिये गाड़ा के गाड़ा भरकर लेकर देते हैं। हाँ, है न यहाँ है, सब देखा है। यह शुभभाव की क्रिया जो है, उसे धर्म मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि—झूठी दृष्टिवाला है। आहाहा!

इस राग की क्रिया से... देह की क्रिया तो जड़ है, वह तो मिट्टी है। ऐसे हिले-चले वह तो जड़ की उसके कारण से चलता है, आत्मा से कुछ ऐसे-ऐसे नहीं होता। उसकी (जड़ की) पर्याय है। जरा सूक्ष्म बात है। परमाणु है, अस्ति-जगत का तत्त्व है परमाणु अजीव। उसकी अवस्था ऐसे-ऐसे हो, वह यहाँ उसकी पर्याय है। आत्मा उसकी पर्याय नहीं कर सकता। उसकी बात तो एक ओर रखो। परन्तु अन्दर में जो कुछ शुभ और अशुभभाव होते हैं, वह मेरा कर्तव्य है और मैं उसका कर्ता हूँ, तब तक वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मूढ़ है। समझ में आया? आहाहा! यह प्रभु अन्दर शाश्वत् चैतन्यमूर्ति ज्ञान का पुंज है। आनन्द का-स्वभाव का सागर है, अनन्त-अनन्त शक्तियों का संग्रहालय, मकान का स्थान है। अनन्त-अनन्त शान्ति आदि का गोदाम यह आत्मा है। अरे रे! यह कैसे जँचे इसे। एक-दो बीड़ी ठीक से पीवे, जब सिगरेट (पीवे) ऐसे तब भाईसाहेब को पायखाने में दस्त उतारे, इतने तो अपलक्षण हैं। अब, अपने तो जिन्दगी में बीड़ी पी नहीं। परन्तु सब पायखाने के जाने, दो पीवे तब दस्त उतारे। अब ऐसे तो अपलक्षण। अब उसे ऐसा कहना, भगवान! तेरा स्वरूप अन्दर आनन्द और ज्ञान का सागर है, हों! आहाहा! प्रभु! यह पुण्य-पाप के परिणाम तेरे नहीं, तेरी चीज़ नहीं, तो फिर यह बाहर की चीज़ स्त्री, पुत्र और कुटुम्ब धूलधमाल, पैसा, करोड़पति और अरबपति वह तो सब जड़पति है। आहाहा!

यह तो आनन्द का सागर भगवान पुण्य और पाप से भिन्न, उसका जो स्वामी हो, वह आत्मस्वामी है। आहाहा! स्वस्वामीसम्बन्ध, भाई आता है न? आत्मा में एक गुण है, स्वआत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति अनन्त ज्ञान आदि स्व, उसका स्वामी, उसका आत्मा स्वामी। पर का नहीं, आहाहा! पत्नी पति को पतिदेव कहकर बुलावे, वहाँ वह प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। पतिदेव, पति उसे धर्मपत्नी कहकर बुलावे। धर्म कहाँ था धूल में, परन्तु धर्मपत्नीरूप से बुलावे। यह सब पागल के लक्षण हैं, ऐई! कभी पत्नी थी कब तेरी? वह तो पर आत्मा

है, परवस्तु है और पति तेरा कहाँ था ? वह तो पर आत्मा है। उसकी तो बात निकाल दी, परन्तु अन्दर में इसकी भूल से जो पुण्य और पाप के भाव होते हैं, आहाहा! उनका स्वामी हो, वह भी मिथ्याबुद्धि, अज्ञान है। आहाहा! अरे! अब ऐसी बातें, क्या हो ? वस्तु तो सत्य तो इस प्रकार से है, भाई! यह सत्य को दूसरे किसी प्रकार से खींचकर उल्टा करे, वह हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह यहाँ कहा। क्रियानय का खण्डन किया कि यह राग की क्रिया दया, दान, व्रत, भक्ति, सेवा करने से अपना कल्याण होगा, इन अज्ञानियों का निषेध किया कि यह तेरी बात खोटी थी। इसी तरह जानपने का ज्ञान धराकर और पुण्य-पाप में प्रवर्ते, उनसे निवृत्त न हो तो उस ज्ञाननय का खण्डन किया कि वह तेरा जानपना झूठा पड़ा। आहाहा! 'कोई क्रिया जड़ हो रहे,' यह राग की क्रिया करके धर्म हो गया, धर्म हो गया, भगवान की पूजा की और भगवान की सेवा की और आरती उतारी आरती, जय नारायण। उसमें क्या भला हुआ ? वह तो राग है, वृत्ति का उत्थान है। उसमें धर्म मानना, वह तो महा अज्ञान है। कठिन बात, प्रभु! समझने के लिये समय चाहिए, प्रभु! इसे ऐसी चीज़ तो अपूर्व-अपूर्व बात है। पूर्व में कभी किया नहीं, सुना नहीं। आहाहा! यह क्रियानय और (ज्ञाननय) दोनों का खण्डन किया। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १५३, गाथा-७२ दिनांक २७-१२-१९७८, बुधवार, मागसर कृष्ण १३

(समयसार) कर्ता-कर्म अधिकार, गाथा ७२।

अब पूछता है कि ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध कैसे होता है ? पहले यह आ गया है कि आत्मा अनादि से राग-द्वेष के जो परिणाम हैं, उनका कर्ता होकर और उसका वह कर्म है, ऐसा मानता है। और ज्ञाता-दृष्टा की जो अवस्था है, उसका त्याग करके, अर्थात् कि अवस्था थी, हुई है, और उसका त्याग करके, ऐसा नहीं। परन्तु आत्मा तो ज्ञान दर्शन और आनन्द का कन्द है तो उसकी अवस्था तो वास्तव में तो जानना-देखना वह अवस्था होना चाहिए। परन्तु उस अवस्था का त्याग करके अर्थात् कि उस अवस्था को उत्पन्न न करके, पुण्य के परिणाम आदि के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है और वह राग मेरा कर्म है, ऐसा इसे अज्ञानपने में भासित होता है। आहाहा! दोनों की भिन्नता को न जानकर राग का भाव और स्वभावभाव दो का विशेष अन्तर भिन्न न जानकर दो में एकपने जो प्रवर्तता है, वह अज्ञानी विकार के कर्तारूप से भासित होता है और विकार उसका कार्य है।

पश्चात् (गाथा) ७१ में ऐसा कहा कि जब आत्मा स्वभाव के सन्मुख होकर विभाव से विमुख होकर ज्ञाता-दृष्टारूप से भासित होता है, तब उसे क्रोधरूप भासित नहीं होता। क्या कहा यह ? जब आत्मा राग से भिन्न पड़कर और आत्मा के ज्ञान, दर्शन और आनन्द के परिणाम को करता है, तब उसे ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम मालूम-अनुभव में मालूम में आते हैं, तब उसे स्वभाव से विरुद्ध ऐसा जो विभाव, उसका कर्तापना वहाँ भासित नहीं होता, अर्थात् नहीं होता। भासित नहीं होता पाठ (में) ऐसा शब्द अन्दर है, उसका अर्थ कि होता नहीं। आहाहा!

राग का विकल्प जो पर्यायबुद्धि में है, उससे भिन्न पड़कर चैतन्यस्वभाव का जहाँ परिणमन होता है, तब उसे ज्ञातादृष्टा के अनुभव के परिणाम का वेदन, भास कर्ता, कर्म वह उसे भासित होता है, उस काल में राग का कर्तापना स्वभाव से विरुद्ध ऐसा राग, राग का प्रेम, ऐसा जो स्वभाव के प्रति क्रोध, उस क्रोध के प्रति मेरापना वहाँ होता नहीं। स्वभाव के भान के काल में स्वभाव से विरुद्ध जो राग का प्रेम और क्रोध का परिणमन उस समय

होता नहीं, इसलिए वह भासित नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है। इसलिए उसे राग से भिन्न ऐसे ज्ञातादृष्टा के परिणाममात्र से बन्ध का निरोध होता है, उसे बन्धन रुक जाता है। आहाहा! तब शिष्य का यह प्रश्न हुआ। **अब पूछता है कि...** यह प्रश्न क्यों उठा? कि जब वह राग से भिन्न पड़कर स्वभाव की दृष्टि का अनुभव करता है अर्थात् कि ज्ञाता-दृष्टा का अनुभव करता है, उस ज्ञानमात्र से ही उसे बन्धन रुक जाता है। वह ज्ञान अर्थात् राग से भिन्न पड़कर आनन्द, ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता, वह ज्ञान। आहाहा!

यह ज्ञानस्वरूप आत्मा में एकाग्र होने से यह आत्मा का ज्ञान हुआ और राग से भिन्न पड़ा, ऐसे ज्ञानमात्र से अर्थात् स्वभाव की एकाग्रतारूपी ज्ञान की क्रियामात्र से उसे बन्धन रुक जाता है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए शिष्य का प्रश्न उठा है। अब शिष्य पूछता है, ज्ञानमात्र से ही, **ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध कैसे होता है?** बस, तुमने तो यह ज्ञानमात्र हुआ, वहाँ से उसे बन्ध रुक गया, किस प्रकार कहते हो? क्या कहते हो?

मुमुक्षु : क्रिया कहाँ गयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस ज्ञानमात्र से अर्थात् राग की जो परिणति की क्रिया है, उससे तो बुद्धि उठा ली है। धर्मी जीव ने वहाँ से बुद्धि उठाकर आत्मा आनन्दस्वरूप है, यह ज्ञानस्वरूप है, वहाँ बुद्धि को स्थापित किया है, इसलिए वहाँ बुद्धि का ज्ञान में एकाग्रपना है। अकेला जानपना / धारणा है, ऐसा नहीं-ऐसा कहते हैं। आहाहा! देवीलालजी! ऐसी सूक्ष्म बात है। आहाहा!

अरे! जगत को कहाँ, सत्य क्या है? आहाहा! जो स्वरूप ज्ञातादृष्टा अर्थात् अनन्त गुण का सागर प्रभु, उसे राग का चाहे तो शुभविकल्प हो, उससे भी रुचि बदलकर अर्थात् कि पर्यायबुद्धि छोड़कर, वर्तमान राग के अंश के ऊपर जो रुचि थी, उसे छोड़कर जिसे त्रिकाली ज्ञातादृष्टा के प्रति की रुचि और परिणमन हुआ, उसे उस ज्ञानमात्र से ही बन्ध का रुकना हो जाता है, इसलिए उसका प्रश्न है। उसमें **ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध कैसे होता है?** स्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान हुआ, राग से भिन्न पड़कर - ऐसे ज्ञानमात्र से उसे उस प्रकार का बन्ध रुक जाता है। सब बन्ध रुक जाता है, ऐसा नहीं। इसमें भी विवाद है, आगे आयेगा। ७२ गाथा।

यह तो इसका उपोद्घात किया। आहाहा! अरे! मार्ग, वह मार्ग है।

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीय-भावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

नीचे हरिगीत –

अशुचिपना, विपरीतता ये आस्रवों का जानके।
अरु दु:खकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव करे ॥७२॥

टीका :– जल में शैवाल (काई) है सो मल है। जल में शैवाल है, वह मल है। **मैल है...** मल है, वह यहाँ कोष्ठक किया अर्थात् कि मल है अर्थात् क्या ? मैल है, ऐसा। **उस शैवाल की भाँति...** पानी में जैसे शैवाल, मल और मैल है, उसी प्रकार **शैवाल की भाँति आस्रव...** शुभ–अशुभभाव। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का भाव; हिंसा, झूठ, चोरी, यह तो ठीक अशुभ। ऐसा जो शुभभाव, वह आस्रव है, वह मलरूप अर्थात् ? मैलरूप अनुभव में आता होने से, **अनुभव में आते हैं इसलिए...** आहाहा! अनादि के यह पुण्य और पाप के भाव मैलरूप अनुभव में आते हैं, यह मैल है। आहाहा! चाहे तो यह व्रत, तप और भक्ति आदि का भाव हो, परन्तु वह आस्रव है अर्थात् वह नये आवरण का कारण है। वह मलरूप से अर्थात् पुण्य के भाव मैलरूप से वेदन में आते हैं, मैलरूप से अनुभव में आते हैं। आहाहा! **इसलिए वे अशुचि हैं।**

क्या कहा ? जैसे जल में शैवाल मल और मैल है; उसी प्रकार भगवान आत्मा में शुभ और अशुभभाव शैवाल की भाँति मैलरूप अथवा मलरूप अनुभव में आते होने से, आहाहा! वे मैलरूप वेदन में आते होने से वे आत्मा नहीं हैं, वे अशुचि हैं। आहाहा! चाहे तो यह गुण–गुणी के भेद का जो विकल्प उठे, वह भी मल है और वह मैलरूप–मलरूप से अनुभव में आता है, इसलिए वह शुभराग अशुचि है। आहाहा! अब इसमें तो सब अभी झंझट खड़ी की है, यह क्रिया वह धर्म है। आहाहा! यह शुभभाव...

मुमुक्षु : इस काल में शुभभाव ही होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहते हैं। अरे! प्रभु! तू क्या करता है, भाई! वह श्रुतसागर एक साधु है, शान्तिसागर की पेढी में आनेवाली परम्परा में आये हुए हैं। वे कहते हैं कि पंचम काल में तो शुभयोग ही होता है। अरर! प्रभु! प्रभु! प्रभु! शुभयोग तो आस्रव है, मल

है, मैल ही है। अभी धर्म सम्यग्दर्शन-ज्ञान है ही नहीं। आहाहा! क्या हो? वे **मैलरूप अनुभव में आते हैं इसलिए वे अशुचि हैं...** इसका कोष्ठक में लिखा अशुचि अर्थात् **अपवित्र है...** यह शुभभाव पर्याय में होता है; द्रव्य-गुण में तो नहीं। पर्याय में-अवस्था में होता है, वह अशुचि है, अपवित्र है।

और भगवान आत्मा,... आहाहा! देखो, आचार्यों ने आत्मा को भगवानरूप से सम्बोधन किया है। आहाहा! इन आस्त्रव के भाव से भिन्न... तब आस्त्रव है, वह पुण्यतत्त्व है और पापतत्त्व है, तब उनसे भिन्न ज्ञायक भगवान आत्मा ऐसा, नवतत्त्व में आता है न, इसलिए पुण्य-पाप तत्त्व उसमें गये, तब एक तत्त्व ज्ञायक रह गया। वह **भगवान आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल...** अकेला निर्मल नहीं लिया; अति निर्मल। आहाहा! उसका तो चैतन्यमात्र स्वभाव, चैतन्य—जानना-देखनामात्र, रागादिमात्र उसमें नहीं। आहाहा! मात्र शब्द प्रयोग किया है न? चैतन्य, अति निर्मल चैतन्यमात्र स्वभाव—जानना-देखनामात्र स्वभाव, मात्र सिवाय अर्थात् कि उसमें कोई राग का रजकण या अंश नहीं है। क्योंकि राग तो अचेतन है, भगवान आत्मा तो चैतन्यमात्र स्वभाव है। आहाहा!

भगवान आत्मा तो... आहाहा! **सदा ही अतिनिर्मल...** त्रिकाल, अति निर्मल, अकेला निर्मल नहीं लिया। पर्याय की निर्मलता है, यहाँ तो त्रिकाली की अतिनिर्मलता। समझ में आया? पर्याय में निर्मलता आवे धर्म की, वह निर्मल है। प्रभु तो अति निर्मल है। आहाहा!

मुमुक्षु : अति निर्मलता का पिण्ड लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अति निर्मल वस्तु ही अति पवित्रत का पिण्ड है। ऐसा पूछा, अति निर्मल क्यों कहा? ऐसा कहा कि परिणति में निर्मलता होती है परन्तु यह प्रभु तो त्रिकाली अति निर्मल स्वरूप है। **सदा ही अति निर्मल चैतन्यमात्र स्वभावरूप से...** स्व...भाव, उसका तो चैतन्य जानन-देखना स्व-अपने भावरूप अति निर्मल भगवान सदा ही चैतन्यमात्र स्व...भावरूप से ज्ञायक होने से, **चैतन्यमात्र स्वभावरूप से ज्ञायक है इसलिए...** द्रव्य लिया। स्वभाव ऐसा है, इसलिए वह ज्ञायक है। आहाहा! ७२वीं (गाथा) फिर से लिया है, ऐसा कहा था न रामजीभाई ने। रात्रि में। नहीं तो वाँचन हो गया है। आहाहा! आहाहा!

भगवान आत्मा... एक ओर पुण्य और पाप के भाव की अशुचिता बतायी और अपवित्रता बतायी तथा इस ओर भगवान आत्मा सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यमात्र स्वभावरूप से जानने-देखने के स्वभावरूप से ज्ञायक होने से, इस प्रकार से ज्ञायक होने से। आहाहा! **अत्यन्त शुचि...** पहले अति निर्मल लिया था न, इसलिए अत्यन्त शुचि है, अकेली शुचि, ऐसा नहीं; अति शुचि है। क्या टीका? आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य की टीका एक-एक शब्द।

मुमुक्षु : क्या टीका की टीका!

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ऐसी बात है, इसे समझने के लिये बापू! पहले बहुत एकाग्रता चाहिए। अति, यह अत्यन्त शुचि है, यह इतना शब्द नहीं है, **अत्यन्त शुचि ही है..** एकान्त कर दिया। आहाहा! भगवान आत्मा, चैतन्यमात्र स्वभावरूप से सदा ही अति निर्मल होने से, निर्मल ज्ञायक होने से, अति शुचि ही है। आहाहा! अति निर्मल पवित्रता का पिण्ड प्रभु है। आहाहा! पवित्र ही है, इसका—शुचि का स्पष्टीकरण किया है, शुचि ही है अर्थात् **पवित्र ही है...** परन्तु यहाँ भी 'ही' है, और **उज्ज्वल ही है,...** आहाहा! एक बोल लिया, अशुचि का एक लिया।

णादूणं-इसे जानकर। ऐसा शब्द है न पहला? **णादूणं**-जानकर। आहाहा! इस प्रकार से आस्रवों को जानकर, ऐसा, भिन्न जानकर, आहाहा! भाई! यह तो धीर का काम है। आहाहा!

दूसरा बोल। आस्रव, चाहे तो भगवान की भक्ति आदि का समवसरण दर्शन आदि का, यह वाणी सुनने का भाव आदि जो है, आहाहा! यह शुभभाव **आस्रवों का जड़ स्वभावत्व होने से...** इस राग में जड़पना है। क्यों? राग स्वयं जानने के स्वभाव के अभावस्वरूप है। आहाहा! आस्रवों को जड़स्वभाव। जड़भावत्व, ऐसा नहीं लिया, जड़स्वभावत्व। जड़भाव, ऐसा भी नहीं लिया। आहाहा! उसका एक राग जो है शुभराग, उसका जड़स्व-भाव, उसका स्व-भाव ही जड़ है। आहाहा! अब यहाँ उसे धर्म का कारण मानना है जगत को। नहीं तो एकान्त होता है, ऐसा कहते हैं। प्रभु! प्रभु! तू क्या कहता है भाई? तेरे घर के हित की बात है, उसका तू अनादर करेगा भाई! आहाहा! भगवान अति शुचि ही है, अति पवित्र ही है, अति उज्ज्वल ही है, उसके सामने अब कहते हैं कि आस्रव, वह जड़ है। यह दूसरा बोल।

यह शुभ और अशुभभाव... शरीर अशुचि, मैल मल है, उसकी यहाँ बात नहीं है। यह जो जड़ है, माँस, हड्डियाँ, चमड़ी अशुचि, वह तो जड़ का है, उसकी यहाँ बात नहीं है। पुद्गल के उसकी यहाँ बात नहीं है। इसमें होनेवाले पुण्य और पाप के शुभ और अशुभभाव को जड़स्वभावत्व, जड़ स्वभावपना, आहाहा! उसका सत्त्वपना जड़ स्वभावपना सत्त्व है, ऐसा कहा। उसका पना जड़ स्वभावपना है। आहाहा! जड़ स्वभावपने, ऐसा नहीं लिया वापस। जड़ स्वभावत्व उसका, आहाहा! **होने से वे दूसरों के द्वारा जाननेयोग्य है...** आहाहा! जगत को कठिन लगे। भाई! परन्तु मार्ग तो यह है। चाहे तो भगवान की भक्ति, व्रत, तप का भाव आवे, वह सब जड़ स्वभाव है, क्योंकि वह विकल्प है, वह अचेतनस्वभावी है, वह स्वयं जानने के स्वभाव का अभाव-स्वभाव है। आहाहा!

वे दूसरों के द्वारा जाननेयोग्य है... अर्थात्? राग जो दया, दान, व्रत आदि है, उसका जड़ स्वभावत्व होने से वह उसे नहीं जानता, परन्तु वह दूसरों के द्वारा ज्ञात होनेयोग्य है। आहाहा! वे दूसरों के द्वारा अर्थात् कि जाननेवाले के स्वभाव द्वारा वे ज्ञात होनेयोग्य है। आहाहा! जाननहार स्वभाव ऐसा भगवान आत्मा, उसके द्वारा वह ज्ञात होनेयोग्य है। राग द्वारा राग ज्ञात होनेयोग्य है नहीं। क्योंकि वह जड़ और अचेतन स्वभावरूप होने से। आहाहा! यह अकेले अमृत बहाया है। टीका, वह टीका है न? चाहे जितनी बार पढ़ो तो उसमें भाव-भाव अनन्त भरे हैं। आहाहा!

वे दूसरों के द्वारा ज्ञात होनेयोग्य है अर्थात्? **(क्योंकि जो जड़ हो वह अपने को तथा पर को नहीं जानता।)** राग-राग है दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का, वह राग स्वयं राग है, ऐसा नहीं जानता। तथा वह राग चैतन्यस्वरूप को तो जानता नहीं, वह राग दूसरे के द्वारा—ज्ञात होनेयोग्य पदार्थ से ज्ञात होनेयोग्य है-ज्ञात होनेयोग्य पदार्थ को ज्ञात होनेयोग्य है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। वह तो दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो कितना सीधा-सट्ट। ऐसा तो अनन्त बार किया है, बापू! वह तो संसार है। यहाँ तो संसार के परिणाम से भिन्न है, उसे बतलाना है, जिसमें संसार के परिणाम उदय ही नहीं, जन्म-मरण तो नहीं, परन्तु जन्म-मरण के कारण के भावरूप भाव उसमें नहीं है। आहाहा! क्योंकि जो जड़ होता है, वह अपने को अर्थात् राग को जाने (नहीं), वह राग पर को जानता नहीं, राग राग को जानता नहीं। राग के साथ है आत्मा चैतन्यप्रभु। राग है दया, दान,

व्रत का, वह राग राग को जानता नहीं, राग के साथ चैतन्य है, उसे जानता नहीं। आहाहा! स्व-परप्रकाशक यहाँ है न इसलिए यहाँ स्व-पर अप्रकाशक हुआ कहते हैं। आहाहा!

(क्योंकि जो जड़ हो, वह अपने को तथा पर को नहीं जानता।) उसे दूसरा ही जानता है। आहाहा! यह राग जड़ है, वह अपने को नहीं जानता, पर को नहीं जानता। आहाहा! यहाँ स्व-परप्रकाशक है, इसलिए स्व-पर अप्रकाशक है न? गजब बात है। आहाहा! वह राग जानता नहीं, इतने से नहीं लिया परन्तु राग अपने को जानता नहीं और राग पर को जानता नहीं। पण्डितजी ने इतना स्पष्टीकरण किया है। आहाहा! अरे रे! अभी तो उसमें सब मनवा लिया गया है यात्रा और भक्ति। अरे रे! प्रभु! क्या है, भाई! इसका योगफल बापू! वर्तमान में नहीं दिखता, योगफल आयेगा, (तब) कठिन पड़ेगा प्रभु! उसमें धर्म मानकर रुक गया है, उसका फल राग की एकत्वबुद्धि में दब जायेगा, भाई! और उस राग की एकता में उससे लाभ होता है, ऐसा माना है, इसलिए उसकी एकता में दब जायेगा प्रभु! आहाहा! तेरी भिन्न चीज़ को तू नहीं रख सकेगा। आहाहा! आहाहा!

देह के छूटने के काल में तो प्रभु! राग से एकत्व जिसने तोड़ा है, उसे राग से भिन्नपने देह छूटेगी। आहाहा! जिसने राग की एकत्वबुद्धि से, नहीं जाननेवाले को जाननेवाले के साथ एकत्व करने से, आहाहा! राग का भाव जो शुभ है, वह नहीं जाननेवाला होने से, उसे नहीं जाननेवाला होने से और पर को नहीं जाननेवाला होने से, दो बात; और पर द्वारा ज्ञात होने से, तीन बात। आहाहा! भाई! इसलिए उसे प्रभु ऐसा कहते हैं कि उसे जड़पना है, प्रभु! आहाहा! वह अन्ध है। आहाहा! राग का भाव, वह अन्ध है। आहाहा! अन्ध नहीं अपने को देखता, अन्ध नहीं पर को देखता। चैतन्य से अन्ध्य स्वभाववाले हैं। आहाहा!

इतना सिद्ध करके, भगवान चैतन्यस्वभाव जो है, आहाहा! जानन-देखन चैतन्य स्वभाव है, ऐसा जो भगवान चैतन्यस्वभाव है। आहाहा! आहाहा! **वे** (पुण्य-पाप) **चैतन्य से अन्य स्वभाववाले हैं।** आहाहा! वे चैतन्य से—जानन-देखन स्वभाव ऐसा चेतन-चैतन्यस्वभाव, चेतन का चैतन्यस्वभाव, चेतन का चैतन्यस्वभाव वह राग—पुण्य-पाप के भाव उससे अन्य स्वभाववाले हैं। आहाहा!

अब आया, भगवान आत्मा... आहाहा! **भगवान आत्मा तो...** तो ऐसा कहा, तब

भगवान आत्मा तो ऐसा। जब उन्हें जड़ स्वभावत्व होने से स्व-पर को नहीं जानते, इसलिए आत्मा तो उनसे भिन्न जाति है, कहते हैं। आहाहा! **अपने को सदा विज्ञानघन स्वभावपना होने से,...** भगवान आत्मा अपने को स्वयं, सदा, स्वयं सदा ही विज्ञानघन स्वभाव, आहाहा! जिसमें विकल्प का प्रवेश नहीं हो सकता, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! **विज्ञानघन स्वभावपना होने से,...** आहाहा! जैसे सर्दी का घी, पहले पक्का घी होता था, अँगुली प्रवेश नहीं करे अँगुली, फाँस लगे। आहाहा! इसी प्रकार प्रभु स्वयं अपने से, ऐसा कहते हैं। सदा विज्ञानघन—विज्ञानघन स्वभावपना होने से, आत्मा को, हों! उस आत्मा को विज्ञानघन स्वभावपना होने से, ऐसा। है न?

भगवान आत्मा तो,ऐसा। वस्तु ली। स्वयं, सदा विज्ञानघन स्वभावपना होने से। आहाहा! स्वयं सदा विज्ञानघन स्वभावपना स्व-अपना भावपना वह है। **विज्ञानघन स्वभावपना होने से स्वयं ही चेतक (ज्ञाता) है...** आहाहा! स्वयं 'ही' ज्ञाता है। भगवान आत्मा स्वयं सदा विज्ञानघन स्वभावपना होने से, आत्मा तो स्वयं विज्ञानघन स्वभावपना होने से चेतक है।

वह तो जानने-देखनेवाला है। आहाहा! चेतक ही, ज्ञाता ही है, वह तो ज्ञाता ही है, प्रभु! आहाहा! **(स्व को और पर को जानता है।)** आहाहा! उसमें डाला था न। अपने को और पर को नहीं जानता, ऐसा डाला था। आहाहा! अपने को और पर को जानता है। स्वयं आनन्दघन विज्ञानघन है, उसे भी जानता है और रागादि को भी अपने में रहकर, स्पर्श किये बिना भी जानता है। अपने को और पर को जानता है। इसलिए आत्मा, आत्मा है न, लिया है न यहाँ? **चैतन्य से अनन्य स्वभाववाला ही है...** इसलिए आत्मा, आहाहा! चैतन्य से जानन-देखने स्वभाव से अनन्य अर्थात् अन्य-अन्यरूप नहीं परन्तु अनन्य स्वभाववाला है। अभेदस्वभाव है, ऐसा कहते हैं। है न, अनन्य है न? आहाहा! इसलिए आत्मा सदा विज्ञानघन स्वभाव स्वयं होने से चेतक है। इसलिए वह चैतन्य से अनन्य स्वभाववाला ही है, अभेद स्वभाव है। आत्मा चैतन्यस्वभाव अभेद है, अनन्य है, अन्य-अन्य नहीं; अनन्य है। आत्मा को विज्ञानघन स्वभाव अनन्य है। अन्य-अन्यपने नहीं परन्तु एकपने है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात है। लो, यह दूसरी बार भाई ने लिबाया। आहाहा!

मुमुक्षु : कल था, उससे अधिक आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भाई ! कहीं वह का वह आवे, ऐसा है ? आहाहा !

चैतन्य से आत्मा, अनन्य स्वभाववाला 'ही' है। कोष्ठक में कहा है कि **चैतन्य से अन्य स्वभाववाला नहीं,** ऐसा। अन्य भावपना नहीं, परन्तु अनन्य भावपने आत्मा है। आहाहा ! यह तो बहुत, भाई ! यह तो आत्मा की बात है, भगवान ! इसे तो बहुत ध्यान रखे तो पकड़ में आये ऐसा है। आहाहा ! उसमें एक-एक अक्षर के शब्दों में बड़ा अन्तर है। दो बोल हुए।

मुमुक्षु : जानता है या जानने की शक्तिरूप स्वभाववाला है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वभाव, परन्तु स्वभाव कहो या शक्ति कहो, वह तो एक का एक हुआ, क्या अर्थ ? यह कहा है उसका अर्थ क्या हुआ ? शक्ति कहो, गुण कहो या स्वभाव कहो, सब एक का एक है। जानने की पर्याय करता है, ऐसा यहाँ प्रश्न नहीं है। यहाँ तो जानने के स्वभाववाला जाननस्वभाव चैतन्यस्वभाव, शक्ति स्वभाव, गुण स्वभाव, चैतन्य स्वभाव, सब एक ही (स्वरूप) है। चैतन्यस्वभावपना होने से, उससे आत्मा को अनन्यपना है, अन्यपना नहीं परन्तु अभेद है ऐसा। आहाहा ! शक्ति कहो या स्वभाव कहो या गुण कहो, सब तो एक का एक अर्थ होता है। यहाँ तो अधिक तो स्वभावसिद्ध करना है न ? आहाहा ! पुण्य-पाप का भाव उसका स्वभाव नहीं। वह तो विभावरूपी जड़ स्वभाव है, ऐसा सिद्ध करने के लिये उसे यहाँ चैतन्य स्वभाववाला होने से चेतक है, ज्ञाता है। आहाहा !

आस्रव... तीसरा बोल। शुभ और अशुभभाव जिसे दुनिया अभी व्रत, तप और भक्ति को धर्म माने, जिसे धर्म का कारण माने, आहाहा ! वे **आस्रव आकुलता के उत्पन्न करनेवाले होने हैं...** यह शुभभाव आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं। प्रभु निराकुल है, उससे विरुद्ध भाव, स्वभाववाला होने से, आकुलता के स्वभाववाला है। आस्रव पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव **आकुलता के उत्पन्न करनेवाले होने हैं...** वह आत्मा की शान्ति को उपजानेवाले होने से, व्यवहार से निश्चय होता है (—ऐसा नहीं)। आहाहा ! ऐसा शब्द क्यों आया है ? यह आस्रव आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं। यह आस्रव पुण्य शुभभाव आत्मा की शान्ति के उत्पन्न करनेवाले, धर्म को उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं। आहाहा ! समझ

में आया ? यह है न बड़ा मूल विवाद यह है न ? आहाहा ! आहाहा ! आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं। भाई ! यह शुभभाव हो चाहे तो दया, दान, व्रत आदि का विकल्प हो, वह आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं। यह भगवान की शान्ति अनाकुलता की पर्याय को उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं। आहाहा ! इसलिए व्यवहार का भाव, राग का भाव, वह आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं। यह व्यवहार का भाव अनाकुल ऐसे भगवान आत्मा के सुख को उत्पन्न करनेवाला नहीं है, वह सुख को उपजानेवाला नहीं है। आहाहा !

मुमुक्षु : भक्ति में तो शान्ति लगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी को शान्ति दिखती है। राग की मन्दता दिखती है न ! आहाहा ! वह राग, अनाकुल ऐसा जो भगवान आत्मा... सुखस्वरूप लेंगे, उसे उत्पन्न करनेवाला नहीं है। आहाहा ! वह शुभभाव आकुलता के उत्पन्न करनेवाले होने से... कारण दिया। **दुःख के कारण हैं।** दो भाषा ली है। एक शुभभाव शुद्धता का कारण है, ऐसा निषेध करने में। ऐसा कि शुद्ध की उत्पत्ति शुभ से होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा !

शुभभाव, आहाहा ! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं।

मुमुक्षु : अपराध है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपराध है, दोष है। आहाहा ! एक भी बात इसे सत्य होनी चाहिए न ? ऐसे के ऐसे बड़ी लम्बी बातें करे और उसका मूल तो हाथ आवे नहीं। आहाहा ! आहाहा ! भगवान आत्मा कौन है, यह बाद में कहेंगे।

यहाँ तो पुण्य और पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं, ऐसा सिद्ध करके आत्मा की शान्ति जो सुख है, उसके उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं। शुभ है, वह शुद्ध को उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं। आहाहा ! क्या हो ? लोग विवाद करें, विवाद उठावे, एकान्त है (—ऐसा कहे) । बापू ! बहुत प्रभु के प्रभु का विरह पड़ा, नाथ ! उसमें ऐसा मार्ग आया है, उसमें इस समय न जँचे, इससे उसे कहीं यह विरोध करना ! आहाहा ! दुःख का कारण है, यहाँ तो कारण रखा है, यह शुभभाव जो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वह दुःख का कारण है, अर्थात् कि आत्मा की शान्ति और सुख का कारण नहीं है। आहाहा !

अरे रे! कहाँ मिले इसे! अनन्त काल से भटकता हुआ दु:खी... दु:खी... दु:खी... दु:खी... प्राणी, जो दु:ख इसका स्वभाव नहीं। आहाहा! और वह दु:ख, वह इसके स्वभाव की शुद्धि का कारण नहीं। आहाहा! वह दु:ख का कारण है। ऐसी भाषा यह की है। दु:खरूप है, इतना न रखकर, आकुलता के उत्पन्न करनेवाले दु:खरूप है, ऐसा न कहकर, दु:ख के कारण हैं, ऐसा सिद्ध किया है। समझ में आया? आहाहा! अर्थात् कि वह आत्मा की शान्ति और धर्म के कारण नहीं हैं। आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम के कारण वे शुभभाव नहीं हैं। वे दु:खरूप हैं, ऐसा न कहकर, दु:ख के कारण हैं, ऐसा कहा। आहाहा!

आस्रव आकुलता के उत्पन्न करनेवाले होने से दु:ख के कारण हैं। आहाहा! जो दु:ख के कारण हैं, वे समकित के कारण कैसे हो? जो दु:ख के कारण हैं, वे धर्म की-जो मोक्षमार्ग की पर्याय-उसके वे कारण कैसे हों? कहो, देवीलालजी! यह भाई ने फिर से लेने को कहा था न? जब लिया जाए तब यह बात। आहाहा! यह तो एक-एक शब्द, यह तो टीका, सन्तों की टीका है। आचार्य की टीका है, यह कोई कथा-वार्ता नहीं है। आहाहा! इसे भी सुननेवाले का भाग्य चाहिए है। आहाहा! भाई! बाकी दुनिया के पैसे के भाग्य हों, न हों, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह भाग्यवान तो यह है, 'भवि भागन जोग।' **किसी का कार्य तथा किसी का कारण न होने से...** आहाहा! इस शुभभाव का यह आत्मा कारण भी नहीं। गजब बात है। यह शुभभाव तो निमित्ताधीन पर्याय में अंश में बाहर से होता है। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा तो... ऐसे भगवानरूप से तो बुलाते हैं न! आहाहा! आत्मतत्त्व को ही भगवान रूप से बुलाया है, बुलाया है अर्थात् कहा है, कहा है अर्थात् है। आहाहा! **सदा ही निराकुलता स्वभाव के कारण किसी का कार्य...** अकारणकार्यशक्ति है न? अकार्यकारणशक्ति यहाँ से निकाली है। ४७ (शक्तियाँ) जीवत्वशक्ति, '**जीवोचरित दंसण णाणं ठिदो।**' (समयसार, गाथा-२) यहाँ से पहली (शक्ति) निकाली है। भगवान आत्मा में अकार्यकारण नाम का एक गुण है, इससे वह शुभ का कारण भी नहीं और शुभ का वह कार्य नहीं। आहाहा!

एक बार सम्मेदशिखर में पहले-पहले गये थे और एक घण्टे चला था। तुम थे?

इस बोल पर एक घण्टे चला था। (संवत्) २०१३ में नहीं, परन्तु १५ में। १३ में तो सम्मेदशिखर में भाई थे न, वर्णीजी थे। १५ में नहीं थे, तब एक घण्टे चला था, (संवत्) २०१५, १५ (२०३५ चलता है)। बीस वर्ष हुए। आहाहा! किसी का कार्य, शुभभाव तीर्थंकरगोत्र का भी आत्मा कार्य नहीं, उसका कार्य नहीं और कारण भी नहीं। यह शुभभाव जो तीर्थंकरगोत्र बँधा, उसका आत्मा कार्य नहीं तथा शुभभाव का आत्मा कारण नहीं। आहाहा!

पाँच महाव्रत के परिणाम जो हैं, उनका आत्मा कारण नहीं और उन महाव्रत के परिणाम का यह आत्मा कार्य नहीं। आहाहा! **किसी का कार्य तथा किसी का कारण नहीं होने से...** आहाहा! **दुःख का अकारण ही है।** प्रभु तो दुःख का अकारण है। आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव, वे दुःख के कारण और आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं। आहाहा! जिसमें दुनिया यह ठीक है और सुखी है, ऐसा मानती है। आहाहा! अशुभभाव में भी सुख-ठीक है, और मजा मानती है। आहाहा! पैसा, इज्जत, कीर्ति। यहाँ तो इससे आगे जाकर बात है। शुभभाव में भी हम सुखी हैं, यह माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, उसे वस्तु स्वरूप जो दुःख का कारण नहीं और दुःख का कार्य नहीं, उसकी खबर नहीं, उसके परिणाम में शुभभाव में सुख मानता है, वह आकुलता के कारण को सुख मानता है और सुख का कारण मानता है, आहाहा! वह मिथ्यादृष्टि है। अर्थात् दुःख का कारण नहीं है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १५४, गाथा-७२ दिनांक २८-१२-१९७८, गुरुवार, मागसर कृष्ण १४

(देखो!) पहले पैराग्राफ की चौथी लाईन है, पहला पैराग्राफ है न!

इस प्रकार... यहाँ से शुरु होता है। **इस प्रकार विशेष (अन्तर) को देखकर...** क्या कहते हैं? कि इस आत्मा (में) शुभ-अशुभभाव जो उत्पन्न होते हैं, वे अशुचि हैं, (और) भगवान आत्मा शुचि-पवित्र है। (इन) दोनों के बीच का अन्तर जानकर शुभाशुभभाव हैं, वे जड़ हैं, क्योंकि शुभ (अशुभ) राग आदि अपने को जानते नहीं, पर को जानते नहीं, (परन्तु) पर द्वारा ज्ञात होते हैं। इस कारण से शुभ-अशुभ (भाव) दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव (हैं जो) शुभ-अशुभभाव को यहाँ जड़ कहा है, और चैतन्य भगवान (आत्मा) विज्ञानघन है-चैतन्यघन है।

शुभ-अशुभभाव है, वह आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं। आत्मा अनाकुल आनन्दस्वरूप है, ऐसा दो के बीच इस प्रकार विशेष—अन्तर-विशेष को देखकर, दो के बीच विशेष-अन्तर देखकर... आहाहा! शुभ-अशुभभाव चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के हों, वह शुभ है (और) हिंसा, झूठ, चोरी आदि (के भाव) अशुभ हैं-दोनों अशुचि हैं, जड़ हैं, आकुलता उत्पन्न करनेवाले (भाव हैं)। भगवान आत्मा चेतन पवित्र है, विज्ञानघन है आनन्दस्वरूप है। आहाहा! इस प्रकार से विशेष-अन्तर को देखकर—अन्तर में दोनों का भेद—अन्तर अर्थात् भिन्नता जानकर, आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

जब यह आत्मा दोनों को भिन्न (भिन्न) जानकर अर्थात् पर्याय के ऊपर दृष्टि है वहाँ तो शुभ-अशुभभाव अशुचि है, दुःख है और जड़ है तथा द्रव्यदृष्टि करने से आत्मा पवित्र है, विज्ञानघन है और सुख का पिण्ड है। आनन्द का कारण है। आहाहा!

ऐसा दोनों के बीच अन्तर (विशेष) देखकर—दोनों भाव में भिन्नता देखकर—दोनों के भाव में अन्यत्व (भिन्नता) देखकर, आहाहा! **जब यह आत्मा, आत्मा और आस्त्रवों का भेद जानता है...** जब यह आत्मा अर्थात् कि यह आत्मा, आत्मा और आस्त्रव (अर्थात्) आत्मा और पुण्य-पाप के भाव जो अशुचि, जड़ और दुःख है और आत्मा को (आस्त्रवों से) भिन्न चीज़ देखता है अन्दर में, **उसी समय...** पुण्य-पाप के भाव दोनों ही दुःखरूप हैं, भगवान (आत्मा) आनन्दस्वरूप है। ऐसी दोनों के बीच अन्तर-विशेष-भिन्नता-अन्यता

देखकर (जानकर) आहाहा! **उसी समय क्रोधादि आस्त्रवों से निवृत्त होता है।**

क्या कहते हैं? (कि) जो राग है—शुभ रागादि हैं, उनके प्रति प्रेम है, उसे आत्मा के प्रति क्रोध है-द्वेष है। जिसे राग-शुभराग रुचता है, उसे आत्मा के प्रति अरुचि है। अरुचि कहो या क्रोध कहो। आहाहा! ऐसी बहुत सूक्ष्म बात है, भाई!

उसी समय... जब जानता है, 'उसी समय' (आस्त्रवों से निवृत्त होता है)। आहाहा! आत्मा विज्ञानघनस्वरूप-आनन्दस्वरूप, पवित्र और यह पुण्य-पाप के भाव मैल, जड़ और दुःख-आकुलता को उत्पन्न करनेवाले, (ऐसा) दोनों के बीच अन्तर, अन्तर अर्थात् भेद (भिन्नता) जानता है, तब-जब **जानता है उसी समय...** है? यह पुण्य-पाप के भाव (आस्त्रव) अपने स्वभाव से विरुद्ध भाव हैं, उस स्वभाव से विरुद्ध को क्रोध कहा! तो जब क्रोध और स्वभाव को भिन्न जानता है-(भिन्नता का) भान (हुआ), तब से क्रोध से निवृत्त होता है। आहाहा! मलिन परिणाम से अपना आत्मा भिन्न चीज़ है, ऐसा जब जानने में आता है, उसी समय विकार की रुचि से हट जाता है। आहाहा! समझ में आया?

(कहते हैं), जिस समय विज्ञानघन भगवान आत्मा और पुण्य-पाप के भाव (आस्त्रव) मलिन और अशुचि और जड़—ऐसा दोनों के बीच अन्तर-भेद, विशेष, अन्तर देखते ही, आहाहा! भेद देखते ही धर्मी का आत्मा, आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध भाव जो पुण्य-पाप (के भाव) हैं, उनकी रुचि से विमुख हो जाता है, अभिप्राय में (वे भाव) मेरे हैं, इससे हट जाता है। आहाहा! ऐसी बात है। उसी समय विकार-क्रोधादि अर्थात् पुण्य-पाप के भाव, क्रोध (कहा) स्वभाव से विरुद्ध (भाव) है, इसलिए (कहा)। उन **आस्त्रवों से निवृत्त होता है।**

आहा! अन्तर में विकारीभाव—शुभाशुभ सबको और अविकारी स्वभाव भगवान (आत्मा), दोनों के बीच अन्तर (भिन्नता) देखकर, जब पर से निवृत्त होता है। है? उनसे निवृत्त अर्थात् अपना अभिप्राय वहाँ से हटा लेता है। पुण्य और पाप के भाव अशुचि, मैल, जड़ और दुःखरूप हैं-आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं; भगवान (आत्मा) अनाकुल आनन्द का कन्द है—ऐसा दोनों के बीच का अन्तर देखकर विकारी परिणाम से, अभिप्राय से निवृत्त होता है। (पहले) अभिप्राय में विकारी परिणाम मेरे थे, ऐसी जो मान्यता थी, उस अभिप्राय में विकारी परिणाम से निवृत्ता होता है। आहाहा! है?

(क्या कहते हैं ?) **क्योंकि उनसे जो निवृत्त नहीं है...** अन्दर में उन विकारी पुण्य-पाप, शुभाशुभभाव दोनों से जो निवृत्त न हो, निवृत्त नहीं है तो उसे आत्मा के (और) आस्रव के पारमार्थिक भेदज्ञान की सिद्धि नहीं हुई। आहाहा! जैसे गेहूँ से कंकड़ भिन्न हैं, कंकड़ से गेहूँ भिन्न हैं। (गेहूँ बीनते हैं उसमें) कंकड़ उठाते हैं-(बीनते हैं)। उसी प्रकार यहाँ भगवान आत्मा परसन्मुख के लक्ष्यवाले पुण्य-पाप के भाव (कंकड़ समान) और मेरी चीज़ (निजात्मा) अन्दर उनसे भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान होता है, तब पर से निवृत्त होता है। आहाहा! ऐसी बात है।

पर से निवृत्त होता है, इसका अर्थ ? अभिप्राय में, जो विकार मेरा है-ऐसी बुद्धि थी, उन विकार परिणामों से (मेरेपने का) अभिप्राय दूर हो जाता है, और अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव, वहाँ अभिप्राय जम जाता है, वहाँ अहंपना स्थापित कर लेता है—पूर्णानन्द के नाथ पर, 'वह मैं'—ऐसा स्थापित कर देता है और पुण्य-पाप के भाव से हट जाता है। ऐसी बात है भाई! कहो, देवीलालजी! आहाहा!

क्योंकि उनसे जो निवृत्त नहीं है, उसे आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक (यथार्थ) भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुई है। क्या कहते हैं ? यदि यह शुभ-अशुभभाव से निवृत्ति न हो और उनसे हटकर स्वभाव में न आया हो तो पुण्य-पाप के भाव से निवृत्ति नहीं हुई तो भेदज्ञान ही नहीं है। यह पुण्य-पाप के भाव और आत्मा का भेदज्ञान उसे है ही नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

आत्मा अन्तर अनाकुल आनन्दस्वरूप प्रभु और शुभ-अशुभभाव आकुलता-दु:ख है—ऐसा दोनों का अन्तर (भेद) देखकर पर से (आस्रवों से) यदि निवृत्त न हो, तो पर से भिन्न भेदज्ञान हुआ ही नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

आहाहा! निवृत्त नहीं हुआ तो उसे आत्मा और आस्रवों से यथार्थ भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुई। आहाहा! इन शुभ-अशुभभाव से आत्मा भिन्न है, यदि ऐसा भेदज्ञान हो तो, पुण्य-पाप के भाव से, अभिप्राय से हट जाता है और अभिप्राय से यदि न हटे तो पुण्य-पाप के भाव और आत्मा का भेदज्ञान हुआ ही नहीं। आहाहा! समझ में आया ? अनेक हैं, ऐसा अनेकपने का भेदज्ञान हुआ नहीं। दो का एकपने का राग है। अज्ञानी को—राग, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के विकल्प जो हैं राग, वह भी शुभराग है, आहाहा! वह दु:खरूप

है। आहाहा! भगवान (आत्मा) आनन्द और ज्ञानघन है, ऐसी दोनों के बीच की भिन्नता देखकर, अभिप्राय में विकार से हट जाता है और स्वभाव में जम जाता है। जो ऐसे विकार से हटे नहीं, तो विकार और स्वभाव का भेदज्ञान उसे नहीं हुआ। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

(क्या कहते हैं?) **(यथार्थ) भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुई...** आस्रवों के पारमार्थिक-यथार्थ भेदज्ञान की सिद्धि नहीं हुई। भले उसके ख्याल में ले लिया हो बात (धारणा में बात आयी हो) कि राग भाव है, वह दुःखरूप है और आत्मा है, वह आनन्दरूप है, ऐसा ख्याल में-जानने में ले लिया (हो), परन्तु अन्दर से निवृत्त नहीं हुआ-यथार्थरूप से उनसे (आस्रवों से) निवृत्त नहीं हुआ, (तो) उस ख्याल-ख्याल का भेदज्ञान भी यथार्थ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई!

प्रथम सम्यग्दर्शन में-भेदज्ञान में, राग से भिन्न होकर अपनी (निजात्मा की) प्रतीति करता है तो यह सम्यग्दर्शन होता है। तो सम्यग्दर्शन की पर्याय भेदज्ञान, यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है, (इसलिए) तो भेदज्ञान में पर से भिन्न हटकर (होकर) स्वभाव की ओर इसकी दृष्टि हुई तो पर से इसकी रुचि हट गयी। और पर से नहीं हटे तो विकार और स्वभाव के बीच में तो अनेकता है-भिन्नता है (ऐसा) भेदज्ञान उसे हुआ ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? (अहो!) यह चौथे गुणस्थान की बात है।

सम्यग्दृष्टि जीव, शुभाशुभभाव को-मलिनभाव को देखकर उनसे हटकर (निज) स्वभाव में दृष्टि स्थापित करता है, ऐसा यदि न हो तो दो के बीच का अन्तर भेदज्ञान हुआ ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? इसलिए क्रोधादि आस्रवों से-वे शुभ-अशुभभावरूपी आस्रव हैं, वे बन्ध के कारण हैं, दुःख है। आहाहा!

इसलिए क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्ति के साथ जो... यह शुभ-अशुभभाव से हटकर स्वभाव में दृष्टि आयी तो वह विकार से हट गया, उसके **साथ जो अविनाभावी है, ऐसे ज्ञानमात्र से ही...** उसके साथ ज्ञान अविनाभावी है। पुण्य-पाप के भाव से हटा तो स्वभाव का ज्ञान हुआ-वह उसके साथ (ज्ञान के साथ) अविनाभावी है। आहाहा!

अविनाभावी अर्थात्? शुभ-अशुभभाव से हटकर अपने में आया तो साथ में भेदज्ञान हुआ ही-ज्ञानमात्र हो गया वहाँ। वह पर से हटा और अपने में आया तो उसके साथ

अविनाभावी ज्ञानमात्र सिद्ध हो गया, उस ज्ञानमात्र से बन्ध का निरोध हो गया। आहाहा! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई!

मूल बात है, प्रभु! अभी तो पूरी प्रवृत्ति में यह धर्म! व्रत, भक्ति और पूजा में धर्म मानते हैं। तो यहाँ तो कहते हैं, उसमें जब तक धर्म मानता है, तब तक तो अज्ञानी है। अभेदज्ञानी है। अभेद अर्थात् राग और आत्मा को एक मानता है। आहाहा! परन्तु राग और आत्मा को अन्दर में (दोनों को) लक्षणभेद से विकारीभाव शुभ हो या अशुभ हो, उसका लक्षण आकुलता है; भगवान (आत्मा) का लक्षण अनाकुल-आनन्द है। आहाहा! दोनों के बीच में अन्तर (भेद) देखकर... जो प्राणी अभिप्राय में विकार से निवृत्त न हो तो उसे विकार और (आत्म) स्वभाव के भेदज्ञान का अभाव है, और जब विकार से निवृत्त हुआ तो उसके साथ (आत्म) ज्ञान हुआ, विकार से निवृत्त हुआ तो उसके साथ आत्मा का ज्ञान हुआ, तो ज्ञानमात्र से बन्ध रुक गया। मिथ्यात्व से जो बन्ध होता था, वह ज्ञानमात्र से मिथ्यात्व का बन्ध रुक गया। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, भाई! है ?

अविनाभावी ऐसे ज्ञानमात्र से ही... अर्थात् ? शुद्धचैतन्य-ज्ञायकभाव के ज्ञानमात्र से ही-उसका जो ज्ञान हुआ राग से भिन्न चैतन्यस्वभाव-आनन्दस्वरूप भगवान (आत्मा), उसका जो ज्ञान हुआ, तो ज्ञानमात्र से ही, आहाहा! अज्ञानजन्य-अज्ञानजन्य-अज्ञान से जो बन्ध था-मिथ्यात्व से जो बन्ध था। **अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्म के बन्ध का निरोध होता है...** मिथ्यात्व से जो बन्धन होता था, वह भेदज्ञानी-सम्यग्दृष्टियों को मिथ्यात्व से जो बन्ध होता था, वह बन्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? इन तीन लाईनों में इतना है।

दूसरा पैराग्राफ, **और जो यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है, (सो अज्ञान है या ज्ञान ?...)** अब सिद्ध करते हैं कि ज्ञानमात्र-ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध कैसे होता है—ये प्रश्न था, था न ऊपर ? **ज्ञानमात्र से बन्ध का निरोध कैसे होता है ?** गाथा के ऊपर है, तो ज्ञानमात्र हुआ-चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप का (निजात्मा का) ज्ञान हुआ और राग के ज्ञान से हट गया-राग की रुचि से हट गया और स्वभाव की रुचि में आत्मा का ज्ञान हुआ। आहाहा!

उस ज्ञानमात्र से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का जो बन्ध था, वह भेदज्ञानी को रुक गया! और यदि (बन्ध) न रुके तो हम प्रश्न करते हैं—कहते हैं (कि) ज्ञानमात्र से

जहाँ (आत्मा का) ज्ञान हुआ, **और जो यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है, सो अज्ञान है या ज्ञान ?** भगवान आत्मा आनन्दकन्द प्रभु और पुण्य-पाप के भाव दु:खरूप, दोनों का भेदज्ञान है—दोनों की भिन्नता का भान है-ज्ञान है, वह अज्ञान है या ज्ञान है ? ऐसा प्रश्न करता है।

यदि अज्ञान है तो आत्मा और आस्रवों के अभेदज्ञान से उसकी कोई विशेषता नहीं हुई... अज्ञान है तो राग और आत्मा की एकता है, वहाँ तो कोई भेदज्ञान तो है नहीं। राग पुण्य-पाप के भाव और स्वभाव की जो एकता है, तब भेदज्ञान हुआ ही नहीं। अज्ञान है तो। (आत्म) स्वरूप का ज्ञान नहीं और राग का ज्ञान नहीं, तब तो राग को अपना मानना (वह तो) स्वभाव का अज्ञान है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़े और (आत्मा) सूक्ष्म अरूपी वस्तु।

अरूपी में भी शुभ विकल्प है, वह स्थूल है—दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, वे भी स्थूल-अत्यन्त स्थूल!! भगवान (निजात्मा) तो उनसे अत्यन्त भिन्न है—ऐसे भेदज्ञान मात्र से-ज्ञानमात्र से वह बन्ध रुक जाता है। मिथ्यात्व और अज्ञान का अनन्तानुबन्धी (कषाय) रुक जाते हैं। और यदि न रुके तो हम पूछते हैं, प्रश्न तो यह था न, ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध होता है ? कि यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है—पुण्य-पाप के भाव और भगवान आत्मा का जो भेदज्ञान है, दोनों भिन्न पड़े, वह ज्ञान है।

(क्या कहते हैं ?) वह अज्ञान है या ज्ञान है ? यदि अज्ञान है तो आत्मा और आस्रवों का अभेदज्ञान (रहा), वे तो अभेद रहे, तो पुण्य-पाप के भाव और आत्मा को एक माना, वहाँ भेदज्ञान तो है नहीं। अज्ञान में भेदज्ञान कहाँ से आया ? आहाहा! आस्रवों को (आत्मा के) **अभेदज्ञान से उसकी कोई विशेषता—भिन्नता नहीं हुई,...** पुण्य-पाप के भाव और आत्मा दोनों (एक मानने से) तुम्हारे में अज्ञान है तो पुण्य-पाप के भाव से हटा नहीं-विशेषता तो हुई नहीं-अन्तर पड़ा नहीं। आहाहा!

और यदि ज्ञान है तो (वह ज्ञान) आस्रवों में प्रवर्तता है या उनसे निवृत्त ? आहाहा! यदि वह पुण्य-पाप के भाव और आत्मा का भेदज्ञान हुआ है, वह ज्ञान है, तो वह ज्ञान पुण्य-पाप में प्रवर्तता है या पुण्य-पाप के (भावों से) निवृत्त है ? यदि वह ज्ञान है तो वह आस्रवों में प्रवर्त है या उनसे निवृत्त है ?

यह शुभ-अशुभभाव को यदि तुम ज्ञान कहते हो तो वह ज्ञान उसमें प्रवर्तता है-मेरे

रूप से मानकर या उनसे निवृत्त है? **यदि आस्त्रवों में प्रवर्तता है तो भी आत्मा और आस्त्रवों के अभेदज्ञान से...** उससे कुछ अन्तर नहीं हुआ। ज्ञान भी यदि पुण्य-पाप में प्रवर्तता है तो भेदज्ञान नहीं है, तो वह ज्ञान ही नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह ७२ गाथा बहुत... आहाहा!

(आत्मा) आस्त्रवों से निवृत्त नहीं होता, तब तो आत्मा और आस्त्रवों का भेदज्ञान नहीं है तो (दोनों) अभेद हुए—पुण्य और पाप में ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा प्रवर्ते, उसमें (तो) अभिप्राय में (यह भाव) मेरे हैं, ऐसे रुक जाए, तब तो भेदज्ञान ही नहीं है, तब वह ज्ञान ही नहीं है। समझ में आया?

और यदि आस्त्रवों से निवृत्त है... ज्ञान का प्रश्न था न? (क्या) कि शुभ-अशुभभाव और भगवान आत्मा का भेदज्ञान है, वह यदि ज्ञान है, तो वह ज्ञान उनमें (आस्त्रवों में) यदि प्रवृत्त है तो भी ज्ञान नहीं है और यदि वह ज्ञान उनमें प्रवृत्त नहीं, निवृत्त है तो (वह ज्ञान) आस्त्रवों से रुक गया है। ज्ञान (आस्त्रवों से) भिन्न हो गया। आहाहा! **और यदि आस्त्रवों से निवृत्त है तो ज्ञान से ही बन्ध का निरोध सिद्ध हुआ...** आहाहा! पुण्य-पाप के भावों से हटकर (आत्म) स्वभाव का ज्ञान हुआ, तो ज्ञानमात्र से—ज्ञान, पुण्य-पाप में प्रवर्ता नहीं-अपने मानकर उनमें (आस्त्रवों में) जाता नहीं, तब तो भेदज्ञान हुआ-तो यथार्थ ज्ञान हुआ, (इसलिए) ज्ञानमात्र से बन्ध का निरोध (सिद्ध) हो गया। आहाहा! यह तो वकालात की भाँति कोर्ट रखी है।

मुमुक्षु : ज्ञान के साथ स्वरूपाचरणचारित्र भी साथ में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह, यह ज्ञानमात्र उसे ही कहा।

आहाहा! यहाँ तो राग—पुण्य-पाप के भावों से हटकर भेदज्ञान हुआ तो ज्ञान-दर्शन-आचरण—स्वरूपाचरण, यह तीनों एक ही हैं। यह ज्ञानमात्र कहने में ये (तीनों) आये। यह ज्ञानमात्र है न! उसमें राग नहीं आया। आहाहा! कहो, पण्डितजी! अरे! ऐसी बात! यहाँ तो कहते हैं कि चाहे तो यात्रा के भाव हों, भक्ति के भाव हों, व्रत के भाव हों, अपवास के भाव हों, भगवान के (नाम) स्मरण के भाव हों, वह शुभ है और शुभ है, वह आस्त्रव है और आस्त्रव है, वह दुःखरूप है और भगवान आत्मा उससे भिन्न आनन्दरूप है—ऐसा दो के बीच जो भेदज्ञान हुआ, वह ज्ञान है या अज्ञान है? यदि अज्ञान कहो तब

तो प्रवृत्ति-पर में प्रवर्तता है तो भी भेदज्ञान नहीं है और यदि उसे ज्ञान कहो और ज्ञान उसमें (आस्रवों में) प्रवर्तता है तो भी भेदज्ञान नहीं है। आहाहा! समझ में आया? अभेदज्ञान से उसकी कुछ विशेषता नहीं हुई। **यदि आस्रवों से निवृत्त है तो ज्ञान से ही...** भगवान आत्मा और शुभ-अशुभभाव, मलिनता और निर्मलता दोनों का भेदज्ञान हुआ। वह ज्ञान, आस्रवों से निवृत्त हुआ तो ज्ञानमात्र से बन्ध रुक गया—ज्ञानमात्र से ही बन्ध और अनन्तानुबन्धी का भाव संसार था, वह रुक गया। अभी प्रमाद का थोड़ा बन्ध है, उसकी यहाँ गिनती नहीं गिनी है। ज्ञान से ही-(मात्र) ज्ञान से ही (बन्ध का निरोध सिद्ध हुआ)। आहाहा!

इस शुभराग की रुचि से हटकर, (आत्म) स्वभाव की रुचि-दृष्टि अभिप्राय हुआ, उससे उसमें आत्मा का ज्ञान हुआ—राग से भिन्न अपना ज्ञान हुआ और ज्ञानमात्र से (आस्रवों से) निवृत्त हो गया—पुण्य-पाप के परिणाम (मेरे हैं) ऐसे अभिप्राय से निवृत्त हो गया।

और यदि आस्रवों से निवृत्त है तो ज्ञान से ही बन्ध का निरोध सिद्ध हुआ क्यों न कहलायेगा? सिद्ध हुआ ही कहलायेगा। आहाहा! **ऐसा सिद्ध होने से अज्ञान का अंश ऐसे क्रियानय का खण्डन हुआ...** क्या कहते हैं? आहाहा! कोई ऐसा माने कि अपने दया, दान, व्रत, भक्ति करते-करते (अपना) कल्याण हो जायेगा तो इस क्रियानय-अज्ञान का खण्डन कर दिया, कि इससे आत्मा का कल्याण होता नहीं। आहाहा! यह व्रत, तप, भक्ति-राग की क्रिया करते-करते कल्याण होगा, ऐसी क्रिया को माननेवाले के क्रियानय का खण्डन हुआ कि तेरी (यह) बात सत्य नहीं है। आहाहा! अज्ञान का अंश ऐसी मान्यतावाले क्रियानय का खण्डन कर दिया। उससे तो भिन्न होकर (भेदज्ञान होकर) कल्याण होता है, उसमें रहकर कल्याण नहीं होता।

और यदि आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है। क्या कहते हैं? पुण्य और पाप के भाव तथा भगवान आत्मा, दोनों का जो भेदज्ञान हुआ, वह ज्ञान, यदि पुण्य-पाप से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है। वह तो ज्ञान में धारणा कर ली—ज्ञान में धारणा कर ली कि पुण्य-पाप पर है, स्वभाव पर है-भिन्न है—ऐसी धारणा की, परन्तु ज्ञान पुण्य-पाप में प्रवर्तता है, आहाहा! वह ज्ञान ही नहीं है। यह ज्ञाननय का खण्डन हुआ-एकान्त ज्ञाननय का खण्डन कर दिया। समझ में आया?

मुमुक्षु : धारणा ज्ञान से आधा काम तो हो गया!

पूज्य गुरुदेवश्री : धारणा ज्ञान से कुछ काम नहीं होता, यह तो कहते हैं। वह प्रवर्तमान तो अभी अन्दर हुआ नहीं।

मुमुक्षु : आधा काम हुआ, पूरा नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : धारणा में तो अनन्त बार ग्यारह अंग पढ़ा, उसमें क्या? यहाँ यही कहा कि यदि परिणाम में पुण्य-पाप से हटा नहीं, ज्ञान हटकर आत्मा में आया नहीं, तो वह धारणा का ज्ञानमात्र (होने से) यह क्रियानय का खण्डन किया, वह तो शुष्कज्ञान है। आता है न?

कोई क्रियाजड़ हो रहे, शुष्कज्ञान में कोई।
माने मारग मोक्ष का, करुणा उपजे जोई॥

राग से धर्म माननेवाले को, राग से भिन्न होकर (भेदज्ञान नहीं है), आत्मा को लाभ होगा, ऐसा कहने से, क्रियानय का खण्डन किया और ज्ञान का एकान्त जानपना-जानपनेमात्र से राग से हटे बिना, ज्ञानमात्र से बन्ध रुक जायेगा, ऐसा माने तो वह भी ज्ञान ही नहीं है, वह तो अज्ञान है-शुष्कज्ञान है। आहाहा! जो ज्ञान, शुभ-अशुभभाव से हटकर (आत्म) स्वभाव में आया नहीं, तो वह ज्ञान ही नहीं है। तो ऐसा धारणा का ज्ञान करनेवाले का यहाँ खण्डन कर दिया। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! अभी तो मिलना मुश्किल पड़े, ऐसी है न! आहाहा!

(यदि आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह) ज्ञान ही नहीं है, ऐसा सिद्ध होने से ज्ञान के अंश ऐसे... अर्थात् जानपने का नाम धराया परन्तु ज्ञान राग से हटा नहीं—पुण्य-पाप के परिणाम से ज्ञान हटकर (निज) स्वभाव में आया नहीं, तो वह अकेले धारणा के ज्ञान का अंश (उसका) निषेध कर दिया, वह तेरा ज्ञान भी सच्चा नहीं। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु अब भाव तो जो हो, वह होगा न! क्या हो? यह दूसरा पैराग्राफ हुआ।

अब इसका भावार्थ :- भावार्थ है न? प्रचलित सादी भाषा में, टीका और संस्कृत है, उसका स्पष्टीकरण (टीका में) हो गया। अब प्रचलित भाषा में स्पष्टीकरण (करते हैं)। **आस्रव अशुचि हैं....** आस्रव जो पुण्य और पाप के भाव, दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-

काम-क्रोध-मान-माया-लोभ आदि (भाव), वे आस्रव हैं, (वे) अशुचि हैं—वे मैल हैं—**वे जड़ हैं...** (क्योंकि) वे अपने को नहीं जानते, दूसरे के द्वारा जानने में आते हैं, इसलिए जड़ हैं। **दुःख के कारण हैं...** वे आकुलता को उत्पन्न करनेवाले हैं—यह पुण्य और पाप के भाव (आकुलता को उत्पन्न करते हैं)। आहाहा! **और आत्मा...** (शुचि है)। अशुचि के सामने **पवित्र है...** जड़ के सामने **ज्ञाता है...** दुःख के सामने **सुखस्वरूप है।** आहाहा! **इस प्रकार लक्षणभेद से...** देखो! इन दो के लक्षण भिन्न हैं। आहाहा! दोनों के चिह्न भिन्न (भिन्न) है। आहाहा!

पुण्य और पाप के भाव का लक्षण दुःखरूप है, भगवान (आत्मा का) लक्षण आनन्दरूप है। आहाहा! पुण्य-पाप का लक्षण अशुचि और मैल है, भगवान का लक्षण शुचि, पवित्र और निर्मलानन्द है। पुण्य-पाप के भाव जड़ हैं, क्योंकि उसमें चैतन्यस्वभाव के अंश का अभाव है और भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप विज्ञानघन है। ऐसे दोनों के लक्षण भेद से-आत्मा और आस्रव के लक्षणभेद से (अर्थात् कि) लक्षण की भिन्नता से-दोनों के लक्षण की भिन्नता से, **दोनों को भिन्न...** (भिन्न) **जानकर...** दोनों प्रकार के लक्षणभेद से दोनों को भिन्न जानकर, **आस्रवों से आत्मा निवृत्त होता है।**

यह पुण्य और पाप के परिणाम मेरे थे और मुझे लाभदायक, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव था, उससे हट गया-निवृत्त हुआ, वह परिणाम मेरे नहीं-मेरी जाति के नहीं, (वह तो) कुजात है। आहाहा! ऐसी बात है।

इस प्रकार लक्षणभेद से दोंनो को भिन्न जानकर आस्रवों से आत्मा निवृत्त होता है और उसे कर्म का बन्ध नहीं होता... मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी से जो बन्ध था, वह बन्ध उसे नहीं होता। सर्वथा बन्ध नहीं होता, ऐसा यहाँ नहीं। आत्मा और आस्रवों का भेद जानने पर भी यदि आत्मा आस्रवों से निवृत्त न हो शुभाशुभभाव और आत्मा की भिन्नता जानने पर भी भिन्न न हो, आस्रवों से निवृत्त न हो तो (वह ज्ञान ही नहीं है, अज्ञान ही है।) शुभ-शुभभाव में ज्ञान प्रवर्ते और माने कि आस्रव मैं हूँ, तो वह ज्ञान ही नहीं है। आहाहा!

ज्ञान तो पुण्य-पाप के भाव से हटकर, लक्षणभेद जानकर उनसे हट जाता है और (वे भाव) मेरे हैं, ऐसा नहीं मानता। ओहोहो! उसे कर्म का बन्ध नहीं होता।

शुभ-अशुभभाव में जो प्रवर्त रहे हैं, तो वह भेदज्ञान ही नहीं है, वह तो अज्ञान है। आहाहा! उसे ज्ञान ही नहीं परन्तु अज्ञान ही है। आहाहा!

यहाँ कोई प्रश्न करे कि अविरत सम्यग्दृष्टि को... चौथे गुणस्थान में जो है अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में है, उस **अविरत सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों का तो आस्रव नहीं होता...** उसको तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का आस्रव नहीं-बन्ध नहीं, परिणाम नहीं तो उसे (उस प्रकार का) बन्धन है नहीं। **परन्तु अन्य प्रकृतियों का आस्रव होकर बन्ध होता है...** सम्यग्दृष्टि को राग से हटकर आत्मा का सम्यग्दर्शन हुआ तो उसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का तो बन्ध न होने पर भी अन्य प्रकृतियों का तो बन्ध है, (होता है); अभिप्रायपूर्वक (अभिप्राय में) आस्रवों से निवृत्त हुआ है, (तथापि) बन्ध होता है। **इसलिए उसे ज्ञानी कहना या अज्ञानी ?** ऐसा कहते हैं।

क्या कहा ? कि अविरत सम्यग्दृष्टि, पुण्य-पाप के परिणाम से हटकर भेदज्ञान हुआ-आत्मा का अनुभव हुआ तो (इससे) उसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का बन्ध नहीं है, परन्तु दूसरा बन्ध है-दूसरे बन्ध है तो उसे ज्ञानी कहना या अज्ञानी ? आहाहा! है ? तुम कहते हो कि ज्ञानमात्र से बन्ध रुक जाता है, इसलिए उसमें भी सब बन्ध नहीं रुक गया। बन्ध है अव्रत का, प्रमाद का, कषाय का बन्ध तो है और तुम तो कहते हो कि ज्ञानी को तो बन्ध है ही नहीं, तो यह अविरत सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहना या अज्ञानी कहना ? आहाहा!

उसका समाधान :- सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही है... चाहे तो अविरत चौथे गुणस्थान में हो। आहाहा! **ज्ञानी ही है क्योंकि वह अभिप्रायपूर्वक के आस्रवों से निवृत्त हुआ है।** यहाँ देखो यह, अभिप्राय में पुण्य-पाप (के भाव) मेरे हैं, (ऐसी मान्यता से) हट गया है, अस्थिरता के भाव हैं। सम्यग्दृष्टि को अस्थिरता के पुण्य-पाप के भाव हैं परन्तु अभिप्राय से हट गया है, वह पुण्य-पाप मेरे हैं, ऐसे (अभिप्राय से) हट गया है। आहाहा! समझ में आया ? ऐसी सूक्ष्म बातें हैं।

(सम्यग्दृष्टि) अभिप्रायपूर्वक के आस्रवों से निवृत्त हुआ है। **उसे जो प्रकृतियों का आस्रव तथा बन्ध होता है, वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है। अभिप्राय से नहीं। सम्यग्दृष्टि होने के बाद परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव है...** पुण्य-पाप के भाव से हटकर स्वभाव

का भान—सम्यग्दर्शन हुआ तो उस परद्रव्य के स्वामित्व का तो (उसे) अभाव है। राग आता है, उसका स्वामित्व नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि को राग तो होता है, अशुभ भी होता है, शुभ भी होता है, आहाहा! परन्तु स्वामित्व नहीं है, (वह) पर है, मैं उसका स्वामी नहीं। ऐसे सम्यग्दृष्टि को अभिप्राय में पर का स्वामित्व नहीं होता है। आहाहा! **इसलिए जब तक उसके चारित्रमोह का उदय है...** सम्यग्दृष्टि हुआ, पुण्य-पाप के परिणाम से अभिप्राय में (उनसे) हटकर स्वभाव का अनुभव-आनन्द का हुआ तो अभिप्राय से तो हट गया, परन्तु अस्थिरता के परिणाम रहे, (तथापि) वह उनका स्वामी नहीं है, एक बात। और वह **चारित्रमोह का उदय है, तब तक उसके उदयानुसार जो आस्त्रव-बन्ध होता है...** इतना तो आस्त्रव बन्ध ज्ञानी को भी होता है, दसवें गुणस्थान तक लोभ का उदय है न? तो बन्ध, छह कर्म का बन्ध है। **उसका स्वामित्व उसको नहीं है।** चारित्रमोह के उदय का जो भाव है, उसका उसे आस्त्रव, बन्ध होता है, परन्तु उसका वह (सम्यग्दृष्टि) स्वामी-धनी नहीं होता। स्वामी तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान (निजात्मा) का स्वामी है। आहाहा!

ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) **अभिप्राय में तो वह आस्त्रव-बन्ध से सर्वथा निवृत्त ही होना चाहता है। क्या कहते हैं?** कि धर्मी जीव, पुण्य-पाप से पूर्णरूप से हटकर (अपने में पूर्ण) स्थिर, ऐसी भावना है। पुण्य-पाप में प्रवर्तना वह ठीक है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अभिप्राय में तो आस्त्रव-बन्ध से सर्वथा निवृत्त ही होना चाहता है। वह शुभ-अशुभभाव से निवृत्त तो हुआ दृष्टि से, परन्तु उनसे अब वह अत्यन्त अस्थिरता से भी निवृत्त होना चाहता है, वे (भाव) रखना नहीं चाहता। आहाहा! ऐसी बात है।

(ज्ञानी-धर्मी-धर्मात्मा) अभिप्राय में तो वे आस्त्रव-बन्ध से सर्वथा निवृत्त ही होना चाहते हैं-अभिप्राय में तो चारित्रमोह का जो उदय है, उससे भी सर्वथा निवृत्त होना ही चाहता है। आहाहा! गजब अधिकार! आहाहा! **इसलिए वह ज्ञानी ही है।**

यह उसमें आता है ज्ञानसागर में, यह ज्ञान-ज्ञान, क्या वह नहीं, विद्यासागर के गुरु ज्ञानसागर, उसमें (उनके लेखन में) आता है कि पूर्ण आस्त्रव और बन्ध से निवृत्त हो तो ही ज्ञानी कहना, उसमें यह आता है (उन्होंने) समयसार अलग छपाया है न? जयसेनाचार्य

की टीका है। (वे लिखते हैं) ऐसा कि तब तक, नहीं तो अज्ञानी कहलाये ऐसा, यह लिखा है, उसमें वहाँ! आहा! यहाँ तो पण्डित जयचन्द्रजी कहते हैं कि जब पुण्य-पाप के भाव अस्थिरता से होने पर भी अभिप्राय में स्वामीपना छूट गया है और अभिप्राय में मेरापन, ऐसा छूट गया तो उतने प्रकार से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का बन्ध है नहीं, तो उसको ज्ञानी कहते हैं। दूसरा चारित्रमोह के उदय से (जो) आस्रव-बन्ध है, तथापि उसके अभिप्राय में तो सर्वथा भिन्न होना चाहता है, इसलिए (वे भाव) भले हों, तो भी वह ज्ञानी है। आहाहा! यहाँ तो चौथे गुणस्थान में ज्ञानी कहा है।

यह वहाँ ज्ञानसागर ने ऐसा अर्थ लिया (कि) सर्वथा वीतरागी भाव हो, वही बन्ध से रहित है (और) उसे ही ज्ञानी कहा जाता है, ऐसा लिखा है। आहाहा! अरे रे! भाई! क्या हो? है?

मुमुक्षु : नीचेवाले अल्पज्ञानी और केवलज्ञानी पूर्णज्ञानी!

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों ज्ञानी हैं। अल्पज्ञानी भी वह ज्ञानी ही है, वह अज्ञानी नहीं। आहाहा! अस्थिरता के राग-द्वेष हैं, इसलिए अज्ञानी है, ऐसा नहीं है। तब उन्होंने ऐसा कहा कि अस्थिरता के भी सब रागादि छूट जाए तो ही उसे ज्ञानी कहा जाता है, ऐसा कहा है। अरे! क्या हो?

यहाँ तो चौथे गुणस्थान में, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन की कषाय होती है, उदय में होती है। सत्ता में तो हो परन्तु उदय में-प्रवृत्ति में होती है, तथापि उसका (उसे) स्वामित्व नहीं है। उससे अभिप्राय में तो वह निवृत्त होना ही चाहता है, रखना नहीं चाहता। आहाहा! इसलिए चौथे गुणस्थान में ऐसे अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी, (संज्वलन) की कषाय होने पर भी, उसे ज्ञानी कहा जाता है। वह (यह बात) जयसेनाचार्य की टीका में आती है न, भाई! पंचम गुणस्थान से ऊपर की बात वहाँ, वह तो चारित्र की अपेक्षा से बात को लिया है—मुनि की अपेक्षा से वहाँ बात ली है। आता है न, ऐसा कि पंचम गुणस्थान के ऊपर की बात इसमें लेना, ऐसा। वह तो चारित्र की प्रधानता से कथन विशेष है उसमें, परन्तु इस चौथे गुणस्थान में शुभ-अशुभभाव अभी चारित्रमोह के उदय से होते हैं, इसलिए वह अज्ञानी है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

अभिप्राय में तो वह आस्रव-बन्ध से सर्वथा निवृत्त ही होना चाहता है, (इसलिए

वह ज्ञानी ही है।) भावना तो यह है, अस्थिरता का राग है, उससे भी वर्तमान में अभिप्राय से निवृत्त है परन्तु अस्थिरता में से भी स्थिरता करने का अभिप्राय में भाव है। उसे (अस्थिरता को) छोड़कर स्थिरता करने का भाव है, उसे रखने का भाव नहीं है। आहाहा! ऐसा है।

जो यह कहा है कि ज्ञानी को बन्ध नहीं होता, उसका कारण इस प्रकार है— मिथ्यात्व सम्बन्धी बन्ध... कि जो मिथ्या अभिप्राय से जो बन्ध था, वह बन्ध नहीं था। **मिथ्यात्व सम्बन्धी बन्ध जो कि अनन्त संसार का कारण है...** आहाहा! वह बन्ध-राग की रुचि है, वह मिथ्यात्वभाव है और वह मिथ्यात्वभाव अनन्त संसार का कारण है। **वही यहाँ प्रधानतया विवक्षित है...** वही यहाँ—इस जगह, दूसरी जगह भले दूसरी अपेक्षा ली हो (परन्तु) वही यहाँ प्रधानता अर्थात् मुख्यरूप से कथन किया गया है।

क्या कहा ? कि सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व सम्बन्धी बन्ध नहीं है, इस अपेक्षा से उसे ज्ञानी ही कहा है, भले उसे रागादि है—चारित्रमोह का उदय है, (तथापि) उसका स्वामी नहीं है, अभिप्राय में तो सर्वथा उससे छूटना चाहता है; इस कारण उसे ज्ञानी कहा गया है। आहाहा! वह यहाँ मुख्यरूप से कथन है-ज्ञानी (कहने का) इस अपेक्षा से मुख्यरूप से कथन है। पाँचवें गुणस्थान (वर्ती) ऊपर के जो ज्ञानी की बात है, वह और विशेष चारित्र की अपेक्षा से (बात है) परन्तु यहाँ मुख्यत: यह बात है।

अविरति आदि से जो बन्ध होता है,... आहाहा! **(वह अल्प स्थिति-अनुभागवाला है...)** सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से उसे ज्ञानी कहा और उसे उस प्रकार का—मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी का बन्ध नहीं है; हाँ, उसे अविरति सम्बन्धी बन्ध है। आहाहा! अविरति आदि कहा न ? अविरति भाव है अव्रत, प्रमादभाव है, कषायभाव है, योग है। आहाहा!

(अविरति) **आदि से जो बन्ध होता है, वह अल्प स्थिति और अनुभागवाला है...** अल्पस्थिति और अनुभाग अल्प पड़ता है। आहाहा! जहाँ मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का अभाव होकर भेदज्ञान हुआ है, वहाँ आगे अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व नहीं है, अविरति के परिणाम हैं तो उनसे अल्पस्थिति और अल्प अनुभाग का बन्ध होता है। **दीर्घ संसार का कारण नहीं है...** अनन्त संसार (दीर्घ संसार) शब्द पड़ा है, कल आया था न,

अनन्त संसार का कारण है, तो उसके सामने अल्प स्थिति और अल्प अनुभाग का बन्ध है। आहाहा! ऐसा अब कहाँ?

दीर्घ संसार का कारण नहीं है... देखो! सम्यग्दृष्टि को पुण्य-पाप के परिणाम का स्वामीपना छूट गया है और स्वभाव का स्वामीपना हुआ है, तथापि वह (अस्थिरता के भाव) हैं, उनसे अल्पस्थिति का बन्ध पड़ता है, परन्तु वह दीर्घ संसार का कारण नहीं है, अनन्त संसार का कारण नहीं है। समझ में आया? आहाहा! मिथ्यात्व है, वह अनन्त संसार का कारण है, उसे अनन्त संसार का कारण कहा न पहले, वह अनन्त संसार का कारण, सम्यग्दृष्टि को (नहीं है, भले) अविरति आदि हो—प्रमाद, कषायभाव है, उनसे अल्पस्थिति, अल्पबन्ध पड़ता है और दीर्घ संसार नहीं है। दीर्घ संसार का कारण नहीं है, इसलिए वे (भाव) प्रधान नहीं हैं, इसलिए उन्हें मुख्यरूप से गिनने में नहीं आये हैं। आहाहा! प्रधान नहीं अर्थात् मुख्यरूप से गिनने में नहीं आये हैं। आहाहा!

आहाहा! **अथवा तो ऐसा कारण है कि—ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है...** यह राग से भिन्न हुआ, आत्मज्ञान है, वह बन्ध का कारण नहीं, देखो! एक बात यह है। **जब तक ज्ञान में मिथ्यात्व का उदय था, तब तक वह अज्ञान कहलाता था।** है न? (आत्मा) ज्ञानस्वरूप जो राग से भिन्न होकर अपना ज्ञान हुआ, वह (आत्म) ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है। जब तक ज्ञान में मिथ्यात्व का उदय था, तब तक वह अज्ञान कहलाता था और मिथ्यात्व के जाने के बाद अज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञान ही है। आहाहा!

उसमें जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है, उसका स्वामी ज्ञानी नहीं है... धनी नहीं है, आहाहा! **इसलिए ज्ञानी के बन्ध नहीं है... क्योंकि विकार जो कि बन्धरूप है और बन्ध का कारण है, वह तो बन्ध की पंक्ति में है,...** यह दो बातें हैं। **ज्ञान की पंक्ति में नहीं।** आहाहा! राग से भिन्न भेदज्ञान हुआ, उस पंक्ति में बन्ध नहीं आया। राग का बन्ध, वह बन्ध पंक्ति में गया। यह दो भाग कर डाले! आहाहा! तर्क से बन्ध का कारण है, वह तो बन्ध पंक्ति में है-ज्ञान की पंक्ति में नहीं।

इस अर्थ का समर्थनरूप कथन आगे गाथाओं में आयेगा। फिर विशेष आयेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश–४७

यहाँ कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(मालिनी)

परपरिणति–मुज्झत् खण्डयद्भेदवादा–
निद–मुदित–मखण्डं ज्ञान–मुच्चण्डमुच्चैः।
ननु कथ–मवकाशः कर्तृ–कर्म–प्रवृत्ते–
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः।।४७।।

श्लोकार्थ : [परपरिणतिम् उज्झत्] परपरिणति को छोड़ता हुआ, [भेदवादान् खण्डयात्] भेद के कथनों को तोड़ता हुआ, [इदम् अखण्डम् उच्चण्डम् ज्ञानम्] यह अखण्ड और अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान [उच्चैः उदितम्] प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हुआ है। [ननु] अहो! [इह] ऐसे ज्ञान में [कर्तृकर्मप्रवृत्तेः] (परद्रव्य के) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का [कथम् अवकाशः] अवकाश कैसे हो सकता है? [वा] तथा [पौद्गलः कर्मबन्धः] पौद्गलिक कर्मबन्ध भी [कथं भवति] कैसे हो सकता है? (कदापि नहीं हो सकता।)

(ज्ञेयों के निमित्त से तथा क्षयोपशम के विशेष से ज्ञान में जो अनेक खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे, उनसे रहित ज्ञानमात्र आकार अब अनुभव में आया; इसलिए ज्ञान को 'अखण्ड' विशेषण दिया है। मतिज्ञानादि जो अनेक भेद कहे जाते थे, उन्हें दूर करता हुआ उदय को प्राप्त हुआ है, इसलिए 'भेद के कथनों को तोड़ता हुआ' ऐसा कहा है। पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित होना था, उस परिणति को छोड़ता हुआ उदय को प्राप्त हुआ है; इसलिए 'परपरिणति को छोड़ता हुआ' ऐसा कहा है। पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित नहीं होता, बलवान है, इसलिए 'अत्यन्त प्रचण्ड' कहा है।)

भावार्थ : कर्मबन्ध तो अज्ञान से हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से था। अब जब भेदभाव को और परपरिणति को दूर करके एकाकार ज्ञान प्रगट हुआ, तब भेदरूप कारक की प्रवृत्ति मिट गई; तब फिर अब बन्ध किसलिए होगा? अर्थात् नहीं होगा।।४७।।

प्रवचन नं. १५५, श्लोक-४७, गाथा-७३ दिनांक ३०-१२-१९७८, शनिवार, पौष शुक्ल १

कलश है।

परपरिणति-मुज्झत् खण्डयद्भेदवादा-
निद-मुदित-मखण्डं ज्ञान-मुच्चण्डमुच्चैः।
ननु कथ-मवकाशः कर्तृ-कर्म-प्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः।।४७।।

७२ गाथा का कलश है। क्या कहते हैं ? कि यह आत्मा जो है, वह पुण्य-पाप के भाव जो अशुचि हैं, (आत्मा) अशुचि से भिन्न है-पवित्र है, चैतन्यघन है और पुण्य-पाप के भाव अशुचि हैं, जड़ हैं, दुःखरूप हैं। आत्मा पवित्र है, चैतन्य है और आनन्दरूप है—ऐसा जिसे दो के बीच का भेदज्ञान हुआ, उसे ज्ञानी और धर्मी कहा जाता है। आहाहा! धर्मी अर्थात् कि आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका अन्तर में राग से भिन्न होकर अनुभव होना—आनन्द का वेदन होना—अखण्ड ज्ञान का भान होना, उसका नाम भेदज्ञान-सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

यह जरा इसका श्लोक है।

(कहते हैं), कि जिसे अन्दर में शुभ-अशुभभाव से भिन्न आत्मा का भान हुआ, वह सम्यग्दृष्टि है-सम्यग्ज्ञानी है और जिसे यह पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं-मेरा कार्य है, ऐसा माननेवाले को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। आहाहा! तो (कलश में) कहते हैं कि '**पर परिणति मुज्झत**'- परपरिणति को छोड़ता हुआ... क्या कहते हैं ? आत्मा आनन्दस्वरूप का जिसे अन्तर में, राग के विकल्प से भिन्न (रूप से) भान हुआ, वह राग को छोड़ता हुआ, परपरिणति अर्थात् राग, चाहे तो शुभ (राग) हो, अशुभ हो-उसे छोड़ता हुआ। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

भेद के कथनों को तोड़ता हुआ... भेद को तोड़ता हुआ-अन्दर में जो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान आदि जो भेद हैं, (उन) भेद का लक्ष्य भी छोड़ता हुआ। आहाहा! अभेद ज्ञायकस्वभाव-चैतन्यमूर्ति की दृष्टि से—अभेद दृष्टि से, भेद को छोड़ता हुआ-अन्दर में

जो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान आदि जो भेद है, उस भेद का लक्ष्य छोड़ता हुआ। सूक्ष्म बात है भाई! आहाहा! (निज) स्वभाव शुद्ध चैतन्य का आश्रय लेकर, जो परिणति निर्मल हुई, परपरिणति को छोड़ता है। आहाहा! ऐसा धर्म! वह भेदवाद से भी छूटता है। अभेद चैतन्य अखण्ड है, उसकी दृष्टि वहाँ है। आहाहा!

भेद के कथनों को तोड़ता हुआ... तोड़ता का अर्थ-कथनों का अर्थ, भेद के भाव को तोड़ता हुआ, आहाहा! चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञायक जो अभेद है, ऐसी दृष्टि जब हुई, तब भेद का लक्ष्य उसमें (उसे) नहीं रहता। भेद को तोड़ता हुआ! आहाहा! ऐसी बात है।

'इदमं अखण्डं मुच्चण्डम् ज्ञानम्' यह भगवान आत्मा ज्ञायकभावरूपी जो अखण्डज्ञान है-ज्ञायकभाव है-अखण्ड ज्ञायकभाव! आहाहा! **यह अखण्ड और अत्यन्त प्रचण्ड...** उग्र ज्ञान की दशा प्रगट हुई। आहाहा! धर्म तब होता है कि राग से भिन्न होकर स्वभाव अभेद और अखण्ड ज्ञान की प्रतीति-अनुभव हुआ, तो (तब) उस अखण्डज्ञान में-प्रचण्डज्ञान में प्रतीति होती है। आहाहा! आया है आज (अलौकिक)! यह ७२ गाथा का कलश है न!

जिसे अन्दर में शुभ-अशुभभाव मैलरूप से अनुभव में आये, तो उसे भगवान आत्मा निर्मलानन्दरूप से अनुभव में आता है, तब वह उस मैल को छोड़ता है और जब अखण्ड ज्ञायकभाव दृष्टि में आया तो पर्याय के भेद का लक्ष्य (भी) छूट जाता है। आहाहा! ऐसी बात है। और अखण्ड प्रचण्ड ज्ञान ध्यान में आता है-अखण्ड ज्ञायकभाव, परिपूर्णस्वरूप ऐसा अखण्ड ज्ञान प्रचण्ड-महा उग्रस्वभाव, जैसा विशेष-अतिशय है, ऐसा ज्ञान अनुभव में आता है। आहाहा! ऐसी बात है।

ऐसे ज्ञान में प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हुआ है। ज्ञानस्वरूप ज्ञायकभाव जब उसकी दृष्टि हुई और पर्यायबुद्धि, भेदबुद्धि और रागबुद्धि छूट गयी, तो प्रत्यक्षज्ञान-अखण्ड, वह प्रत्यक्ष उदय में आया! आहाहा! यह ज्ञायकभाव जो अखण्ड-अभेद है, वह प्रत्यक्ष-प्रगट आया! भाषा... अहो! ऐसे ज्ञान में, जहाँ भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप में आया, अपनी प्रतीति में अखण्ड ज्ञान की प्रतीति हुई—अखण्ड ज्ञान द्रव्यस्वभाव वह ज्ञान में-श्रद्धा में आया, तो

उसे कर्मबन्धन कैसे हो सकता है ? (हो ही नहीं सकता)। भेद होता नहीं, परपरिणति छूट जाती है, उसे कर्मबन्धन कहाँ से होगा ? (नहीं होगा) ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ? ऐसी बात है।

ऐसे ज्ञान में (परद्रव्य के) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति... राग मेरा कार्य है और मैं उसका कर्ता हूँ—ऐसा कहाँ आया वहाँ ? ज्ञानस्वरूप का-अखण्ड ज्ञायक का भान हुआ, वहाँ राग का कार्य मेरा और मैं उसका कर्ता हूँ, ऐसा कहाँ आया ? ऐसा नहीं होता। सूक्ष्म बात है, भाई! श्लोक ही सूक्ष्म है न! सम्यग्ज्ञान हुआ तो किस प्रकार से हुआ और हुआ तो उसमें दशा कैसी होती है, यह बात कहते हैं। आहाहा!

जहाँ ज्ञायकभाव, वर्तमान पर्याय जो है, उसे (आत्म) द्रव्य सन्मुख झुकाने से, जो वर्तमान पर्याय है, उसे त्रिकाल भगवान पूर्ण द्रव्य-तत्त्व जो है, वहाँ पर्याय को लगाने से-जोड़ने से, परपरिणति छूट जाती है। आहाहा! भेद के ऊपर का लक्ष्य छूट जाता है और अखण्ड प्रचण्ड ज्ञान प्रगट प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। चिमनभाई! ऐसी बात है, बापू! आहाहा! अरेरे! अनादि से इसकी वर्तमान जो पर्याय है और प्रगट है, उस पर्याय पर उसकी रुचि और लीनता है अनादि से, परन्तु उस पर्याय के समीप में अन्तर में आत्मतत्त्व पूरा-पूर्ण आनन्दकन्द ज्ञायक है, उसके ऊपर तो दृष्टि कभी की नहीं। आहाहा!

वर्तमान प्रगट जो पर्याय ज्ञान का विकास है और राग, उस पर अनादि की लीनता-रुचि है तो वह रुचि छोड़कर, ज्ञायक जो पर्याय के समीप में पूर्णानन्द प्रभु (निजात्मा), उस ओर पर्याय झुकने से, अखण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष प्रतीति में अनुभव में आता है। आहाहा! उसमें कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का कहाँ अवकाश रहा ? ऐसा कहते हैं। आहाहा! राग मेरा कार्य है और मैं उसका कर्ता हूँ-ज्ञायक उसका कर्ता, यह कहाँ से आया ? आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई!

अहो! ऐसे ज्ञान में (परद्रव्य के) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अवकाश कैसे हो सकता है ? आहाहा! कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अवकाश कैसे हो सकता है ? अखण्ड ज्ञायकभापव, पूर्ण आनन्दस्वरूप प्रभु! राग से भिन्न होकर, प्रतीति में-अनुभव में-ज्ञान में ज्ञेयरूप से आया, आहाहा! अब उसे राग कार्य और राग का कर्ता मैं—ऐसा उसमें

अवकाश नहीं है, ऐसी बात है। **तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है? (कदापि नहीं हो सकता)।** आहाहा!

भगवान आत्मा में जहाँ दृष्टि लगायी, ज्ञायकस्वरूप में जहाँ पर्याय ने दृष्टि लगायी, (आत्म) द्रव्य पर पर्याय ने (दृष्टि लगायी) तो ऐसा द्रव्य जहाँ प्रतीति में-अनुभव में आया, उसे (अब) कर्ताकर्म कहाँ से होगा? राग कर्ता और राग का कार्य। तथा पुद्गल का बन्ध कैसे होगा? आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग मार्ग! आहाहा! पूरा द्रव्यस्वभाव-पूर्णस्वभाव, अखण्ड-अभेद स्वभाव, वह पर्यायदृष्टि में ख्याल में नहीं आता था इसे। आहाहा! ऐसी पर्यायदृष्टि छोड़कर, पूर्ण अखण्ड ज्ञायकभाव पर दृष्टि लगाने से ज्ञायकभाव प्रतीति में-अनुभव में आता है, उसका नाम सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है। आहाहा! उसमें (परद्रव्य की) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति कैसे होगी?

ज्ञायकभाव जहाँ प्रतीति में-अनुभव में आया, वह ज्ञायकभाव कर्ता और राग कर्म-ऐसा कैसे हो सकता है? आहाहा! और ऐसा ज्ञायकभाव दृष्टि में आया, उसे कर्मबन्धन कैसे हो सकता है? कर्मबन्धन नहीं होता। समझ में आया? कभी भी नहीं हो सकता। कलश सूक्ष्म है! सम्यग्ज्ञान होने के बाद क्या होता है, उसकी बात है। क्योंकि पाठ में ऐसा आया न कि आत्मा है, वह तो ज्ञायकस्वरूप है और पुण्य-पाप के भाव मलिन, अशुचि, अपवित्र है तो भगवान आत्मा, समीप में स्थित है, वह महाप्रभु पवित्र है (और) यह पुण्य-पाप के भाव अचेतन, ज्ञायकभाव का उसमें अंश नहीं; (इसलिए) ये शुभ-अशुभभाव अचेतन-जड़ हैं, तो भगवान ज्ञायकस्वरूप चैतन्य विज्ञानघन है। (और) पुण्य और पाप के भाव आकुलता को उत्पन्न करनेवाले हैं, तो भगवान आत्मा तो अनाकुल-आनन्दकन्द है। आहाहा! ऐसा दो के बीच का भेदज्ञान होने से, आहाहा! उसमें कर्ताकर्म की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? और पुद्गल का बन्ध कैसे होगा? (कदापि नहीं होगा)।

यह तो अखण्ड ज्ञायकभाव जहाँ अनुभव में आया, वहाँ बन्धन भी नहीं और भेद भी नहीं और कर्ताकर्म की प्रवृत्ति भी नहीं। समझ में आया? श्लोक सूक्ष्म है, भाई! आहाहा! वीतरागस्वरूप प्रभु! यह वीतरागस्वरूप प्रभु आत्मा!! आहाहा! यह वीतराग बिम्ब प्रभु जिनबिम्ब!

घट-घट अन्तर जिन बसे, घट-घट अन्तर जैन,
मत मदिरा के पान सौं, मतवाला समझे न।

(क्या कहते हैं?) घट-घट अन्तर वीतरागस्वरूपी भगवान (आत्मा) विराजमान है, ऐसा राग से भिन्न होकर, वीतरागस्वभावी आत्मा का ज्ञान हुआ। आहाहा! उस अखण्ड ज्ञान की प्रतीति-भान में आया, उसे कर्ताकर्म की प्रवृत्ति कैसे होगी? राग कार्य और राग का कर्ता आत्मा, (ऐसा) ज्ञायकस्वभाव में कैसे होगा? और ऐसा ज्ञायकभाव, अबन्धस्वरूप-मुक्तस्वरूप-वीतरागस्वरूप दृष्टि में आया, उसे बन्ध कैसे होगा? क्योंकि वह तो अबन्धस्वरूप है, उसे नया बन्ध कैसे होगा? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है कलश में!

वर्तमान पर्याय जो प्रगट है, वह तो अंश है और वह आगे जाती है-दूर, तो राग आता है, तो वह राग और अंश बुद्धि को छोड़कर, निरंश जो भगवान (आत्मा) पूर्ण अखण्ड आनन्द प्रभु! आहाहा! उसके ऊपर अपना अहंपना (स्थापित कर) श्रद्धा का भान हुआ, आहाहा! वहाँ कर्ताकर्म की प्रवृत्ति कैसे होगी? और पुद्गल कर्म का बन्ध कैसे होगा? आहाहा! ऐसी बात है। जब तक राग मेरा कार्य है और राग का मैं कर्ता हूँ, (ऐसी मान्यता) वह तो अज्ञान है। ज्ञानस्वरूपी भगवान (ज्ञायकभाव) राग का कर्ता कैसे होगा? आहाहा! ऐसा ज्ञायकभाव जब दृष्टि में आता है, तब राग का कर्तृत्व छूट जाता है और पुद्गल कर्म का बन्ध नहीं होता। आहाहा! सूक्ष्म बात है-मुद्दे की बात है, भाई! आहाहा!

वर्तमान में तो आत्मा को छोड़कर सब क्रीडायें लगायी हैं, भगवान पूरा द्रव्य (आत्मा) भगवान परिपूर्ण परमात्मा है, उसके ऊपर तो दृष्टि नहीं और एक समय की पर्याय के ऊपर दृष्टि और राग के ऊपर दृष्टि होने से मिथ्यात्व से परिभ्रमण करता है वह। आहाहा!

यह एक समय की पर्याय-राग चाहे तो शुभ हो, उस ओर की रुचि और दृष्टि है, उसे छोड़कर त्रिकाली ज्ञायकभाव पर दृष्टि करने से अखण्ड ज्ञायकभाव प्रतीति में (अनुभव में) आता है, उसे कर्मबन्धन छूट जाता है और कर्ताकर्म की प्रवृत्ति नहीं होती। कहो, समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात पहले सुनना कठिन पड़े! आहाहा! परिचय करे, समझे तो समझ में आये ऐसी चीज़ है। आहाहा! स्वयं ज्ञानपिण्ड है न! यह तो समझण

का पिण्ड है, यह ज्ञायकभाव अकेला ज्ञानरस से भरपूर-परिपूर्ण ज्ञानरस से भरपूर भगवान (आत्मा); आहाहा! उसकी-अन्तर के सत्त्व की, सत् ऐसा जो आत्मा, उसका सत्त्व अकेला ज्ञायकभावरस, उसके ऊपर दृष्टि पड़ने से उसकी पर्यायबुद्धि-रागबुद्धि छूट जाती है। समझ में आया? कहो, पुनातर! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

अब इसका कोष्ठक, यह शब्दार्थ किया न? नीचे कोष्ठक (देखो!)

ज्ञेयों के निमित्त से... जानने के निमित्त से, जो आत्मा में खण्ड-खण्ड होता है **तथा क्षयोपशम के विशेष से ज्ञान में जो अनेक खण्डरूप आकार...** पर्याय में क्षयोपशमरूप अवस्था से खण्ड-खण्ड ज्ञान, वे **आकार प्रतिभास में आते थे।** क्या कहते हैं? ज्ञेय के निमित्त से खण्ड-खण्ड भेद और क्षयोपशम की ज्ञान की पर्याय में (जो) खण्ड-खण्ड स्वयं के कारण से होते थे, वह खण्ड-खण्ड ज्ञान अनादि से लक्ष्य में था अर्थात् वह खण्डवाली जो पर्याय है, उसके ऊपर अनादि की दृष्टि है। आहाहा!

उससे रहित ज्ञानमात्र आकार... अकेला ज्ञानस्वभाव, खण्ड ज्ञान नहीं, पर्याय में भेद ज्ञान भी नहीं, अकेला ज्ञान आकार स्वरूप भगवान चैतन्य, पूर्ण ज्ञायकभाव!! आहाहा! ऐसा **आकार अब अनुभव में आया...** भाव तो जरा सूक्ष्म है, परन्तु अब भाषा तो सादी है। पर्याय में खण्ड-खण्ड ज्ञान, अनादि से ख्याल में आता था, उसे छोड़कर अखण्ड ज्ञायकभाव-आकार जहाँ आकार एकरूप ज्ञायक ख्याल में आया! एकरूप ज्ञायकभाव ख्याल में (ज्ञान में) आया, अनुभव में आया। आहाहा! **इसलिए ज्ञान को अखण्ड विशेषण दिया है...** ज्ञान को अखण्ड विशेषण क्यों दिया? कि ज्ञान की पर्याय में खण्ड-खण्ड ज्ञान जहाँ था, उसकी दृष्टि छोड़कर, अखण्ड ज्ञायक में दृष्टि हुई तो उसे अखण्ड ज्ञान ख्याल में आया, इसलिए अखण्ड विशेषण दिया है। जो पर्याय में खण्ड-खण्ड (ज्ञान था), वह दृष्टि छूटकर अखण्ड ज्ञायक पर दृष्टि गयी तो अखण्ड विशेषण कहा गया है। आहाहा! मार्ग ऐसा है, भाई! आहाहा!

मतिज्ञान आदि अनेक भेद कहे जाते थे... 'भेद को तोड़ता हुआ' ऐसा आया न? कलश में ऐसा लिया है। कर्ता-कर्म-करण (आदि) भेद को तोड़ता हुआ। राग कर्ता और राग मेरा कार्य और राग साधन, ऐसा कर्ता-कर्म के राग के भेद को छोड़ता हुआ। यहाँ

कहते हैं मतिज्ञान आदि के (जो) अनेक भेद कहे जाते थे-पर्याय में भिन्न-भिन्न ज्ञान की पर्याय जो कही जाती थी, उसे (भेद को) **दूर करता हुआ...** खण्ड-खण्ड ज्ञान को दूर करता हुआ, अखण्डज्ञान में दृष्टि देता हुआ। आहाहा! ऐसी बात! अब ऐसा धर्म! लोगों को फिर बाहर की प्रवृत्तियों को (धर्म) माननेवालों को तो यह एकान्त लगे! धमाल, धमाल, यह बाहर से... ऐसे यात्रा और लोगों की प्रवृत्ति व्रत की और नियम की और तप की, आहाहा! प्रभु! वह तो परलक्ष्यी बातें हैं, बापू! आहाहा!

भगवान आत्मा अखण्डानन्द प्रभु! वह लक्ष्य में आये बिना, इसे भेदज्ञान सच्चा नहीं होता। अखण्ड ज्ञान-पूर्ण ज्ञान-ज्ञायकभाव दृष्टि में आये बिना, खण्डज्ञान और राग से भिन्न नहीं होता। आहाहा! ऐसी बातें! वे तो कहे, व्रत करो, तपस्या करो, अपवास करो, यात्रा करो, आहाहा! करना वहाँ तो राग का करना होता है। आहाहा! भगवान (आत्मा) तो अबन्धस्वरूप रागरहित है। आहाहा! ऐसे अबन्धस्वरूप (मुक्तस्वरूप) की दृष्टि में राग का कर्तव्य भी नहीं है, तो उसे बन्धन भी नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन में से लिया है यह तो यह जोर!

मतिज्ञान आदि अनेक भेद कहलाते थे, उनको दूर करता हुआ... अर्थात् कि एकरूप ज्ञायकभाव दृष्टि में लेता हुआ, आहाहा! खण्ड-खण्ड ज्ञान को दूर करते-करते, उदय को प्राप्त-**उदय प्राप्त है,...** अभेद ज्ञायकभाव प्रगट हुआ, उदय अर्थात् प्रगट हुआ, जो खण्ड ज्ञान प्रगट था, वह अब अखण्ड ज्ञान पर्याय में प्रगट हुआ। आहाहा!

इसलिए भेद के कथनों को तोड़ता हुआ,... ऐसा कहा है। **पर के निमित्त से रागादिरूप...** पहला शब्द है—परपरिणति—पर के निमित्त से राग-द्वेष आदि (रूप से) परिणमित होता था, उस परिणति को छोड़ता हुआ। पहला शब्द है न! **'परपरिणति मुज्झत्'** इसका अर्थ बाद में लिया। आहाहा! बहुत काम, बापू! परपरिणति को छोड़ता हुआ, **उदय को प्राप्त हुआ है, इसलिए परपरिणति को छोड़ता हुआ, ऐसा कहा है।** उदय को प्राप्त हुआ है (अर्थात् कि) ज्ञायकभाव प्रगट हुआ है। जो खण्ड-खण्ड ज्ञान प्रगट था, अब (अखण्ड) ज्ञायकभाव प्रगट हुआ। आहाहा!

चैतन्यज्योत अभेद-अखण्ड ज्ञायकभाव प्रगट हुआ, इसका नाम सम्यग्दर्शन और

सम्यग्ज्ञान है। इसलिए परपरिणति को छोड़ता हुआ, ऐसा कहा है। पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित नहीं होता। अब रागरूप परिणमित नहीं। अखण्ड ज्ञायकभाव की दृष्टि हुई तो निर्मल परिणतिरूप से परिणमन होता है। अखण्ड ज्ञायकभाव की दृष्टि हुई, पर्याय और भेदबुद्धि छूट गयी, तब अखण्ड निर्मल परिणतिरूप से परिणमित (परिणाम) करता है, राग का परिणमन नहीं करता। आहाहा! यह ऐसा श्लोक आया है, लो!

पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित नहीं होता, बलवान है... अर्थात् ज्ञायकभाव की जहाँ दृष्टि हुई, जोरदार ज्ञायकभाव है, कि (इसलिए) ज्ञायकभाव में राग की परिणति नहीं होती, ऐसा बलवान ज्ञायकभाव है! आहाहा! ऐसी वस्तु है! यह बाहर की प्रवृत्ति में (धर्म) माननेवालों को यह तो ऐसा लगे कि... **बलवान है...** क्या कहते हैं यह? राग के (भावों को) छोड़ने से और भेद के ऊपर से लक्ष्य छोड़ने से... बलवान का अर्थ यह होता है। राग के विकार की रुचि छोड़ने से और अबद्धस्वभाव की दृष्टि होने से, भेद की दृष्टि (भी) छोड़ने से अभेद की दृष्टि करने से आत्मा बलवान हुआ, (इसलिए) रागरूप परिणमता नहीं। आहाहा! अभी तो बात पकड़ना कठिन पड़े! आहाहा!

पर्यायबुद्धि की आड़ में भगवान (निजात्मा) अन्दर पड़ा है, छिपकर पड़ा है, उसकी बात यहाँ करते हैं कि रागबुद्धि और पर्यायबुद्धि, वर्तमान रागबुद्धि और या पर्यायबुद्धि, इस बुद्धि में भगवान अखण्ड आनन्द-अरागी और वीतरागी अखण्ड, इससे स्वभाव ढँक गया है। रागबुद्धि और पर्याय—अंशबुद्धि में, अरागी-वीतराग और अखण्ड ज्ञान वह ढँक गया है। कहो, पण्डितजी! आहाहा!

ओहोहो! और अखण्ड द्रव्यबुद्धि और पूर्ण ज्ञायकबुद्धि में, खण्डबुद्धि और भेदबुद्धि छूट गयी है। आहाहा! ऐसा है। जिससे अखण्ड-अबन्धस्वभाव की बुद्धि हुई—भेदज्ञान अन्तर में हुआ, तो इससे राग के कर्ताकर्म की प्रवृत्ति अथवा मतिज्ञान, (श्रुतज्ञान) आदि भेद की प्रवृत्ति छूट गयी, और कर्मबन्धन भी छूट गया! कहो, समझ में आया? ऐसा है यह!

भावार्थ :- कर्मबन्ध तो अज्ञान से हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से था। क्या कहते हैं? जो नया बन्धन होता था, वह तो अज्ञान से (होता था)। अज्ञान से का अर्थ? कि जो

वस्तु अखण्डज्ञायकस्वरूप, चैतन्य ब्रह्म, जिनस्वरूप, उसका अज्ञान—उसका ज्ञान नहीं था। आहाहा! जिनस्वरूपी अबन्धस्वभावी-मुक्तस्वरूप भगवान (आत्मा) का ज्ञान नहीं था। अज्ञान के कारण कर्मबन्धन होता था और कर्ताकर्म की प्रवृत्ति थी। आहाहा! राग का कर्ता और राग का कर्म, यह प्रवृत्ति वहाँ रही, (परन्तु) वह वस्तु (आत्मा) है नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म!

अब जब भेदभाव को... अब जब भेदभाव को पर्याय से भिन्न होकर, अभेदभाव को प्राप्त किया **और परपरिणति को दूर करके...** राग को दूर करके, आहाहा! अरागी स्वभाव का अनुभव-दृष्टि हुई, **एकाकार ज्ञान प्रगट हुआ,...** भेद भी छूट गये और राग भी छूट गया। आहाहा! एकाकार ज्ञायकभाव एक स्वरूपी प्रभु दृष्टि में आया! सूक्ष्म बात है। चाहे जितनी हल्की भाषा करे तो भी उसके भाव रहकर ऐसा हो न! यह भाव सम्हालकर भाषा हल्की हो न! भाव को कहीं शिथिल करके भाषा होती है? आहाहा! **तब फिर अब बन्ध किसलिए होगा? अर्थात् नहीं होगा।** यहाँ सम्यग्दृष्टि को (निजात्मा का) भान हुआ, इस अपेक्षा से बात है; अस्थिरता का बन्ध है, उसे यहाँ गिनने में नहीं आया है। आहाहा!

यहाँ तो अखण्ड ज्ञायक-अबन्धस्वरूपी प्रभु-वीतरागस्वरूपी-अरूपी-अबन्ध-मुक्तस्वरूपी-ज्ञायकस्वरूपी ऐसा जो भेद और राग की प्रवृत्ति से भिन्न होकर अनुभव हुआ, वहाँ राग की प्रवृत्ति कैसे हो? बन्ध कैसे हो? आहाहा! ऐसा मार्ग है। इसमें धन्धे के कारण एक तो निवृत्ति नहीं मिलती और सुनने को मिले तो फिर बाहर की सब प्रवृत्ति यह करो और यह करो, यह करो और जो इसकी दृष्टि में (अभिप्राय में) है, उसकी बातें करे, दृष्टि में तो अनादि से पर्याय और राग है, आहाहा! (उसमें) इसे सूझ पड़े! वहाँ पर्याय और राग सूझता है। वहाँ राग करना और यह करो, यह करो और यह करो, इसमें रुक गया और पर्याय और राग से भिन्न, (आत्मा) द्रव्य और वीतरागी स्वभाव, वह तो दृष्टि में ओझल हो गया! आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! क्या हो? आहाहा! यह श्लोक का अर्थ हुआ।

गाथा–७३

केन विधिनायमास्रवेभ्यो निवर्तत इति चेत् –

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि।।७३।।

अहमेक: खलु शुद्ध: निर्ममत: ज्ञानदर्शनसमग्र:।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्त: सर्वानेतान् क्षयं नयामि।।७३।।

अहमयमात्मा प्रत्यक्षमक्षुण्णमनन्तं चिन्मात्रं ज्योतिरनाद्यनन्तनित्योदितविज्ञानघनस्वभावभावत्वादेक:, सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्ध:, पुद्‌गलस्वामिकस्य क्रोधादिभाववैश्वरूपस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यमेवापरिणमनान्निर्ममत:, चिन्मात्रस्य महसो वस्तुस्वभावत एव सामान्यविशेषाभ्यां सकलत्वाद् ज्ञानदर्शनसमग्र:, गगनादिवत्पारमार्थिको वस्तुविशेषोऽस्मि।

तदहमधुनास्मिन्नेवात्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निश्चलमवतिष्ठमान: सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचञ्चलकल्लोलनिरोधेनेममेव चेतयमान: स्वाज्ञानेनात्मन्युत्प्लवमानानेतान भावानखिलानेव क्षपयामीत्यात्मनि निश्चित्य चिरसंगृहीतमुक्तपोतपात्र: समुद्रावर्त इव झगित्येवोद्वान्तसमस्तविकल्पोऽकल्पितमचलितममलमात्मानमालम्बमानो विज्ञानघनभूत: खल्वयमात्मास्रवेभ्यो निवर्तते।।७३।।

अब प्रश्न करता है कि यह आत्मा किस विधि से आस्रवों से निवृत्त होता है? उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं :–

मैं एक शुद्ध ममत्व हीन रु, ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ।
इसमें रहूँ स्थित लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूँ।।७३।।

गाथार्थ : ज्ञानी विचार करता है कि :– [खलु] निश्चय से [अहम्] मैं [एक] एक हूँ, [शुद्ध:] शुद्ध हूँ, [निर्ममत:] ममतारहित हूँ, [ज्ञानदर्शनसमग्र:] ज्ञानदर्शन से पूर्ण

हूँ; [तस्मिन् स्थित:] उस स्वभाव में रहता हुआ, [तच्चित्त:] उसमें (-उस चैतन्य-अनुभव में) लीन होता हुआ (मैं) [एतान्] इन [सर्वान्] क्रोधादिक सर्व आस्रवों को [क्षयं] क्षय को [नयामि] प्राप्त कराता हूँ।

टीका : मैं यह प्रत्यक्ष अखण्ड अनन्त चिन्मात्र ज्योति आत्मा अनादि-अनन्त, नित्य उदयरूप, विज्ञानघनस्वभावभावत्व के कारण एक हूँ; (कर्ता, कर्म, कारण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणस्वरूप) सर्व कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार को प्राप्त जो निर्मल अनुभूति, उस अनुभूतिमात्रपने से शुद्ध हूँ; पुद्गलद्रव्य जिसका स्वामी है, ऐसे जो क्रोधादिभावों का विश्वरूपत्व (अनेकरूपत्व), उसके स्वामीपनेरूप स्वयं सदा ही नहीं परिणमता होने से ममतारहित हूँ; चिन्मात्र ज्योति का (आत्मा का), वस्तुस्वभाव से ही सामान्य और विशेष से परिपूर्णता होने से, मैं ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ। ऐसा मैं आकाशादि द्रव्य की भाँति पारमार्थिक वस्तु विशेष हूँ। इसलिए अब मैं समस्त परद्रव्य-प्रवृत्ति से निवृत्ति द्वारा इसी आत्मस्वभाव में निश्चय रहता हुआ, समस्त परद्रव्य के निमित्त से विशेषरूप चेतन में होती हुई चंचल कल्लोलों के निरोध से इसको ही (इस चैतन्यस्वरूप को ही) अनुभवन करता हुआ, अपने अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न होते हुए जो यह क्रोधादिक भाव हैं, उन सबका क्षय करता हूँ-ऐसा आत्मा में निश्चय करके, जिसने बहुत समय से पकड़े हुए जहाज को छोड़ दिया है, ऐसे समुद्र के भँवर की भाँति जिसने सर्व विकल्पों को शीघ्र ही वमन कर दिया है ऐसे, निर्विकल्प अचलित निर्मल आत्मा का अवलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ, यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।

भावार्थ : शुद्धनय से ज्ञानी ने आत्मा का ऐसा निश्चय किया है कि - 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्य के प्रति ममतारहित हूँ, ज्ञानदर्शन से पूर्ण वस्तु हूँ।' जब वह ज्ञानी आत्मा ऐसे अपने स्वरूप में रहता हुआ उसी के अनुभवरूप हो, तब क्रोधादिक आस्रव क्षय को प्राप्त होते हैं। जैसे समुद्र के आवर्त्त (भँवर) ने बहुत समय से जहाज को पकड़ रखा हो और जब वह आवर्त्त शमन हो जाता है, तब वह उस जहाज को छोड़ देता है; इसी प्रकार आत्मा विकल्पों के आवर्त्त को शमन करता हुआ आस्रवों को छोड़ देता है।

गाथा - ७३ पर प्रवचन

अब प्रश्न करता है कि यह आत्मा किस विधि से आस्रवों से निवृत्त होता है।

भगवान आत्मा! यह पुण्य-पाप के अशुचिभाव-मलभाव-जड़भाव-दुःखभाव से निवृत्ति की रीति क्या है? उनसे हटने की विधि क्या है? समझ में आया? आहाहा! प्रश्नकार को इतने तक आया प्रश्न, आहाहा! कि यह पुण्य-पाप के भाव मलिन और दुःखरूप और जड़ हैं तथा भगवान निर्मल चैतन्य और आनन्द (स्वरूप) है, तो वह आस्रवों से निवृत्ति की रीति-विधि-मार्ग क्या है?—ऐसा शिष्य का प्रश्न है। शिष्य को इतना तो मस्तिष्क में आया कि आस्रव की निवृत्ति, वह लाभ है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

अब प्रश्न करता है यह आत्मा-यह आत्मा, किस विधि से, किस रीति से, किस पद्धति से आस्रवों से निवृत्त होता है? यह बन्ध के कारण दुःखरूप भाव से किस प्रकार निवृत्त होता है? उसकी विधि क्या है? यह पूछता है। आस्रव कैसे हों, ऐसा (शिष्य) पूछता नहीं। आहाहा! दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति (के भाव) कैसे हो, ऐसा पूछता नहीं। शिष्य इतनी तो तैयारी में आया कि यह पुण्य-पाप के आस्रवों से निवृत्ति की रीति क्या है? वह तो प्रवृत्ति है, वह दुःखरूप है तो उनसे निवृत्ति की विधि क्या है? यहाँ तक तो प्रश्नकार आया है। समझ में आया?

क्या कहा? कि जिसके हृदय में-ज्ञान में ऐसा आया कि यह पुण्य-पाप के भाव आस्रव है-दुःखरूप है, तो उनसे हटने की-निवृत्ति की विधि क्या है? वे (भाव) करने की विधि तो अनादि से है अब, आहाहा! परन्तु उनसे निवृत्ति की विधि क्या है? इतना तो प्रश्न शिष्य का अन्तर से आया है। जिसे आस्रवों से निवृत्त होना है। आस्रव में प्रवर्तना है, यह बात छूट गयी है, आहाहा! ऐसे व्रत पालना और उसके अतिचार ऐसे टालना और उसमें ऐसे भक्ति करना और उसमें ऐसा करना, यह यहाँ तो कहते हैं कि उन आस्रवों से निवृत्ति की अब क्या विधि है, यह कहो। आहाहा! प्रवृत्ति की विधि तो हम अनादि से जानते हैं। है? आहाहा!

भगवान आत्मा... आहाहा! यह आत्मा कहा न! यह आत्मा, यह पुण्य-पाप के भाव, जो आस्रव है और दुःख है, उनसे निवृत्ति की रीति क्या है? विधि क्या है? ऐसा प्रश्नकार का प्रश्न है, उसका उत्तर देते हैं। साधारण प्राणी सुनने आये और ऐसे (के ऐसे) सुने, ऐसा नहीं— ऐसा कहते हैं। आहाहा! (यह तो) जिसे अन्तर में शुभ-अशुभभाव दुःखरूप आस्रव मलिन है, यह तो ख्याल में आया है, परन्तु उनसे निवृत्ति की विधि क्या? अब हमारे तो यह काम है। ऐसा जो प्रश्नकार है, (उसके प्रश्न का) उसे उत्तर दिया जाता है। आहाहा!

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चितो सव्वे एदे खयं णेमि॥७३॥

नीचे हरिगीत —

मैं एक शुद्ध ममत्व हीन रु, ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ।
इसमें रहूँ स्थित लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूँ॥७३॥

आहाहा! वापस ऐसा तू क्षय करे, ऐसा नहीं, ऐसा क्षय करूँ, ऐसा लिया है। ऐसा कि इस प्रकार से क्षय करना, ऐसा नहीं, यह तो इस रीति से क्षय करता हूँ। आहाहा! आहाहा! अर्थात् कि यहाँ तो क्षय करने के योग्य जीव ही लिया है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे क्षय करूँ, ऐसा उन्होंने नहीं कहा। यहाँ तो कहते हैं कि इस प्रकार क्षय करता हूँ। आहाहा!

टीका :- मैं... तू ऐसा विचार कर, ऐसा नहीं। यहाँ तो कहा, **मैं यह...** यह, **मैं यह प्रत्यक्ष...** यह मैं आत्मा प्रत्यक्ष हूँ। आहाहा! ज्ञान में प्रत्यक्ष हूँ, वह परोक्ष रहे नहीं। आहाहा! **मैं यह प्रत्यक्ष अखण्ड...** मैं अखण्ड हूँ। आहाहा! ऐसा निर्णय करना। ऐसा पहला, फिर कहेंगे कि ऐसा निर्णय करना, विकल्प से भी करना, फिर कहेंगे, फिर विकल्प छोड़ देने का कहेंगे, परन्तु तू पहले से ऐसा है। आहाहा! मैं 'यह' मैं प्रत्यक्ष अखण्ड जिसमें खण्ड नहीं, भेद नहीं, वह वस्तु मैं हूँ। आहाहा! **अनन्त चिन्मात्र ज्योति...** यह अनन्त भाव की यह व्याख्या है। अनन्त काल रहेगा, यह बाद में लेंगे। परन्तु यहाँ तो पहले 'अनन्त' शब्द भाववाचक है। अनन्त भाव मेरा अनन्त है। **अखण्ड, अनन्त चिन्मात्र ज्योति...** यह अनन्त ज्ञानमात्र ज्योति प्रत्यक्ष अखण्ड, ज्ञानमात्र ज्योति अनन्त। आहाहा! अनन्त यहाँ काल

अनन्त रहने की यह बात नहीं है, उसका मेरा भाव अनन्त है। समझ में आया ? दो अनन्त आयेंगे। अनन्त चिन्मात्र ज्योति। ज्ञानमात्र अनन्त, अनन्त, अनन्त, अमाप ऐसा जो ज्ञानमात्र ज्योति, जिसका माप नहीं, अनन्त है। आहाहा! माप किया जा सकता है, वह अलग परन्तु वह वस्तु ऐसी है, अनन्त है। आहाहा! अनन्त ज्ञानमात्र ज्योति, ऐसा आत्मा, **अनादि-अनन्त...** अब काल लिया। ऐसा आत्मा मैं अनादि हूँ, मेरी शुरुआत नहीं, है और है। अनादि है, अनन्त है, भविष्य भी अनन्त रहेगा। आहाहा!

अनादि-अनन्त... यह काल की अपेक्षा से बात है। पहला अनन्त था, वह भाव की अपेक्षा से बात थी। अनन्त ज्ञानमात्र वस्तु आत्मा, चिन्मात्र, वह भाव था। यह काल है। मैं अनादि, मेरी आदि नहीं, है, है उसे आदि क्या ? आहाहा! और अनन्त, भविष्य में भी मेरा अन्त नहीं। ऐसा का ऐसा अनन्त है। ऐसा पहले विकल्प से निर्णय कर, ऐसा कहते हैं। है विकल्प भी रागमिश्रित विचार, आँगन में खड़ा ऐसा विचार कर, अन्दर में प्रवेश करने का बाद में, आहाहा! अनादि-अनन्त भूत और भविष्य दोनों लिये, अब वर्तमान लेते हैं। **नित्य उदयरूप हूँ,...** मैं तो कायम प्रगटरूप-प्रगटरूप नित्य उदयरूप वर्तमान। आहाहा! यह तो अध्यात्म के शब्द हैं। एक-एक शब्द में बहुत गम्भीरता, उसमें अमृतचन्द्राचार्य की टीका अर्थात्, आहाहा! नित्य प्रगटरूप हूँ। कायम प्रगटरूप ही वस्तु हूँ। आहाहा!

ज्ञायक ज्योति चैतन्यबिम्ब प्रभु (जिसका) आदि नहीं, अन्त नहीं और वर्तमान नित्य प्रगटरूप हूँ। **विज्ञानघन स्वभावभावत्व के कारण...** भावत्व के कारण, 'पना' लेना है न ? विज्ञानघन स्वभावभावत्व के कारण। यह आत्मा ऐसा है न ? आत्मा अनादि-अनन्त नित्य उदयरूप और आत्मा विज्ञानघन स्वभावभावत्व के कारण... आहाहा! विज्ञानघन स्वभावभावत्व—स्वभावभावपना विज्ञानघन स्वभावभावपना, आहाहा! उसका सत्त्व लिया। सत् ऐसा आत्मा, उसका विज्ञानघन स्वभावपना ऐसा उसका सत्त्व है। आहाहा!

विज्ञानघन स्वभावभावत्व के कारण स्वभावभावपने के कारण **एक हूँ...** विज्ञानघन हूँ न, इसलिए एक हूँ, ऐसा। भेद और उसमें कुछ है नहीं। आहाहा! विज्ञानघन आत्मा, विज्ञानघन आत्मा अनादि-अनन्त नित्य उदयरूप वर्तमान विघानघन स्वभावभावत्व के कारण—स्वभावभावपने के कारण एक हूँ। आहाहा! यहाँ तो पर्याय भेद भी नहीं। आहाहा!

विज्ञानघन स्वभावभावत्व के कारण... आहाहा! **एक हूँ।** एक हूँ। **कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणस्वरूप सर्व कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार को प्राप्त...** यहाँ तो अन्तर की बात लेनी है, परन्तु पहले ऐसा लेते हैं कि आत्मा जो है, वह विज्ञानघन स्वभाव, वह पर का कर्ता और पर का कार्य, वह षट्कारक उसमें नहीं है। शरीर, वाणी, मन की क्रिया के कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान (अपादान-अधिकरण) छह कारक उसमें यह पर के नहीं, तथा राग का कर्ता-कर्म षट्कारक भी उसमें नहीं।

अब तीसरा। अब जो इसकी एक समय की जो पर्याय है, उसका जो पर्याय में कर्तापना पर्याय कर्ता, पर्याय कार्य, पर्याय साधन / करण, पर्याय सम्प्रदान / रखी, अपादान-पर्याय से पर्याय हुई, पर्याय के आधार से पर्याय हुई—ऐसे पर्याय के षट्कारक से भी पार मेरी चीज़ है। आहाहा! द्रव्यस्वरूप लेना है न? अर्थात् पर के कारकों की तो बात है ही नहीं, राग के कारकों की बात है ही नहीं, परन्तु इसकी एक समय की जो पर्याय है-निर्मल पर्याय है, ज्ञान की पर्याय है, उस पर्याय में षट्कारक जो है—पर्याय कर्ता, पर्याय कार्य, पर्याय करण-साधन, पर्याय सम्प्रदान, पर्याय करके रखी, पर्याय से पर्याय हुई यह अपादान, पर्याय के आधार से पर्याय, ऐसी एक समय की पर्याय के षट्कारक से पार मेरी चीज़ उससे भिन्न है। आहाहा!

अभी तो बाहर के कर्ताकर्म न माने तो जैन नहीं, ऐसा वे कहते हैं। अरे भगवान! बापू! क्या करता है? प्रभु! आहाहा! ऐसा कि परद्रव्य का कर्ता-कर्म न माने तो दिगम्बर जैन नहीं, ऐसा कहा जाता है, लो। अररर! यहाँ तो एक समय की पर्याय का कर्ताकर्मपना जो है, स्वतन्त्र एक पर्याय (जो) षट्कारक से परिणमती है, उससे भिन्न मेरी चीज़ है। आहाहा! पर के कर्ताकर्म की तो बात गन्ध भी नहीं, राग के कर्ताकर्म की बात तो यहाँ करते ही नहीं, क्योंकि वह है ही नहीं। परन्तु पर्याय में षट्कारक का परिणमन हो, आहाहा! है?

सर्व कारक अर्थात् छह, ऐसी जो क्रिया के कारकों की समूह की प्रक्रिया। देखा! परिणति अर्थात् पर्याय, उससे 'पार को प्राप्त' उस षट्कारक की पर्याय की परिणति से भिन्न मेरी चीज़ है, ऐसा है। ज्ञायकस्वरूप जो ध्रुव नित्यानन्द प्रभु अबद्धस्वरूप, मुक्तस्वरूप,

ज्ञायकस्वरूप, वह पर्याय की षट्कारक की परिणति से भिन्न है, उसमें वह है नहीं। पर्याय के षट्कारक उसमें है नहीं, कहते हैं। आहाहा!

मोक्षमार्ग की पर्याय के षट्कारक हैं, वे उसमें नहीं, कहते हैं। ऐसा सुनना कठिन पड़े। यह प्रभु तेरा मार्ग कोई भिन्न अलौकिक है। आहाहा! मोक्षमार्ग की पर्याय में कर्ता-कर्म आदि एक समय की पर्याय है, उससे-प्रक्रिया से पार, भिन्न, प्राप्त, पर्याय से भिन्न प्राप्त वस्तु है। आहाहा! निर्मल अनुभूति, निर्मल अनुभूति यह त्रिकाल की बात है। निर्मल अनुभूति अर्थात् पर्याय नहीं। पर्याय के षट्कारक की प्रक्रिया से पार अनुभूति, अनुभूति अर्थात् वस्तु त्रिकाल। आहाहा! क्योंकि जो अनुभूति होती है, वह तो एक पर्याय में, परन्तु यह तो त्रिकाल अनुभूतिस्वरूप है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **सर्व कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार को प्राप्त जो निर्मल अनुभूति, उस अनुभूतिमात्रपने से शुद्ध हूँ...** षट्कारक की पर्याय की परिणति से भिन्न, वह शुद्ध हूँ, उसे यहाँ शुद्ध कहा है। आहाहा! त्रिकाली वस्तु जो ज्ञायकस्वरूप ध्रुव जो नित्यानन्द प्रभु, वह पर्याय के षट्कारक से भिन्न, उसे यहाँ शुद्ध कहा जाता है। त्रिकाली चीज़ को प्रक्रिया पर्याय के पार से उसे शुद्ध कहा जाता है। आहाहा! अहम्, एको, शुद्धो, इतना अर्थ हुआ। अहम्, एको, शुद्धो, विशेष आयेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १५६, गाथा-७३ दिनांक ३१-१२-१९७८, रविवार, पौष शुक्ल २

शिष्य का प्रश्न है, उसका उत्तर है। शिष्य का प्रश्न यह है कि यह जो पुण्य और पाप के भाव हैं, वे आस्रव हैं, दुःखरूप हैं, मैल हैं, तो उनसे किस विधि से निवृत्त हों? पुण्य-पाप के भाव से किस प्रकार निवृत्त हो? उसका उत्तर माँगता है। परन्तु जिसे यह धगश अन्दर हुई है उसे। शुभ और अशुभ दोनों भाव चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव हो, चाहे तो हिंसा, झूठ, चोरी, विषय आदि का भाव हो, दोनों भाव से निवृत्त होने की रीति क्या है? उसकी विधि क्या है? ऐसा शिष्य पूछता है, उसका उत्तर है।

पहले तो यह कहा कि तू ऐसा विचार कर कि मैं तो अनादि-अनन्त नित्य द्रव्यस्वभावरूप शुद्ध चैतन्य विज्ञानघन हूँ, एक हूँ, मैं एक हूँ। यहाँ यह कर्ता-कर्म का अधिकार है न? इसलिए इस प्रकार से लिया है। ३८ गाथा में 'एक' आता है न, भाई! वहाँ यह आता है, वहाँ तो जीव की परिपूर्णता की व्याख्या पूरी होती है, इसलिए वहाँ जीव को क्रम और अक्रम पड़ते हुए जो भाव, उनसे भिन्न ऐसे भाव से भेदभाव (भेदरूप) नहीं होता। ऐसा मैं एक हूँ, वहाँ यह लिया है। ३८ (गाथा)। क्योंकि वहाँ जीव की अन्तिम गाथा ३८वीं है, इसलिए वहाँ ऐसा लिया कि मैं क्रम-क्रम से होते गति आदि और अक्रम से होते योग, लेश्या आदि से मैं भेदरूप नहीं होता, ऐसा मैं एक हूँ। यहाँ कर्ता-कर्म में ऐसा लिया कि मैं अखण्ड ज्ञान चिन्मात्र ज्योति हूँ, इसलिए मैं एक हूँ। समझ में आया? उन्होंने वहाँ जीव की पूर्णता का वर्णन किया, यहाँ कर्ताकर्म के अभाव का वर्णन है।

वहाँ ३८ में शुद्ध लिया है, वहाँ नव तत्त्व के भेद से ज्ञायकभावरूप से मैं अत्यन्त भिन्न हूँ, ऐसा लिया है-शुद्ध, ३८ (गाथा)। जीव के विशेष—मनुष्य, नरक, देव आदि, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, ऐसे जो भेद नौ में भेदभाव व्यवहारिकभाव, उनसे मैं ज्ञायकभाव से भिन्न हूँ, ऐसा वहाँ बताया है। यहाँ कर्ताकर्म आदि पर्याय में षट्कारक जो होते हैं, उनसे मैं भिन्न हूँ। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! पर के कर्ताकर्म की बात तो है ही नहीं, परन्तु तेरी पर्याय में-एक समय की पर्याय में कर्ता, कार्य, करण-साधन, रखना, से-होना, आधार से, ऐसी छह पर्याय का एक षट्कारक उस पर्याय के षट्कारक से भी अनुभूति अर्थात् मेरी चीज़ भिन्न है। आहाहा! आहाहा! ऐसा है।

जिसे आस्रव से निवृत्त होना हो अर्थात् कि दु:ख के भाव से निवृत्त होना हो, उसे इस प्रकार से आत्मा का निर्णय करना चाहिए। आहाहा! मैं शुद्ध हूँ, मेरी पर्याय में षट्कारक का परिणमन है, वह पर्याय में है, उससे पार उतरी हुई मेरी चीज़ अनुभूति त्रिकाल, वह अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! कर्ताकर्म है सही न, इसलिए षट्कारक के परिणमन से भिन्न लिया, और वहाँ लिया नवतत्त्व के भेदभाव व्यवहावरभावों से मेरा ज्ञायकभाव भिन्न है। ३८ में ऐसा लिया। शुद्ध में शुद्ध। आहाहा! यह तत्त्वदृष्टि बहुत सूक्ष्म, भाई! यह दो बोल तो हुए।

अब यह तीसरा बोल 'ममतारहित हूँ' क्योंकि यह पुण्य-पाप के भाव मेरे नहीं हैं, आहाहा! इसलिए ममतारहित हूँ। अर्थात् कि ऐसा निर्णय कर, भले पहले विकल्पसहित निर्णय है। कि **पुद्गलद्रव्य जिसका स्वामी है...** क्या कहते हैं? यह पुण्य और पाप के भाव शुभ-अशुभभाव जो तूने पूछा कि इनसे कैसे निवृत्त हुआ जाए? तो पहले यह निर्णय कर कि पुण्य-पाप के भाव का मालिक-स्वामी पुद्गल है। आहाहा! समझ में आया?

पुद्गल वह अभी स्वामी है, यह वापस विशेष कहते हैं। **पुद्गलद्रव्य जिसका स्वामी है,...** अर्थात् ऐसे जो क्रोधादि भाव, अर्थात्? स्वभाव से विरुद्ध भाव चाहे तो दया, दान, व्रत का भाव हो, परन्तु वह स्वभाव से विरुद्ध है, इसलिए उसे क्रोध में डाला है। आहाहा! इन **क्रोधादिभावों का विश्वरूपत्व...** जिसका स्वामित्व पुद्गल है, मेरा स्वामीपना नहीं, स्वामीपना होवे तो छूटे नहीं। यह पुण्य-पाप से निवृत्त होना है, इसलिए वे पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव का स्वामी जड़ पुद्गल है। आहाहा! क्यों? ऐसा जो क्रोधादिभाव, जिनका पुद्गलद्रव्य स्वामी है, ऐसे जो क्रोध, मान, माया, लोभ और पुण्य-पाप के भाव अनेकरूप हैं, अनेकरूप हैं। शुभ और अशुभभाव अनेकरूप हैं, एकरूप नहीं। **उनके स्वामीपनेरूप...** पुद्गलद्रव्य जिनका स्वामी है, ऐसा पहले लिया। इसलिए अब फिर भी उस पुद्गलद्रव्य के स्वामीपनेरूप, अर्थात् विकार के **स्वामीपनेरूप स्वयं सदा ही नहीं परिणमता होने से...** आहाहा! मैं ऐसा हूँ कि पुण्य-पाप का स्वामी पुद्गल है और अब फिर भी उनके स्वामीरूप से नहीं होनेवाला मैं। आहाहा! पुण्य-पाप होंगे सही, परन्तु स्वामीरूप से सदा नहीं होनेवाला मैं। आहाहा! समझ में आया? भाषा यह तो अध्यात्म की बातें हैं, बापू! आहाहा! वह अनेकरूप विकारभाव, उनके स्वामीरूप से स्वयं सदा नहीं परिणमता, आहाहा! भविष्य में रागादि होंगे परन्तु स्वामीरूप से नहीं होता। आहाहा! ऐसा मैं हूँ।

पहले तो ऐसा कहा कि शुभ-अशुभभाव का स्वामीपना पुद्गल का है। अब मैं भविष्य में भी उन पुण्य-पाप के स्वामीरूप नहीं होनेवाला, वह मैं हूँ। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो अन्तर की बातें हैं। आहाहा! उनके स्वामीरूप स्वयं सदा नहीं परिणमता होने से। वे पुण्य-पाप के भाव होंगे तथापि स्वामीरूप से नहीं परिणमता मैं उनसे **ममतारहित हूँ।** अर्थात्? ये पुण्य-पाप मेरे हैं, ऐसा अब मुझे नहीं रहता। उनसे मैं ममत्वरहित हूँ। आहाहा!

भाषा संक्षिप्त परन्तु भाव जरा गम्भीर है, बापू! यह तो समयसार अर्थात्, आहाहा! जिसे कलश में तो यहाँ तक कहा है न? अजोड़ है। आहाहा! यह चीज़ ही कोई अलौकिक है। लोकोत्तर चीज़ है। आहाहा!

शिष्य के प्रश्न को ख्याल में रखकर उसका उत्तर उसे देते हैं कि भाई! यदि तुझे पुण्य-पाप के भाव अर्थात् दुःख; दुःख से निवृत्त होना हो तो, वे पुण्य-पाप के भाव-दुःख उसका स्वामी पुद्गल है, इस प्रकार मैं सदा स्वामीरूप नहीं होनेवाला, वे दुःख के परिणाम मेरे हैं, ऐसा नहीं होनेवाला। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! सदा नहीं परिणमता होने से, स्वामीरूप से सदा नहीं परिणमता होने से, परिणमन होगा, जब तक वीतरागता नहीं आवे, तब तक शुभ-अशुभभाव परिणमन होगा, परन्तु उनके स्वामीरूप से सदा नहीं परिणमता होने से, वे मेरे हैं, ऐसा नहीं परिणमता होने से। आहाहा! मैं, वर्तमान में तो स्वामी पुद्गल है, परन्तु भविष्य में भी उनके स्वामीरूप नहीं होनेवाला, वह मैं हूँ। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है।

अब ऐसी बात साधारण लोगों को अभ्यास नहीं। कुछ अभ्यास कहते थे न कल कहते थे न भाई! पुनातर! थोड़ा सा अभ्यास होवे तो यह समझ में आये ऐसा यह है। कल दोपहर को ऐसा श्लोक था न, परपरिणति उज्झत भेदभाव। आहाहा! यहाँ कहते हैं, प्रभु! तू ऐसा निर्णय विकल्प द्वारा भी कर कि पुण्य और पाप के भाव का स्वामी पुद्गल है और मेरा भविष्य में परिणमन होगा, परन्तु उनके स्वामीरूप परिणमन नहीं होगा, उनके स्वामीरूप मैं परिणमन नहीं परिणमूँगा। आहाहा! इसलिए मैं ममतारहित हूँ। समझ में आया? भाषा संक्षिप्त, बापू! परन्तु भाव बापू बहुत गहरे हैं, भाई! आहाहा! तेरी प्रभुता, उस प्रभुता के दर्शन कराने के लिये आस्रव से निवृत्त होने की यह पद्धति है। समझ में आया?

'मैं' आत्मा; उन पुण्य-पाप के भाव का स्वामीपना पुद्गल का है, तब कोई ऐसा कहता है कि पुद्गल से होते हैं, पुद्गल हैं इसलिए। तुम ऐसा कहते हो कि पर्याय में उपादान स्वयं से होता है, ऐई! यहाँ तो उसका स्वभाव नहीं है, इसलिए निमित्त के आधीन होते हैं; इसलिए उसके हैं, ऐसा कहा है। स्वभाव भिन्न बतलाना है न? होते हैं तो इसकी अपनी उपादान की पर्याय में, आहाहा! यहाँ जहाँ करे, वहाँ वापस उपादान की पर्याय में, देखो! तुम कहते थे न कि विकार तो स्वयं से होता है, कर्म से नहीं होता, ऐई! कर्म से नहीं होता, परन्तु यहाँ पुण्य-पाप के भाव की उत्पत्ति का जीव का कोई स्वभाव नहीं, कोई गुण नहीं। इसलिए वह गुण का स्वभाव नहीं, इसलिए। अनन्त गुण प्रभु में है, आत्मा में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अपार गुण हैं, परन्तु कोई गुण विकार करे, ऐसा कोई गुण नहीं है। इस अपेक्षा से वे पुण्य और पाप के भाव, उनका स्वामी पुद्गल और मैं सदा ही स्वामीरूप से-मालिकरूप से नहीं परिणमनेवाला, वह मैं हूँ। आहाहा! पुण्य-पाप होंगे, परन्तु वे मेरे हैं, ऐसा मैं नहीं परिणमता। आहाहा! मैं उनका जाननेवालारूप से रहूँगा। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : यह बात तो यहाँ ही चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मार्ग तो यह, बापू! मार्ग तो यह है, प्रभु! क्या हो? तेरी महिमा की क्या बात हो? यह उसकी महिमा बतलाने को कहते हैं, प्रभु! तेरी महिमा इतनी है कि जिसमें विकार होने का कोई गुण ही नहीं है, निर्विकार होने का गुण है। आहाहा! इसलिए तू ऐसा निर्णय कर, विकल्प द्वारा भी (निर्णय कर)। पश्चात् विकल्प छुड़ायेंगे। परन्तु पहली भूमिका में शुरुआत में एकदम निर्विकल्प नहीं हो सकता, इसलिए पहले आँगन में खड़ा, रागमिश्रित विचार में ऐसा तो निर्णय कर, आहाहा! कि मैं एक ज्ञायकभाव स्वरूप प्रभु, वह पुण्य-पाप के स्वामीरूप से-मालिकरूप से मेरे हैं, इस प्रकार से मैं नहीं परिणमनेवाला हूँ। आहाहा! समझ में आया? यह तो अध्यात्म भाषा है, बापू! आहाहा!

उनके सदा, **उनके स्वामीरूप से स्वयं...** मैं उनका स्वामी होकर परिणमूँ, वह मैं नहीं। आहाहा! इसलिए **ममतारहित हूँ...** वर्तमान में तो पुद्गल स्वामी है, परन्तु भविष्य में जो पुण्य-पाप के भाव होंगे, उनके स्वामीरूप से, मालिकरूप से, मेरेरूप से नहीं परिणमनेवाला,

इसलिए उनसे तो मैं ममतारहित हूँ। आहाहा! कहो, समझ में आया? यह तो सादी भाषा है परन्तु अब भाई! वस्तु तो भाई, जैसी हो उसकी चाहे जितनी हल्की भाषा करो, परन्तु उसकी चीज़ हो, उतनी रखकर होगी न! आहाहा! उस वस्तु की मर्यादा रखकर भाषा होगी न! भाषा हल्की करो तो कहीं उससे विपरीत होगी? आहाहा! यह तीसरे बोल की बात की। पहला अहमेक्को, पश्चात् शुद्धो, पश्चात् ममतारहित, तीसरे बोल की व्याख्या हुई। आहाहा!

अब चौथा '**णाण दंसण समग्गो**' इसकी व्याख्या करते हैं। अब मैं हूँ कैसा? वह तो इसकी नास्ति से बात की, यह नहीं, यह स्वामीपने नहीं, मालिकरूप नहीं। हूँ कैसा? **चिन्मात्र ज्योति...** चेतन... चेतन... चेतनमात्र ज्योति, चिन्मात्र ज्योति इसमें दोनों आये। ज्ञान-दर्शन इकट्ठे हों! चेतनमात्र ज्योति-चेतनमात्र ज्योति। आहाहा! ऐसा आत्मा का, ज्योति का अर्थात् **आत्मा का,...** ज्ञानमात्र ज्योति का अर्थात् ज्ञानमात्र चेतनमात्र आत्मा का, **वस्तु स्वभाव से ही...** वस्तु के स्वभाव से ही, वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि **सामान्य और विशेष से परिपूर्णता...** दर्शन और ज्ञान द्वारा परिपूर्णपना। आहाहा! वस्तु के स्वभाव से ही, दर्शन और ज्ञानपना, पहले चिन्मात्र लिया था। उस चिन् के दो भाग किये। चेतना थी न, उसके दो भाग किये, ज्ञान और दर्शन। आहाहा!

चिन्मात्र ज्योति का... अर्थात् ज्ञानमात्र **आत्मा का...** अर्थात् चेतनामात्र आत्मा का। **वस्तु स्वभाव से ही...** मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि **सामान्य और विशेष से,...** दर्शन और ज्ञान से। यहाँ सामान्य अर्थात् द्रव्य और (विशेष) अर्थात् पर्याय, ऐसा यहाँ नहीं है। समझ में आया? सामान्य, वह द्रव्य और पर्याय विशेष, यह यहाँ नहीं है। यहाँ तो चैतन्य, चेतन-चेतनमात्र जो वस्तु, उसमें जो दर्शन और ज्ञान, सामान्य, वह दर्शन और विशेष, वह ज्ञान। हैं तो दोनों त्रिकाल। विशेष, इसलिए पर्याय है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

सामान्य और विशेष से... विशेष से **परिपूर्णता (पूरापना) होने से...** मैं तो परिपूर्ण, चेतनमात्र ज्योति आत्मा की, आहाहा! उसके द्वारा वस्तु के स्वभाव से ही, भगवान आत्मा के स्वभाव से दर्शन सामान्य और ज्ञान विशेष, ऐसे स्वभाव से मैं परिपूर्ण हूँ। उसके द्वारा मैं परिपूर्ण हूँ। पर्याय, ऐसा नहीं। आहाहा!

वस्तु बतलानी है न? वस्तु का स्वभाव चैतन्य ज्योति, आत्मज्योति, वह चेतन, उसका वस्तुस्वभाव से ही सामान्य और विशेषरूप से, दर्शन और ज्ञानरूप से परिपूर्ण मैं हूँ। आहाहा! है न? **मैं ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण हूँ...** ऐसा होने से, ऐसा। दर्शन और ज्ञान का परिपूर्णपना होने से, यह कारण दिया। **मैं ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण हूँ...** आहाहा! क्या कहा, समझ में आया? वस्तु स्वभाव से ही सामान्य और विशेष से परिपूर्णता होने से— परिपूर्णपना होने से। आहाहा! मैं ज्ञान, दर्शन से परिपूर्ण हूँ। पहले में सामान्य और विशेष शब्द रखे थे, दर्शन और ज्ञान। यहाँ पहले ज्ञान और दर्शन रखा। समझ में आया? मैं सामान्य और विशेष वस्तु के स्वभाव से सामान्य और विशेष द्वारा परिपूर्ण हूँ, इसलिए मैं ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ। आहाहा! पर्याय भी नहीं। आहाहा! समझ में आया?

है न, सामने पुस्तक है न? यह तो भगवत् कथा, भागवत् कथा-भगवान आत्मा की कथा है, भाई! यह कहीं वार्ता नहीं है। आहाहा! आहा! भगवत्स्वरूप प्रभु, वस्तु के स्वभाव से ही। वस्तु के स्वभाव से ही सामान्य और विशेष से परिपूर्णता होने से, मैं ज्ञान -दर्शन से परिपूर्ण हूँ। ऐ, चिमनभाई! ऐसा है, बापू! यह तो बहुत शान्ति से बात है। यह तो धीरज का काम है। आहाहा! किसे कहते हैं यह? जो दुःख से निवृत्त होना चाहता है, उसे। निवृत्त होना हो तो इस प्रकार अन्दर निर्णय कर। आहाहा!

ऐसा मैं, **ऐसा मैं आकाशादि द्रव्य की भाँति...** जैसे आकाश पदार्थ है, परमाणु पदार्थ है, धर्मास्ति-अधर्मास्ति, काल पदार्थ है; वैसे मैं भी आकाशादि द्रव्य की भाँति अर्थात् दूसरे भी पाँच द्रव्य स्थापित किये। आहाहा! जैसे वह वस्तु स्वतन्त्र है, आकाशादि (की भाँति) जैसे **आकाशादि द्रव्यों की भाँति पारमार्थिक वस्तु विशेष हूँ...** वास्तव में वस्तु विशेष मेरी दूसरे से भिन्न विशेष है। विशेष का अर्थ समझ में आया? दूसरे से वस्तु विशेष-खास वस्तु मेरी भिन्न है। विशेष अर्थात् यहाँ पर्याय और सामान्य, ऐसा अभी नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

धीरे से कहा जाता है, बापू! यह तो चैतन्य की धर्मकथा है, प्रभु! आहाहा! आहाहा! **चिन्मात्र ज्योति का (आत्मा का) वस्तुस्वभाव से ही सामान्य और विशेष से परिपूर्णता होने से मैं ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ। ऐसा मैं...** द्रव्य लेना है। आहाहा!

आकाशादि द्रव्यों की भाँति पारमार्थिक वस्तु विशेष हूँ। वास्तव में आत्मा खास दूसरे द्रव्य की भाँति खास वस्तु विशेष हूँ। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसी बातें अन्यत्र कहीं नहीं हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी नहीं, बापू! भाई! क्या हो? इसने रुचि से सुना नहीं। सुना है परन्तु अन्दर रुचि से सुना नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : जड़ के साथ तुलना क्यों की है?

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य है, द्रव्य की अपेक्षा से कहते हैं। जैसे वे द्रव्य है, वैसे मैं भी खास-विशेष द्रव्य हूँ, ऐसा। जैसे वे आकाश आदि पदार्थ हैं, वस्तु है, द्रव्य है, स्वतन्त्र है, स्वयं सिद्ध है; वैसे मैं भी एक आकाशादि द्रव्य की भाँति वस्तु विशेष खास भिन्न हूँ। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

ऐसा मैं आकाशादि द्रव्य की भाँति वास्तव में अर्थात् पारमार्थिक, पारमार्थिक, पारमार्थिक विशेष, काल्पनिक नहीं, यह तो पारमार्थिक विशेष। आहाहा! वस्तु विशेष हूँ। **इसलिए अब मैं...** ऐसा होने से। **अब मैं समस्त परद्रव्य-प्रवृत्ति से निवृत्ति द्वारा...** आहाहा! इन पुण्य-पाप को परद्रव्य कहा। जिसे पुद्गलद्रव्य स्वामी कहा था, उन्हें यहाँ कहते हैं परद्रव्य प्रवृत्ति से निवृत्ति द्वारा, यह शुभ-अशुभभाव परद्रव्य की प्रवृत्ति है। मेरे स्वद्रव्य की प्रवृत्ति नहीं। आहाहा!

मैं समस्त परद्रव्य की प्रवृत्ति से निवृत्ति द्वारा इसी आत्मस्वभाव में... इसी आत्मस्वभाव में, **निश्चल रहता हुआ...** अभी तो निर्णय करता है, हों! आहाहा! आत्मस्वभाव में निश्चल परन्तु परद्रव्य की प्रवृत्ति से निवृत्ति द्वारा, प्रवृत्ति से निवृत्ति द्वारा। आहाहा! इसी आत्मस्वभाव में निश्चल रहता हुआ वास्तव में आत्मस्वभाव में रहता हुआ। आहाहा! यह निश्चल, निश्चल, निश्चल अर्थात् चलित हुए बिना। मैं आत्मस्वभाव में निश्चल, चलित हुए बिना, यह निश्चल रहता हुआ। **समस्त परद्रव्य के निमित्त से विशेषरूप चेतन में होती हुई...** देखो, अब वापस स्पष्टीकरण। वह पहले में ऐसा कहा था, शुभाशुभभाव का पुद्गल स्वामी; पश्चात् कहा कि मैं उनके स्वामीरूप से नहीं परिणमनेवाला, पश्चात् कहा कि परद्रव्य के निमित्त से, परद्रव्य की प्रवृत्ति से निवृत्ति द्वारा शुभाशुभ से; अब कहा कि

क्या परद्रव्य वह ? कि समस्त परद्रव्य के निमित्त से विशेषरूप चेतन में होते, आहाहा! वापस पुद्गलद्रव्य जिसका स्वामी है, ऐसा कहा; और उसे परद्रव्य की प्रवृत्ति कहा। अब कहते हैं कि उस समस्त परद्रव्य के निमित्त से विशेषरूप चेतन में होती। उस परद्रव्य के निमित्त से मेरी पर्याय में विशेषरूप चेतन में होती जो चंचल कल्लोलें—पुण्य-पाप भाव, चंचल कल्लोल। परन्तु भाषा देखी ?

समस्त परद्रव्य के निमित्त से विशेषरूप चेतन में होती,... पहले ऐसा कहा था कि पुद्गलद्रव्य स्वामी है और उसके स्वामीरूप से मैं नहीं होनेवाला, वह ममतारहित हूँ। अब वह चीज़ क्या है ? कि परद्रव्य के निमित्त से होती, विशेषरूप चेतन में होती, देखा ? विशेषरूप चेतन में होती; सामान्य जो ज्ञायकभाव द्रव्यस्वभाव है, उसमें नहीं, परन्तु पर्याय में विशेषरूप होती। आहाहा! वापस सिद्ध यह किया कि वे उससे होती है। आहाहा!

समस्त परद्रव्य के निमित्त से विशेषरूप,... विशेषरूप अर्थात् ? पर्याय में जो मेरे स्वभाव में, सामान्य में त्रिकाल में नहीं। इस प्रकार विशेषरूप चेतन में होती, मेरे चेतन में ही—पर्याय में विशेषरूप होती, आहाहा! **जो चंचल कल्लोलों के निरोध से...** आहाहा! उन्हें रोककर, उन्हें अटकाकर, आहाहा! संवर लेना है न ? आस्रव से विरुद्ध संवर है न ? आहाहा! इसलिए निरोध शब्द प्रयोग किया है। उनके निरोध द्वारा... **इसको ही...** अर्थात् **इस चैतन्यस्वरूप को ही अनुभवन करता हुआ...** लो, 'तम्हि ठिदो तच्चितो सव्वे' उनके निरोध द्वारा, आस्रव के रोकने द्वारा, मेरे आत्मस्वभाव में आत्मा को अनुभव करता हुआ, चैतन्यस्वरूप को अनुभव करता हुआ, आहाहा! भाषा विशेष ली है। चारपटी बात ली है। **अपने अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न होते हुए...** यह देखा! वापस वह पुद्गलद्रव्य स्वामी कहा था, इसलिए पुद्गल के कारण होता है, (ऐसा नहीं)। आहाहा! पहले पुद्गलद्रव्य स्वामीरूप कहा था। पश्चात् परद्रव्य की प्रवृत्ति कही थी, उससे निवृत्ति द्वारा, फिर परद्रव्य के निमित्त से चेतन में होती कल्लोल कहा था, और वापस चौथे, अपने अज्ञान द्वारा आत्मा में, आहाहा!

वस्तु भगवान आत्मा चैतन्य दर्शन-ज्ञानस्वरूप, उसके अज्ञान द्वारा, उसके अज्ञान—भान बिना अर्थात् अज्ञान। आहाहा! अपने अज्ञान द्वारा आत्मा में उत्पन्न होते, वापस कोई ऐसा ले लेवे कि पुद्गल के कारण होते थे। कितना स्पष्टीकरण करते हैं, अमृतचन्द्राचार्य

की टीका! आहाहा! **अपने अज्ञान द्वारा आत्मा में उत्पन्न होते हुए जो यह क्रोधादिभाव हैं...** अर्थात् पुण्य-पाप के भाव स्वभाव से विरुद्ध हैं, इसलिए क्रोधादि कहा। **क्रोधादिभाव हैं, उन सबका क्षय करता हूँ।** उपशमित करता हूँ, ऐसा नहीं; क्षय करता हूँ। है न पाठ यह? '**सव्वे ऐदे खयंणेमि**' मूल में से निकाल डाले। आहाहा!

मुमुक्षु : क्षय तो बारहवें (गुणस्थान में) होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चौथे में क्षय हो जाते हैं। यह क्षय ही हो गया है, वह रहा है अस्थिरता से फिर चारित्रदोष है, वह वस्तु तो अपने द्रव्य से तो भिन्न कर डाला है। समझ में आया? आहाहा!

मेरे स्वभाव में अनुभव करता हुआ, चैतन्य को अनुभव करता हुआ। ऐसा है न? **अपने अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न होते हुए...** आहाहा! क्या टीका! जो विकारी भाव, उन सर्व को, **उन सबका क्षय करता हूँ...** ऐसा तो अभी निर्णय कर, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! विकल्पसहित एकदम अन्तर (में) जा नहीं सकता, इसलिए पहली चीज़ सर्वज्ञ परमात्मा ने आत्मा कहा और उन्होंने जो आस्रव कहे, ऐसी बात दूसरे में नहीं है, इसलिए दूसरे से भिन्न करने के लिये। इस प्रकार भगवान ने कहा हुआ आत्मा और आस्रव, इन्हें इस प्रकार समझकर विकल्प से। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त, परमात्मा के अतिरिक्त, अन्यत्र कहीं नहीं होती। इसलिए सर्वज्ञ ने कहा हुआ आत्मा और सर्वज्ञ ने कहे हुए अज्ञान से उत्पन्न हुए आस्रवों से निवृत्त होने के लिये पहले दूसरों की अपेक्षा सर्वज्ञ ने कहा हुआ आत्मा और आस्रव का इस प्रकार से निर्णय करना। आहाहा!

कठिन लगे ऐसा है, कल परपरिणति का कठिन लगा था। पुनातर! भाई! गाथा ऐसी आती है, वह क्या हो? जो वस्तु आवे, उसका अर्थ होगा न? आहाहा! भेदज्ञान की व्याख्या दोपहर में थी। भेदज्ञान हो, तब क्या होता है, ऐसा था। यहाँ अब आस्रवों से निवृत्त होना है तो किस प्रकार निवृत्त हुआ जाए? उसका भगवान ने कहा हुआ आत्मा, भगवान ने कहे हुए आस्रव का स्वरूप जो वीतराग ने कहा है, उस प्रकार दूसरे की अपेक्षा भिन्न करने को विकल्प से ऐसा निर्णय करना। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

ऐसा आत्मा में निश्चय करके... देखा? यह क्षय करता हूँ, परन्तु ऐसा निश्चय करके, 'ऐसा आत्मा में निश्चय करके, आत्मा में निश्चय करके'। आहाहा! **जिसने बहुत समय से पकड़े हुए जहाज को...** समुद्र के भँवर में-भँवरी में आया हुआ जहाज वहीं का वहीं रहा करता है। समुद्र में भँवर-चक्कर होता है न, भँवर, वहाँ जहाज रहे, वहीं का वहीं रहा करे। **जिसने बहुत समय से पकड़े हुए जहाज को छोड़ दिया है।** कौन? भँवर ने बहुत समय से पकड़ा हुआ जो जहाज, उसे जिसने छोड़ दिया है। **ऐसे समुद्र के भँवर...** भँवर छूट गया, ऐसा कहते हैं। **ऐसे समुद्र के भँवर की भाँति जिसने सर्व विकल्पों को शीघ्र ही वमन कर दिया है ऐसे...** आहाहा! पहले विकल्प से निर्णय किया था, अब विकल्प में जो भँवर में जो जहाज पकड़ा गया था, उसी प्रकार इस विकल्प में जो आत्मा रुक गया था, आहाहा! उसने सर्व विकल्पों को शीघ्र वमन कर डाला। आहाहा! शीघ्र और वमन कर डाला, दो शब्द है।

भगवान आत्मा आनन्द के स्वभाव में आश्रय लेने से, उन आस्रवों की उत्पत्ति नहीं होती, उन्हें शीघ्र वमन कर डाला, ऐसा कहा गया है। आहाहा! और वह वमन कर डाला अर्थात्? जैसे उल्टी करते हैं न? क्या कहलाता है वमन?

मुमुक्षु : वोमिट।

पूज्य गुरुदेवश्री : वोमिट, उसे फिर से नहीं लेता। आहाहा! उस वमन को फिर से नहीं लेता। कुत्ता लेता है, मनुष्य तो वमन को फिर से नहीं लेता। आहाहा! इसी प्रकार जिसने सर्व विकल्पों को शीघ्र वमन कर डाला है, आहाहा! अप्रतिहत भाव बताया है। आहाहा! जिसने विकल्पों को छोड़ दिया है, वह भँवर छूटे, तब जहाज छूटे; यह विकल्प छोड़े, तब छूटे, इतना अन्तर है। आहाहा! विकल्प स्वयं वमन कर डाले हैं। वमन कर डाले हैं, ऐसा कहा था न? वह तो भँवर छूटा, तब जहाज छूटा। यहाँ तो विकल्प स्वयं छोड़े, तब छूटा। आहाहा! समझ में आया?

अब इस एक गाथा का अर्थ समझने में भी कितनी, आहाहा! **जिसने सर्व विकल्पों को...** सर्व विकल्प। एक अंश भी विकल्प का जिसमें नहीं, निर्विकल्प दृष्टि होने से। आहाहा! सर्व विकल्प शीघ्र एकदम उग्र पुरुषार्थ से छोड़ दिये हैं, वमन कर दिये

हैं। वे वमन किये सो वमन किये, बस। अब फिर से वे होनेवाले नहीं हैं। आहाहा! यहाँ तक बात ली है। जैसे (समयसार, गाथा) ३८ में ली थी, फिर से अंकुर न हो, (प्रवचनसार गाथा) ९२ में लिया, वैसा यहाँ डाला है। आहाहा! अर्थात्? चैतन्यस्वभाव में अनुभव करता हुआ विकल्प को शीघ्र अर्थात् एकदम पुरुषार्थ से, स्वभाव में रमने से जिसने विकल्प को छोड़ दिया अर्थात् विकल्प उत्पन्न नहीं होते, उसने विकल्प को वमन कर डाला है। वमन कर डाला, उस वमन को फिर से नहीं लेता। उसी प्रकार धर्मी जीव, आहाहा! ऐसे जीव को यहाँ लिया है। यहाँ आचार्य ने ऐसी ही बात की है। आहाहा!

जिसने विकल्प को वमन कर दिया है, वह फिर से विकल्प में नहीं आता। आहाहा! उसी प्रकार उसने वमन कर डाला है। आहाहा! (कुत्ता) वमन किया हुआ खाता है, मनुष्य नहीं खाता; इसी प्रकार राग को वमन कर दिया है। आहाहा! आहाहा! वीतरागस्वभाव में लीन होने से उस विकल्प को शीघ्र अर्थात् उत्पन्न हुए नहीं, उसने शीघ्र वमन कर दिया, ऐसा कहा। अब उत्पन्न नहीं होते और वे उत्पन्न होनेवाले ही नहीं हैं। आहाहा! आहाहा! ऐसा जीव ही यहाँ लिया है। ऐसी जीव की धारा ही यहाँ तो ली है। आहाहा! और क्षय किया, ऐसा कहा है न? नाश कर दिया है, स्वभाव में से एकदम भिन्न कर दिया है। भिन्न कर दिया है, अर्थात् नाश कर दिया है। आहाहा!

इस प्रकार आस्रवों से निवृत्त होने की विधि है। करते-करते ऐसा कि हम दया, दान, व्रत, भक्ति करेंगे, करते-करते अशुभ टलेगा और फिर शुभ टलेगा, ऐसा कहते हैं न लोग? आहाहा! ऐसा नहीं, बापू! तुझे खबर नहीं, भाई! आहाहा! यह कृत्रिम उत्पन्न होते विकार अकृत्रिम स्वभाव वस्तु भगवान का जिसने आश्रय लिया। जैसे द्रव्य वापस नहीं पड़ता, उसी प्रकार उसे पर्याय में वापस विकल्प नहीं होता। एकत्वबुद्धि से नहीं होता, होवे सही परनतु सदा ही स्वामीपनेरूप नहीं परिणमित होता। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

जिस प्रकार जिसने, जिसने अर्थात् भँवर ने, विकल्पों को शीघ्र, वह कहा न? बहुत समय से पकड़े हुए जहाज को जिसने अर्थात् भँवर ने छोड़ दिया है, उसी प्रकार **जिसने सर्व विकल्पों को शीघ्र ही वमन कर दिया है स्वयं,...** वह भँवर छूटा, तब (समुद्र में) जहाज छूटा। यहाँ स्वयं विकल्प को छोड़ा है, यह नास्ति से बात की है। यहाँ भी पहले

कहा था न, अनुभव करता हुआ, चैतन्यस्वरूप को अनुभव करता हुआ, वहाँ अस्ति से लिया है, ऐसा होने से उसे ऐसा होता है, ऐसा। चैतन्यस्वरूप को अनुभव करता हुआ, आहाहा! **सर्व विकल्पों को शीघ्र ही वमन कर दिया है, ऐसे निर्विकल्प अभेद...** आहाहा! विकल्परहित भगवान **निर्विकल्प अचलित...** लो! यहाँ आया अचलित, उसमें निश्चल था न? चलित न हो ऐसा। आहाहा! **निर्मल आत्मा का अवलम्बन करता हुआ,...** निर्मल पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसका अवलम्बन करता हुआ। आहाहा! उसका आश्रय करता हुआ, उसके सन्मुख होता हुआ, उसका अवलम्बन करता हुआ, **विज्ञानघन होता हुआ...** विज्ञानघन होता हुआ। भले विशेषज्ञान न हो, परन्तु जो आस्रव से निवृत्ति को अनुभव में आया, वह अब विज्ञानघन हुआ है। आहाहा! समझ में आया?

विज्ञानघन होता हुआ,... आहाहा! **यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है,...** आहाहा! यह विधि। हलुवा कैसे बनाना? कि पहले घी में आटा सेंकना, पश्चात् गुड़ या शक्कर डालना। उसी प्रकार पहले आत्मा का ऐसा निर्णय करना, निर्णय करने से अनुभव होने पर विकल्प छूट जायेंगे। आहाहा! और विकल्प छूटने से विज्ञानघन होता हुआ, ज्ञान में-स्वरूप में एकाग्र होते हुए घन हुआ, पिण्ड हुआ। जो ऐसा अस्थिर होता था जो राग के कारण, वह अस्थिरता छूटकर विज्ञानघन होता हुआ, 'यह' आत्मा, 'यह' आत्मा, ऐसा वापस; दूसरा आत्मा नहीं। आस्रवों से निवृत्त होता है, लो! यह आस्रवों से निवृत्त होने की यह विधि है। अरे! अरे! पहले तो सुनना कठिन पड़े, बापू! मार्ग तो यह है, भाई! 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पंथ।' आहाहा!

आस्रव अर्थात् दुःख और आस्रव अर्थात् मैल। उससे निवृत्त होने की यह विधि और यह रीति है। आहाहा!

मुमुक्षु : पात्र शुद्धि की बात तो आयी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हो गयी पात्र शुद्धि। अर्थात् यह पहले ऐसा विकल्प से निर्णय करता है, वह पात्र हो गया। अब छोड़ता है अर्थात् स्थिर हो गया। अर्थात्? ऐसा जो निर्णय करता है, उसे पाँच इन्द्रिय में से निरोध हो गया है अन्दर। पाँच इन्द्रिय की ओर से तो रुक गया है, अब अन्दर निर्णय करता है न मन के साथ? समझ में आया? पाँच इन्द्रिय

की ओर के झुकाववाला तो वहाँ रुक गया है, क्योंकि जब ऐसा निर्णय करता है, अभी मन का विकल्प अभी है, परन्तु पाँच इन्द्रिय की ओर का झुकाव तो रुक गया है, तब अन्दर से ऐसा निर्णय करता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

पाँच इन्द्रिय की ओर के झुकाव का भाव तो छूट गया है, एक मन के विकल्प का भाव रह गया है, उसमें यह निर्णय किया है। यह विकल्प से, आहाहा! बात बहुत असल, असली चीज़ है यह। आहाहा! 'यह' आत्मा ऐसा वापस। दूसरा आत्मा, ऐसा नहीं वह। **'यह' यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।** इस विधि से दुःख से-आस्रवों से निवृत्त होता है कहो, दुःख से, कहो, मैल से कहो, मल से कहो, निवृत्त होता है, यह विधि है।

मुमुक्षु : यह निर्णय सविकल्प निश्चय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह सविकल्प है, परन्तु यह सविकल्प ऐसा है कि इसे छोड़ना ही है अब उसे। वहाँ रहना है, ऐसा नहीं। मात्र पाँच इन्द्रिय की ओर का झुकाव घटाकर मन के विकल्प में आया है, पहले यहाँ तक एकदम हट सका नहीं, इसलिए परन्तु यह हटने के लिये इस विकल्प में आया है, छोड़ने के लिये आया है वह। आहाहा! कहो, पण्डितजी! आहाहा! ऐसा है।

मुमुक्षु : वह जीव अन्तर्मुहूर्त में अनुभव पा जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर्मुहूर्त में, एक समय में। विकल्प में अन्तर्मुहूर्त लगे, निर्णय करने में; छूटने में एक समय। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! यह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का हुकम है। इससे दूसरी रीति करने जाये तो नहीं छूटेगा। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि ऐसा करो, भक्ति करो, यात्रा करो, व्रत पालन करो, अपवास करो, ऐसा करते-करते आगे जाया जायेगा। कल ऐसा कहते थे आये वे सब लोग। यह मन्दिर और यह सब तिरने के उपाय हैं, ऐसा कहते थे, कल वे आये थे न सब। क्या कहना उसका? बापू! यह सब मन्दिर आदि तो शुभभाव के निमित्त हैं, हैं? यह तिरने के उपाय नहीं, ऐसा कहते हैं। ऐसे बड़े मकान, इसलिए तिरने के उपाय हैं (ऐसा नहीं है)। आहाहा! तिरने का उपाय तो यह है।

भावार्थ :- शुद्धनय से ज्ञानी ने आत्मा का ऐसा निश्चय किया है कि मैं एक हूँ...

आया न ? मैं एक हूँ। शुद्धनय से ऐसा निर्णय किया कि **मैं एक हूँ,...** आहाहा ! **शुद्ध हूँ,...** आया था न एक का। शुद्ध का षट्कारक परिणतिरहित हूँ, **परद्रव्य के प्रति ममतारहित हूँ,...** यह पुण्य-पाप के परिणाम मेरे हैं, उनसे रहित हूँ, पुण्य-पाप के भाव वे मेरे नहीं। आहाहा ! उस परद्रव्य की प्रवृत्ति चैतन्य के अज्ञानभाव से भले उत्पन्न होती है। आहाहा ! **ज्ञान दर्शन से पूर्ण वस्तु हूँ।** मैं तो ज्ञान और दर्शन से परिपूर्ण आत्मद्रव्य वस्तु हूँ।

जब वह ज्ञानी आत्मा ऐसे अपने स्वरूप में रहता हुआ... आहाहा ! जब वह धर्मी जीव-आत्मा ऐसे अपने स्वरूप में रहता हुआ **उसी के अनुभवरूप हो,...** भगवान आत्मा के अनुभवरूप हो। शुद्ध चैतन्य है, उसे अनुसरकर अनुभव हो, **तब क्रोधादिरूप आस्रव क्षय को प्राप्त होते हैं...** तब उसे पुण्य-पाप के भाव नाश को प्राप्त होते हैं। आहाहा ! यहाँ तो क्षय की ही बात ली है। **जैसे समुद्र के आवृत्त (भँवर में) बहुत समय से जहाज को पकड़ रखा हो और जब वह आवृत्त शमन हो जाता है, तब वह उस जहाज को छोड़ देता है। उसी प्रकार आत्मा विकल्पों के आवृत्त को शमन करता हुआ,...** स्वयं विकल्प को छोड़ता हुआ, शमन करता हुआ **आस्रवों को छोड़ देता है।** आहाहा !

यह विधि पुण्य-पाप के आस्रव से, दुःख से, मैल से निवृत्त होने की यह रीति है। बापू ! बाकी दूसरी विधि कहे कि ऐसा करो, करते-करते होगा, यात्रा करो, भक्ति करो, पूजा करो और मन्दिर में भगवान के दर्शन करो, और करते-करते आस्रवों की निवृत्ति होगी, यह बात एकदम झूठ है। आहाहा ! यह विधि है। नरोत्तमभाई ! ऐसी बात है। आहाहा !

अब प्रश्न करता है- लो, **कि ज्ञान होने का** आत्मानुभव होने का, ज्ञान का **और आस्रवों की निवृत्ति का,...** और यह शुभ-अशुभभाव के छूटने का **समकाल, (एक काल) कैसे है ?** एक काल किस प्रकार है ? यहाँ आस्रव से निवृत्त हो, आहाहा ! और आत्मा के आनन्द के ज्ञान का अनुभव हो, उसका समकाल कैसे है ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। जिस काल में आत्मा आनन्द का अनुभव करे, उसी काल में आस्रव से निवृत्त होता है, कोई काल भिन्न नहीं है। ऐसा शिष्य का प्रश्न है। उसका यह उत्तर है। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा–७४

कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वमिति चेत् –

जीव–णिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्ख–फल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं।।७४।।

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च।
दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः।।७४।।

जतुपादपवद्वध्यघातकस्वभावत्वाज्जीवनिबद्धाः खल्वास्रवाः, न पुनरविरुद्धस्वभावत्वाभावाज्जीव एव। अपस्माररयवद्वर्धमानहीयमानत्वादध्रुवाः खल्वास्रवाः, ध्रुवश्चिन्मात्रो जीव एव।

शीतदाहज्वरावेशवत् क्रमेणोज्जृम्भमाणत्वादनित्याः खल्वास्रवाः, नित्यो विज्ञानघनस्वभावो जीव एव। बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसन्स्कारवत्त्रातुमशक्यत्वादशरणाः खल्वास्रवाः, सशरणः स्वयं गुप्तः सहजचिच्छक्तिर्जीव एव।

नित्यमेवाकुलस्वभावत्वाद्दुःखानि खल्वास्रवाः, अदुःखं नित्यमेवानाकुलस्वभावो जीव एव। आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वाद्दुःख–फलाः खल्वास्रवाः अदुःखफलः सकलस्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतुत्वाज्जीव एव।

इति विकल्पानन्तरमेव शिथिलितकर्मविपाको विघटितघनौघघटनो दिगाभोग इव निरर्गलप्रसरः सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यो निवर्तते, यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति।

तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो निवर्तते, तावदास्रवेभ्यश्च निवर्तते यावत्सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकाल–त्वम्।।७४।।

अब प्रश्न करता है कि ज्ञान होने का और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल (एककाल) कैसे है? उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं :–

ये सर्व जीवनिबद्ध, अध्रुव, शरणहीन, अनित्य हैं।
ये दु:ख, दु:खफल जानके इनसे निवर्तन जीव करे।।७४।।

गाथार्थ : [एते] यह आस्रव [जीवनिबद्धाः] जीव के साथ निबद्ध हैं, [अध्रुवाः] अध्रुव हैं [अनित्याः] अनित्य हैं [तथा च] तथा [अशरणाः] अशरण हैं, [च] और वे [दु:खानि] दु:खरूप हैं, [दु:खफलाः] दु:ख ही जिनका फल है ऐसे हैं- [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर ज्ञानी [तेभ्यः] उनसे [निवर्तते] निवृत्त होता है।

टीका : वृक्ष और लाख की भाँति वध्य-घातकस्वभावपना होने से आस्रव जीव के साथ बँधे हुए हैं, किन्तु अविरुद्धस्वभावत्व का अभाव होने से वे जीव ही नहीं हैं। [लाख के निमित्त से पीपल आदि वृक्ष का नाश होता है। लाख घातक है और वृक्ष वध्य (घात होने योग्य)। इस प्रकार लाख और वृक्ष का स्वभाव एक दूसरे से विरुद्ध है इसलिए लाख वृक्ष के साथ मात्र बँधी हुई ही है; लाख स्वयं वृक्ष नहीं है। इसी प्रकार आस्रव घातक हैं और आत्मा वध्य है। इस प्रकार विरुद्ध स्वभाव होने से आस्रव स्वयं जीव नहीं हैं।]

आस्रव मृगी के वेग की भाँति बढ़ते-घटते होने से अध्रुव हैं; चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव हैं।

आस्रव शीतदाहज्वर के आवेश की भाँति अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं, इसलिए अनित्य हैं; विज्ञानघन जिसका स्वभाव है, ऐसा जीव ही नित्य है।

जैसे काम-सेवन में वीर्य छूट जाता है, उसी क्षण दारुण काम का संस्कार नष्ट हो जाता है, किसी से नहीं रोका जा सकता; इसी प्रकार कर्मोदय छूट जाता है, उसी क्षण आस्रव नाश को प्राप्त हो जाता है, रोका नहीं जा सकता, इसलिए वे (आस्रव) अशरण हैं; स्वयंरक्षित सहज-चित्शक्तिरूप जीव ही शरणसहित है।

आस्रव सदा आकुल स्वभाववाले होने से दु:खरूप हैं; सदा निराकुल स्वभाववाला जीव ही अदु:खरूप अर्थात् सुखरूप है।

आस्रव आगामी काल में आकुलता को उत्पन्न करनेवाले ऐसे पुद्गलपरिणाम के हेतु होने से दु:खफलरूप (दु:ख जिसका फल है ऐसे) हैं; जीव ही समस्त पुद्गलपरिणाम का अहेतु होने से अदु:खफल (दु:खफलरूप नहीं) है।

–ऐसा आस्रवों का और जीव का भेदज्ञान होते ही (तत्काल ही) जिसमें कर्मविपाक शिथिल हो गया है, ऐसा वह आत्मा, जिसमें बादल समूह की रचना खण्डित हो गई है, ऐसी दिशा के विस्तार की भाँति अमर्याद जिसका विस्तार है ऐसा, सहजरूप से विकास को प्राप्त चित्शक्ति से ज्यों ज्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, त्यों त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है; और ज्यों ज्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, त्यों त्यों विज्ञानघनसवभाव होता जाता है; उतना विज्ञानघन स्वभाव होता है, जितना सम्यक् प्रकार से आस्रवों से निवृत्त होता है और उतना आस्रवों से निवृत्त होता है जितना सम्यक् प्रकार से विज्ञानघनस्वभाव होता है। इस प्रकार ज्ञान को और आस्रवों की निवृत्ति को समकालपना है।

भावार्थ : आस्रवों का और आत्मा का जैसा ऊपर कहा है, तदनुसार भेद जानते ही, जिस जिस प्रकार से जितने जितने अंश में आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता है, उस उस प्रकार से उतने उतने अंश में वह आस्रवों से निवृत्त होता है। जब सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव होता है, तब समस्त आस्रवों से निवृत्त होता है। इस प्रकार ज्ञान का और आस्रवनिवृत्ति का एक काल है।

यह आस्रवों को दूर होने का और संवर होने का वर्णन गुणस्थानों की परिपाटीरूप से तत्वार्थसूत्र की टीका आदि सिद्धान्तशास्त्रों में है, वहाँ से जानना। यहाँ तो सामान्य प्रकरण है, इसलिए सामान्यतया कहा है।

‘आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है’ इसका क्या अर्थ है? उसका उत्तर :– ‘आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है अर्थात् आत्मा ज्ञान में स्थित होता जाता है।’ जब तक मिथ्यात्व हो, तब तक ज्ञान को (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अधिक हो तो भी) अज्ञान कहा जाता है और मिथ्यात्व के जाने के बाद उसे (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प हो तो भी) विज्ञान कहा जाता है। ज्यों ज्यों वह ज्ञान अर्थात् विज्ञान स्थिर–घन होता जाता है, त्यों त्यों आस्रवों की निवृत्ति होती जाती है और ज्यों ज्यों आस्रवों की निवृत्ति होती जाती है, त्यों त्यों ज्ञान (विज्ञान) स्थिर–घन होता जाता है, अर्थात् आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है।

प्रवचन नं. १५७, गाथा-७४ दिनांक ०१-०१-१९७९, सोमवार, पौष शुक्ल ३

समयसार, ७४ गाथा। अब पूछता है कि... सूक्ष्म बात है। आत्मा का ज्ञान हो अर्थात् कि आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उस ज्ञानानन्दस्वभाव में एकाग्र हो और आस्रव से निवृत्त हो। आस्रव अर्थात् पुण्य और पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव जो दुःखरूप है, मलिन है, चैतन्य के स्वभाव से विरुद्ध भाव पुण्य-पाप के भाव हैं। तो उनसे निवृत्ति और आत्मा में ज्ञान की एकाग्रता का समकाल है। किस प्रकार ? ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई ! सोमवार है, आज लड़कों को अवकाश होगा। किसका ?

मुमुक्षु : १ जनवरी।

पूज्य गुरुदेवश्री : १ तारीख। ठीक, हाँ, लड़के आये हैं। यह पहली तारीख हुई, लड़के आये हैं।

क्या कहा ? यह आत्मा जो आनन्द और ज्ञानस्वरूप है। इससे पुण्य और पाप के भाव, वे विरुद्ध भाव दुःखरूप है। तो जब यह आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप में आवे और उसी काल में उसे आस्रव की निवृत्ति हो और आस्रव की निवृत्ति अर्थात् छूटना और आत्मा में एकाग्र होना, यह सब एक ही काल है। कैसे ? ऐसा पूछा है। समझ में आया ? आहाहा !

शिष्य का प्रश्न ही यह है कि जो पुण्य और पाप। शरीर, वाणी, मन तो जड़ है, पर है, उसका कोई त्याग-ग्रहण आत्मा में है ही नहीं। अन्दर में जो कुछ दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा भाव या हिंसा, झूठ, चोरी, विषय आदि का भाव, वे दोनों भाव आस्रव हैं, मैल हैं और दुःख है, उस दुःख से निवृत्त होना और आत्मा के आनन्द में एकाग्र होना, इसका समकाल किस प्रकार है ? ऐसा पूछता है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है।

अनन्त काल में इसने आत्मा क्या चीज़ है और विकार क्या है, इसका इसने भेदज्ञान नहीं किया। अनादि से चार गति में दुःख की दशा में भटकता है, वह दुःखी है।

मुमुक्षु : पैसेवाले तो सुखी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसेवाले बड़े दुःखी हैं। राजा और सेठ और देव बड़े दुःखी हैं।

क्योंकि आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध भाव, ऐसे भाव के करनेवाले हैं, वे दु:खी हैं। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : लोगों का मत और भगवान का मत अलग पड़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान का सत्य का मार्ग ही असत्य से अत्यन्त भिन्न है। आहाहा!

यहाँ तो शिष्य का प्रश्न यह है। निवृत्रनेयोग्य है। पुण्य के पाप के भाव शुभ-अशुभ हैं, वे दु:खरूप हैं, परिभ्रमण का कारण है, आकुलता है, उनसे निवृत्रनेयोग्य तो है परन्तु उनसे निवृत्रना और स्वभाव में प्रवर्तना, इसका एक काल किस प्रकार है? ऐसा पूछता है। आहाहा! समझ में आया?

उसका उत्तर—ऐसी जिसे प्रश्न की जिज्ञासा है, उसे यह उत्तर दिया जाता है। साधारण जिसे कुछ खबर ही नहीं, कुछ गरज भी नहीं, आहाहा! यह शुभ-अशुभभाव जो दु:खरूप है, उनसे निवृत्ति की जिसे अभी गरज ही नहीं और आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसमें रहने की जिसे दरकार ही नहीं, उसे उत्तर नहीं दिया जाता। आहाहा! जिसे यह भगवान आत्मा अनाकुल आनन्दकन्द प्रभु और पुण्य-पाप के भाव; यह हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना, कमाना, धन्धे के भाव, वे तो एकदम पाप हैं, तीव्र दु:ख है। परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के भाव भी दु:खरूप हैं, क्योंकि वे राग हैं, वे आस्रव हैं। आहाहा! उन आस्रवों से निवृत्त होना और स्वभाव में प्रवर्तना, इसका समकाल किस प्रकार है, ऐसा उसका प्रश्न है। उसका उत्तर कहा जाता है।

जीव-णिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्ख-फल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं।।७४।।

इसका हरिगीत

ये सर्व जीवनिबद्ध, अध्रुव, शरणहीन, अनित्य हैं।
ये दु:ख, दु:खफल जानके इनसे निवर्तन जीव करे।।७४।।

टीका :- यह तो अन्तर की बात है न, प्रभु! अनन्त काल में इसने चार गति के भव अनन्त किये, नरक के अनन्त भव किये, तिर्यंच के अनन्त किये, मनुष्य के भी अनन्त

किये और स्वर्ग के भी अनन्त किये, आहाहा! यह चार गति में दु:खी होकर परिभ्रमण करता है। यह उसे यहाँ प्रश्न उठा, उसका जवाब है कि दु:ख से निवृत्त होना और आत्मा में प्रवृत्त होना, यह एक समकाल साथ में एक समय साथ में कैसे है? उसका उत्तर है। आहाहा!

टीका - वृक्ष और लाख की भाँति... जैसे पीपल आदि वृक्ष है, उसमें-वृक्ष में लाख होती है। उस वृक्ष और लाख की भाँति **वध्य-घातकस्वभावपना होने से...** लाख है वह घातक है और वृक्ष है, वह घात होनेयोग्य है पर्याय में। सूक्ष्म बात है, भाई! इसने अनन्त काल में कभी सत्य बात सुनी भी नहीं। आहाहा! रुचि से इसने नहीं सुनी। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि जैसे पीपल का वृक्ष होता है। यद्यपि लाख तो बबूल में ही होती है परन्तु मुख्यरूप से पीपल का। जैसे वृक्ष और उसमें लाख हो, वह लाख है, उस वृक्ष की घातक है और वृक्ष वध्य अर्थात् घात होनेयोग्य है। समझ में आया? ऐसा होने से वध्य-घातकस्वभावपना होने से, आहाहा! लाख घातक स्वभाववाला है और वृक्ष उससे घात होने के योग्य स्वभाववाला है। आहाहा! यह तो अभी दृष्टान्त है। उसी प्रकार आस्रव लाख और वृक्ष की भाँति शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप के भाव, वे **आस्रव जीव के साथ बँधे हुए हैं...** जैसे वृक्ष के साथ लाख बँधी हुई है, वृक्ष का स्वरूप नहीं। आहाहा!

उसी प्रकार भगवान आत्मा के साथ पुण्य और पाप के भाव, '**निबद्धा**' शब्द है न? आहाहा! बँधे हुए हैं, वह इसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा अनाकुल आनन्दस्वभाव के साथ पुण्य और पाप के भाव बँधे हुए निबद्ध—सम्बन्धवाले हैं। सम्बन्धवाले हैं, स्वभाववाले नहीं। यह पुण्य और पाप के भाव भगवान आत्मा के साथ वृक्ष और लाख की भाँति निबद्ध अर्थात् सम्बन्ध में संयोग में आयी हुई चीज़ है, वह इसका स्वभाव नहीं है। आहाहा!

बाहर की बात तो यहाँ है ही नहीं। लक्ष्मी, शरीर, वाणी, कुटुम्ब, कबीला, वह तो पर कहीं रह गये। उनके साथ कुछ सम्बन्ध है नहीं। मात्र यहाँ आत्मा को... लाख और वृक्ष की भाँति सम्बन्ध है। वह लाख उस वृक्ष का स्वरूप नहीं। मात्र उसे घातक स्वभाववाला सम्बन्ध है। उसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्द और अनाकुल शान्तरस का कन्द प्रभु, उसे यह पुण्य-पाप के भाव, निबद्ध अर्थात् सम्बन्ध से बँधे हुए हैं, इसका स्वभाव नहीं, इसका वह स्वरूप नहीं। आहाहा! शरीर, वाणी, मन, जड़, वह तो कहीं रह गये। आहाहा!

वे तो उसके घर में कहीं रह गये। इसमें कहीं इसकी पर्याय में भी नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यह तो इसकी वर्तमान पर्याय में। त्रिकाली भगवान आनन्द का नाथ प्रभु, सच्चिदानन्द स्वरूप ऐसा जो आत्मा, उसके साथ यह पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ—हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना, धन्धा, कमाना, ब्याज उपजाना, ऐसे जो भाव अकेला पाप और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यह पुण्य, दोनों आस्रव है। वे स्वभाव के साथ स्वभावरूप नहीं है। स्वभाव में निबद्धा अर्थात् बन्धरूप है, संयोगरूप है। आहाहा! अकेला बद्धा नहीं कहा, निबद्धा। आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव भगवान आत्मा द्रव्य वस्तु है, आनन्द का नाथ प्रभु, वह तो शुद्ध आनन्दकन्द घन है। उसकी वर्तमान पर्याय में जो शुभ और अशुभभाव वह वस्तु को निबद्ध है, संयोगवाले हैं, बन्धवाले हैं, उसका स्वभाव नहीं। आहाहा! है? जीव के साथ बँधे हुए हैं। आहाहा!

शरीर, वाणी, कर्म और परवस्तु तो कहीं पृथक रह गये। उसमें तो इसकी पर्याय में भी वह नहीं। परन्तु इसकी पर्याय में-अवस्था में त्रिकाली भगवान आत्मा की पर्याय में वर्तमान यह शुभ-अशुभभाव दुःखरूप है, मलिन है, जड़ है, चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध भाववाले हैं, वे जीव के साथ बँधे हुए हैं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है, प्रभु! आहाहा!

परन्तु भगवान के साथ... यह आत्मा भगवान है। अनन्त-अनन्त भग अर्थात् ज्ञान और आनन्द की लक्ष्मी ऐसी अनन्त ज्ञान और आनन्द की लक्ष्मीवाला वान अर्थात् उसका रूप यह है। ऐसे भगवान के साथ यह शुभ-अशुभभाव, आहाहा! वे निबद्ध अर्थात् बँधे हुए हैं, संयोग से बँधे हुए हैं, **किन्तु अविरुद्धस्वभावभावत्व का अभाव होने से...** आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव, वे भगवान आत्मा का जो अविरुद्ध स्वभाव है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, यह अविरुद्ध स्वभाव है। प्रभु का-आत्मा का स्वभाव, स्व... भाव, स्व... भाव, अपना भाव आत्मा का यह ज्ञान, दर्शन, आनन्द यह अविरुद्धस्वभाव है। इस पुण्य-पाप के भाव में अविरुद्धस्वभाव का अभाव है। आहाहा! समझ में आया? बँधे हुए हैं। आहाहा!

जैसे लाख वृक्ष से बँधी हुई है, बहुत वर्ष की बात है। एक बार देश में आये न, भावनगर में है न, पीपल के वृक्ष बहुत थे। क्या कहते हैं उस तालाब को? देखा हुआ है नाम भूल जाते हैं। वह पीपल की पूरी लाईन थी। यह दूसरी बार आये, तब कोई पीपल

नहीं मिलता, एक भी पीपल नहीं मिलता। पूछा कि यह पीपल कहाँ गये? इतने सब सामने हैं न, क्या कहलाता है वह? घोघा के दरवाजे। वह तालाब है, उसकी इस ओर। कहा, यह सब पीपल गयी कहाँ? पहले एक बार देश में आया पालेज से, तब सब देखा था। ऐसे लाईनबद्ध थी। दूसरी बार देखा तो एक भी नहीं। कि लाख हुई थी। यह तो ६५-६६-६७ की बात है। लाख हुई थी, वह पीपल सब समाप्त हो गयी, पीपल समझते हो पीपल? यह लींडी पीपर नहीं, हों! पीपल का वृक्ष। आहाहा!

इसी प्रकार यह भगवान आत्मा चैतन्य वृक्ष आनन्द का नाथ प्रभु पूर्ण आनन्द और पूर्ण शान्ति से भरपूर भगवान है। उसमें पुण्य और पाप के भाव वे घातक हैं और आत्मा की वर्तमान पर्याय, वह घात होनेयोग्य है, पर्याय, हों! वस्तु तो वस्तु है। आहाहा! शुभ और अशुभभाव, लाख की भाँति वृक्ष की घातक है और वृक्ष उसकी पर्याय में वध्य अर्थात् घात होनेयोग्य है। उसी प्रकार पुण्य और पाप के भाव घातक है, आहाहा! और भगवान की पर्याय—आत्मा की पर्याय वहाँ घात होने के योग्य है। ऐसा है। अरे रे! करे, क्या करे? इसने अनन्त काल में कभी सत्य बात को सुना नहीं रुचि से। आहाहा! यह भटकता-भटकता नरक और निगोद अनन्त-अनन्त भव किये प्रभु! वह कैसे? आहाहा!

कि जो शुभ और अशुभभाव जो सम्बन्ध में—बन्ध में आये हुए हैं, उन्हें अपना माना था और अपना स्वरूप जो शुद्ध चैतन्य है, उसे माना नहीं था, अनादर किया था। आहाहा! जो विकारभाव पुण्य और पाप संयोगी बन्धरूप, उसका आदर किया था, तब भगवान आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु अनन्त गुण का पिण्ड, उसका इसने अनादर किया था। इसलिए इसकी पर्याय में घात होने के योग्य इसकी पर्याय और पुण्य-पाप के भाव, उसे घात करनेवाले हैं। आहाहा! यह पुण्य का भाव घात करनेवाला है? दया, दान, व्रत, तप, उपवास, भक्ति, पूजा, वह राग है, भाई! तुझे खबर नहीं। वह वृत्ति का उत्थान है, वह घात करनेवाला है। आहाहा!

जीव की वर्तमान निर्मल पर्याय का जो पुण्य और पाप का भाव घात करनेवाला है। भाषा तो सादी है, प्रभु! भाव तो जो है, वह है। आहाहा! भाषा कोई ऐसी व्याकरण और संस्कृत ऐसी नहीं है। सरल भाषा है, प्रभु! तू कौन है? कहते हैं, यह तो आनन्द और शान्ति का सागर प्रभु है। उसमें पुण्य-पाप क्या है? कि वे उसे दुःखरूप, उसे घातक है। आहाहा!

उन्हें लाभदायक माने, तो वह मिथ्यात्वभाव, महा अज्ञान पाप है, ऐसा है। उस लाख की भाँति भगवान आत्मा के साथ वृक्ष की भाँति लाख का सम्बन्ध है, वह लाख घातक है और वृक्ष पर्याय में घात होनेयोग्य है; उसी प्रकार आत्मा को पुण्य-पाप का भाव उसके स्वभाव से विरुद्ध भाववाले हैं, उसका स्वभाव है वह ज्ञान आनन्द शान्ति, वह अविरुद्ध स्वभाव भगवान आत्मा का है, ऐसे अविरुद्ध स्वभाव का शुभ-अशुभभाव में अभाव है। आहाहा! समझ में आया ? यह **अभाव होने से वे जीव ही नहीं हैं...** जैसे लाख, वह पीपल / वृक्ष ही नहीं है, उसी प्रकार पुण्य और पाप का भाव, शुभ-अशुभभाव, व्रत, उपवास, भक्ति और पूजा आदि का भाव; हिंसा, झूठ, चोरी, वे तो पापभाव हैं ही तीव्र, परन्तु इस पुण्यभाव का भी आत्मा के अविरुद्ध स्वभाव से उसमें अभाव है, इसलिए वह विरुद्ध है। इसलिए वह जीव नहीं है। आहाहा!

भगवान आत्मा का ज्ञान, आनन्द, शान्ति स्वभाव ऐसा जो अविरुद्ध स्वभाव, उसका पुण्य-पाप के परिणाम में अभाव होने से वह जीव नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? भाषा तो सादी है, परन्तु भाव तो जो हो वह होगा। दूसरा क्या हो ? आहाहा! अरेरे! इसने आत्मा की दया अनन्त काल में नहीं की। दया अर्थात् ? पुण्य और पाप के भाव से रहित अनन्त गुण का पिण्ड हूँ, ऐसा जीवत्व का जीवन इसने माना नहीं। आहाहा! इसने तो यह पुण्य और पापवाला हूँ, ऐसा मानकर आत्मा का इसने मरण किया है, इसने आत्मा की हिंसा की है। आहाहा! पर की हिंसा और दया तो पाल नहीं सकता। आहाहा! परन्तु अपनी, यह पुण्य और पाप के भाव निबद्ध अर्थात् सम्बन्धवाले, स्वभाव से विरुद्ध हैं, उन्हें अपना मानकर अपने आनन्द ज्ञानस्वभाव का इसने अनादर किया है। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! मार्ग ऐसा है। आहाहा! अरे रे! इसे सुनने को मिलता नहीं, वह कब समझे और कब अन्दर दृष्टि में अन्दर जाये। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। वे पुण्य और पाप के भाव जीव के साथ, वृक्ष और लाख की भाँति बँधे हुए हैं। **परन्तु अविरुद्ध स्वभावभावत्व का...** अविरुद्ध स्वभावभावत्व का, आहाहा! भगवान आत्मा जो है स्वभाववान, उसमें अविरुद्ध स्वभाव जो है ज्ञान, आनन्द और शान्ति अविरुद्ध स्वभावभावत्व है, उसमें यह पुण्य-पाप में तो अविरुद्ध स्वभाव का अभाव है। आहाहा! इसलिए **वे जीव ही नहीं हैं।** आहाहा! यह शुभ और अशुभभाव, वे

आत्मा नहीं हैं। जैसे लाख वृक्ष नहीं है, वैसे पुण्य और पाप के भाव, वे आत्मा नहीं हैं, जीव नहीं हैं। आहाहा! शरीर, वाणी, मन तो अजीव-जड़ है, वह तो मिट्टी है, जगत की चीज़ है, परन्तु पुण्य और पाप के भाव जीव नहीं अर्थात् वे अजीव हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञान, आनन्द, शान्ति का सागर प्रभु उसके स्वभाव से (विरुद्ध) पुण्य और पाप का भाव है, वह अविरुद्ध स्वभाव का उस पुण्य-पाप के भाव में अभाव होने से, वे जीव नहीं हैं। आहाहा! गजब बात है। भगवान की स्तुति करना, वह भाव भी कहते हैं कि आस्रव (है) और जीव नहीं है। अररर!

मुमुक्षु : परलक्ष्यी भाव है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : परलक्ष्यी है न, प्रभु! आहाहा! यह पुण्य शुभभाव है, शुभभाव वह जीव नहीं। आहाहा! जँचना कठिन पड़े। क्या हो? भाई! अनन्त काल का दुखियारा चार गति में भटकता है, भिखारी होकर भीख माँगता है, भगवान होकर भीख माँगता है, मुझे कोई पुण्य दो, पाप दो, मुझे कोई बड़ा करो, मुझे कोई बड़ा मानो, मैं किसी दूसरे में प्रमुख होऊँ, भिक्षा माँगता है, भिखारी। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं, प्रभु, यह भिक्षा माँगनेवाला भाव जो पुण्य-पाप है, वह जहर है, अजीव है। वे जीव के स्वरूप में नहीं हैं, प्रभु! आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! आहाहा!

कोष्ठक में है। **(लाख के निमित्त से पीपल आदि वृक्ष का...)** पीपल आदि अर्थात् बबूल में भी लाख होती है। बबूल है न, उसमें भी लाख होती है। **(पीपल आदि वृक्ष का नाश होता है।)** लाख के निमित्त से पीपल आदि वृक्ष का नाश होता है। **(लाख घातक है और वृक्ष वध्य-घात होनेयोग्य है।)** पर्याय, हों! **(इस प्रकार लाख और वृक्ष का स्वभाव एक-दूसरे से विरुद्ध है, इसलिए लाख वृक्ष के साथ मात्र..)** मात्र **बँधी हुई ही है,...** वह वृक्ष का स्वरूप नहीं है। आहाहा! **लाख स्वयं वृक्ष नहीं है।** आहाहा!

उसी प्रकार यह तो दृष्टान्त हुआ, आस्रव—पुण्य और पाप के भाव, आहाहा! गजब बात है! यह दया का, दान का, व्रत का, अपवास का यह सब विकल्प है, कहते हैं कि आहाहा! वे **आस्रव घातक है...** जैसे लाख घातक है, वैसे **आस्रव घातक है और आत्मा**

वध्य है। आत्मा अर्थात् उसकी पर्याय, हों! द्रव्य नहीं। द्रव्य कभी वध्य नहीं होता (अवध्य) द्रव्य तो त्रिकाली शुद्ध अखण्डानन्द प्रभु है। आहाहा!

आत्मा वध्य है... अर्थात् कि उसकी पर्याय वध्य होने के योग्य है और विकारभाव, वह घातक है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

मुमुक्षु : है उसका घात करता है या उत्पन्न नहीं होने देता?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय घातक ही है अर्थात् होती ही नहीं। वह पर्याय शान्ति की होती ही नहीं, वह घातक है, घात करता है। यह तो ६९-७० (गाथा) में नहीं आया? उदासीन अवस्था का त्याग करके, ६९-७० में आया था, भाई! वह थी और त्याग करके, ऐसा नहीं, होने ही नहीं दी। पुण्य और पाप का भाव होने से उसकी शान्ति की पर्याय होने नहीं दी, उसका त्याग करके, ऐसा कहा है। पहली ही बात है ६९-७० (गाथा में)। आहाहा! **इस प्रकार विरुद्ध स्वभाव होने से...** इस प्रकार विरुद्ध स्वभाव पुण्य और पाप के भाव आत्मा के अविरुद्ध स्वभाव से विरुद्ध स्वभाववाले होने से **आस्रव स्वयं जीव नहीं है।** आहाहा! वे जीव नहीं, वे अजीव हैं। आहाहा! और उस अजीव को मेरा मानना, वह जीव को अजीव मानना, अजीव को जीव मानना मिथ्यात्व है। आहाहा! एक बात हुई। '**जीव णिबद्धा**' की व्याख्या की, जीवनिबद्धा, यह उसका इतना अर्थ हुआ।

अब अध्रुव। यह शुभ और अशुभभाव, वे अध्रुव हैं, क्षण में होते हैं और नाश होते हैं। आहाहा! **आस्रव मृगी के वेग की भाँति...** मृगी आती है न मनुष्य को? एकदम मृगी आवे और बैठ जाये। उसी प्रकार पुण्य-पाप के भाव **मृगी के वेग की भाँति बढ़ते-घटते होने से...** आहाहा! यह पुण्य का भाव बढ़े और घटे, पाप का भाव बढ़े और घटे। आहाहा! आस्रव अर्थात् पुण्य-पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव मृगी के वेग की भाँति, वेग, आहाहा! घटते-बढ़ते एकदम मृगी का वेग आवे और बैठ जाये, उसी प्रकार एकदम पुण्यभाव और बढ़े, और घट जाये। पाप भाव बढ़े और घट जाये, परन्तु सब बढ़ते-घटते मृगी की भाँति पर है। आहाहा! **बढ़ते-घटते होने से अध्रुव हैं।** वे ध्रुव नहीं हैं, कायम रहनेवाली चीज़ नहीं हैं, बढ़े घटे... बढ़े घटे... बढ़े घटे। आहाहा!

एकदम शुभभाव हो जाये, भाई! दो-पाँच करोड़ रुपये इकट्ठे किये पाप करके, मरते

हुए उसे ऐसा लगे कि लाओ न कुछ यह दो, पाँच, दस लाख दूँ, ऐसा भाव हो। लड़के को कहता है कि परन्तु यह पाँच लाख दो परन्तु जीभ अभी अटक जाती हो, लड़का-लड़का, लड़का दस लाख, दस लाख... वहाँ वह लड़का समझे, कुछ कहेंगे यह सब बैठे हैं और कहेंगे, बापू! अभी पैसे को याद नहीं करो। उसको वात-वेग आया था दस देने का। ऐसा कि कुछ शुभ-पुण्य तो हो, वहाँ वह लड़का अब सामने पड़े, दूसरे देखने आये हों, उसमें बोले यह दस-दस-दस-दस-दस लाख। बापू! अभी याद नहीं करिये, भगवान... भगवान करो।

मुमुक्षु : लड़के ऐसा करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़के यह करेंगे सब, ऐसा करते हैं ये। ऐई!

यहाँ तो दूसरा कहना है। शुभभाव आया और वापस बैठ जाये, जब वह माने नहीं, ऐसे पाप का भाव एकदम आवे हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना, क्रोध, मान, भोग, माया, और कुछ घटे, परन्तु उसी और उसी में रहे। वे बढ़ते-घटते पुण्य-पाप के भाव होने से मृगी की भाँति अध्रुव हैं, कायम रहनेवाले एकरूप नहीं हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यह शरीर वाणी मन की बातें तो कहाँ, वे तो पर हैं और पररूप रहते हैं और पर से नाश होते हैं, वे तो उनके कारण से, उनमें कुछ है नहीं परन्तु यहाँ तेरी पर्याय में... अध्रुव और अनित्य को दोनों को भिन्न करेंगे। अध्रुव में घटते-बढ़ते कहकर अध्रुव बताते हैं। आहाहा! यह पुण्य-पाप के भाव वेग में चढ़े, और आवे। आहाहा! ऐसे चन्दा होता हो और सब पाँच-पच्चीस गृहस्थ इकट्ठे हुए हों और चन्दा में लिखाते हों, उसमें फिर वेग आ जाये अधिक तो हाँ करो बाबूभाई ने दो लाख दिये तो इनके पाँच लाख, ऐसे देने के भाव वेग में आवे। और घर आवे और कहे कि मैंने तो वहाँ लिखाये परन्तु तुमने पाँच लाख लिखाये इतना अधिक? वह भाव शिथिल हो जाये। ढीला पड़ जाये न, वापस बढ़े और वापस ढीला पड़ जाये। अभी पाँच लाख दिये हैं न! यह वह मिश्रीलाल गंगवाल नहीं, कलकत्ता मिश्रीलाल गंगवाल है न। पच्चीस करोड़ रुपये होंगे, पच्चीस-तीस। अभी पाँच लाख कहीं दिये हैं। दे परन्तु वह क्या है? वह राग की कोई मन्दता भाव हुआ हो और वापस तीव्र हो जाये। आहाहा! वह कोई शाश्वत् चीज़ नहीं है। आहाहा!

पुण्य और पाप के भाव **आस्रव मृगी के वेग की भाँति...** वह तो वेग है, हों! आहाहा! बढ़े और घटे, वेग कहा न? **बढ़ते-घटते होने से अध्रुव है, चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है।** आहाहा! यह जाननेवाला-देखनेवाला चैतन्य प्रभु वह ध्रुव है, तब यह पुण्य और पाप दोनों अध्रुव हैं। आहाहा! ऐसा जानकर निवृत्त होता है, ऐसा कहना है। समझ में आया? आहाहा!

पहले ऐसा कहा कि अविरुद्ध स्वभाव का अभाव होने से, उनसे निवृत्त होता है, तब स्वभाव में प्रवर्तता है। आहाहा! भगवान आत्मा आनन्द प्रभु, उसमें-आनन्द में रमता है, उतना आस्रवों निवृत्त होता है, और जितना आस्रव से निवृत्त होता है, उतना यहाँ आनन्द में रमता है। आहाहा! यह तो ऐसी बातें हैं।

अर र र! अरे रे! ऐसा मनुष्यपना मिला, परन्तु तत्त्व की बात इसे कान में न पड़े, समझे नहीं; अरे! यह पशु जैसा अवतार है। आहाहा! यह आस्रव अध्रुव है, तब चैतन्यमात्र प्रभु शाश्वत् चीज़ है, वह ध्रुव है। ज्ञायकभाव से भरपूर अनन्त आनन्द से भरपूर प्रभु, वह चैतन्यमात्र स्वयं वस्तु, चैतन्यमात्र क्यों कहा?—कि उसमें आस्रव है ही नहीं, अकेला चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है, इस प्रकार अध्रुव और ध्रुव का भेदज्ञान करके जितना अध्रुव से निवृत्त होता है, उतना ध्रुव में एकाग्र होता है। जितना ध्रुव में एकाग्र होता है, उतना अध्रुव से निवृत्त होता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

पहले अविरुद्ध स्वभाव में जितना प्रवर्त होता है, उतना विरुद्ध स्वभाव से निवृत्त होता है—पहले बोल में, यहाँ जितना अध्रुव स्वभाव से निवृत्त होता है, उतना ध्रुव स्वभाव में एकाग्रता से प्रवर्त होता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है धर्म की, बापू! धर्म कोई (अलौकिक चीज़ है)।

तीसरा बोल। अध्रुव कहा न? अब 'अनित्य' कहते हैं। अध्रुव और अनित्य में अन्तर है। **आस्रव शीत-दाह-ज्वर के आवेश की भाँति...** अर्थात्? उसमें घट-बढ़ थी और इसमें एक के बाद एक है। सर्दी का बुखार हो, तब गर्म नहीं होता; गर्मी का बुखार हो, तब सर्दी का बुखार नहीं होता। एकदम गर्म बुखार आवे पहले एकदम वस्त्र निकाल डाले। निकालो, निकाल डालो। और बैठ जाये सर्दी हो जाये तो और वापस ओढ़ाओ। यह

सर्दी का बुखार और गर्मी का बुखार एक के बाद एक होता है, उसे यहाँ अनित्य कहा है। उसको अध्रुव कहा था बढ़-घट को और इसको एक के बाद एक होता है, उसे अनित्य कहा है। आहाहा!

आस्रव शीत अर्थात् ठण्डा बुखार, सर्दी का बुखार; दाह अर्थात् गर्मी का बुखार, शीत-दाह-ज्वर के आवेश की भाँति, वह भी एक आवेश है। आहाहा! **अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं इसलिए...** इतना अन्तर है। शीत हो तब गर्म नहीं होता और गर्म हो तब शीत नहीं होता। इसी प्रकार पाप के परिणाम हों, तब पुण्य के नहीं होते और पुण्य के हों, तब पाप के नहीं होते, ऐसा बताते हैं। हैं तो दोनों अनित्य, परन्तु पाप के परिणाम के समय पुण्य का नहीं होता और पुण्य के समय पाप नहीं होता, इसलिए वे **अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं इसलिए अनित्य हैं।** आहाहा!

मुमुक्षु : इसी प्रकार राग के समय द्वेष नहीं और द्वेष के समय राग नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं, यहाँ यह काम नहीं। यहाँ तो पुण्य के समय पाप नहीं और पाप के समय पुण्य नहीं, यहाँ तो आस्रव में अनित्यपना सिद्ध करना है न? तो पुण्य और पाप दोनों दु:खरूप और आस्रव हैं, बन्ध के कारण हैं। उस पाप के समय पुण्य नहीं और पुण्य के समय पाप नहीं। अनित्य सिद्ध करना है न? अध्रुव सिद्ध करने में बढ़-घट में बढ़ता था और घटता था, ऐसे बढ़े और घटे - ऐसा कहा। और यह तो एक के बाद एक हो, उसे अनित्य कहा है। आहाहा! अब यह तो सिद्धान्त है। यह कोई वार्ता नहीं। उसके एक-एक शब्द में भगवान की-त्रिलोकनाथ परमात्मा की वाणी है, यह सन्तों की वाणी है। आहाहा!

यह आस्रव अर्थात् पुण्य-पाप के भाव शीत-दाह-ज्वर के आवेश की भाँति, यह आवेश है। पुण्य का आवेश आया, तब पाप नहीं और पाप का आवेश आया, तब पुण्य नहीं। (ऐसा) होने से अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं। उसमें (अध्रुव में) अनुक्रम नहीं था, उसमें बढ़-घट थी। अध्रुव और अनित्य में दोनों में अन्तर किया। आहाहा! अनुक्रम में शीत ज्वर के समय उष्ण नहीं और उष्ण के समय शीत नहीं; इसी प्रकार पुण्यभाव के समय पापभाव नहीं और पापभाव के समय पुण्य नहीं, दोनों आस्रव अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! इसलिए वे अनित्य हैं, कौन? यह शुभ और अशुभभाव दोनों एक

के बाद एक उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे अनुक्रम से उत्पन्न होते होने से, वे अनित्य हैं। आहाहा! वह तो वार्ता-कथा मांडी हो न, एक राजा और रानी इसको, प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। कथा सुनकर चला जाये। अरे भाई! यह तो धर्मकथा है, प्रभु! आहाहा!

भगवान आत्मा के परिणाम जो पुण्य-पाप के हैं, वे अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनित्य कहा जाता है, जबकि भगवान आत्मा **विज्ञानघन जिसका स्वभाव है...** देखा? उसमें चैतन्यमात्र जीव ध्रुव है, ऐसा था। विज्ञानघन जिसका स्वभाव है। आहाहा! जैसे सर्दी का पुराना घी होता था न? ऐसा घन घी था, अँगुली प्रवेश करे तो फाँस लगती थी। अभी तो सब समझने जैसा सब गड़बड़ हो गयी सब। पहले का घी जो था पचास-साठ वर्ष पहले का, वह ऐसा था कि अँगुली प्रवेश करे तो फाँस लगे, चपटी कलछी तो मुश्किल से प्रवेश करे। इसी प्रकार यह आत्मा पुण्य और पाप के भाव अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे अनित्य हैं। भगवान आत्मा विज्ञानघन होने से नित्य है। आहाहा! उसमें पुण्य और पाप के विकल्प का प्रवेश नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

यह तो बापू! धर्म की बात है, वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनवरदेव की वाणी और मार्ग है यह तो। यह कोई ऐरे-गैरे की बात नहीं है। जिनके तलुबे इन्द्र चाटे, जो इन्द्र जिनकी सभा में पिल्ले की भाँति ऐसे बैठे, आहा! वह वाणी कैसी होगी, भाई! वह वाणी सन्त स्वयं आड़तिया होकर बात करते हैं। आहाहा!

विज्ञानघन जिसका स्वभाव है... भगवान आत्मा का विज्ञानघन स्वभाव है। **ऐसा जीव ही नित्य है,...** नित्य त्रिकाल। अनित्य के सामने नित्य। अनित्य को जानकर नित्य में जहाँ आता है, जितना विज्ञानघन स्वभाव में एकाग्र होता है, उतना अनित्य पुण्य-पाप से निवृत्त होता है, जितना पुण्य-पाप से निवृत्त होता है, उतना विज्ञानघन स्वभाव में प्रवर्त होता है, एकाग्र होता है। उसका एक काल है, ऐसा सिद्ध करना है। आहाहा! ऐसा कि आस्रव से निवृत्ते और आत्मा में प्रवर्ते, उसका काल भिन्न है, ऐसा नहीं है। आहाहा! शुभ-अशुभभाव से निवृत्ते, उतना भगवान विज्ञानघन स्वभाव में प्रवर्ते, उसमें-ज्ञान में एकाग्र हो, ज्ञान जमता जाये, आनन्द और ज्ञान स्थिर, स्थिर जमता जाये, यह शब्द है। पीछे जमता घट होता, स्थिर होता जाये। पीछे है अन्तिम अर्थ में, भावार्थ के बाद के अन्तिम शब्द में है, ज्ञान जमता, घट होता, स्थिर होता जाता है। है? आहाहा!

भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप जो है, उसमें घट और स्थिर और जमता जाता है, उतना आस्रवों से निवृत्त होता है और जितना आस्रवों से निवृत्त होता है, उतना ज्ञानघन आत्मा में जमता—स्थिर होता जाता है, स्थिर। आहाहा! जैसे दूध का दही होता है न? वैसे भगवान आत्मा धर्म की दृष्टिवन्त की बात, भेदज्ञान की बात है। जिसने पुण्य और पाप के भाव को अनित्य जाना और आत्मा विज्ञानघन को नित्य जाना, वह उससे (आास्रवों से) निवृत्त होता है, जितना निवृत्त होता है, उतना स्वभाव में प्रवर्तता है। आहाहा! यह अनित्य के सामने बात की।

विज्ञानघन जिसका स्वभाव है, ऐसा जीव ही नित्य है। जीव ही नित्य है। आहाहा! यह विज्ञानघन यहाँ अभी कहना है। त्रिकाल विज्ञानघन प्रभु, ज्ञान और आनन्द का घन प्रभु है, पिण्ड है, वह जीव है। वह जीव है। पुण्य और पाप के भाव वे जीव नहीं हैं। आहाहा! वे अनित्य हैं, इसलिए वे जीव नहीं है; नित्य है, वह जीव है। आहाहा! अनित्य (का बोल हुआ)।

'अशरण' अब चौथा बोल है। 'अशरण' **जैसे कामसेवन में वीर्य छूट जाता है...** विषय सेवन में-जैसे कामसेवन में वीर्य छूट जाता है, वह रखने से रहता नहीं। आहाहा! दृष्टान्त दिया है। सन्त तो वीतरागी हैं, उन्हें तो दृष्टान्त देकर जगत को सत्य समझाना है। जैसे कामसेवन में वीर्य छूट जाता है, वह रखने से रहता नहीं, **उसी क्षण दारुण काम का संस्कार नष्ट हो जाता है।** आहाहा! वह काम का संस्कार वहाँ नष्ट हो जाता है, किसी से नहीं रोका जा सकता। आहाहा! **इसी प्रकार कर्मोदय छूट जाता है...** पुण्य और पाप के भाव जो उदय हैं, आहाहा! वह उदय छूट जाये **उसी क्षण आस्रव नाश को प्राप्त हो जाता है।** आहाहा! **कर्म का उदय है,...** वह नाश को प्राप्त होता है, छूट जाता है, तब उसके निमित्त से हुए आस्रव, वे नाश को प्राप्त हो जाते हैं। रखने से रखे नहीं जा सकते। शरण नहीं कि पुण्यभाव रखो बहुत या रखो रखो। क्या रखे? जैसे वह कर्म का उदय नाश होता है, वैसे पुण्य-पापभाव भी साथ में नाश हो जाते हैं, वे शरण नहीं हैं। आहाहा!

ऐसा कि पुण्य करो, बहुत पुण्य करो, इससे आत्मा को शरण मिलेगी, कहते हैं कि वह पुण्य तो नाशवान है न? आहाहा! कर्म का उदय छूटने से पुण्य के शुभभाव भी नाश को प्राप्त हो जाते हैं न? वे रखने से रखे नहीं जा सकते। जैसे वीर्य छूटने से वीर्य को रखा

नहीं जा सकता, उसी प्रकार कर्मोदय छूटने से आस्रवों को रखा नहीं जा सकता, आहाहा! **इसलिए वे अशरण हैं।** आहाहा! शुभ और अशुभभाव दोनों अशरण हैं। आहाहा! अरिहंता शरणं, सिद्धा शरणं, वह भी अभी तो बाह्य विकल्प से बात है। यहाँ तो निर्विकल्प शरण की बात है। आहाहा! इसलिए वे अशरण पुण्य और पाप, कर्म का निमित्तपना है, इसलिए वहाँ हुए हैं, वह निमित्त छूट जाता है, तो वे भी छूट जाते हैं, इसलिए वे पुण्य-पाप रखे नहीं जा सकते, शरण नहीं है। आहाहा!

स्वयं रक्षित सहज चित्शक्तिरूप जीव ही शरणसहित है। आहाहा! भगवान तो स्वयं रक्षित ही है, उसे रखना पड़े ऐसा नहीं है, वह तो रक्षित ही है। स्वयं रक्षित ऐसा। सहज स्वभाव से आनन्दघन आत्मा ऐसा सहज स्वभाव ही चित्शक्तिरूप, वह तो ज्ञानशक्तिरूप जीव ही शरणसहित है। कायम टिकता है तो वहाँ शरण मिलेगी, टिकता नहीं, वहाँ शरण है नहीं। आहाहा!

यहाँ तो आत्मा शरण लेना है, हों! अरिहंता शरणं वह नहीं। चित्शक्तिरूप जीव शरणसहित है, उनमें तो केवलीपणत्तो धम्मो शरणं, पर्याय शरण, ऐसा था। यहाँ तो जीव स्वयं त्रिकाल कायम टिकनेवाला भगवान चित्शक्ति ज्ञानमात्र ऐसा स्वभाव का पिण्ड, वह शरण है। ऐसा है, लो। यह शरण की व्याख्या की, 'अशरणाः'। दुःखपने की व्याख्या विशेष करेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १५८, गाथा-७४ दिनांक ०२-०१-१९७९, मंगलवार, पौष शुक्ल ४

श्री समयसार, ७४ गाथा छह बोल हैं, उनमें चार बोल चले हैं। शुभ-अशुभभाव, वे जीव के साथ बँधे हुए हैं, उसका स्वभाव नहीं। इसलिए शुभ-अशुभभाव, जो अविरुद्ध चैतन्यस्वभाव उनका उसमें अभाव है, इसलिए वे जीव नहीं हैं, ऐसा आया पहला। दूसरा अध्रुव। पुण्य और पाप के भाव घट-बढ़ होते हैं, वेग-वेग आवे और फिर घटे, इसलिए वे अध्रुव हैं; चैतन्यस्वभाव भगवान आत्मा, वह ध्रुव है। अनित्य शीत और उष्ण ज्वर अनुक्रम से आता है, इसलिए उसे अनित्य कहा जाता है; उसी प्रकार आत्मा में पुण्य परिणाम के समय पाप नहीं होता और पाप परिणाम के समय पुण्य नहीं होता, वह अनुक्रम से उत्पन्न होते होने से वे पुण्य-पाप अनित्य हैं; भगवान चैतन्य, वह कायम नित्य है। पुण्य और पाप के भाव, कर्म का उदय हो, इसलिए होते हैं। उदय टले तो नाश हो जाते हैं, इसलिए पुण्य-पाप के भाव शरणरहित हैं, शरण नहीं है। है न ? आहा! भगवान आत्मा स्वयं रक्षित है, स्वयं स्वयं से रक्षित ही है, ऐसा जो आत्मा, स्वयं शरण है। पंच परमेष्ठी का शरण भी नहीं, उनका कहा हुआ धर्म जो है पर्याय, उसका भी शरण नहीं, (ऐसा) यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! यहाँ तो आत्मा जो नित्य कायम वस्तु चित्शक्तिरूप, है न ? जीव ही शरण, वह जीव त्रिकाली ज्ञायकभाव, वह शरण है। आहाहा! ऐसी बात है। चार बोल तो आ गये हैं।

पाँचवाँ। **आस्रव...** अर्थात् कि शुभ-अशुभभाव **सदा आकुलस्वभाववाले होने से...** भगवान की स्तुति का भाव शुभ, वह भी आकुल स्वभाव है, कहते हैं। आहाहा! **आस्रव सदा आकुल स्वभाववाले होने से दुःखरूप है।** आहाहा! वस्तु दुःखरूप है अनुकूल-प्रतिकूल, वह बात यहाँ नहीं है, आहाहा! वे पुण्य और पाप के भाव स्वयं दुःखरूप हैं, क्योंकि भगवान आनन्दस्वरूप है, उससे विरुद्ध हैं। आहाहा!

सदा निराकुल स्वभाववाला जीव ही... उसके सामने लिया, शुभभाव और अशुभभाव, आहाहा! यहाँ (लोग ऐसा) कहते हैं कि शुभभाव शुद्धता का कारण है। यहाँ कहते हैं कि शुभभाव आकुलता के उपजानेवाले हैं, आहाहा! दुःखरूप हैं। तब अभी तो

वे कहते हैं, चलता है कि इस शुभभाव से शुद्धता होती है। इतना बड़ा अन्तर है, अन्तर्दृष्टि का बड़ा अन्तर है। आहाहा! सदा निराकुल स्वभाववाला जीव ही सुखरूप है, अदुःखरूप अर्थात् सुखरूप है। आहाहा! सदा निराकुल स्वभाववाला, आनन्दस्वभाववाला, ऐसा। **जीव ही सुखरूप है।** आहाहा! उसके सामने चाहे तो तीर्थंकरगोत्र का भाव हो, वह दुःखरूप है। आहाहा! यह बात। यह पाँचवाँ बोल कहा।

अब छठवाँ **आस्रव...** शुभ और अशुभभाव, आहाहा! **आगामी काल में...** भविष्यकाल में **आकुलता को उत्पन्न करनेवाले ऐसे पुद्‌गल परिणाम के हेतु...** कर्म हैं, वे पुद्‌गलपरिणाम हैं, उनका हेतु, वे पुद्‌गलपरिणाम जो हैं, वह भविष्य में आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है। आस्रव—पुण्य और पाप के भाव आगामी काल में, भविष्य काल में आकुलता को उत्पन्न करनेवाले, ऐसे पुद्‌गलपरिणाम वर्तमान बन्धन, उसका वे हेतु हैं। वह पुद्‌गल परिणाम भविष्य में आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं। आहाहा!

पुद्‌गल परिणाम से संयोग मिलेंगे, ऐसा कहते हैं और संयोग पर लक्ष्य जायेगा तो उसे राग और आकुलता होगी। आहाहा! अशुभ आस्रव से पुद्‌गल परिणाम जो पाप के, उसमें वह निमित्त था, हेतु और वे पाप के पुद्‌गल परिणाम भविष्य में प्रतिकूलता का निमित्त होंगे और प्रतिकूलता के निमित्त पर लक्ष्य जायेगा तो द्वेष होगा, आहाहा! और शुभभाव वर्तमान पुद्‌गल परिणाम के हेतु, परन्तु वे पुद्‌गल परिणाम हैं कैसे बँधते हैं वे? भविष्य में संयोग आयेगा। संयोग पर लक्ष्य जायेगा तो उसे राग होगा। आहाहा! ऐसी बात है। शुभभाव से पुद्‌गल परिणाम का वह हेतु और पुद्‌गल परिणाम भविष्य में संयोग देनेवाले। भले वीतराग मिले और वीतराग की वाणी मिले। आहाहा! परन्तु वे परद्रव्य हैं, उन पर लक्ष्य जायेगा तो राग ही होगा, दुःख होगा। आहाहा! ऐसी बात है। जगत को सहन होना (कठिन है)। आहाहा!

मुमुक्षु : वीतराग की वाणी कही है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतराग की वाणी भी परद्रव्य है न? परद्रव्य पर लक्ष्य जायेगा तो उसे राग ही होगा। स्वद्रव्य का आश्रय छूटकर जितना परद्रव्य का आश्रय होगा; स्व-

आश्रय निश्चय, पराश्रय व्यवहार। आहाहा! कठिन बात है, भाई! दुनिया को अन्दर से बात बैठना... शुभभाव वर्तमान पुद्‌गल परिणाम के हेतु, वे पुद्‌गल परिणाम कैसे हैं? कि भविष्य में आकुलता का कारण होगा। अर्थात् कि पुद्‌गल परिणाम बन्धन है, वह संयोग देगा, पाप के बन्धन, वे प्रतिकूल संयोग देंगे; पुण्य का बन्धन, वह अनुकूल संयोग देगा, परन्तु संयोग देगा। आहाहा! और संयोग पर आश्रय-लक्ष्य जायेगा तो उसे राग और दुःख / आकुलता होगी। आहाहा! कठिन बात है। सहन करना बहुत कठिन, बापू! आहाहा!

शुभभाव वर्तमान दुःखरूप है, यह तो पाँचवें (बोल) में गया परन्तु शुभभाव भविष्य में दुःख के उत्पन्न करनेवाले ऐसे पुद्‌गल के परिणाम वर्तमान, उसका वे निमित्त हैं, बन्धन में; और उस पुद्‌गल के परिणाम बन्ध है, वह जब उदय आयेगा, तब इसे संयोग मिलेगा। क्योंकि पुद्‌गल परिणाम से स्वभाव मिले, यह तो है नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। क्योंकि जो संयोग मिलेंगे और पराश्रित लक्ष्य जायेगा, इससे उसे राग ही-आकुलता (ही) होगी, प्रतिकूलता के संयोग में लक्ष्य जायेगा तो द्वेष होगा, अनुकूलता के संयोग में लक्ष्य जायेगा तो राग होगा, परन्तु दोनों दुःख है। आहाहा!

मुमुक्षु : अनुकूलता तो लाभ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुकूल अर्थात् कि वाणी और भगवान साक्षात् मिले और बाह्य में लक्ष्मी आदि मिले, अनुकूल सामग्री मिले, वे दोनों पर संयोगी चीज़ है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! मूल चीज़ को समझना वह बहुत अलौकिक बात है। कल्पना से मान लेना, वह अलग बात है। आहाहा! कहो, पण्डितजी! क्या कहा परन्तु यह?

शुभभाव वर्तमान पुद्‌गल परिणाम का हेतु; वह पुद्‌गल परिणाम, आगामी आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं। कहो, यह बोल तो पहले बहुत बार आ गया है। यह तो उन्नीसवीं बार वाँचन होता है। आहाहा! पहले यह सब कहा जा चुका है। चाहे तो संयोगमात्र चीज़ पर है और पर का आश्रय करेगा तो उसे राग ही होगा, प्रतिकूल संयोग हो तो द्वेष होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : दुःखी होगा या सुखी होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःखी होगा। आहाहा! पुण्य के परिणाम से पुण्य बन्धन होगा

और उसके फलरूप से लक्ष्मी आदि मिले तो उसके ऊपर इसका लक्ष्य जायेगा तो यह दु:खी ही होगा।

मुमुक्षु : लक्ष्मीवाला दु:खी, यह तो जरा कठिन पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लक्ष्मीवाला दु:खी, यह कठिन पड़े, लक्ष्मीवाला। आहाहा!

यहाँ तो तीन लोक के नाथ और वाणी मिले यहाँ तो... बात बापू! आहा! वे परद्रव्य हैं न और परद्रव्य का आश्रय-लक्ष्य करेगा तो उसे परद्रव्याश्रित व्यवहार राग होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : राग से दु:खी क्या होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग है, वह दु:ख है। शुभराग वर्तमान दु:ख है और शुभराग भविष्य में दु:ख के फल का कारण है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : देव-शास्त्र-गुरु की प्राप्ति से भी राग होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह देव-गुरु-शास्त्र की प्राप्ति भी परद्रव्य है न!

मुमुक्षु : तो सुने बिना निर्णय किस प्रकार करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्णय स्वद्रव्य से होता है, पर से नहीं। आहाहा! स्व-आश्रय से ही निर्णय सम्यक् होता है, पराश्रय से नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। समयसार कोई अलौकिक चीज़ है। इसके साथ कोई मेल खाये, ऐसा नहीं है किसी दूसरे के साथ। आहाहा!

मुमुक्षु : देशनालब्धि व्यर्थ जायेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यर्थ ही जाये, वह देशनालब्धि मिले उससे क्या है? देशनालब्धि मिले, वह तो राग है। हो भले, परन्तु वह तो राग है। वह देशनालब्धि तो अनन्त बार मिली है, परन्तु अन्तर द्रव्य का आश्रय नहीं करे, तब तक उसे धर्म नहीं होता। आहाहा! 'स्व-आश्रय वह निश्चय और पर आश्रय वह व्यवहार, यह महा सिद्धान्त है। चाहे तो तीन लोक के नाथ, यह तो स्वयं कहा न प्रभु ने—कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षपाहुड़ में, सोलहवीं गाथा। तेरहवीं गाथा से लिया है, परद्रव्य में रक्त वह राग है, परद्रव्य की ओर का लक्ष्य है, वहाँ राग में, रक्त है। सोलह में वहाँ से-तेरह से उठाया है, सोलह में तो ऐसा कहा कि

'परदव्वादो दुग्गई'। आहाहा! क्या, चाहे तो परद्रव्य भगवान हो और उनकी वाणी हो, उनकी ओर के लक्ष्य से तो राग ही (अर्थात्) चैतन्य की दुर्गति है, अर्थात् चैतन्य की गति के परिणाम नहीं हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग।

यहाँ तो भगवान पूर्णानन्द का नाथ! ऐसा भी कहा न? कि पर को जानना, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आत्मा ज्ञाता और पर ज्ञेय, यह भी व्यवहार है, यह नहीं। स्वयं ज्ञाता, स्वयं ज्ञेय और स्वयं ज्ञान; परज्ञेय, वह (ज्ञेय नहीं), ऐसी बात है। वर्तमान ज्ञान की पर्याय, जाननेवाले को जाने, जाननेवाले को जानते हुए पर्याय में पर का ज्ञान भी होता है परन्तु वह स्वयं ज्ञेय, पर्याय ज्ञेय है, उसे वह जानती है। आहाहा! बेचारे साधारण प्राणी को झेलना कठिन। व्यवहार, जिसे व्यवहार के ऊपर लक्ष्य है न, उसे यह बात बैठना बहुत कठिन है।

यहाँ तो कहते हैं, **आस्रव...** अर्थात् पुण्य और पाप दोनों, **आगामी काल में आकुलता को उत्पन्न करनेवाले ऐसे,...** कौन? पुद्गल परिणाम अर्थात् बन्धन, उसका यह परिणाम निमित्त है। बन्धन का यह निमित्त है, पुण्य बन्धन में शुभभाव निमित्त है, पाप बन्धन में अशुभभाव निमित्त है और वे पुद्गल के परिणाम जो हैं, वे उदय आयेंगे, तब संयोग देंगे। संयोगीभाव से बँधा हुआ कर्म, वह संयोग को देगा और संयोग पर लक्ष्य जायेगा तो इसे फिर द्वेष-प्रतिकूल होवे तो द्वेष और अनुकूल होवे तो राग, बाकी राग ही, दु:ख ही होगा। आहाहा!

वीतरागमार्ग के अतिरिक्त यह बात, झेली जाये ऐसी नहीं जगत को। अभी तो यह कहते हैं, शुभ से ऐसा होता है, 'सर्व तत्वारं', उसमें आता है न? 'ज्ञातारं सर्व तत्वारं तद्गुण लब्धये'। भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हमको तो गुण की प्राप्ति हो, यह अर्थ करते हैं न वे? है न, खबर है न? यह अर्थ आया था उस ओर से। वह तो व्यवहार की बातें हैं, बापू! अपने गुण की प्राप्ति तो स्वद्रव्य के आश्रय से होती है। आहाहा! पर के गुणों की विचारणा या परगुण का लक्ष्य, वह सब राग है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि आस्रव अर्थात् शुभभाव... मुख्य अधिक यहाँ अवरोधक और बाधा जगत को यहाँ है। वे **आगामी काल में आकुलता को उत्पन्न करनेवाले ऐसे**

पुद्‌गल परिणाम के हेतु हैं... वर्तमान पुण्यबन्धन जो पुद्‌गल परिणाम होते हैं, उसका शुभभाव हेतु है और वे पुद्‌गल परिणाम जो बँधते हैं, वे भविष्य में आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं। स्वआश्रय करनेवाले नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं, झेलना अन्तर की यह बातें। आहाहा! दृष्टि में अन्तर है न, इसे कहीं न कहीं व्यवहार के आश्रय से लाभ होता है, ऐसी इसकी मान्यता रह जाती है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि उस व्यवहार से, पर से, अरे! पर्याय के आश्रय से लाभ नहीं होता। परद्रव्य के कारण से लाभ हो, ऐसा नहीं है। शास्त्र का अभ्यास करना हो तो शास्त्र पर है, परन्तु स्वलक्ष्य से करे, वह स्वलक्ष्य से करे तो स्व का आश्रय है वहाँ। आहा! बहुत कठिन बातें, भाई! एक न्याय बदलने से पूरा सब बदल जाये, पूरी लाईन-दृष्टि बदल जाये। आहाहा!

भगवान की स्तुति करना है, वह भी राग है।

मुमुक्षु : आप तो दुःख है, ऐसा फरमाते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह राग है, वह दुःख है। परद्रव्य की स्तुति है न? पराश्रित व्यवहार है और राग है वह तो। आहाहा! चिमनभाई! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। आहाहा! थोड़ा भी सत्य होना चाहिए, बापू! आहाहा! दृष्टि में फेर हो, उसे पूरा पर के ऊपर वजन गये बिना नहीं रहता। आहाहा!

दुःख फलरूप है... है न? **पुद्‌गल परिणाम के हेतु होने से...** यह शुभभाव **दुःख फलरूप है।** वर्तमान दुःख तो है, परन्तु भविष्य में दुःख का फल आयेगा, ऐसा है। आहाहा! दुःख है तो भविष्य में भी दुःख का फल आयेगा उसमें। आत्मा का आनन्द नहीं आयेगा। आहाहा! समझ में आया? यह बात तो बहुत बार हो गयी है। गाथा का वाँचन हुआ है न? यह तो उन्नीसवीं बार वाँचन होता है। पहली बार वाँचन हुआ, तब से तो कहा...

मुमुक्षु : हमें तो पहली बार लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अधिक स्पष्ट हो इसलिए, बाकी तो पहले से यह बात कही है। आहाहा!

अब जीव 'ही' **जीव 'ही' 'जीव ही' समस्त पुद्‌गल परिणाम का अहेतु...**

आहाहा! जीव ऐसा है कि किसी भी बन्धन में हेतु हो, वह जीव नहीं है। आहाहा! तीर्थंकरगोत्र बँधे, उसमें जीव हेतु, जीव नहीं। आहाहा! जीव ही समस्त पुद्गल परिणाम का अहेतु अर्थात् तीर्थंकर बन्धन हो, उसमें जीव हेतु नहीं। जीव के वे शुभपरिणाम हेतु, वह शुभपरिणाम जीव नहीं। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव आस्रव है अर्थात् कि जीव नहीं। आहाहा! उससे तीर्थंकरप्रकृति बँधती है। जीव नहीं, उसके भाव से। आहाहा! ऐसी बात है। कर्ताकर्म की व्याख्या है न? राग है, वह मेरा कार्य है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। परन्तु राग कार्य न माने और राग हो तो भी दुःखरूप है। आहाहा! क्या कहा यह? राग का विकल्प है, वह आत्मा का कार्य है, यह तो मिथ्यात्व है, क्योंकि यह ज्ञायकस्वरूप भगवान, उसमें राग का करना, वह कौन-सा गुण और कौन-सी दशा है? वह विकृत दशा का कार्य मेरा, यह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

यह तीर्थंकरगोत्र जो बँधता है, वह भाव भी विकृत और राग है; वह जीव नहीं। **जीव ही समस्त पुद्गल परिणाम का अहेतु...** समस्त पुद्गलपरिणाम कहा न? तीर्थंकरप्रकृति क्या कहलाती है? आहारकशरीर की प्रकृति बँधे आदि, आहारक तो मुनि को ही होता है न? आहारकशरीर, तीर्थंकरप्रकृति आदि पुद्गल के परिणाम का जीव अहेतु है। आहाहा! जीव ही समस्त पुद्गल परिणाम, समस्त, एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ जो कर्म की, उन पुद्गल परिणाम का जीव हेतु नहीं है। आहाहा! समझ में आया? चिमनभाई! ऐसा सूक्ष्म, इसलिए लोगों को बेचारों को ऐसा लगे... आहाहा!

मुमुक्षु : तीर्थंकरगोत्र का बन्ध सम्यग्दृष्टि को ही होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्दृष्टि को होता है, तथापि वह जीवपना नहीं है। यह तो कहा न पहले? वह जीव नहीं। जीव का अविरुद्ध स्वभाव का उसमें अभाव है, आहाहा! इसलिए वह जीव नहीं। आहाहा! बन्धन का हेतु वह अजीव है। आहाहा! जीव भगवान आत्मा जो पर्याय से जाननेवाले को जानता है, शास्त्र से नहीं। पर्याय वर्तमान जो है, वह द्रव्य को ज्ञेय बनाकर जानती है। वह ज्ञान, वह ज्ञान, वह उसका ज्ञेय, वह ज्ञान, उसका ज्ञान और वह ज्ञाता। आहाहा! बन्धन तो परज्ञेय है और राग है, वह भी परज्ञेय है। आहाहा! अरे! शास्त्र का ज्ञान है, वह भी परज्ञेय है। आहाहा! यह आ गया है न अपने वचनामृत में?

'ज्ञेय निमग्न।' शास्त्र ज्ञान है, वह परज्ञेय है, उस परज्ञेय में निमग्न है, आहाहा! वह परसत्तावलम्बी ज्ञान बन्ध का कारण है। यह परमार्थवचनिका में आया है, भाई! परमार्थवचनिका में। आहाहा!

दिगम्बर गृहस्थ समकिती हो या मुनि हो, वस्तु की स्थिति तो सबको एक ही प्रकार की है। स्थिरता-अस्थिरता में अन्तर हो, यह अलग वस्तु है। आहाहा! यह मूल अभिप्राय में अन्तर नहीं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि हो, उन सबको उदय एक सरीखा ही हो, ऐसा कुछ नहीं है। दृष्टि / अभिप्राय है, वह तो निर्मल ही है, परन्तु उदय का प्रकार एक सरीखा ही सबको हो, ऐसा नहीं है। यह परमार्थवचनिका में आया है। इसी प्रकार छठवाँ गुणस्थान है, उसे उदय एक ही प्रकार का होता है, उदय है भले पर, परन्तु एक ही प्रकार का (उदय) जीव भिन्न है, उसे हो ऐसा नहीं—ऐसा जिसने जाना, उसने जीवद्रव्य जाना नहीं। ऐसा आया है न उसमें? आहाहा! दृष्टि और अभिप्राय एक सरीखा है परन्तु उदय के भाव में अन्तर पड़ता है। केवली को भी किसी को समुद्घात का उदय हो और किसी को दूसरा। आहाहा! परिणाम में केवलज्ञान है। उसी प्रकार समकिती के परिणाम में निर्मल सम्यग्दर्शन है, परन्तु परिणाम जो हैं उदय के, (वे) एक प्रकार के नहीं होते। आहाहा! अभिप्राय में जरा भी अन्तर नहीं परन्तु अस्थिरता में बहुत अन्तर होता है। आहाहा! ऐसे यहाँ शुभपरिणाम की अस्थिरता, आहाहा! सम्यग्दृष्टि को होती है, परन्तु उसका कर्तव्य है, ऐसा नहीं मानता, तथापि वह शुभभाव आवे, वह पुद्गल परिणाम का हेतु है। आत्मा के निर्मल परिणाम होने का हेतु वह नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

जीव ही... यह उसमें आता है न १०५ गाथा में-समयसार में आता है न, १०५ गाथा में, एक सौ पाँच। 'लोक में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिककर्म को निमित्तभूत नहीं होने पर भी,' है? १०५ (गाथा) इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म को निमित्तभूत नहीं होने पर भी, अज्ञान के कारण हैं, वह जीव स्वयं जीव का स्वभाव नहीं है। कोई भी पुद्गल बन्धन हो, उसका निमित्त हो, वह जीव नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह १०५ में है। आहाहा!

अज्ञानभाव से परिणमता होने से निमित्तभूत होने पर, देखा? पौद्गलिक कर्म उत्पन्न

होते हैं। आहाहा! और वह पौद्गलिककर्म आत्मा ने किया, ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघन स्वभाव से भ्रष्ट विकल्प परायण अज्ञानियों का विकल्प है, वह विकल्प उपचार है। आहाहा! समयसार की पूरी बात ही अलग है। आहाहा! वही यहाँ कहा। जीव ही समस्त शुभयोग परिणाम का हेतु, देखा? यहाँ भी कहा और वही यहाँ कहा, यह वहाँ कहा था १०५ में, ऐसा कहा था न, जीव कोई भी पुद्गल परिणाम बँधे, उसका जीव हेतु है ही नहीं, उसे जीव कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? जिसका स्वभाव ज्ञातादृष्टा है, वह जीव पुद्गल परिणाम का निमित्त होता ही नहीं। आहाहा! परन्तु उस ज्ञातादृष्टा के स्वभाव को भूलकर अज्ञानरूप से राग का कर्ता हो, उसे पुद्गलकर्म का निमित्त हो, बन्धन में निमित्त हो, जीव नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो धीरे से निगलने जैसा है। यह कहीं एकदम दया पालन की और व्रत पालन किये, अपवास किये और शास्त्र पढ़े, वह यह बात यहाँ नहीं है। आहाहा!

जीव-भगवान आत्मा, ही! आहाहा! उसे जीव कहते हैं कि जो समस्त पुद्गल परिणाम का अहेतु। एक सौ अड़तालीस कर्म की प्रकृति है, उसका जीव अहेतु है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! आहारकशरीर बँधे, तीर्थंकरप्रकृति बँधे, वह स्वयं जीव उसका हेतु नहीं है, उसके परिणाम जो वे तो अजीव हुए। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को भी जो परिणाम हुए तीर्थंकरगोत्र के, वे जीव नहीं, वे तो अजीव हैं, आहाहा! वे बन्धन में निमित्त हुए। आहाहा!

जीव ही, 'ही' हों, वापस 'जीव ही।' अनेकान्त नहीं, जीव बन्धन का हेतु भी हो और जीव बन्धन का हेतु न हो। वह बन्धन का हेतु ही जीव नहीं है, बस एक ही, एकान्त है। आहाहा! है? **जीव ही...** एकान्त जीव ही, **समस्त पुद्गल परिणाम का अहेतु होने से अदुःखफल (दुःखफलरूप नहीं) है।** आहाहा! यह जीव का स्वभाव सुखरूप है और भविष्य में भी जिसके परिणाम हों, वे सुख का कारण है। मोक्ष का कारण होता है न? मोक्ष अनन्त आनन्द का कारण सुखरूप परिणाम जो आनन्द के हैं। आहाहा! वह सुखफल है। समझ में आया?

मुमुक्षु : बन्ध का हेतु नहीं तो संवर-निर्जरा का हेतु है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अभी यहाँ काम नहीं, वह पर्याय है वापस, वह पर्याय भी द्रव्य के आश्रय से होती है; पर्याय, पर्याय के आश्रय से नहीं होती, ऐसा कहना है। पर्याय शुभ से तो नहीं परन्तु पर्याय के आश्रय से पर्याय नहीं, आहाहा! त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से पर्याय, कहा न? मोक्षमार्ग से मोक्ष होता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। द्रव्य के स्वभाव से मोक्ष होता है, ऐसा कहना, वह भी एक अपेक्षित व्यवहार है। बाकी तो मोक्ष के परिणाम जो हैं, केवल (ज्ञान) के, वे स्वतन्त्र षट्कारक से परिणमते हुए होते हैं। ऐसी बात हैं, बापू! दुनिया से बहुत कठिन बातें। आहाहा! दुनिया के साथ मिलान खाना...

'**जीव ही**' शब्द है न? '**अदुःखफलः सकल स्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतुत्वाज्जीव एव**' है न? जीव एव है न अन्दर अन्तिम शब्द संस्कृत में। 'जीव एव' ऐसी संस्कृत है, इसलिए जीव ही, ऐसा इसमें से निकाला। एव में से, संस्कृत है। है? चौथी लाईन—इसमें 'जीव एव'—जीव ही, जीव भगवान ज्ञातादृष्टा स्वभाव वीतरागी स्वभाव जीव, वह अदुःखफल है, उसका फल दुःख नहीं है, उसका फल आनन्दफल है। आहाहा! शुभभाव का फल दुःखफल है, जीव के स्वभाव का फल वर्तमान आनन्द और भविष्य में भी वह आनन्द के फल को उत्पन्न करनेवाला है। आहाहा! समझ में आया?

'जीव ही' अर्थात् जीव का जो ज्ञातादृष्टा स्वभाव, वीतरागी स्वभाव वह वर्तमान है, वह सुखरूप यह पाँचवें (बोल) में आया, पाँचवें में आया, और वह भविष्य में सुखरूप है, यह छठवें (बोल) में। क्या कहा, समझ में आया? पाँचवें में ऐसा कहा कि आस्रव दुःखरूप है, जबकि भगवान स्वयं सुखरूप है। इतना बस, पाँचवें में। छठवें में शुभाशुभभाव भविष्य में आकुलता के उत्पन्न करनेवाले ऐसे जो वर्तमान पुद्गल परिणाम बन्धन, उसका वे हेतु हैं और यह बन्धन है, वह भविष्य में आकुलता का उत्पन्न करनेवाला है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि जीव ही वर्तमान सुखरूप है और भविष्य में भी अदुःखफल है, यह दुःखफल नहीं, उसका सुखफल है। आहाहा! जीव तो ज्ञातादृष्टा है, ऐसा जो वर्तमान भाव वह आनन्दरूप है, और उस आनन्दरूप का परिणमन भविष्य में भी आनन्द के फल का कारण है। आहाहा! ऐसी बात है। भगवान की हाट दूसरे प्रकार की है। आहाहा!

'जीव' अर्थात् आत्मा, वह वर्तमान आनन्दरूप है। है न? और पुद्गल परिणाम का

हेतु नहीं। कोई भी पुद्‌गल परिणाम प्रकृति है, उसका 'जीव ही' वस्तु स्वभाव, वस्तु जीव है, वह हेतु नहीं है। तब ? कि आस्रव हैं दु:खफलरूप हैं, जबकि यह अदु:खफल अथवा दु:खफल नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा! ज्ञाता, दृष्टा और आनन्दस्वरूप, वर्तमान भी आनन्दरूप और भविष्य में भी अदु:खफल—दु:खफल नहीं आवे, उसे सुखफल आयेगा। आहाहा! समझ में आया ? उस आनन्द के भाव से आनन्द आयेगा और आस्रव के भाव से संयोग मिलेंगे, उसमें दु:ख होगा उसके लक्ष्य में। आहाहा! यह तो भगवान की कथा–आत्मकथा है, भाई! यह कोई.... अलौकिक बातें हैं। आहाहा!

ऐसा आस्रवों का... अब छह का कह दिया, छह बोल हो गये न ? **ऐसा आस्रवों का और जीव का...** छह बोल कहे न ? **भेदज्ञान होते ही (तत्काल ही)...** आहाहा! पुण्य-पाप के भाव और भगवान आत्मा, दो के भिन्नपने का भान, भेदज्ञान होते ही, आहाहा! उनसे भिन्न भेदज्ञान होने से। तो फिर ऐसा नहीं कि तब शुभभाव का साथ लेकर वहाँ भेदज्ञान होता है। उससे तो भिन्न पड़ा है। आहाहा! कि शुभभाव जरा सहायक है। जिससे तो भिन्न पड़ा है, वह सहायक कैसे होगा ? आहाहा! समझ में आया ? अरे! अब ऐसा उपदेश। साधारण भी यहाँ तो और लोग सुननेवाले बहुत काल से। अनजाने में जाये तो क्या बात लगायी है, यह कहते हैं, भाई! तेरे घर की बात है। बापू! तेरा घर कोई अलग प्रकार का है। आहाहा! यह जीव ही कहा न ? आहाहा! आहाहा!

ऐसा आस्रवों का और जीव का... अर्थात् कि पहले आस्रव निबद्ध है, वे जीव नहीं; आस्रव अध्रुव है, ध्रुव से भिन्न है; आस्रव अनित्य है, नित्य से भिन्न है; आस्रव अशरण है, जीवस्वरूप शरण है; आस्रव दु:खरूप है, जीव सुखरूप है; आस्रव दु:खफलरूप है, यह आत्मा दु:खफलरूप नहीं, अर्थात् आनन्द फलरूप है। आहाहा! ऐसा आस्रवों का, इस प्रकार और जीव का भेदज्ञान होते ही, होते ही। समकाल बतलाना है न ? उसने यह पूछा है न ? समकाल किस प्रकार है, यह उसने पूछा है, उसका यह उत्तर है। आहाहा!

ऐसा आस्रवों का अर्थात् शुभभाव आदि का और जीव का भेदज्ञान होते ही **जिसमें कर्मविपाक शिथिल हो गया है।** आहाहा! कर्म का पाक फल शिथिल पड़ गया है, शिथिल पड़ गया है, अभाव हो गया है। शिथिल होने से अभाव हो गया है। आहाहा!

आहाहा! **जिसमें कर्मविपाक शिथिल हो गया है। ऐसा वह आत्मा,...** आहाहा! जिसके कर्म के फल अभावरूप हो गये हैं, ऐसा कहते हैं। अन्तिम आता है न नीचे से अन्तिम गाथा में। शिथिल। यह प्रवचनसार में आता है न? अभाव हो गया है। वास्तविक रीति तो ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान होते ही कर्म का पाक वहाँ है ही नहीं। भगवान पका अन्दर, आहाहा! उसका पाक आया वहाँ, आहाहा! यहाँ कर्म का पाक वहाँ है ही नहीं अब।

ऐसा वह आत्मा, जिसमें बादल समूह की रचना खण्डित हो गयी है... दृष्टान्त है। **बादल समूह की रचना खण्डित हो गयी है, ऐसे दिशा के विस्तार की भाँति...** दिशा खुलती जाती है न? आहा! बादल समूह की रचना खण्डित होने से **दिशा के विस्तार की भाँति अमर्याद जिसका विस्तार है,...** आहाहा! ऐसा जिसका अमर्याद विस्तार है, ऐसा फैलाव है भगवान आत्मा का, **ऐसा सहजरूप से विकास को प्राप्त चित्‌शक्ति से...** आहाहा! स्वाभाविकरूप से विकास को प्राप्त, शक्तियों में से प्रगट विकास प्राप्त, चित्शक्ति से **ज्यों-ज्यों विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है,...** आहाहा! ज्यों-ज्यों विज्ञानघन जम जाता है, ज्ञान ज्ञान में (जम जाता है)। पर से भिन्न पड़कर ज्ञान/आत्मा, आत्मा में जम जाता है, घट होता है, स्थिर होता है। आहाहा! **त्यों-त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है।** जितना यहाँ एकाग्र होता है, उतना आस्रवों से निवृत्त है और जितना आस्रवों से निवृत्त है, उतना यहाँ विज्ञानघन होता है। आहाहा! यह उसका समकाल है, यहाँ समकाल सिद्ध करना है न? आहाहा!

'स्वाभाविकरूप से विकास प्राप्त चित्‌शक्ति से' चित्‌शक्ति विकास पाती है, कहते हैं। ज्ञानानन्दस्वभाव विकास पाता है, खिलता जाता है। **ज्यों-ज्यों विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है,...** आहाहा! भले ज्ञान की पर्याय में विशेष ज्ञान न हो, परन्तु ज्ञान ज्ञान में स्थिर होता है, उसे ही यहाँ विज्ञानघन कहा है। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानस्वरूपी भगवान चित्‌शक्ति वह अपने विकास को पाती हुई घन होती जाती है, जो तरल था, अस्थिर था, जो आस्रव के कारण (ऐसा था), उससे जो भिन्न हुआ, इसलिए ज्ञानघन स्थिर होता जाता है, घन होता जाता है, जमता जाता है, आहाहा! स्वभाव होता जाता

है, **त्यों-त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है।** यहाँ से पहला ऐसे से लिया, देखा! यहाँ से लिया, आस्रवों से निवृत्त होता है, उसका भेदज्ञान बताया पहला। आहाहा! परन्तु सहजरूप से विकास को प्राप्त ज्ञानशक्ति द्वारा आत्मस्वभावशक्ति द्वारा, ज्यों-ज्यों विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है, त्यों-त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, यह नास्ति से बात की। आहाहा!

ज्ञानस्वभाव आस्रवों से भेद होकर जहाँ आस्रवों में रहित हुआ, वह ज्ञानशक्ति का विकास होने से ज्ञान अन्दर जमता है, स्थिर होता है, आहाहा! आनन्द जमता है। उतने प्रमाण में आस्रवों से निवृत्त है और ज्यों-ज्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, वापस ऐसे से लिया। वापस। पहले यहाँ से लिया था, आहाहा! और ज्यों-ज्यों... समकाल पूछा था न, उसने पूछा था न समकाल? आहाहा! **ज्यों-ज्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है।** समकाल है। **उतना विज्ञानघन स्वभाव होता है...** उतना विज्ञानघन। **जितना सम्यक्प्रकार से आस्रवों से निवृत्त होता है।** देखा? सम्यक्प्रकार से यथार्थरूप से आस्रवों से निवृत्त होता है। ऐसे भाषा में धार रखा था कि आस्रव ऐसे हैं—ऐसा नहीं। आहाहा! विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है, उतना विज्ञानघन स्वभाव हो, उतना सम्यक्प्रकार से आस्रवों से निवृत्त होता है, **और उतना आस्रवों से निवृत्त है,...** उतना आस्रवों से निवृत्त है, **जितना सम्यक्प्रकार से विज्ञानघन स्वभाव होता है। इस प्रकार ज्ञान और आस्रवों की निवृत्ति को समकालपना है।** काल बतलाना है। आहाहा! समझ में आया? इसका उत्तर आया। विशेष भावार्थ आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १५९, गाथा-७४-७५, श्लोक-४८, दिनांक ०३-०१-१९७९, बुधवार, पौष शुक्ल ५

समयसार, ७४ गाथा। प्रश्न था न कि आस्रवों से निवृत्ति और आत्मा के स्वभाव में एकाग्रता का समकाल है ? वह किस प्रकार—यह प्रश्न था।

आस्रवों का और आत्मा का जैसा ऊपर कहा है, तद्नुसार भेद जानते ही,... यह निबद्ध है, उपाधि है, अध्रुव है, अनित्य है, अशरण है, दुःख है, दुःखरूप है। और आत्मा उससे भिन्न ज्ञानस्वरूप है, शुद्ध चैतन्यघन है, सुखस्वरूप है, इस प्रकार दोनों के भेद जानकर, जानते ही, **भेद जानते ही जिस-जिस प्रकार से जितने-जितने अंश में...** जिस-जिस प्रकार से और जितने-जितने अंश में **आत्मा विज्ञानघन स्वभाव होता है,...** अर्थात् कि आत्मा वस्तुरूप से तो ज्ञानघन है ही, परन्तु पर्याय में वह घन अर्थात् निरन्तर एकाग्र होता है। विज्ञानघन स्वभाव पर्याय में होता है। राग से, आस्रव से भिन्न जानते ही विज्ञानघन स्वभाव वस्तु में एकाग्र होते ही वह विज्ञानघन पर्याय में होता है, उस-उस प्रकार से। **उस-उस प्रकार से उतने-उतने अंश में वह आस्रवों से निवृत्त होता है।** इसमें अस्ति से लिया पहला। विज्ञानघनस्वभाव, ज्ञायकस्वभाव कहो, विज्ञानघन कहो, सर्वज्ञस्वभाव (कहो)। वस्तु सर्वज्ञस्वभाव में एकाग्र होने से, विज्ञानघन में एकाग्र होने से जो विज्ञानघनपना पर्याय में प्रगट होता है, उस-उस प्रकार से आस्रवों से निवृत्त होता है। आहाहा!

जब सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव होता है... आहाहा! पर्याय में, हों! तब समस्त आस्रवों से निवृत्त होता है। इस प्रकार ज्ञान का और आस्रव-निवृत्ति का एक काल है-समकाल है। समझ में आया ? आहाहा!

मुमुक्षु : उस-उस प्रकार से और उस-उस काल में अर्थात् ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस-उस प्रकार से, जिस-जिस प्रकार से एकाग्र होता है, उस प्रकार ऐसा, उतने अंश में, ऐसा। जिस-जिस प्रकार से अर्थात् ज्ञान में जितने प्रकार से एकाग्र होता है, उतने अंश में, ऐसा। आहाहा! विज्ञानघन स्वभाव चैतन्य, उसमें पर्याय में जितने प्रकार से एकाग्र, ऐसा। पूर्ण प्रकार। जितने-जितने प्रकार से, उतने-उतने प्रकार से आसव्रों की निवृत्ति होती है, ऐसा। आहाहा!

आस्रवों के दूर होने का और संवर होने का वर्णन गुणस्थानों की परिपाटीरूप से तत्त्वार्थसूत्र की टीका आदि सिद्धान्त शास्त्रों में है, वहाँ से जानना। विशेष। **यहाँ तो सामान्य प्रकरण है, इसलिए सामान्यतया कहा है।**

'आत्मा विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है' इसका क्या अर्थ है? उसका उत्तर— 'आत्मा विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है अर्थात् आत्मा ज्ञान में स्थित होता जाता है।' ज्ञानस्वरूप ऐसा जो भगवान ज्ञानस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, ज्ञानस्वभाव, उसमें स्थिर होता जाता है। आहाहा! **जब तक मिथ्यात्व हो, तब तक ज्ञान को (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अधिक हो तो भी)...** नौ पूर्व और ग्यारह अंग पढ़ा हो, परन्तु जहाँ ज्ञान स्वभाव में एकाग्रता नहीं और वह ज्ञान का उघाड़ इतना हो तो भी वह विज्ञानघन नहीं कहलाता। **अज्ञान कहा जाता है।** आहाहा! जब तक मिथ्यात्व अर्थात् ज्ञान की पर्याय परलक्ष्यी और राग में एकत्वबुद्धि जब तक है, तब तक उसे ज्ञान का उघाड़ भले चाहे जितना हो, आहाहा! परन्तु अज्ञान कहा जाता है। समझ में आया?

विज्ञानघन स्वभाव त्रिकाली, उसका जब तक अज्ञान और मिथ्यात्व है, अर्थात् परसम्बन्धी ज्ञान और राग में एकत्व है, तब तक भले उस ज्ञान का क्षयोपशम बहुत हो गया हो, तथापि वह अज्ञान है। आहाहा! **और मिथ्यात्व के जाने के बाद उसे (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प भी हो तो भी)...** देखा! आहाहा! विकास स्वसन्मुख का क्षयोपशम थोड़ा हो **तो भी विज्ञान कहा जाता है।** आत्मा ज्ञान-ज्ञानस्वभाव, उसमें एकाग्र होता है, मिथ्यात्व जाने के बाद, इसलिए उस एकाग्रता को विज्ञान कहा जाता है। आहाहा! देखो, यह विज्ञान है न अभी यह, वह विज्ञान नहीं, ऐसा कहते हैं। विज्ञान कहा जाता है। आहाहा!

ज्यों-ज्यों वह ज्ञान (अर्थात्) विज्ञान स्थिर-घन होता जाता है... ज्ञानस्वभाव ज्ञायक सर्वज्ञस्वभाव ऐसा आत्मा, वह सर्वज्ञस्वभाव में जितना घट्ट, स्थिर और जमता जाता है, वैसे-वैसे आस्रवों से निवृत्त-छूट जाता है। **और ज्यों-ज्यों आस्रवों से निवृत्ति होती जाती है, त्यों-त्यों ज्ञान (विज्ञान)...** ज्ञान एकाग्रता, स्वरूप में एकाग्रता जमती जाती है, घटन होता जाता है, स्थिर होता जाता है। आहाहा! **आत्मा विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है।** ऐसी बात है।

जो वस्तु है भगवान आत्मा, वह तो विज्ञानघन अर्थात् पिण्ड निरन्तर विज्ञानस्वरूप ही है। आहाहा! उसमें उसका जिसे ज्ञान नहीं और मिथ्यात्व है, वह मिथ्यात्व के प्रसंग में चाहे जितना उघाड़ ज्ञान का हो तो भी उसे अज्ञान कहा जाता है। और भगवान विज्ञानघन स्वरूप है, उसमें एकाग्र होता जाता है, भले उसे ज्ञान का उघाड़ थोड़ा हो तो भी उसे विज्ञानघन कहा जाता है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य तथा आगे के कथन का सूचक काव्य कहते हैं।

कलश–४८

अब इसी अर्थ का कलशरूप तथा आगे के कथन का सूचक काव्य कहते हैं:–

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां,
स्वं विज्ञान–घनस्वभाव–मभया–दास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृ–कर्म–कलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं,
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्।।४८।।

श्लोकार्थ : [इति एवं] इस प्रकार पूर्वकथित विधान से, [सम्प्रति] अधुना (तत्काल) ही [परद्रव्यात्] परद्रव्य से [परां निवृत्तिं विरचय्य] उत्कृष्ट (सर्व प्रकार से) निवृत्ति करके, [विज्ञानघनस्वभावम् परम् स्वं अभयात् आस्तिघ्नुवानः] विज्ञानघन–स्वभावरूप केवल अपने पर निर्भयता से आरूढ़ होता हुआ अर्थात् अपना आश्रय करता हुआ (अथवा अपने को निःशंकतया आस्तिक्यभाव से स्थिर करता हुआ), [अज्ञानोत्थित–कर्तृकर्मकलनात् क्लेशात्] अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास से उत्पन्न क्लेशों से [निवृत्तः] निवृत्त हुआ, [स्वयं ज्ञानीभूतः] स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, [जगतः साक्षी] जगत का साक्षी (ज्ञातादृष्टा), [पुराणः पुमान्] पुराण पुरुष (आत्मा) [इतः चकास्ति] अब यहाँ से प्रकाशमान होता है।।४८।।

कलश - ४८ पर प्रवचन

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां,
स्वं विज्ञान-घनस्वभाव-मभया-दास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृ-कर्म-कलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं,
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्।।४८।।

आहाहा! एक-एक पद और एक-एक गाथा अलौकिक है। **इस प्रकार पूर्वकथित विधान से, अधुना (तत्काल) ही, परद्रव्य से उत्कृष्ट (सर्व प्रकार से) निवृत्ति करके,...** परद्रव्य अर्थात् रागादि। स्वद्रव्यस्वरूप भगवान विज्ञानघन, वह परद्रव्यस्वरूप जो आस्रव विकल्पादि पुण्य-पाप के, उनसे उत्कृष्ट (अर्थात्) सर्व प्रकार से निवृत्ति करके **'विज्ञानघनस्वभावम् परम स्वं अभयात् आस्तिध्नुवानः' विज्ञानघन स्वभावरूप केवल अपने पर निर्भयता से...** आहाहा! विज्ञानघन में पर्याय को झुकाकर वहाँ स्थिर हुआ है, कहते हैं। वह **निर्भयता से आरूढ़ होता हुआ (अर्थात्) अपना आश्रय करता हुआ,...** आहाहा! ज्ञायक सर्वज्ञस्वभावी भगवान का आश्रय करता हुआ। **(अथवा अपने को निःशंकतया आस्तिक्य भाव में स्थिर करता हुआ)...** पूर्ण सत्ता का अस्तित्व जो पूर्ण है, उतना आस्तिकत्व में आरूढ़ होता हुआ, ऐसे आस्तिक्यत्व में स्थिर होता हुआ। पूरा जो अस्तित्व है, पूरा जो अस्तित्व ज्ञानधन पूर्ण है। आस्तिक्यभाव से स्थिर करता हुआ अर्थात् निःशंकरूप से अपना अस्तित्व इतना है, ऐसा मानकर अन्दर स्थिर होता है। आहाहा! ऐसी बात है।

'अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशात्' अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास से उत्पन्न क्लेशों से... उससे निवृत्त होता हुआ। पण्डित जयचन्दजी ने जरा भेद से कथन किया है। क्या भेद? अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति, ऐसा। अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति। और टीकाकार ने अज्ञानस्वरूप कर्ताकर्म की प्रवृत्ति (लिया है)। समझ में आया? अज्ञानस्वरूप ही कर्ताकर्म की प्रवृत्ति। अज्ञान से उत्पन्न हुई, ऐसा भेद व्यवहार है। अज्ञान से, अज्ञानस्वरूप ही कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। आहाहा! यह राग का कण शुभ आदि हो, उसका कर्ताकर्मपना अज्ञान से है, अज्ञान से उत्पन्न हुआ है, वह अज्ञानस्वरूप ही है। अज्ञान से उत्पन्न हुआ है, इसकी अपेक्षा

अज्ञानस्वरूप ही वह है। क्या कहा यह ? राग का कर्ता और राग उसका कार्य, ऐसा भेद भी नहीं, वह अज्ञानस्वरूप ही कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। ज्ञानस्वरूप ही अकर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। आहाहा! क्या कहा ?

'अज्ञान से उत्पन्न' यह जरा भेद किया। बाकी 'अज्ञानस्वरूप कर्तृकर्मकलनात क्लेशात्' अज्ञानस्वरूप राग का करना, वह अज्ञानस्वरूप ऐसा जो क्लेश, आहाहा! उससे निवृत्त हुआ। अपना विज्ञानघन स्वभाव है, उसका अभाव अज्ञानस्वरूप हुआ, वह कर्ताकर्म की प्रवृत्ति राग, कर्ता और कर्म, वह अज्ञानस्वरूप ही है। और ज्ञानस्वरूप, उससे निवृत्ति कर स्थिर होता है, वह ज्ञानस्वरूप है। समझ में आया ? आहाहा!

भगवान आत्मा... ज्ञायकस्वभाव कहो, विघानघन कहो, सर्वज्ञस्वभावी कहो। उसके अज्ञान से अर्थात् मिथ्यात्व से अज्ञानस्वरूप उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति, उससे अज्ञानस्वरूप ही कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। राग का कार्य मेरा—शुभ हो दया, दान, व्रतादि का, आहाहा! उसका कर्ता और वह कार्य अज्ञानस्वरूप ही है और भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप होता हुआ उस अज्ञानस्वरूप कर्ताकर्म से निवृत्त होता है। समझ में आया ? आहाहा! विज्ञानघन स्वभाव, उस विघानघन में ज्ञानस्वरूप होता हुआ कर्ताकर्म के क्लेश से निवृत्त होता है और अज्ञानस्वरूप कर्ताकर्म के क्लेश में, उसमें प्रवर्तता है। समझ में आया ?

निवृत्त हुआ (स्वयं ज्ञानीभूतः) स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, ऐसा। आहाहा! निवृत्त हुआ है परन्तु आप स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, यहाँ रागादिभाव से अज्ञानस्वरूप कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से निवृत्त हुआ है। निवृत्त हुआ है अर्थात् स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, ऐसा। आहाहा! निवृत्त हुआ, यह अपेक्षा से कथन किया। परन्तु आप ही स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, निवृत्त हुआ है, इसलिए हुआ न, (ऐसा नहीं) परन्तु स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ। समझ में आया ? आहाहा! ऐसा स्वरूप है। आहाहा!

जो अज्ञानस्वरूप कर्ताकर्म की प्रवृत्ति थी, उससे निवृत्त हुआ स्वयं ज्ञानस्वरूप की प्रवृत्ति होती है। स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ। आहाहा! स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ। स्वयं से कर्ताकर्मपना ज्ञान का उत्पन्न हुआ। आहाहा! **स्वयं ज्ञानभूतः**, आहाहा! **स्वयं ही ज्ञानस्वरूप पर्याय में,...** हों! ऐसा है। भाषा तो सादी परन्तु वस्तु तो उसका वाच्य जो है,

आहाहा! जगत का साक्षी होता है। यहाँ से अब जगत का साक्षी से बात लेंगे (गाथा) ७५ से। आहाहा! ज्ञानीभूतः ज्ञानस्वरूप ऐसा। होता हुआ। यहाँ से अब **जगत का...** अर्थात् रागादिभाव का **साक्षी...** होता है। धर्मी हुआ, सम्यग्दृष्टि हुआ, अज्ञानस्वरूप कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से निवृत्त हुआ। ज्ञानस्वरूप-ज्ञानीभूत कहा है न? **ज्ञानीभूतः विज्ञानघनस्वरूप होता हुआ पर्याय में आनन्द और ज्ञानस्वरूप होता हुआ।** यहाँ से रागादिभाव का साक्षी होता है। आहाहा! ऐसी बात है।

साक्षी (ज्ञातादृष्टा) है। ज्ञातादृष्टा होता है। आहा! राग है, हो, परन्तु ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञातादृष्टा होता है, साक्षी होता है। आहाहा! वह राग मेरेपने अज्ञान से माना था, वह छूटने से प्रभु ज्ञानस्वरूप होता हुआ सारे जगत का-राग से लेकर सारी (पूरी) चीज़ का अरे देव-गुरु-शास्त्र का भी साक्षी होता है। आहाहा! समझ में आया?

सूक्ष्म बात पड़े भाई! परन्तु मार्ग दूसरा नहीं है। वस्तु की स्थिति ही-मर्यादा ही ऐसी है। आहाहा! वहाँ दूसरे प्रकार से किस प्रकार इसे हल्का करना? आहा! **पुराणः पुमान्** अनादि का भगवान, आहाहा! अनादि का विज्ञानघन प्रभु। वह तो पुराना है, कहते हैं। वस्तु पुरानी है-वह तो अनादि की है। आहाहा! **पुराण पुरुष आत्मा अब यहाँ से प्रकाशमान होता है।** जानने-देखने में अब आता है। आहाहा! चक्रवर्ती का राज्य हो समकिती को, आहाहा! तथापि वहाँ कहीं से साक्षी नहीं होता।

ज्ञानीभूत होता हुआ अर्थात् ज्ञानस्वरूप पर्याय में होता हुआ, यहाँ से अब साक्षी रहता है। आहाहा! चाहे जितना भाव हो और चाहे जितना संयोग हो, परन्तु उसका वह धर्मी-ज्ञानी साक्षी रहता है। कहो, चिमनभाई! ऐसा है, बापू। आहा! **यहाँ से अब प्रकाशमान होता है। इतः चकास्ति इतः**—यहाँ से अर्थात् अज्ञानस्वरूप कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से निवृत्त होकर ज्ञानस्वरूप भगवान में एकाग्र होकर ज्ञानी हुआ, ज्ञातादृष्टा के परिणाम प्रगट किये, वहाँ से यह जगत का साक्षी होता है। आहाहा! कोई भी रागादि या पर का वह कर्ता नहीं होता।

गाथा–७५

कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत् ह्न

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।७५।।

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामम्।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी।।७५।।

य: खलु मोहरागद्वेषसुखदु:खादिरूपेणान्तरुत्प्लवमानं कर्मण: परिणामं स्पर्श–रसगन्धवर्णशब्दबन्धसन्स्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोकर्मण: परिणामं च समस्तमपि परमार्थत: पुद्गलपरिणामपुद्गलयोरेव घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावा–त्पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा स्वतन्त्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्गलपरिणामात्म–नोर्घटकुम्भकारयोरिव व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा, किन्तु परमार्थत: पुद्गलपरिणामज्ञानपुद्गलयोर्घटकुम्भकारवद्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वा–सिद्धावात्मपरिणामात्मनोर्घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतन्त्र–व्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तमात्मानं जानाति सोऽत्यन्त–विविक्तज्ञानीभूतो ज्ञानी स्यात्।

न चैवं ज्ञातु: पुद्गलपरिणामो व्याप्य: पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसम्बन्धव्यवहारमात्रे सत्यपि पुद्गल–परिणामनिमित्तकस्य ज्ञानस्यैव ज्ञातुर्व्याप्यत्वात्।।७५।।

अब पूछते हैं कि–आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हो गया, यह कैसे पहिचाना जाता है? उसका चिह्न (लक्षण) कहिये। उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:–

जो कर्म का परिणाम, अरु नोकर्म का परिणाम है।
सो नहिं करे जो, मात्र जाणे, वो हि आत्मा ज्ञानि है।।७५।।

गाथार्थ : [य:] जो [आत्मा] आत्मा [एनम्] इस [कर्मण: परिणामं च] कर्म के

परिणाम को [तथा एव च] तथा [नोकर्मणः परिणामं] नोकर्म के परिणाम को [न करोति] नहीं करता किन्तु [जानाति] जानता है, [सः] वह [ज्ञानी] ज्ञानी [भवति] है।

टीका : निश्चय से मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदिरूप से अन्तरंग में उत्पन्न होता हुआ जो कर्म का परिणाम, और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बन्ध, संस्थान, स्थूलता, सूक्ष्मता आदिरूप से बाहर उत्पन्न होता हुआ जो नोकर्म का परिणाम, वह सब ही पुद्गलपरिणाम हैं। परमार्थ से, जैसे घड़े के और मिट्टी के व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना हैं; उसी प्रकार पुद्गलपरिणाम के और पुद्गल के ही व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना है। पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक है, इसलिए पुद्गलपरिणाम का कर्ता है और पुद्गलपरिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने के कारण कर्म है। इसलिए पुद्गलद्रव्य के द्वारा कर्ता होकर कर्मरूप से किया जानेवाला जो समस्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलपरिणाम है, उसे जो आत्मा, पुद्गलपरिणाम को और आत्मा को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से, परमार्थ से करता नहीं है, परन्तु (मात्र) पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को (आत्मा के) कर्मरूप से करता हुआ अपने आत्मा को जानता है, वह आत्मा (कर्म-नोकर्म से) अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है।

(पुद्गलपरिणाम का ज्ञान आत्मा का कर्म किस प्रकार है? सो समझाते हैं:-) परमार्थ से पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से कर्ता-कर्मपने की असिद्धि है और जैसे घड़े और मिट्टी के व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है; उसी प्रकार आत्मपरिणाम और आत्मा के व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है। आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से आत्मपरिणाम का अर्थात् पुद्गलपरिणाम के ज्ञान का कर्ता है और पुद्गलपरिणाम का ज्ञान उस व्यापक से स्वयं व्याप्य होने से कर्म है। और इस प्रकार (ज्ञाता पुद्गलपरिणाम का ज्ञान करता है इसलिए) ऐसा भी नहीं है कि पुद्गलपरिणाम ज्ञाता का व्याप्य है; क्योंकि पुद्गल और आत्मा के ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का व्यवहार मात्र होने पर भी पुद्गलपरिणाम जिसका निमित्त है, ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है। (इसलिए वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है।)

गाथा - ७५ पर प्रवचन

अब पूछते हैं कि देखा। शिष्य की ऐसी शैली ली है। शिष्य ने ऐसा सुना तब पूछता है। **आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हो गया। यह कैसे पहिचाना जाता है ?** ज्ञात किस प्रकार हो, उसका लक्षण क्या ? उसका चिह्न क्या ? उसका निशान क्या ? उसका लक्षण, निशान, चिह्न क्या ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। उसे उत्तर दिया जाता है।

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।७५।।

जो कर्म का परिणाम, अरु नोकर्म का परिणाम है।
सो नहिं करे जो, मात्र जाणे, वो हि आत्मा ज्ञानि है।।७५।।

आहाहा! यह उन ज्ञानसागर ने भाई! ऐसा लिया है कि निर्विकल्प वीतराग समाधि हो, तब ज्ञानी, उससे हटे तो अज्ञानी, ऐसा उन्होंने लिखा है। यहाँ तो यहाँ से है, पाठ क्या है ? यहाँ से बोलते हैं। भले पण्डित जयचन्दजी ने दूसरा अर्थ किया है कि समकित दृष्टि, वह ज्ञानी। परन्तु यह पाठ क्या कहता है ? आहाहा! यह ऐसा कहता है कि निर्विकल्प वीतराग समाधि में हो तब ज्ञानी, उससे हट गया तो फिर उसे अज्ञानी कहा जाता है। वह बारहवें गुणस्थान में अज्ञान लिया है न। परन्तु वह दूसरा है। अज्ञान अर्थात् अल्पज्ञान और यहाँ अज्ञान वह विपरीत ज्ञान। विपरीत से निवृत्त हुआ है। आहाहा! चौथे गुणस्थान से जगत का साक्षी होता है। आहाहा!

टीका :-निश्चय से मोह... आठ कर्म जड़ हैं, ऐसा लेता है, सनावदवाले कहते हैं, प्रेमचन्द है न एक।

यहाँ तो निश्चय से अन्दर जो मोह के परिणाम हों...

मुमुक्षु : आत्मा के परिणाम।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह वह कहता है जड़ कर्म लेना, जड़ के लेना। अरे बापू! कहा, भाई!

मुमुक्षु : भावकर्म लेना।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! अन्दर में होता जो मोह। मिथ्यात्व नहीं लेना, यहाँ परसन्मुख होता जो सावधानी का भाव लेना। **राग, द्वेष, सुख, दुःख आदिरूप से अन्तरंग में उत्पन्न होता हुआ...** यहाँ मोह अर्थात् मिथ्यात्व नहीं लेना। परसन्मुख की जरा सावधानी-अस्थिरता होती है, उसका ज्ञानी साक्षी है। आहाहा!

निश्चय से मोह... अर्थात् राग, परसन्मुख के परिणाम उसका विस्तार कि **राग-द्वेष, सुख-दुःख आदिरूप से अन्तरंग में उत्पन्न होता हुआ जो कर्म का परिणाम...** यह कहते हैं कि कर्म अर्थात् जड़ के परिणाम यहाँ लेना। ऐसा नहीं है। कर्म का परिणाम है, वह स्वयं जड़ है। आहाहा! लोग कुछ न कुछ अपनी कल्पना से अर्थ करे, वहाँ वस्तुस्थिति कुछ रह जाती है। आहाहा!

मुमुक्षु : यहाँ भावकर्म और नोकर्म की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भावकर्म भी वह जड़-जड़ लेना। यहाँ अन्तरंग है न, वह कर्म का परिणाम है न, और नोकर्म का शरीर आदि, ऐसा। आहाहा!

मुमुक्षु : मेरा तो ऐसा कहना है कि भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म तो तीन में से दो ही क्यों आये, भावकर्म और नोकर्म ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नोकर्म फिर आता है परन्तु आ गया न सब—आ गया उसमें आ गया। द्रव्यकर्म नोकर्म और उसका परिणाम सब कर्म में जाता है। वह कर्म का परिणाम है, वह जड़ का परिणाम है, वह जड़ में जाता है। अर्थात् कर्म भी आ गया और यह भी आ गया है। आहाहा! आहाहा!

भगवान आत्मा! वह यहाँ से जगत का साक्षी होता है, ऐसा कहना है न ? तो अब कर्म, नोकर्म और भावकर्म तीनों इसमें आ गये। कर्म है और कर्म के निमित्त से होते मोह आदि के परिणाम हैं, उन दोनों का यह साक्षी है। आहाहा! सूक्ष्म है, भाई! आहाहा! अन्तरंग मार्ग अलौकिक है। आहाहा! उसमें यह समयसार! आहाहा! यह बात हुई थी वहाँ सनावद में। आया था वहाँ। इसे कर्म लेना, जड़कर्म लेना, ऐसा कि अजीव लेना अकेला। जीव के परिणाम नहीं लेना। यहाँ तो वे जीव के परिणाम हैं, वे भी कर्म के ही परिणाम हैं। जीव के-आत्मा के नहीं। आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप है, उसके यह परिणाम नहीं। आहाहा!

७५ गाथा ली थी न, उसका अर्थ किया था वहाँ। यह वहाँ हुई थी-सनावद में बात हुई थी! अरे! कुछ न कुछ लोग अपनी कल्पना से समयसार को भी बदल डालते हैं, कहते हैं। आहाहा! आहाहा! समयसार अर्थात् तो बापू! क्या चीज़ है! आहाहा!

यहाँ तो भगवान आत्मा; अज्ञान से उत्पन्न हुआ और अज्ञानस्वरूप जो राग आदि है, उससे ज्ञानस्वरूप होता हुआ, वस्तु तो वस्तु ज्ञानस्वरूप है। परन्तु ज्ञानस्वरूप पर्याय में होता हुआ, उससे निवृत्त होता है और स्वयं अपने ज्ञानभूत ज्ञानस्वरूप पर्याय में होता है, ऐसा कहना है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। आहाहा! लो, वीरचन्दभाई! ऐसा अफ्रीका में मिले, ऐसा वहाँ कही नहीं है। कल कहते थे।

मुमुक्षु : भाग्यशाली को मिले...

पूज्य गुरुदेवश्री : भाग्यशाली को मिले, बात सच्ची है। आहाहा! वह बारोट है न, वह व्यक्ति को लेकर आवे न, उन सबको वह भाग्यशाली कहे। हाँ, वह। व्याख्यान में आज आया तब वह आज ही कुछ कहे, पहले आये तब कहे भाग्यशाली है। यह भाग्यशाली ने संघ निकाला था न, ऐसा कहे, वह तो ठीक कहा, परन्तु यह बात ऐसी चीज़ सुने, वह भाग्यशाली है। वह संघ निकाले और पाँच-पचास हजार, लाख, दो लाख खर्च करे और बारोट को कुछ दे, वे लोग (तो), कहते हैं भाग्यशाली है। आहाहा!

भगवान की धारा-सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा हुआ यह तत्त्व है, भाई! वह कर्म का परिणाम है, वह भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों उसमें आ गये। **और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बन्ध....** शब्द, देखा? शब्द आया। **बन्ध...** जड़, **संस्थान, स्थूलता और सूक्ष्मता आदिरूप से बाहर में उत्पन्न होता हुआ...** आहाहा! **जो नोकर्म का परिणाम, वह सब ही पुद्गल परिणाम है।** यहाँ विवाद। विकार है, वह सब पुद्गलपरिणाम है—ऐसा कहना है। आहाहा!

भगवान विज्ञानघन के यह परिणाम कहाँ है? यह अज्ञानरूप से माना था, तब तक इसके थे। माने थे वे, तथापि वह मान्यता, वह भी कहीं स्वरूप में नहीं है। आहाहा! वह तो मान्यता खड़ी की थी। आहाहा! उस अज्ञानपने का स्वरूप विज्ञानघन भगवान में ज्ञानस्वभाव को पकड़ा। अनादि से राग को पकड़ा था, आहाहा! इससे भगवान ज्ञानस्वभाव रह गया था, उस ज्ञानस्वभाव को पकड़ा और राग स्वभाव को छोड़ दिया। आहाहा! ऐसा

मार्ग है, बापू! यह वाद-विवाद से कुछ पार आवे, ऐसा नहीं है।

११वीं गाथा में कहा था न वह? जिनवाणी में भी निमित्त को यह हस्तावलम्ब जानकर, बहुत कहा है सब, परन्तु उसका फल संसार है। आहाहा! यह बात है न! जिनवाणी में हस्तावलम्ब जानकर, आहाहा! परद्रव्य जानकर करना-व्रत पालना और अतिचार टालना और ऐसी बातें आवे न सब, ऐसा हिलना और देखकर चलना और विचारकर बोलना ऐसा—कथन जिनवाणी में आवे, परन्तु उसका फल संसार है। आहाहा! **वह सब ही पुद्गल परिणाम है।** यह दया, दान, व्रत परिणाम आदि आवे परन्तु वे सब पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा!

यहाँ तो कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का निषेध करना है न, अज्ञानपने का, कि यह राग मेरा कार्य है और मैं इसका कर्ता हूँ, यह तो अज्ञानभाव है। स्वरूप है ज्ञानस्वरूप भगवान—ज्ञान, वह क्या करे? वह तो जानने-देखने का करे, यह अभेद से कथन है। राग को करे, वह आत्मा नहीं, आहाहा! जड़ को करे वह चैतन्य कहाँ रहा? राग तो अजीव है, जीव नहीं। आहाहा! परन्तु लोगों को कठिन पड़े न?

परमार्थ से, जैसे घड़े के और मिट्टी के... देखा? **घड़े के और मिट्टी के ही व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होने से...** आहाहा! मिट्टी व्यापक है और घड़ा उसका व्याप्य है। मिट्टी कर्ता है, घड़ा उसका कार्य है। ऐसा रे! आहाहा! कुम्हार का कार्य नहीं। घड़े को और मिट्टी को... व्याप्य घड़ा है न, वह व्याप्य है, मिट्टी व्यापक है। आहाहा! **व्याप्य-व्यापक भाव का (व्याप्य-व्यापकपने का) सद्भाव होने से...** मिट्टी वह कर्ता है, घड़ा वह उसका कार्य है। व्यापक मिट्टी, वह कर्ता है, आहाहा! और घड़ा उसका कार्य है। अभी इतना सिद्ध करना है न? नहीं तो घड़े की पर्याय षट्कारकरूप से परिणमती है। आहाहा! कठिन बात, बापू! परन्तु यहाँ समझाना है, उसे तो पर से भिन्न करके, इसलिए इस प्रकार से कहा है। बाकी मिट्टी है, वह घड़े की पर्याय को करे, उस पर्याय को... भाई! प्रवचनसार में लिया है न, अशुद्धनय मिट्टी का? मिट्टी को शुद्धनय मिट्टी का। जितनी पर्याय होती है, वह अशुद्ध कही जाती है, व्यवहारनय हुआ न वह तो। आहाहा! ऐसे द्रव्य है, इतनी वस्तु, वह शुद्ध, उसकी पर्याय के भेद डालना, वह अशुद्ध है। भले निर्मल पर्याय के भेद करो, आहाहा! व्यवहार है न वह; मेचक, मेचक कहा है न? १६वीं गाथा, मेचक-मैल अर्थात्

कहीं राग है उसे ऐसा, ऐसा कहा नहीं। परन्तु वह भेद है, वही मेचक मैल है, भेद कहते हैं। इस प्रकार कथन करने का व्यवहार है, आता है न अर्थ में, कलश टीका में आता है। आहाहा! परमार्थ से व्यवहार भले कर्ता कुम्हार और घड़ा कार्य कहने में आवे परन्तु वह कहीं वस्तु नहीं है। आहाहा!

परमार्थ से जैसे घड़े के और मिट्टी के ही... घड़े के-मिट्टी के ही। आहाहा! वह मिट्टी व्यापक है, घड़ा उसका व्याप्य-कार्य है। मिट्टी कर्ता है और घड़ा उसका कार्य है। यहाँ इतना पर से भिन्न करना है न इतना? आहाहा! ओहोहो! समयसार के एक-एक श्लोक (की) गम्भीरता, एक-एक टीका! ऐई! यह, बापू! कुछ... आहाहा!

मुमुक्षु : परमार्थ से, ऐसा क्यों कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, वह व्यवहार कहलाता है। वह मिट्टी है, वह खोटा ऐसा कहा, कह दिया बात आ गयी न! व्यवहार से कहा जाता है। जहाँ घड़ा कार्य और कुम्हार कर्ता, यह नहीं, यह तो कथनमात्र है, वह तो परमार्थ है।

मुमुक्षु : मिट्टी ने किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह सत्य बात कि मिट्टी ने घड़ा किया, यह सत्य है। घड़ा कुम्हार ने किया, यह बात असत्य है। आहाहा!

यह रोटी आटे ने बनायी, यह बराबर है परन्तु रोटी स्त्री ने बनायी, तवे ने बनायी, अग्नि ने बनायी, यह असत्य है। इस शरीर के परिणाम जो ऐसे होते हैं, वे शरीर के परमाणुओं ने किये हैं, यह कर्ताकर्म सही, परन्तु वे परिणाम जीव ने किये, ऐसा व्यवहार से कहने में आवे, वह कथन झूठा है। आहाहा! भाषा की पर्याय जीव बोलता है, ऐसा कहना, वह तो कथनमात्र है। आहाहा! परन्तु भाषा की पर्याय का कार्य उस भाषा की वर्गणा वह उसका कर्ता है, वह भाषा की पर्याय उसका कार्य है, यह परमार्थ है। आहाहा! मैंने टीका नहीं की, हों! आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं), मैंने टीका नहीं की, हों! आहाहा! मैं तो साक्षी हूँ। मैं तो ज्ञानस्वरूप में गुप्त हूँ। आता है न वहाँ? आहाहा! प्रभु गुप्त है, वह टीका करने में कहाँ जाये? आहाहा!

मुमुक्षु : जीव उसमें व्यापे तो कर सके?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यापे परन्तु व्याप्त ही नहीं न, फिर करे किस प्रकार ? व्यापक तो द्रव्य है और व्याप्य तो उसकी पर्याय / कार्य है। उसके व्यापक में दूसरा व्यापक आवे कहाँ से वहाँ ? आहााह ! परमार्थ से जैसे घड़े के और मिट्टी के, दृष्टान्त भी कैसा दिया है ! यह अमृतचन्द्राचार्य ने दिया है, वैसे तो .... परन्तु वह न करे, यह उसमें दृष्टान्त कहकर सिद्ध किया। वैसे घड़े को और मिट्टी को ही, मिट्टी को ही, घटमृतिका यो इव, है न ? **'घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभाव सद्भावात्पुद्गलद्रव्येण कर्ता स्वतन्त्रव्यापकेन स्वयं'** अब, यह कहते हैं। **उसी प्रकार पुद्गल परिणाम के...** वह कर्म का परिणाम आदि सब कहा था न पुद्गल परिणाम ? राग आदि को पुद्गल के परिणाम, शरीर को पुद्गल के परिणाम। **उसी प्रकार पुद्गल परिणाम के और पुद्गल के ही...** आहाहा ! **व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना है।** आहाहा !

यह राग पुद्गलपरिणाम और इसका पुद्गल कर्ता है। तब यह डाले कि, देखो उपादान आत्मा से होता है, निमित्त से होता नहीं यह तुम्हारा मिथ्या पड़ता है, (ऐसा वे) कहते हैं। यह दूसरी बात है, बापू ! यह बात तो ऐसी है, यह बात तो सिद्ध रखकर है। जिस समय में जो परिणाम जिस द्रव्य के हों, उस समय में वे षट्कारकरूप से परिणमकर होते हैं। यह बात सिद्ध रखकर, अब भिन्न करने की बात है। यहाँ तो स्वभाव की दृष्टि बतलानी है न ? वह बात तो कही कि छहों द्रव्य का ज्ञेय है, वह दर्शन का अधिकार है प्रवचनसार में। तथापि उस-उस ज्ञेय के, उस समय के उस समय के वे ही परिणाम क्रमबद्ध में होनेवाले वे होते हैं। आहाहा ! भले निमित्त हो, परन्तु उस-उस समय के वे परिणाम होते हैं, उस बात को रखकर, अब यहाँ उसे पुद्गल कर्ता और राग आदि परिणाम उसका कार्य बतलाना है। यहाँ स्वभाव की दृष्टि सिद्ध करनी है। आहाहा ! वहाँ तो ज्ञेयपना जगत के पदार्थ ऐसे हैं, ऐसा सिद्ध किया है। आहाहा !

अब उस पदार्थ में भी वास्तविकस्वरूप उसका जो है चैतन्य का, वह विज्ञानघन है। वह विज्ञानघन व्यापक और विज्ञानघन की पर्याय उसका व्याप्य/ कार्य सही, आहाहा ! परन्तु राग-द्वेष के परिणाम, दया-दान के परिणाम, आहाहा ! अरे ! भगवान की भक्ति के, स्तुति के परिणाम, आहाहा ! वे **पुद्गल परिणाम के और पुद्गल के ही व्याप्य-व्यापक का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना है।** वे पुद्गल परिणाम जो राग-भक्ति, भगवान की

स्तुति का राग, आहाहा! उस पुद्गल परिणाम का पुद्गल कर्ता है। पुद्गल व्यापक होकर वह व्याप्य हुआ है। आहाहा!

मुमुक्षु : पुद्गल अर्थात् द्रव्यकर्म।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्यकर्म जड़। आहाहा! इस शरीर का नोकर्म ये दोनों, दोनों है न यहाँ तो? दोनों को पुद्गल परिणाम कहा न? आहाहा!

मुमुक्षु : वह विकार सब पुद्गल परिणाम ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह विकार पुद्गल ही है। अजीव पुद्गल के परिणाम यहाँ तो गिने हैं, परन्तु आगे पुद्गल कहेंगे। इसी में और इसी में आगे कहेंगे। आहाहा! समझ में आया? यह कहेंगे, देखो! ज्ञान और पुद्गल को घट-कुम्हार की भाँति। वहाँ पुद्गल कह दिया। यहाँ परिणाम लिया है, वहाँ फिर उसे पुद्गल कहेंगे। आहाहा!

पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक है इसलिए... आहाहा! यहाँ राग का कर्ता जहाँ कहा ६२ गाथा, पंचास्तिकाय। वहाँ तो अस्तिकाय सिद्ध करना है न? तो कहते हैं कि राग के परिणाम और द्वेष के परिणाम विकारी परिणाम वे स्वतन्त्र षट्कारक से जीव की पर्याय में होते हैं। कर्म भी कर्ता नहीं और उसका द्रव्य-गुण भी कर्ता नहीं। आहाहा! यह चर्चा तब २०१३ के वर्ष वर्णीजी के साथ हुई थी, २२ वर्ष हुए। आहाहा! कठिन काम! यह विकारी परिणाम, उसका कर्ता कर्म भी नहीं और उसका कर्ता द्रव्य-गुण भी नहीं। यहाँ कहते हैं कि विकारी परिणाम का कर्ता पुद्गल है। वह स्वभाव की दृष्टि यहाँ बतलानी है। पर का कर्ताकर्मपना-विकार का छूटकर ज्ञान हुआ—वह स्वरूप जो है, वह विज्ञानघन है, उसका ज्ञान हुआ, वहाँ उसके परिणाम विकारी उसका कार्य वह है नहीं, इसलिए विकारी परिणाम का कर्तापना पुद्गल का डालकर और वह पुद्गल का कार्य है, स्वतन्त्ररूप से पुद्गल करता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

कर्ता उसे कहते हैं कि स्वतन्त्ररूप से करे। आहाहा! तब राग जो दया, दान का हो, व्रत का, भक्ति, भगवान की स्तुति का (हो)। आहाहा! ऐई! वह राग पुद्गल स्वतन्त्र होकर राग के परिणाम को करता है। आहाहा!

मुमुक्षु : जीव नहीं करता, ऐसा बतलाना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव, जीव स्वभाव नहीं, ऐसा बतलाना है। आहाहा! ऐसी बात लोगों को कठिन पड़ती है। लोग फिर वाद-विवाद, झगड़ा खड़ा करते हैं। बापू! जैसा है, वैसा है, भाई! आहाहा!

यहाँ तो भगवान की स्तुति है, वह राग है और राग, वह पुद्गल व्यापक होकर स्वतन्त्ररूप से होकर राग को करता है। राग करता है। आहाहा! कहो, चेतनजी! ऐसा है। आहाहा! निहाल कर डाले ऐसा है। क्या कहा? **पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक है इसलिए...** शरीर के पुद्गल और कर्म के कर्म, दोनों पुद्गल। **स्वतन्त्र व्यापक है इसलिए पुद्गल परिणाम का कर्ता है।** अर्थात् कि वह स्वतन्त्र स्वयं राग का कर्ता है। शरीर की पर्याय का परमाणु स्वतन्त्र पर्याय का कर्ता है। आहाहा! यह तो धीर होकर विचार करे (तो) जँचे तो जँचे। ऐसा है। बापू! यह कोई विद्वत्ता का चीज़ नहीं है। आहाहा!

वह पुद्गलपरिणाम स्वतन्त्र व्यापक होने से पुद्गल, पुद्गल परिणाम का कर्ता है, अर्थात् कि दया, दान, व्रत के परिणाम को पुद्गल स्वतन्त्र होकर उस परिणाम को करता है। परमार्थ से अस्ति का तत्त्व है न वह, आहाहा!

मुमुक्षु : अशुद्ध निश्चयनय....

पूज्य गुरुदेवश्री : अशुद्ध निश्चयनय है परन्तु वह इसका व्यवहार है। इसलिए व्यवहार का कर्ता, कर्म है, परमार्थ से आत्मा नहीं। आहाहा!

यहाँ तो जगत का साक्षी सिद्ध करना है न अब तो? ज्ञातादृष्टा है, वह इसके राग के परिणाम का कर्ता नहीं है, तब वह पुद्गल स्वतन्त्र होकर द्रव्य स्वयं स्वतन्त्र होकर राग को करे, ऐसा नहीं है। द्रव्य स्वतन्त्र होकर तो निर्मल परिणाम को करे, इतना भेद कहा जाता है, यह व्यवहार। आहाहा! बाकी द्रव्य परिणाम को-निर्मल को करे, ऐसा कहाँ है? पर्याय, पर्याय को करे। गजब वस्तु है, बापू! आहाहा! स्वतन्त्र व्यापक होने से कर्ता **और पुद्गल परिणाम उस व्यापक द्वारा...** वह पुद्गलकर्म अर्थात् व्यापक द्वारा राग और दया, दान के, भक्ति के, स्तुति के प्रभु के परिणाम, आहाहा! वे परिणाम **उस व्यापक द्वारा स्वयं व्याप्त होने से...** उस कर्म का **व्यापक द्वारा स्वयं व्याप्य होने से (व्याप्यरूप होता होने से) कर्म है।** आहाहा! विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १६०, गाथा-७५, दिनांक ०४-०१-१९७९, गुरुवार, पौष शुक्ल ६

समयसार, ७५ गाथा। यहाँ से है। **पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से...** है न? क्या कहते हैं? कर्म और नोकर्म जो पुद्गल है, वह स्वतन्त्ररूप से व्यापक—कर्ता होने से, स्वतन्त्ररूप से व्यापक अर्थात् कर्ता होने से **पुद्गल परिणाम का कर्ता है...** यह रागादि का कर्ता पुद्गल है। आहाहा!

यहाँ तो यह सिद्ध करना है। नहीं तो रागादि हैं, वे आत्मा की पर्याय में, आत्मा की पर्याय से षट्कारक के परिणमन से होते हैं। वह तो उसकी पर्याय सिद्ध करना हो, तब (बात है)। और उसके क्षण में वह होने का है, ऐसा जब सिद्ध करना है, तब भी वह विकार उसके क्षण में आत्मा की पर्याय में आत्मा में होता है। इतना सिद्ध करके अब आत्मा ज्ञातादृष्टा स्वभाव है, वह वीतरागस्वरूप है। उस वीतरागस्वरूप का व्यापकपना होकर व्याप्य वह राग, उसका व्याप्य-कार्य नहीं होता। समझ में आया?

यह एक, दो बात कही, वह बात रखकर बात है। परन्तु यहाँ अब आत्मा वीतरागस्वरूप है। जिनस्वरूप है। अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव स्वरूप है, उसका व्यापक अर्थात् पसरकर व्याप्य जो हो, वह विकार नहीं होता। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव, वह कर्ता होकर अथवा व्यापक होकर कार्य हो तो यह जानने-देखने के और आनन्द के परिणाम का कार्य होगा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। इसलिए यहाँ कहते हैं कि विकारी परिणाम जो होते हैं और शरीर की यह पर्याय होती है, उस पुद्गल परिणाम को, **पुद्गल द्रव्य स्वतन्त्र व्यापक है, इसलिए पुद्गल परिणाम का कर्ता है...** कर्ता स्वतन्त्ररूप से करे, ऐसा यहाँ कहते हैं। कर्म स्वयं स्वतन्त्र होकर विकार के परिणाम का कर्ता होता है। आहाहा!

यहाँ उसका—जो आत्मा का स्वभाव है, वह तो जिनस्वरूपी, वीतरागस्वरूपी प्रभु है। वीतरागस्वरूपी प्रभु के तो परिणाम वीतरागी होते हैं। आहाहा! ऐसे स्वभाव की दृष्टि रखकर जो स्वभाव वीतरागरूप परिणमे, वह स्वभाव रागरूप नहीं परिणमता, ऐसा सिद्ध करना है। आहाहा! इसलिए उस पर्यायदृष्टि में जो रागादि होते हैं, वे स्वतन्त्ररूप से पुद्गल के निमित्त के सम्बन्ध से होते हैं, इसलिए वह पुद्गलकर्म, वह कर्ता-व्यापक और विकारी परिणाम उसका कार्य अर्थात् व्याप्य। ऐसा है।

कितने प्रकार से (बात आवे इसमें) अपेक्षा न समझे और उपादान की जहाँ बात आवे तो आत्मा अशुद्ध उपादानरूप अर्थात् व्यवहाररूप, पर्यायरूप, विकाररूप परिणमता है, वह स्वयं, कर्म तो निमित्तमात्र है। कर्म को तो वह विकार होने पर, कर्म को तो वह विकार स्पर्श भी नहीं करता तथा कर्म का उदय है, वह राग को स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! तब वह राग के परिणाम उसकी पर्याय में स्वतन्त्र षट्कारक के परिणमन से होते हैं, ऐसे उसकी पर्याय उससे है, ऐसा सिद्ध करना है। परन्तु यहाँ तो वह उसका स्वभाव नहीं, (ऐसा सिद्ध करना है)। आहाहा!

स्वभाव जो आत्मा है, वह तो जिनस्वरूपी, वीतरागस्वरूपी है। आहाहा! जिनस्वरूपी प्रभु के परिणाम सम्यग्दर्शन के भी वीतराग पर्याय होती है। कोई कहता है न कि सम्यग्दर्शन सरागी होता है, वह वस्तु तो दूसरी अपेक्षा से है। वीतराग जिनस्वरूपी प्रभु वीतरागस्वरूपी की पर्याय वीतराग हो तो सम्यग्दर्शन भी वीतरागी पर्याय है और आगे जाकर चारित्र होता है, वह भी वीतरागी पर्याय है। आहाहा! वह वीतरागस्वभाव का कार्य, वीतरागस्वभाव व्यापक और व्याप्य अविकारी पर्याय, इतना भेद पाड़कर कथन करना, वह भी उपचार से है। आहाहा! वह अविकारी परिणाम का कर्ता और कर्म परिणाम में है। आत्मा उसका व्यापक अर्थात् पसरकर होता है, यह भी एक भेदनय का कथन है। विकारी परिणाम का कर्ता आत्मा और विकारी परिणाम कार्य, यह भी उपचार से कथन है। आहाहा! वैसे द्रव्यकर्म और पर का कर्ता तो उपचार से भी नहीं है, वैसे कर्म और शरीर या आत्मा के विकारी परिणाम का उपचार से भी कर्ता नहीं। आहाहा! परन्तु यहाँ स्वभाव की दृष्टि से कथन करना है। आहाहा! भगवान आत्मा के अनन्त गुण हैं, उनमें कोई गुण विकाररूप परिणमे, ऐसा गुण नहीं है। इसलिए वह स्वभावी वस्तु स्वभाव के परिणामरूप परिणमे और उसका वह कार्य-व्याप्य है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु विकारी परिणाम का कार्य स्वभावदृष्टि से आत्मा का है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अब इतनी सब अपेक्षाएँ रखकर (बात समझना चाहिए)।

यहाँ पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्ररूप से व्यापक अर्थात् कर्ता होकर, वह स्वतन्त्र कर्ता है। स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर पुद्गल परिणाम का अर्थात् कि राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव का कर्ता है, इस दृष्टि से। समझ में आया? **और पुद्गल परिणाम उस व्यापक से...** यह

राग-द्वेष और पुण्य-पाप के भाव इस पुद्गल परिणाम को उस व्यापक से अर्थात् कर्म के व्यापक से **स्वयं व्याप्त होने से...** स्वयं होता, स्वयं कार्य होता होने से उस-उस पुद्गल परिणाम का पुद्गल परिणाम उस पुद्गल का कार्य है। आहाहा! ऐसी बात है। किस अपेक्षा से कथन है, यह जानकर... एक ही पकड़े कि बस! कर्म से विकार होता है, कर्म से विकार (होता है)। भाई! परद्रव्य से होता है, (ऐसा) तीन काल में नहीं होता। पर्याय तो स्वतन्त्र उस समय की स्वयं से होती है परन्तु वह गुण और स्वभाव नहीं है, इसलिए गुण और स्वभाव की जहाँ दृष्टि हुई, तब उस विकार के परिणाम का कार्य वह स्वभाव नहीं है। तब उसके कार्य का कर्ता कर्म है, ऐसा कहकर भिन्न-पर से भिन्न कर दिया। उसे स्व से भिन्न कर दिया।

मुमुक्षु : कर्ता नहीं, ज्ञाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञाता है न, परिणामरूप से भले कर्ता कहो परन्तु कर्तारूप से करनेयोग्य है, ऐसी बुद्धिरूप से कर्ता नहीं। आहाहा! कितनी अपेक्षा!

(प्रवचनसार) ४७ नय में ऐसा कहा कि परिणमन की अपेक्षा से तो ज्ञानी कर्ता है, उसका अधिष्ठाता है। किस अपेक्षा से? यह प्रवचनसार नय अधिकार। आहाहा! वह ज्ञान-परिणमन उसका है, इतना बतलाने को कर्ता, यह परिणमे वह कर्ता, ऐसा कहा परन्तु यहाँ तो स्वभाव की दृष्टि में उसका परिणमन उस स्वभाव का होता है। उसका परिणमन विकृत है, वह कर्म का कार्य है, ऐसा कहकर स्वभाव के परिणमन से उसे भिन्न कर दिया है। कहो, देवीलालजी! ऐसा अब इतना सब (याद रखना)। वह बात भाई! कहते थे। उस लड़के की बात है न, वह कहे, धामणवाला को सब खबर है, परन्तु वे मानते नहीं। भाई कहते थे, हिम्मतभाई कहते थे, धामणवाला... नहीं? इस वस्तु का कहीं मेल खाना चाहिए न? ऐसा का ऐसा... करे उसका क्या अर्थ? आहाहा!

यहाँ तो भगवान शुद्ध निश्चयस्वभाव की दृष्टि से ऐसा कहते हैं कि जो भगवान आत्मा का स्वभाव तो वीतराग है न! अकषाय स्वभाव है न! शुद्धस्वभाव प्रत्येक गुण शुद्ध है न! वह शुद्ध व्यापक होकर विकारी पर्याय व्याप्य हो, यह है नहीं। इतना सिद्ध करने को उस विकारी परिणाम का व्यापक कर्म है और विकारी परिणाम उसका व्याप्य अर्थात् कार्य

है। आहाहा! ऐसा है कहाँ? अभी तो आगे पुद्गल कह देंगे, पुद्गलपरिणाम को पुद्गल कहेंगे। कहा था न? नहीं? पुद्गल के और आत्मा के ज्ञेयज्ञायक अन्तिम (शब्द) है, वह पुद्गल ही है, जीवद्रव्य नहीं। आहाहा! भगवान की भक्ति और स्तुति का राग है, उसका भी कर्ता कहते हैं कि कर्म है, ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : कर्ता ज्ञानी कैसे हो सकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानस्वरूप में कहीं भी विकार का परिणमना है? उसके अनन्त-अनन्त गुण हैं, परन्तु कोई गुण विकाररूप परिणमे, ऐसा कोई गुण नहीं है। इसलिए पर्याय में होता है, इसलिए पर के लक्ष्य से हुआ और इसलिए वह व्यापक और (यह) उसका व्याप्य, (ऐसा कहा)। आहाहा! भगवान आत्मा निर्मल अनन्त गुण व्यापक अर्थात् कर्ता और विकारी पर्याय व्याप्य अर्थात् कार्य, वह नहीं, समुचित नहीं। आहाहा! कहो, चेतनजी! ऐसी सब अपेक्षाएँ और यह सब न... आहाहा!

मुमुक्षु : गुरुगम से ज्ञात होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुरुगम चाहिए, बात सत्य। आहाहा! लो!

स्वयं व्याप्त होने के कारण... अर्थात् स्वयं होता होने से, स्वयं कार्य होता होने से। कर्म के कारण वे पुण्य-पाप के भाव, भक्ति आदि के भाव... आहाहा! भगवान की स्तुति आदि के भाव, वह कर्म व्यापक होकर। व्याप्त अर्थात् कार्य होता होने से वह पुद्गल का कार्य है। आहाहा! कहो, चिमनभाई! ऐसी गम्भीर वस्तु है, बापू! आहाहा!

इसलिए पुद्गलद्रव्य के द्वारा कर्ता होकर,... देखा? पुद्गलकर्म के द्वारा कर्ता होकर वह **कर्मरूप से किया जानेवाला जो समस्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल परिणाम...** देखो? यह कर्म के परिणाम और नोकर्म शरीर आदि के, भाषा आदि के ये पुद्गल परिणाम **उसे जो आत्मा, पुद्गल परिणाम को और आत्मा को घट और कुम्हार की भाँति...** आहाहा! दृष्टान्त देखो! पुद्गल परिणाम और आत्मा, **परिणाम को और आत्मा को...** यह राग के, द्वेष के परिणाम को और आत्मा को **घट और कुम्हार की भाँति...** कुम्हार व्यापक और घट उसका व्याप्य नहीं है। आहाहा! वह घड़ा नहीं करता, कहते हैं। कुम्हार से नहीं होता, मिट्टी से होता है। बापू! परद्रव्य को क्या सम्बन्ध है। परद्रव्य निमित्तमात्र हो परन्तु

उससे उसका कार्य वह कैसे करे? आहाहा!

घट और कुम्हार की भाँति... अर्थात्? राग-द्वेष के परिणाम और आत्मा को **घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव के कारण...** आहाहा! कितनी टीका... ओहोहो! गम्भीर है! क्या कहा?—कि दया, दान, व्रत आदि के और भगवान की स्तुति के जो परिणाम हैं, उन परिणाम को और आत्मा को, उन परिणाम को और आत्मा को **घट और कुम्हार की भाँति...** घट व्याप्य और कुम्हार व्यापक, ऐसा नहीं है। इसलिए वे परिणाम व्याप्य और आत्मा व्यापक, ऐसा नहीं है। घट-कुम्हार की भाँति **व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव के कारण...** आहाहा! कुम्हार व्यापक होकर-पसरकर घट का कार्य करे, ऐसा अभाव है। उसी प्रकार आत्मा व्यापक होकर-पसरकर विकार के परिणाम करे, उसका अभाव है। आहाहा! बहुत ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : यह तो ज्ञानी को ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ स्वभाव की बात कही न! वस्तुस्वभाव है न, उसकी दृष्टि हुई है। स्वभाव है, उसकी दृष्टि हुई है; इसलिए स्वभाव का परिणमन, वह विकारी परिणमन नहीं होता। यह यहाँ बात लेनी है। आगे तो लेंगे (कि) मिथ्यात्व अव्रत और प्रमाद के परिणाम जीव के हैं और वे जड़ के हैं, दोनों भिन्न हैं। आगे लेंगे... ८५ गाथा! आहाहा!

यहाँ तो वस्तु का स्वभाव चैतन्यमूर्ति भगवान राग के परिणाम से भिन्न प्रभु का स्वभाव है, ऐसा जहाँ अन्तर ज्ञान हुआ, उस ज्ञानी को राग उसका व्याप्य और आत्मा उसका व्यापक नहीं है। किसकी भाँति? घट और कुम्हार की भाँति। कुम्हार व्यापक और घट उसका व्याप्य / कार्य नहीं है, उसी प्रकार आत्मा व्यापक स्वभाव और विकारी परिणाम व्याप्य घट, कुम्हार की भाँति नहीं है। आहाहा! कितना याद रखना? आहाहा!

यह महाप्रभु है। चैतन्यस्वभाव जिसका है। आहाहा! पर्याय का अंश विकृत है, वह वस्तु पृथक्-भिन्न कर डाली। भगवान आत्मा... आहाहा! घट और कुम्हार की भाँति अर्थात् कुम्हार कर्ता और घट कर्म, कुम्हार व्यापक और घट व्याप्य नहीं है, उसी प्रकार आत्मा व्यापक और विकारी परिणाम व्याप्य, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है।

घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव के कारण कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से... घट का कर्ता कुम्हार, इसकी असिद्धि होने से। वैसे ही विकारी परिणाम का कर्ता आत्मा, यह असिद्धि होने से। आहाहा! **परमार्थ से कर्ता नहीं है।** आहाहा! घट को जैसे कुम्हार परामर्थ से करता नहीं, उसी प्रकार विकारी परिणाम को आत्मा स्वभाव से परमार्थ से करता नहीं। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु बापू! भाव तो जो है, वह है। भाव क्या हो? आहाहा!

परन्तु (मात्र) पुद्गल परिणाम के ज्ञान को... आहाहा! अर्थात्? कि-रागादि, भक्ति आदि, स्तुति आदि का विकल्प हो, परन्तु उसके ज्ञान को-पुद्गल परिणाम के ज्ञान को। वह भी निमित्त से कथन है। जो परिणाम हुए, उसके ज्ञान को, उसका जानना, उसके उस समय में ज्ञान की पर्याय षट्कारकरूप से परिणमती ज्ञान की पर्याय खड़ी होती है। आहाहा! उस परिणाम के ज्ञान को, ऐसे परिणाम के ज्ञान को-भाषा ऐसी है। परन्तु वास्तव में तो वह ज्ञान की पर्याय स्वयं से षट्कारकरूप परिणमती है। जिसे राग के परिणाम का ज्ञान, ऐसी भी अपेक्षा नहीं है। भाई! आहाहा! परन्तु यहाँ उसे जरा समझाना है। अर्थात् कि पुद्गल परिणाम के ज्ञान को अर्थात् कि जो कुछ दया, दान, भक्ति, स्तुति का विकल्प हुआ, उस काल में यहाँ ज्ञान स्वयं स्व-परप्रकाश में अपने रूप से अपने से परिणमता है, उसे यहाँ राग के परिणाम के ज्ञान को, राग के भाव के ज्ञान को, उस ज्ञान के परिणाम को करता आत्मा। आहाहा! है? राग के परिणाम के ज्ञान को कर्मरूप से करता हुआ। आहाहा! यह भी उपचार से है, भाई! इसमें यह कलश है न? कलश। ४९ में भाई में डाला है, कलश-टीका में।

ज्ञान की पर्याय का कर्ता और आत्मा कर्म, यह भी उपचार से है। भेद है न? आहाहा! उसमें है, भाई! कलश-टीका में है। पर का तो उपचार से कर्ता नहीं, राग का आत्मा उपचार से भी स्वभावदृष्टि से कर्ता नहीं परन्तु राग का जो ज्ञान कहा जाता है, वह भी अपेक्षित समझाने के लिये (कहा जाता है)। उस समय में ज्ञान की पर्याय स्वपरप्रकाशकरूप से स्वतः परिणमन का स्वभाव है, इसलिए षट्कारकरूप से वह ज्ञान परिणाम परिणमता है। उस ज्ञान परिणाम को पुद्गल के परिणाम के ज्ञान को, ऐसा कहा है। समझ में आया? बहुत गम्भीर वस्तु है, बापू! आहाहा!

यह **पुद्गल परिणाम के ज्ञान को (आत्मा के) कर्मरूप से...** यह आत्मा उस ज्ञान के कार्यरूप से परिणमता है। ज्ञान का कार्य, उसरूप से परिणमता है, राग का कार्य, उसरूप परिणमता नहीं। आहाहा! समझ में आया ? भाषा तो बहुत सादी परन्तु बापू! भाव तो जो है, वह है न, भाई! आहाहा! यहाँ तो प्रभु की प्रभुता का वर्णन है। पामरता जो होती है, वह प्रभुता का कार्य नहीं, ऐसा बतलाना है। आहाहा! आहाहा!

प्रभु! प्रभुत्वगुण से भरपूर भगवान अनन्त गुण के प्रभुत्व से भरपूर प्रभु, वह स्वयं राग के परिणाम को व्यापकरूप से कर्ता होकर करे, यह कैसे बने ? आहाहा! क्योंकि उसके द्रव्य में नहीं, उसके गुण में नहीं। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा!

इस **पुद्गल परिणाम के ज्ञान को...** आहाहा! यह ऐसी भाषा। वास्तव में तो वह ज्ञान जो है, वह पुद्गल परिणाम का ज्ञान है, ऐसा कहना व्यवहार है। वह ज्ञान की पर्याय उस काल में षट्कारकरूप से स्वतन्त्र समय की परिणमती है, जिसे पर की अपेक्षा तो नहीं, परन्तु द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं। ऐई! आहाहा! अरे रे! ऐसा तत्त्व, उसे लोग कुछ न कुछ दृष्टि से नोंच-कुचल डालते हैं, अपनी दृष्टि से उसे (कुचल डालते हैं)। आहाहा!

कलश में लिया है, हों! इसमें बाद का कलश आयेगा न ? ४९, ऐसा कि अपने ज्ञान के परिणाम को करे, वह भी उपचार से है। भेद हुआ न इतना ? परिणाम, परिणाम को करता है, वह यथार्थ है। आहाहा! क्या कहा यह ? राग का ज्ञान, यह तो निमित्त से कथन (हुआ)। उस ज्ञान के परिणाम को आत्मा करे, वह भी उपचार-भेद से (कहा)। बाकी ज्ञान के परिणाम को परिणाम षट्कारकरूप से स्वयं पर्याय करती है, यह निश्चय है। आहाहा! कहो, पण्डितजी! समझ में आता है ? बात ख्याल में आवे, (ऐसी) भाषा तो सादी है। भगवान! तेरी महत्ता की क्या बात करना!! आहाहा! प्रभुत्वगुण से भरपूर भगवान, वह पामर राग के परिणाम में कैसे व्यापे ? आहाहा! ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह राग के परिणाम का ज्ञान, वह आत्मा का कार्य, यह भी भेद से कथन है। परिणाम, परिणाम का कर्ता-कार्य, परिणाम कारण और परिणाम कार्य, वह के वह परिणाम। कर्ता कहो या कारण कहो। कार्य कहो या कर्म कहो। आहाहा!

मुमुक्षु : तो ही स्वतन्त्रता रह सके।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वतन्त्र ही है। प्रत्येक समय की पर्याय सत है, उसे हेतु नहीं होता। आहाहा! है, उसे हेतु क्या? है, वह स्वयं से है, उसे पर से है–ऐसा कहना? आहाहा!

आहाहा! राग हुआ, उसका जो ज्ञान हुआ, ऐसा कहना, वह व्यवहार है और उस ज्ञान के परिणाम को आत्मा करता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! और ज्ञान के परिणाम को आत्मा करता है, यह व्यवहार है। परिणाम, परिणाम को करता है, राग की अपेक्षा बिना, द्रव्य-गुण की अपेक्षा बिना। आहाहा!

इसीलिए यह कलशकार ने लिया है। इसमें कलश है न? उसमें लिया है। कितना है वह? ४९, व्याप्य-व्यापक है न? द्रव्यपरिणामी अपने परिणाम का कर्ता व्याप्य परिणाम कार्य। जिसमें ऐसा भेद किया जाये तो होता है, नहीं किया जाए तो नहीं होता। आहाहा! जीवतत्त्व से पुद्गलद्रव्य का तत्त्व भिन्न है। ...व्यापक, व्यापक का नहीं, भावार्थ ऐसा है कि उपचारमात्र से... द्रव्य अपने परिणाम का कर्ता है। आहाहा! राग का कर्ता तो नहीं, परन्तु रागसम्बन्धी का ज्ञान कहना, वह निमित्त है और उस ज्ञान के परिणाम का आत्मा कर्ता कहना, यह उपचार है। आहाहा! क्योंकि परिणमन-पर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमती है। स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर परिणमे, उसका दूसरा कोई कारण नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : द्रव्य और गुण दोनों हेतु नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, कहा न? उपचारमात्र से द्रव्य अपने परिणाम का... ज्ञान के परिणाम का कर्ता उपचार से है। वही परिणाम द्रव्य से किया गया, उसमें द्रव्य का कर्ता अन्य द्रव्य का कर्ता अन्य द्रव्य का उपचारमात्र से भी नहीं है। राग के परिणाम का यहाँ ज्ञान हुआ, वह तो ज्ञान का ज्ञान है, राग के परिणाम का नहीं। तथापि उसे समझाना है, अर्थात् कि यह भगवान की स्तुति आदि का राग हुआ, उस राग का यहाँ ज्ञान हुआ, यह तो निमित्त से कथन है। बाकी ज्ञान, ज्ञान से हुआ है, वह राग से नहीं, द्रव्य-गुण से नहीं। आहाहा! ऐसे ज्ञानपरिणाम का स्वतन्त्ररूप से षट्कारकरूप से पर्याय परिणमती है, द्रव्य (को) उसका कर्ता कहना, द्रव्यस्वभाव (को) कर्ता कहना, वह भी उपचार और व्यवहार है। आहाहा! उसकी दृष्टि में मेल नहीं खाता था। फिर क्या बदले? तू बदल जा न अब!

आहाहा! समझ में आये ऐसा है, हों! सूक्ष्म है। न समझ में आये, ऐसा नहीं। क्यों? लो! हमारा जीतु वापस लिखता है न अन्दर। आहाहा!

परन्तु पुद्गल परिणाम के ज्ञान को... भाषा है? वास्तव में तो वह ज्ञानपरिणाम आत्मा के भी नहीं, परिणाम परिणाम के हैं। आहाहा! परन्तु यहाँ समझाना है, इसलिए किस प्रकार समझाना उसे? राग का कर्ता नहीं, ऐसा समझाना है। तब किसका करता है? -कि राग सम्बन्धी का जो ज्ञान अपने से अपने में हुआ, उसका वह कर्ता कहा जाता है, वह भी भेद से। आहाहा! गजब बात है। ऐसी बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त, वीतरागी सन्तों के अतिरिक्त कहीं नहीं होती। आहाहा!

पुद्गल परिणाम के ज्ञान को (आत्मा के) कर्मरूप से करता हुआ ऐसे अपने आत्मा को जानता है... देखा? फिर उस राग को जानता है, ऐसा भी नहीं। राग के परिणाम को आत्मा करता, परिणाम को (-आत्मा को) जानता है। राग को जानता है, ऐसा नहीं। आहाहा! व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान आता है न? वह यहाँ उड़ा दिया। आहाहा! यह तो बापू! एक-एक अक्षर यह तो सर्वज्ञ की बातें हैं। आहाहा! सर्वज्ञ के पथानुगामी सन्तों की बातें, बापू! यह कोई कथा नहीं, वार्ता नहीं। आहाहा!

ऐसे अपने आत्मा को जानता है... देखा? यह उस परिणाम को जानता है, ऐसा कहा; राग को जानता है-ऐसा नहीं। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प उठा। आहाहा! उसका यहाँ ज्ञातारूप से पर्याय में ज्ञान करता है, वह भी व्यवहार कहा और वह परिणाम अपने आत्मा को जानता है, वह परिणाम अपना है, वह राग का नहीं, राग से हुआ नहीं, वह राग को जानता नहीं, उस परिणाम को जानता है। आहाहा! समझ में आया? **ऐसे अपने आत्मा को जानता है...** उस पर्याय को जानता है, ऐसा। आत्मा को जानता है, नहीं कि राग को जानता है।

वह आत्मा (कर्म-नोकर्म से) अत्यन्त भिन्न... राग और शरीर के परिणाम से अत्यन्त भिन्न। **ज्ञानस्वरूप होता हुआ...** ज्ञानस्वरूप होता हुआ—जानने के स्वभावरूप होता हुआ **ज्ञानी है।** आहाहा! यह अपने आप पढ़े तो कहीं बराबर बैठे, ऐसा नहीं है। कुछ का कुछ खतौनी कर डाले। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : ज्ञानी ज्ञानपरिणाम को जानता है या आत्मा को जानता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ज्ञानपरिणाम को जानता है, आत्मा को जानता है, वह आत्मा के परिणाम हैं, इसलिए आत्मा को जानता है, ऐसा यहाँ कहते हैं। यहाँ तो राग को जानता नहीं, ऐसा बतलाने के लिये आत्मा अपने परिणाम को जानता है। वह आत्मा, आत्मा को जानता है, ऐसा कहा। यह उसके परिणाम हुए न ? **अपने आत्मा को जानता है...** आहाहा ! क्योंकि वे ज्ञान के परिणाम स्वज्ञेय को जानते हैं और परज्ञेय को जानते हैं, ऐसा न कहकर, वे परिणाम स्वज्ञेय को जानते हैं और परिणाम परिणाम को जानता है, इसलिए आत्मा को जानता है, ऐसा कहा है। क्या कहा यह ? वे परिणाम स्वज्ञेय को जानते हैं और वे परिणाम परिणाम को जानते हैं, इसलिए आत्मा को जानते हैं, ऐसा कहा गया है। आहाहा ! कठिन है। गाथा ही अलौकिक है। हिन्दी में समझ में आता है या नहीं ? हिन्दी। भाई जरा नये हैं। आहाहा !

अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है। लो ! आहाहा ! राग से भिन्न परन्तु राग का जो ज्ञान परिणाम हुआ, वह अपने से हुआ है। आहाहा ! ऐसा ज्ञानी होता हुआ आत्मा, वह ज्ञानी है। आहाहा ! समझ में आया ? टीका बहुत गम्भीर है, बहुत गम्भीर है, बहुत गहरी। ओहोहो !

(पुद्‌गल परिणाम का ज्ञान,... भाषा आती है। **आत्मा का कर्म किस प्रकार से है...)** राग का ज्ञान हुआ, वह है तो ज्ञान का ज्ञान, परन्तु यहाँ समझाना है न ? आहाहा ! पुद्‌गल परिणाम का ज्ञान अर्थात् कि दया, दान, व्रत, भक्ति, स्तुति का जो विकल्प उठा, उसका ज्ञान, यह निमित्त का ज्ञान उसे यहाँ होता है न ? इसलिए है तो अपने से स्व-परप्रकाशक, परन्तु यह है, ऐसा हुआ। लोकालोक का ज्ञान, ऐसा कहा न ? वह लोकालोक का ज्ञान नहीं, वास्तव में तो ज्ञान ज्ञान का है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : परप्रकाशक में तो ऐसा...

पूज्य गुरुदेवश्री : परप्रकाशक भी वह अपना स्वभाव है, पर के कारण प्रकाशक है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : परसम्बन्धी का ज्ञान...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह परसम्बन्धी का अपना परसम्बन्धी ज्ञान है। सर्वज्ञस्वरूप में वहाँ आत्मज्ञ लिया है। शक्ति में लिया है न ? भाई ! सर्वज्ञ, वह आत्मज्ञ है, वह परज्ञ नहीं। आहाहा ! सर्वज्ञस्वभाव ही स्व का स्वतः है, उस पर्याय में सर्वज्ञपना आया, वह सर्व अर्थात् पर है, ऐसा नहीं। वह आत्मज्ञ है। वह आत्मज्ञ सर्वज्ञ को आत्मज्ञ कहने में आया है। आहाहा ! अब ऐसी बातें कहाँ (सुनने को मिले)। आहाहा !

पुद्गल परिणाम का ज्ञान... अर्थात् कि दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम का यहाँ ज्ञान। क्योंकि ज्ञान, ज्ञान का है न ? ज्ञान राग का, पर का नहीं है। तथापि पर का ज्ञान कहा; इसलिए उसे समझाते हैं कि वह परिणाम का ज्ञान। ज्ञान परिणाम का नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान का है, परन्तु उस सम्बन्धी का यहाँ लोकालोक जानने में आया, इसलिए लोकालोक का ज्ञान कहा। परन्तु लोकालोक का ज्ञान नहीं है, ज्ञान ज्ञान का है। आहाहा !

(पुद्गल परिणाम का ज्ञान आत्मा का कार्य किस प्रकार से है, यह समझाते हैं—) आहाहा ! **परमार्थ से पुद्गल परिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से...** आहाहा ! **पुद्गल परिणाम के ज्ञान को...** अर्थात् राग का जो यहाँ ज्ञान हुआ उसे **और पुद्गल को...** अर्थात् राग को, **घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव...** है। आहाहा ! कुम्हार व्यापक और घट व्याप्य नहीं; वैसे राग का ज्ञान, वह आत्मा का व्यापक है, परन्तु वह पुद्गल और राग का ज्ञान है, इसलिए राग व्यापक है और ज्ञान परिणाम यहाँ व्याप्य हुआ, ऐसा नहीं है। यह राग कहो या कर्म कहो। कर्म व्यापक हुआ इसलिए यहाँ ज्ञान व्याप्य हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा !

परमार्थ से पुद्गल परिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को... आहाहा ! **घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्ताकर्मपने की असिद्धि है...** आहाहा ! जैसे कुम्हार घट का कर्ता नहीं, वैसे राग के परिणाम का आत्मा कर्ता नहीं। आहाहा ! आहाहा ! व्यवहाररत्नत्रय के राग का कर्ता आत्मा नहीं है। आहाहा ! कथन से व्यवहार कहे।

नियमसार में कहा है न ? कि आत्मा स्व को जानता है और लोकालोक को जानता नहीं, ऐसा कहे तो क्या बाधा है ? आता है न ? व्यवहार से ऐसा कहा कि व्यवहार से पर

को जानता है और व्यवहार से स्व को नहीं जानता। परन्तु व्यवहार से तन्मय होकर स्व को नहीं जानता। आहाहा! ऐसी वस्तु है, बापू! समयसार तो समयसार है, कहीं ऐसी दूसरी बात है नहीं। आहाहा!

परमार्थ से पुद्गल परिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को... देखा! आहाहा! राग को। इस ज्ञान को और राग को, **घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से...** आहाहा! **कर्ताकर्मपने की असिद्धि है...** कर्म कर्ता और ज्ञान के परिणाम उसका कार्य, इसका अभाव है। पुद्गलकर्म कर्ता, राग कर्ता और राग का परिणाम उसका कार्य, इसका अभाव है। आहाहा! आज बहुत सूक्ष्म विषय है। आहाहा! ऐसा है। यह तो शान्ति से पकड़ में आये, ऐसी बात है।

आत्मपरिणाम को और आत्मा को व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से... देखा? आत्मा के परिणाम को अर्थात् जो ज्ञान के परिणाम हुए, उन्हें और आत्मा को **व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से...** आत्मा व्यापक है और ज्ञान के, दर्शन के, आनन्द के परिणाम हैं, वे उसका व्याप्य है, इसका सद्भाव है। आहाहा! **कर्ताकर्मपना है।** इतना सिद्ध किया। आत्मा कर्ता और ज्ञान के परिणाम का कार्य उसका व्याप्य, इतना है, भेद से। आहाहा!

आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से... भगवान आत्मा कर्ता अर्थात् स्वतन्त्ररूप से कर्ता होने से, स्वतन्त्ररूप से व्यापक अर्थात् पसरता होने से। कर्ता होने से व्यापक अर्थात् कर्ता। **आत्मपरिणाम का अर्थात् कि...** आत्मपरिणाम का अर्थात् कि **पुद्गल परिणाम के ज्ञान का कर्ता है।** आहाहा! समझाने में क्या शैली आवे? आहाहा! **आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से आत्मपरिणाम...** अर्थात् वीतरागी परिणाम, ज्ञान के परिणाम, श्रद्धा के परिणाम, शान्ति के परिणाम, आनन्द के परिणाम। ज्ञान के परिणाम अर्थात् यह सब परिणाम।

अर्थात् कि पुद्गल परिणाम के ज्ञान का कर्ता है। आहाहा! यह राग के ज्ञान का आत्मा कर्ता है, राग के ज्ञान का आत्मा कर्ता है। आहाहा! राग का नहीं। **और पुद्गल परिणाम का ज्ञान...** अर्थात् राग का ज्ञान। समझाना है न? **उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने से...** आहाहा! **कर्म है।** वह आत्मा का कार्य है। पुद्गल परिणाम का ज्ञान अर्थात् भगवान

की स्तुति आदि के राग का ज्ञान, **उस व्यापक द्वारा स्वयं व्याप्त होने से...** उस आत्मा द्वारा स्वयं कर्ता होने से, **(व्याप्तरूप होता होने से)...** अर्थात् कार्यरूप होता होने से कार्य है। कार्यरूप होने से कार्य है। **कर्म है।** ऐसा है। आज तो भारी सूक्ष्म आया, भाई!

मुमुक्षु : फिर से लेना।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आता है तो शब्द-शब्द का (भाव)। आहाहा! ऐसा है।

और इस प्रकार (ज्ञाता पुद्‌गल परिणाम का ज्ञान करता है...) आहाहा! भगवान आत्मा राग का ज्ञान करता है इसलिए, **ऐसा भी नहीं कि पुद्‌गल परिणाम ज्ञाता का व्याप्य है...** वह राग का ज्ञान करता है, इसलिए राग—पुद्‌गल परिणाम जो राग, वह ज्ञाता का व्याप्य, ऐसा नहीं है। आहाहा!

फिर से, **इस प्रकार (ज्ञाता पुद्‌गल परिणाम का ज्ञान करता है, इसलिए) ऐसा भी नहीं है कि पुद्‌गल परिणाम ज्ञाता का व्याप्य है...** राग का ज्ञान करता है, इसलिए राग आत्मा का व्याप्य है, ऐसा नहीं। राग का यहाँ ज्ञान करता है, इसलिए आत्मा का राग व्याप्य है या व्यापक है और वह ज्ञान है उसका व्याप्य है, ऐसा नहीं है। राग व्यापक है, कर्म व्यापक है और ज्ञान के परिणाम व्याप्य हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह समयसार।

व्याप्यरूप होता होने से, इस प्रकार ज्ञाता—आत्मा पुद्‌गल परिणाम का अर्थात् कि राग का ज्ञान करता है, इसलिए ऐसा भी नहीं, राग का ज्ञान करता है, इसलिए पुद्‌गल परिणाम आत्मा का व्याप्य है, राग का ज्ञान करता है, इसलिए राग आत्मा का परिणाम—व्याप्य है—ऐसा नहीं है। राग का ज्ञान करता है, इसलिए राग आत्मा का कार्य—व्याप्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, चिमनभाई! ऐसा सूक्ष्म है। आहाहा!

समयसार! समयसार!!

इस प्रकार... आत्मा राग का ज्ञान करता है, इसलिए ऐसा भी नहीं है कि राग जो पुद्‌गलपरिणाम ज्ञाता का व्याप्य है, ऐसा नहीं। आहाहा! ज्ञाता का व्याप्य तो ज्ञान के परिणाम हैं। राग का ज्ञान (हुआ) इसलिए वह ज्ञाता का व्याप्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : राग तो पुद्‌गल परिणाम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो पुद्‌गल कहा। पुद्‌गल परिणाम... परिणाम अभी तक

कहा, परन्तु अब संक्षिप्त करके उसे पुद्गलद्रव्य कह देंगे। आहाहा!

मुमुक्षु : राग... ही नहीं तो व्याप्य किस प्रकार होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : है नहीं, कार्य ही नहीं। यहाँ तो राग का ज्ञान करता है न? ऐसा कहा न? राग का ज्ञान है न? राग का ज्ञान है न? तो राग उसका व्याप्य हुआ या नहीं? नहीं। आहाहा! इसमें नैरोबी में कहाँ ऐसा सुनने में आवे ऐसा है? आहाहा!

मुझे तो उस लड़के को कहते हैं कि तू महाविदेह में गया तो महाविदेह में मुनि को लंगोटी है? – केवली को लंगोटी है या नहीं? तूने लंगोटी देखी हो तो तू महाविदेह में गया ही नहीं। आहाहा! लंगोटी कहते हैं न वे लोग? भाई! तीर्थंकर को लंगोटी कहते हैं। प्रतिमा के ऊपर लंगोटी डालते हैं, परन्तु भगवान को लंगोटी जरा डालते हैं। आहाहा! कंदोरा, वह लंगोटी है। भगवान को लंगोटी कहते हैं। छद्मस्थ हैं और ऐसा कहे उसे। आहाहा! यदि भगवान को लंगोटी देखी हो और साधु को वस्त्र देखा हो तो तूने महाविदेह देखा नहीं। यह बात पूरी सब बनावटी। मेरे हिसाब से तो कोई मनुष्य चाहे जिस प्रकार से उसे तैयार किया है। ऐसा तो सब तर्कट, उनके लोगों ने इनकार किया, उनके 'धामणवाले' के लोग वे कहते हैं, हम मानते नहीं, उसे मानते नहीं। कितनों को तो यह बात बराबर (लगती है)। आहाहा!

मुमुक्षु : वे तो ऐसा कहते हैं, अतिशय से कपड़ा दिखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ दिखता नहीं। वह बात खोटी है। आहाहा! और तो फिर यहाँ से देख, वह बराबर चाहिए तो वहाँ अगास और सबको कह देना चाहिए कि यह दो भाग हैं वे निकाल डालो। भगवान के ऊपर, दिगम्बर और नीचे श्वेताम्बर। हो गया तो फिर तूने देखा नहीं और देखा हो तो कह उन्हें कि मार्ग यह है, यह मार्ग नहीं। ऐसी बातें हैं, बापू! यहाँ तो न्याय के तौल में जरा भी अन्तर पड़े तो पूरा चक्र बदल जाए ऐसा है। आहाहा! देखो! अब विशिष्टता।

पुद्गल परिणाम ज्ञाता का व्याप्य है; कारण... ऐसा भी नहीं है कि पुद्गल परिणाम ज्ञाता का व्याप्य है। समझ में आया? अभी तक पुद्गल परिणाम... परिणाम कहते थे। अब उसे पुद्गल कह दिया। आहाहा! भगवान की भक्ति और स्तुति का भाव पुद्गल है। आहाहा! पुद्गल के परिणाम, वे पुद्गल हैं, ऐसा अभेद कर दिया, अभेद कर

दिया। **क्योंकि पुद्‌गल के और आत्मा के...** अर्थात् कि पुद्‌गल के परिणाम, उस पुद्‌गल को, ऐसा। उसे पुद्‌गल कहा। **और आत्मा के ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का व्यवहारमात्र होने पर भी...** आहाहा! राग को अर्थात् पुद्‌गल को और आत्मा को ज्ञेय, राग ज्ञेय है और आत्मा ज्ञायक है, ऐसे सम्बन्ध का व्यवहारमात्र होने पर भी। आहाहा! **परन्तु पुद्‌गल परिणाम जिसका निमित्त है...** किसका? ज्ञान का। ज्ञान होता है, उसमें निमित्त है। **ऐसा जो ज्ञान... पुद्‌गल परिणाम जिसका निमित्त है, ऐसा जो ज्ञान...** आहाहा! राग, वह पुद्‌गल। वह ज्ञान के परिणाम को निमित्त है। ऐसा जो ज्ञान, वही ज्ञाता का व्याप्य है। वही ज्ञाता का कार्य और व्याप्य है। आहाहा! वह उसकी पर्याय है, वह उसका कार्य है, वह उसका व्याप्य है। आहाहा! इसलिए वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म। लो! बहुत सूक्ष्म आया, हों! आहाहा! क्या कहा, समझ में आया?

आत्मा ज्ञाता है और राग का ज्ञान है, इसलिए उस राग का व्यापकपना और ज्ञान पर्याय-व्याप्यपना, ऐसा नहीं है। राग को जानता है, ऐसा कहा न? इसलिए राग व्यापक है, और यहाँ जानने का कार्य व्याप्य है, ऐसा नहीं। आत्मा का व्याप्य तो ज्ञाता के परिणाम हैं, वे आत्मा का व्याप्य है, उसका व्यापक वे हैं। यह भी भेद से, यह भी भेद से। बाकी तो परिणाम जो ज्ञाता के हैं, वे राग के नहीं, तथा द्रव्य-गुण के भी नहीं। आहाहा! वे परिणाम परिणाम के हैं, तथापि ज्ञाता का वह व्याप्य है, ऐसा कहना, वह व्यवहार से कहते हैं। आहाहा!

राग उसका व्याप्य है और वह तो है ही नहीं। कहो! ओहो! बहुत सरस!! आहाहा! टीका तो टीका है न!! अमृतचन्द्राचार्य... ओहोहो! वस्तु की स्थिति ऐसी, वस्तु की मर्यादा, मर्यादा पुरुषोत्तम पुरुष आत्मा। आहाहा!

वह अपने ज्ञानपरिणाम का कर्ता। राग का ज्ञान (हुआ), इसलिए राग का व्याप्य ज्ञान, ऐसा नहीं। राग का ज्ञान, ऐसा कहा न? व्यवहाररत्नत्रय हुआ, उसका ज्ञान कहा न? इससे राग, वह व्यापक और ज्ञानपरिणाम व्याप्य, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो ज्ञानपरिणाम व्याप्य और आत्मा व्यापक। इस प्रकार मात्र व्यवहार से सिद्ध करते हैं। आहाहा! वह (पर का) तो व्यवहार से भी नहीं। आहाहा! लो! विशेष कहा जायेगा.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १६१, गाथा-७५, दिनांक ०५-०१-१९७९, शुक्रवार, पौष शुक्ल-७

समयसार, ७५ गाथा। **अब पूछते हैं कि...** यहाँ से (है)। **कि - आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हो गया, यह कैसे पहिचाना जाता है?** यहाँ तो ज्ञानी हुआ, वह किस प्रकार से पहिचाना जाता है, ऐसा कहा। और उस ज्ञानी को भी पुद्गल कर्म के निमित्त के भाव से रागादि होते हैं, उसका भी जाननेवाला है, ऐसा लिया है न? इसलिए वे-ज्ञानसागर कहते हैं न कि निर्विकल्प समाधि हो, तब ही उसे ज्ञानी कहा जाता है। यहाँ तो ज्ञानी चौथे गुणस्थान से लिया है, सम्यग्ज्ञान हुआ है; आत्मा, राग से भिन्न है और वर्तमान पर्याय ज्ञान की, उसे राग से भिन्न करके उस पर्याय को द्रव्य में झुकाया है और जिसे अन्तर सम्यग्ज्ञान हुआ है। ज्ञान की पर्याय में पूर्ण ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात हुआ है, उसे यहाँ ज्ञानी कहा गया है। समझ में आया?

(कहते हैं) इसलिए यहाँ निर्विकल्प समाधि में हो, तब ही ज्ञानी कहा जाए और विकल्प उठे...

मुमुक्षु : जितना विकल्प उठे, उतना राग होता है...

पूज्य गुरुदेवश्री : तो भी वह तो राग उसे होता ही नहीं, ऐसा कहा है। अबुद्धिपूर्वक हो राग; बुद्धिपूर्वक होता ही नहीं, उसे ज्ञानी कहना, ऐसा कहते हैं - ऐसा नहीं है। इसलिए यहाँ पहले प्रश्न यह है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप ज्ञानी हुआ, धर्मी हुआ, वह कैसे पहिचाना जाए? **उसका चिह्न (लक्षण) कहिये।** उसका चिह्न क्या है? उसका लक्षण क्या है? उसका चिह्न कहो। उसका लक्षण कहो, ऐसा पूछा है, अमृतचन्द्राचार्य हैं। देखो! '**कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत्**' संस्कृत है, देखो, कुछ पण्डित जयचन्दजी का नहीं है। सूक्ष्म बात है।

ज्ञानी होता हुआ कैसे पहिचाना जाता है, उसका लक्षण क्या? अर्थात् चौथे गुणस्थान से ज्ञानी को गिनने में आया है। आहाहा! यह बात पाठ सिद्ध करता है।

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।७५।।

क्या कहा ? समझ में आया ? रागादि होते हैं, निर्विकल्प में ही पड़ा है तो उसे ज्ञानी कहना, ऐसा नहीं है। रागादि होते हैं परन्तु उस राग का जाननेवाला रहता है। राग मेरा स्वभाव नहीं है। मैं उससे भिन्न हूँ—ऐसा जाननेवाला रहता है, उसे राग होता है; इसलिए राग का जाननेवाला और राग का ज्ञान, वह आत्मा का ज्ञान, ऐसा आया न ? तो यहाँ तो राग है बुद्धिपूर्वक; रुचिपूर्वक नहीं है। आहाहा! धर्मी, सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी होता है, उसे कैसे पहिचाना जाए, उसका लक्षण क्या है—ऐसा पूछा है। समझ में आया ? यह तो रामजीभाई ने कहा था न, दोबारा लेना है।

मुमुक्षु : यह तो इसमें ज्ञानी को पहिचानना है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : ये सब नये प्रेमचन्दभाई और ये सब आये हैं न, वे सुने तो सही कुछ। लन्दन से आये हैं। मात्र जाने कि विकल्प है, ऐसा नहीं। है अवश्य; जानता है।

जो कर्म का परिणाम, अरु नोकर्म का परिणाम है।
सो नहिं करे जो, मात्र जाणे, वो हि आत्मा ज्ञानि है।।७५।।

बात समझ में आयी ? आहाहा! अब टीका, इसकी टीका। **निश्चय से...** वास्तव में **मोह,...** अर्थात् कि परसन्मुख की जरा राग की दशा-मोह होती है। पहले समुच्चय मोह लिया है। मोह मिथ्यात्व, वह नहीं लेना। परसन्मुख का जरा अभी भाव होता है, वह मोह समुच्चय कहा, यह चारित्रमोह की बात है, दर्शनमोह की यह बात नहीं है। यह अन्दर परिणाम में परसन्मुख के झुकाववाला राग होता है, वह मोह, उसके अन्तर्भेद राग और द्वेष तथा सुख-दुःख... सुख-दुःख की कल्पना होती है। **आदिरूप में अन्तरंग में उत्पन्न होता हुआ जो कर्म का परिणाम,...** द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों इकट्ठे लिये हैं। जड़कर्म जो है, वह द्रव्यकर्म है और उसके निमित्त से पर्याय में होनेवाला मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख है, वह अन्तरंग परिणाम, वह कर्म का परिणाम है। वह पुद्गल का परिणाम है। आहाहा! ऐसी बातें। और तुम्हारा प्रश्न था न, द्रव्यकर्म इसमें कहाँ आया ? द्रव्यकर्म-भावकर्म दोनों इसमें आ गये।

भगवान आत्मा जहाँ स्वयं राग से तो भिन्न पड़कर पर्याय को-ज्ञान पर्याय को अन्तर में सामान्य में पर्याय को झुकाया है तो विशेष भी आ गया और सामान्य (भी) आ गया।

क्या कहा ? राग नहीं आया। राग से भिन्न पड़कर ज्ञान की पर्याय विशेष है, गुण की विशेष, उस पर्याय को ऐसे सामान्य में झुकाया तो विशेष और सामान्य दोनों आ गये। राग भिन्न रह गया। आहाहा ! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई !

विशेष जो ज्ञानपर्याय है, उसे राग से तो भिन्न है, वह पर्याय अर्थात् राग से तो भिन्न करके ज्ञानपर्याय के ऊपर लक्ष्य करके और उस पर्याय को ध्रुव में झुकाया। उत्पाद-व्यय की जो ज्ञान की पर्याय है, उसे ध्रुव में झुकाया अर्थात् ध्रुव सामान्य है और पर्याय को - विशेष को उसमें झुकाया अर्थात् विशेष और सामान्य दोनों हो गये। इसलिए वे वेदान्ती ऐसा कहते हैं कि विशेष है ही नहीं, अकेला कूटस्थ है, तो कूटस्थ का निर्णय करनेवाला कौन ? समझ में आया ? वेदान्त सर्वव्यापक का बड़ा भाग अभी है न, परन्तु वह निश्चयाभास है क्योंकि जो वस्तु है एक समय में त्रिकाल, उसका निर्णय करनेवाला ध्रुव कहाँ है ? उसका निर्णय करनेवाली विशेष पर्याय है। आहाहा ! वह अनित्य है। पर्याय है, वह अनित्य है। वह अनित्य है, वह नित्य को जानती है। अनित्य है, वह नित्य का निर्णय करती है। आहाहा !

मुमुक्षु : न्याय से बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! इसलिए कहते हैं कि जो वास्तव में ऐसे... आगे ८७ गाथा में कहेंगे कि मिथ्यात्व के दो भेद हैं। यहाँ परिणाम मिथ्यात्व के और दर्शनमोह के रजकण-ऐसे मिथ्यात्व के दो भेद; अव्रत के दो भेद; अज्ञान के दो भेद; क्रोधादि के दो-दो भेद - ऐसे जीव और अजीव लेंगे। यहाँ है, वहाँ तो मात्र दोनों की भिन्नता सिद्ध करनी है। यहाँ तो अब राग की भिन्नता करके ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान कैसा होता है, उसे यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया ? ८७ गाथा है न, कल ८५ कही थी, ८७-८८ दोनों हैं। समझ में आया ? 'कम्मं दुवियं' है न प्रश्न, मिथ्यात्व दो प्रकार के- एक आत्मा के परिणाम मिथ्यात्व और एक दर्शनमोह जड़ के परिणाम मिथ्यात्व। जड़ के अजीव और यह जीव, ऐसे दो भिन्न पाड़कर वहाँ भिन्न सिद्ध करना है।

यहाँ तो भिन्न पड़ा हुआ जिसे ज्ञान हुआ है। राग से भिन्न पड़ी हुई ज्ञानपर्याय और उस पर्याय को जिसने ऐसे सामान्य में झुकाया है, उसे ज्ञान हुआ है, उस ज्ञान का लक्षण -निशान क्या है ? समझ में आया ? आहाहा ! गाथा बहुत ऊँची है। भाई ने दोबारा लेने को कहा, इसलिए फिर से (लेते हैं)। फिर वह का वही आवे, ऐसा कुछ है ? आहाहा !

मुमुक्षु : निर्विकल्प में होवे तो ही ज्ञानी...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बराबर नहीं। तब तो फिर छठवाँ गुणस्थान, चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, यह किस प्रकार सिद्ध होगा और यह प्रत्यक्ष यहाँ यह सिद्ध करते हैं कि रागादि होते हैं और उस सम्बन्धी का यहाँ ज्ञान ज्ञानी करता है। वह है तो अपना ज्ञान उस सम्बन्धी का ज्ञान, यह तो निमित्त से कथन है, तथापि वहाँ राग है, उसे यहाँ यह जानता है। अर्थात् बुद्धिपूर्वक राग है, उसे जानता है अर्थात् ख्याल में आता है कि यह राग है। असद्भूत उपचार। ख्याल में आता है राग, तथापि ज्ञानी-धर्मी जीव उस राग को जाननेवाला रहता है क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा जहाँ अन्तर भान हुआ, इसलिए उसे पर्याय में ज्ञेय जो पूरा ज्ञायक है, उसका ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की पर्याय के काल में जो राग होता है, उसकी स्व-पर प्रकाशक पर्याय होने से ज्ञान की पर्याय षट्कारकरूप से परिणमित होती हुई उत्पन्न होती है। अरे! ऐसा है, सूक्ष्म मार्ग, भाई!

मुमुक्षु : वीरों का मार्ग है, वह तो सूक्ष्म ही होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं राग से पार और एक समय की पर्याय से पार भिन्न अन्दर... ७३ में आया न, वह अनुभूति भिन्न है। आहाहा!

वास्तव में यहाँ ज्ञानी जिसे ज्ञान का-आत्मा का राग से भिन्न पड़कर भान हुआ और पर्याय को ज्ञायक त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव ध्रुवस्वभाव, त्रिकाली एकरूप ज्ञायकस्वभाव का जिसे वर्तमान पर्याय में उस ओर झुककर ज्ञान हुआ है, उसे यहाँ ज्ञानी कहा जाता है। यहाँ कोई सातवें में स्थिर हो जाए ऐसे, तो ही ज्ञानी है - ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : ऐसा होवे तो कुन्दकुन्दाचार्य शास्त्र लिखते समय अज्ञानी सिद्ध हों?

पूज्य गुरुदेवश्री : तो भी अज्ञानी... इसलिए तो वे कहते हैं अज्ञानी, अज्ञान से कहते हैं, बारहवें तक अज्ञान है न, परन्तु वह तो अज्ञान का अर्थ अजानपना / अल्प ज्ञान, ऐसा है। अज्ञान का अर्थ विपरीत ज्ञान है, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

बारहवें (गुणस्थान) तक अज्ञान कहा है, वह तो अल्प ज्ञान है, ऐसा कहा है। विपरीत ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार यह चौथे में सम्यग्दर्शन... यहाँ तो ज्ञानी कैसे पहिचाना जाए, ऐसा प्रश्न किया है न! निर्विकल्प समाधि में रहा हुआ वीतरागी कैसे पहिचाना

जाए ?—ऐसा नहीं पूछा। आहाहा! जिसे आत्मधर्म वस्तु शुद्ध चैतन्यघन, ऐसा जिसे राग से भिन्न पड़कर, पर्याय को अन्तर में झुकायी है, वह भी पर्याय है और (अन्दर) झुकाता हूँ, ऐसा भी वहाँ भेद नहीं है, परन्तु समझाने में क्या आवे ? समझ में आया ? पर्याय जो परलक्ष्य में है, वह पर्याय तो वहाँ रह गयी, बाद की पर्याय द्रव्य में से हो और द्रव्य-सन्मुख झुके, वह समय तो एक ही है। अरे... अरे.. ! ऐसी बातें हैं। बापू! वीतरागमार्ग अलौकिक है, भाई! आहाहा!

कहते हैं कि वह परिणाम जो कर्म का है—पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति आदि के परिणाम हुए, परन्तु वह परिणाम कर्म का परिणाम है; जीव का नहीं क्योंकि जीव जो है, वह अनन्त गुण का पिण्ड स्वभाव शुद्ध है, तो जो अनन्त गुण हैं, वे शुद्ध हैं तो शुद्ध के परिणाम शुद्ध होते हैं, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है न ? पर्याय में अशुद्धता है, वह बाद में सिद्ध करेंगे। समझ में आया ? उसमें-पर्याय में अशुद्धि है, वह बाद में सिद्ध करेंगे, परन्तु यहाँ तो जो वस्तु है... अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. गुण का पिण्ड-सागर प्रभु, वे सब अनन्त गुण शुद्ध हैं और इसलिए उनका परिणमन भी शुद्ध है। आहाहा! उन गुणों का परिणमन कोई विकृत है, ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए विकृत जो है, वह निमित्त के आधीन होकर होता है, ऐसा होने पर भी अज्ञानी (उन्हें) मेरे हैं, ऐसा वह मानता है और ज्ञानी निमित्त के आधीन होते हुए होने पर भी उन्हें उनमें रखकर स्वयं उनका ज्ञान, उनकी अस्ति है, इसलिए करता है—ऐसा भी नहीं है। उनका ज्ञान इसकी ज्ञान की पर्याय में स्व का और पर का ज्ञान स्वयं से अपने में हुआ है, उसे वह जानता है। राग को जानता है, ऐसा कहेंगे, परन्तु वास्तव में तो उसे (ज्ञान को) ऐसे जानता है।

मुमुक्षु : राग सम्बन्धी अपने ज्ञान को जानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान को जानता है। आहाहा! समझ में आये, उतना समझना, बापू! यह तो तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव, जिनेश्वरदेव की साक्षात् वाणी है। आहाहा! सन्त, केवली के आढ़तिया जगत को आढ़तिया होकर प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! इसलिए कहते हैं, यहाँ क्या कहा कि यह परिणाम कर्म के हैं, ऐसे परिणाम ज्ञानी को होते हैं, वह यहाँ लेना है, भाई! बुद्धिपूर्वक होते हैं, ऐसे को यहाँ लेना है। अबुद्धिपूर्वक होते हैं, वे

निर्विकल्प समाधि में, वे नहीं। भाई! आहाहा! उसके ख्याल में आते हैं, परन्तु वह-राग भिन्न है। ज्ञानी को राग, क्रोध, मान आदि के परिणाम कहे, वे सब कर्म जड़ का व्यापक-पसरकर उसका-विकार का परिणाम हुआ है, इसलिए वे जड़ के और कर्म के हैं, उनके सम्बन्धी का यहाँ ज्ञान होता है, वह अपना है। आहाहा! ऐसी बात है।

निश्चय से... वास्तव में **मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदिरूप में अन्तरंग में...** अन्तरंग में, देखा? वह कहते थे न कल, वहाँ खण्डवा में एक प्रेमचन्द सनावद का है, वह कहता है कि यह परिणाम जड़ के लेना, जीव के विकारी परिणाम नहीं लेना, ऐसा कहता था। तो कहा—नहीं, ऐसा नहीं है। यह तो अन्तरंग में उत्पन्न होनेवाले जीव के विकारी परिणाम हैं। मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि कर्म का परिणाम है; जीव का नहीं। वे जीव के परिणाम नहीं हैं। आहाहा!

जीव तो शुद्ध वस्तु है शुद्ध है तो उसके परिणाम शुद्ध हों, वह यहाँ सिद्ध करना है। कर्ता-कर्म सिद्ध करना है न यहाँ? आत्मा कर्ता होकर कर्म हो, वह तो शुद्ध होता है क्योंकि शुद्ध, उसके गुण शुद्ध, पवित्र आनन्दकन्द है। उन अनन्त-अनन्त गुणों का पार नहीं, ऐसा वह भण्डार है, तथापि अनन्त गुण में कोई एक गुण, कोई गुण अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. में से कोई भी गुण रागरूप हो, ऐसा कोई गुण ही नहीं है। आहाहा! और रागरूप होवे द्रव्य और गुण तो मिटे ही नहीं। यह बहिन में आया है कि यदि द्रव्य अशुद्ध होवे तो कभी मिटेगा ही नहीं। आहाहा! पर्याय की अशुद्धता होवे तो मिटती है, वह पलटती है, इसलिए (मिटती है)। ध्रुव अशुद्ध होवे तो ध्रुव मिटता नहीं अशुद्ध। ध्रुव तो कायम रहता है। आहाहा! धीरे से समझने की बात है, बापू! यह तो वीतरागमार्ग है, भाई! परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनेश्वर की सीधी वाणी है, वह सन्तों के द्वारा बाहर आयी है। आहाहा!

वह **कर्म का परिणाम,...** कहा। किसे? जीव में होनेवाले ज्ञानी को राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, परमात्मा की स्तुति, वह सब राग अन्तरंग कर्म के परिणाम हैं।

मुमुक्षु : कर्म में भावकर्म, द्रव्यकर्म दोनों इकट्ठे लेना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ द्रव्यकर्म, भावकर्म दोनों इकट्ठा (लेना)। भाई ने प्रश्न किया था कि जीव भावकर्म-द्रव्यकर्म, नोकर्म से तो रहित है तो फिर उसमें भावकर्म और

नोकर्म से रहित आया और द्रव्यकर्म से तो आया नहीं परन्तु द्रव्यकर्म ही भावकर्मरूप परिणमता है, ऐसा यहाँ लेना है। इसलिए द्रव्य-भाव और नोकर्म तीनों आ गये। आहाहा! अरे रे! ऐसी बात लोगों को मिलना मुश्किल पड़ता है, समझना तो... आहाहा!

भगवान आत्मा राग से भिन्न पड़कर, पर्याय को द्रव्य में झुकाया है, जिसकी ज्ञान की पर्याय में पूरा पूर्ण ज्ञेय का ज्ञान हुआ है, उस ज्ञानी को ज्ञान का लक्षण क्या होता है ? ऐसा पूछा है। आहाहा! तो कहते हैं कि सुन, प्रभु! यह कर्म जड़ है और इसके निमित्त से हुए उपादान, अशुद्ध उपादान से पर्याय में आत्मा में है, परन्तु यहाँ अशुद्ध उपादान का कार्य, कर्म के निमित्त से होने से कर्म में डाल देना है और यहाँ शुद्ध उपादान भगवान आत्मा के तो शुद्ध वीतरागी परिणाम होते हैं। आहाहा! उनका भी कर्ता कहना, वह उपचार से है। विकार के परिणाम का कर्ता तो उपचार से भी नहीं है। समझ में आया ? आहाहा! यह तो गम्भीर वाणी है, प्रभु! यह कर्म परिणाम कहा।

और स्पर्श,... इस शरीर में। **स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द,...** वाणी **बन्ध,...** अन्दर वह, **संस्थान, स्थूलता,...** स्थूल और **सूक्ष्मता...** अन्दर परमाणु **आदिरूप से बाहर उत्पन्न होता हुआ...** आहाहा! कर्मरूप जो पर्याय होती है, शरीररूप जो पर्याय होती है, मन के परमाणुरूप जो पर्याय होती है, वाणी के परमाणुरूप जो पर्याय होती है, वह सब बाहर उत्पन्न होता हुआ; वह (रागादि) अन्तरंग परिणाम में, यह बाहर में। **जो नोकर्म का परिणाम,...** शरीर आदि, वाणी आदि की पर्याय **वह सब ही पुद्‌गल-परिणाम हैं।** दोनों, पहले कर्म के परिणाम कहे और यह नोकर्म के, दोनों पुद्‌गल के परिणाम हैं; आत्मा के नहीं। आहाहा! यहाँ ज्ञानी की व्याख्या है न ? आहाहा! आहाहा! ज्ञानी ने तो ज्ञानस्वभाव को जाना है, वह राग से तो भिन्न जाना है। भिन्न जाना है अर्थात् राग के परिणाम हैं, वे जीव के परिणाम हैं, ऐसा यहाँ नहीं है। आहाहा! यह बाहर में होता हुआ नोकर्म का परिणाम, वह सब ही अर्थात् कर्म परिणाम और नोकर्म परिणाम, **वह सब ही पुद्‌गल-परिणाम हैं।** वे पुद्‌गल के परिणाम हैं, जड़ के परिणाम हैं। आहाहा!

परमार्थ से,... वास्तव में। वह पहले निश्चय से लिया था न, उसके परिणाम पर के हैं, ऐसा। **परमार्थ से, जैसे घड़े के और मिट्टी के व्याप्यव्यापकभाव का सद्‌भाव होने**

से... क्या कहते हैं ? मिट्टी है, वह स्वयं कर्ता है अर्थात् व्यापक है और घड़ा है, वह व्याप्य है, वह उसका कर्म है, उसका कार्य है। समझ में आया ? मिट्टी है, वह व्यापक है अर्थात् पसरती है, ऐसा अभी पर्याय को कहना है न ? बाकी तो पर्याय पसरती है परन्तु मिट्टी व्यापक है अर्थात् कर्ता है अर्थात् बदलनेवाली है, ऐसी वह मिट्टी व्यापक है और घड़ा उसका व्याप्य / कार्य / कर्म, उसकी दशा है। घड़ा, वह मिट्टी की दशा है। वह कुम्हार की दशा नहीं है, कुम्हार का कार्य नहीं है। आहाहा! समझ में आया ?

कल आया था, वही आवे, ऐसा कुछ है ? आहाहा! **जैसे घड़े के और मिट्टी के व्याप्य...** देखो! घड़ा है, वह व्याप्य है। व्याप्य अर्थात् कार्य है। व्याप्य पहले लिया है। घड़ा, वह व्याप्य है; व्याप्य अर्थात् कार्य है; कार्य अर्थात् पर्याय है। किसकी ? उस व्यापक मिट्टी की। वह व्यापक अर्थात् मिट्टी। मिट्टी कर्ता और मिट्टी व्यापक, उसका घड़ा व्याप्य / कर्म और कार्य उसका है। वह कर्म कहो या कार्य कहो। वह घड़ा, मिट्टी का कार्य है। घड़ा, कुम्हार का कार्य नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

मुमुक्षु : घड़ा कुम्हार का कार्य नहीं, ऐसा मानना...

पूज्य गुरुदेवश्री : कुम्हार के परिणाम का कर्ता कुम्हार स्वयं, घड़े के परिणाम का कर्ता वह कहाँ से आवे ? पर्याय को स्पर्श नहीं करता वहाँ। कुम्हार उस घड़े की पर्याय को छूता–स्पर्श भी नहीं करता, एक–दूसरे में तो अभाव है। आहाहा! वह तो वास्तव में तो कर्म का उदय है, उसे राग स्पर्श नहीं करता तथा राग, उदय को स्पर्श नहीं करता परन्तु उसे यहाँ स्वभाव में वह नहीं है, इसलिए उस विभाव की ऊपर से क्रिया होती है, वह कर्म की हुई है—ऐसा कहा है; बाकी कर्म का उदय है और यहाँ राग हुआ है, उस राग को कहीं उदय छूता नहीं है। राग है, वह उदय—जड़ के उदय को स्पर्श नहीं करता, तथापि स्वभाव का वह कार्य नहीं है; इसलिए वह विभाव का कार्य, वह कर्म का कार्य है—ऐसा कहकर कर्म के परिणाम कहा है। आहाहा! समझ में आया ? है न सामने पुस्तक ? यह प्रेमचन्दभाई को सुनने को मिला। यह कल कहा गया था न, फिर से यह लिया। आहाहा! आहाहा!

शरीर की जो चेष्टाएँ और शरीर की जो आकृति है, वह सब परमाणु का परिणाम है, नोकर्म जो शरीर है, उसका वह परिणाम है। आहाहा! यह सुन्दरता दिखायी दे, आकर्षण

दिखायी दे, वे सब परिणाम / पर्याय / कार्य शरीर के रजकण हैं, उनका वह कार्य है। आहाहा! है ? उनका कार्य है। आहाहा! वह उसे-अज्ञानी को आकर्षित करता है, यह सुन्दर शरीर है, यह है और यह है, रूपवान है, सुन्दर है, कोमल है, परन्तु वह तो जड़ की पर्याय है न, प्रभु! वह तो पुद्‌गल, जड़, नोकर्म की पर्याय है आहाहा! और राग-द्वेष, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम, वे कर्म के परिणाम हैं। क्योंकि पर्याय में उत्पन्न हुए हैं; गुण में या द्रव्य में वे नहीं हैं। इसलिए पर्याय में उत्पन्न होते हैं, वे निमित्त के आधीन हुए हैं, वे निमित्त के हैं—ऐसा कहने में आया है। वे शुद्ध उपादान के आधीन नहीं हुए हैं। आहाहा!

शुद्ध जो ज्ञातादृष्टा अनन्त गुण का जो पवित्र प्रभु है, उसके आधीन हुए तो शुद्ध हों; इसलिए अशुद्धता के परिणाम जो हैं, अशुद्ध निश्चयनय से; उन्हें यहाँ व्यवहार कहकर, उन्हें निमित्ताधीन हुए कहकर पर में डाल दिया है। आहाहा! चेतनजी! ऐसा है। आहाहा! यह तो भूलने जैसा है। बापू! यह तो अनन्त काल में इसने यह नहीं किया। अरे रे! ऐसा मनुष्य का भव अनन्त काल में मिले, उसकी कीमत करके करने योग्य तो यह है; बाकी तो सब अज्ञानदशा से बाहर का कर्ता-कर्म माने, (वह) भटकेगा। आहाहा!

परमार्थ से, जैसे घड़े के और मिट्टी के... घड़ा, वह व्याप्य अर्थात् काम है, कार्य है; मिट्टी, वह कारण है अर्थात् व्यापक है। कार्य-कारण (व्याप्य-व्यापक) **भाव का सद्‌भाव होने से...** घड़ा, वह कार्य है और मिट्टी, वह कारण है। यह **सद्‌भाव होने से कर्ताकर्मपना हैं...** मिट्टी कर्ता और घड़ा उसका कार्य। कुम्हार कर्ता और घड़ा उसका कार्य, ऐसा नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बातें जँचना (बहुत कठिन है)। रोटी बनती है, रोटी; वह रोटी के परिणाम जो आटा है, उसके वे हैं। यह बेलन है, उससे यह रोटी के परिणाम हुए नहीं हैं, क्योंकि बेलन है, वह आटा को स्पर्श भी नहीं करता, क्योंकि आटे के परमाणु और बेलन के परमाणु, दोनों के बीच अभाव है। अभाव है, इसलिए उसे स्पर्श नहीं करते। आहाहा! इसलिए वे रोटी के परिणाम... रोटी पर्याय है न ? उस परिणाम का कर्ता, वह आटे के परमाणु हैं। वह स्त्री कर्ता नहीं, तवा कर्ता नहीं, अग्नि कर्ता नहीं, बेलन कर्ता नहीं। आहाहा! ऐसी बातें आयी है। वीतरागमार्ग, बापू! यह तो सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं है नहीं। वीतराग सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यमत में तो इस बात की गन्ध भी नहीं है।

आहाहा! जिनके मत में हैं (और उसमें) उत्पन्न हुए हैं, उन्हें भी इसकी खबर नहीं कि यह क्या है यह मार्ग?

घड़े के और मिट्टी के व्याप्यव्यापकभाव का... व्याप्यव्यापकपने का, ऐसा लिया। **सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना हैं; उसी प्रकार पुद्गलपरिणाम के...** अर्थात् पुण्य-पाप के परिणाम, दया, दान, राग आदि के परिणाम के और शरीर के परिणाम के तथा **पुद्गल के ही व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से...** आहाहा! जैसे मिट्टी के और घड़े के कर्ता-कर्मपना है; उसी प्रकार राग-द्वेष के, पुण्य-पाप के भाव के और पुद्गल के कर्ता-कर्मपना है। पुद्गल कर्ता है और यह राग, द्वेष उसका कार्य है। पुद्गल, व्यापक और पुण्य, पाप के, दया, दान, व्रत के विकल्प, वह व्याप्य, वह उसका कार्य है। आहाहा! यहाँ तो राग से भिन्न पड़ा, ऐसा जो ज्ञान, उस ज्ञानी का लक्षण क्या?—ऐसा पूछा है न? आहाहा! जो धर्मी हुआ, सम्यग्दृष्टि हुआ, उसका क्या लक्षण ज्ञान का? कि इसे ज्ञान हुआ, उसका निशान क्या? कि जो रागादि के परिणाम होते हैं और शरीर के परिणाम होते हैं, वे सब पुद्गल के परिणाम हैं। उन्हें ज्ञानी ज्ञान में रहकर, राग को स्पर्श किये बिना, स्व-पर प्रकाशकरूप से परिणमता है, वह ज्ञान का परिणाम उस ज्ञानी का कार्य है। ज्ञानी का राग कार्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

पुद्गलद्रव्य... यह पुद्गल परिणाम को अर्थात् पुण्य-पाप के भाव को और शरीर के परिणाम को दोनों को पुद्गल परिणाम कहा तथा पुद्गल को अर्थात् कर्म के परमाणु को और शरीर के परमाणु को, **व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना है।** पुद्गल जो कर्म, जड़ है, वह कर्ता है और पुण्य, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम उस कर्ता का कार्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : राग, द्वेष रूपी हो गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : रूपी क्या, जड़ कहा न? यह पुद्गल यहाँ तो अभी कहेंगे। पुद्गल परिणाम यहाँ तो अभी लिया, अन्त में कहा था न कल, पुद्गल है, पुद्गल। जीवद्रव्य भिन्न, निर्मल पर्यायसहित का भिन्न और इन परिणामसहित का जड़ भिन्न, वह पुद्गल है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! यह वीतराग... उसमें-लन्दन में कहाँ मिले?

मुमुक्षुः ऐसी बात कहीं भी सुनने को मिले, ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भाग्यशाली को तो कान में पड़े, ऐसी बात है, बापू! यह वस्तुस्थिति है। आहाहा!

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी देश में कहीं जानने को मिले, ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; बात सत्य है। लन्दन में (पढ़ते हैं)। बात तो सत्य है, बापू! आहाहा!

पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्र... यह कर्म जो पुद्गल है और शरीर जो पुद्गल है दोनों, **स्वतन्त्र व्यापक है, इसलिए...** वह कर्म पुद्गल है और शरीर के परमाणु पुद्गल हैं, दोनों स्वतन्त्ररूप से, आहाहा! **पुद्गलपरिणाम का कर्ता है...** आहाहा! आत्मा में ज्ञानी को जो राग-द्वेष होते हैं, वे ज्ञानी को नहीं होते। वह पुद्गलपरिणाम है, वह पुद्गल से हुए हैं। आहाहा! हैं? वह पुद्गल, स्वतन्त्ररूप से कर्ता लेना है न? 'कर्ता उसे कहते हैं कि जो स्वतन्त्ररूप से करे।' अतः कर्म-पुद्गल स्वतन्त्ररूप से पुण्य-पाप और दया, दान, भक्ति के परिणाम करता है। 'कर्ता, स्वतन्त्ररूप से करे, उसे कर्ता कहा जाता है।' आहाहा! समझ में आया?

अरे! देह छूट जाएगी, अकेला चला जाएगा। यदि यह सत्य बात नहीं समझे तो इसे सम्यग्ज्ञान नहीं होगा तो यह भविष्य में कहाँ रहेगा? चौरासी के अवतार में अनजाने घर में, अनजाने क्षेत्र में, अनजाने काल में (चला जाएगा)। आहाहा! इसलिए कहते हैं कि तू एक बार तेरे आत्मा को जान, बापू! आहाहा! यह भगवान आत्मा शुद्ध गुण सम्पन्न प्रभु है न, भाई! उस शुद्ध गुण सम्पन्न का कार्य विकारी किस प्रकार हो? आहाहा! यह विकारी कार्य जो है, वह व्यवहारनय से और अशुद्धनय से इसमें है परन्तु वह व्यवहारनय का विषय जो है, वह कर्म से हुआ है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। आत्मा के शुद्ध गुणों से विकार किस प्रकार होगा? इसलिए पुद्गल स्वतन्त्ररूप से-ऐसा कहा वापस। कर्म के पुद्गल स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर यह दया, दान और भक्ति के भाव होते हैं। आहाहा! समझ में आया?

कर्ता सिद्ध करना है न? 'कर्ता, स्वतन्त्ररूप से करे, वह कर्ता और कर्ता का इष्ट, वह कर्म, कर्ता का इष्ट-प्रिय, वह उसका कार्य' अतः कर्म, कर्ता स्वतन्त्ररूप से है, उसके

पुण्य-पाप के भाव इष्ट, वह उसका कार्य है। आहाहा! आत्मा को पुण्य-पाप इष्ट नहीं है। धर्मी को पुण्य-पाप इष्ट नहीं है; आहाहा! इसलिए धर्मी को वह इष्ट कार्य जो कर्म का है, उसका उसे जाननेवाला कहना, यह भी व्यवहार है। आहाहा! उसके ज्ञान के परिणाम को वह जानता है, राग को नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। थोड़ा परन्तु उसे सत्य होना चाहिए न, बापू! परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर का यह वचन है। आहाहा! इन्द्रों और गणधरों के समक्ष भगवान विराजते हैं, वह वाणी इस प्रकार से कर रहे हैं। आहाहा! ये कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, सब सुना। ज्ञानी तो थे, विशेष स्पष्ट हुआ, (वहाँ से) आकर ये शास्त्र बनाये। उन भगवान का यह सन्देश है। तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ प्रभु का यह सन्देश है कि जो कोई धर्मी और ज्ञानी होता है, उसे जो राग के परिणाम होते हैं, उन राग के परिणाम का कर्ता पुद्गल है और वह भी आत्मा की कुछ भी अपेक्षा रखे बिना पुद्गल स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर यह भगवान की स्तुति का भाव, भक्ति का भाव, राग का भाव स्वतन्त्ररूप से करता है। आहाहा! समझ में आया?

यह पुद्गलपरिणाम, **पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक है, इसलिए पुद्गलपरिणाम का कर्ता है...** स्वतन्त्र कहा न? **और पुद्गलपरिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने के कारण...** आहाहा! यह दया, दान, व्रत के, भक्ति के, स्तुति के, भगवान की स्तुति का जो राग, आहाहा! वह **पुद्गलपरिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने के कारण...** वह पुद्गलपरिणाम भाव राग, वह व्यापक ऐसा जो पुद्गल, उससे स्वयं व्याप्य होने से, स्वयं कार्य होता होने से, पुद्गल में स्वयं कार्य होता होने से... आहाहा! यह कल तो आ गया है।

मुमुक्षु : विशेष आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : विशेष आया। आहाहा! कल हमारे जीवराजजी नहीं थे, कल नहीं थे, इन्हें ठीक नहीं था। आहाहा! क्या कहा? कि ज्ञानी-धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे रागादि के परिणाम दया, दान, भक्ति के आवें, उन परिणाम का स्वतन्त्ररूप से कर्म, कर्ता होने से उस कर्म का वह पुण्य-पाप का भाव कार्य है; वह धर्मी का कार्य नहीं है। आहाहा! आहाहा! उस सम्यग्दृष्टि जीव का यह कार्य नहीं है। आहाहा!

एक ओर पंचास्तिकाय में ऐसा कहना कि जितने दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के परिणाम होते हैं, वे षट्कारकरूप से जीव की पर्याय में पर्याय से होते हैं। वहाँ अस्तिकाय का स्वतन्त्रपना सिद्ध करना है। पर से भिन्नपना (सिद्ध करना है)। गाथा ६२। वह विकार के परिणाम षट्कारकरूप से, द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं, निमित्त की अपेक्षा तो नहीं। वे विकार के परिणाम पर्याय में स्वतन्त्ररूप से कर्ता, विकार परिणाम कर्ता; विकारी कार्य; विकार, वह साधन; विकार, वह अपादान; उससे विकार होकर रखा; विकार के आधार से विकार हुआ—ऐसे षट्कारकरूप से पंचास्तिकाय की ६२ गाथा (में कहा है), जो बड़ी चर्चा वर्णीजी के साथ ईसरी में बाईस वर्ष पहले हुई थी। कहा, इस प्रकार से है। वहाँ वे कहें- नहीं, नहीं - ऐसा नहीं, वह तो अभिन्न की बातें हैं। परन्तु अभिन्न की अर्थात् क्या?

वह विकारी परिणाम एक समय के मिथ्यात्व के होते हैं, वे भी राग-द्वेष के परिणाम को षट्कारक का परिणमन, वह पर्याय का पर्याय में है। उस पर्याय को द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं, उस विकारी को कर्म के निमित्त की अपेक्षा नहीं, आहाहा! इतना वहाँ सिद्ध करना है। वहाँ उसमें हुआ वह। प्रवचनसार की १०२ गाथा में वे विकारी परिणाम होते हैं, उस-उस समय में उनका वह उत्पन्न होने का काल है। जीव में जिस समय जो कुछ मिथ्यात्व, राग-द्वेष होते हैं, उस समय वह उत्पन्न होने का उनका जन्मक्षण है। वह उत्पत्ति का काल है, ऐसा वहाँ सिद्ध किया है। दो बात। आहाहा! तीसरा, कि काललब्धि के कारण उस-उस जीव को उस-उस प्रकार के राग के परिणाम उस-उस काल में होते हैं, वह उसकी काललब्धि है, तीन। चौथा, यह कि वह तो उसका अस्तित्व उसमें है, इतना सिद्ध किया।

अब जो ज्ञानी हुआ, वह ज्ञानी है, वह राग के परिणाम से भिन्न पड़कर अपनी ज्ञान की पर्याय को ज्ञायक में झुकाकर... आहाहा! यह कहीं कम पुरुषार्थ है?

मुमुक्षु : अनन्त पुरुषार्थ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! जिसकी दशा की दिशा बदल गयी। जिसकी ज्ञानपर्याय की दशा की दिशा बदल गयी, अन्दर गयी, आहाहा! ऐसे ज्ञानी को जो कुछ राग उसके परिणाम में दिखायी देता है, दया का, दान का, भक्ति का, व्रत का, स्तुति का, पूजा का; उस परिणाम को पुद्गलकर्म स्वतन्त्ररूप से व्यापक होने से, उसे पर की कोई अपेक्षा

नहीं है। कमजोरी आत्मा की है, इसलिए हुए—ऐसी अपेक्षा यहाँ नहीं है। आहाहा! ऐसा है, बापू!

यह रामजीभाई कहते हैं फिर से लेना, तो फिर से यह (बात आयी)। आहाहा! आहाहा! और वह भी भाई यहाँ ज्ञानी से बात ली है, भाई! निर्विकल्प समाधिवाला है, वह बात यहाँ नहीं ली है। कर्ता-कर्म में यह अधिकार है और वह ज्ञानसागर कहते हैं, नहीं, निर्विकल्प समाधि में से हटे, इसलिए ज्ञानी नहीं, अज्ञान हो गया। अब उनका शिष्य अभी विद्यासागर है। बहुत महिमा है। अभी छोटी उम्र है ३०-३२-३३ वर्ष का जवान है, व्याकरण पढ़ा हुआ है। भाई! मार्ग अन्दर अलग है, बापू! आहाहा!

पुद्गलपरिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने के कारण... क्या कहा? पहले कर्ता कहा कि पुद्गलद्रव्य जो कर्म है, वह स्वतन्त्ररूप से व्यापक होकर पुद्गलपरिणाम का कर्ता होता है। अब कर्म सिद्ध करना है। यह **पुद्गलपरिणाम उस व्यापक से...** अर्थात् कर्म के पुद्गल के पसरने द्वारा-कर्ता द्वारा **स्वयं व्याप्त होने के कारण...** ये रागादि, पुण्य, दया, दान के विकल्प आदि भाव, वे स्वयं अपना स्वयं का कार्य हुआ होने से व्याप्यरूप होने से वह कर्म है। आहाहा! है? वह पुद्गल का कार्य है। आहाहा! भगवान की स्तुति करना, कहते हैं, पर है न? उसका राग, वह कर्म का कार्य है। वह कर्म स्वतन्त्ररूप से कर्ता हुआ है। जीव की कमजोरी है, इसलिए (हुआ), यह अपेक्षा भी यहाँ नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो ज्ञानी को ज्ञान की सुलटाई है। जाननेवाला-देखनेवाला खड़ा हुआ है, इसलिए उस राग के परिणाम को कर्म का कार्य गिनकर, राग का ज्ञान करनेवाला ज्ञानी है, ऐसा कहना वह भी अभी व्यवहार है। उस ज्ञान के परिणाम को करता है, ऐसा कहना, वह भी अभी व्यवहार है। ज्ञान के परिणाम ज्ञान करता है, वह निश्चय है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, बापू! बहुत गहरा मार्ग है। आहाहा! गहरा और गम्भीर है। आहाहा! है?

मुमुक्षु : एक बार आपने जगमोहनलालजी को कहा, परन्तु उन्हें जँचा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्होंने अमृत कलश में लिखा है कि व्यवहार से निश्चय होता है। ऐसा लिख डाला। स्वयं प्रतिमा लेकर बैठे हैं न! फूलचन्दजी ने इनकार किया, निषेध

किया हो। होता है जगत में अभी सब बहुत है। अनेक संघ / सम्प्रदाय अनेक बहुत प्रकार से अनेक भिन्न-भिन्न होते हैं, उनकी कहाँ अपन आलोचना कितनी करें! आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा तीन लोक के नाथ वीतराग की वाणी में आया, उसे सन्त जगत को आढ़तिया होकर प्रसिद्ध करते हैं। माल भगवान के घर का है, तीर्थंकरदेव परमेश्वर (का है)। इन सन्तों ने माल को कितना ही लिया है और वे अनुभवी होकर बात करते हैं। पूर्ण तो सर्वज्ञ का है। आहाहा! आहाहा!

पुद्‌गलपरिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने के कारण... देखा! ये विकार के परिणाम स्वयं कर्म का कार्य होता है। आहाहा! चौबीस तीर्थंकर की स्तुति स्वयंभू स्तोत्र में की है। भाई ने-(आचार्य) समन्तभद्र (ने की है)। वह भी कहते हैं कि यह पर की स्तुति है, यह विकल्प-राग है। आहाहा! वहाँ लिखा है। उस राग के परिणाम का स्वतन्त्ररूप से व्याप्त होने से व्यापक पुद्‌गल का वह कार्य है। आहाहा! अरे रे! है? मार्ग ऐसा है, बापू! क्या हो? आहाहा! कहो, कालीदासभाई! यह समझ में आता है? कहीं मुम्बई-मुम्बई में नहीं मिलता। वहाँ व्यापार-धन्धे में कहीं। पैसा-वैसा सब बहुत करोड़पति कहलाते हैं, करोड़पति का (पद) दिया लम्बा-बड़ा लपसीदर होवे न, पच्चीस-पचास लाख होवे तो लोग करोड़पति कह दें। पति को भी वह? करोड़ का न, जड़ का न? जड़ का पति तो जड़ होता है। भैंस का मालिक पाड़ा होता है।

मुमुक्षु : दुनिया में उसका बोलबाला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया में, पागल-पागल में तो बोलबाला ही चले न। आहाहा!

स्वयं व्याप्त होने के कारण कर्म है। इसलिए पुद्‌गलद्रव्य के द्वारा कर्ता होकर... उस कर्म द्वारा कर्ता होकर, शरीर द्वारा कर्ता होकर। **कर्मरूप से किया जानेवाला...** कार्यरूप से जो किया जानेवाला **जो समस्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्‌गलपरिणाम है...** समस्त रागादि के परिणाम, वह कर्म का और शरीर के परिणाम, वह नोकर्म के वे पुद्‌गलपरिणाम **उसे जो आत्मा,... उसे जो आत्मा पुद्‌गलपरिणाम को और आत्मा को...** आहाहा! बाकी रहेगा थोड़ा। परसों वापस आनेवाला है न? कल तो सज्झाय है। कल अष्टमी है, परसों के दिन आनेवाले हैं न वे सब, उनके लिये कुछ बाकी है न। आहाहा!

क्या कहा ? **कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलपरिणाम है...** अर्थात् राग के, दया के, भक्ति के, स्तुति के परिणाम, वे कर्म के परिणाम हैं; आत्मा के नहीं। आहाहा! और शरीर की हिलने-चलने की पर्याय, बोलने की पर्याय का कर्ता परमाणु है। उसका वह पुद्गल परिणाम है। **उसे जो आत्मा, पुद्गलपरिणाम को और आत्मा को घट और कुम्हार की भाँति...** आहाहा! **व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण...** देखा! पहले सद्भाव कहकर, फिर अभाव सिद्ध किया है। जैसे मिट्टी को और घड़े को सद्भाव-कर्ताकर्मपना है, वैसे आत्मा को और राग को कर्ताकर्मपना सद्भाव नहीं है। आहाहा!

अरे रे! बात-बात में अन्तर!! ऐसा मार्ग! यह मनुष्यपना चला जाएगा, बापू! इसकी स्थिति पूरी हो जाएगी, इसलिए फिर समाप्त हो जाएगा। पश्चात् तूने क्या किया, वह तेरे परिणाम तेरे साथ रहेंगे। यहाँ तो पाँच-पच्चीस-पचास वर्ष धूल में, अनन्त काल भविष्य में रहना है। वह इस राग का परिणाम मेरा कार्य है और मैं इसका कर्ता हूँ, यह अज्ञानभाव है, क्योंकि स्वरूप शुद्ध है, वहाँ कर्तापना कर्म का-राग का कहाँ से आवे ? आहाहा! शुद्ध है, परन्तु शुद्ध को कार्य अशुद्ध किस प्रकार हो ? इस अपेक्षा से अशुद्ध का कार्य अशुद्ध निश्चय का व्यवहार कहकर, व्यवहार कहकर निमित्त का पुद्गल स्वतन्त्ररूप से राग करता है। आहाहा!

घट और कुम्हार की भाँति... जैसे उस पुद्गल परिणाम और आत्मा को; आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, स्तुति के परिणाम को और आत्मा को **घट और कुम्हार की भाँति...** आहाहा! **व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण...** यह व्याप्य अर्थात् जैसे घट व्याप्य और कुम्हार व्यापक नहीं है; उसी प्रकार पुद्गल परिणाम व्याप्य और आत्मा व्यापक, ऐसा नहीं है। यह पुद्गल व्यापक और रागादि परिणाम उसका व्याप्य है। आहाहा! समझ में आया ?

कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से,... कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से, परमार्थ से (आत्मा) करता नहीं है,... आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, स्तुति के परिणाम को जीव परमार्थ से-सच्ची दृष्टि से करता नहीं है। विशेष कहा जाएगा....

(***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १६२, गाथा-७५, दिनांक ०७-०१-१९७९, रविवार, पौष शुक्ल-१०

श्री समयसार, गाथा ७५। यहाँ तक तो आया है। आत्मा में... ज्ञानी कैसे पहिचाना जाए यह प्रश्न है। इस जीव को ज्ञान हुआ या सम्यक् हुआ, उसका चिह्न क्या है, उसका लक्षण क्या, उसका चिह्न क्या? ऐसा प्रश्न किया गया है। उसके उत्तर में यहाँ कहा।

अन्तिम—'समस्त कर्म-नोकर्म पुद्गलपरिणाम' नीचे से है। जितने आत्मा में दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, आदि के भाव होते हैं, वे सब परिणाम पुद्गल के हैं। क्योंकि यहाँ आत्मा है, वह तो अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु है, उसमें कोई गुण विकार करे, ऐसा गुण नहीं है; इसलिए अनन्त गुण जो शुद्ध हैं, उसका जिसे ज्ञान-भान हुआ, उस जीव को उसका कार्य-राग उसका कार्य नहीं है।

क्योंकि द्रव्य जो स्वभाव है, वह शुद्ध चैतन्य पवित्र स्वभाव से भरपूर भगवान है। उसकी जिसे दृष्टि हुई है, उसे शुद्ध परिणाम का कर्ता, वह उपचार से कहलाता है। शुद्ध परिणाम जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के हैं, उस परिणाम का स्वभाव की दृष्टिवन्त को उपचार से कर्ता कहा जाताा है और वह शुद्धपरिणाम उपचार से उसका कार्य कहा जाता है। भेद पड़ा न? वास्तव में तो वह शुद्धपरिणाम जो है, शुद्ध चैतन्य द्रव्य की दृष्टि होने से जो शुद्धपरिणाम हैं, वे षट्कारकरूप से परिणमते हुए खड़े होते हैं। आहाहा! यह क्या कहा? शुद्ध द्रव्य और शुद्ध गुणस्वभाव है, ऐसी दृष्टि हुई तो उस दृष्टि के जो परिणाम हैं, वे वास्तव में तो षट्कारकरूप से परिणमते हुए उत्पन्न होते हैं। उन परिणाम को द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं है, निमित्त की अपेक्षा नहीं है। सूक्ष्म है, भाई!

अज्ञान में पुण्य और पाप के भाव अशुद्ध निश्चयनय से अर्थात् व्यवहार से उसकी पर्याय में है और उसके जन्मक्षण में उस काल में विकार उसमें होता है, वह उत्पन्न होता है, उसका अज्ञानी कर्ता है और अज्ञानी का उसमें वह कार्य है, क्योंकि उसे द्रव्यस्वभाव जो गुण पवित्र है, उसकी दृष्टि नहीं हुई और दृष्टि वहाँ राग के परिणाम पर होने से, अज्ञानी राग का कर्ता और राग उसका कार्य और वास्तव में तो राग का कार्य पर्याय का है, उसका कर्ता राग है। राग का कर्ता राग है; राग का कार्य राग है; राग का साधन राग है। जिसकी

दृष्टि राग के ऊपर और विकार के ऊपर है, उसके परिणाम विकार के षट्कारकरूप से परिणमते हुए उत्पन्न होते हैं।

जिसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव के ऊपर है। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध अनन्त... अनन्त... अनन्त... का पार नहीं इतने गुण, परन्तु वे कोई गुण विकार को करे, ऐसा कोई गुण नहीं है; इसलिए उस गुण के धारक द्रव्य को जिसने दृष्टि में लिया, उसका कार्य दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वह उसका कार्य नहीं है। वह पुद्गल स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर, कर्म स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर वह विकारी परिणाम का कर्म / कार्य उसका है। चन्दुभाई! यह ऐसा है।

एक ओर यह कहना कि अशुद्ध उपादान से विकार जीव में होता है। यह तो उसकी पर्याय की सिद्धि करने के लिये (कहा है) परन्तु जब आत्मा की दृष्टि जहाँ पर्याय से हटकर... आहाहा! और जो पर्याय ज्ञान की है, उसे अन्तरतल में ले जाकर, ध्रुव में ले जाकर अनुभव हुआ, आहाहा! उसे दृष्टि के विषय में जो द्रव्यस्वभाव आया, उसका कार्य तो निश्चय से तो वह शुद्धपरिणाम भी उसका कार्य निश्चय से नहीं है। शुद्धपरिणाम, परिणाम का कार्य है परन्तु जिसकी दृष्टि राग के ऊपर है और स्वभाव के ऊपर नहीं है, उसका भी राग का कर्ता, कर्म और साधन पर्याय का राग में है।

धर्मी को समस्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल परिणाम; पुद्गल परिणाम में यहाँ दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, पूजा सब लेना। **उसे जो आत्मा, पुद्गलपरिणाम को और आत्मा को घट और कुम्हार की भाँति...** आहाहा! जैसे कुम्हार घट का कर्ता नहीं है अर्थात् कुम्हार व्यापक होकर घट का व्याप्य कार्य उसका नहीं है। वह तो मिट्टी स्वयं कर्ता होकर व्यापक होकर, घड़ा उसका व्याप्य अर्थात् कर्म अर्थात् कार्य है; उसी प्रकार जो पुण्य-पाप के परिणाम हैं, पुद्गलपरिणाम और आत्मा को... है ? यह पुद्गलपरिणाम और आत्मा को घट और कुम्हार की भाँति, जैसे घट का व्याप्य कार्य कुम्हार का नहीं है, उसी प्रकार जीव में होनेवाला विकारी परिणाम और ज्ञानी का व्याप्य-कार्य नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बातें। समझ में आया ?

पुद्गलपरिणाम को आत्मा—पुद्गलपरिणाम शब्द से दया, दान, राग, द्वेष चाहे जो

विकार परिणाम, उसे और आत्मा को। **पुद्गलपरिणाम को और आत्मा को घट और कुम्हार की भाँति...** जैसे कुम्हार घट का कार्य करनेवाला नहीं है, उसी प्रकार धर्मी पुण्य-पाप के परिणाम के कार्य का कर्ता नहीं है। आहाहा! कुम्हार को **व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से, परमार्थ से करता नहीं है,...** आहाहा!

जिसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर पड़ी है, उस दृष्टिवन्त को जो कुछ पुण्य और पाप के भाव होते हैं, उनका उसे व्याप्य-व्यापकपना-कर्ताकर्मपना नहीं है। उनका व्याप्य-व्यापकपना पुद्गल में जाता है। आहाहा! उपादानवाले विरोध करें कि उपादान तो तुम कहते हो पर्याय में होता है और फिर यहाँ कहते हो कि कर्म के कारण होता है। आहाहा! भाई! होता है उसके उपादान की पर्याय में ही, परन्तु वह अशुद्ध उपादान है, इसलिए जिसकी दृष्टि शुद्ध उपादान पर गयी है, उसके उस परिणाम को विकार के परिणाम का कर्ता वह द्रव्यस्वभाववन्त नहीं है, ऐसा कहना है। इसलिए जो पर्याय में अध्धर से उत्पन्न होता है, उसे पुद्गल स्वतन्त्ररूप से करके उसका व्याप्य कार्य-विकार उसका कार्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : जीव की पर्याय का काम पुद्गल करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न कि पर्याय में अशुद्ध उपादान है, वह उसमें है, परन्तु जहाँ दृष्टि स्वभाव के ऊपर पड़ी है, इसलिए जो पर्याय में उत्पन्न होता है, वह कहीं गुण का कार्य नहीं है; इसलिए उसे कर्म को स्वतन्त्ररूप से कर्ता कहकर, विकार उसका व्याप्य अर्थात् कर्म अर्थात् कार्य है। चन्दुभाई! ऐसा है। मार्ग ऐसा है, बापू!

एक ओर ऐसा कहना कि ज्ञेय जो छह-छह प्रकार—ज्ञेय है, उसकी वह-वह पर्याय उस काल में होती है, उस पर्याय का वह उत्पत्ति का जन्म-क्षण उसका है; पर से नहीं। एक ओर ऐसा कहना कि पुण्य और पाप का परिणमन पर्याय में षट्कारकरूप से, षट्कारकरूप से पर्याय से होता है; द्रव्य-गुण से नहीं, निमित्त से नहीं। आहाहा! एक ओर ऐसा कहना कि प्रत्येक के समय की जो पर्याय है, वह उसकी काललब्धि है। उस-उस काल में होने का वह काल-लब्धि है, तीन। एक ओर ऐसा कहना। आहाहा! नवरंगभाई! यह सब ऐसी बातें हैं ये। है?

मुमुक्षु : उलझन में पड़े ऐसी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उलझन निकले ऐसी बात है। आहाहा!

जिसकी दृष्टि पर्याय के ऊपर है, उसके जो विकार होता है, वह षट्कारकरूप से परिणमता, उस जीव का कार्य है—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। निश्चय से तो पर्याय का कार्य है... आहाहा! परन्तु जिसकी दृष्टि पर्याय के ऊपर से हटी और वह पर्याय जो राग में जाती थी, उस पर्याय को द्रव्य में झुकाया है, द्रव्य जो ज्ञायकभाव है, उसमें उस पर्याय को अन्तर में झुकाया है, ऐसे धर्मी जीव को दया, दान, व्रत के परिणाम भी वह उसके-पुद्गल के परिणाम हैं; जीव के नहीं।

मुमुक्षु : ऐसा ज्ञानी मानता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानी ऐसा जानता है और ऐसा ही है। क्यों है, इसका कारण तो कहा न कि दृष्टि द्रव्य के ऊपर है। द्रव्यस्वभाव में कोई ऐसा गुण नहीं कि विकार करे। आहाहा!

भाई! मार्ग अलग है, प्रभु! आहाहा! यह बात सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं है। सम्प्रदाय में भी अभी तो ऐसी बात नहीं है। आहाहा! कहो, देवीलालजी!

आहाहा! एक ओर ऐसा कहना कि उपादान इसका है तो इससे विकार होता है, वह पर्याय में उसकी पर्याय की सिद्धि करनी है। अस्तिकाय सिद्ध करना है। पंचास्तिकाय में जहाँ ६२ गाथा में। वहाँ विकार के परिणाम का षट्कारक का परिणमन विकार का विकार में है, पर नहीं, द्रव्य-गुण नहीं। आहाहा! परन्तु यहाँ तो प्रश्न यह है कि ज्ञानी का निशान और लक्षण और चिह्न क्या? अर्थात् कि जिसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव के ऊपर गयी है और जिसे पर्याय की दृष्टि उठ गयी है, ऐसा जो धर्मी है, उसके जो राग-द्वेष के परिणाम हैं, वह पुद्गलकर्म स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर स्वतन्त्ररूप से उस विकार का कार्य उसका है। आहाहा! समझ में आया? अटपटी बात है, कहते हैं। आहाहा! मार्ग तो यह है, भाई! आहाहा!

ऐसा **होने से, परमार्थ से करता नहीं है,...** देखा? द्रव्यस्वभाव की दृष्टिवन्त ज्ञानी उस राग के परिणाम को, घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापक का अभाव होने से,

उस विकार को परमार्थ से ज्ञानी करता नहीं है। आहाहा! कहो, रतिभाई! ऐसा है। कहो, है?

मुमुक्षु : अधिक स्पष्टीकरण कीजिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा तो आती है। कहा न, कि जिसकी दृष्टि अनन्त गुण जो पवित्र है, ऐसा जो प्रभु है, उस पर दृष्टि गयी नहीं, उसका स्वीकार हुआ नहीं, उसे तो वर्तमान पर्याय में होनेवाले राग और द्वेष का स्वीकार है, इसलिए उसका व्याप्य-व्यापक विकार का उसमें उससे है। पानी को छानने की क्रिया की यह बात नहीं, हो। नवरंगभाई! यह पूछा था। इस शरीर के नोकर्म के परिणाम परन्तु यहाँ तो कर्म के परिणाम जो अन्दर मैंने किये, शुभ और अशुभ जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, अपवास का विकल्प जो है, वह राग, दृष्टि-द्रव्यदृष्टिवन्त को उस राग का स्वभाव उसका नहीं है। उसकी दृष्टि स्वभाव के ऊपर है, इसलिए उस राग का व्याप्य कर्म पुद्गल स्वतन्त्र होकर, कर्ता-व्यापक होकर करता है। समझ में आया? अरे रे! अब ऐसी बातें हैं। लोगों को सत्य मिला नहीं, यह बाड़ा बाँधकर बैठे हैं। वह अपना पन्थ करने के (लिये बैठे हैं)। वह भी नहीं है यह। आहाहा!

व्रत, तप और उपवास, भक्ति, पूजा, दान, दया और ऐसे परिणाम उपवास के वे परिणाम सब राग हैं और राग का व्याप्यपना व्यापक है कर्म। यहाँ द्रव्यस्वभाव है, वह उसका व्यापक कहाँ से होगा? द्रव्यस्वभाव की दृष्टि हुई है, उस ज्ञानी को द्रव्यस्वभाव का वह विकारी कार्य कहाँ से होगा? अभी उस द्रव्यस्वभाव की दृष्टिवन्त को निर्विकारी परिणाम का कार्य भी व्यवहार से कहा जाता है,... आहाहा! उपचार से कहा जाता है। समझ में आया?

भाषा तो सादी है न, प्रभु! भाव तो जो है, वह है। इसमें कोई संस्कृत, व्याकरण और ऐसे कोई शब्द नहीं हैं। बहुत सादी भाषा में (बात है), यह तत्त्व ही ऐसा है... आहाहा! इसकी खबर नहीं, वह अज्ञान में यह राग और द्वेष के परिणाम, पुण्य-पाप के परिणाम मेरा कार्य है और मैं उसका कर्ता हूँ, वह व्याप्यव्यापकरूप से अज्ञानी परिणमता है। समझ में आया? आहाहा!

परन्तु धर्मी जीव अर्थात् द्रव्यस्वभाव की दृष्टिवन्त... आहाहा! उसे जो निर्मल

परिणाम होते हैं, उन निर्मल परिणाम का कर्ता भी उपचार से कहने में आता है। बाकी तो पर्याय, पर्याय की कर्ता और पर्याय, पर्याय का कार्य, आहाहा! और उस धर्मी को द्रव्यदृष्टि के स्वभाव के जोर के कारण जो कुछ पर्याय में कमजोरी के कारण राग-द्वेष, दया, दान हों, वह परिणाम स्वतन्त्ररूप से कर्म कर्ता होकर करता है। कर्ता होकर वह करता है; आत्मा उनका कर्ता नहीं है। आहाहा! ऐसा है। मौके से आज फिर यह आया है, रतिभाई! ऐसा मार्ग है, बापू! इस प्रकार कर्ता नहीं। यहाँ तक तो कल आया था।

परन्तु... अब आया है। **परन्तु (मात्र) पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को...** देखा! जिसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर पड़ गयी है, आहाहा! उसे जो राग होता है, उस राग का ज्ञान होता है, वह ज्ञान उसका कार्य है। है ? **पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को...** अर्थात् कि यहाँ तो कल कितनी ही बातें बात की थी कि कितने ही कहते हैं कि निर्विकल्प समाधि हो, तब ही उसे ज्ञानी कहना, नीचे उतर जाए - विकल्प में आ जाए तो उसे ज्ञान नहीं कहना। ऐसा नहीं है। यहाँ तो चौथे गुणस्थान से बात उठायी है। ज्ञानी किसे कहना ? कि जिसे द्रव्य वस्तु भगवान पूर्णानन्द अनन्त गुण का पिण्ड जिसकी दृष्टि में आ गया है, जिसकी वर्तमान पर्याय ने पर्यायवान को स्वीकार कर लिया है, आहाहा! जिसे वर्तमान पर्याय ज्ञान की है,... यह तो कहा था कल नहीं ? कि ज्ञान की पर्याय में स्वद्रव्य ज्ञात होता है, १७वीं गाथा। आहाहा! उस ज्ञान की पर्याय का ही ऐसा स्वभाव है कि उसमें स्वद्रव्य भगवान पूर्णानन्द अनन्त गुण का पिण्ड उस ज्ञान की पर्याय में ज्ञात होता है, अज्ञानी को ज्ञान में ज्ञात होता है क्योंकि पर्याय का स्वभाव स्व-परप्रकाशक होने से वह स्व को जानती है, तथापि अज्ञानी की दृष्टि वहाँ (द्रव्य के) ऊपर नहीं है; उसकी दृष्टि अन्दर राग और अंश—वर्तमान अंश के ऊपर दृष्टि होने से, उसे जानने में आता होने पर भी जानता नहीं है और उस राग के परिणाम का कर्ता अज्ञानरूप से पर्यायबुद्धि में अटक गया है। आहाहा!

पर्याय में सारा द्रव्य अज्ञानी को भी, पर्याय का स्वभाव स्व-परप्रकाशक होने से आत्मा पूर्णानन्द का नाथ उसकी पर्याय में उसे ज्ञात होता है, तथापि जाननहार के ऊपर उसकी दृष्टि नहीं है। उसकी दृष्टि अंश और राग के ऊपर है; इसलिए वह जानने में आता होने पर भी उसे नहीं जानता। आहाहा! अब ऐसी व्याख्या लोगों को कठिन पड़ती है। क्या

हो ? भाई ! मार्ग तो यह है। आहाहा ! यहाँ यह कहते हैं। पुद्गलपरिणाम को अर्थात् पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को अर्थात् यह दया, दान, व्रत के परिणाम हैं, वे पुद्गलपरिणाम हैं। क्योंकि ज्ञायकस्वभाव के परिणाम वे नहीं हैं। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि हुई, उस ज्ञायक के वे परिणाम नहीं हैं। आहाहा ! उस **पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को...** यह अभी व्यवहार सिद्ध किया है। व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान-(ऐसा) १२वीं गाथा में आया था न ? वह अभी व्यवहार कहा। यहाँ उसे बदल डालेंगे। आहाहा !

धर्मी-द्रव्यदृष्टिवन्त को, **पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को...** वह राग होता है व्यवहाररत्नत्रय का, दया, दान, भक्ति, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम, वे सब पुद्गलपरिणाम हैं, उनका ज्ञान यहाँ होता है, यह भी व्यवहार है। ज्ञान के परिणाम में ज्ञान स्वयं से स्व-परप्रकाशक के सामर्थ्य से होता है। वह राग है, इसलिए राग का ज्ञान हुआ, ऐसा कहना तो व्यवहार है। चन्दुभाई ! आहाहा ! भाई ! मार्ग तो कोई सूक्ष्म है, प्रभु ! आहाहा ! अरे ! इसे सुनने को मिलता नहीं, वह कब विचार में प्रयोग में रखे ? आहाहा ! और वह पर्याय को कब द्रव्यसन्मुख झुकावे और यह झुकाये बिना इसका कार्य होता नहीं। आहाहा !

इस **पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को...** अर्थात् क्या कहा ? जो कुछ ज्ञानी को अन्दर कमजोरी के कारण विकल्प राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव आता है परन्तु उसके ज्ञान को। उसका ज्ञान कहना, यह तो उसे समझाना है। बाकी तो ज्ञान ज्ञान का है। पर्याय का ज्ञान षट्कारकरूप से ज्ञान के परिणाम षट्कारकरूप से ज्ञान कर्ता, ज्ञान उसका कार्य, ज्ञान का साधन ज्ञान, पर्याय में। वह षट्कारकरूप से परिणमता हुआ ज्ञान, उसे यहाँ 'राग का ज्ञान', यह निमित्त से समझाया है। समझ में आया ? अरे ! ऐसी बातें हैं, बापू ! यह तुम्हारे बड़ा आया और ऐसी बात। रतिभाई ! आहाहा !

इस **पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को (आत्मा के) कर्मरूप से करता हुआ...** पर्याय, पर्याय से करती है परन्तु यहाँ द्रव्य को, कर्ता है—ऐसा उपचार से कहने में आया है। आहाहा ! यह क्या कहा ? ज्ञानी को अर्थात् जिसे परिपूर्ण द्रव्यस्वभाव परमात्मा जिसकी दृष्टि में आया, उसे जो राग है, उसका ज्ञान होता है, वह ज्ञान उसका कार्य है—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा ! वास्तव में तो उस परिणाम के ज्ञान को कहा, यह

निमित्त से कथन है, बाकी तो उस काल में वे ज्ञान के परिणाम सम्यक् षट्कारकरूप से परिणमते हुए स्वयं से खड़े होते हैं। उन्हें नहीं राग की अपेक्षा, उन्हें नहीं द्रव्य-गुण की अपेक्षा। समझ में आया? आहाहा! ऐसा मार्ग है। ईश्वरभाई! यह ईश्वरता की बड़ी बात चलती है। आहाहा!

जिसे प्रभु ज्ञात हुआ, ऐसा कहते हैं, उसमें प्रभुत्व नाम का गुण है न एक, और वह प्रभुत्वगुण है तो अनन्त गुण में उसका-प्रभुत्व का रूप है। आहाहा! ज्ञान में प्रभुत्व, दर्शन में प्रभुत्व, आनन्द में प्रभुत्व, चारित्र में प्रभुत्व, अस्तित्व में प्रभुत्व। आहाहा! ऐसे अनन्त गुण में एक-एक गुणों का अनन्त रूप है और एक-एक गुण में प्रभुता का रूप पड़ा है। आहाहा! ऐसा जो अनन्त गुण का संग्रहालय भगवान आत्मा है, वह जिसे दृष्टि में आया... आहाहा! ऐसे धर्मी को पुद्गलपरिणाम का जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान उसका कार्य है। यह दया, दान, व्रत के परिणाम, वह उसका कार्य नहीं है। उस परिणाम का कार्य स्वतन्त्र पुद्गल करके पुद्गल व्यापक होकर... क्योंकि पर्यायदृष्टि वहाँ है, इसलिए पुद्गल व्यापक होकर... आहाहा! विकार के परिणाम को वहाँ करता है। पर्यायदृष्टिवन्त को नहीं परन्तु यहाँ तो द्रव्यदृष्टिवन्त को भी ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? अब ऐसा है, लो!

पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को... आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का भाव है, वह शुभराग है। अब दुनिया ऐसा कहती है कि शुभराग से शुद्धता होती है। यहाँ कहते हैं कि शुभराग का ज्ञान है, वह परिणाम शुभराग के कारण भी ज्ञान के परिणाम नहीं हुए हैं। शुद्धपरिणाम, वह ज्ञान के परिणाम ज्ञान के कारण स्वयं से हुए हैं। उस राग से तो यहाँ भी ज्ञान नहीं हुआ, वह तो राग से शुद्धता हो, शुभराग करते-करते उसे शुद्धता हो, (ऐसा मानना तो) बहुत फेरफार, बहुत फेरफार है, भाई! आहाहा! समझ में आया?

पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को... आहाहा! इतना भी ढीला करके समझाना है। क्या करे परन्तु? अब केवलज्ञानी को लोकालोक का ज्ञान है, ऐसा कहना वह व्यवहार है, परद्रव्य का। वह तो ज्ञान की पर्याय ही स्वयं से स्वयं में इतनी हुई है। केवलज्ञान की पर्याय भी षट्कारकरूप से, केवलज्ञान की पर्याय कर्ता, पर्याय कार्य, पर्याय साधन, वही पर्याय

साधन, वह पर्याय रखती है, उस पर्याय से होती है और पर्याय के आधार से होती है; लोकालोक से नहीं और द्रव्य-गुण से नहीं। आहाहा! समझ में आया?

सूक्ष्म पड़ता है परन्तु यह समझनेयोग्य है, बापू! आहाहा! कहीं कभी सुनने को मिले, ऐसा नहीं है, बापू! क्या करें? लोग कहीं उलझकर पड़े हैं। भाई! तू भगवान है न? भगवानरूप से तो यहाँ सम्बोधकर बुलाते हैं ७२ गाथा। आहाहा! प्रभु! तुझे पुण्य-पाप के दया, दान के, व्रत, भक्ति के, तप के विकल्प-राग हों, आहाहा! वे अशुचि हैं, वे जड़ हैं; इस चैतन्यस्वभाव का उनमें अभाव है और वे दु:खरूप हैं। उन परिणामों का द्रव्यदृष्टिवन्त को, आहाहा! उन परिणामों का ज्ञान होता है, उस ज्ञान का वह कर्ता है, परन्तु उस परिणाम का कर्ता वह ज्ञानी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? प्रभु! भाषा तो सादी है, अन्दर भाव भी सादे हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञान की पर्याय में व्यापक तो ज्ञानी का द्रव्य है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य व्यापक नहीं है, निश्चय से नहीं है।

मुमुक्षु : व्याप्यव्यापकपना तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। वह तो व्यवहार से कहते हैं। पर्याय-व्याप्यव्यापक पर्याय में है।

मुमुक्षु : ज्ञान होता है परन्तु उस ज्ञान के परिणाम को कौन जानता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन जाने? ज्ञानी जाने, धर्मी जाने। परिणाम स्वयं को है न, ऐसा न यहाँ तो अभी पूरी बात, पूरी बात। अभी इससे आगे कहेंगे, अभी तो इतना अर्थ चलता है कि पुद्‌गलपरिणाम के ज्ञान को अर्थात् आत्मा के कर्मपने कर्ता। है? यह राग हुआ है, उसका यहाँ ज्ञानी को ज्ञान हुआ है। वह ज्ञान के परिणाम को आत्मा कर्मरूप से करता है। द्रव्य से बात सिद्ध करनी है, इतनी बात है। पर से भिन्न करना है। सूक्ष्म बात है, बापू! यह शब्द-शब्द का अर्थ तो सब किस प्रकार का अन्दर होता है, सब ख्याल तो सब होता है। उस समय। कहते समय, हों! परन्तु किस शैली से बात चलती है, उस शैली से पहले कहना चाहिए न?

इस **पुद्‌गलपरिणाम के ज्ञान को (आत्मा के) कर्मरूप से करता हुआ...** अब

बदलते हैं, वापस देखो! **अपने आत्मा को जानता है,...** देखा? राग का ज्ञान कहा था कि राग को जानता है, ऐसा कहकर वापस बदल डाला। आहाहा! यह क्या कहा प्रभु? उस राग का ज्ञान कहा था, वह ज्ञानी का ज्ञान, ज्ञान के परिणाम को कर्ता होकर करता है, तथापि उस राग को जानता है, ऐसा ही वह कार्य नहीं है। वह जानता है तो आत्मा को जानता है। समझ में आया? श्रीपालजी! दिल्ली में कहीं मिले ऐसा नहीं है वहाँ। वहाँ अपने (कार्यकर्ता हैं) बहुत रस लेते हैं। आहाहा! अरे रे! प्रभु! तेरा प्रभुत्वस्वभाव जिसे दृष्टि में आया प्रभु! उसके जो राग है, उसका ज्ञान करता है, वह ज्ञान का परिणाम उसका कार्य है। इतना कहकर भी राग को जानता है, ऐसा यहाँ कहा परन्तु फिर बदल डाला। कहा, अपने आत्मा को जानता है। वह तो मात्र वह राग निमित्त था, उसका ज्ञान कराया। आहाहा! प्रेमचन्दभाई! लन्दन में पढ़ते हैं। आठ-दस लोग इकट्ठे करे पढ़ते हैं, लाईब्रेरी संग्रह की है। यहाँ की पुस्तकें ले गये हैं। लोग देखने आते हैं। अरे! बापू! यह वस्तु, भाई! आहाहा! यह करोड़ों, अरबों रुपये से कहीं मिले - ऐसी नहीं है। जिसे अनमोल चीज़! आहाहा!

यहाँ तो एक लाईन में इतना लिया कि द्रव्यदृष्टिवन्त को अर्थात् ज्ञानी को अर्थात् धर्मी को यह राग के दया, दान, देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा के प्रेम का राग आया, उस राग के ज्ञान के परिणाम को करता हुआ आत्मा, आत्मा को जानता है। राग को जानता है, यह वापस निकाल डाला। मात्र सिद्ध इतना करना था कि राग हुआ है, उस काल में ज्ञान स्वयं स्वयं से स्व-परप्रकाशकरूप परिणमित हुआ है। राग हुआ है, उस काल में भी ज्ञान के परिणाम स्वयं से स्व-परप्रकाशकरूप अपने से परिणमित हुए हैं। उन्हें राग का ज्ञान, यह निमित्त से कथन किया है, तथापि उस राग के ज्ञान के परिणाम को करता हुआ— ऐसा आत्मा, आत्मा अपने को जानता है; राग को नहीं। आहाहा! रतिभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

'यह प्रभु का मारग है शूरों का, यहाँ कायर का काम नहीं।' आहाहा! यह वीरों का काम है, बापू! जिसका वीर्य विशेष ईर्य प्रेरणा द्रव्य-सन्मुख जिसका वीर्य झुका है, उसे वीर्यवान कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसे जो वीर के पुत्र, आहाहा! जिनका वीर्य विशेष ईर्य प्रेरती, द्रव्य में प्रेरित हुआ है, ऐसे वीर्य का, जो राग होता है, उसका वह ज्ञान,

उसके ज्ञान को करता हुआ ऐसा आत्मा, वह आत्मा को जानता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यह एक प्रश्न आया है। तुम्हारा नहीं था हिम्मतभाई, वह कारणपरमात्मा का, तब अभी एक प्रश्न, प्रश्न यह आया है कारणपरमात्मा को कारणपरमात्मा कहा नहीं जाता कारण। पर्याय को कारण कहा जाता है; द्रव्य को कारण नहीं कहा जाता, ऐसा प्रश्न समाचार-पत्र में आया है। अरे! भगवान! क्योंकि वह कारण कहा था, कार्य कहा इसलिए पर्याय हो गयी, ऐसा नहीं प्रभु! वस्तु त्रिकाली है, उसका कार्य जो सम्यग्दर्शन होता है, वह पर्याय है; इसलिए उसे कारणरूप से कहा, उसे राग कारण है और पर कारण है-ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

इस ज्ञान के परिणाम को राग कारण है, निमित्त कारण है, यह नहीं—ऐसा कहकर, वह सम्यग्दर्शन परिणाम आदि का - कार्य का कारण द्रव्य है, उसके ऊपर लक्ष्य गया है इसलिए। द्रव्य में वे परिणाम गये नहीं। मात्र उस ओर लक्ष्य गया है, इसलिए इसने आश्रय लिया—ऐसा कहने में आता है। **भूदत्थमस्सिदो खलु।** आहाहा! बहुत कठिन काम, बापू! अरे! ऐसा मनुष्यभव, यह चला जा रहा है। आहाहा! यह भव, भव के अभाव के लिये भव है। आहाहा! आहाहा! इसमें फिर से भव न रहे तो अवतार, ऐसी चीज़ जो भगवान आत्मा... पर्याय को ज्ञायक की ओर झुकाया है, ज्ञायक का आश्रय लिया है, ऐसा कहा जाता है। इसका अर्थ इतना कि वहाँ लक्ष्य किया है। कहीं पर्याय ज्ञायक में मिल नहीं जाती। आहाहा! वह पर्याय जो राग की ओर के झुकाववाली ऐसी थी, अब यह कुछ बात है, प्रभु! आहाहा! उस ज्ञान की पर्याय को पर्यायवान की ओर अन्दर झुकाना, आहाहा! और जो झुकी हुई पर्याय हुई, वह ज्ञान की हुई, उस काल में राग होता है, उसका यह ज्ञान की पर्याय कार्य है, राग का कार्य है—ऐसा तो नहीं परन्तु राग है, इसलिए ज्ञान हुआ—ऐसा भी नहीं है परन्तु उसे बतलाना है कि राग का ज्ञान, उसके परिणाम को करता हुआ आत्मा को जानता है। आहाहा! ऐसा कहीं लन्दन में मिले, ऐसा कहीं नहीं है अनार्यदेश में। और यहाँ आर्यदेश में भी फेरफार हो गया है, प्रभु! जहाँ वीर का मार्ग प्रवर्तता है, वहाँ आर्यदेश में फेरफार हो गया है।

अहा! वह ज्ञानी राग के परिणाम को व्याप्यव्यापक से करता नहीं, **परन्तु...** ऐसा है न? **पुद्‌गलपरिणाम के ज्ञान को...** आहाहा! यह व्रत और तप का पुण्य का विकल्प उठा उपवास का (विकल्प उठा), उस राग का यहाँ धर्मी को ज्ञान होता है, ऐसा कहना भी मात्र बतलाना है कि वह तो राग का ज्ञान है, परन्तु इससे वह राग कर्ता और ज्ञान के परिणाम कार्य—ऐसा नहीं है। राग का ज्ञान हुआ, इसलिए राग कर्ता और ज्ञान के परिणाम कर्म – ऐसा नहीं है; मात्र ज्ञान हुआ, इतना बतलाना है—ऐसा बतलाकर, कर्मरूप से कर्ता ऐसे अपने आत्मा को जानता है। आहाहा! गजब टीका है न! है? यह एक लाईन! समयसार अर्थात्, दूसरा कुछ है ही नहीं इसके साथ, इसकी तुलना में कहीं। आहाहा! लोग भी अब कहते हैं जो समझदार हैं वे। आहाहा!

अपने आत्मा को जानता है, वह आत्मा (कर्म-नोकर्म से) अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप होता हुआ... वह आत्मा, राग के परिणामरूप ज्ञान को करता हुआ—ऐसे आत्मा को जानता हुआ वह कर्म-नोकर्म से अत्यन्त भिन्न अर्थात् रागपरिणाम और शरीर के परिणाम से अत्यन्त भिन्न **ज्ञानस्वरूप होता हुआ...** यह होता हुआ, कर्ता सिद्ध करना है न? राग से भिन्न ऐसा। **वह ज्ञानस्वरूप होता हुआ धर्मी-ज्ञानी है।** कहो चिमनभाई! भाषा तो सादी है, प्रभु! अधिक लोग आये हैं, सब लड़के आते हैं। आज रविवार है न! बापू! मार्ग तो यह है, भाई! धीरे से इसे पचाना पड़ेगा, भाई! अरे रे! इस समय नहीं करेगा तो, प्रभु! कब करेगा? दुनिया, दुनिया का जाने। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वह **ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है।** रागस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है, ऐसा नहीं है तथा राग का ज्ञान किया, इसलिए राग को जानता था, ऐसा भी नहीं है। राग का ज्ञान हुआ परन्तु वह आत्मा को जानता है। आहाहा! कहीं सुनने को मिले, ऐसा वहाँ बाड़ा में कहीं नहीं है।

मुमुक्षु : राग को जानता ही नहीं और वह आत्मा को जानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आत्मा को जानता है। राग है, वह पर है और पर को जानता है, यह कहना वह असद्‌भूतव्यवहार है और ज्ञान, ज्ञान को जानता है, यह सद्‌भूतव्यवहार है। यह व्यवहार, हों! यह आत्मा आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? अब कोष्ठक में **(पुद्‌गलपरिणाम का ज्ञान आत्मा का कर्म किस प्रकार है?)...** यह राग हुआ, दया,

दान, व्रत का (राग हुआ), उसका यहाँ ज्ञान हुआ, वह पुद्गलपरिणाम का ज्ञान। यहाँ तो वह राग पुद्गलपरिणाम कहा; भगवान का नहीं। भगवान तो पवित्रता का पिण्ड है, उसके परिणाम राग कैसे? आहाहा! कहो, पण्डितजी! आहाहा! पुद्गलपरिणाम का ज्ञान... यह उल्टा ऊपर कहा था न, इसलिए समझाते हैं। नहीं तो वह आत्मा का ज्ञान है **(आत्मा का कर्म किस प्रकार है? सो समझाते हैं :-)**

परमार्थ से पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को... आहाहा! यह शरीर की-नोकर्म की अवस्था, यह पुद्गल के परिणाम और यहाँ दया, दान, व्रत के परिणाम होते हैं, वे भी पुद्गलपरिणाम हैं, कर्म से ऐसे होते हैं और पुद्गल से शरीर से ऐसा होता है, दोनों पुद्गल के परिणाम हैं। **परमार्थ से पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से...** आहाहा! पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को घट और कुम्हार की भाँति, कुम्हार व्यापक और घट व्याप्य - इसका अभाव है। इसी प्रकार **पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को...** आहाहा! **घट और कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव का अभाव...** है, वह ज्ञानपरिणाम है। आहाहा! यह पुद्गल का परिणाम है, उसका अभाव है। राग का ज्ञान, राग के कारण से है, इसका अभाव है, ऐसा कहते हैं। है? परमार्थ से पुद्गलपरिणाम अर्थात् रागादि, द्वेषादि, पुण्य, दया, दान आदि के ज्ञान को, **और पुद्गल को...** उसके ज्ञान को और पुद्गल को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापक का अभाव है। आहाहा! यह क्या कहा? कि पुद्गलपरिणाम जो रागादि, उनका जो ज्ञान और रागादि पुद्गल दोनों को व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है। घट और कुम्हार की भाँति। यह क्या कहा?

कुम्हार और घट में कर्ताकर्मपना नहीं है। कुम्हार व्यापक / पसरनेवाला और घड़ा उसका व्याप्य, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार राग पुद्गल के परिणाम को और पुद्गल को, आहाहा! पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को घट-कुम्हार की भाँति... आहाहा! राग है, वह व्यापक है और आत्मा का ज्ञान हुआ, वह व्याप्य है, वह घट-कुम्हार की भाँति अभाव है। जैसे घट व्याप्य है-कार्य है कुम्हार का, उसी प्रकार राग का यह ज्ञान कार्य है, इसका अभाव है। ऐसी बातें हैं।

पहले तो ऐसा कहा था कि राग का ज्ञान; पश्चात् ऐसा कहा कि राग का ज्ञान, वह

कार्य है, उसका अभाव है। जैसे घट-कुम्हार का अभाव है, उसी प्रकार राग का यह ज्ञानपरिणाम कहा, वह कार्य उसका है, उसका अभाव है। धीरे से समझना, बापू! यह तो गाथा ऐसी आयी है, पहले आयी थी न, परन्तु दोबारा ली है। रामजीभाई कहते हैं, दोबारा लेनी है, आधी तो परसों चल गयी थी, यह आधी बाकी थी। आहाहा! धीरे से समझना, न समझ में आये तो इसके प्रश्न करना। है?

मुमुक्षु : प्रश्न में जरा डर लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : डर, नहीं आता है, ऐसा डर लगता है, ऐसा। इसमें डर लगता है, ऐसा इसमें डर कैसा? आशंका तो होवे न, समझने के लिये आशंका होती है। शंका नहीं है कि तुम्हारा कहा हुआ मिथ्या है, ऐसा नहीं है, परन्तु तुम कहते हो वह मुझे समझ में नहीं आता, ऐसा। ऐसा कहे तो क्या दिक्कत है। आहाहा!

तीन लोक के नाथ यह वाणी करते होंगे और यह वाणी गणधर तथा इन्द्र सुनते होंगे, आहाहा! वह कैसा होगा, बापू! आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान विराजते हैं। दिव्यध्वनि में इन्द्र बैठते हैं, गणधर बैठते हैं। एकावतारी इन्द्र, एक भवतारी इन्द्र-इन्द्राणी (विनय से सुनते हैं), बापू! वह बात कैसी होगी। आहाहा! वे तीन ज्ञान के धनी एकावतारी इन्द्र भी जिस वाणी को सुनने के लिये पिल्ले की तरह बैठते हैं। बापू! वह कोई अलौकिक बातें हैं। भाई! वीतराग की वाणी कोई अलौकिक है। आहाहा!

अभी तो राग के नाम से वीतरागमार्ग की खतौनी कर डाली है। अजैन को जैन के नाम से खतौनी कर डाली है। आहाहा! सूक्ष्म पड़ता है, भाई! श्वेताम्बर और स्थानकवासी को अजैन-अन्यमति कहा है और यह तो इस सम्प्रदाय में रहे हैं, उन्होंने भी राग के नाम से (वीतरागमार्ग को) खतौनी कर डाली, वे स्वयं अजैन हैं। नवरंगभाई! आहाहा! पुद्‌गलपरिणाम के ज्ञान को अर्थात् राग के ज्ञान को और पुद्‌गल को अर्थात् राग को घट-कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है। राग-व्यापक है। यहाँ राग का ज्ञान कहा था, इसलिए राग व्यापक है, राग कर्ता है और यहाँ ज्ञान उसका कर्म है—ऐसा नहीं है। समझ में आया? अपने तो यहाँ परसों पहले दिन आ गया है। अधिक पहले दिन (आ गया है) आहाहा! बापू! वीतराग की बातें ऐसी है। क्या चीज़ है! प्रभु! यह कोई साधारण बात नहीं है।

वचनामृत वीतराग के परम शान्तरस मूल
औषध जो भव रोग के कायर को प्रतिकूल।

आहाहा! (जैसे) नपुंसक को वीर्य नहीं होता, (इसलिए) प्रजा नहीं होती; इसी प्रकार जो राग के परिणाम का कर्ता होता है, उसे धर्म की प्रजा नहीं होती। आहाहा! राग की रचना करे, वह वीर्य नहीं है (उसे तो) नपुंसक कहा है। ऐई! आहाहा!

मुमुक्षु : क्लीब कहा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्लीब कहा है, क्लीब। दो जगह पुण्य-पाप (अधिकार में) और अजीव अधिकार में है, सब खबर है। नपुंसक है, पावैया, हिजड़ा है। नपुंसक को वीर्य नहीं होता, पुत्र नहीं होता; इसी प्रकार राग के परिणाम में धर्म माननेवाले नपुंसक हैं, उन्हें धर्म नहीं होता।

मुमुक्षु : भाषा बहुत कड़क है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कड़क है। टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने क्लीब, नपुंसक कहा है। आहाहा! भाई! तू महा वीर है न, प्रभु! आहाहा! तेरी वीरता की क्या बात करना, कहते हैं। आहाहा! वीर्यगुण है, वह भी उसका ज्ञानगुण में एक-एक गुण में रूप पड़ा है। वीर्यगुण का रूप एक-एक गुण में पड़ा है। एक-एक गुण में भी वीर्यरूप है। आहाहा!

ऐसा जो वीर भगवान आत्मा! आहाहा! उसकी जहाँ दृष्टि-सम्यग्दर्शन हुआ, ऐसे अनन्त गुण का स्वीकार और सत्कार हुआ तथा राग का स्वीकार और सत्कार गया। आहाहा! उसे राग का ज्ञान होना कहा, वह भी राग व्यापक है और ज्ञान के परिणाम व्याप्य है, घट और कुम्हार को जैसे अभाव है, राग के परिणाम को और राग का दो को यह अभाव है। राग व्यापक है और ज्ञान के परिणाम यहाँ उसके कारण हुए हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : पहले समझने की इच्छा होवे तो समझ में आये।

पूज्य गुरुदेवश्री : इच्छा होती है, वह व्यवहार से कही जाती है। बाकी १३वीं गाथा के हिसाब से ऐसा कहा जाता है - नयनिक्षेपप्रमाण से नवतत्त्व को वह जानता है, पश्चात् छोड़ देना तथा १७वीं गाथा में तो यह बात भी छोड़ दी। पहले आत्मा को जानना चाहिए।

पहले नव (तत्त्वों) को जानने की यह बात छोड़ दी है। भगवान! पहले आत्मा को जानना और उसे अनुभव करना, यह बात ऐसी सीधी बात १७वीं गाथा (में की है)। आहाहा! बापू! समयसार तो कोई अलौकिक चीज़ है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! जगत का भाग्य (कि) ऐसे पल में रच गया और ऐसे पल में यह रह गया। आहाहा!

मुमुक्षु : और ऐसे पल में समझने में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! है? पुद्‌गलपरिणाम का जो ज्ञान कहा था, उसे और राग को अर्थात् पुद्‌गल को **घट-कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से कर्ताकर्मपने की असिद्धि है...** आहाहा! **पुद्‌गलपरिणाम के ज्ञान को और पुद्‌गल को...** आहाहा! देखा? उन सबको पुद्‌गलपरिणाम कहा था और यहाँ निकाल दिया, पुद्‌गल (कह दिया)। क्या कहा? **पुद्‌गलपरिणाम के ज्ञान को...** अर्थात् राग के ज्ञान को **और पुद्‌गल को...** अर्थात् राग को, **घट-कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से...** राग का कर्ता और ज्ञान परिणाम कर्म, इसका अभाव है। आहाहा!

और जैसे घड़े और मिट्टी के व्याप्यव्यापकभाव का सद्‌भाव होने से... घड़ा कार्य है और मिट्टी कर्ता है, उनके **कर्ता-कर्मपना है। उसी प्रकार आत्मपरिणाम और आत्मा के...** आत्मपरिणाम अर्थात् जो ज्ञानपरिणाम हुए वे और आत्मा को। **व्याप्यव्यापकभाव का सद्‌भाव...** है। आत्मा व्यापक है और ज्ञानपरिणाम व्याप्य है। अपेक्षा से समझाना है। यहाँ भी परिणाम तो स्वतन्त्र है, परन्तु यहाँ पर से भिन्न बतलाना है न, इसलिए ऐसी शैली है। कहते समय ख्याल तो सब होता है परन्तु जो चलता हो, तद्‌नुसार कहा जाए न! आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा को व्यापक कहना ही पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा द्रव्य नहीं उसका, परन्तु आत्मा के परिणाम हैं न, इसलिए उसे आत्मा कहा। इस प्रकार **आत्मपरिणाम और आत्मा के व्याप्यव्यापकभाव का सद्‌भाव होने से कर्ता-कर्मपना है।** अर्थात् आत्मा कर्ता और निर्विकारी परिणाम, ज्ञान के (परिणाम), वह उसका कार्य परन्तु वह परिणाम राग से हुआ और राग का ज्ञान हुआ, इसलिए राग कर्ता और ज्ञान परिणाम कर्म, ऐसा नहीं है। विशेष कहेंगे....

(***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १६३, गाथा-७५, कलश-४९ दिनांक ०८-०१-१९७९, सोमवार, पौष शुक्ल-११

(समयसार) ७५ गाथा। नीचे की चार लाईनें हैं, (यहाँ से है)। **इस प्रकार...** है न?

(ज्ञाता पुद्‌गलपरिणाम का ज्ञान करता है, इसलिए)... अर्थात्? ज्ञानस्वभाव जिसकी दृष्टि में-अनुभव में आया, वह ज्ञायकस्वभाव (का) तो जानने-देखने का स्वभाव है। उस जानने-देखने में कहते हैं कि '**पुद्‌गलपरिणाम का ज्ञान**' उस समय वहाँ आगे राग आदि, द्वेष आदि, भक्ति आदि, स्तुति आदि का राग होता है, वह 'पुद्‌गलपरिणाम' कहने में आता है। उसका ज्ञान करता है। (ज्ञानी) उसका ज्ञान करता है। ज्ञायकस्वभाव होने से, 'जाननेवाला-देखनेवाला' होने से, अनुभव में जाननेवाला-देखनेवाला आया होने से; वे रागादि होते हैं—दया, दान, भक्ति आदि, स्तुति आदि का राग (होता है), उसे वह जानता है। सूक्ष्म बात है। है? पुद्‌गलपरिणाम... अर्थात् राग चाहे तो भगवान की भक्ति का, स्तुति का , पंच महाव्रत का जो राग, वह राग पुद्‌गलपरिणाम है, उसका ज्ञान करता है, ज्ञानी उसे जानता है।

(इसलिए) ऐसा भी नहीं है... अर्थात् क्या? - कि आत्मा ज्ञायकस्वभाव है, ऐसा जहाँ ज्ञात हुआ, अनुभव में आया, दृष्टि में आया पर्याय में-ज्ञानपर्याय में ज्ञेय पूर्ण है, उसका भान-अनुभव हुआ, उस धर्मी को... राग आदि के परिणाम होते हैं, उन्हें वह जानता है क्योंकि उसका ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव होने से, धर्मी को राग या पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उन्हें 'पुद्‌गलपरिणाम' कहकर, उन्हें यहाँ जानता है। जानने पर भी... **ऐसा भी नहीं है कि पुद्‌गलपरिणाम ज्ञाता का व्याप्य है;...** आहाहा! यह क्या कहा? राग और दया, दान के विकल्पों को जानता है। जानने पर भी ऐसा नहीं कि राग है, वह आत्मा का कार्य है। आहाहा! ऐसा है।

भगवान आत्मा, ज्ञायकस्वभाव वस्तुस्वरूप चैतन्यस्वरूप ही है, ऐसा जहाँ भान हुआ, तब उसे रागादि के परिणाम हैं। पूर्ण वीतराग नहीं है, इसलिए उसे दया, दान, व्रत, भक्ति, स्तुति ऐसा राग आता है, इसलिए वह राग को जानता है। जानने पर भी राग, आत्मा का कार्य है—ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : तो वह किसका कार्य है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पुद्‌गल का कार्य है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! है? **(ज्ञाता पुद्‌गलपरिणाम का ज्ञान करता है)...** उस राग को जानने का काम करता है। **(इसलिए) ऐसा भी नहीं है कि पुद्‌गलपरिणाम...** ये रागादि हैं, वे **ज्ञाता...** अर्थात् जाननेवाले का वह कार्य है, ऐसा नहीं है। देवीलालजी! समझ में आया इसमें? आहाहा!

मुमुक्षु : राग को जानता है या राग सम्बन्धी के अपने ज्ञान को जानता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग को जानता है, यह तो व्यवहार कहा न पहले! अपने को जानता है परन्तु राग का ज्ञान हुआ, पहले ऐसा बताया। (ज्ञानी) जानता है तो अपने को, परन्तु यहाँ वापस यह सिद्ध करना है कि वह राग को जानता है। जानने की पर्याय तो स्वयं से स्व-परप्रकाशकस्वभाव होने से जानता है। वह ज्ञान की पर्याय षट्कारकरूप से परिणमति हुई, स्वयं कर्ता-पर्याय का स्वयं कार्य अपना; वह राग का कार्य नहीं। आहाहा! परन्तु राग को जानता है, इसलिए राग व्याप्य अर्थात् आत्मा का कार्य है, ऐसा नहीं है। कहो, मोटाणी! सूक्ष्म है। तुम्हें कुछ प्लास्टिक का क्या है? चूरा है न? आहाहा!

आहाहा! भगवान आत्मा जाननेवाला-देखनेवाला जिसका (स्वभाव है)। आया था न कल? मैं स्वसंवेदन दर्शन-ज्ञान सामान्य हूँ, बस! आहाहा! ऐसा जहाँ भान हुआ, उसकी ज्ञान की पर्याय में, राग का काल हो तो राग आता है परन्तु राग को जानने का कार्य वह जीव का है। अत: राग को जानने का कार्य जीव का है तो राग उसका—आत्मा का कार्य है, ऐसा क्यों नहीं? ऐसा प्रश्न है।

राग को जानता है - तो जानने का कार्य तो इसका है तो राग को जानता है तो राग इसका व्याप्य / कार्य है या नहीं? समझ में आया? **ऐसा भी नहीं है कि पुद्‌गलपरिणाम ज्ञाता का व्याप्य है;...** ऐसा। राग जाननेवाले का कार्य है - ऐसा नहीं है। अरे! ऐसी बातें हैं।

क्योंकि पुद्‌गल को... इन पुद्‌गल के परिणाम को अब 'पुद्‌गल' कह दिया। अन्दर दया, दान, व्रत, भक्ति, स्तुति का राग होता है, उन्हें पहले पुद्‌गल के परिणाम कहा था, अब उन्हें 'पुद्‌गल' कह दिया। आहाहा! समझ में आया? **पुद्‌गल और आत्मा के...**

पूरे द्रव्य लिये न दोनों? आहाहा! **ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का व्यवहार मात्र होने पर भी...** आहाहा! यह पुद्‌गल के परिणाम कहो या पुद्‌गल कहो, राग आदि। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का राग, उसे यहाँ पुद्‌गल कहा। आहाहा! पुद्‌गल का व्याप्य / कार्य है, इसलिए वह पुद्‌गल है, ऐसा कहा।

उस **पुद्‌गल और आत्मा के ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का व्यवहार मात्र...** आहाहा! इस राग को जाननेवाला जो ज्ञात होता है, वह ज्ञायक-ज्ञेय का व्यवहारमात्र सम्बन्ध (है)। निश्चयसम्बन्ध तो है नहीं। आहाहा! **ज्ञेयज्ञायक के...** राग ज्ञेय और आत्मा ज्ञायक, ऐसा जो ज्ञेयज्ञायक का सम्बन्ध, वह व्यवहारमात्र है। आहाहा! परमार्थ से तो स्वयं ज्ञान की पर्याय जो हुई, वह द्रव्य-गुण और पर्याय, वह ज्ञेय और उसका जाननेवाला! आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

पुद्‌गल और आत्मा के... आहाहा! भगवान की भक्ति का भाव, स्तवन... ऐसा चलता हो...

मुमुक्षु : यह तो विकल्प...

पूज्य गुरुदेवश्री : वांचन चलता है, विकल्प, परन्तु यह तो समन्तभद्राचार्य याद आये हैं। चौबीस तीर्थंकर की स्तुति (स्वयंभूस्तोत्र में) की है न! समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि प्रभु! मुझे आपकी भक्ति का व्यसन पड़ गया है, ऐसा कहते हैं। है उसमें... ? चौबीसी में, स्तुति की है, भाई ने अर्थ किये हैं न जुगलकिशोरजी ने (अर्थ किये हैं)। (स्वयं स्तवन में कहा है) मुझे इस प्रकार का व्यसन है। चौबीस तीर्थंकर की स्तुति की है, परन्तु ऐसा कहा प्रभु! मुझे व्यसन है। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यसन तो छोड़ने योग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह राग है, छोड़नेयोग्य है। आहाहा! क्योंकि वह तो परदेश है। श्रीमद् में आया न... श्रीमद् में 'जाऊँगा स्वरूप स्वदेश' यह बहिन के शब्द के साथ मिलाया।

आहाहा! अरे! हमारे अभी राग-परदेश बाकी है। 'शेष कर्म का भोग है भोगना अवशेष रे' इतना अभी परदेश / राग बाकी है। आहाहा! 'इसलिए देह एक धारकर जाऊँगा स्वरूप स्वदेश...' यह जो राग बाकी है भक्ति आदि का, वह परदेश है। आहाहा! अन्तर

भगवानस्वरूप स्वदेश अनन्त.. अनन्त.. गुण का सागर / समुद्र, वह हमारा स्वदेश है, उसमें हम जानेवाले हैं। आहाहा! ऐई, पुंजाभाई! ऐसी बातें हैं।

यह तो बहिन ने (बहिनश्री चम्पाबहिन ने) परदेश शब्द (वचनामृत में) प्रयोग किया है और श्रीमद् ने भी (श्रीमद् राजचन्द्र ने) स्वदेश शब्द प्रयोग किया है।

आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द आदि गुण का समुद्र है, वह स्वयं स्वदेश है और चाहे तो भगवान का स्मरण आना, पंच परमेष्ठी की भक्ति-स्तुति होना, वह राग है, वह परदेश है। आहाहा! अभी एकाध भव परदेश में रहने का है, बाद में तो हम स्वरूप में-स्वदेश में चले जाएँगे। आहाहा!

बात बहुत कठिन है, बापू! मार्ग-समयसार का मार्ग कोई अलौकिक है। समयसार अर्थात् आत्मा, उसका मार्ग, ऐसा। आहाहा!

मुमुक्षु : अलौकिक मार्ग तो सरल होना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : मार्ग सरल है, परन्तु अनअभ्यास से दुष्कर हो गया है। दुर्लभ कहा है न...! सम्यग्दर्शन दुर्लभ कहा है। इस अपेक्षा से। सत्... ज्ञायकस्वभाव है। 'है' उसे प्राप्त करना; 'है' उसे प्राप्त करना तो सरल है। यह श्रीमद् ने भी कहा है न? 'सत् सरल है, सत् सहज है, सत् सर्वत्र है' आहाहा!

आहाहा! इसी प्रकार... भगवान आत्मा सत् है, सर्वत्र है, सरल है, स्वयं है। आहाहा! ज्ञायकस्वभावभाव भगवान, उसे कहते हैं कि ज्ञान में राग के परिणाम का ज्ञान होता है, इसलिए उस ज्ञाता का राग कार्य है? ऐसा प्रश्न है। आहाहा! है? **पुद्गल और आत्मा के ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का व्यवहारमात्र होने पर भी...** भी... तथापि, **भी पुद्गलपरिणाम जिसका निमित्त है...** अर्थात् जो दया, दान, भक्ति, व्रत, तप का विकल्प - राग उत्पन्न हुआ है, यह पुद्गलपरिणाम जिसका निमित्त है, वह कौन? **ऐसा ज्ञान...** आहाहा! ज्ञान हुआ है तो उपादान स्वयं से... आहाहा! देखो! वापस राग का ज्ञान हुआ है तो स्वयं से, उसमें राग निमित्त है। राग के ज्ञान में वह (राग) निमित्त है। ज्ञान हुआ है, राग का ज्ञान हुआ है, वह अपने उपादान से हुआ है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बापू! मार्ग सूक्ष्म, भाई! आहाहा!

'ज्ञायक' कहने से उसमें सब सिद्धान्त समाहित हो जाते हैं, वह जाननेवाला, परन्तु

जाननेवाला होने पर भी... यह आ गया न, छठी गाथा में ज्ञायक। **ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भादो। एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव।** जाननेवाला जाननेवाले को जानता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि 'जाननेवाला जाननेवाले को जानता है' यह बात बराबर है। अब उस जाननेवाले में जानने की पर्याय में राग निमित्त है। निमित्त है अर्थात् कुछ करता नहीं, ऐसा उसका अर्थ है। आहाहा! है? **पुद्‌गलपरिणाम जिसका निमित्त है, ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है।** वही आत्मा का कार्य है। आहाहा! राग का ज्ञान हुआ, इसलिए राग का वह कार्य है अथवा राग का कार्य आत्मा का है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह तो पहले आ गया है। ज्ञान हुआ, इसलिए वह राग का कार्य है—ऐसा तो नहीं परन्तु राग आत्मा का कार्य है, राग का यहाँ ज्ञान हुआ; इसलिए आत्मा का कार्य राग है—ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा है। प्रेमचन्दभाई! सूक्ष्म बातें हैं, बापू! आहाहा! बराबर आ गये। यह भाग्यशाली है। बराबर गाथा ऐसी आयी है न! आहाहा!

पुद्‌गल... ज्ञेय! यह राग आदि, भक्ति आदि, स्तुति आदि का राग, वह ज्ञेय और आत्मा ज्ञायक—ऐसा व्यवहारमात्र होने पर भी, व्यवहारमात्र होने पर भी। आहाहा! 'भी'... **पुद्‌गलपरिणाम जिसका निमित्त है,...** (ऐसा जो ज्ञान वह)। यहाँ जानने की पर्याय स्वयं से हुई है। राग से नहीं हुई। राग को जानने का ज्ञान राग से नहीं हुआ। स्वयं से हुआ है। उस अपने ज्ञान में राग निमित्त है, तथापि वह राग का कार्य जीव का नहीं है। आहाहा! है?

ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है। राग का ज्ञान, उसमें वह (राग) निमित्त है। (ज्ञान) तो अपना अपने से हुआ है। राग को जानने का ज्ञान परन्तु ज्ञान स्वयं अपने से हुआ है, उसके ज्ञान में राग निमित्तमात्र है और वह ज्ञेय-ज्ञायक का व्यवहारमात्र होने पर भी वह राग, आत्मा का कार्य नहीं है।

राग का कार्य नहीं आत्मा का—परिणाम, यह तो पहले आ गया है। यहाँ तो अब आत्मा का ज्ञान हुआ और राग का ज्ञान हुआ, यह ज्ञान अपने उपादान से हुआ है, उसमें व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प निमित्त है। निमित्त का ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध का व्यवहारमात्र होने पर भी, वह राग आत्मा का कार्य नहीं है।

भाषा तो सादी है परन्तु अब भाव तो जो हो, वह आवे, भाई! उसमें इसे कुछ हल्का किया जा सकता है दूसरा ?... आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

(इसलिए वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है।) लो! योगफल (सारांश)। यह आत्मा ज्ञायक है, इसने स्व को जाना और राग होता है, उसे-पर को जाना - ऐसा जो ज्ञेय - ज्ञायकपना तो व्यवहारमात्र, तथापि वह राग का कार्य आत्मा का नहीं है परन्तु वह ज्ञान ही ज्ञाता का कार्य है। राग आत्मा का कार्य नहीं है परन्तु राग सम्बन्धी ज्ञान जो स्वयं से ज्ञान हुआ है, वह ज्ञाता का कार्य है। आहाहा! है ? **(इसलिए वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है।)** यह भी अभी भेद है। वह यहाँ पर से भिन्न बतलाना है न! आहाहा! नहीं तो राग सम्बन्धी का ज्ञान और अपने सम्बन्धी का ज्ञान, वह ज्ञान स्वयं से हुआ है; वह ज्ञान, ज्ञाता का कार्य है, यह भी व्यवहार कहा। (वास्तव में तो) वे ज्ञाता के जो परिणाम हुए, परिणाम, वह परिणाम कर्ता और परिणाम उसका कार्य है, उसे आत्मा का कार्य (कहा, वह तो) पर से भिन्न करने को कहा है। आहाहा! इतने सब भेद कहाँ समझना ? वीतरागमार्ग ऐसा है, भाई! बहुत सूक्ष्म -बारीक है। आहाहा!

अब इसी अर्थ के समर्थन का कलशरूप काव्य कहते हैं। लो! गाथा पूरी हुई, टीका (पूरी हुई)।

कलश–४९

अब इसी अर्थ का समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैं:–

(शार्दूलविक्रीडित)

व्याप्य–व्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि,
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दाम–विवेक–घस्मर–महो–भारेण भिन्दन्स्तमो,
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान्।।४९।।

श्लोकार्थ : [व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेत्] व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है, [अतदात्मनि अपि न एव] अतत्स्वरूप में नहीं ही होती। और [व्याप्यव्यापक–भावसम्भवम् ऋते] व्याप्यव्यापकभाव के सम्भव बिना [कर्तृकर्मस्थितिः का] कर्ताकर्म की स्थिति कैसी? अर्थात् कर्ताकर्म की स्थिति नहीं ही होती। [इति उद्दाम–विवेक–घस्मर–महोभारेण] ऐसे प्रबल विवेकरूप, और सबको ग्रासीभूत करने के स्वभाववाले ज्ञानप्रकाश के भार से [तमः भिन्दन्] अज्ञानांधकार को भेदता हुआ, [सः एषः पुमान्] यह आत्मा [ज्ञानीभूय] ज्ञानस्वरूप होकर, [तदा] उस समय [कर्तृत्वशून्यः लसितः] कर्तृत्वरहित हुआ शोभित होता है।

भावार्थ : जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है, सो तो व्यापक है और कोई एक अवस्थाविशेष वह, (उस व्यापक का) व्याप्य है। इस प्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। द्रव्य–पर्याय अभेदरूप ही है। जो द्रव्य का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है, वही पर्याय का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है। ऐसा होने से द्रव्य, पर्याय में व्याप्त होता है और पर्याय, द्रव्य के द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसी व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही (अभिन्न सत्तावाले पदार्थ में ही) होती है; अतत्स्वरूप में (जिनकी सत्ता–सत्त्व भिन्न–भिन्न है, ऐसे पदार्थों में) नहीं ही होती। जहाँ व्याप्यव्यापकभाव होता है, वहीं कर्ताकर्मभाव होता है; व्याप्यव्यापकभाव के बिना कर्ताकर्मभाव नहीं होता। जो ऐसा जानता है, वह पुद्‌गल और आत्मा के कर्ताकर्मभाव नहीं है, ऐसा जानता है। ऐसा जानने पर वह ज्ञानी होता है, कर्ताकर्मभाव से रहित होता है और ज्ञातादृष्टा — जगत का साक्षीभूत — होता है।।४९।।

कलश - ४९ पर प्रवचन

व्याप्य-व्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि,
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दाम-विवेक-घस्मर-महो-भारेण भिन्दन्स्तमो,
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान्।।४९।।

आहाहा! **(व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेत्) व्याप्यव्यापकता...** अर्थात् कर्ताकर्मपना **तत्स्वरूप में ही होती है,...** राग, वह कहीं जीव का स्वरूप नहीं है, इसलिए **व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है,...** आत्मा व्यापक और उसके ज्ञानपरिणाम वे व्याप्य होते हैं। पर से भिन्न करके बतलाना है न अभी? आहाहा! वह व्यापक (का) व्याप्य अर्थात् ज्ञानपरिणाम और व्यापक, वह आत्मा। वह **तत्स्वरूप में ही होती है,...** राग, दया, दान, व्रत, भक्ति का, स्तुति का राग, वह कहीं तत्स्वरूप नहीं है, वह कहीं आत्मस्वरूप नहीं है। आहाहा!

इसलिए व्याप्यव्यापकपना अर्थात् कर्ताकार्यपना तत्स्वरूप में ही होता है अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उस स्वरूप में कर्ताकर्मपना होता है, (इसलिए) आत्मा कर्ता और ज्ञानपरिणाम कार्य। आहाहा! **अतत्स्वरूप में नहीं ही होती।** (अर्थात्) राग जो व्यवहार - रत्नत्रय का विकल्प उठता है, वह अतत्स्वरूप है। आहाहा! इस प्रकार का उपदेश अब! नये अनजाने व्यक्ति को तो ऐसा लगता है कि यह क्या कहते हैं! एक व्यक्ति कहता था, वह लड़का, वे आये थे न राजकोटवाले, कोई लड़का। महाराज! यह क्या है, इसमें समझ में नहीं आता। कहे तब तो लड़का आया था न कल, उसमें कोई बड़ा लड़का था। बाहर निकले न सीढ़ियों से (तब कहा) कुछ समझ में नहीं आता। परन्तु कब समझ में आये? सुनने को मिला नहीं और परिचय नहीं। आहाहा! लड़का था, पाठशाला के आये हैं न सब। आहाहा!

व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है,... एक व्याख्या। अर्थात्? भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप-आनन्दस्वरूप है, उसके परिणाम भी ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप। यह आत्मा व्यापक और ज्ञानपरिणाम व्याप्य, यह उसका तत्स्वरूप है। इस तत्स्वरूप में

कर्ता-कर्मपना होता है, तत्स्वरूप में व्याप्यव्यापकपना होता है, तत्स्वरूप में कारणकार्यपना होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : द्वादशांग ज्ञान, वह तत्स्वरूप कहलायेगा या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर का... बाहर का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है। वह परज्ञान है। परसत्तावलम्बी (ज्ञान है)।

यह अपने आ गया है, ज्ञेयनिष्ठ-ज्ञेयनिमग्न। बहिन की पुस्तक में यह आ गया है। वैसे भी ग्यारह अंग का (ज्ञान) अनन्त बार किया है, नौ पूर्व (का ज्ञान) अनन्त बार हुआ है। वह स्वज्ञेय होवे, तब तो वहाँ कल्याण हो जाए। उससे एक भव घटा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : बढ़ा अवश्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भव ही है, वहाँ बढ़ने का क्या? वह स्वयं ही भवस्वरूप है। आहाहा! जैसे राग भवस्वरूप है; वैसे स्व को छोड़कर जो परसम्बन्धी का ज्ञान, वह भवस्वरूप ही है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग! सर्वज्ञ परमेश्वर के मुख से वाणी निकली है, वह 'यह' वाणी सार है। यह तो समयसार है। वह-प्रवचनसार दिव्यध्वनि का सार! 'यह' तो आत्मा का सार। आहाहा!

आहाहा! **व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है,...** देखा? तत्स्वरूप में 'ही' होती है। एकान्त कर डाला। कथंचित् तत्स्वरूप में और कथंचित् अतत्स्वरूप में, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह अस्ति से कहा। अब **(अतदात्मनि अपि न एव) अतत्स्वरूप में नहीं ही होती। और व्याप्यव्यापकभाव के सम्भव बिना...** आहाहा! **(कर्तृकर्मस्थितिः का) कर्ताकर्म की स्थिति कैसी?** आहाहा! राग का कार्य आत्मा का और कर्ता आत्मा, ऐसे अतत्स्वरूप में ऐसा कहाँ से आया? समझ में आया?

तत्स्वरूप में आता है। आत्मा कर्ता और उसके शुद्धस्वभाव के-मोक्षमार्ग के परिणाम, (उसका कर्म होता है) आहाहा! आत्मा व्यापक और मोक्षमार्ग के परिणाम व्याप्य, इस तत्स्वरूप में कर्ता-कर्मपना होता है परन्तु राग व्याप्य और आत्मा व्यापक - कर्ता, उसका कार्य राग—ऐसा नहीं है। अतत्स्वरूप में व्याप्यव्यापकता नहीं है। आहाहा! इस पुद्गल परिणाम में व्यापक आत्मा और व्याप्य पुद्गल परिणाम, ऐसा नहीं है।

आहाहा! पुद्गल व्यापक और वह (राग व्याप्य है) आहाहा! गजब बातें है न!

भगवान की भक्ति, भगवान की स्तुति, वह भी पुद्गल का परिणाम, पुद्गल व्यापक का व्याप्य है। आहाहा! पुद्गल स्वयं परिणमित होकर वह (राग) उसका व्याप्य हुआ है। समझ में आता है न, भाई? प्रेमचन्दभाई! आहाहा! ऐसा मार्ग! अरे...

अस्ति-नास्ति की है। (अब) तीसरी बात, **व्याप्यव्यापकभाव के सम्भव बिना (कर्तृकर्मस्थितिः का)** यह तीसरी (बात)। जहाँ व्याप्यव्यापकपना नहीं है, वहाँ कर्ताकर्मपना कैसा? राग व्याप्य और आत्मा व्यापक, यह अतत्स्वरूप में तो है नहीं। समझ में आया? आहाहा! देह की क्रिया की बातें तो कहाँ गयी? आहाहा! शरीर, वाणी, मन की पर्याय का व्यापक परमाणु और उसका व्याप्य उसकी ये पर्यायें।

यहाँ तो आत्मा में होनेवाले राग के परिणाम, भक्ति के परिणाम, स्तुति के परिणाम... परमात्मा परद्रव्य है न। आहाहा! उन परिणामों के साथ अतत्स्वरूप होने से आत्मा को उनका कर्ता-कर्मपना नहीं है। आहाहा! समझ में आया? है न... इसमें है न? तीन बातें हुईं।

कर्ता-कर्मपना अर्थात् कारण-कार्यपना—व्याप्य-व्यापकपना तत्स्वरूप में ही होता है और व्याप्य-व्यापक के अतिरिक्त अतत्स्वरूप में कर्ता-कर्मपना नहीं होता। इसलिए **व्याप्यव्यापकभाव के सम्भव बिना कर्ताकर्म की स्थिति कैसी?** आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है, प्रभु! आहाहा! **अर्थात् कर्ताकर्म की स्थिति नहीं ही होती।** अर्थात्? व्यवहाररत्नत्रय का जो विकल्प है, वह आत्मा का व्याप्य और आत्मा व्यापक, ये अतत्स्वरूप में हो नहीं सकता। यह अतत्स्वरूप है। आहाहा! कहो, वीरचन्दभाई! ऐसा है। आहाहा!

(कहते हैं कि) **(इति उद्दाम-विवेक-घस्मर-महोभारेण)** ओहोहो! क्या कहते हैं, क्या कलश! यह कलश!! ओहो! **ऐसे प्रबल विवेकरूप,...** ऐसे प्रबल विवेकरूप! अर्थात्? रागादि के परिणाम अतत्स्वरूप हैं। भगवान ज्ञाता के परिणाम, वे तत्स्वरूप हैं, ऐसा प्रबल विवेक है। आहाहा!

ऐसे प्रबल विवेकरूप,... ऐसे प्रबल भेदरूप। आहाहा! ऐसे प्रबल भेदज्ञानरूप। आहाहा! **और सबको ग्रासीभूत करने के स्वभाववाले...** प्रबल विवेकरूप-भेदरूप और

जिस ज्ञान का सर्व को ग्रासीभूत करने का जिसका स्वभाव है, ऐसा **ज्ञानप्रकाश...** आहाहा! राग के परिणाम वे पुद्गल के परिणाम, वह पुद्गल का व्याप्य, वह अतत्स्वरूप है, वह तत्स्वरूप में हो नहीं सकता। भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा, वह कर्ता और उसके परिणाम जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, वे परिणाम उसका व्याप्य है। आहाहा! यह भी भेद से (बात है)। ऐसी बात है। निश्चय से तो वे मोक्षमार्ग के परिणाम षट्कारक से परिणमते हुए स्वयं से हैं। आहाहा! भगवान (आत्मद्रव्य) ध्रुव है, वह कहाँ परिणमता है? आहाहा! क्या कलश!!

(कहते हैं) क्या कलश! **व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है,...** तो तत्स्वरूप तो... भगवान ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु है। उस तत्स्वरूप में उसके ज्ञान और आनन्द के परिणाम व्याप्य और आत्मा व्यापक, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु राग व्याप्य और आत्मा व्यापक, ऐसा किसी प्रकार से विवेक से-भेद से है, वहाँ नहीं कहा जा सकता। आहाहा!

दृष्टि के अन्तर से सब भाव में अन्तर पड़ जाता है। है? आहाहा! (जैसी) दृष्टि, वैसी सृष्टि! ज्ञायक की दृष्टि हुई, उसे जानने-देखने और मोक्ष का मार्ग और आनन्द के परिणाम, वह उसका (आत्मा का) व्याप्य होता है। आहाहा! और उस ज्ञान में राग निमित्त होने पर भी वह राग आत्मा का कार्य नहीं है और राग से ज्ञान हुआ, उस राग का ज्ञान कार्य नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ केवली के वचन हैं, वे सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! **ऐसे प्रबल विवेकरूप,...** है? **उद्दाम-विवेक... उद्दाम-विवेक...** ऐसा।

प्रबल विवेक... आहाहा! **घस्मर** का अर्थ विवेक किया है **और सबको ग्रासीभूत करने के स्वभाववाले...** (अर्थात्) ज्ञान तो स्व को जानता है, पर को जानता है। यह जानने का कार्य स्वयं का स्वयं से होता है, वह सबको जानने का-ग्रासीभूत-ग्रास कर जाता है। लोकालोक है, वह भी ज्ञान की पर्याय में ग्रास हो गया है, निमित्तरूप से। आहाहा! **ग्रासीभूत...** इस ज्ञान की पर्याय का इतना स्वभाव है कि भले लोकालोक उसमें निमित्त हो परन्तु वह ज्ञान की पर्याय अपने उपादान से हुई है। आहाहा! इसलिए उस पर्याय

का स्वभाव सर्व को ग्रासीभूत करने का है। ग्रास छोटा और मुख बड़ा (होता है); इसी प्रकार ज्ञान का प्रकार बड़ा और ज्ञेय लोकालोक, वह (छोटा) ग्रास—समान है। आहाहा!

भाषा तो सादी है, प्रभु! वस्तु तो ऐसी है परन्तु अब दूसरा क्या हो। आहाहा! इसे दूसरे प्रकार से करे तो कहीं... आहाहा! वास्तव में मुनियों का शुद्ध उपयोग जो है, वह उनका व्याप्य है और आत्मा व्यापक है, यह पर से भिन्न करने की अपेक्षा से (बात है)। भाई! क्या कहा? यह तो उस शुद्धोपयोग का आया न दोपहर को? उसका अर्थ ऐसा किया अभिमुख। ऐसा नहीं है, बापू! आहाहा! मुनि का आत्मा कर्ता कहना और मोक्षमार्ग के परिणाम उसका कार्य कहना, यह पर से भिन्न करने की अपेक्षा से; परन्तु राग उनका कार्य है-व्यवहाररत्नत्रय का राग उसका—आत्मा का कार्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : अशुद्धनय से तो कहा जाता है न... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अशुद्धनय से तो इसकी पर्याय में होता है, इस अपेक्षा से (कहा जाता है) परन्तु स्वभावदृष्टि से और स्वभाव में नहीं है; इसीलिए तो उसे (रागादि को) पर के परिणाम कहा है। ऐसा कहना है न यहाँ! वह इसका तत्स्वरूप नहीं है। इसका स्वरूप तो चैतन्यस्वरूप है, भगवान का ज्ञायकस्वरूप है, उस तत्स्वरूप में राग का कार्य कहाँ से आवे? आहाहा!

आहाहा! (यह) तो दोपहर को आ गया था न चैतन्यस्वरूप। आहाहा! चारों ओर से देखो तो सन्तों की वाणी में अविरोधपना खड़ा होता है, आहाहा! परन्तु धीर का काम है, भाई! इस बात को झेलना, वह भी एक पात्रता होती है। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा!

भगवान आत्मा, राग से भिन्न पड़ा हुआ और एकरूप भेदज्ञान में ऐसा जो ज्ञान कि **सबको ग्रासीभूत करने के स्वभाववाले ज्ञानप्रकाश के भार से...** आहाहा! ज्ञानप्रकाश के भार से **अज्ञानान्धकार को भेदता हुआ,...** आहाहा! राग, वह अज्ञान है, उसे तोड़ता / भेदता हुआ, आहाहा! **यह आत्मा...** आहाहा! **ज्ञानस्वरूप होकर,...** (अर्थात्) ज्ञायक है, वह ज्ञायकस्वरूप होकर। आहाहा! द्रव्यस्वभाव, गुणस्वभाव, ज्ञायकस्वभाव, सर्वज्ञस्वभाव होने से इसकी शक्ति ही स्वयं... अपने को-त्रिकाली को अपने से 'जाने और देखे', ऐसा उसका स्वभाव है। त्रिकाल ज्ञानदर्शन का, त्रिकाली अपने स्वरूप को जानने-देखने का

स्वभाव है। वह जब पर्याय में। यह तो गुण की बात की। अब पर्याय में ज्ञान हुआ, उसका भी सर्व को ग्रासीभूत करने का स्वभाव है। आहाहा! यह क्या कहा? कि जो आत्मा का त्रिकाली ज्ञान-दर्शनस्वभाव है, वह अपने त्रिकाली को जानने-देखने का शक्तिवाला वह तत्त्व है। आहाहा! नियमसार में आया है न!

यह त्रिकाली ज्ञान-दर्शन को, त्रिकाली द्रव्य को, ज्ञान-दर्शन—जानने-देखने के स्वभाववाला है। वह तत्स्वरूप जब पर्याय में प्रगट होता है, राग से भिन्न पड़कर स्वभाव की दृष्टि हुई और आत्मा का आश्रय आया, तब जो मोक्ष के मार्ग की पर्याय प्रगट होती है, वह जीव का व्याप्य अर्थात् कार्य है। यह व्यवहाररत्नत्रय, वह जीव का कार्य नहीं है। आहाहा! नवरंगभाई! ऐसा है। है इसमें? आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय से निश्चय होता है, (ऐसा लोग मानते हैं)। अरे, भगवान! शास्त्र में कहा है, वह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिये कहा है। (उसे निश्चय समझेगा) तो इस तत्त्व का विरोध हो जाएगा। आहाहा!

यह आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर,... यह पर्याय की बात है, हों! वह भगवान ज्ञायकस्वरूप तो है, परन्तु अब पर्याय में **ज्ञानस्वरूप होकर,...** आहाहा! **उस समय कर्तृत्वरहित हुआ शोभित होता है।** आहाहा! जानने के जो परिणाम हुए, उस परिणामरूप होता हुआ, परिणामरूप होता हुआ, ऐसा। रागरूप होता हुआ नहीं। तत्स्वरूप में ज्ञानपरिणामरूप होता हुआ होकर, आहाहा! **उस समय...** उसी समय में, ऐसा। **कर्तृत्वरहित हुआ शोभित होता है।** राग के कार्य के कर्तारहित होकर, ज्ञानस्वरूप होकर शोभित होता है।

गाथा बहुत अच्छी आयी है, प्रेमचन्दभाई! तुम लन्दन से आये न! आहाहा! लन्दन में वाँचन करते हैं। एक कलश में कितना भरा है! आहाहा! एक-एक गाथा और एक-एक पद, एक-एक कलश (में) पूरा स्वरूप भर देने की ताकत है। आहाहा!

भावार्थ : जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है, सो तो व्यापक है... (अर्थात् कि) प्रत्येक अवस्था में रहा हुआ हो, उसे व्यापक कहते हैं **और कोई एक अवस्थाविशेष वह, (उस व्यापक का) व्याप्य-कार्य है।** आत्मा ज्ञायक, उसकी प्रत्येक अवस्था में व्यापक है और उसकी ज्ञानपर्याय उसका व्याप्य है। अवस्था विशेष-अवस्था, वह उसका कार्य है। व्यापक ज्ञायक त्रिकाली समस्त अवस्थाओं में व्याप्त होनेवाला है और कोई एक

ही अवस्था उसे विशेष पर्याय कहते हैं, व्याप्य है। वह व्यापक समस्त अवस्थाओं में व्यापनेवाला ज्ञान की पर्याय में व्याप्त होता है। आहाहा! समझ में आया?

आहाहा! **इस प्रकार द्रव्य तो व्यापक है...** अभी यहाँ तो द्रव्य को पर से भिन्न सिद्ध करना है न! **द्रव्य तो व्यापक है...** आत्मा ज्ञायक द्रव्य तो व्यापक है **और पर्याय व्याप्य है।** यह मोक्षमार्ग की जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय है, वह व्याप्य है, कार्य है। आहाहा!

यह ज्ञायक है, वह कारणपरमात्मा है, वह प्रत्येक अवस्था में होता है और अवस्था— एक समय का विशेष, वह उसका कार्य है। आहाहा! द्रव्य व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। निर्मल पर्याय व्याप्य है, यह कहना है, हों! राग उसका व्याप्य है, यह यहाँ नहीं है। वह पुद्गल में जाता है। आहाहा!

द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही है। यहाँ तो यह सिद्ध करना है न! पर से भिन्न सिद्ध करना है न! राग आदि पुद्गल के भावों से भिन्न सिद्ध करना है न, इसलिए यहाँ कहते हैं कि **द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही है।** द्रव्य जो ज्ञायकभाव और निर्मल पर्याय, वह अभेद है। स्व के आश्रय से हुई, वह अभेद है। अभेद का अर्थ ऐसा नहीं है कि पर्याय द्रव्यरूप हो गयी है, परन्तु पर्याय ऐसे... जो भेदरूप (परसन्मुख) थी, वह पर्याय ऐसे (स्वसन्मुख) हुई, वह अभेद हुई।

आहाहा! एक-एक शब्द के अर्थ ऐसे भी पकड़ में आ जाए ऐसा है, भाषा तो सादी है प्रभु! परन्तु तू अन्दर में ऐसी अलौकिक चीज़ है। आहाहा!

यह ज्ञायक है, वह व्यापक है और इसके निर्मल परिणाम—मोक्षमार्ग के (परिणाम), वे व्याप्य हैं। इस प्रकार द्रव्य और पर्याय अभेदरूप 'ही' है। यहाँ वह द्रव्य और पर्याय भिन्न है, यह यहाँ सिद्ध नहीं करना है। संवर अधिकार में तो इस पर्याय का क्षेत्र भिन्न है, पर्याय का भाव भिन्न है, द्रव्य का भाव भिन्न है, (ऐसा सिद्ध किया है)। आहाहा! यहाँ तो पुद्गल के परिणाम से भिन्न बताया है, ऐसे जो ज्ञान के परिणाम हुए, वह उस ज्ञाता का व्याप्य है, ज्ञाता उसका कर्ता है। आहाहा!

इसमें घर में अपने आप समझे तो क्या इसमें से निकाले? ऐई.. मोटाणी! प्लास्टिक

का चूरा निकाले। (कर्तापने के) भाव करे। दूसरा क्या है ? आहाहा! प्लास्टिक का चूरा भी निकाल नहीं सकता। आहाहा! कठिन काम, बापू! आहाहा!

देखो! वापस क्या कहते हैं ? कि **जो द्रव्य का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है वही पर्याय का आत्मा,...** देखा ? **जो द्रव्य का आत्मा,...** अर्थात् द्रव्य का स्वरूप आत्मा, स्वरूप। **स्वरूप अथवा सत्त्व है।** (अर्थात्) द्रव्य का आत्मा, द्रव्य का स्वरूप द्रव्य का सत्त्व है, **वही पर्याय का आत्मा,...** पर्याय का **स्वरूप...** (अथवा) पर्याय का **सत्त्व है।** फिर से अधिक लिया जाता है, हों! फिर से... वस्तु जो भगवान आत्मा है, अपने को अभी उसके ऊपर लेना है न (घटित करना है न) ?

उसका-द्रव्य का स्वरूप आत्मा, अर्थात् स्वरूप मूल तो। यह व्याख्या की है कि द्रव्य का आत्मा अर्थात् द्रव्य का भाव, वह द्रव्य का स्वरूप है, वह द्रव्य का सत्त्व है। आहाहा! सत्.. सत्, प्रभु ज्ञायक! सत्, सत् द्रव्य, उसका ज्ञायकपना, वह उसका सत्त्व! आहाहा! सत् का सत्त्व। आहाहा! **वही पर्याय का आत्मा,...** पर्याय का भाव, वही पर्याय का स्वरूप और वही पर्याय का सत्त्व है। आहाहा! द्रव्य का-सत् का सत्त्व और पर्याय का सत्त्व दोनों एक हैं। इस अपेक्षा से। अभी पर का सत्त्व भिन्न करना है न। आहाहा!

दया, दान, भक्ति, स्तुति का राग है, वह पुद्गल का-सत् का सत्त्व है। आहाहा! यह निर्मल पर्याय और निर्मल भगवान (आत्मद्रव्य), जो कि द्रव्य का आत्मा! आहाहा! द्रव्य का जो स्वभाव, वही स्वरूप, वही उसका सत्त्व; वही पर्याय का आत्मा है। आहाहा! यह ऐसा - त्रिकाली का स्वरूप उसका है न ? पर्याय का आत्मा, वह त्रिकाली स्वरूप और सत्त्व **ऐसा होने से द्रव्य पर्याय में व्याप्त होता है...** द्रव्य, पर्याय में व्याप्त होता है। द्रव्य, निर्मल पर्याय में व्याप्त होता है। आहाहा! किस अपेक्षा का कथन है। एक ओर कहते हैं कि पर्याय षट्कारक से परिणमित होती है, उसे द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो... पर से—पुद्गल परिणाम से (जो) राग, दया, दान, व्रतादि से भिन्न बतलाने के लिये द्रव्य का स्वरूप, वह पर्याय का स्वरूप है, ऐसा कहा है। आहाहा! कैसी अपेक्षा वीतरागमार्ग की! आहाहा! कहो, लाभभाई! समझ में आता है या नहीं यह ? वहाँ तुम्हारे बड़ोदरा में कुछ समझ में आये ऐसा नहीं है, एक भी लाईन वहाँ। आहाहा!

मुमुक्षु : समझने के लिये तो आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्ची बात की है। आहाहा!

आहाहा! द्रव्य का आत्मा अर्थात् द्रव्य का भाव। द्रव्य का स्वरूप, द्रव्य का सत्त्व, वह पर्याय का आत्मा और पर्याय का भाव। पर्याय का स्वरूप-सत्त्व। इसलिए यहाँ राग के द्रव्य-सत्त्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! वीतरागमार्ग सर्वज्ञ परमेश्वर... अरे! आहाहा! जिन्हें लोकालोक का ज्ञान कहना, वह कहते हैं कि व्यवहार है और यह ज्ञान लोकालोक को ग्रासीभूत कर गया! प्रवचनसार में तो आता है न... उत्कीर्ण हो गया। आहाहा! ज्ञान में उत्कीर्ण हो गया-खुद गया। प्रवचनसार में पहले भाग में आता है न! आयेगा आगे। यह तो समयसार है। प्रवचनसार में है 'वे सब मानो अन्दर ज्ञान में क्यों न हों!' क्योंकि उस सम्बन्धी ज्ञान हुआ न, इसलिए ज्ञान में है—ऐसा कहने में आया है। आहाहा! आहाहा!

ऐसा होने से द्रव्य पर्याय में व्याप्त होता है... द्रव्य वस्तु है, वह अवस्था में व्याप्त होती है, द्रव्य जो वस्तु है, वह अपनी निर्मल अवस्था में व्याप्त होती है, वह उसकी अवस्था कहलाती है। राग उसकी पर्याय ही नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह राग पुद्गल है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्गलपरिणाम है।

द्रव्य-वस्तु पर्याय में रहती है, व्याप्त होती है, कार्य होता है **और पर्याय द्रव्य के द्वारा व्याप्त हो जाती है।** कार्य हो जाता है - द्रव्य द्वारा कार्य होता है। पर्याय द्रव्य द्वारा व्याप्त की जाती है। आहाहा! ऐसा वीतराग का मार्ग। उसमें... लन्दन में कहाँ, अन्यत्र कहाँ... अनार्यदेश लन्दन में।

मुमुक्षु : उसमें यह सुनने को भी नहीं मिलता।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनने को भी नहीं मिलता। सत्य बात, बापू! अरे! ऐसी बात है, बापू! प्रभु! तू कौन है? आहाहा!

तेरे द्रव्य का और पर्याय का सत्त्व तो एक है, कहते हैं और उस राग का तथा पुद्गल का सत्त्व (तुझसे) भिन्न है। पुद्गल के साथ (उसका सत्त्व) गया। पुद्गलद्रव्य है, वह उसका आत्मा, वह उसका स्वरूप, वह उसका सत्त्व है। वैसा ही राग, उसका

स्वरूप वह उसका आत्मा, स्वरूप और सत्त्व है। आहाहा! धीरे से तो कहा जाता है, प्रभु! थोड़ा विचार करने का समय मिले। आहाहा! अरे! परमात्मा का विरह पड़ा, तीन लोक के नाथ भगवान विराजते हैं, उनकी यह वाणी है। आहाहा! शब्द तो भगवान के पास से (सुनकर) लाकर यह गाथा बनायी (और) टीकाकार (अमृतचन्द्राचार्य) कहते हैं, आहाहा! वे भी मानो कुन्दकुन्दाचार्य के पेट में प्रवेश करके (कहते हैं)। आहाहा! उन्होंने टीका की है।

(कहते हैं कि) **ऐसी व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही (अभिन्न सत्तावाले पदार्थ में ही) होती है;...** है न? पर्याय और द्रव्य यह अभिन्न सत्ता हुई। **अतत्स्वरूप में (जिनकी सत्ता-सत्त्व भिन्न-भिन्न है, ऐसे पदार्थों में) नहीं ही होती।** भगवान आत्मा का सत्त्व द्रव्य और पर्याय का सत्त्व है परन्तु राग—जो व्यवहाररत्नत्रय का राग, भगवान की स्तुति का राग, उसका सत्त्व और सत् अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! यह भाग्यशाली को कान में पड़े, ऐसी बात है, बापू! परमात्मा की-भगवान की वाणी है, यह तो तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की बात है। आहाहा!

जहाँ व्याप्यव्यापकभाव होता है, वहीं कर्ताकर्मभाव होता है; व्याप्यव्यापकभाव के बिना कर्ताकर्मभाव नहीं होता। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय में आत्मा का व्याप्यव्यापकपना नहीं है, इसलिए उनमें कर्ताकर्मपना नहीं है। आहाहा!

जो ऐसा जानता है, वह पुद्गल और आत्मा के कर्ताकर्मभाव नहीं है, ऐसा जानता है। यह पुद्गल, परिणाम-राग आदि। अन्त में (टीका में) कहा था न? **जो ऐसा जानता है, वह पुद्गल...** अर्थात् रागादि के परिणाम **पुद्गल और आत्मा के कर्ताकर्मभाव नहीं है, ऐसा जानता है।** आहाहा! भगवान आत्मा कर्ता और दया, दान के, भक्ति के और स्तुति के परिणाम वे कार्य-ऐसा ज्ञानी नहीं मानता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! है? **पुद्गल और आत्मा के कर्ताकर्मभाव नहीं है, ऐसा जानता है। ऐसा जानने पर वह ज्ञानी होता है,...** आहाहा! **कर्ताकर्मभाव से रहित होता है और ज्ञाता-दृष्टा-जगत का साक्षीभूत-होता है।** विशेष कहेंगे....

(***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–७६

पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभाव: किं भवति किं न भवतीति चेत् –

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गल–कम्मं अणेय–विहं।।७६।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गल–कर्मानेक–विधम्।।७६।।

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमन्तर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यान्तेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वा बहि:स्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, तत: प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य पुद्गलकर्म जानतोऽपि ज्ञानिन: पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभाव:।।७६।।

अब यह प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्म को जाननेवाले जीव के पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं:–

बहुभाँति पुद्गलकर्म सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे।।७६।।

गाथार्थ : [ज्ञानी] ज्ञानी [अनेकविधम्] अनेक प्रकार के [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म को [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] निश्चय से [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्य की पर्याय में [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

टीका : प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला पुद्गल के

परिणामस्वरूप कर्म (कर्ता का कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ उसरूप उत्पन्न होता हुआ, उस पुद्गलपरिणाम को करता है; इस प्रकार पुद्गलद्रव्य से किये जानेवाले पुद्गलपरिणाम को ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है उसी प्रकार, ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले) परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; इसलिए, यद्यपि ज्ञानी पुद्गलकर्म को जानता है तथापि, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ज्ञानी को पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थ : जीव पुद्गलकर्म को जानता है, तथापि उसे पुद्गल के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है।

सामान्यतया कर्ता का कर्म तीन प्रकार का कहा जाता है-निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। कर्ता के द्वारा, जो पहले न हो, ऐसा नवीन कुछ उत्पन्न किया जाये, सो कर्ता का निर्वर्त्य कर्म है। कर्ता के द्वारा, पदार्थ में विकार-परिवर्तन करके जो कुछ किया जाये, वह कर्ता का विकार्य कर्म है। कर्ता, जो नया उत्पन्न नहीं करता तथा विकार करके भी नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है, वह कर्ता का प्राप्य कर्म है।

जीव पुद्गलकर्म को नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि चेतन जड़ को कैसे उत्पन्न कर सकता है? इसलिए पुद्गलकर्म जीव का निर्वर्त्य कर्म नहीं है। जीव पुद्गल में विकार करके उसे पुद्गलकर्मरूप परिणमन नहीं करा सकता, क्योंकि चेतन जड़ को कैसे परिणमित कर सकता है? इसलिए पुद्गलकर्म जीव का विकार्य कर्म भी नहीं है। परमार्थ से जीव पुद्गल को ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि अमूर्तिक पदार्थ मूर्तिक को कैसे ग्रहण कर सकता है? इसलिए पुद्गलकर्म जीव का प्राप्य कर्म भी नहीं है। इस प्रकार पुद्गलकर्म जीव का कर्म नहीं है और जीव उसका कर्ता नहीं है। जीव का स्वभाव ज्ञाता है, इसलिए ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ स्वयं पुद्गलकर्म को जानता है; इसलिए पुद्गलकर्म को जाननेवाले ऐसे जीव का पर के साथ कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।।७६।।

प्रवचन नं. १६४, गाथा-७६, दिनांक ०९-०१-१९७९, मंगलवार, पौष शुक्ल १२

अब यह प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्म को जाननेवाले... अर्थात् कि आत्मा में होनेवाले देव-गुर-शास्त्र की भक्ति के परिणाम या पंच महाव्रत के परिणाम या भगवान की स्तुति के परिणाम, वे परिणाम पुद्गलकर्म का कार्य है। आहाहा! ऐसी बात है। पुद्गलकर्म का वह कार्य है। उस पुद्गलकर्म के-पुद्गल के कार्य को **जाननेवाले जीव के...** यह शुभ-अशुभभाव जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि भाव, वह सब पुद्गल का कार्य है, जीव का नहीं। आहाहा! उस पुद्गल के कार्य को, पुद्गलकर्म अर्थात् (पुद्गल का) कार्य। आहाहा! यह बात कठोर पड़ती है। भक्ति की भक्ति, देव-गुरु की भक्ति, देव-गुरु की प्रशंसा और विनय आदि का भाव, वह सब राग है आहाहा! और वह राग पुद्गल का कार्य है। आहाहा!

क्योंकि भगवान आत्मा तो ज्ञायक है। उस ज्ञायक को विकारी परिणाम कैसे हो? अविकारी भगवान आत्मा को विकारी परिणाम का कार्य कैसे हो? आहाहा! वह विकारी परिणाम का कार्य तो पुद्गल का है, कहते हैं। आहाहा! गजब बात है न! वह पुद्गल है। विकारी परिणाम, वह पुद्गल का कार्य है, ऐसा। फिर अभेद करके पुद्गल कहते हैं। आहाहा! उसे **जाननेवाले जीव को पुद्गल के साथ...** कर्म का **कर्ताकर्मभाव है या नहीं?** अर्थात् कि क्या पूछा? कि जब पुण्य के भाव, दया, दान, भक्ति, व्रतादि के भाव होते हैं, वह पुद्गल का कार्य है, ऐसा जानता तो है आत्मा, इतना तो सम्बन्ध है, कहते हैं। आहाहा! जाननेवाले ऐसे जीव को, जानता है—ऐसे जीव को, पुद्गल के साथ कर्ता-कर्म, जानता है उसके साथ? उसे जानता है, तो जाननेवाले ऐसे जीव को पुद्गल के साथ अर्थात् शुभ-अशुभभाव के साथ कर्ताकर्मपना है या नहीं? ऐसा उत्तर है। ऐसी बात है, बापू! आहाहा!

उसका उत्तर (कहते हैं)—ऐसी जिसे अन्दर में जिज्ञासा प्रश्न की हुई है, यह क्या कहते हो यह आप? कहे, अरे! देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, स्तुति, वन्दन, ये परिणाम पुद्गल का कार्य? और उसे जाननेवाले, जानने का सम्बन्ध तो है, आहाहा! जानते हुए,

जानने का सम्बन्ध तो है, तो जानने का सम्बन्ध है तो उसके साथ कोई कर्ताकर्म है या नहीं ? ऐसा शिष्य का ऐसा गम्भीर प्रश्न है। आहाहा!

'णवि परिणमदि न गिन्हदि' विकार्य से लिया है। परिणमदि, यह विकार्य से लिया है। गिन्हदि, यह प्राप्य है, उपज्जति यह निर्वृत्य है। परन्तु यहाँ सामान्य कर्ताकर्म में कहा, उसमें निर्वृत्य, विकार्य और प्राप्य कहा है। भावार्थ में भरा है न जरा, **'णवि परिणमदि'** यह पुण्य के परिणाम हैं, वह परद्रव्य पर्याय है। आहाहा! प्रेमचन्दभाई! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! यह दया, दान, भक्ति, व्रत भगवान के परिणाम स्तुति के परिणाम, वन्दन वह परद्रव्य पर्याय है। आहाहा! **'णाणी जाणंतो'** ज्ञानी उसे जानने का व्यवहार ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। आहाहा! **'जाणंतो विहु पोग्गलकम्मं अणेयविहं'** उसे जानता है परन्तु उस परद्रव्य में स्वयं उपजता नहीं। परद्रव्य की पर्याय को जानने पर भी परद्रव्य की पर्याय को करता नहीं।

नीचे हरिगीत –

बहुभाँति पुद्‌गलकर्म सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे।।७६।।

टीका:- गाथा में पहले विकार्य लिया है, फिर प्राप्य लिया है और फिर निर्वृत्य लिया है। गाथा में। समझ में आया ? और टीका में उसका यथार्थपना ऐसा है कि पहले प्राप्य लिया है, अर्थात् ? कि पुद्‌गल जो है कर्म और शरीर... दोनों यहाँ तो लिया है न ? कर्म-नोकर्म। कर्म और शरीर उनकी जिस समय पर्याय होनेवाली राग की, भक्ति की, स्तुति की, राग, वह उसका प्राप्य है। अर्थात् ? वह पुद्‌गल है, वह उसके-राग के भक्ति के भाव को प्राप्य अर्थात् ग्रहता है। वह उसे ग्रहता है। आज की बात सूक्ष्म है। यह प्रतिदिन की सूक्ष्म है यहाँ तो। आहाहा! प्राप्य, यह पुद्‌गल जो है। शरीर और कर्म की जो पर्याय यहाँ राग, भक्ति आदि भगवान की, उसके जो परिणाम, वह पुद्‌गल का प्राप्य है, पुद्‌गल का ध्रुव है। पुद्‌गल का उस समय में राग वह ध्रुव—उत्पन्न होने का बराबर उत्पन्न होता है, ध्रुव है, उसे पुद्‌गल ग्रहता है। आहाहा!

प्राप्य अर्थात् उस समय में उस पुद्‌गल का कर्म का शुभभावरूप से होना, वह पुद्‌गल का प्राप्य है अर्थात् ध्रुव है। ध्रुव अर्थात् उस समय में वह निश्चय होने का वह हुआ

है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, भाई! और इसलिए वह पुद्गल उसे प्राप्य अर्थात् उस समय में वे होने के परिणाम पुद्गल के कारण, वे इसलिए उसका वह प्राप्य अर्थात् पुद्गल उसे ग्रहता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। धीरे से समझना। यह सब गाथायें ही सूक्ष्म हैं।

प्राप्य, निर्वृत्य, विकार्य—जो पुद्गल है, उसमें व्यय होता है। ऐसा फेरफार होता है, वह पुद्गल के कारण अन्दर राग की उत्पत्ति का व्यय होना, पूर्व की पर्याय का व्यय होना, वह पुद्गल के कारण से है। राग और भक्ति आदि के परिणाम हों, उन परिणाम को पुद्गल प्राप्य ध्रुवरूप से वहाँ वे ही होनेवाले, वे हुए, उन्हें ग्रहण किया और पूर्व की पर्याय का फेरफार हुआ, वह भी विकार्य भी पुद्गल ने किया है। आहाहा! पूर्व की पर्याय का व्यय, विकार्य, वह पुद्गल ने किया है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, बापू!

और निर्वृत्य और पुद्गल के उस समय में वही उपजने का था। पहले ध्रुव कहा, फिर फेरफार कहा, फिर उपजा है, कहा। आहाहा! कान्तिभाई! ऐसा तुम्हारे कहीं सुनने को मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह पुद्गल जो कर्म है, उसने उससे वह भक्ति आदि स्तुति, परमात्मा का विनय आदि वह पुद्गल से उपजा है। है? **प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य...** ध्रुव, व्यय और उत्पाद। सादी भाषा में कहे तो। पर्याय का ध्रुव जिस समय में वह राग होनेवाला था और हुआ, वह ध्रुव, वह प्राप्य, उसे पुद्गल ग्रहता है और वह राग पहले जो फेरफार हुआ, वह भी पुद्गल फेरफार-व्यय करता है और जो राग उत्पन्न हुआ है, उसे पुद्गल ने उपजाया है। निर्वृत्य। है न सामने पुस्तक? आहाहा!

प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य ऐसा, व्याप्य लक्षणवाला... अर्थात् व्याप्य अर्थात् कार्यरूपी, कर्मरूपी लक्षणवाला वह पुद्गल का कर्म है। देवीलालजी! आहाहा! अब अभी तो यह शुभभाव करते-करते निश्चय होगा। अरे रे! कहाँ पुद्गल के परिणाम करे, उसे आत्मा के ज्ञानपरिणाम हो। (ऐसा इसका अर्थ हुआ)।

मुमुक्षु : उसके सन्मुख हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : सन्मुख भी बिल्कुल नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

ऐसा व्याप्य अर्थात् कार्य, कार्य लक्षणवाला पुद्गल के परिणामस्वरूप। आहाहा! वह तो पुद्गल के परिणामस्वरूप कर्म / कार्य। व्याप्य कहो या कर्म कहो। वह पुद्गल

अर्थात् कर्म के पुद्‌गल जो हैं। क्योंकि भगवान आत्मा तो ज्ञायक है। ज्ञायक में से परिणाम हों, वे तो निर्मल होते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञायक है। उस ज्ञायक में से तो जानने के परिणाम होते हैं। वे विकार परिणाम कहाँ से उसमें से हों? समझ में आया? आहाहा! भाषा समझ में आती है थोड़ी? तुम तो गुजराती हो। कल वे भाई थे, थोड़ा नहीं समझते थे। आहाहा!

वह **पुद्‌गल का परिणामस्वरूप...** कार्य... आहाहा! यह पूजा, भक्ति, वन्दन, वैयावृत्य के परिणाम, वे पुद्‌गल के परिणाम हैं, वह तो पुद्‌गल का कार्य है। वह पुद्‌गल का व्याप्य है। आहाहा! **कर्ता का कार्य...** यह पुद्‌गलस्वरूप कर्म, कर्ता का कार्य, वह पुद्‌गल का कार्य है। यहाँ पुद्‌गल उसका कर्ता और उसका वह कार्य है। भाई! यह तो शब्द, यह तो अध्यात्म का शास्त्र है। आहाहा! इसकी तुलना में आवे, ऐसा अभी कोई (शास्त्र) नहीं है, ऐसी यह चीज़ है। आहाहा! भगवान आत्मा, वह ज्ञायकभाव से भरपूर ज्ञायकस्वभाव है, उसके परिणाम तो वे रागादि जो पुद्‌गल के परिणाम हुए, उसे जानने के सम्बन्धरूप से बात की। इतना ज्ञेय जाने। आहाहा! यह दया, दान, वन्दन, भक्ति, वैयावृत्य, पूजा आदि भाव, वे पुद्‌गल के परिणाम, पुद्‌गल उनका व्याप्य है। पुद्‌गल कर्ता और उसका वह कार्य है। आहाहा!

उसमें पुद्‌गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर... आहाहा! क्या कहते हैं? कि जो कोई दया, दान, व्रत, भक्ति या परमात्मा का विनय, नामस्मरण आदि प्रभु की या स्तुति भगवान की, ऐसा जो राग, वह राग जिसमें पुद्‌गलद्रव्य अन्तर्व्यापक होता है। उसमें पुद्‌गल अन्तर्व्यापक-पसरता है, वह आत्मा पसरता नहीं। आहाहा! बापू! ऐसी बात कठिन है, भाई! ऐ चेतनजी! क्या कहा? प्रभु! जो कुछ भगवान की भक्ति, देव-गुरु की भक्ति, वे परिणाम पुद्‌गल का कार्य है। आहाहा! अ र र र! क्योंकि ज्ञायक स्वभाव भगवान का कार्य राग कैसे हो? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वे पुद्‌गलद्रव्य स्वयं, पुद्‌गलद्रव्य स्वयं-ऐसा, जिसमें पर की अपेक्षा नहीं। आत्मा की कमजोरी हुई, इसलिए राग हुआ, इतनी अपेक्षा उसमें नहीं है। आहाहा!

पुद्‌गलद्रव्य स्वयं... स्वयं **अन्तर्व्यापक होकर...** देखा! व्यापक कहना है न? और वह तो व्याप्य है—दया, दान, व्रत, भक्ति, स्तुति, वन्दन के परिणाम, वे तो व्याप्य हैं और यह पुद्‌गलद्रव्य अन्तर्व्यापक होता है, पसरता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पुद्‌गलद्रव्य का मतलब अप्रत्याख्यानावरणी प्रकृति का उदय भी?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब–सब पुद्‌गलद्रव्य का कार्य है, प्रत्याख्यान क्या?

यहाँ भगवान की स्तुति और वन्दन तक ले लिया फिर। यह कहा नहीं, ८३ गाथा में, भावपाहुड़ में। पूजा, भक्ति, वन्दन और वैयावृत्य आदि ऐसा लिया है, वह सब जैनधर्म नहीं है। आहाहा! वह जैनधर्म नहीं है। वह तो राग है, जैनधर्म तो वीतरागभाव है। आहाहा! अरे रे! कठिन काम? भाई! वह तो पुद्‌गल का कार्य है। वह जैनधर्म का कार्य नहीं। आहाहा! जैन ऐसा वीतराग आत्मा! 'घट घट अन्तर जिन बसे' ऐसा जिनस्वरूप वीतराग का कार्य वह राग नहीं है। आहाहा! श्रीमद् में भी आता है न? 'जिन सो ही है आत्मा अन्य सो ही है कर्म, कर्म कटे जिन वचन से यह तत्त्वज्ञानी का मर्म।' आहाहा!

यह राग है, आहाहा! वह जिनस्वरूप भगवान जिन सो ही आत्मा। यह राग है, वह जिन का—आत्मा का स्वरूप परिणाम नहीं है। आहाहा! वीतरागस्वरूप यह भगवान आत्मा है त्रिकाली वीतरागमूर्ति प्रभु है, उसका कार्य राग नहीं होता। आहाहा! पुंजाभाई! ऐसी सूक्ष्म बात है। आहाहा!

पर्यायदृष्टिवाले को यह बात बैठना भारी कठिन। जिसकी दृष्टि में पर्याय है न वह। यहाँ कहते हैं, जिसकी दृष्टि में ज्ञायक नहीं न! भाई! ज्ञायक जो है, उसकी दृष्टि में नहीं न? उसे यह परिणाम आत्मा के हैं, ऐसा लगता है। आहाहा! यह पुद्‌गल का कार्य है वह। यह ज्ञायक दृष्टि हो, उसे वे पुद्‌गल के परिणाम लगते हैं, उसे जानता है। आहाहा! समझ में आया?

वह **अन्तर्व्यापक होकर,...** क्या परन्तु टीका! **आदि-मध्य और अन्त में...** क्या कहते हैं? यह भगवान की स्तुति और भक्ति का भाव, उसकी आदि में कर्म है, उसके मध्य में कर्म है और अन्त में कर्म है। आदि में कुछ भी आत्मा की निर्बलता है, वह आदि में है – ऐसा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : बड़े–बड़े पण्डित भड़क जायें ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भड़क जायें ऐसा है। बात सच्ची है। क्या हो? और यह भक्ति से धर्म हो, ऐसा माननेवाले भी भड़क उठें, ऐसा है। देव–गुरु की भक्ति वह धर्म है और देव–

गुरु की भक्ति से धर्म होगा। आहाहा! बापू! कठिन बातें है, भाई! है न सामने पुस्तक है या नहीं? आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु पुस्तक तो कुछ बोलती नहीं, इसलिए समझ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसका अर्थ तो होता है स्पष्ट करके। आहा!

कहते हैं कि आत्मा की पर्याय में नहीं, वह तो पुद्गल की पर्याय है। आहाहा! परद्रव्य पर्याय कहा न? भाई! गाथा में है न, परद्रव्यपर्याय। यह दया, दान, व्रत, भक्ति स्तुति के भाव, वे परद्रव्यपर्याय है। वह पुद्गलद्रव्य की दशा है। आहाहा! वह आत्मा की पर्याय नहीं, आहाहा! पाठ बोलता है न? '**नवी परिणमदि**' यह विकार्य है '**न गिन्हदि**' यह प्राप्य है, '**न उप्पज्जदि**' यह निर्वृत्य है। '**ण परद्रव्य परज्जाये**' यह रागादि के परिणाम जो हैं, वह परद्रव्य पर्याय में आत्मा परिणमता नहीं, विकार्य और उपजता नहीं और उसे पकड़ता नहीं। आहाहा! बहुत धीरे से समझने योग्य है। आहाहा! यह तो वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि, उसे सन्तों ने अनुभव किया, चारित्र में अनुभव किया, हों! अकेला अनुभव सम्यग्दर्शन नहीं। आहाहा! उन्होंने यह बनाया।

कहते हैं कि जो कोई विकल्प गुणगुणी के भेद का विकल्प उठे, आहाहा! उस विकल्प के परिणाम का कार्य का कर्ता तो पुद्गल है, वह परद्रव्य की पर्याय है। भगवान ज्ञायकस्वरूप स्वद्रव्य की वह विकारी पर्याय, स्वद्रव्य की कैसे हो? आहाहा! समझ में आया? कान्तिभाई! समझ में आया? यह बहुत सूक्ष्म है, तुम्हारे पाउडर की अपेक्षा से तो। यह अखण्ड की बातें हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो पुद्गल की बातें हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो राग होता है, वह पुद्गल का चूरा है। चूरा अर्थात् पुद्गल की पर्याय है। आहाहा!

अरे प्रभु! कुन्दकुन्दाचार्य का पुकार है और तीर्थंकरों का पुकार है। भगवान! तुझे तेरी पर्याय में जो रागादि हों, वह तेरी पर्याय नहीं। आहाहा! प्रभु! तू तो द्रव्य-ज्ञायकस्वरूप है न? वह ज्ञायकस्वरूप से भरपूर भगवान के परिणाम तो जानने-देखने के ज्ञायक के परिणाम हों। अरे! यह राग के परिणाम, प्रभु! वह तेरा अन्तर्व्यापक नहीं है, तू उसमें आदि

में नहीं। उन राग के परिणाम की आदि में तू नहीं, उसके आदि में पुद्गल है। आहाहा! गजब बात है। कालीदासभाई! आहाहा!

वे बेचारे पूर्व के माँ-बाप बेचारे सुना बिना चले गये। ऐसी तत्त्व की बात सुने बिना। मिला नहीं, क्या हो? और यह लॉजिक से-न्याय से सिद्ध करते हैं। प्रभु! तू तो ज्ञायकभाव है न? तू-तेरा स्वरूप तो ज्ञायक है। आहाहा! उस ज्ञायक स्वरूप के परिणाम तो जानने-देखने के हों या उस ज्ञायकस्वरूप के परिणाम यह दया, दान, विकल्प स्तुति आदि के परिणाम इसके? आहाहा! बराबर आ गये हो, हों! प्रेमचन्दभाई! भाग्यशाली है न मौके से ऐसी गाथा में आ गये हैं। दूर से-लन्दन से आये हैं। ऐसी बात है, बापू! आहाहा! ऐ, नवरंगभाई! आहाहा!

यह उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि में, आहाहा! यह कर्म ही वह भगवान की स्तुति, वन्दन, वैयावृत्य के परिणाम की आदि में कर्म है। उसकी आदि में आत्मा बिल्कुल नहीं है। आहाहा! समझ में आया? उसके मध्य में भी कर्म है। आहाहा! उसकी शुरुआत भी वहाँ से हुई है। मध्य में भी वह है, अन्त में भी वही-पुद्गल ही है। अपने आप सूक्ष्म पड़े ऐसा है। प्रेमचन्दभाई! अपने आप सूक्ष्म पड़े, ऐसा है। आ गये हो न बराबर ठीक गाथा के इसमें आ गये, भाग्यशाली है। आहाहा!

अरे, भाई! यह तो तीन लोक का नाथ ज्ञायकभाव भगवान, आहाहा! इसका यह कार्य कैसे हो राग? आहाहा! उस राग की आदि में, मध्य में और अन्त में कर्म है, उसकी आदि में शुरुआत तेरी है और मध्य में फिर वह है और अन्त में वह है, ऐसा नहीं। आदि में ही कर्म है, मध्य में भी कर्म है और अन्त में भी कर्म है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

आदि-मध्य-अन्त में व्यापकर, कौन? आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं कि हमारी भक्ति के परिणाम तुझे हों, स्तुति के परिणाम जो हों, प्रभु! उसकी आदि में तू नहीं, हों! वह पुद्गल उसकी आदि में, मध्य में और अन्त में वह (पुद्गल) है। शुरुआत में भी वहाँ, मध्य में भी वहाँ और अन्त में भी वह वहाँ। आहाहा! बापू! यह दृष्टि और दृष्टि का विषय है, वह तो बहुत अलौकिक बात है। आहाहा! कहो बाबूभाई! यह बराबर आये हैं। ठीक इस बराबरी में। लड़का नहीं आया?

मुमुक्षु : नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक। आहाहा!

भगवान! तू तो भगवान है न? भगवान के परिणाम विकार कैसे हों, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : न ही हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! उसके परिणाम तो पर्याय में भगवान हो, वैसे होते हैं। क्या कहा? भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव के परिणाम तो पर्याय में भगवान हो, उसके कारणरूप पर्याय होती है। आहाहा!

धीरे-धीरे समझना, भाई! यह कहीं कोई प्रोफेसर मैट्रिक का आवे और बात करे, यह वह बात नहीं है। यह तो भगवान की कॉलेज है। तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ की साक्षात् वाणी है, प्रभु! तुझे सुनाते हैं कि भाई! आहाहा!

कहते हैं कि इस परिणाम में **आदि, मध्य, अन्त में व्याप्त होकर...** कौन? पुद्गल, उसे ग्रहता अर्थात् प्राप्य, उसे ग्रहता अर्थात् पुद्गल है, उस-उस समय जो भगवान की विनय और स्तुति के भाव हुए राग, उसे पुद्गल ग्रहता है। प्राप्य होकर प्राप्य उसे पकड़ता है पुद्गल। आहाहा! वह पुद्गल का प्राप्य है। प्राप्य अर्थात् उस समय होने के परिणाम, वे पुद्गल के हैं। आहाहा! उसे ग्रहण करता हुआ, आहाहा! उसरूप परिणमता हुआ अर्थात् विकार्य। वह कर्म ही स्वयं और पूर्व की पर्याय बदलकर उसरूप उपजता है। उस काल में जो रागादि हुए—भगवान की भक्ति, विनय, स्तुति का वह राग, वह कर्म का प्राप्य है। वह कर्म का ध्रुव है। ध्रुव अर्थात् वह पर्याय उस समय में वही होनेवाली थी, वह उसका ध्रुव है। आहाहा! वह कर्म का प्राप्य है। कर्म उसे ग्रहण करता है। ध्रुव उसी समय में वे ही परिणाम कर्म के होनेवाले हैं, उसे कर्म उस समय ग्रहण करता है। आहाहा! है?

उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ... आहाहा! उसरूप परिणमता हुआ बदलकर। पूर्व का जो राग है, उसे पलटकर वह स्वयं परिणमन करता हुआ, वह स्वयं पुद्गल परिणमता है, पूर्व का व्यय करके, पुद्गल जो पूर्व का राग था, उसका व्यय करके—स्वयं व्यय करता है, वह विकार्य है। परिणमता हुआ और स्वयं **उसरूप उत्पन्न होता हुआ...** निपजना, यह उत्पाद हुआ। पुद्गल का प्राप्य, पुद्गल का विकार्य और पुद्गल का निर्वृत्य। आहाहा!

ऐसी बात सुनना कठिन पड़े। वे लोग कहे कि व्रत करो और अपवास करो, उससे कल्याण होगा। यह भगवान की भक्ति, देव-गुरु की भक्ति करो, उससे कल्याण होगा। यह सब एक जाति के मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों में से आत्मा के नजदीक कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : (दोनों) दूर है। आत्मा के नजदीक तो आत्मा के ज्ञायकभाव के परिणाम जानने के हों, वे आत्मा के नजदीक हैं। आहाहा! है न ऊपर? ऐसा है भगवान! भगवान! तू ज्ञायकस्वरूप प्रभु जिनस्वरूपी है न! आहाहा! देखो न, किस शैली से बात करते हैं! प्रभु! तू जिनस्वरूप है न! भगवानरूप से तो तुझे बुलाते हैं। भगवान के, ज्ञायक भगवान के परिणाम राग पामरता ऐसे हों? आहाहा! भगवान जिनस्वरूपी आत्मा, उस वीतराग के परिणाम तो वीतरागी परिणाम हों। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम, वे वीतरागी परिणाम हैं, वह आत्मा का प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य है। आहाहा! यह बाद में कहेंगे। चिमनभाई! ऐसी बातें हैं।

ऐसी चीज़ अन्दर भगवान, सच्चिदानन्द प्रभु सत् शाश्वत्, ज्ञायकस्वभाव और आनन्दस्वभाववाला प्रभु, उसके उसकी आदि में राग कैसे हो? कहते हैं, उस राग की आदि में तो कर्म और पुद्गल है, मध्य में व्यापक वह है। पुद्गलद्रव्य ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमता हुआ, यह विकार्य और पुद्गलद्रव्य उसरूप उपजता हुआ, यह निर्वृत्य। **उस पुद्गल परिणाम को करता है।** कौन? पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, उस पुद्गल परिणाम को करता है। वहाँ ले लेना।

मुमुक्षु : भोगता कौन है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भोगे वह जड़। कौन आत्मा, आत्मा की बात है न? भोगते हैं पुद्गल के परिणाम। अभी तो द्रव्यस्वभाव सिद्ध करना है न? यह आयेगा... यह आयेगा। अभी सुख-दुःख परिणाम का (आयेगा)। पुद्गलकर्म के परिणाम को भोगता हुआ। सुख-दुःख को कौन भोगता है? कि पुद्गल। यह आयेगा। अभी गाथा के बाद। आहाहा!

यहाँ तो अपने जितना चले, उतना अभी यहाँ से लेना। वह **प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य ऐसा व्याप्य लक्षणवाला...** कार्य उसमें **पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर**

आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसे (पुद्गल परिणाम को) करता है। ऐसा ले लेना। समझ में आया ? है न इसमें अक्षर-अक्षर पड़े हैं। देखो ! यह टीका तो कहीं अभी की नहीं, सोनगढ़ की टीका नहीं।

मुमुक्षु : सोनगढ़ से तो स्पष्टीकरण होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे कोई कहे कि भाई ! सोनगढ़ से प्रकाशित हुआ, इसलिए सोनगढ़ में फेरफार। यह तो कुन्दकुन्दाचार्य के शब्द हैं और अमृतचन्द्राचार्य की यह टीका है। आहाहा ! बहुत फेरफार है, बापू ! दृष्टि में बड़ा फेरफार है। आहाहा !

इस प्रकार पुद्गलद्रव्य से किये जानेवाले... अर्थात् कर्म यहाँ अपने राग का विशेष, वरना शरीर के परिणाम भी इसमें लिये हैं न ! शरीर के परिणाम नोकर्म परिणाम और रागादि कर्म के परिणाम। परन्तु **इस प्रकार पुद्गलद्रव्य से किये जानेवाले पुद्गल परिणाम को...** अर्थात् पुद्गल से किये जानेवाले ऐसे राग को अर्थात् पुद्गल परिणाम अर्थात् राग को। आहाहा ! **ज्ञानी जानता हुआ भी...** कहते हैं, इतना सम्बन्ध हुआ। कितना ? कि ज्ञानी जानता है और वे ज्ञात होते हैं। आहाहा ! धर्मी उन्हें जानता है और वह विनय आदि का राग, स्तुति के परिणाम, उसके ज्ञात होनेयोग्य हुआ, इतना सम्बन्ध हुआ। परन्तु इतना सम्बन्ध है न ? ऐसा कहते हैं।

तो **ज्ञानी जानता हुआ भी...** आहाहा ! गजब टीका है ! एक-एक गाथा पूरे सिद्धान्त का मर्म खोल देती है। आहाहा ! क्या कहा ? इस प्रकार पुद्गलद्रव्य अर्थात् कर्म जड़, अपने कर्म के साथ मिलाया। उसके द्वारा किये जानेवाले पुद्गल परिणाम को अर्थात् भगवान की भक्ति, वन्दन, स्तुति आदि के भाव को, ज्ञानी जानता होने पर भी। ज्ञानी जानता है, पुद्गल परिणाम को ज्ञानी जानता है, इतना सम्बन्ध हुआ। वे राग के परिणाम, वे ज्ञेय हैं और ज्ञानी के परिणाम उसके जाननेवाले, ज्ञान है। उन्हें **जानता हुआ भी, जैसे...** आहाहा ! **मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर...** आहाहा ! मिट्टी स्वयं घड़े की पर्याय में अन्तर पसरकर, आहाहा ! मिट्टी स्वयं घड़े में, घड़े की पर्याय का व्याप्य और मिट्टी स्वयं व्यापक, अन्तर्व्यापक मिट्टी अन्तर्व्यापक होकर घड़े की पर्याय को। घड़े में अन्तर्व्यापक आदि में, वह मिट्टी ही स्वयं घड़े की आदि में, घड़े के मध्य में और घड़े के अन्त में व्याप्त

होकर; कुम्हार बिल्कुल नहीं – ऐसा कहते हैं। आहाहा! कुम्हार मिट्टी के घड़े के कार्य को बिल्कुल करता ही नहीं। आहाहा! यह समयसार।

जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर... मिट्टी अन्तर्व्यापक है। वह घड़े को **आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर...** घड़े की पर्याय में मिट्टी, आदि में मिट्टी। आदि में कुम्हार, मध्य में मिट्टी, अन्त में मिट्टी—ऐसा नहीं है। आदि में कुम्हार था, इसलिए घड़े की पर्याय हुई, ऐसा बिल्कुल नहीं है। आहाहा! अब ऐसी मुम्बई जैसी मोहनगरी, उपाधि का पार नहीं होता। उसमें ऐसी बातें! **मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर...** अन्तर्व्यापक, देखा न? व्यापक मिट्टी कहना है न? पसरनेवाली, **आदि-मध्य-अन्त में...** घड़े की आदि में, मध्य में और अन्त में वह की वह व्याप्त होकर घड़े में मिट्टी ही उसकी आदि-मध्य-अन्त में घड़े में है। घड़े की पर्याय में आदि में कुम्हार आया, इसलिए घड़े की पर्याय हुई—ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : चाक बिना हुई?

पूज्य गुरुदेवश्री : चाक बिना हुई, मिट्टी की पर्याय में अन्तर्व्यापक मिट्टी हुई है, चाक नहीं, कुम्हार नहीं।

मुमुक्षु : जमीन रही।

पूज्य गुरुदेवश्री : जमीन तो कहीं रह गयी नीचे। आहाहा! ऐसी बात है। यह लोगों को कठिन लगता है, यहाँ की यह बात, इसलिए एकान्त लगती है न? इसलिए फिर वे बेचारे लोग विरोध करे। यह तो उनकी दृष्टि में बैठा नहीं, उसका विरोध है। यहाँ का विरोध नहीं। उनकी दृष्टि का विरोध है। उसे बैठे, किस प्रकार, यह किस प्रकार बैठे परन्तु यह?

कहते हैं कि भगवान की भक्ति और स्तुति के परिणाम की आदि में पुद्गल कर्म है। आहाहा! उसके मध्य में भी कर्म और अन्त में भी कर्म है। जैसे मिट्टी घड़े की आदि-मध्य में-अन्त में मिट्टी है; वैसे इन विकारी परिणाम की आदि-मध्य-अन्त में कर्म पुद्गल है। आहाहा! मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर घड़े की आदि-मध्य-अन्त में... कितना स्पष्ट किया है! आदि-मध्य-अन्त डाला तीन। प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य यह रखे और आदि-मध्य-अन्त में डाला। आहाहा! यह ज्ञानी जानता हुआ, घड़े को ग्रहण करती

है मिट्टी। मिट्टी घड़े को ग्रहण करती है अर्थात् घड़े का प्राप्य है, उसे मिट्टी ग्रहण करती है। उस समय घड़े की पर्याय निश्चय से होनेवाली थी, वह उसका-मिट्टी का प्राप्य है। घड़े की पर्याय वह प्राप्य है, उस समय निश्चय से वही पर्याय मिट्टी में से होनेवाली थी। आहाहा! कितनी बात स्पष्ट करते हैं!

मुमुक्षु : सबको लूला कर डाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : कैसा? लूला नहीं। महाभगवानस्वरूप है। वह तो आनन्द के और ज्ञान के परिणाम को करता हुआ वह परिणमता है। आहाहा! ऐसा है, भाई! बहुत अच्छी गाथा। हमारे भाई आये हैं न, हमारे प्रेमचन्दभाई बराबर मौके से आये हैं। आहाहा! ऐसी बात है, बापू! आहाहा! प्रभु! तू कौन है? क्या विकार का पुतला तू है? वे विकार के परिणाम तुझसे हों? भगवान! तू तो ज्ञायक है न, प्रभु! जानन स्वभाव का भण्डार का भण्डार तू है, तो उसमें से खुले तो जानने-देखने के आनन्द के परिणाम आवे, परन्तु वह पसरकर विकार आवे, बापू! यह नहीं है। आहाहा! ओहोहो! क्या शैली!!

वह मिट्टी **घड़े को ग्रहण करती है...** यह प्राप्य, उस मिट्टी का यह प्राप्य है। उस समय घड़े की पर्याय, उसी समय होनेवाली ही है... आहाहा! क्रमबद्ध, नियत को कितना सिद्ध करते हैं। अब लोगों को यह जँचता नहीं। उन वर्णीजी के साथ चर्चा हुई थी, (उन्होंने कहा) कि नहीं, एक के बाद एक होती है, परन्तु इसके बाद यही होगी, ऐसा नहीं है। यह तो इसके बाद यही होगी। यह बात थी नहीं, इसलिए क्या? कि उन्हें आत्मा का बिगाड़ने का तो हो नहीं, परन्तु बेचारों को यह बात मिली नहीं न! आहाहा! यह बात आयी नहीं थी। सुनने में आयी नहीं थी और पूर्व के कोई संस्कार नहीं थे, इसलिए यह बात कठिन पड़ती है। बापू! आहाहा!

कहते हैं कि मिट्टी स्वयं ही **घड़े को ग्रहण करती है...** अर्थात् कि प्राप्य है। वह घड़े की पर्याय प्राप्य वह होनेवाली है, उसे मिट्टी ग्रहण करती है, पकड़ती है, बस। आहाहा! घड़े की पर्याय उसी समय में उसी प्रकार से होनेवाली ही थी। आहाहा! वह उसका प्राप्य है, उसे मिट्टी ग्रहण करती है। है, उसे ग्रहण करती है। आहाहा! बात तो देखो! घड़े को ग्रहण करती है। **घड़े के रूप में परिणमित होती है।** मिट्टी, विकार्य। **घड़े के रूप में उत्पन्न होती है...** यह निर्वृत्य। आहाहा! घड़ा उस समय उपजने का निर्वृत्य है। उसे आगे-पीछे

कोई समय की आवश्यकता नहीं, उसे निमित्त की भी आवश्यकता नहीं। अरे! वास्तव में तो उसे द्रव्य की आवश्यकता नहीं, ऐसा। परन्तु यहाँ तो अभी... वह पर्याय उस घड़े की उस समय में षट्कारकरूप से परिणमित होती हुई उस समय के उस काल में उपजती है, ऐसा है, प्रभु! इसलिए सोनगढ़वालों का, ऐसा लोग (कहते हैं), ऐई, एकान्त है। कहे, प्रभु, भाई! उसे जँचा नहीं और खबर नहीं न! है तो सम्यक् एकान्त ही। आहाहा!

भगवान आत्मा आनन्द का सागर प्रभु, उसके परिणाम में विकार कैसे हो? उसके परिणाम में तो आनन्द हो, अतीन्द्रिय आनन्द हो। आहाहा! और यहाँ तो ज्ञान से लिया है, अतीन्द्रिय ज्ञायक भगवान के परिणाम अतीन्द्रिय ज्ञान परिणाम होते हैं, कि जो कर्म से ग्रहण किये गये परिणाम हैं, राग है, उसे जाने। इतना निमित्त का ज्ञान कराया है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! क्या कहें? भगवान तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव का यह पुकार है, सन्त आड़तिया, दिगम्बर सन्त आड़तिया होकर यह बात जगत को प्रसिद्ध करते हैं। दुनिया को जँचे या न जँचे, विरोध करे या न करे, पागल माने, न माने, तुम्हारी स्वतन्त्रता प्रभु! आहाहा! गजब किया है न! क्या ज्ञायकभाव को सिद्ध किया है। आहाहा!

उपजता है। **उसी प्रकार ज्ञानी स्वयं...** धर्मी ज्ञानी स्वयं **बाह्यस्थित,...** ये रागादि हैं, वे बाह्यस्थित हैं। आहाहा! अन्तर के परिणाम में नहीं; द्रव्य-गुण में तो नहीं, परन्तु उसके परिणाम में भी वे नहीं। क्या हो? क्या कहूँ कहाँ करूँ रंजन, ऐसा आनन्दघनजी में आता है। किसे करूँ प्रसन्न प्रभु इस वस्तु में। आहाहा! थोड़ा भी सत्य होना चाहिए, बड़ी लम्बी-लम्बी बातें पण्डितों की बातें और पण्डिताई की... आहाहा! मंगलवार है। आज यह मंगलवार है। आहाहा!

वह ज्ञानी अर्थात् समकिती धर्मी जिसे ज्ञायक की दृष्टि हुई है और पर्यायदृष्टि जिसे उड़ गयी है, आहाहा! ऐसा जो ज्ञानी स्वयं, खुद स्वयं बाह्यस्थित ऐसा, बाहर रहे हुए ऐसे पुद्गलद्रव्य के परिणाम में, है? **बाहर रहनेवाले परद्रव्य के परिणाम में...** परद्रव्य शब्द है न वह? परद्रव्य पर्याय, यह डाला है। वह परद्रव्य की पर्याय है। गजब बात है। आहाहा! आहाहा! मुनियों को मुनि का वैयावृत्य करने का भाव, कहते हैं कि वह परद्रव्य है। भगवान तीन लोक के नाथ समवसरण में विराजते हों, उनका हीरा के थाल, मणिरत्न के दीपक और कल्पवृक्ष के फूल, जय नारायण... आहाहा! यह स्तुति करते हो, कहते हैं कि

वह स्तुति करनेवाले के परिणाम वह विकारी कर्म के हैं। आत्मा के नहीं। अरे प्रभु! यह कैसे जँचे ? आहाहा!

धर्मी जीव, ज्ञायक में जिसकी दृष्टि हुई है, इसलिए उसके परिणाम ज्ञान के होते हैं, इसलिए वह ज्ञान के परिणाम को **बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर...)** आहाहा! उन्हें जानता है। परन्तु वे रागादि के परिणाम जो पुद्‌गल का व्याप्य-व्यापक आदि है, उसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आहाहा! ज्ञायक ऐसा भगवान आत्मा, आहाहा! ज्ञान के स्वभाव से भरपूर आत्मा, वह देव-गुरु और शास्त्र की भक्ति और स्तुति के परिणाम को, वे उन पुद्‌गल के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आहाहा! आदि में उसमें नहीं, वह मध्य में और अन्त में व्याप्त होकर **उसे ग्रहण नहीं करता।** यह प्राप्य लिया। आहाहा! वह पुद्‌गल का प्राप्त जो है रागादि, उसे ज्ञानी ग्रहण नहीं करता। अर्थात् वह प्राप्य इसका नहीं है (कि) वह उसे पकड़े, ऐसा कहते हैं। जिस समय में जानने के परिणाम हैं, वे प्राप्य हैं, उसे वह ग्रहण करता है परन्तु राग के परिणाम को ज्ञानी अपने परिणाम से ग्रहण नहीं करता। आहाहा! समझ में आये, इतना समझना प्रभु! यह तो भगवान का मार्ग। आहाहा! अभी तो फेरफार बहुत हो गया।

आदि-मध्य-अन्त में व्याप्य होकर, उसे ग्रहण नहीं करता। आहाहा! उसी समय का क्षणिक... १०२ गाथा में, उस समय के उत्पन्न होते राग के परिणाम, वह उसका काल है, उसे यहाँ कहते हैं, उस परिणाम का प्राप्य का, प्राप्य का ग्रहण तो कर्म को है, आत्मा उसे प्राप्य नहीं करता। आहाहा!

मुमुक्षु : अणुव्रत महाव्रत की दीक्षा किसने ली थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी ने ली नहीं, ले कौन ? इसने शुद्ध उपादान की दीक्षा ली थी।

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य ने दीक्षा ली थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्ध उपादान की दीक्षा ली थी। यह उसकी ही बात चलती है।

शुद्ध उपादान, कल नहीं आया था ? शुद्ध परमशुद्ध उपयोगरूप परिणाम को प्राप्त है, वह उसका ध्रुव है। आहाहा! परमशुद्ध उपयोग के परिणाम को प्राप्त मुनि हैं, वे परमशुद्ध उपयोग का परिणाम, वह उनका प्राप्य अर्थात् ध्रुव है। पर्याय का ध्रुव, हों! उस समय में

वे परिणाम ध्रुव निश्चल से होनेवाले थे। आहाहा! समझ में आया?

व्यवहार की बात आवे, तब कथन आवे, तथापि वस्तु ऐसी नहीं है। दीक्षा ग्रहण की, मुनियों को दीक्षा दी, आता है न? वह सब व्यवहार की बातें हैं। आहाहा! वह दीक्षा यह आत्मा के वीतरागी परिणाम की दीक्षा ली थी। नहीं कहा, साम्य अंगीकार किया? नहीं आया? दोपहर में नहीं आया? साम्य अंगीकार किया, वीतराग परिणाम को ग्रहण किया। वह वीतराग परिणाम है, उसका प्राप्य अर्थात् ध्रुव है, उस समय में वे ही परिणाम निश्चल होनेवाले, उन्हें आत्मा ने ग्रहण किया, आहाहा! बहुत अच्छी बात है, हों! प्रश्नों में स्पष्ट हो, उसमें क्या बाधा है। उसमें कुछ..... आहाहा!

इन पुद्गल के परिणाम को अर्थात् दया, दान, व्रत, वन्दन, भक्ति, पूजा स्तुति, इन परिणामों की आदि, मध्य, अन्त में व्यापकर पुद्गल ग्रहता है, जीव **उसे ग्रहण नहीं करता...** यह ध्रुव प्राप्य। **उस रूप परिणमित नहीं होता।** यह विकार्य, उसे वह बदलता नहीं पर को, **और उस रूप उत्पन्न नहीं होता।** आहाहा! यह द्रव्यदृष्टि के कथन समयसार के अलौकिक हैं। कहीं किसी के साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इसलिए यद्यपि ज्ञानी पुद्गलकर्म को जानता है... यह राग हुआ जो व्यवहार का, पंच महाव्रत का इत्यादि, उसे **जानता है, तथापि प्राप्य...** अर्थात् उस प्रकार के राग का काल जो था पुद्गल का, राग होने का काल बदल डाला, निर्वृत्य न रागरूप उपजता हुआ। **ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप...** ऐसा व्याप्य अर्थात् कार्य स्वरूप जो पुद्गल का है, वह परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म अर्थात् कार्य **उसे नहीं करनेवाले ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्ताकर्म भाव नहीं है।** आहाहा!

राग उसका कार्य और आत्मा उसका कर्ता, ऐसा नहीं है। राग का ज्ञान है, वह आत्मा का प्राप्य, विकार्य निर्वृत्य है और ग्रहे-उपजे और बदलता है। उसका वह आत्मा अन्तर्व्यापक आदि-मध्य-अन्त में है। आहाहा! पुद्गल के साथ कर्ताकर्म भाव नहीं है। आहाहा!

भावार्थ :- जीव पुद्गलकर्म को जानता है तथापि... जानता है न, इतना सम्बन्ध है न, ऐसा कहते हैं, तो फिर कर्ताकर्म साथ में है या नहीं ऐसा। कि नहीं, जानने पर भी **पुद्गल के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है।** (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १६५, गाथा-७६-७७, दिनांक १०-०१-१९७९, बुधवार, पौष शुक्ल १३

श्री समयसार, ७६ गाथा का भावार्थ है न। आहाहा!

गाथा में पहले विकार्य, पश्चात् ध्रुव और पश्चात् निर्वृत्य ऐसा लिया है। वह तो पद्य है न रचने के लिये। क्या कहा यह? यह तो पद्य है न? इसलिए पहले लिया है विकार्य - परिणमना; पश्चात् लिया है ध्रुव-गिन्हदि; पश्चात् लिया उपज्जदि। टीकाकार ने लिया है पहले ध्रुव, पश्चात् विकार्य-परिणमना और पश्चात् निर्वृत्य, ऐसा लिया है। और अर्थकार ने अब तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रुव, ऐसा लिया है। तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा है न, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। यह अर्थकार इस प्रकार से लेंगे। तीन का अन्तर है अपेक्षा से।

सामान्यरूप से कर्ता का कर्म तीन प्रकार का कहा जाता है। है? पहला **निर्वृत्य...** लिया, देखा? उत्पाद, पश्चात् **विकार्य...** व्यय, उत्पाद-व्यय और **प्राप्य...** ध्रुव, ऐसा लिया है। तत्त्वार्थसूत्र में है न उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, इस शैली से समझाया है।

क्या कहा? सामान्यरूप से संक्षिप्त में कर्ता का कार्य तीन प्रकार का कहा जाता है वह निर्वृत्य अर्थात् उपजना। आत्मा में कर्तापना यह कि ज्ञान की पर्याय का उपजना और पूर्व की पर्याय का व्यय होना और ध्रुवरूप से कायम रहना। क्योंकि ज्ञान की पर्याय जानती है न ध्रुव को? जानने में तो ज्ञान की पर्याय ध्रुव को जानती है, यह अपूर्व अनन्त काल में नहीं की हुई बात है कि ज्ञान की पर्याय अन्तर में ढलती है, तब ध्रुव को वह जानती है, इसलिए उसे उत्पाद पहले लिया। उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से। वैसे तो टीकाकार तो ध्रुव का लक्ष्य हो, उसे उत्पाद और व्यय होता है, ऐसा लिया है। ऐसी सूक्ष्म बात है।

यहाँ कहते हैं, कर्ता का कर्म तीन प्रकार का—उपजना, बदलना, ध्रुव रहना। ध्रुव शब्द से पर्याय की ध्रुवता, हों! पर्याय की ध्रुवता। **कर्ता के द्वारा, जो पहले न हो, ऐसा नवीन कुछ उत्पन्न किया जाये, सो कर्ता का निर्वृत्य कर्म है।** आहाहा!

यहाँ तो आत्मा में ज्ञान की पर्याय उत्पन्न ध्रुव के लक्ष्य से करे, वह कर्ता का उत्पन्न वह कार्य है। यहाँ है यह तो कहते हैं कि जो कर्म है, उससे उत्पन्न हुआ राग है, उस राग के उत्पाद का कर्ता कर्म है। समझ में आया?

मुमुक्षु : राग का उत्पादक कर्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म है और कर्म स्वयं ही व्यय पाकर, पूर्व की अवस्था का व्यय पाकर राग को करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वस्तु तत्त्व ऐसा सूक्ष्म है। अभी तो बहुत गड़बड़ी हो गयी है, बहुत फेरफार। आहाहा!

निर्वृत्य अर्थात् उपजाता है। कौन? कर्म। किसे? राग को।

मुमुक्षु : राग तो जड़ है प्रभु!

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़ है, वह पर्याय उपजाता है राग की। रोटी का प्रश्न नहीं था तुम्हारा? भाई, प्रेमचन्दभाई! रोटी की पर्याय जो है उपजती है, वह उत्पाद है, उस उत्पाद का कर्ता कौन है? परमाणु-रोटी के परमाणु। बेलन नहीं, स्त्री नहीं, तवा नहीं। भाई ने कहा था न, सवेरे प्रश्न किया था न? ऐसी बात है। आटा है, आटा। उसकी रोटी की पर्याय है, वह उत्पाद है, वह आटा उसका कर्ता है।

मुमुक्षु : आटा को कहाँ ज्ञान है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान का क्या काम है? ज्ञान हो, उसे ही कर्तापना-कर्मपना हो, तब तो जड़ को कर्ताकर्मपना होगा नहीं। आहाहा! यहाँ तो जड़ की बात है न? अरे! पर की। आहाहा!

देखो! यह पृष्ठ ऊँचा होता है न, देखो ऐसे, यह उत्पाद है। इस उत्पाद का कर्ता कौन है? कि यह इसके परमाणु। अँगुली नहीं। यहाँ ऐसा सिद्ध करना है कि जो राग होता है, चाहे तो दया का, दान का, भक्ति का, वह राग कर्म, कर्ता का उत्पाद है। भगवान ज्ञायकस्वभाव का उत्पाद तो ज्ञान की पर्याय का उत्पाद हो। आहाहा! वह राग को जाने, ऐसी जो ज्ञान की पर्याय, उस पर्याय का कर्ता ज्ञायक है। समझ में आया?

यह सब सूक्ष्म गाथायें हैं। ७५ से लेकर ७९ तक। आहा! यह लकड़ी ऊँची होती है ऐसे-ऐसे, यह उसकी पर्याय है उत्पाद, उसका कर्ता वह परमाणु है उसके, यह अँगुली नहीं। इसी प्रकार आत्मा में होते राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, स्तुति, वन्दन, विकल्प, वह पुद्गल उसका उत्पादक है, निपजाता है, उपजता है। चिमनभाई! ऐसी बातें हैं, बापू! मार्ग कोई ऐसा है। आहाहा! निर्वृत्य—जो न हो ऐसा नवीन कुछ उत्पन्न किया जाये। राग नहीं था और राग हुआ, वह कर्ता का निर्वृत्य कर्म है, वह पुद्गल का उपजाया हुआ कर्म है। आहाहा!

भगवान ज्ञायकस्वभाव है, वह ज्ञायकस्वभाव का कर्ता होकर पर्याय हो तो ज्ञान की, आनन्द की पर्याय हो, वह उसका उपजना; पहले नहीं था और हुआ कर्म, वह उत्पाद, कर्म में उपजा कर्म वह राग में, कर्म उसका कर्ता और निपजा, वह उसका कार्य। वह आत्मा का कार्य नहीं। आत्मा का कार्य तो उस राग का ज्ञान करे, वह ज्ञान आत्मा का कार्य है। जिसमें—ज्ञान में राग निमित्त है। निमित्त है अर्थात् एक चीज़ पर है, इतना बस। ऐसे ज्ञान के परिणाम का कर्ता ज्ञायक है और वह ज्ञान की पर्याय नहीं थी और उत्पन्न की, यह निर्वृत्य उसका है, ऐसी बात है।

मुमुक्षु : राग पुद्गल ने उत्पन्न किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्गल ने उत्पन्न किया। पर्याय में है, वस्तु नहीं। वस्तु का गुण नहीं, यह यहाँ सिद्ध करना है न? पर्याय की व्याख्या जब करे तब बतावे, प्रवचनसार, कि ज्ञानी को भी जो राग का परिणमन है, उतना वह कर्तारूप से परिणमता है। करनेयोग्य है, इस प्रकार ऐसा नहीं। परिणमता है, इसलिए कर्ता और उसे पर्याय में भोगता है। पर्याय को समझाना है न अभी? वह भोक्ता यह ज्ञानी है। आहाहा!

मुमुक्षु : यहाँ क्या समझाना है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो ज्ञाता-दृष्टा का स्वभाव समझाना है। दृष्टि का विषय जो ज्ञायकस्वरूप त्रिकाल; दृष्टि है पर्याय; उसका विषय है वह त्रिकाली ध्रुव। आहाहा! ऐसे ज्ञान की पर्याय है, वह उसे-ध्रुव को विषय करती है आहाहा! और इसलिए वह ज्ञायक ध्रुव का ज्ञान परिणमन, पर्याय वह उसका निर्वृत्य अर्थात् उत्पन्न कर्म है। पहली पर्याय में नहीं था और हुआ, इसलिए उसे निर्वृत्य-उत्पन्न किया। आहाहा! ध्यान रखे तो पकड़ में आये, यह तो ऐसा है बापू! आहाहा! ऐसा तो लन्दन में भी कहीं मिले ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : कहीं सुनने को मिले ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : फेरफार बहुत है।

मुमुक्षु : लन्दन में ऐसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत प्रेम है इसे। गलगलिया हो गया था। आहाहा!

यहाँ अर्थकार ने उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, ऐसा लिया। जगत को वह पहले उपजता

है न, ऐसे—इस अपेक्षा से बतलाया। नवीन कार्य उत्पन्न करने में आवे, वह कर्ता का निर्वृत्य—कर्म। राग है, द्वेष है, भक्ति का भाव है, भगवान की स्तुति का भाव है, वह भाव पहला पहली पर्याय में नहीं था। पश्चात् हुआ, उसका कर्ता पुद्गल है, उसका उपजाया हुआ निर्वृत्य-उत्पन्न कार्य है। आहाहा! है?

कर्ता द्वारा पर्याय में विकार, व्यय, **कर्ता के द्वारा पदार्थ में विकार-परिवर्तन करके जो कुछ किया जाये, वह कर्ता का विकार्य कर्म है व्यय।** परिवर्तन हुआ न व्यय ऐसे, परिवर्तन हुआ न? उस व्यय का कर्ता, राग के पूर्व का व्यय का कर्ता वह पुद्गल है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात, बापू! इस तत्त्व की अन्दर दृष्टि होना, वह कोई अलौकिक बात है, वह कोई साधारण नहीं। कोई मान ले स्वयं, परन्तु वह वस्तु ऐसी नहीं है, वस्तु दूसरी पूरी चीज़ अलग है। आहाहा!

पदार्थ में अर्थात् आत्मा की पर्याय में जो विकार होता है, राग, उसका व्यय होता है, उसका परिवर्तन करके, वह कुछ किया जाता है, वह कर्ता का विकार्य कर्म है, वह पुद्गल का विकार्य कर्म है। आहाहा! यह पर की दया का भाव,... यह गजब बात है, वे तो कहे, दया धर्म है। यहाँ तो कहे, पर की दया का भाव ऐसा जो राग, वह स्वरूप की हिंसा है, और उस राग का करना-करनेवाला कर्म है, और उस राग का परिवर्तन होकर हुआ, पलटकर हुआ, वह उसका विकार्य, यह उसका कर्ता वह कर्म है। आहाहा! आत्मा में परिवर्तन होकर, उस राग के समय पहले जो राग का ज्ञान नहीं था, उसका परिवर्तन हुआ और फिर राग का उत्पन्न हुआ, वह व्यय और उत्पाद उसका कर्ता-ज्ञान की पर्याय का (कर्ता) आत्मा है। अरे! ऐसा है। समझ में आया?

जाण! अलिंगग्रहण में कहा न, भाई! ४९ गाथा। वह तो एक-एक ग्रन्थ में है। समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़ और धवल (सभी में है)।

अरसमरुवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणसमद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥४९॥

तो अरस को भी जाननेवाली पर्याय है वर्तमान। रूप को भी जाननेवाली पर्याय है वर्तमान ज्ञान। ऐसे गन्ध की, ऐसे स्पर्श की, ऐसे अव्यक्त की, ऐसे अनिर्दिष्ट संस्थान की। वह अव्यक्त जो वस्तु है द्रव्य, उसे जाननेवाली वर्तमान पर्याय जो है प्रगट, वह उसे जानती

है। आहाहा! वह उसका वास्तव में तो उत्पाद है। आहाहा! अव्यक्त ऐसा जो स्वभाव ज्ञायकभाव, आहाहा! उसका जो पर्याय जिसने इस पर्याय ने जाना, वह पर्याय का कार्य हुआ, उसका कर्ता ज्ञायक है। और उस पर्याय ने उसे जाना, इसलिए ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय द्रव्य हुआ। आहाहा! वह प्रगट पर्याय, अन्दर निमग्न हो गयी भूत-भविष्य की वह पर्याय कहीं बाहर उसे जानने की नहीं है। वर्तमान प्रगट पर्याय बाह्य है, जिस ज्ञान की पर्याय का विषय वह ज्ञायक कर्ता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय को बाह्य कैसे कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय उस ओर ढली है न? इसलिए उसका विषय वह कहा। '**भूदत्थ मस्सिदो खलु**' सब चारों ओर देखो तो एक ही बात स्थिति। ज्ञान की पर्याय को इस ओर जो राग की ओर ढली हुई है, वह तो वहाँ रही, यह तो बहुत बार कहा जाता है। बाद की पर्याय द्रव्य में से उत्पन्न होती है, तथापि पर्याय से पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा! और वह पर्याय स्वज्ञेय त्रिकाली को जानती है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म है, भाई! यह तो वीतरागमार्ग बापू! सर्वज्ञ (का मार्ग)! ऐसी बात कहीं है नहीं, वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त (कहीं नहीं है)। उनके वाड़ावालों को भी समझ में नहीं आता, वहाँ बेचारे दूसरों को क्या करना? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अव्यक्त ऐसा जो द्रव्य है, वह स्वयं निर्मल पर्यायरूप से उपजता है आहाहा! और निर्मल पर्याय उसे जानती है, इसलिए वह निर्मल पर्याय, वह कार्य है और उसका कर्ता वह ज्ञायकभाव, अव्यक्तभाव है। आहाहा! भाई! समझ में आया? ऐई! नवरंगभाई!

यहाँ यह कहते हैं कि जो राग हुआ, व्यय होकर हुआ, उसका कर्ता वह कर्म है। हाँ, उस समय के प्रगट राग का यहाँ ज्ञान हुआ, वह स्वयं से हुआ है; राग है, इसलिए ज्ञान हुआ है—ऐसा नहीं है। आहाहा! वह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा, राग का ज्ञान कहना, वह अपेक्षित है। परन्तु वह ज्ञान का ज्ञान है। स्व-परप्रकाशक का उत्पाद है, वह निर्वृत्य है, उसका कर्ता ज्ञायकभाव है, राग पलटने का कर्ता वह पुद्‌गल है। आहाहा! कालीदासभाई! यह सब सूक्ष्म है। तुम्हारे पिता ने तो कभी वहाँ सुना नहीं था। आहाहा!

बेचारे हीराजी महाराज, अरे रे! हीराजी महाराज को बेचारे ऐसे लौकिक सज्जन थे, परन्तु उन्हें बात कान में पड़ी नहीं। अर र र! सम्प्रदाय के गुरु बोटाद (सम्प्रदाय के), बहुत

सज्जन थे। लौकिक वह तो भाई उनकी ऐसी नरमायी। आहाहा! अरे रे! यह शब्द उन्हें कान में पड़े नहीं और हिन्दुस्तान का हीरा कहलाते, उन्हें उसका कुछ मान नहीं था, हों! हाँ, परन्तु लोग कहे हिन्दुस्तान का हीरा। बहुत नरम व्यक्ति, बहुत नरम। गुजर गये तो लोग रोते, हों! साधु रोवे, आर्यिका (साध्वी) रोवे, लाखोंपति रायचन्द गाँधी जैसे रोवे, कांप में जलाया था, तुम्हारे कांप में। अरे रे! परन्तु यह शब्द कान में नहीं पड़े, आहाहा! कहते हैं, वह तो पर की दया पालना, यह सिद्धान्त का सार है–ऐसा कहते थे। 'अहिंसा समयं चेव ऐत्तायन वियाणीया' बहुत शान्ति से बोले, धीरज से बोले। कोई नजर नहीं ऐसे सभा पर, गम्भीरता! भाई! भगवान ऐसा कहते हैं, अहिंसा यह पर की अहिंसा, वह सिद्धान्त का सार है। पूरे सिद्धान्त का सार है। वह जिसने किया, उसने सब जाना, ऐसा कहते थे। 'अहिंसा समय चेव ऐत्तायन वियाणीया वि, ऐव तुं नाणीनो सार' यह ज्ञानी का सार, ऐसा कहते। शान्ति से, हों! ऐसा कोई अभिमान नहीं। परन्तु यह बात बैठी नहीं। हीराभाई ने देखा था या नहीं? हीराजी महाराज को देखा था या नहीं तुमने। ७४, (संवत्) १९७४।

मुमुक्षु : भले प्रकार से देखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ७४ में गुजर गये। आहाहा! अरे! प्रभु... प्रभु!

यहाँ कहते हैं कि पर की दया का भाव जो राग, वह राग है, उसका उत्पादक कर्म, कर्म है। ऐई! आहाहा!

मुमुक्षु : जीव की पर्याय में कर्म आये किस प्रकार?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे पर्याय में कर्म आये नहीं। पर्याय के निमित्त और सम्बन्ध होकर, द्रव्य और गुण में वे नहीं; यहाँ द्रव्यस्वभाव सिद्ध करना है न? यहाँ तो द्रव्यस्वभाव की दृष्टि की प्रधानता से समयसार का कथन है। आहाहा! इससे उसके द्रव्यस्वभाव की दृष्टि में, भगवान ज्ञायकस्वरूप वह क्या करे? उसमें पवित्रता भरी है, तो पवित्रता की पर्याय तो करे... आहाहा! और पवित्रता की पर्याय को बदले, व्यय हो और पवित्रता के ध्रुवरूप रहे। आहाहा! ऐसी बात है। सूक्ष्म बहुत, बापू! भाई! अरे रे! यह तो जन्म-मरणरहित की बातें हैं, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : पवित्रता ध्रुवरूप से रहे या पर्याय को करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय ही ध्रुव है, एक न्याय से कहा न? प्राप्य की अपेक्षा से।

मुमुक्षु : जो है उसे पहुँचती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्राप्य कहा न, कहा न प्राप्य? प्राप्य ध्रुव है, ध्रुव अर्थात् उस समय में वह होने का निश्चय-निश्चित ध्रुव है, उसे प्राप्य अर्थात् ग्रहण करता है, उसे पहुँचता है। आहाहा! बात तो बहुत कही गयी है, पहले से बहुत।

मुमुक्षु : यहाँ तो शुद्ध पर्याय की बात है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्ध पर्याय। उस राग को जानना है, वह ज्ञान की पर्याय, वह शुद्ध पर्याय। उस पर्याय का उत्पादक ज्ञायक है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। बाकी तो उत्पाद, उत्पाद का है। आया न, १०१ (गाथा प्रवचनसार में)? उत्पाद को ध्रुव की अपेक्षा नहीं। बापू! सूक्ष्म बातें, बापू। यह राग का ज्ञान हो, उसका उत्पादक आत्मा को कहना, वह अपेक्षित है, बाकी राग का जो ज्ञान है, वह ज्ञान की पर्याय स्वतन्त्र स्वयं से उत्पन्न हुई है, वह उत्पन्न हुई जो ज्ञान की पर्याय, उसका कर्म और कर्ता पर्याय है। उसका कर्ता ज्ञायक कहना, वह उपचार से, मात्र उस ओर झुकाना है, बस, इसलिए। आहाहा!

क्या कहा यह? ध्रुव-ध्रुव परन्तु वह लेना है यहाँ। देखो, आता है, पदार्थ में विकार करके कुछ किया जावे, वह विकार्य है। अब **कर्ता, जो नया उत्पन्न नहीं करता...** देखा? निर्वृत्यरूप से। **तथा विकार करके भी नहीं करता,...** विकार करके भी नहीं करता। आहाहा! **मात्र जिसे प्राप्त करता है,...** पर्याय को, हों! आहाहा! वह पुद्गल कर्ता, वह राग का प्राप्य ध्रुव, उसे प्राप्त करता है और आत्मा, उसका जो ज्ञान ध्रुव अर्थात् वह जिस काल में वही पर्याय स्वतन्त्र अपने से हुई है, इसलिए उसे-प्राप्य को आत्मा ग्रहण करता है। बस। आहाहा! सूक्ष्म है, भाई।

यह तो उन्नीसवीं बार वाँचन होता है, अठारह बार तो सब वाँचन हो गया है। यह अधिक स्पष्ट होता जाता है। **कर्ता जो नया उत्पन्न नहीं करता, तथा विकार करके भी नहीं करता...** अर्थात् उपजाता नहीं और फेरफार नहीं करता। **मात्र जिसे प्राप्त करता है।** राग हुआ है, उस समय ध्रुवपने, पर्याय का ध्रुव अर्थात् निश्चयपने उस-उस काल का निश्चय ध्रुव वही पर्याय, वही निश्चय है बराबर, उसे पुद्गल प्राप्त करता है, आत्मा नहीं। आहाहा! और आत्मा को लें तो, उस राग सम्बन्धी का ज्ञान, ऐसा कहकर भी व्यवहार, उस

समय की ज्ञान पर्याय है ध्रुव है, प्राप्य है, उसे वह आत्मा ग्रहण करता है। आहाहा!

भाई! वीतरागमार्ग कोई साधारण नहीं है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ (के अतिरिक्त) यह वस्तु अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा! और इस वस्तु का स्पष्टीकरण तो इन सन्तों ने किया है। आहाहा! दिगम्बर सन्तों ने किया है। केवली के मार्गानुसारी। उन्हें समाज की पड़ी नहीं कि समाज इसकी समतौलता रखेगी और मानेगी या नहीं? आहाहा! वस्तुस्थिति यह है। मात्र उसे प्राप्त करता है, **वह कर्ता का प्राप्य कर्म है।**

अब पुद्‍गल, **जीव, पुद्‍गलकर्म को नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता।** क्या कहा? भगवान ज्ञायक आत्मा उस राग को नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता। आहाहा! भाई! यह तो द्रव्यस्वभाव का वर्णन है, भाई! आहाहा! जीव अर्थात् आत्मा, पुद्‍गलकर्म को अर्थात् राग को नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता। आहाहा! बराबर अवसर से आये हो, हों! प्रेमचन्दभाई को जैसी लगन थी, वैसा यहाँ मौके से गाथायें सब ऐसी आयीं। आहाहा! बापू! यह तो समझने की चीज़ है। मान छोड़कर (समझनेयोग्य है)। आहाहा! जीव अर्थात् भगवान आत्मा, पुद्‍गलकर्म को अर्थात् राग को दया के, दान के और भक्ति के व्रत के विकल्प को, राग को, नवीन उपजा नहीं सकता। आहाहा! **क्योंकि चेतन जड़ को कैसे उत्पन्न कर सकता है?** यह ज्ञायकभाव, वह राग जड़ है, उसे कैसे, ज्ञानभाव का जिसमें अभाव है, आहाहा! चेतन, ज्ञायक चैतन्य, वह जड़ अर्थात् राग जिसमें अचेतनपना है, उसे कैसे उपजावे? यह दया का राग जो जड़ है, उसे चैतन्य कैसे उपजावे।

ऐसा कहते हैं न तुम्हारे यहाँ 'दया वह सुख की बेलड़ी अरु दया वह सुख की खान' कालीदासभाई! ८१ में हमारा चातुर्मास गढडा में था न, वहाँ सुना था। दया वह सुख की... अरे! कौन सी दया, बापू! आहाहा! यह तो अपनी दया अर्थात् पूर्णानन्द का नाथ जैसा जितना है, उतना प्रतीति और ज्ञान में लेना, वह जीव की दया है और उससे कम-अधिक मानना, वह जीव की हिंसा है, स्वयं की, हों! आहाहा! समझ में आया? सामने है न, पुस्तक है न?

क्योंकि चेतन जड़ को अर्थात् कि जिसमें ज्ञान नहीं, यह दया, दान, व्रत, व्यवहाररत्नत्रय का जो राग, उसमें कुछ ज्ञान नहीं है; वह तो अज्ञान है, उसमें ज्ञान का अभाव है। ऐसे जड़ को कैसे उत्पन्न कर सकता है? आहाहा! गजब बातें हैं न! कहो,

नौतमभाई ! **इसलिए पुद्गलकर्म जीव का निर्वृत्य कर्म नहीं है।** इसलिए राग जो पुण्य, दया, दान, भक्ति का परिणाम वह पुद्गलकर्म, वह जीव का उत्पन्न किया कर्म नहीं है। उसका निर्वृत्य—उत्पन्न किया हुआ नहीं है। आहाहा !

उत्पाद से लिया है न पहला ! उत्पाद-व्यय और ध्रुव लिया है न ? **जीव पुद्गल में विकार करके उसे पुद्गलकर्मरूप परिणमन नहीं करा सकता।** जीव राग में फेरफार करके, राग को बदला नहीं सकता। आहाहा ! पूर्व के राग का व्यय करके, उसे बदल नहीं सकता। आहाहा !

जीव अर्थात् ज्ञायकभाव भगवान, वह पुद्गल में विकार करके राग में फेरफार करके, राग को परिणमा नहीं सकता। विकार नहीं कर सकता और फेरफार नहीं कर सकता। **क्योंकि चेतन जड़ को कैसे परिणमित कर सकता है ?** ज्ञायक चैतन्य भगवान राग के जड़ को कैसे बदल सकता है ? आहाहा ! **इसलिए पुद्गलकर्म जीव का विकार्य कर्म भी नहीं है,...** इसलिए राग फेरफार करे, वह जीव का विकार्य कर्म भी नहीं है, वह जीव का फेरफारवाला कार्य नहीं है। आहाहा !

परमार्थ से जीव पुद्गल को ग्रहण नहीं कर सकता। आहाहा ! यह राग जो ध्रुवपने जो पुद्गल के ध्रुवपने उपजा, उस काल में बराबर राग हुआ, वह ध्रुव है। है पर्याय। उस समय में वह हुआ, उस ध्रुव को, आहाहा ! परमार्थ से जीव पुद्गल को ग्रहण नहीं कर सकता। उस राग का ध्रुवपना जो हुआ, उसे आत्मा ग्रहण नहीं कर सकता। आहाहा ! धीरे-धीरे समझना, बापू ! यह तो तीन लोक के नाथ की बातें अन्दर की हैं। आहाहा !

जीव पुद्गल को ग्रहण नहीं कर सकता। अर्थात् ? ज्ञायकभाव वह जीव, वह राग को, राग के काल में राग हुआ है, पुद्गल का वह ध्रुव है, उसे वह (जीव) ग्रहण नहीं कर सकता। यह तो उस काल में उस राग के परिणाम का ज्ञान ध्रुवपने हुआ है, आहाहा ! उस समय वे ही परिणाम बराबर राग को जानने के और स्व को जानने के परिणाम जो हुए हैं, वे ध्रुव हैं, उन्हें आत्मा ग्रहण करता है। पर्याय का ध्रुव, हों ! आहाहा ! समझ में आया इसमें ?

क्योंकि अमूर्तिक पदार्थ... आहाहा ! भगवान अमूर्त स्वरूप, वह मूर्तिक कर्म यह राग, वह तो मूर्तस्वरूप है, उसे किस प्रकार पकड़े ? भगवान ज्ञायक अमूर्त है, यह राग मूर्त है। उसे कैसे पकड़े ? अरूपी, उस रूपी को कैसे पकड़े ? **इसलिए पुद्गलकर्म जीव का**

प्राप्य कर्म भी नहीं है। इसीलिए पुद्‌गलकर्म जीव का अर्थात् जो ध्रुवपने राग हुआ अनुकम्पा का, भक्ति का, स्तवन का, ध्रुवपने वह वहाँ होने का ही था, कर्म का ध्रुव, हों! आहाहा! वह पुद्‌गलकर्म जीव का प्राप्य कर्म भी नहीं है। जीव का प्राप्य अर्थात् ध्रुव, वह जड़ का है, उसका-इस चैतन्य का वह ध्रुव कार्य नहीं है। आहाहा! **इस प्रकार पुद्‌गलकर्म जीव का कर्म नहीं है।** यह राग-द्वेष आदि भाव, वे निश्चय से जीव का कार्य नहीं है। आहाहा! **और जीव उसका कर्ता नहीं है।** जीव भगवान ज्ञायक का राग कार्य नहीं, तथा उसका वह कर्ता नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। शब्द सादे हैं, पकड़ में आये ऐसा है। क्या कहते हैं, वह पकड़ में नहीं आये, ऐसा नहीं है। आहाहा! इसमें तो कुछ व्याकरण और संस्कृत को बहुत जाना हुआ हो तो ज्ञात हो, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा!

जीव का स्वभाव ज्ञाता है इसलिए... देखो अब। भगवान आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक है, ज्ञाता है। जीव का स्वभाव स्वभाववान, परन्तु उसका स्वभाव ज्ञाता है न? प्रभु का स्वभाव तो जानना-देखना है न? केवल ज्ञाता है न? वह होने से **ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ।** वह ज्ञान की पर्यायरूप उपजता है, ज्ञान की पर्याय को बदलता है और ज्ञान जो हुआ है ध्रुव, उसे ग्रहण करता है। आहाहा! **जीव का स्वभाव ज्ञाता है इसलिए ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ स्वयं पुद्‌गलकर्म को जानता है।** आहाहा! यह व्यवहार से कहा है।

भगवान आत्मा ज्ञाता चैतन्यस्वभाव उस राग के काल में, राग हुआ उसके जानने की पर्याय के काल में जानने की पर्याय हुई, राग के कारण नहीं। उस काल में जानने की प्राप्य जो होने की है, वह हुई। आहाहा! **पुद्‌गलकर्म को जानता है। इसलिए पुद्‌गलकर्म को जाननेवाले ऐसे जीव का पर के साथ कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है?** क्या कहा? यह राग है, उसे जाननेवाला है भगवान, स्वयं अपने को जाने और पर को जाने, ऐसा तो स्वतः स्वरूप है। ऐसा जो जाननेवाला **ऐसे जीव को पर के साथ...** अर्थात् दया, दान, विकार के साथ **कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है? नहीं ही हो सकता।** आहाहा!

बहुत कठिन काम बापू! समझ में आया? एक भाई का कल रात्रि में प्रश्न था, वे भाई अभी नहीं हैं, कल रात्रि में एक भाई थे। कुछ पूछना होगा। परन्तु कहा अभी अवधि हो गयी, समय पूरा हुआ, फिर चर्चा पूरी हो गयी। ऐसे तो बहुत प्रश्न उठें ऐसा है। जगत को तो। आहाहा!

अब पूछते हैं, यह तो ७६ गाथा का स्पष्ट किया। पण्डित जयचन्दजी... ।

गाथा–७७

स्वपरिणामं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्–

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सग–परिणामं अणेय–विहं।।७७।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधम् ।।७७।।

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणमात्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयमन्तर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यान्तेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य स्वपरिणामं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्म–भावः ।।७७।।

अब प्रश्न करता है कि अपने परिणाम को जाननेवाले ऐसे जीव को पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं :–

बहुभाँति निज परिणाम सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे,
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे।।७७।।

गाथार्थ : [ज्ञानी] ज्ञानी [अनेकविधम्] अनेक प्रकार के [स्वकपरिणामम्] अपने परिणाम को [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] निश्चय से [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्य की पर्याय में [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

टीका : प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला आत्मा के परिणामस्वरूप जो कर्म (कर्ता का कार्य), उसमें आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर,

आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ, उस आत्मपरिणाम को करता है; इस प्रकार आत्मा के द्वारा किये जानेवाले आत्मपरिणाम को ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसी प्रकार, ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; इसलिए यद्यपि ज्ञानी अपने परिणाम को जानता है तथापि, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ज्ञानी को पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थ : जैसा ७६ वीं गाथा में कहा है, तदनुसार यहाँ भी जान लेना। वहाँ 'पुद्गलकर्म को जानता हुआ ज्ञानी' ऐसा कहा था, उसके स्थान पर यहाँ 'अपने परिणाम को जानता हुआ ज्ञानी' ऐसा कहा है-इतना अन्तर है।।७७।।

गाथा - ७७ पर प्रवचन

अब प्रश्न करता है कि अपने परिणाम को जाननेवाले ऐसे जीव का... परिणाम को जानता है, इतना तो कार्य करता है या नहीं ? कहते हैं। प्रश्न है कि अपने परिणाम को जाननेवाले ऐसे, जानने का कार्य तो करता है या नहीं ? आहाहा ! **ऐसे जीव का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है या नहीं ?** क्योंकि जानने का कर्ता और जानने का परिणाम कार्य, कर्ताकर्म तो है, तो ऐसे कर्ताकर्म के जीव को, राग के साथ कर्ताकर्मपना है या नहीं ? आहाहा ! समझ में आया ?

प्रश्न ही अमृतचन्द्राचार्य ने स्वयं रचा है। पूछते हैं कि अपने परिणाम को अर्थात् कि ज्ञान के परिणाम को, समकित के परिणाम को, आनन्द के परिणाम को, आत्मा जानता है अर्थात् कार्य करता है और वह प्राप्य है, उसे ग्रहण करता है, ऐसा तो कर्ताकर्मपना तो है उसमें, तो फिर कर्ताकर्मपना नहीं ही, ऐसा उसमें तो है ही नहीं, तो जाननेवाले ऐसे जीव को पुद्गल के साथ कर्ताकर्म है या नहीं ? क्या कहा, समझ में आया ?

यह कर्ताकर्मरहित जीव नहीं है, जीव के परिणाम ज्ञाता हो, ध्रुव जो पर्याय होनेवाली है वह हो, उसे ग्रहण करता है, उसे उपजाता है, उसे फेरफार करता है। जाननेवाले ऐसे अर्थात् कर्ताकर्मपना तो है, तो फिर कर्म के राग के साथ कर्ताकर्मपना इकट्ठा हो तो क्या बाधा है ? आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा !

यह तो भगवान के गहरे-गहरे गम्भीर तत्त्व है, भाई ! आहाहा ! जाननेवाले, ऐसा कहा न ? जाननेवाले ऐसा, जानने का कार्य तो करता है। कार्य किये बिना रहता है, यह तो नहीं। कर्ताकर्मपना तो है, जाननेवाले ऐसे जीव को पुद्गल के साथ अर्थात् राग के साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ? **उसका उत्तर कहते हैं।** व्यवहाररत्नत्रय का राग, उसे परद्रव्य पर्याय... आहाहा ! गजब बात है न ? तीनों गाथाओं में यह है न ? ७६ में, ७७ में, ७८ में। आहाहा ! पंच महाव्रत के परिणाम, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का-स्तुति का राग, आहाहा ! उसे जानता है। है न ?

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सग-परिणामं अणेय-विहं ।।७७।।

अपने परिणाम को अनेक प्रकार के को तो जानता है तो फिर उसके साथ जाने या नहीं ? उसका कार्य करे या नहीं, कार्य करे या नहीं ?

बहुभाँति निज परिणाम सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे,
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे।।७७।।

आहाहा ! **प्राप्य...** अर्थात् ? आत्मा में होनेवाले जो ज्ञान के परिणाम राग के काल में राग हुआ और ज्ञान के परिणाम काल में ज्ञान के परिणाम हुए। प्राप्य लिया न पहला ? प्राप्य जो आत्मा का कार्य। आहाहा ! उस ज्ञान के परिणाम को, श्रद्धा के परिणाम को, आनन्द के परिणाम को प्राप्य, वह प्राप्य है, उसे ग्रहण करता हुआ, **विकार्य...** पूर्व की पर्याय को बदलता हुआ, **और निर्वृत्य...** वर्तमान उपजता हुआ। यह टीकाकार तो प्राप्य से ही लेते हैं। **ऐसा व्याप्य लक्षणवाला आत्मा का परिणामस्वरूप जो कर्म (कर्ता का कार्य)।** आहाहा !

क्या कहा यह ? भगवान चैतन्य ज्ञायकस्वभाव, उसे जो वर्तमान परिणाम ध्रुव

अर्थात् होनेवाले हैं, वे बराबर हुए। राग को जानने के और स्व को जानने के वे परिणाम स्वतः स्वयं ध्रुव-प्राप्य हुए। आहाहा! है न? ऐसा ध्रुव। विकार्य और निर्वृत्य, ऐसा व्याप्यलक्षणवाला आत्मा के परिणामस्वरूप कर्म। वह आत्मा के ज्ञान परिणामस्वरूप कार्य, **उसमें आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर...** क्या कहते हैं? ज्ञायकभाव तो ध्रुव है, परन्तु उसके परिणाम का काल है, वह ध्रुव, उस राग को जानना और अपने को जानना, ऐसा ही उस पर्याय का उत्पत्ति का काल है, उसे यहाँ प्राप्य कहा जाता है। उसे आत्मा ग्रहण करता है। है? उसमें आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर। उस ज्ञान के परिणाम में आत्मा व्यापक होकर, पसरकर, कर्ता होकर **आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर....** आहाहा! जो राग हुआ, उसका ज्ञान हुआ, वह तो स्वयं से हुआ है। उस ज्ञान के परिणाम की आदि में भी आत्मा, आहाहा! वह राग है, इसलिए यहाँ ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं। ज्ञान के परिणाम में आदि में आत्मा, मध्य में आत्मा, अन्त में आत्मा, वह तो परिणाम में आदि-मध्य-अन्त में स्वयं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञायक को राग को जानने की क्या आवश्यकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : जानने की नहीं। यह कहते हैं, जानने के परिणाम हुए, तथापि वे जानने के परिणाम राग के कारण हुए हैं, ऐसा नहीं है। अपने परिणाम उस काल में उस ध्रुवरूप होनेवाले थे, वे हुए, उन्हें आत्मा ग्रहण करता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

एक न्याय जरा बदले तो सब बदल जाये ऐसा है, विवाद। उसमें आत्मा अर्थात् ध्रुव ज्ञान परिणाम जो है, सम्यग्दर्शन के परिणाम हुए, वे उस काल में वे ध्रुव होनेवाले ही थे, यह आया न, भाई! निजक्षण, जन्मक्षण। सम्यग्ज्ञान की पर्याय, सम्यग्दर्शन की पर्याय की उत्पत्ति का जन्मक्षण है, उस काल में वह हुआ है, उसे प्राप्य कहा जाता है, उसे आत्मा ग्रहण करता है, उसमें अन्तर्व्यापक होकर, आहाहा! यह तो बहुत सूक्ष्म बात, बापू! ओहोहो!

अरे! भाग्य बिना मिले ऐसा नहीं, बापू! ऐसी बातें। लोग तो भाग्यशाली... भाग्यशाली कहते हैं न पैसेवाले को-धूलवाले को। यह वे बारोट आते हैं न, लेकर आते हैं कि यह भाग्यशाली आये हैं। मैंने कहा, भाई! यह तो भाग्यशाली नहीं, परन्तु यह अच्छी तत्त्व की बात सुननेवाले हों, वे भाग्यशाली। आहाहा! जँचे तो अलग बात है, अन्दर की बात। आहाहा!

उसमें अर्थात् किसमें ? यह राग का ज्ञान कहना, वह तो अपेक्षित, कहा न ? और अपना ज्ञान ऐसी स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय उस काल में ध्रुव अर्थात् प्राप्यरूप से होती है। उस काल में उस-उस ही क्षण में वही पर्याय वह होनेवाली है, उसे यहाँ प्राप्य कहा, और वह पूर्व की पलटकर हुई, इसलिए उसे विकार्य कहा और उपजना दूसरा, उसे निर्वृत्य कहा। यह उसमें आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में अर्थात् वह राग था, इसलिए ज्ञान की पर्याय हुई, उस राग में, ऐसा भी नहीं है, वह राग की पर्याय के ज्ञान की आदि में आत्मा है, आदि में राग नहीं। ऐई ! आहाहा ! सन्तोषकुमार ! है या नहीं ? समझ में आया यह ? यह सूक्ष्म बात है। आहा !

क्या कहा ? कि प्राप्य लक्षणवाला आत्मा का परिणामस्वरूप कर्म, परिणामस्वरूप कार्य। यहाँ परिणाम लेना है न ? जानने के, देखने के, श्रद्धा के, शान्ति के, आनन्द के ऐसे जो परिणाम हैं, वे आत्मा के परिणाम हैं और उन आत्मा के परिणाम में आदि में आत्मा है, उन परिणाम की शुरुआत वहाँ हुई; इसलिए वहाँ कोई दूसरा कारण निमित्त था, इसलिए हुआ; राग वहाँ निमित्त है, इसलिए उसकी आदि में ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। उन ज्ञान के परिणाम की आदि में भी प्रभु है, स्वयं ज्ञायक चैतन्य; मध्य में भी वह और अन्त में व्याप्त होकर अन्तर्व्यापक होकर व्याप्त होकर। आहाहा ! यह प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान के परिणाम, मोक्षमार्ग के जो परिणाम, आहाहा ! उन परिणाम का प्राप्य उस काल में होने का, वह पूर्व का हुआ बदलकर विकार का व्यय होकर उपजना, उन परिणाम की आदि में अन्तर्व्यापक भगवान होकर-आत्मा होकर, आदि में भी वह आत्मा है, मध्य में भी वह आत्मा है, अन्त में भी वह आत्मा है। आहाहा !

राग की शुरुआत हुई है, इसलिए ज्ञान हुआ, अन्त में छोर में आत्मा था, इसलिए उसका ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा ! वे सम्यग्दर्शन के परिणाम हुए, वस्तु जो भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप, उसका ज्ञान होकर, पर्याय में ज्ञान की पर्याय में ज्ञान होकर, ज्ञानपर्याय ने उसे जाना और जानकर उसमें प्रतीति हुई, वह सम्यग्दर्शन की और ज्ञान की पर्याय, उस काल में प्राप्य है, उस काल में वह होनेवाली थी, हुई है, वह है। उसे आत्मा आदि में उसे ग्रहण करता है। शुरुआत में भी वह, मध्य में भी वह, और अन्त में भी वह, उसे किसी भी पर की अपेक्षा नहीं है। आहाहा !

मुमुक्षु : एक समय की पर्याय को ?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक समय की पर्याय के आदि-मध्य में-अन्त में वह तो आत्मा कहना है, पर नहीं है, ऐसा बतलाना है। वरना तो वह पर्याय स्वयं स्वतन्त्र है। षट्कारकरूप से परिणमती वह ज्ञान की और समकित की पर्याय, आहाहा! यहाँ तो मात्र पर से भिन्न पाड़कर बतलाना है, इसलिए वह आत्मा उसमें अन्तर्व्यापक होता है।

मुमुक्षु : राग से भिन्न किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग से भिन्न किया है। अर्थात् ज्ञान के परिणाम में वह अन्तर्व्यापक है, ऐसा। वह राग था, इसलिए यहाँ ज्ञान के परिणाम हुए, ऐसा नहीं है, यह बतलाने के लिये अन्तर्व्यापक आत्मा है, ऐसा बतलाया है। आहाहा! समझ में आया ?

मुमुक्षु : एक पर्याय के तीन टुकड़े कैसे किये आदि-मध्य-अन्त ?

पूज्य गुरुदेवश्री : टुकड़े नहीं, वह प्राप्य है, उस-उस समय में और पूर्व का बदला वह विकार्य परन्तु उस समय और उपजा परन्तु उस समय। एक ही समय में आदि-मध्य-अन्त में वह स्वयं का स्वयं ही है। बदलने में भी वह, उपजने में भी वह और प्राप्य में भी वह, सब एक समय में, तीन अपेक्षा है। आहाहा!

एक ही समय के परिणाम जो हैं, ज्ञाता के परिणाम ज्ञान, ज्ञाता के परिणाम समकित, ज्ञाता के परिणाम शान्ति-चारित्र, उन परिणाम में कोई राग की आदि है—शुरुआत—इसलिए राग है, इसलिए ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं। उन ज्ञान के परिणाम का, समकित के परिणाम में आदि में आत्मा... यहाँ पर से भिन्न बतलाना है न ? उसके मध्य में आत्मा और अन्त में आत्मा, निश्चय से लें तो वे समकित के और ज्ञान के परिणाम जो उसे जानता है, वे परिणाम, परिणाम का कर्ता; परिणाम, परिणाम का कार्य; परिणाम, परिणाम का साधन, वे परिणाम षट्कारक से स्वयं से उत्पन्न हुए हैं। आहाहा! समझ में आया ?

समझ में आये उतना समझना बापू! यह तो भगवान का अनन्त-अनन्त सागर भगवान उसका, आहाहा! यह तो उसका उल्लेख है। आहाहा! पानी में से जैसे पानी उलेचते हैं न ? निकालते हैं न ? वैसे यहाँ तो आनन्द में से आनन्द की पर्याय निकले, ऐसा है। आहाहा! आहाहा!

भगवान ज्ञायक होकर, ऐसा कहा। वे जानने के परिणाम हुए, उनकी आदि में ज्ञायक है; उनकी आदि में पर नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। जो है, वह वही है, उसका वही है। आदि में, मध्य में और अन्त में भगवान है। आहाहा! अधिगमज सम्यक्त्व कहते हैं न? उस अधिगमज समकित की आदि में भी स्वयं आत्मा है, मध्य में भी आत्मा और अधिगमज समकित जो है, वह तो उस काल में ध्रुवरूप से प्राप्य है, उसे आत्मा ग्रहण करता है, इसलिए वह अन्तर्व्यापक होकर, इसलिए वह समकित की अधिगमज समकित पर्याय, उसकी आदि-मध्य में आत्मा है। गुरु निमित्त है, इसलिए उसकी आदि-मध्य में है?

मुमुक्षु : काललब्धि तो कहलाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : काललब्धि भी कुछ है नहीं, सब उसमें आ गयी। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

यह **उसमें आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ...** अपने शुद्धपरिणाम जो पवित्र हैं, उसे ग्रहण करता हुआ अर्थात् प्राप्य, **उस रूप परिणमन करता हुआ...** अर्थात् विकार्य, **और उसरूप उत्पन्न होता हुआ...** अर्थात् निर्वृत्य। **उस आत्मपरिणाम को करता है,...** वह आत्मा अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य में होकर आत्मपरिणाम को आत्मा करता है। आहाहा!

यह गाथायें ऐसी सूक्ष्म हैं, ऐसा सूक्ष्म तत्त्व। **इस प्रकार आत्मा के द्वारा किये जानेवाले आत्मपरिणाम...** आत्मा द्वारा होते ज्ञान के परिणाम, आत्मा द्वारा होते समकित के परिणाम, वे आत्मा द्वारा किये जानेवाले आत्म-परिणाम अर्थात् पर्याय, **को ज्ञानी जानता हुआ भी...** उसे ज्ञानी जानता हुआ अर्थात् ज्ञानी जानने का कार्य करता है, उसकी पर्याय हुई उसे, **ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर,...** आहाहा! **मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है।** आहाहा!

घड़े की आदि में भी मिट्टी, आदि में कुम्हार आया निमित्त, इसलिए उसकी यह घड़े की पर्याय की शुरुआत हुई—ऐसा नहीं है। आहाहा! **मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक**

होकर,... आदि में-घड़े की आदि में मिट्टी, मध्य में मिट्टी और अन्त में व्यापकर घड़े को ग्रहण करती है। मिट्टी घड़े को ग्रहण करती है ध्रुव को, अर्थात्? घड़े की पर्याय वह ध्रुवपर्यायरूप से वह निश्चयरूप से, उस समय की होनेवाली ही है, निजक्षण है। आहाहा! ऐई! ऐसे घड़े को वह मिट्टी ग्रहण करती है, घड़ेरूप में मिट्टी परिणमती है, और घड़े के रूप में उपजती है। आहाहा! **उसी प्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर,...** आहाहा! जैसे वह मिट्टी अन्दर को ग्रहण कर घड़े की आदि-मध्य में है, वैसे ज्ञानी बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में—राग में, **अन्तर्व्यापक होकर,...** आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर इसे ग्रहण नहीं करता। विशेष आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १६६, गाथा-७७-७८, दिनांक ११-०१-१९७९, गुरुवार, पौष शुक्ल १४

७७ गाथा। यहाँ आया है, ज्ञानी स्वयं, नहीं ? ज्ञानी उसे कहते हैं, धर्मी उसे कहते हैं कि जो परपदार्थ का कर्ता तो नहीं होता, परन्तु अन्दर में दया, दान, व्रत के परिणाम आवे उसका वह कर्ता नहीं होता। क्योंकि आत्मा ज्ञायक चैतन्य शुद्ध स्वभाव है, उसकी दृष्टि हुई और अनुभव हुआ, वह विकार के परिणाम का कर्ता नहीं होता, चाहे तो वह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव हो शुभ, उन्हें भी वह नहीं करता। क्योंकि वस्तुस्वभाव जो आत्मा ज्ञायक त्रिकाल जो शुद्ध चैतन्यघन, ऐसी जिसे अन्तर में दृष्टि हुई है और उसका ज्ञान वर्तमान पर्याय में उसे पूर्ण वस्तु का ज्ञान हुआ है, इसलिए वह ज्ञानी, यह ज्ञानी शब्द की व्याख्या की है। आहाहा!

ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में... अर्थात् क्या कहा ? जो कुछ शुभ-अशुभभाव हों, वह सब बाह्यस्थित है; अन्तर की चीज़ नहीं। आहाहा! ऐसी बात कठोर पड़े, परन्तु क्या हो ? धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जो स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम—चाहे तो वह विकल्प दया, दान का हो, भक्ति का, पूजा का, व्रत का, भगवान के वन्दन का, स्तुति का, वह भाव राग है, वह बाह्यस्थित है; वह स्वरूप के द्रव्य-गुण-पर्याय में नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, बापू!

बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम, यह पुण्य के परिणाम भी परद्रव्य के परिणाम, पाठ है न ? 'परद्रव्य पर्यायों न' आहाहा! **उन परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर...** ज्ञायकस्वरूप स्वयं अन्तर में प्रवेश कर, पसरकर **आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर...** यह शुभभाव है, उन्हें भी आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, ज्ञानी **ग्रहण नहीं करता।** आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात भगवान! बाह्य की शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, वह तो कहीं बाहर रह गये, वे तो बाह्यस्थित तो इसके (आत्मा के) द्रव्य-गुण-पर्याय में (भी नहीं है), उन्हें तो धर्मी छूता भी नहीं, करता भी नहीं। आहाहा!

धर्मी उसे कहते हैं, जिसे जन्म-मरण का अन्त आया है। जिसने भगवान आत्मा के पूर्णानन्द स्वरूप को वर्तमान ज्ञान की पर्याय द्वारा जान लिया है। आहाहा! जिसने वर्तमान ज्ञान की दशा को त्रिकाली की ओर झुकाकर जिसने उसका ज्ञान किया है, ऐसा ज्ञानी, आहाहा! ऐसा जो धर्मी,... कोई कहता है कि ज्ञानी और धर्मी अलग चीज़ है, (तो)

ऐसा नहीं है। यह धर्मी जीव स्वयं बाह्यस्थिति ऐसे परद्रव्य के परिणाम में, आहाहा!

मुमुक्षु : विकार को परद्रव्य का परिणाम कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विकार परद्रव्य के परिणाम।

यहाँ दृष्टि का विषय यह है और ज्ञान हुआ है और उसकी अभी बात है न। उस ज्ञान से है बात, परन्तु वह दृष्टि की प्रधानता से बात है। ज्ञान की पर्याय से वर्णन में आवे, तब ऐसा कहा जाता है कि राग जो हुआ है, वह उसकी पर्याय में परिणमा है, हुआ है। यह ज्ञान का विषय जब सम्यग्ज्ञान का, दृष्टि के विषय के साथ हुआ ज्ञान, उस ज्ञान से जानने में आवे तब ऐसा कहलाये, कि जो कुछ दया-दान के परिणाम हुए। व्रत, भक्ति वे पर्याय में हुए; इसलिए वह परिणमन इसका है। उसका कर्ता है, ऐसा ज्ञान कराया। परन्तु यहाँ तो दृष्टिप्रधान के अधिकार में द्रव्यस्वभाव जिसकी दृष्टि में है, आहाहा! अरे! बात बहुत कठिन, बापू! यह द्रव्यस्वभाव जो ज्ञायक परमानन्द प्रभु, उसका जिसे अन्तर में ज्ञान स्वसन्मुख होकर हुआ है, उसे सब ओर से विमुखता, पर से विमुखता है। शरीर, वाणी, मन से, क्रिया से तो विमुख है, परन्तु अन्दर में पाप के और पुण्य के परिणाम हों, उससे भी वह विमुख है। ऐसी बात है, प्रभु! कठिन लगे ऐसी है, बापू! क्या हो?

अरे! इसने अनन्त-अनन्त काल में चौरासी के अवतार किये। अनन्त इसने स्वर्ग के, नरक के, तिर्यंच के, अनन्त-अनन्त भव में यह दुःखी होकर भटकता है, वह भले सेठिया अरबोंपति हो और बड़ा राजा हो या देव हो परन्तु वे सब दुःखी हैं, क्योंकि उन्हें राग की एकता के मिथ्यात्वभाव में उसे मिथ्यात्व का दुःख है। आहाहा!

मुमुक्षु : लौकिक में तो पैसा मिले, उसे सुख कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ पैसे में हो तो भी पैसे में (नहीं) और न हो तो भी पैसे में नहीं, उसे कहाँ पैसे थे आत्मा में? प्रेमचन्दभाई! आहाहा!

भगवान! बातें बापू! तीन लोक का नाथ जिनेश्वरदेव भगवान ऐसा फरमाते हैं कि पैसे को लाना, रखना और प्रयोग करना, वह तो आत्मा में है ही नहीं।

मुमुक्षु : किसी अपेक्षा से नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी अपेक्षा से नहीं।

मुमुक्षु : व्यवहार से तो कहलाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार बोलता है, वह तो कथनमात्र है। वह बोले, इसलिए क्या? गाँव मेरा, ऐसा हो गया? राजकोट किसका गाँव? कि मेरा। तो हो गया इसका? यह तो कथनमात्र है। ऐसा कहने में आवे कि इसके पैसे और इसने पैसे खर्च किये, वह तो कथनमात्र है। कुछ इसके हैं नहीं। आहाहा! उसकी बात तो यहाँ है ही नहीं। क्योंकि वह तो भिन्न चीज़, भिन्न चीज़ है। यह उसका टिकना और बदलना तो उसमें उसके कारण से है।

अब आत्मा में भी जो रागादि हों, उन्हें भी द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से, जो स्वभाव का ज्ञान हुआ, इससे स्वभाव की दृष्टि की प्रधानता से यह कथन है। उसे यह रागादि हों, वे बाह्यस्थित हैं। ज्ञान की दृष्टि से देखे तो उसकी पर्याय में है, ऐसा ज्ञान जानता है परन्तु सम्यग्दर्शन है, वह निर्विकल्प है। और इसलिए उसका विषय निर्विकल्प वस्तु है, उसमें भेद का विषय उसमें नहीं आता, पर्याय का भेद का विषय नहीं आता तो राग तो उसमें आवे कहाँ से? ऐसा है। अरे! क्या हो? अनन्त काल से भटकता है, 'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान, सेये नहीं गुरु सन्त को, छोड़ा नहीं अभिमान।' आहाहा! क्या सन्त कहते हैं, परमात्मा की वाणी में, इसने सुना नहीं, जँचा नहीं, रुचा नहीं, सुहाया नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अज्ञानी राग होता है, उसका कर्ता होता है, क्योंकि उसे स्वभाव की दृष्टि का स्वामीपना नहीं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि, उसे स्वभाव जो अखण्ड आनन्द प्रभु, उसका उसे स्वामीपना नहीं, धनीपना नहीं उसे (उसरूप) जाना नहीं, इसलिए वह अज्ञानी तो राग, दया, दान आदि के राग का कर्ता होकर मैं करता हूँ, ऐसे मिथ्यात्व को सेवन करता है। आहाहा!

यहाँ धर्मी जीव, **स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर...** यह परद्रव्य के परिणाम कहा। आहाहा! भगवान आत्मा के परिणाम तो जानना, देखना, आनन्द वह उसके परिणाम। रागादि परिणाम है, वे परद्रव्य के। यहाँ दृष्टि के ध्येय की निर्विकल्प दृष्टि का विषय निर्विकल्प है, उसकी अपेक्षा से कथन है। समझ में आया? आहाहा! सूक्ष्म पड़े, भाई! यह तो शान्ति से समझनेयोग्य है, भाई! इसने अनन्त काल बिताया भटकने में, शास्त्र का जानपना भी अनन्त बार किया है। आहाहा! वह कोई जानपना, वह आत्मा का ज्ञान नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो आत्मा, प्रभु पूर्णानन्द का नाथ भगवान, उसे जिसने ज्ञान में ग्रहण किया है,

पकड़ा है, ऐसा जो धर्मी जीव, उसे बाह्य रागादि के परिणाम भगवान के विनय के, पंच परमेष्ठी के स्मरण के, उनकी भक्ति के भाव आवे, वे बाह्यस्थित हैं। अन्दर वस्तु जो भगवान अन्तर आत्मा में वे नहीं हैं। **ऐसे अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर...** इस राग की शुरुआत में राग हुआ, उसमें आदि में तो आत्मा था—ऐसा नहीं। आहाहा! कठिन काम, भाई! धर्म कोई अलौकिक चीज़ है। अरे! अभी तो सब गड़बड़ ऐसी हो गयी है कि चोर कोतवाल को दण्डे, ऐसा है। आहाहा! ऐसा हो, क्या हो। बापू!

भगवान तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की यह वाणी है, उसे सन्त आड़तिया होकर जगत को फरमाते हैं। आहाहा! दिगम्बर सन्त हैं। कहते हैं कि पुण्य परिणाम जो हो—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के, और अशुभ, उसकी आदि-मध्य-अन्त में व्यापकर आत्मा **उसे ग्रहण नहीं करता....** प्राप्य। राग के भाव को धर्मी ग्रहण नहीं करता। शुरुआत में-आदि में यह राग मेरा है, ऐसा नहीं। मध्य में राग मेरा है, ऐसा नहीं और अन्त में राग मेरा है, उसमें ऐसा भी नहीं, आहाहा! ऐसी बातें! अब जँचना कठिन पड़े, भाई! क्या हो? दुनिया को तो जानते हैं न? दुनिया नहीं जानते? आहाहा! उसे ग्रहण नहीं करता, यह प्राप्य। यह राग हो-विकल्प उठे, उसे ज्ञानी ग्रहण नहीं करता अर्थात् प्राप्य, उस समय वे परिणाम निश्चय से पुद्गल के परिणाम हैं, ऐसा निश्चय से वह है। वे मेरे परिणाम नहीं। उसे वह ज्ञानी ग्रहण नहीं करता। आहाहा! ऐसा कठिन पड़े, भाई! क्या हो?

उसरूप परिणमित नहीं होता। विकार्य। रागरूप—व्यवहाररत्नत्रय के रागरूप भी ज्ञानी परिणमित नहीं होता। विकार्य अर्थात् फेरफार करके होना, परिणमित नहीं होता। **और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।** आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का जो शुभराग देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम और शास्त्र का भी विकल्पात्मक ज्ञान, आहाहा! उसे वह ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता, उसरूप उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! सूक्ष्म है, प्रभु! पूरी दुनिया की तो खबर है न। आहाहा! आहाहा!

यद्यपि ज्ञानी अपने परिणाम को जानता है। देखा! अर्थात् कि उन्हें करता नहीं, वहाँ यह जानने का काम तो करता है। अपने ज्ञान परिणाम को जानने का तो करता है, तो साथ में राग को करे इसमें क्या बाधा? नहीं, नहीं। वह राग को नहीं करता। राग का यहाँ ज्ञान हो, वह अपना ज्ञान है, उसे जानता है। वह जानने का कार्य इसका है। आहाहा! ऐसा उपदेश किस प्रकार का है! कोई अता-पता हाथ आता नहीं। ऐसी बात है, भाई! परम धर्म

सत्य की चीज़ कोई अलौकिक है। पहले इसे सुनना मिलना मुश्किल है, सुनने को मिले तो भी अन्दर वापस विचार में यह बात बैठनी भी कठिन है। विचार में बैठने के बाद इसकी दृष्टि होना और परिणमन होना, वह तो महाकठिन। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! क्या कहें?

यद्यपि ज्ञानी अपने परिणाम को जानता है। देखा? अपने परिणाम को जानता है। राग जो हुआ, उसका यहाँ ज्ञान हुआ, वे ज्ञान के परिणाम अपने हैं। उन ज्ञान के परिणाम को ज्ञानी परिणाम को जानता है। ज्ञानी ज्ञानस्वरूप को-त्रिकाली को तो जानता है, परन्तु उसके परिणाम को भी वह जानता है, जानने-देखने के जो परिणाम शुद्ध हैं, उन्हें वह जानता है। वह जानता है, वैसा कर्ताकर्मपना है। जानता है, वह कार्य है और कर्ता स्वयं आत्मा, ऐसा कर्ताकर्मपना है। तथापि वह इस कर्ताकर्मपने के साथ राग का भी कर्ता और कार्य है, यह आत्मा में नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : कठिन तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन है, भाई! खबर है न, बापू! ८९ वर्ष तो देह को हुए, जड़ को। ७० वर्ष से तो इस जगत को जानते हैं। जगत की कितनी लीला और कितनी विचित्रता और विविधता और विपरीतता। बहुत कठिन काम, बापू!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! जो कुछ अपने परिणाम को जाने, तो भी ऐसा कार्य होने पर भी, कर्ता-कार्यपना है, ऐसा कहते हैं, **तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला परद्रव्य परिणाम...** आहाहा! यह राग का भाव, वह परद्रव्य परिणाम है। **उसे नहीं करते हुए ऐसे उस ज्ञानी को पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।** समझ में आया? आहाहा!

भावार्थ :- जैसा ७६वीं गाथा में कहा था, तद्नुसार यहाँ भी जान लेना। वहाँ 'पुद्गल कर्म को जानता हुआ ज्ञानी', ऐसा कहा था,... पुद्गलकर्म को जानता हुआ, उसके कर्ता का कर्म नहीं है। 'यहाँ अपने परिणाम को जानता हुआ ज्ञानी' (ऐसा कहा है) इतना अन्तर है। आहाहा!

वहाँ राग को जानता ज्ञानी राग का कार्य नहीं, वैसे यहाँ अपने परिणाम को जानता हुआ, राग का कार्य उसका नहीं। समझ में आया? भाई! एक-एक शब्द में एक-एक भाव में बड़ा अन्तर है, बापू। आहाहा!

गाथा–७८

पुद्‌गलकर्मफलं जानतो जीवस्य सह पुद्‌गलेन कर्तृकर्मभाव: किं भवति किं न भवतीति चेत्–

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गल–कम्मप्फल–मणंतं।।७८।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्‌गल–कर्म–फल–मनन्तम्।।७८।।

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदु:खादिरूपं पुद्‌गलकर्मफलं कर्म पुद्‌गलद्रव्येण स्वयमन्तर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यान्तेषु व्याप्य तद् गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वा बहि:स्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च।

तत: प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदु:खादिरूपं पुद्‌गलकर्मफलं जानतोऽपि ज्ञानिन: पुद्‌गलेन सह न कर्तृकर्म–भाव:।।७८।।

अब प्रश्न करता है कि पुद्‌गलकर्म के फल को जाननेवाले ऐसे जीव को पुद्‌गल के साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं:–

पुद्‌गलकरम का फल अनन्ता, ज्ञानि जन जाना करे,
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे।।७८।।

गाथार्थ : [ज्ञानी] ज्ञानी [पुद्‌गलकर्मफलम्] पुद्‌गलकर्म का फल [अनन्तम्] जो कि अनन्त है, उसे [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] परमार्थ से [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्य की पर्यायरूप [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

टीका : प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला सुखदु:खादिरूप पुद्गलकर्मफलस्वरूप जो कर्म (कर्ता का कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ, उस सुखदु:खादिरूप पुद्गलकर्मफल को करता है; इस प्रकार पुद्गलद्रव्य के द्वारा किये जानेवाले सुखदु:खादिरूप पुद्गलकर्मफल को ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसी प्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; इसलिए, यद्यपि ज्ञानी सुखदु:खादिरूप पुद्गलकर्म के फल को जानता है, तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानी को पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थ : जैसा कि ७६ वीं गाथा में कहा गया था, तदनुसार यहाँ भी जान लेना। वहाँ 'पुद्गलकर्म को जाननेवाला ज्ञानी' कहा था और यहाँ उसके बदले में 'पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाला ज्ञानी' ऐसा कहा है-इतना विशेष है।।७८।।

गाथा - ७८ पर प्रवचन

अब ७८, ७७ हुई। **अब प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाले...** क्या कहा, यह कहते हैं कि आत्मा में जो कुछ हर्ष और शोक, सुख और दु:ख की कल्पना होती है, ऐसा जो पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाला, उस सुख-दु:ख की कल्पना को ज्ञानी जानता है। सुख-दु:ख की कल्पना, वह निश्चय से पुद्गल का फल और पुद्गल का कार्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसी छनावट तो आप करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ऐसी है, भाई! दुनिया तो, दुनिया को जानते नहीं? दुकान

का धन्धा था, तब भी दुनिया को बहुत जानता था। मैं तो तब निवृत्ति से पढ़ता था। दुकान पर भी यह शास्त्र तब पढ़ता था। १७-१८ वर्ष की उम्र, ७० वर्ष पहले। यहाँ तो घर की-पिताजी की दुकान थी। वह पाँच वर्ष चलायी थी तो भी मैं तो अन्दर शास्त्र पढ़ता न, ओहो! अरे! मार्ग कोई अलग है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, पुद्‌गलकर्म के फल को, अर्थात् कि जो कल्पना हो कि इस पैसे में सुख है, स्त्री में सुख है, खाने-पीने में, मैसूर खाने में सुख है, ऐसी कल्पना होती है, वह पुद्‌गलकर्म का फल है, वह आत्मा का फल नहीं। आहाहा! और इसे बुखार आने पर, निर्धनता होने पर, जो द्वेष के परिणाम होते हैं, वे भी द्वेष के परिणाम वह पुद्‌गल के कर्म का फल है, वह आत्मा का फल नहीं है। आहाहा!

पुद्‌गलकर्म के फल को जाननेवाले... यह सुख **ऐसे जीव को पुद्‌गल के साथ कर्ता-कर्मभाव... है या नहीं ?** क्यों यह प्रश्न उठा ? कि यह पुद्‌गलकर्म का फल जो सुख-दुःख की कल्पना, उसे जानता तो है, इतना जानना तो होता है या नहीं ? तो जानने का कार्य तो स्वयं करता है, यह हर्ष-शोक के परिणाम को जाने, वह जानने का कार्य तो करता है, तो फिर कर्मफल है, वह उसका कार्य है या नहीं ? आहाहा! समझ में आया ?

भाई! बापू!! मार्ग अलग, भाई! अरे रे! इसे मिले नहीं और जिन्दगी हैरान होकर चला जाये, पशु में अवतरित हो, बहुत से तो पशु में... आहाहा! कल देखो न, कुछ बात हुई न यहाँ, दो मर गये। यहाँ एक किसान के दो भाई। क्या कहलाता है वह तुम्हारा।

मुमुक्षु : मोटर साइकिल।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोटर साइकिल। जोर में आते थे, वहाँ ऐसे, वह यहाँ से बस ऐसे निकली, और वे बल में (तेजी से) आये, गुजर गये। एक तो तुरन्त वहाँ मर गया। कल सवेरे या शाम को कब, खबर नहीं, दूसरा मरने की तैयारी है। वह पर्याय उस काल में उस प्रकार से होनेवाली है, उसमें फेरफार करने में कोई समर्थ नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ध्यान रखे तो न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्यान रखे, किस प्रकार ध्यान ? पर की क्रिया जो होनेवाली है, उसमें ध्यान रखे तो हो और न हो, ऐसा है ही नहीं। ऐसी बातें हैं। आहा! जिस समय में

जो शरीर की पर्याय जिस प्रकार से होनेवाली है, वह उसका समय निजक्षण है, उसे कोई दूसरा बदला सके, (ऐसा) तीन काल में नहीं है।

यहाँ तो यह बात तो कहीं रह गयी, शरीर की अवस्था को मैं रखूँ, यह तो प्रश्न है ही नहीं। यहाँ तो जो कर्म के फलरूप से आत्मा के आनन्द का फल आनेवाले को, वह कर्म के फलरूप से सुख-दुःख और हर्ष-शोक की कल्पना हुई, उस कल्पना को धर्मी जानता है, तब जानने का सम्बन्ध इतना तो कामकाज करता है या नहीं? तो जानने के कार्य में वह हर्ष-शोक का फल है, उसका कार्य है या नहीं? आहाहा! वहाँ पुद्‌गलकर्म को जानता हुआ ज्ञानी, ऐसा यहाँ **जाननेवाले ऐसे जीव को पुद्‌गल के साथ कर्ताकर्मपना है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं।**

जिसे अन्दर से ऐसा प्रश्न उठा है, आहाहा! कि भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूपी के आनन्द के स्वरूप का ज्ञान हुआ, उस क्षण में जो उसे जो कुछ हर्ष-शोक की कल्पना होती है, उसे वह जानता है, क्योंकि जीव का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिए पर को जानता है, तो इतना सम्बन्ध है, तो वह सुख-दुःख की कल्पना का कार्य जीव का है या नहीं? वह जीव उसे भोगता है या नहीं? आहाहा! जीव उस हर्ष-शोक के परिणाम को भोगता है तो फिर (ज्ञानी) हर्ष-शोक के परिणाम को भोगता है या नहीं? ऐसा है, भगवान! क्या करे? आहाहा! यह प्रश्न उत्तर, उत्तर है। ऐसा जो पूछे उसका उत्तर है।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गल-कम्मप्फल-मणंतं।।७८।।

नीचे हरिगीत -

पुद्‌गलकरम का फल अनन्ता, ज्ञानि जन जाना करे,
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे।।७८।।

अनन्त फल लिया। देखो? सुख-दुःख की कल्पना में अनन्त शक्ति है। इसकी टीकाः—**प्राप्य...** अर्थात्? सुख-दुःख की कल्पना के परिणाम तो उस समय में होनेवाले थे, वे हुए, उन्हें पुद्‌गल ने ग्रहण किया, परन्तु आत्मा उन्हें प्राप्त नहीं करता। आहाहा! ऐसी बातें अब इसमें। वे तो बातें दया पालो, व्रत करो, सेवा करो, गौशाला करो, लाख-दो लाख

दो, पाँच लाख, दस-दस लाख गृहस्थ व्यक्ति दे, पचास-पचास लाख दे, उसमें क्या हुआ? उसमें वह धर्म कहाँ था? उसमें राग की मन्दता हो, उसका भी कार्य जीव का नहीं है। धर्मी का वह कार्य नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

प्राप्य... अर्थात् कि जो सुख-दुःख के परिणाम होने का काल है, वह पुद्गल का व्याप्य हुआ है। पुद्गल व्यापक है और सुख-दुःख की कल्पना का व्याप्य प्राप्य, वह उसे पहुँचना पुद्गल, वह प्राप्य। **विकार्य...** वह पुद्गलकर्म ही पूर्व के परिणाम को बदलकर सुख-दुःख के परिणाम हुए, वह पुद्गल का कार्य। **निर्वर्त्य...** उस पुद्गल से सुख-दुःख के परिणाम निपजे हैं, उपजे हैं, आहाहा!

मुमुक्षु : पूरी दुनिया कहती है जीव से होते हैं और आप कहते हो पुद्गल से।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जीव से, पर्याय से देखने पर यहाँ उससे होते हैं, परन्तु यहाँ तो द्रव्यदृष्टि से देखने की बात है न? वह तो आगे कहेंगे। पर्याय से तो इसमें राग है, यह करे और होती है सुख-दुःख की कल्पना। परन्तु यहाँ स्वभाव की दृष्टि, द्रव्यदृष्टि का विषय बतलाना है। तो दृष्टि है, वह निर्विकल्प है, और उसका विषय ध्रुव, वह निर्विकल्प है; इसलिए उसके कार्यरूप से सुख-दुःख की कल्पना उसका कार्य नहीं होता। यह अपेक्षा है, बापू! समझ में आये उतना समझना भाई! यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर तीर्थंकर का यह हुकम है। यह पामर को नहीं जँचता, इससे वस्तु बदल नहीं जायेगी। आहाहा!

कहते हैं कि **प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य।** होता, पलटता और उपजता। संक्षिप्त भाषा की है। प्राप्य अर्थात् होता; विकार्य अर्थात् पलटता और निर्वर्त्य अर्थात् उपजता। ध्रुव, व्यय और उत्पाद, पर्याय का ध्रुव, हों! उस समय का। यह सुख-दुःख की पर्याय उस समय होनेवाली ही थी, वह पुद्गल का व्याप्य है, आत्मा का नहीं। आहाहा!

ऐसा व्याप्य लक्षणवाला सुख-दुःख आदि... दुःख आदि अर्थात् रति हो, अरति हो, शोक हो, होश हो, हर्ष हो। इन **सुख-दुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलस्वरूप...** यह पुद्गल के फल का कार्य स्वरूप पुद्गल का है, यह पुद्गल का फल कार्य है। आहाहा! यह कर्ता का कार्य है, पुद्गल कर्ता का यह कार्य है। **उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर (व्याप्त होता है)।** आहाहा!

भगवान तो आनन्दस्वरूप है और ज्ञानस्वरूप है, ऐसा जहाँ उसे भान हुआ, उसकी बात है। जिसे धर्म की दृष्टि प्रगटी है, धर्म वह आत्मा आनन्दस्वरूप ज्ञानस्वरूप पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसका जिसे ज्ञान और धर्मदशा प्रगटी है, उसे वह सुख-दुःख के परिणाम का प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य वह पुद्‌गल है। उसमें **पुद्‌गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में...** आहाहा! यह सुख-दुःख की कल्पना की आदि में पुद्‌गल है, इस सुख-दुःख की आदि में आत्मा है, ऐसा यहाँ नहीं है। बराबर गाथायें ऐसी आयी हैं न? भाई लन्दन से आये हैं न, वहाँ लन्दन में यहाँ का वाँचन करते हैं। अफ्रीका में भी वाँचन करते हैं। पच्चीस-तीस वर्ष से यहाँ का साहित्य, पाँच हजार वे (प्रवचन रिकॉर्डिंग) वहाँ गयी हैं। क्या कहलाता है वह तुम्हारा? रिकॉर्डिंग। समयसार के पाँच हजार रिकोर्डिंग गये हैं। अफ्रीका-नैरोबी, तीस वर्ष से वहाँ चलता है। आहाहा!

भाई! क्या कहें? इसलिए यह कहते हैं कि दुनिया को ठीक न पड़े, इससे कहने में लज्जा आवे, परन्तु वस्तु तो यह है। जिसे निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है, उसका विषय निर्विकल्प सामान्य स्वरूप है। उसका विषय परिणाम निर्मल भी उसका विषय नहीं, तो राग है, उसे सुख-दुःख की कल्पना है, वह तो उसका विषय है नहीं। परन्तु विषय द्रव्य को स्वभाव में करने से जो परिणाम जानने-देखने के हों, वह उसका विषय नहीं, परन्तु जानने-देखने के परिणाम का कर्ता स्वयं है, और जानने-देखने के परिणाम उसका कार्य है। समझ में आया?

यह जानने-देखने के परिणाम में आत्मा अन्तर्व्यापक होकर, जहाँ व्याप्य प्राप्य अर्थात् उस समय में वह सुख-दुःख की कल्पना थी, उसका उस समय ज्ञान हुआ, वह स्वयं से वह ज्ञान, उसका व्याप्य, उस ज्ञान का कर्ता होकर व्याप्य-कार्य उसका है, जानना। परन्तु उसे सुख-दुःख की कल्पना वह उसका प्राप्य और कार्य है, ऐसा नहीं। आहाहा! अररर! ऐसा मार्ग! नौतमभाई! सुनायी देता है? सुनायी देता है, ऐसा कहा।

मुमुक्षु : समझ में आता है, अभी आप अधिक समझाओ तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : शक्ति प्रमाण तो होता है। भाषा की शक्ति हो तत्प्रमाण होता है, आहाहा! वह आत्मा कहाँ भाषा करता है? आहाहा!

अरे रे! अनन्त काल से भटका प्रभु! तूने तेरी जाति को जाना नहीं और कुजात है उसका कर्ता हुआ, इसलिए भटक मरा है। यह राग और दया, दान, व्रत के परिणाम वे इसकी जाति में नहीं हैं, कुजाति है, बाह्यस्थित है न? आहाहा! उनका कर्ता होकर मिथ्यात्व से अनन्त संसार में भटक मरा, प्रभु! कहाँ नरक और निगोद। प्रभु तो ऐसा कहते हैं, नरक के एक क्षण के दुःख क्या कहूँ? कहते हैं तुझे। ऐसे ३३ सागर, ऐसे अनन्त बार वे भोगे हैं, भाई! काल-अनन्त काल गया, उसमें नरक में गया है, नारकी नीचे है। एक मनुष्य को मारे तो उसे एक बार फाँसी दे कोर्ट में निश्चित (साबित) हो तो। पैसा-बैसा देकर फिर पुण्य हो और छूट जाये, तथापि कुदरत के कानून में नहीं छूटता, परन्तु इस मनुष्य ने लाख मनुष्य हजार को मारा तो, क्या उसका फल है अभी? राजा क्या दे उसे हजार, हजार बार मारे? बापू! वह हजार बार मारनेवाले को हजार के मारनेवाले को जो परिणाम तीव्र हैं, वे महादुःख के कारण हैं और जितना ऐसा दुःख का कारण है, जहाँ इतना दुःख जहाँ है, वहाँ वह उपजता है, उसे नारकी कहा जाता है। आहाहा! यह परमात्मा तो ऐसा कहते हैं कि उस क्षण के दुःख प्रभु! क्या कहें? उस क्षण के नारकी के दुःख तूने भोगे, उन्हें करोड़ भव और करोड़ जीभ से नहीं कहा जाता। बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा! इस मिथ्यात्व के कारण ऐसे दुःख अनन्त बार सहन किये हैं। यह मिथ्यात्व क्या है, इसकी तुझे खबर नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि राग की दया, दान, व्रत, भक्ति-पुण्य का शुभभाव का कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है, मिथ्यात्व है, महा अनन्त संसार उसमें पड़ा है। मिथ्यात्व में अनन्त भव पड़े हैं, उसके गर्भ में। उसे जिसने तोड़कर आत्मज्ञान किया है, आहाहा! उस ज्ञानी को सुख-दुःख के परिणाम में पुद्गल **स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ...** आहाहा! वह तो पुद्गल का जड़ कर्म है। उसमें वह व्यापक होकर पसरकर, उसका व्याप्य अर्थात् कार्य वह सुख-दुःख की कल्पना, वह पुद्गल का कार्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : सुख-दुःख अर्थात् साता-असाता प्रकृति?

पूज्य गुरुदेवश्री : साता-असाता का निमित्त है, परन्तु अन्दर सुख-दुःख की कल्पना हो, उसकी यहाँ बात है। संयोग मिले अनुकूल-प्रतिकूल, वह तो जड़ पर (है) उनकी बात नहीं। उसे जो कल्पना होती है कि यह ठीक है, यह मुझे सुख, पैसे के कारण मैं सुखी हूँ, स्त्री के कारण सुखी हूँ, इज्जत के कारण सुखी हूँ, बड़ा पद मिला पचास हजार महीने का अमलदार हुआ, इसलिए सुखी - ऐसी जो कल्पना सुख की है, उसकी यहाँ बात है। आहाहा!

यह सुख-दुःख का जो फल, उस पुद्गलकर्म के फल को पुद्गल करता है। है? वह सुखदुःखादि पुद्गलकर्मफल को, पुद्गल स्वयं आदि-मध्य-अन्त में व्यापकर करता है। विकृत है न? सुख कल्पित किया-माना है। सुख है नहीं स्त्री में, पैसे में, इज्जत में माना है, है नहीं। वह माना है कि सुख की कल्पना, उसका कर्ता धर्मी नहीं है, ऐसा कहते हैं। अज्ञानी उसका कर्ता है, क्योंकि उसे ज्ञान स्वभाव आत्मा की खबर नहीं है। इसलिए वह हर्ष-शोक का कर्ता होकर उसका फल भोगता है। आहाहा! परन्तु धर्मी जीव, जिसने धर्मस्वभाव भगवान आत्मा, ज्ञायकस्वरूपी प्रभु भगवानस्वरूप आत्मा, आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु आत्मा, उसका जिसे ज्ञान हुआ और जिसे पहिचान और प्रतीति ज्ञान होकर हुई, उसे वह जो सुख-दुःख की कल्पना अन्दर होती है, वह पुद्गल का कार्य है, परन्तु आत्मा का कार्य नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं।

यहाँ एक बार बात हुई थी। नानालाल कालीदास करोड़पति है न, राजकोट (वाले), मुम्बई में झवेरी की दुकान। उनके रिश्तेदार आये हुए थे। वे कहे कि हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। मैंने कहा, सुखी की व्याख्या क्या? यहाँ बात हुई थी उस स्वाध्यायमन्दिर में, थानवाला आया, थानवाला नहीं, वढवाणवाला, क्या कहलाता है, वह वकील था न?

मुमुक्षु : चूडगर-चूडगर।

पूज्य गुरुदेवश्री : चूडगर बैरीस्टर था न चूडगर। उनके कुटुम्ब में से था। हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। तो सुखी की व्याख्या क्या है? कहे, यह पैसा और स्त्री यह सुख का है! सुखी तो उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा के आनन्द का भान होकर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है, वह समकिती सुखी है। 'सुखिया जगत में सन्त, दूरिजन दुःखिया।'

सुखिया जगत में रे सन्त दुरिजन दुखिया रे। जिसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु जिसे अनुभव में आया, वह भले गृहस्थाश्रम में, भले चक्रवर्ती पद में हो, परन्तु जो आनन्द का अनुभव आया, वह सुखी है, बाकी दुरिजन दुखिया।

वह **पुद्गलकर्मफल को करता है।** कौन ? पुद्गल। कर्म, कर्म जड़ है, वह उसके फलरूप से सुख-दुःख की कल्पना का कार्य वह कर्म का है, भगवान आत्मा का नहीं। आहाहा! **इस प्रकार पुद्गलद्रव्य के द्वारा किये जानेवाले सुख-दुःखादिरूप पुद्गलकर्मफल को ज्ञानी जानता हुआ भी...** ऐसा कि जानने का कार्य करता होने पर भी, ऐसा कहना है। धर्मी उस सुख-दुःख की कल्पना को जानता होने पर भी, जानने में उसे ज्ञेयज्ञायक का व्यवहार सम्बन्ध होने पर भी, **जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर...** आहाहा! घड़ा जो होता है, उसमें मिट्टी अन्तर्व्यापक होकर घड़ा हुआ है, कुम्हार से नहीं।

अरे रे! यह कैसे जँचे जगत को ? यह मिट्टी वस्तु है, वह स्वयं पसरकर, घट की पर्याय व्याप्य-प्राप्त होती है। उस काल में वह घट की पर्याय उस काल में होनेवाली थी, उसे वह मिट्टी ग्रहण करती है, प्राप्य है। जैसे, है ? **मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में...** आहाहा! उस घड़े की आदि में भी मिट्टी, अन्त में भी मिट्टी और मध्य में भी मिट्टी। शुरुआत में कुम्हार था इसलिए, आदि में वह, ऐसा नहीं है।

अरेरे! अब ऐसी बातें गले उतरना... तत्त्वदृष्टि ऐसी सूक्ष्म है, भाई!

मुमुक्षु : ऐसे तो दृष्टान्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दृष्टान्त यह कहाँ बैठता है इसे ? मिट्टी से घड़ा होता है, उस घड़े की पर्याय को व्यापक मिट्टी होकर होती है। वह कुम्हार है, इसलिए घड़ा होता है, ऐसी बिल्कुल झूठी बात है। आहाहा!

मुमुक्षु : कुम्हार तो निमित्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त है अर्थात् वह करता नहीं। निमित्त का अर्थ है, कि 'है' इतना। परन्तु वह घड़े को करता नहीं।

रोटी का कहा नहीं था भाई! अभी तो इसे दृष्टान्त कठिन पड़े, सिद्धान्त। **जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर...** वह मिट्टी स्वयं पसरकर, **आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त**

होकर, घड़े को ग्रहण करती है... घड़े को ग्रहण करती है, अर्थात् उस काल में घड़े का प्राप्य निश्चय है। उसे मिट्टी ग्रहण करती है, प्राप्य करती है। ग्रहण करती है, ऐसी भाषा है। यह मिट्टी उस घड़े की पर्याय को प्राप्त करती है अर्थात् ग्रहण करती है, कुम्हार नहीं। आहाहा!

भाई ने प्रश्न किया था न? कि यह रोटी होती है रोटी। रोटी होती है, बापू! भाई! तुझे खबर नहीं। वह रोटी की (पर्याय) है-वह रोटी की पर्याय है, वह रोटी उस काल में होनेवाले थी, वह प्राप्य है, उसे वे परमाणु आटे के हैं, वे उसे ग्रहण करते हैं, उनसे वह रोटी हुई है; पर से नहीं। क्या कहलाता है वह? बेलन से नहीं, तवे से नहीं, स्त्री के हाथ से नहीं। अरे रे! जगत से भारी उल्टा।

मुमुक्षु : जगत से तो उल्टा ही होगा न।

पूज्य गुरुदेवश्री : जगत की दृष्टि उल्टी, उल्टे घड़े में उल्टा रहे। जो घड़ा उल्टा हो, उसके ऊपर उल्टा रहे, सुलटा न रहे; इसी प्रकार दृष्टि उल्टी है और उल्टा चलना और और तर्क और उल्टा ही ज्ञान सब हो। आहाहा!

यहाँ परमात्मा कहते हैं कि इस घड़े के मुख्य में आदि में मिट्टी, मध्य में मिट्टी और अन्त में व्यापकर घड़े को ग्रहण करती है, वह मिट्टी घड़े को पहुँचती है। वह कुम्हार घड़े को पहुँचता है, यह बात बिल्कुल झूठी है। अररर! अब ऐसी बात बैठे नहीं। पूरे दिन सवेरे से शाम तक धन्धे में 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, शकट का भार ज्यों श्वान खींचे।' गाड़ी चलती हो और नीचे कुत्ते को ठीठुं छुए तो गाड़ी मुझसे चलती है (ऐसा वह मानता है)। इसी प्रकार दुकान पर बैठा हो और ऐसे पाँच-दस हजार की आमदनी दिन की होती हो और ग्राहक... ग्राहक... ग्राहक, आहाहा! यह सब काम मुझसे होता है, ऐसा मानता है। प्रभु! तू क्या करे? पर की क्रिया का तू कहाँ कर सकता है? परन्तु 'मैं करूँ, मैं करूँ' नरसिंह मेहता कहते हैं, हों, वैष्णव में। 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, शकट का भार ज्यों श्वान खींचे।' गाड़ी का भार जैसे कुत्ता खींचे, वैसे यह पूरी दुनिया की धन्धे की व्यापार की क्रिया मैं करता हूँ और मुझसे यह हुआ है, मैंने दुकान को सम्हाला, तब यह पैसे पैदा हुए हैं और मेरा ध्यान बराबर था। व्यवस्थित काम करने में मैं होशियार हूँ। ऐई!

हिम्मतभाई! नहीं? लोहे-बोहे में? यह सब पर के काम कर सकता हूँ, यह अज्ञान और मूढता है। आत्मा को पाप की खान में गहरे उतारने के ये सब लक्षण हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **मिट्टी स्वयं घड़े में...** शुरुआत में मिट्टी, मध्य में और अन्त में **घड़े को ग्रहण करती है...** घड़ेरूप **परिणमित होती है।** मिट्टी, घड़ेरूप **उत्पन्न होती है। उसी प्रकार ज्ञानी...** उसी प्रकार धर्मी **स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले ऐसे) पुद्गलद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर।** आहाहा! जैसे मिट्टी अन्तर्व्यापक होकर घड़े को ग्रहण करती है, उपजती है और परिणमित होती है। आहाहा! उसी प्रकार ज्ञानी कर्म का फल सुख-दुःख है, उसके अन्तर में व्यापकर, व्याप्य-पर को ग्रहण करता है, ऐसा नहीं है। है? ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में यह सुख-दुःख की कल्पना, आहाहा! उसमें-पुद्गल में परिणमता परद्रव्य में भी **अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में...** यह सुख-दुःख की कल्पना में शुरुआत में आत्मा था, मध्य में आत्मा और अन्त में वह है नहीं।

श्लोक कैसे ऊँचे आये न? यह **परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्यापकर उसे ग्रहण नहीं करता।** आहाहा! धर्मी, जिसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर पड़ी है, आहाहा! ऐसा जो धर्मी, उसे जो सुख-दुःख की कल्पना के आदि में, मध्य में, अन्त में पुद्गल है। उसकी आदि में आत्मा है, ऐसा है नहीं। आहाहा! अब ऐसी बातें कहाँ मिले? आहाहा! यहाँ चलती है, अन्यत्र तो विवाद। क्या हो? भाई! जगत को जहाँ बैठे हो, वहाँ से उल्टा कहे दूसरा, तो उसे उल्टा लगे, उल्टा बैठा उसे दूसरा कहे तो वह उल्टा लगता है, कहते हैं, क्या हो? भाई! आहाहा!

उसे आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर ग्रहण नहीं करता... आत्मा। **उसरूप परिणमित नहीं होता।** बदलता नहीं। यह सुख-दुःख के परिणाम पहले थे और दूसरे बदले, ऐसा नहीं। **उसरूप उत्पन्न नहीं होता।** सुख-दुःख में आत्मा ज्ञानी उपजता नहीं। आहाहा! पर्याय में कर्ता है तो वह आत्मा, परन्तु यहाँ पर्यायदृष्टि छुड़ानी है, द्रव्यदृष्टि के स्वभाव की अपेक्षा से पर्याय में जितना राग और सुख-दुःख की कल्पना करे, वह सब पुद्गल का कार्य करके तुझे ज्ञाता ठहराना है। आहाहा! क्योंकि आत्मा का स्वरूप ज्ञायक

है, तो ज्ञायक अर्थात् जानना-देखना उसका स्वरूप है, कोई राग का करना या पुद्गल का करना या राग के फल को भोगना, वह उसका स्वरूप नहीं। आहाहा!

आहाहा! उसरूप परिणमित नहीं होता, ग्रहण नहीं करता, उत्पन्न नहीं होता। किसे ? यह हर्ष-शोक के परिणाम को धर्मी जीव ग्रहण नहीं करता, वह उसका प्राप्य नहीं, वह पुद्गल का प्राप्य ध्रुव है। आहाहा! उसका प्राप्य तो उस समय उन हर्ष-शोक के परिणाम को जानना, वे जानने के परिणाम उस-उस समय के ध्रुव, प्राप्य है। आहाहा!

इसमें कहाँ लन्दन-बन्दन में मिले ऐसा है, ऐसा कुछ, अफ्रीका में ? अफ्रीका में तो अब पच्चीस-तीस वर्ष से यह अभ्यास है। नैरोबी, नैरोबी पन्द्रह लाख का मन्दिर बनाते हैं। ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारह को मुहूर्त किया वहाँ नैरोबी में, दो हजार वर्ष में कोई दिगम्बर मन्दिर नहीं, वहाँ जैन दिगम्बर (मन्दिर) दो हजार वर्ष में अभी बनाते हैं, शुरु कर दिया है। श्वेताम्बर बहुत हैं, वहाँ पचास लाख का (मन्दिर) बनाते हैं। महाजन श्वेताम्बर बहुत हैं, वे पचास लाख का (मन्दिर) बनाते हैं, और यह मुमुक्षु हैं वे पन्द्रह लाख का (मन्दिर) बनाते हैं, तथापि आगे होगा वह।

परन्तु यह होने के काल में उन परमाणु की पर्याय होती है, आत्मा कर्ता है, इस बात में कुछ माल नहीं है। आत्मा अज्ञानभाव से राग को करे, परन्तु वह मन्दिर बनावे, इस बात में कुछ बात, एक भी प्रतिशत सत्य नहीं है। यहाँ तो अज्ञानभाव से कहा न, अज्ञानभाव से करे तो वह राग को करे परन्तु पर को तो वह अज्ञानभाव से भी नहीं करे और ज्ञानभाव से आत्मधर्म भावे तो वह राग का भी कर्ता आत्मा नहीं है। राग का ज्ञान हो, वह उसका व्याप्य और प्राप्य है। आहाहा! व्याप्य अर्थात् कार्य और वह उसका प्राप्य अर्थात् उस काल में होनेवाला था। पुंजाभाई! मुम्बई रहते हो तुम अभी मुम्बई, नैरोबी ? अफ्रीका-अफ्रीका में रहते हैं, नैरोबी। आहाहा!

इसलिए यद्यपि ज्ञानी सुख-दुःखादिकरूप पुद्गलकर्म के फल को जानता है। आहाहा! 'स्व-परप्रकाशक शक्ति हमारी तातें (वचन) भेद भ्रम भारी, ज्ञेय शक्ति द्विविधा प्रकाशी, निजरूपा पररूपा भासी।' पर को जाने, स्व को जाने-ऐसा ज्ञान का ज्ञानी का स्वभाव है। आहाहा! धर्मी का यह स्वभाव है। अधर्मी चाहे जिस प्रकार माने, राग का कर्ता

हो, वह तो अज्ञानरूप से चाहे जो करे, माने, तथापि वह उसकी मान्यता सत्य नहीं है। इस प्रकार की बातें। अब कहीं सुनने में बाहर में तो मिलती नहीं, हिन्दुस्तान में मिलती नहीं। आहाहा! अब ऐसी बातें, बापू! तेरी बातें। आहाहा!

मुमुक्षु : उल्टी मान्यता निकालने के लिये तो यहाँ आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात सत्य है। आहाहा! ज्ञानी सुख-दुःख आदि पुद्‌गलकर्म का फल, भाषा (यह है)। यह सुख-दुःख की कल्पना का भाव वह कर्म का फल; जीव का नहीं। ज्ञानी की बात है न? यहाँ वस्तु द्रव्यस्वभाव चैतन्यस्वभाव का ज्ञान हुआ है, तो वह तो ज्ञानी है। वस्तु ज्ञायकस्वभाव का ज्ञान हुआ है, ज्ञायकस्वभाव त्रिकाली ज्ञायकभाव परमात्मा स्वयं भगवत्‌स्वरूप जिनस्वरूप प्रभु आत्मा अन्दर है। आहाहा! 'घट घट अन्तर जिन बसे अरु घट घट अन्तर जैन, मतमदिरा के पान सो, मतवाला समझे न।' आहाहा! बहुत कठिन बातें, भाई!

यह यहाँ कहते हैं। यद्यपि ज्ञानी सुख-दुःखादि रति, अरति, खेद, शोक इत्यादि इस पुद्‌गलकर्म के फल को जानता है। धर्मी जानने में स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से जानता है। समझ में आया? **तथापि...** जानता है तो भी, जानने का कार्य करता है तो भी, **प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्य परिणामस्वरूप कर्म...** आहाहा! यह सुख-दुःख के परिणाम, वह पुद्‌गल का प्राप्य है, उस समय ध्रुव वही होनेवाला, आहाहा! वह पुद्‌गल का प्राप्य है, वह पुद्‌गल इस प्रकार से परिणमित हुआ है, पुद्‌गल उसरूप उत्पन्न हुआ है। आहाहा! भारी कठिन काम। शरीर, वाणी, पैसा और स्त्री -पुत्र में तो कोई कर्ताकर्मपना अज्ञानी को भी है ही नहीं। अज्ञानी को कर्ताकर्मपना हो तो अन्दर में राग का कर्ता और राग उसका कार्य, अज्ञानी मानता है। आहाहा!

अब यहाँ धर्मी जीव, धर्म करनेवाला उसे कहते हैं कि जिसे सुख-दुःख के परिणाम हों, उसे वह जाने। जानने पर भी उन परद्रव्य के परिणाम को ग्रहण नहीं करता, है? वह व्याप्यलक्षण प्राप्य, विकार्य, निर्वृत्य ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला कार्य लक्षण, **परद्रव्य परिणाम स्वरूप कर्म...** अर्थात् कार्य **उसे वह नहीं करता ऐसा धर्मी उसे नहीं करता। (उस ज्ञानी का पुद्‌गल के साथ कर्ताकर्म भाव नहीं है।)** आहाहा!

यहाँ तो चौथे गुणस्थान से शुरु किया है। भाई! वह कहे, निर्विकल्प समाधि हो तब ज्ञानी कहना। अरे प्रभु! आहाहा! क्योंकि उसे सुख-दुःख के परिणाम हैं, उन्हें जानता है, ऐसा लिया है न? तथापि वह ज्ञानी है। अर्थात् निर्विकल्प समाधि में हो तो ही ज्ञानी है और सुख-दुःख के परिणाम हुए, उन्हें जाने, इसलिए ज्ञानी नहीं—ऐसा नहीं है। ज्ञानसागर में बहुत लिखा है। आहाहा!

ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानी का पुद्‌गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है। यह हर्ष-शोक के परिणाम पुद्‌गल हैं, उनका कार्य है, उसके साथ आत्मा को-धर्मी को कर्ताकर्मपना नहीं है। वह सुख-दुःख के परिणाम कर्ता और वह आत्मा का कार्य, यह ज्ञानी को-धर्मी को नहीं है, धर्मी उनका जाननेवाला है, वह जाननेवाले के परिणाम का व्याप्य है, वह उसका कार्य है और वह उसका कर्ता है। आहाहा!

भावार्थ - जैसा की ७७वीं गाथा में कहा गया था, तद्‌नुसार यहाँ भी जान लेना। 'वहाँ 'पुद्‌गलकर्म को जाननेवाला ज्ञानी' कहा था, और यहाँ उसके बदले में 'पुद्‌गलकर्म के फल को जाननेवाला ज्ञानी' ऐसा कहा है। (इतना विशेष है)। लो, विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–७९

जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत् –

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पोग्गल–दव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं।।७९।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
पुद्गल–द्रव्य–मपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः।।७९।।

यतो जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाप्यजानत्पुद्गलद्रव्यं स्वयमन्तर्व्यापकं भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, किन्तु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्म स्वयमन्तर्व्यापकं भूत्वादिमध्यान्तेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति तथैव परिणमति तथैवोत्पद्यते च।

ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः।।७९।।

अब प्रश्न करता है कि जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को नहीं जाननेवाले, ऐसे पुद्गलद्रव्य को जीव के साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है या नहीं? इसका उत्तर कहते हैं:–

इस भाँति पुद्गलद्रव्य भी निज भाव से ही परिणमे,
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे।।७९।।

गाथार्थ : [तथा] इस प्रकार [पुद्गलद्रव्यम् अपि] पुद्गलद्रव्य भी [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्य के पर्यायरूप [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण

नहीं करता और [न उत्पद्यते] उसरूप उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह [स्वकैः भावैः] अपने ही भावों से (-भावरूप से) [परिणमति] परिणमन करता है।

टीका : जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़ेरूप में परिणमित होती है और घड़ेरूप उत्पन्न होती है; उसी प्रकार जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जानता हुआ ऐसा पुद्गलद्रव्य, स्वयं परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; परन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला अपने स्वभावरूप कर्म (कर्ता का कार्य), उसमें (वह पुद्गलद्रव्य) स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसी को ग्रहण करता है, उसीरूप परिणमित होता है और उसीरूप उत्पन्न होता है; इसलिए जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जानता हुआ ऐसा पुद्गलद्रव्य प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे नहीं करता होने से, उस पुद्गलद्रव्य को जीव के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थ : कोई ऐसा समझे कि पुद्गल जो कि जड़ है और किसी को नहीं जानता, उसको जीव के साथ कर्ताकर्मपना होगा। — परन्तु ऐसा भी नहीं है। पुद्गलद्रव्य जीव को उत्पन्न नहीं कर सकता, परिणमित नहीं कर सकता तथा ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिए उसको जीव के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है। परमार्थ से किसी भी द्रव्य को अन्य द्रव्य के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।।७९।।

प्रवचन नं. १६७, गाथा-७९, दिनांक १२-०१-१९७९, शुक्रवार, पौष शुक्ल १५

---

७८ गाथा पूरी हुई है, है? ७९ के ऊपर, तीन लाईन है। सूक्ष्म बात है।

अब पूछता है कि... है? एकदम कुछ सुना नहीं, यह बात एकदम। **अब प्रश्न करता है कि जीव के परिणाम को,...** अर्थात्? जीव के परिणाम यहाँ उसे कहना है कि, जिसने आत्मा को ज्ञायक जाना है, जिसकी धर्मदृष्टि हुई है। धर्मी ऐसा जो आत्मा ज्ञायक त्रिकाली स्वरूप की जिसे दृष्टि और ज्ञान हुआ है, ऐसे धर्मी के परिणाम, वे जीव के

परिणाम कहे जाते हैं। इस शब्द की यह व्याख्या है। जीव के परिणाम अर्थात् कि जिसने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा को धर्मीरूप से जाना और पहिचाना और अनुभव किया है, ऐसे जीव के परिणाम—सम्यग्दर्शन के, सम्यग्ज्ञान के, शान्ति के, स्वच्छता के, आनन्द के, वे जीव के परिणाम कहे जाते हैं। समझ में आया?

उन **जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को...** अर्थात् कि पुद्गल जो कर्म जड़ है, जड़ का परिणाम वह अन्दर में राग और द्वेष के परिणाम होते हैं, वे जड़ के परिणाम हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! पहले जीव के परिणाम कहे, तो जीव तो ज्ञायकस्वरूप है। ऐसा जिसे—धर्मी को ज्ञान और भान हुआ है, उसके परिणाम तो धर्म के अर्थात् ज्ञान के, दर्शन के, शान्ति के, प्रभुता के, ईश्वरता के परिणाम जो निर्मल हैं, वे ज्ञान के-आत्मा के परिणाम कहलाते हैं। उसके जो राग-द्वेष और पुण्य-पाप के भाव हों, वे जीव के परिणाम नहीं हैं। आहाहा!

जो अपने परिणाम अर्थात् पुद्गल के परिणाम। जो अन्दर दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के परिणाम उत्पन्न हों, वे राग और द्वेष के परिणाम, वे वास्तव में पुद्गलकर्म हैं, उसके वे परिणाम हैं। समझ में आया? गाथा बहुत सूक्ष्म है। प्रेमचन्दभाई! लन्दन से आये हैं, भाई, वहाँ वाँचन करते हैं। यह सूक्ष्म बातें बहुत आयी है, भाई! मूल कुछ धर्म क्या है, यह सुना नहीं और जगत के काम के कारण अवकाश भी कहाँ है? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा पर के काम तो कर नहीं सकता, लिखने का काम, यह आत्मा कर नहीं सकता, बोलने का काम यह आत्मा कर नहीं सकता, हिलने का काम यह आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा! तदुपरान्त यहाँ तो अन्दर जो कुछ दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा, भक्ति के भाव तथा हिंसा, चोरी, झूठ विषय-वासना, जगत के परिणाम जो कुछ ऐसा करूँ और ऐसा करूँ, ऐसे जो विकारी परिणाम, वे वास्तव में तो पुद्गलकर्म है, उसका वह परिणाम कर्म है। पुद्गलकर्म है, उसका वह कार्य है, आत्मा का नहीं। आहाहा! वह अपने परिणाम अर्थात् पुद्गल के परिणाम, अपने अर्थात् पुद्गल के परिणाम। राग और द्वेष, दया, दान, काम-क्रोध के परिणाम, वे अपने अर्थात् पुद्गलकर्म के। **अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को...** अर्थात्? कि जो अन्दर सुख-दुःख की

कल्पना होती है, हर्ष-शोक का भाव होता है, वह सब कर्म का फल है, आत्मा का नहीं। आहाहा! समझ में आया?

वह अपने परिणाम के फल को अर्थात् हर्ष-शोक होता है, सुख-दुःख की कल्पना होती है कि इस स्त्री में सुख है, पैसे में सुख है—ऐसी जो कल्पना होती है, वह यहाँ धर्मी जीव के वे परिणाम नहीं हैं। आहाहा! वे परिणाम पुद्‌गल कर्म है, उसके हैं। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई। आहाहा! यह पुद्‌गल जो जड़ कर्म है, वह अपने परिणाम को अर्थात् पुण्य और पाप के भाव को, वह उसके परिणाम हैं, जीव के नहीं। जीव तो ज्ञायकस्वरूप है, जाननेवाला है। उस जाननेवाले को जाना, ऐसा जो जाननेवाले को जाना, उसके परिणाम तो जानने के-देखने के, श्रद्धा करने के, आनन्द के होते हैं। आहाहा! पकड़ में आये उतना पकड़ो, बापू! यह तो अलौकिक बातें हैं। जगत में कहीं (है नहीं)। आहाहा!

इससे पहले जीव के परिणाम को कहा। वे ज्ञानी के ज्ञान के भानवाले के परिणाम उसे, ज्ञानी के परिणाम तो ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धा, शान्ति, वे उसके परिणाम हैं। **वे जीव के परिणाम, अपने परिणाम...** अर्थात् पुद्‌गल के परिणाम राग-द्वेष, दया, दान, काम, क्रोध, कमाने का भाव, व्यवस्था करने का भाव, वे सब विकार भाव, वह विकार भाव के परिणाम का पुद्‌गल कर्म कर्ता है।

मुमुक्षु : पुद्‌गल तो जड़ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़ है न? वह भी जड़ है, पुण्य और पाप के भाव वे जड़ हैं, अचेतन हैं।

मुमुक्षु : पुद्‌गल द्वेष किस प्रकार करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जड़, उसके परिणाम जड़, पर्याय में होता है, उसका परिणमन है, यह शरीर चलता है किस प्रकार? यह पर्याय कौन करता है? जड़ करता है या जानता है वह करता है, ऐसा कुछ है? अब वह-वह अवस्था ऐसी होती है, वह जड़ का काम है। जाने उसका ही काम हो, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा!

पुण्य और पाप के भाव, इस चैतन्य के स्वभाव का उनमें अभाव है। आहाहा! शुभ और अशुभ का भाव राग और द्वेष, उसमें चैतन्य भगवान ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञान, उसके

ज्ञान के चेतन का, चेतन का अभाव राग में है। अरे रे! ऐसी बातें अब कहाँ? वह राग चाहे तो दया का हो या चाहे तो हिंसा का हो, चाहे तो भगवान की भक्ति का हो चाहे तो स्त्री, पुत्र को सम्हालने का हो, परन्तु वह राग धर्मी को वह राग उसका नहीं है। धर्मी जिसे धर्म समझ में आया है, उसके वे परिणाम नहीं हैं। आहाहा!

सूक्ष्म बात है, प्रभु! कभी इसने किया नहीं। तत्त्व क्या है अनन्त काल में ऐसे का ऐसा ८४ में भटकने में बिताया। एक-एक चौरासी योनि में अनन्त-अनन्त बार अवतरित हुआ है। और यह दुःखी होकर अवतरित हुआ है, दुःखी है। यह पैसेवाले हों या राजा हों या देव हों, वे सब आत्मा के विरोधी विकार भाव के करनेवाले, वे दुःखी हैं।

यहाँ यह तो उस अज्ञानी की बात है और अनादि से भटकता है उसकी (बात है), परन्तु जिसने आत्मा ज्ञायक है, चैतन्य ज्योति है, जलहल ज्योति चैतन्य चन्द्र, सूर्य, चैतन्य प्रकाश का नूर का पूर है आत्मा। आहाहा! ऐसा जिसने जाना और अनुभव में आया, ऐसे धर्मी के परिणाम में तो ज्ञातादृष्टा, आनन्द और शान्ति के उसके परिणाम होते हैं। उसमें जो उसे रागादि के परिणाम होते हैं, वे इस आत्मा के ज्ञायकस्वभाव में अनन्त गुण का स्वरूप है, वह कोई गुण रागरूप हो, ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा! इसलिए गुण को जैसे, गुणी अर्थात् यह चावल की गुणी (बोरी) और गेहूँ की बोरी वह नहीं। गुणी अर्थात् यह भगवान अनन्त गुण का धनी ऐसा गुणी। आहाहा! जिसमें अनन्त... अनन्त... अनन्त... अपार अनन्त गुण पड़े हैं, ऐसे अनन्त गुण का धनी गुणी, ऐसे गुणी का जिसे ज्ञान और भान हुआ है, ऐसे धर्मी के परिणाम तो जानने के-देखने के आनन्द के होते हैं।

इसमें जो यह राग दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के परिणाम होते हैं, वे सब पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा! चैतन्य ज्ञायकस्वरूप परिणमकर राग करे, ऐसा तो उसमें कभी है नहीं। आहाहा! इसलिए कहते हैं, जिसे धर्म समझ में आया है, जिसे आत्मा ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप है, ऐसा जिसे अन्तर्ज्ञान हुआ है, उस ज्ञानी के परिणाम ज्ञान और आनन्द के होते हैं, वे जीव के परिणाम हैं। अपने आप तो एक अक्षर भी हल हो ऐसा नहीं है। ऐई! लखुभाई! गाँव की पंचायत के कारण और या फिल्म की और लड़कों को सम्हालने में मार डाला जगत को। किसने मार डाला? स्वयं ने। स्वयं ज्ञायक और चैतन्य ज्योति है, उसे न मानकर मैं इस राग का करनेवाला और इसका करनेवाला, उसने जीवन्त ज्योति का निषेध

किया है, उसने जीवन्त का निषेध किया है, वह जीव की हिंसा की, उसने अपनी (हिंसा की)। आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरे की हिंसा कर सकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे की हिंसा नहीं कर सकता। दूसरे की दया और दूसरे की हिंसा जीव तीन काल में नहीं कर सकता। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो स्वयं भगवान चैतन्य ज्योति है, अनन्त चैतन्याकार रत्नाकर का सागर प्रभु है। ऐसा जिसे अन्तर में स्वतत्त्व का ज्ञान और भान हुआ है, उस जीव के परिणाम तो ज्ञान-दर्शन-आनन्द और शान्ति के उसके परिणाम होते हैं। एक बात। यह जीव के परिणाम की व्याख्या हुई। और अपने परिणाम अर्थात् पुद्गल कर्म के परिणाम अर्थात् अन्दर जो शुभ और अशुभभाव हो। राग, दया, दान, व्रत, काम, क्रोध, कमाना, कमाने के भाव, वह ज्ञानी को वे परिणाम पुद्गल के हैं, मेरे नहीं। पुंजाभाई! ऐसा वहाँ कहीं नैरोबी में मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा!

वे अपने परिणाम, अर्थात् पुद्गल के परिणाम, अर्थात्? जो शुभ और अशुभभाव होते हैं, वे पुद्गल के परिणाम हैं, चैतन्य के नहीं। आहाहा! दो। **अपने परिणाम के फल को...** अर्थात् कि पुद्गल है, उसमें होते राग-द्वेष और उसमें होता उसका फल हर्ष-शोक, सुख-दुःख की कल्पना, वह सब कर्म का फल है, जीव का नहीं। चैतन्य भगवान तो ज्ञानानन्द, सहजानन्दस्वरूप है। आहाहा! ऐसा जिसे ज्ञान और भान धर्म का हुआ, उसे सुख-दुःख की कल्पना, वह कर्म का फल है। **अपने परिणाम को, अपने परिणाम के फल को नहीं जाननेवाले ऐसे पुद्गलद्रव्य...** इन तीनों को जाननेवाला जड़ नहीं है। राग और कर्म, वह जीव के परिणाम को नहीं जानता, उसके-राग के परिणाम को वह राग नहीं जानता तथा राग का फल जो दुःख या सुख की कल्पना, उसे वह राग नहीं जानता। आहाहा! उस **पुद्गलद्रव्य को जीव के साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं?** अभी तो ऐसा प्रश्न है। आहाहा!

ऐसा प्रश्न जिसे अन्दर से उठा है, उसे यह उत्तर दिया जाता है। आहाहा! क्या कहा यह? जब ७६-७७-७८ में ऐसा कहा गया कि धर्मी जीव को धर्म ऐसा जो आत्मा, उसका

धारक, आनन्द और ज्ञान की शान्ति का धारक प्रभु, उसका जिसे ज्ञान, श्रद्धा और भान हुआ है, उस जीव के परिणाम तो शुद्ध आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान के परिणाम और समकित आदि के परिणाम, वे जीव के परिणाम हैं। और अपने अर्थात् पुद्गलद्रव्य के परिणाम, वे राग और द्वेष, वे पुद्गलकर्म के परिणाम हैं और उनमें सुख-दुःख की कल्पना, वह कर्म का फल है। उन तीनों को नहीं जाननेवाले ऐसे पुद्गलद्रव्य को... तीन हुए? क्या तीन हुए? अरे भगवान!

एक तो जीव के परिणाम शुद्ध, पुद्गल के परिणाम राग-द्वेष, उसका फल हर्ष और शोक, वह पुद्गल का कर्म और पुद्गल का फल है, उसे पुद्गल नहीं जानता। नहीं आत्मा के परिणाम को जानता, नहीं उसका राग, राग हुआ उस राग को जानता, राग में सुख की कल्पना हुई, नहीं उसे जानता। आहाहा! सूक्ष्म है, भाई! यह पहले से कहा था। और अब उसमें यह सब व्यापारी धन्धे के-पाप के पूरे दिन। ऐई! हिम्मतभाई! पैसा... पैसा... धूल... धूल... धूल... पूरे दिन महापाप धन्धा के, स्त्री-पुत्र को सम्हालने के अकेले पापभाव। यहाँ तो अज्ञानी है, वह पाप का कर्ता है और उसे दया-दान के परिणाम हों, वह भी अज्ञानी उनका कर्ता है और इसलिए वह कर्ता होकर चार गति में भटकता है।

परन्तु यहाँ तो अब ज्ञानी की बात है। कि जिसे भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का सागर, चैतन्य का रत्नाकर प्रभु है, आहाहा! उसका जिसे निमित्त से-राग से और पर्याय से भी विमुख होकर त्रिकाली ज्ञायकभाव के सन्मुख होकर... एक-एक अक्षर में बहुत अन्तर है, बापू! यह तो अध्यात्म वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा, त्रिलोकनाथ की यह वाणी है, उसे समझने के लिये तैयारी चाहिए, भाई! आहाहा!

यह पुद्गलद्रव्य जीव के साथ... क्या कहा यह? कि ज्ञानस्वरूपी भगवान ऐसा जहाँ ज्ञान हुआ, वह ज्ञान के परिणाम हुए, उसे राग जो पुद्गल है, वह ज्ञान के परिणाम को नहीं जानता। राग है, वह राग को नहीं जानता, तथा यह राग है, उसमें कल्पना हुई कि इस अनुकूलता में ठीक है और प्रतिकूलता में ठीक नहीं, वह सब राग का फल है। राग का फल राग नहीं जानता है, राग का कार्य राग नहीं जानता, राग आत्मा के निर्मल के परिणाम को नहीं जानता, तो ऐसे नहीं जाननेवाले को, ऐसे कर्म के रागादि को आत्मा के परिणाम

ज्ञान हो, उसमें कर्ताकर्मसम्बन्ध है या नहीं ? ऐसी बात है, बापू ! आहाहा ! क्या समझ में आया ? मोटाणी ! यहाँ तो ऐसी बातें हैं, बापू ! आहाहा !

शिष्य का प्रश्न यह है, ऐसा प्रश्न जिसे उठा, उसे यह उत्तर दिया जाता है। बाकी तो वाँचने-सुनने बेगाररूप से आवे और एक घण्टा सुने और ऐसा उसे यह नहीं समझ में आये। उसे यह उत्तर नहीं दिया जाता, ऐसा कहते हैं। वीरचन्दभाई ! हमारे वीरचन्दभाई बोटाद, हें ? आहाहा !

मुमुक्षु : दलीचन्दभाई...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वीरचन्दभाई है पीछे, दलीचन्दभाई तो कभी आते हैं और वीरचन्दभाई तो बहुत बार आते हैं। दलीचन्दभाई को व्यापार... व्यापार-धन्धा सब होवे न वहाँ पाप का। आहाहा !

प्रभु ! प्रभु ऐसा कहते हैं। आहाहा ! त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ परमात्मा ऐसा कहते हैं, कि जीव के परिणाम हम उसे कहते हैं कि जिसने ज्ञायक आत्मा को जाना है, तो उसके परिणाम जानने के-देखने के हों, वे जीव के परिणाम, और जो राग और राग का सुख-दुःख की कल्पना, वह राग का फल कर्म का है। आहाहा ! तो यह कहते हैं कि आत्मा के परिणाम को वह राग नहीं जानता। राग को राग नहीं जानता और राग का फल दुःख, दुःख की कल्पना को भी वह नहीं जानता, ऐसा वह पुद्गल, उसे आत्मा के परिणाम के साथ कुछ कर्ताकर्म है या नहीं ? यह राग कर्ता और यहाँ ज्ञान परिणाम उसका कार्य, ऐसा है या नहीं ? ऐसी कठिन बातें है, बापू ! क्या कहा, समझ में आया ? यह तो शिष्य का तो ऐसा प्रश्न है, उसके ख्याल में बात आयी है, कि यह...

मुमुक्षु : शिष्य ऊँचे नम्बर का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस ऐसे को यहाँ गिना है। बाकी साधारण को थोथा, जैसे अभी सुनने आया और चला जाये घण्टे दो घण्टे, वह कोई श्रोता नहीं, सुननेवाले नहीं। आहाहा ! चिमनभाई !

शिष्य ने क्या पूछा ? शिष्य ने क्या पूछा, वह समझ में न आवे। शिष्य का यह प्रश्न है कि जब यह आत्मा, आत्मा का जाननेवाला हुआ, तो यह तो ज्ञानस्वरूप भगवान है।

आत्मा तो चैतन्यस्वरूप है, तो चैतन्यस्वरूप के परिणाम तो जानने-देखने आनन्द के हों, परन्तु उस परिणाम को राग नहीं जानता। राग पुद्गल है, वह राग उस परिणाम को नहीं जानता, एक बात। राग राग को नहीं जानता, दो बात। राग का फल जो सुख-दुःख की कल्पना, उसे वह नहीं जानता। तीन बात। तो ऐसे जो राग के परिणाम पुद्गल के, पुद्गल के परिणाम, वे आत्मा के परिणाम का कुछ कर्ता है या नहीं? क्योंकि जब ज्ञान होता है, वहाँ जैसा राग आवे, वैसा यहाँ ज्ञान उस समय में स्वयं से होता है, अरे! अरे! अब ऐसी बातें। अरे! दुनिया कहाँ भटकती है न! आहाहा! क्या कहा?

जब राग होता है, तब ज्ञानी को उस सम्बन्धी का ज्ञान स्वयं से होता है। राग है, इसलिए ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं। समझ में आया? आहाहा! बापू! धर्म कोई अलौकिक चीज़ है। इसके बिना मरा गया चौरासी के अवतार में भटक-भटककर। आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों का काल तो एक है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक है, काल एक है, तथापि राग के कारण ज्ञान नहीं हुआ। यह यहाँ सिद्ध करना है। ज्ञानी के ज्ञान में आत्मा ज्ञानस्वरूप ज्ञात हुआ, इसलिए उसके परिणाम जानने के स्व के और राग हो, उसके जानने के परिणाम हों, परन्तु वे परिणाम राग हैं, इसलिए हुए हैं, ऐसा नहीं है। इसलिए राग, वह कर्ता है और यहाँ जानने का काम हुआ, वह उसका कार्य है, ऐसा नहीं है। अरर! एक-एक अक्षर... अरे भगवान! क्या करे? प्रभु! तुझे तेरी खबर नहीं। तुझे तेरी खबर नहीं, नहीं पर की खबर। आहाहा!

यहाँ तो जिसे खबर पड़ी है, उसे वह खबर पड़नेवाले को, जाननेवाले के जानने के परिणाम को, समकित के परिणाम को, यह राग है, उस राग का ज्ञान यहाँ होता है, परन्तु वह ज्ञान राग है, इसलिए हुआ है, ऐसा नहीं है। उस समय अपना स्वभाव स्व और पर को जानने का होने से ज्ञान स्व-पर को जानता हुआ प्रगट होता है। राग हुआ, उसी काल में, उस समय में स्व-पर जानता हुआ ज्ञान प्रगट होता है। तो वह स्व-पर जानता ज्ञान होता है पर्याय, उसे यहाँ राग का ज्ञान कहना या नहीं? राग कर्ता और जानने का परिणाम उसका कार्य, ऐसा कहना या नहीं? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। आहाहा! ऐसा उपदेश अब। वह तो अब दया पालो, व्रत पालो, दान करो, अपवास करो, मन्दिर बनाओ, यह तो सीधा सट्ट था भटकने का। यह तो भटकने का भाव है। आहाहा!

यह पहले प्रश्न समझ में आया ? यह पौने तीन लाईन का प्रश्न है। नवरंगभाई ! जीव के परिणाम को अर्थात् कि वीतरागी परिणाम जीव के—धर्मी के, अपने परिणाम को अर्थात् पुद्‌गल के परिणाम को अर्थात् राग को, और अपने परिणाम के फल को अर्थात् राग में सुख-दुःख की कल्पना हो उसको, नहीं जानते ऐसे पुद्‌गलद्रव्य को, वह नहीं जानता ऐसा राग और पुद्‌गलद्रव्य को, जीव के साथ कर्ताकर्म भाव है या नहीं ? ऐसा तो यह प्रश्न अभी शिष्य का, यह तो समझने में कठिन पड़े। अरे ! जगत की मजदूरी कर-करके मर गया। पूरे दिन व्यापार और धन्धा, स्त्री-पुत्र को सम्हालना, यह बड़ा मजदूर है। पापी बड़े पाप का करनेवाला मजदूर है। आहाहा ! मोटाणी ! यहाँ तो यह बात है, बापू ! आहाहा !

परन्तु जिसने इस मजदूरी के भाव को भी भिन्न करके अपने आत्मा को जाना है। आहाहा ! ऐसे जाननेवाले भेदज्ञानी को, जो परिणाम हों, वे तो निर्मल। राग हो, उसका यहाँ ज्ञान हो, ऐसा कहना वह व्यवहार है। बाकी तो उस समय में ज्ञानी को ज्ञान के परिणाम स्वयं से स्व-पर को जानने के होने से पर को जानना, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। बाकी जानने के परिणाम हुए हैं आत्मा से। राग का ज्ञान हुआ, वह राग है; इसलिए उसका यहाँ ज्ञान हुआ-ऐसा नहीं है। अरे रे ! अब ऐसी बातें। आहाहा !

अरे रे ! मनुष्य का भव चला जाता है, बापू ! मृत्यु के समीप जाता है, भाई ! जो-जो क्षण जाता है, वह देह की स्थिति पूरी होने का जो काल है, निश्चित है। जो-जो क्षण-दिन जाते हैं, बापू ! वह मृत्यु के समीप जाते हैं, उसमें यदि यह कोई आत्मा क्या और राग क्या, उसका ज्ञान नहीं किया। आहाहा ! अरे रे ! किस योनि में अवतरित होगा ? यह आँधी का तिनका कहाँ जाकर गिरेगा ? मिथ्याश्रद्धावाला जीव कि जिसे कुछ भान ही नहीं, वह मिथ्याश्रद्धा की आँधी में चढ़ा किस योनि में, कहाँ जायेगा ? आहाहा !

यहाँ तो जिसे आत्मज्ञान हुआ, उसका प्रश्न है। आहाहा ! जिसने पुण्य-पाप के विकल्प हैं, उनसे भी भिन्न भगवान है। भगवान अर्थात् आत्मा, उसे जिसने राग से भिन्न भगवान को जाना है, कि यह राग है, वह पुण्य-पाप तत्त्व है; भगवान तो ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। आहाहा ! ऐसा जिसने ज्ञायक जाननेवाला भगवान ज्ञानरसकन्द का जिसे ज्ञान हुआ है, उसके परिणाम तो ज्ञान और दर्शन और आनन्द के होते हैं। तो उस परिणाम को राग नहीं

जानता। ज्ञानी उस परिणाम का कर्ता है। राग का यहाँ ज्ञान हुआ, तथापि वह राग का कार्य नहीं। ज्ञानी को राग का यहाँ ज्ञान हुआ, इसलिए राग कर्ता है और ज्ञान परिणाम जाना, इसलिए उसका कार्य है, ऐसा नहीं है।

अरे! अरे! इसमें एक-एक अक्षर में विवाद उठे बापू! इसने किया नहीं कभी आत्मा का। सब जगत की मजदूरी कर-करके मरकर बहुत अधिक ढ़ोर में जानेवाले हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : राग ज्ञान को जनवाने का कार्य तो करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं, वही यह चर्चा-प्रश्न है, उसका कि राग है, इसलिए राग का ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं। वह ज्ञायक है, इसलिए स्व-पर के प्रकाशक के परिणाम का ज्ञान हुआ। कहो, प्रवीणभाई! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! अरे रे! जगत में कहाँ मिले? ऐसी सच्ची बातें इसे सुनने को न मिले, वह कब विचार करे, और कब करे। आहाहा! यह तो अभी उसका प्रश्न है। ऐसे प्रश्न को जाननेवाले ने प्रश्न किया है, उसका उत्तर है। अब गाथा ७९।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पोग्गल-दव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं।।७९।।

नीचे हरिगीत

इस भाँति पुद्गलद्रव्य भी निज भाव से ही परिणमे,
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे।।७९।।

यह कोई कथा-वार्ता नहीं है, यह तो भागवत कथा है। आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु, उसका ज्ञान होना और राग होना, उसका ज्ञान होना, उसकी यह बातें हैं, भाई। आहाहा! टीका, टीका है? **जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर...** है टीका? है या नहीं, आया या नहीं? कहीं बहियाँ भी देखी न हो वे, पाप की बहियाँ देखी हो सब, वहाँ फिल्म की और गाँव की पंचायत की। आहाहा!

टीका -मिट्टी, मिट्टी है न मिट्टी, वह स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, घड़े की पर्याय को मिट्टी करती है। घड़े की पर्याय को कुम्हार नहीं करता।

मुमुक्षु : वकील करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वकील वकालत की भाषा नहीं करता। वकील है न ? जज के समक्ष दलील करे, वह दलील आत्मा नहीं करता। वह जड़ की अवस्था है। आहाहा! प्रभु! तेरी लीला तो देख, तू कौन है, भाई! आहाहा! तेरी खबर बिना वर बिना की बारात जोड़ दी है, उसे बारात नहीं कहा जाता, वह तो मनुष्यों का टोला कहलाता है। इसी प्रकार आत्मज्ञान बिना की बातें जितनी सब चींटी के नगर जैसे हैं, वे तो सब। आहाहा!

मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक, घड़े की पर्याय में मिट्टी पसरकर घड़ा होता है, कुम्हार से नहीं।

मुमुक्षु : यह समझ में नहीं आता, मिट्टी से घड़ा होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिट्टी, अभी दृष्टान्त समझ में नहीं आता, वहाँ तो सिद्धान्त कहा जाता है, भाई का प्रश्न था न ? रोटी का नहीं ? प्रेमचन्दभाई का। लन्दन में रहते हैं, वहाँ यहाँ का वाँचन करते हैं, आये, छह-सात दिन हुए। रोटी का प्रश्न था न ? रोटी आटा से होती है, रोटी बेलन से नहीं, तवे से नहीं, बाई के हाथ से नहीं, बाई का हाथ रोटी को स्पर्श नहीं करता। यह बेलन आटे को ऐसा-ऐसा हो, वह आटे को स्पर्श नहीं करता। अरे रे! अब यह बात कहाँ से समझ में आय ?

मुमुक्षु : बेलन में आटा चिपक न जाये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आटा स्वयं है, रोटीरूप हुआ है। वह आटे की पर्याय रोटी है। वह तवे की नहीं, स्त्री की नहीं, अग्नि की नहीं।

मुमुक्षु : यह दुकान अलग प्रकार की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लखुभाई! क्या कहते हैं ? यह दुकान अलग प्रकार की है, कहते हैं। आहाहा!

अरे भगवान! तू कौन है और कहाँ है और कैसा है तेरा स्वरूप ? आहाहा! श्रीमद् में नहीं आया ? 'मैं कौन हूँ, आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या ?' सोलह वर्ष देह की स्थिति। आत्मा अनादि-अनन्त, उसे कुछ स्थिति नहीं। मैं कौन हूँ, कहाँ से आया ? मैं हूँ आत्मा, कहाँ से आया ? मैं अनादि हूँ। वास्तविक स्वरूप क्या है ? मेरा वास्तविक स्वरूप

तो ज्ञाता-दृष्टा-आनन्द है। आहाहा! राग और पुण्य-पाप के परिणाम, वे आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। आहाहा! अरे रे! यहाँ तो अभी स्त्री मेरी अर्धांगिनी कहलाये, आधा अंग मेरा और आधा उसका, धूल भी नहीं, सुन न! तूने आत्मा को मार डाला। आहाहा! यह मेरा पुत्र है। मानो तू, मानो तू तो तू, वह मैं है तू, वह तू मैं हूँ। स्नान-बनान जाना हो, यह राग। पागल के गाँव अलग नहीं होते। हर गाँव में पागल है। सब देखा है और हमने तो सब जाना है, जगत को सब, सब प्रकार से (जाना है)। यहाँ तो ८९ हुए। ७० वर्ष से तो यह सब दुकान से अभ्यास है। आहाहा! भाई!

मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर... इसी प्रकार आटा स्वयं रोटी में अन्तर्व्यापक होकर रोटी बनाता है आटा। स्त्री नहीं, बेलन नहीं, अग्नि नहीं, तवा नहीं। अरे रे! ऐसा **आदि-मध्य-अन्त में...** मिट्टी स्वयं घड़े की आदि में मिट्टी। उसे कुम्हार था, इसलिए घड़ा हुआ—ऐसा नहीं है। आहाहा! घड़े की पर्याय की आदि में शुरुआत में मिट्टी थी, इसलिए हुआ। मध्य में मिट्टी थी, अन्त में मिट्टी। घड़े की पर्याय हुई तो कुम्हार का हाथ ऐसे-ऐसे हुआ, इसलिए वह घड़े की पर्याय हुई—ऐसा नहीं है, क्योंकि परद्रव्य से परद्रव्य की पर्याय तीन काल में नहीं होती। समझ में आया? यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू! अरे रे! इसने क्या किया और इसे योगफल क्या आयेगा? देखो न, यह बेचारे गुलाबचन्दभाई को रोग आया वह योगफल अभी, आहाहा! मुझे मार डालो, मुझे पटरी में, रेल की पटरी में ले जाओ, यह योगफल।

मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक अर्थात्, घड़े की पर्याय की करनेवाली तो मिट्टी है। आदि, मध्य, अन्त में मिट्टी है। घड़े की आदि में, मध्य में और अन्त में मिट्टी है। उसकी आदि में कुम्हार था, इसलिए घड़ा हुआ है, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : पागल कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल ही है, बापू! दुनिया पागल है। परमात्मप्रकाश में तो कहा है (कि) धर्मी जीव को पागल, पागल माने ऐसा है। पागल लोग धर्मी को पागल माने, यह क्या बात करते हैं पागल जैसी। आहाहा!

हल चलता है न हल, खेत, जहाँ खड्डा पड़ता जाये और धूल, वह हल खड्डे को स्पर्शा नहीं है, धूल को स्पर्शा नहीं है। यह तो कौन माने? सुनो, अब सुनो। एक हल चलता है न, उस हल को वह आदमी खड़ा है, वह ऐसे करे, उससे हल नहीं चलता, हल का परिणाम परमाणु है उसके हैं, उन परमाणुओं से स्वयं से हल चलता है। और वह हल धूल को स्पर्श नहीं करता और धूल में खड्डा दिखायी दे ऐसा।

अरे! अरे! देखो, यह हाथ यहाँ स्पर्शा नहीं, बिल्कुल स्पर्श नहीं करता, क्योंकि इस हाथ में और इसमें दो में अभाव है। तथापि यहाँ खड्डा दिखता है। देखो, ऐसे खड्डा होता है न, वह खड्डे की पर्याय उसके कारण से हुई नहीं। वे परमाणु के दल की वह पर्याय उस काल में वह होनेवाली थी, उस काल में वह हुई है। अर रर! ऐसी बातें हैं।

यहाँ तो 'मैं करूँ मैं करूँ यही अज्ञानता', सबका ऐसे कर दूँ, अमुक को ऐसे कर दूँ, ऐसे ठिकाने लगा दूँ। आहाहा! लड़कियाँ भी बड़ी, ठिकाने लगा दें (विवाह कर दें)। नहीं तो अपने कहाँ चले। लड़के भी बड़े हुए, ठीक में कन्य आवे तो ठीक कहलाये। साधारण कन्या आवे तो अपने घर का... मार डाला जगत को। नवरंगभाई! यह तुम्हारा सब पोल, यह लालूभाई! तुम्हारा अर्थात् इस जगत का। ऐसा है, बापू! क्या करें?

प्रभु! तेरी प्रभुता कोई अलग है। ऐसी प्रभुता में जो परिणाम अपने होते हैं, उस समय वह परिणाम अपने से हुए हैं और राग का ज्ञान हुआ, वह भी अपने से हुआ है, यह यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा! अभी तो दृष्टान्त चलता है, **आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर घड़े को ग्रहण करती है...** मिट्टी घड़े को पकड़ती है, घड़े की पर्याय मिट्टी करती है, **घड़ेरूप उत्पन्न होती है।** मिट्टी घड़ेरूप होती है, ग्रहण करती है अर्थात् क्या कहा? जरा सूक्ष्म बात है। वह घट की पर्याय उस काल में होनेवाली ही थी, उसे मिट्टी ग्रहण करती है, उसे पहुँचती है बस। घड़े की पर्याय जो है, उस काल में वह होनेवाली थी ही, उसे प्राप्य कहते हैं। होना है उसे प्राप्य कहते हैं, उसे मिट्टी ग्रहण करती है अर्थात् पहुँचती है। मिट्टी पहुँचती है, कुम्हार नहीं, आहाहा! अभी तो दृष्टान्त, फिर सिद्धान्त तो कठोर पड़ेगा। आहाहा!

घड़ेरूप परिणमित होती है और घड़ेरूप उत्पन्न होती है, घड़े की अवस्था, पहले जो अवस्था थी, उसे बदलती है, बदलती है स्वयं मिट्टी। घड़ा के पहले हो न, मिट्टी का

पिण्ड, वह पिण्ड की अवस्था बदलती है वह मिट्टी, और पिण्ड की अवस्था घटरूप होती है, वह मिट्टी करती है। मिट्टी का प्राप्य घड़ा, उस काल में वह पर्याय होनेवाली ही थी, उसे मिट्टी ने प्राप्य-ग्रहण किया है, और उस काल में पूर्व के पिण्ड की अवस्था का व्यय होने का ही था, हुआ, आहाहा! उसे मिट्टी, उसका विकार्य करती है, अर्थात् पलटाती है, और घड़ेरूप से उत्पन्न हुआ, उत्पन्न हुआ, मिट्टी उसरूप उत्पन्न हुई है। आहाहा!

अब यहाँ तो पूरे दिन हमने यह किया और यह किया, और यह किया और दुनिया को ऐसा किया और दुनिया को सुधारा। मार डाला जीव को। वह ज्ञातादृष्टा है, ऐसा इसने माना नहीं, और यह है, ऐसा माना, इसलिए वह मार डाला इसे। जीव को मरणतुल्य कर डाला है। पाठ है न? २८ कलश हैं। मरणतुल्य कर डाला, प्रभु! जीवन्तज्योति ज्ञातादृष्टा चैतन्य ज्योति को तूने नहीं स्वीकार कर राग का कार्य मेरा और पर के कार्य मेरे, इस समय तूने जीव की ज्योति का तूने अनादर किया, तूने मार डाला। आहाहा!

मिट्टी स्वयं घड़ेरूप उत्पन्न होती है, **उसी प्रकार,** यह दृष्टान्त। **उसी प्रकार जीव के परिणाम को...** अर्थात् कि जानने-देखने के परिणाम को, **अपने परिणाम को...** अर्थात् राग हुआ वह उसका-पुद्गल का परिणाम है। **अपने परिणाम के फल को...** अर्थात् हर्ष-शोक के परिणाम हुए, उस पुद्गल के फल को **न जानता हुआ ऐसा पुद्गलद्रव्य...** आहाहा! गाथा गजब आयी है! है न सामने, सामने पुस्तक है या नहीं? किस शब्द का अर्थ होता है। ऐई बापू! आहाहा! अरे रे! इसे कहाँ अवसर मिला है। मनुष्य भव, आहाहा! उसमें यह चीज़ न समझे और सम्यग्ज्ञान का डोरा न पिरोवे, तब तो वह सुई खो जायेगी। उसे यहाँ सम्यग्ज्ञान,... आहाहा! मैं तो एक ज्ञायक जाननेवाला हूँ, राग का ज्ञान, वह भी मुझसे हुआ है, वह राग का ज्ञान नहीं, यह यहाँ सिद्ध करना है। पुद्गल से ज्ञान के परिणाम हुए- राग से, ऐसा नहीं है, यह सिद्ध करना है।

देखो! जीव के परिणाम को और अपने परिणाम को, ऐसी अपने पहले व्याख्या हुई थी ऊपर। और अपने परिणाम में भी **न जानता हुआ ऐसा पुद्गलद्रव्य स्वयं परद्रव्य के परिणाम में...** अर्थात् अब क्या? आत्मा ज्ञायक है, उसके परिणाम यह राग और पुद्गल से... वह परद्रव्य है। आहाहा! राग—दया, दान, काम, क्रोध के भाव जो यह विकार हुआ, वह पुद्गल के परिणाम, वह पुद्गल का फल। अब कहते हैं कि यह पुद्गल के परिणाम

को, जीव के परिणाम को, पुद्गल के फल को नहीं जानता ऐसा पुद्गलद्रव्य, परद्रव्य के परिणाम में; परद्रव्य अर्थात् आत्मा, आत्मा के जानने-देखने का परिणाम वह राग की अपेक्षा से परद्रव्य के परिणाम हैं।

अब, यह अपने आप पढ़े तो कुछ समझ में आये ऐसा नहीं है। कभी। आँकड़ा... यह लोग आज आये हैं न मौके से, उन्हें खबर तो पड़े कि यहाँ कुछ दूसरी बात है। दुनिया में चलती है कुछ न कुछ गप्प गोला और यह कुछ दूसरा है। आहाहा!

क्या कहा? जैसे घड़ेरूप से उपजती है मिट्टी, निपजती है मिट्टी और बदलती है मिट्टी। पिण्ड का घड़ा हुआ। ऐसे पुद्गल, जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को राग को और अपने परिणाम के फल को नहीं जानता, ऐसा पुद्गलद्रव्य। रागादि जड़, पुद्गल जड़, राग जड़, वह सब एक पुद्गल में जाता है, वह स्वयं परद्रव्य के परिणाम में परद्रव्य के अर्थात् राग है, उससे परद्रव्य आत्मा, उसके जो ज्ञान के परिणाम, उस राग से परद्रव्य के परिणाम, ऐसा कहा जाता है। अरे रे! परद्रव्य के परिणाम में अर्थात् क्या कहा? समझ में आया? राग-द्वेष आदि परिणाम, वह जीव के परिणाम को नहीं जानते, उसके परिणाम को, उसे भी नहीं जानता, उसके फल को भी नहीं जानता, ऐसा पुद्गल है, राग आदि। आहाहा! वह राग **परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण नहीं करता।** आहाहा! धीरे से समझना, बापू! धीरे-धीरे अर्थ होता है। यह तो वीतराग तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव एक समय में तीन काल का ज्ञान, उनकी यह वाणी है, उसे सन्त तो आड़तिया होकर उनकी बात करते हैं। आहाहा! समझ में आया?

जो राग—पुण्य और पाप के परिणाम हुए न, पाप के हुए वे अपने को नहीं जानते, आत्मा के परिणाम ज्ञाता को नहीं जानते, उसके फल को अर्थात् राग के फल को हर्ष-शोक को नहीं जानता, वह पुद्गलद्रव्य स्वयं परद्रव्य के परिणाम में अर्थात् आत्मा के जानने-देखने के परिणाम में, आत्मा का सम्यग्दर्शन हुआ, उस सम्यग्दर्शन के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, वह राग अन्तर में जाकर, आहाहा! वह ज्ञान के परिणाम को यहाँ मध्य-अन्त में व्यापकर उसे ग्रहण नहीं करता। क्या कहा? भाई!

भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप, उसका भान होकर जो ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम हुए,

आनन्द के हुए, उसे राग है, वह राग को जानता नहीं, वह परिणाम को जानता नहीं, राग के फल को जानता नहीं। ऐसा पुद्गलद्रव्य रागादि, वह परद्रव्य के परिणाम अर्थात् आत्मा के ज्ञातादृष्टा के परिणाम जानने-देखने के भाव, आहाहा! उसे अन्तर्व्यापक होकर, राग अन्दर जाकर आदि-मध्य-अन्त में, यहाँ ज्ञान के परिणाम जो हुए, उसकी आदि में राग है, वह मध्य में है, ऐसा है नहीं। आदि-मध्य में-अन्त में व्यापकर उसे ग्रहण नहीं करता। क्या कहते हैं। आहाहा! प्रेमचन्दभाई! आये हो बराबर। आहाहा! ऐसी बात है, भगवान! क्या करें ? तू कौन है भाई!

कहते हैं कि जहाँ आत्मा का ज्ञान हुआ और ज्ञान के परिणाम, वस्तु तो ज्ञायक त्रिकाल है, उसके परिणाम जानने के हुए, समकित के हुए, शान्ति के हुए, आनन्द के हुए, उन परिणाम में राग का पुद्गल है, उसका ज्ञान हुआ, इसलिए वह राग कर्ता और यह ज्ञान के परिणाम उसका कर्म, वह राग अन्तर्व्यापक होकर ज्ञान के परिणाम को करता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

ऐसी बातें हैं, प्रभु! क्या हो ? अरे रे! जिन्दगी चली जाती है, उसमें यह न किया तो हो गया, वह तो पशु में-नरक और पशु अवतार, आहाहा! अरबोंपति व्यक्ति दूसरे दिन कूकड़ी के गर्भ में बच्चा हो, गाय के गर्भ में, आहाहा! अरे रे! क्योंकि जिसने आत्मा को सेवन नहीं किया और जाना नहीं और पुण्य-पाप को सेवन किया, वह कषाय है और कषाय है, वह आत्मा की वक्रता है। उस वक्रता को सेवन किया है, वे वक्रता में अवतरित होंगे। यह मनुष्य खड़ा है, यह तिर्यंच ऐसे आड़े हैं, गाय, भैंस। यह वक्रता की, वे वक्रता में जायेंगे। आहाहा! समझ में आया ? ऐसा उपदेश है, बापू! आहाहा!

परद्रव्य के परिणाम में अर्थात् ? राग है, वह पुद्गल के परिणाम हैं, वे परिणाम जीव के परिणाम को; परद्रव्य के परिणाम अर्थात् जीव के परिणाम को और ज्ञाता-दृष्टा के, आनन्द के मोक्षमार्ग के परिणाम को अन्तर्व्यापक होकर—यह राग अन्तर जाकर व्याप्त होकर, शुरुआत में राग था तो वह ज्ञाता के परिणाम हुए, ऐसा नहीं है। आहाहा! देवीलालजी! बापू! ऐसा तो सुनने को कभी मिले भाई। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू!

परद्रव्य के परिणाम में ? रागादि है दया, दान, काम, क्रोध के परिणाम, वे पुद्गल हैं और उनसे जो परद्रव्य के परिणाम अर्थात् आत्मा के जानने-देखने के परिणाम, वे

परद्रव्य के परिणाम हैं। समझ में आया? भाषा तो सादी आती है, प्रभु! परन्तु अब भाव समझना तो बापू! क्या हो प्रभु! तूने तेरी दया कभी नहीं की। पर की दया करने चल निकला, जो कर नहीं सकता। उसका भाव आवे, पर दया का, वह भी राग और जीव की हिंसा है। अररर! उस राग को भी... राग आया, परन्तु ज्ञानी जो आत्मा का जाननेवाला है, उसके परिणाम में राग है, इसलिए राग का ज्ञान हुआ, राग कर्ता और ज्ञान के परिणाम कर्म—ऐसा है नहीं। समझ में आया? दो-तीन लाईन में भी कठिन, भगवान! क्या करे? आहाहा!

मुमुक्षु : राग में प्रमेयत्व धर्म है

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो ज्ञेय है। ज्ञेय है और ज्ञायक है, वह भी व्यवहार है। राग है, वह ज्ञान के परिणाम का ज्ञेय है और ज्ञेय है, इसलिए यहाँ ज्ञान के परिणाम हुए, ऐसा नहीं, ऐसा। और यहाँ जाननेवाला है, और वह ज्ञात होता है, यह भी व्यवहार है। निश्चय से तो ज्ञान के परिणाम हैं, वे अपने परिणाम को स्वयं जानते हैं। आहाहा!

अरे रे! दुनिया कहाँ भटकती है और कहाँ,... इसे ऐसी बात सुनने को मिले, उसमें पाँच-पचास लाख रुपये हुए, करोड़-दो करोड़, देखो! वह तो बड़ा पागल। आहाहा!

मुमुक्षु : बहुत झेल सकता है पैसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहा?

मुमुक्षु : बहुत झेल सके।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी झेलता नहीं पैसा। पैसा मारे डाले, मर नहीं गया? दो अरब चालीस करोड़ थे, वह शान्तिलाल खुशाल, गोवा में, दो अरब चालीस करोड़। अपना पणाशणावाला, दशाश्रीमाली बनिया था। दो अरब चालीस करोड़। ६१ वर्ष की उम्र में उसकी बहू थी, उसे हेमरेज हो गया, उसे मुम्बई आकर आये हुए, दो-चार दिन रहे, वह महिला तो असाध्य थी, दो चार दिन हुए वहाँ ६१ वर्ष की उम्र। रात्रि में (कहा) मुझे दुखता है। दो अरब चालीस करोड़, साठ लाख के मकान तो वहाँ गोवा में। वहाँ एक चालीस लाख का, दस-दस लाख के दो। वह भाई पाँच मिनिट में (गुजर गये)। रिश्तेदार था, एक है परिचित भाई, डॉक्टर को बुलाओ, डॉक्टर को बुलावे वहाँ देह छूट गयी। जाओ भटकने

अब। आहाहा! अररर! यह दो अरब चालीस करोड़, उपजा होगा कहीं ढोर-बोर में मूल तो। नरक में न जाये, माँस और शराब न खाये (पीये) न। अर रर! प्रभु! प्रभु! क्या करे?

मुमुक्षु : वह तो सुख की मौत कहलाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : तो सुख की मौत कहलाये न? किसकी? वह मौत तो सुख की मौत कहलाये न? सुख की और ढोर में अवतरित हुआ वह सुख की। कषाय के भाव में ममता में देह छूटी। आहाहा!

यहाँ तो वे परद्रव्य के परिणाम हैं न, वह क्या है? राग और द्वेष के परिणाम, दया, दान के, काम-क्रोध के परिणाम, वे पुद्गल के हैं और उसकी अपेक्षा से परद्रव्य के परिणाम अर्थात् आत्मा के जानने-देखने के परिणाम, वे परद्रव्य के परिणाम कहलाते हैं। राग की अपेक्षा से वे परद्रव्य के परिणाम कहलाते हैं। आहाहा!

आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण नहीं करता, राग आत्मा के ज्ञान परिणाम को उत्पन्न नहीं करता। ध्रुव परिणाम जो ज्ञान परिणाम हुए, वहाँ राग को जानने के और अपने को जानने के जो ज्ञान परिणाम हुए, वे तो उस समय ध्रुव वे परिणाम ही होनेवाले थे। उन्हें राग ग्रहण करता है, राग उसे प्राप्य होकर उसे पकड़ता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अरेरे! **ग्रहण नहीं करता...** वह रागादि परिणाम **उसरूप परिणमित नहीं होता।** उसरूप वह आत्मा के जानने-देखने के परिणाम को, परिणामरूप से राग उत्पन्न नहीं होता और **उसरूप उत्पन्न नहीं होता...** ज्ञान के परिणामरूप राग उत्पन्न नहीं होता, ज्ञान के परिणाम से तो स्वयं अपने को पकड़ा है, आत्मा ने प्राप्य होकर ध्रुव, उस समय स्वयं उत्पन्न हुआ है और पूर्व से बदला है और स्वयं आत्मा, उस परिणाम को राग व्याप्त होकर करता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

बहुत कठिन, मोटाणी! अरे प्रभु! यह भाग्य बिना तो कान में न पड़े, ऐसी बात है। बापू! दुनिया के भाग्य तो धूल हैं, वह भाग्यशाली नहीं, भांगशाली है। आहाहा! यह चीज़ बापू! परम सत्य का भनकार कान में पड़े, वह भी भाग्य बिना पड़ता नहीं। भाई! समझे तो फिर और... आहाहा! वह उपजता भी नहीं.... विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १६८, गाथा-७९, दिनांक १४-०१-१९७९, रविवार, पौष कृष्ण-१

(श्री समयसार) ! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! वीतराग परमेश्वर जिनेश्वरदेव ऐसा फरमाते हैं कि जैसे मिट्टी घड़े को ग्रहण करे, बदले, व्यय करे और उपजे; वैसे जीव के परिणाम को; राग के परिणाम वे पुद्गल के परिणाम हैं, वह आत्मा के–जीव के परिणाम को नहीं जानता, ऐसा सिद्ध करना है। आहाहा !

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की अस्तिवाला अस्तित्व है। आहाहा ! प्रभु यह आत्मा जो है, वह तो अतीन्द्रिय सुख की अस्तिवाला उसका अस्तित्व है। ऐसे अस्तित्व का जिसे भान हुआ सम्यग्दृष्टि–ज्ञानी को, उसके अस्तित्व के परिणाम में पर्याय में निर्मल सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र जो वीतरागी परिणाम हैं, वे जीव के परिणाम है। आहाहा ! समझ में आया ? सूक्ष्म है, भाई ! वर्तमान चलता प्रवाह, इससे दूसरी जाति है, प्रभु ! आहाहा !

यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का भाव, वह आत्मा के परिणाम नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। अरे प्रभु ! वह तो विकार है। वह विकार है, वह पुद्गल के कारण से हुआ, वह पुद्गल का कार्य है। आहाहा ! कठिन बात। वह राग आदि परिणाम हो, उसे ज्ञातादृष्टारूप से जो जानने के काम को करे, यह जानना, श्रद्धा करना, मानना, स्वरूप में रमना, वह जो परिणाम वीतरागी परिणाम है, वे जीव के परिणाम हैं। आहाहा !

बहुत अन्तर, भाई ! आहाहा ! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव का यह हुकम है कि वे **जीव के परिणाम को...** है ? **अपने परिणाम को...** अर्थात् कि कर्म जो जड़ है, पुद्गल है, मिट्टी है कर्म, उसके परिणाम वह क्या है कि दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के परिणाम, वे कर्म के परिणाम हैं—ऐसा कहते हैं। वह भगवान आत्मा के परिणाम नहीं। आहाहा ! ऐसा है। दुनिया को तो ऐसा लगे, ऐसा है, कि यह क्या और आत्मा, नया ? प्रभु यह नया नहीं। अनादि का वीतराग जिनेश्वर परमात्मा का मार्ग यह है।

कहते हैं कि पुद्गल जो है, वह अपने परिणाम को नहीं जानता, अर्थात् राग जो होता है दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का, वह राग है। हिंसा, झूठ, चोरी का, वह राग स्वयं जानता नहीं। राग में ज्ञान का स्वभाव नहीं, इसलिए वह राग अपने को जानता नहीं। वह

राग जीव के सम्यग्दृष्टि के जीव के शुद्ध परिणाम को जानता नहीं, दो (बात)। जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को अर्थात् राग को राग जानता नहीं। राग है, वह जीव के परिणाम को जानता नहीं। जीव के परिणाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो वीतरागी परिणाम, वे जीव के परिणाम, उन जीव के परिणाम को राग परिणाम जानता नहीं; राग परिणाम राग को जानता नहीं और राग परिणाम अपने परिणाम के फल को जानता नहीं। राग का फल दुःख है, उसे वह जानता नहीं। आहाहा!

गाथा आधी तो चल गयी थी परन्तु फिर से (लेते हैं)। आज कितने ही नये हों न, भगवान का मार्ग तो ऐसा सूक्ष्म है, भाई! वीतराग का धर्म जिनेश्वरदेव तीन लोक के नाथ का धर्म तो वीतरागी परिणाम है। क्योंकि आत्मा स्वयं जिनस्वरूप है, यह आत्मा जो है अन्दर, वह जिनस्वरूप वीतरागमूर्ति आत्मा है, आहाहा! वह वीतरागमूर्ति है, उसमें से वीतराग परिणाम प्रगट होते हैं। आहाहा!

अरेरे! इस देह में... देह है, वह तो मिट्टी है, वह तो धूल है, पैसा-बैसा तो एक ओर रह गया, वह धूल कहीं रह गयी, कर्म अन्दर आठ हैं ज्ञानावरणी (आदि) वह भी मिट्टी और धूल जड़ है, परन्तु यहाँ तो तदुपरान्त अन्दर में राग के परिणाम व्रत के, तप के, भक्ति के, यात्रा के हों, या हिंसा, झूठ, चोरी के परिणाम हों, उन परिणाम को भी पुद्गल के परिणाम कहा गया है क्योंकि वह विकार है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं, स्वभाव से हुए नहीं।

यह भगवान आत्मा तो अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान और अनन्त प्रभुता की पवित्रता का पिण्ड की अस्तिवाला तत्त्व, वह अस्तिवाला, अस्तित्व तत्त्व को जिसने पकड़ा है, आहाहा! जिसके श्रद्धा में, ज्ञान में उस अस्तित्व को पकड़ा है, उसे धर्मी कहते हैं और उसके परिणाम जो रागरहित हुए, वे जीव के परिणाम कहलाते हैं। ऐसी कठिन बात है, बापू! आहाहा!

दुनिया क्या चलती है, वह सब खबर है न? यहाँ तो ८९ वर्ष हुए। सत्तर वर्ष से तो यह सब जगत का परिचय है। पूरी बात बहुत अन्तर, प्रभु! वीतरागमार्ग को और माने हुए अज्ञानी के मार्ग को बहुत अन्तर है। आहाहा! कहते हैं, प्रभु, सन्त कहते हैं, दिगम्बर सन्त

वे परमात्मा की वाणी ही कहते हैं। परमात्मा तीन लोक के नाथ जिनेश्वर के यह सन्त आड़तिया हैं। आहाहा! यह जिनेश्वर का मार्ग यह और माल यह है, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा!

कि एक तो राग जो है दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम... आहाहा! यहाँ जैसे मिट्टी घटरूप होती है, घट को ग्रहण करती है, मिट्टी के पिण्ड का व्यय करती है और घड़े की पर्याय को उपजाती है, वह सब मिट्टी का कार्य है, कुम्हार का नहीं; उसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द की अस्तिवाली अस्तित्व मौजूदगी चीज़ है, उसकी जिसने अन्दर में पकड़ की है, धर्मी सम्यग्दृष्टि ने आनन्द की अस्तिवाली मौजूदगी चीज़ है सत्ता, आहाहा! उसकी जिसने प्रतीति और ज्ञान किया है, वह प्रतीति और ज्ञान के परिणाम वे निर्मल और वीतरागी हैं। वे जीव के परिणाम हैं। उन जीव के परिणाम को राग परिणाम जानता नहीं। राग पुद्गल के परिणाम राग को जानता नहीं; राग का फल दुःख है, उसे वह राग का परिणाम जानता नहीं। आहाहा! यह तो आ गया है परसों। परन्तु यह पहले से है न। आहाहा!

ऐसा पुद्गलद्रव्य स्वयं... वह राग के भाव जो शुभ-अशुभ हों, वे पुद्गल के परिणाम हैं, वह पुद्गलद्रव्य स्वयं, वह पुद्गलद्रव्य है रागादि, आहाहा! गजब बातें! **स्वयं परद्रव्य के परिणाम में...** यह रागादि दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प और राग जो है, वह पुद्गल के परिणाम हैं। भगवान आत्मा तो शुद्ध चैतन्य है, पवित्र है, अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय वीतरागता का सागर है, उसके परिणाम तो वीतरागी हों, वे उसके परिणाम हैं और रागादि हों, वे पुद्गल के परिणाम हैं। वह पुद्गल के परिणाम जीव के परिणाम को नहीं जानते, अपने को नहीं जानते, उसका फल दुःख है, उसे नहीं जानते। है? **ऐसा पुद्गलद्रव्य स्वयं परद्रव्य के परिणाम में...** परद्रव्य का परिणाम अर्थात् आत्मा के वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान के परिणाम, वे राग के परिणाम की अपेक्षा से परद्रव्य के परिणाम हैं, ऐ नवरंगभाई! ऐसा है, बापू! क्या हो?

अनन्त काल से भटकता है ८४ के अवतार कर-करके, अनन्त नरक के किये, अनन्त निगोद के, लहसुन और प्याज के अनन्त भव किये, आहाहा! एक मिथ्यात्व के

कारण, वह मिथ्यात्व क्या है, उसकी इसे खबर नहीं। आहाहा! यह राग जो दया, दान, व्रत, यात्रा का हो, उस राग को अपना मानना, वह मिथ्यात्वभाव है। वह मिथ्यादृष्टि है और उस मिथ्यादृष्टि में अनन्त भव करने की ताकत है। ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा!

वह **परद्रव्य के परिणाम में...** अर्थात्? जो शुभ-अशुभभाव हुए, वह शुभ विकार है और भगवान आत्मा तो निर्विकारी शुद्ध पवित्र अनन्त गुणों के अस्तिवाली सत्ता है, तो ऐसे शुद्ध स्वभाव की सत्तावाला प्रभु, उसके परिणाम तो शुद्ध होंगे, वे शुद्ध परिणाम हैं, वे राग के परिणाम की अपेक्षा से परद्रव्य के परिणाम हैं। आहाहा! कहो, प्रेमचन्दभाई! यह लन्दन में कुछ मिले ऐसा नहीं। भाई लन्दन में रहते हैं, वहाँ अपना वाँचन करते हैं। लन्दन में रहते हैं। आठ दिन से आये हैं। वहाँ लन्दन में वाँचन करते हैं, अफ्रीका में वाँचन करते हैं, वह वहाँ तो बड़ा महाजन है। अरे! प्रभु! मार्ग परमात्मा त्रिलोकनाथ का अब अलग है भाई! आहाहा! राग है, वह जैन का मार्ग नहीं। जैन का मार्ग वीतराग परिणाम, वह जैन का मार्ग है और वह वीतराग परिणाम है, वह वीतरागी द्रव्य है, उसके आश्रय से होते हैं। ऐसे जो वीतरागी परिणाम जो धर्म, मोक्ष का मार्ग, वह राग के परिणाम पुद्गल की अपेक्षा से वे परद्रव्य के परिणाम हैं। कहो, शशीभाई! गाथायें ऐसी आयी हैं। आहाहा! धीरे से समझने जैसा है, प्रभु! अनन्त काल से भटकता है, भाई! यह दुःखी है, दुःखी है। परमात्मा जिनेश्वरदेव ने जो कहा मार्ग, उसे इसने अनन्त काल में एक सेकेण्डमात्र भी जाना नहीं और अपनी स्वच्छन्दता से कल्पना से धर्म माना और भटका है। आहा! आहाहा! ऐसी बात बैठना कठिन।

परद्रव्य के परिणाम में... अर्थात् क्या समझना? जो कुछ शुभ-अशुभभाव हों, वे तो विकृत हैं न? और आत्मा का स्वभाव विकृत नहीं; आत्मा का स्वभाव अत्यन्त निर्विकारी त्रिकाल है; इसलिए उसके परिणाम तो निर्विकारी परिणाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-शान्ति वीतरागता, यह उसके परिणाम। वे परिणाम राग के परिणाम की अपेक्षा से परद्रव्य के परिणाम हैं। धीरे से समझना, प्रभु! यह तो कोई वार्ता नहीं, यह कोई कथा नहीं। एक चिड़िया लायी चावल का दाना और चिड़ा लाया मूँग का दाना और बनायी खिचड़ी, और कुम्हार को देकर, घड़ा दिया और बातें करते न लड़के, बापू! यह तो तीन लोक के नाथ

वीतराग परमेश्वर ने सर्वज्ञरूप से जाना और देखा, वह उन्होंने कहा, वह यह है। आहाहा! समझ में आया?

यह शुभ परिणाम है दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा के, उसे यहाँ विकार है न? इसलिए जीव का स्वभाव जो त्रिकाल है, वह तो शुद्ध है, उसके अनन्त गुण हैं, अनन्त गुणों की अस्तिवाला तत्त्व परन्तु वह तो सब अनन्त गुण पवित्र और शुद्ध वीतरागस्वभावी है, इससे जिसने ऐसे वीतरागी स्वभाव आत्मा की जिसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान में अस्ति ज्ञात हुई, पूर्ण शुद्धस्वभाव का भरपूर भगवान, ऐसी जिसे अस्ति परिणाम में ज्ञात हुई, वह परिणाम तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान और वीतरागी है। आहाहा!

उस जीव के परिणाम को, राग के परिणाम जो हैं, वे विकृत हैं, वे जीव के नहीं। वे पुद्गल के परिणाम गिनकर वह राग, दया, दान, व्रत के परिणाम को पुद्गल का परिणाम गिनकर, क्योंकि मलिन स्वभाव जीव का नहीं है, इसलिए मलिन परिणाम वे पर्याय में हुए, वे जीव के नहीं। आहाहा! वह पुद्गल का कार्य है, वह पुद्गल के परिणाम, परद्रव्य के परिणाम अर्थात् वीतरागी भगवान के, आत्मा के परिणाम जो शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और वीतरागता है वह, उस परद्रव्य के परिणाम को राग जानता नहीं। है? आहाहा!

वे **परद्रव्य के परिणाम अन्तर्व्यापक होकर...** आहाहा! भगवान आत्मा में एक अकार्यकारण नाम का गुण है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! भगवान ने-परमेश्वर ने ऐसा कहा है कि आत्मा में एक अकार्यकारण नाम का गुण है पवित्र। सब गुण पवित्र हैं न? आहाहा! वह अकार्यकारण नाम का गुण है, इसलिए उस गुण का कार्य जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, उस कार्य में राग कारण है और वह परिणाम कार्य है, ऐसा नहीं है। तथा वह वीतरागी परिणाम कारण है और राग कार्य है, ऐसा नहीं है। ऐसा मार्ग भारी कठिन, भाई! आहाहा! यह वीतराग के अतिरिक्त, यह कहीं अन्यत्र है नहीं, किसी मार्ग में। सब मार्ग अज्ञानी ने एक-एक कल्पित किये हैं।

यह तो परमात्मा जिनेश्वरदेव, त्रिलोकनाथ विराजते हैं। महाविदेह में बीस परमात्मा तीर्थंकर महाविदेह में समवसरण में विराजते हैं। इन्द्रों के समक्ष प्रभु की वाणी निकलती है। वह वाणी सुनने कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त गये थे, वह लाकर यह बात लाये। भाई! प्रभु तो ऐसा कहते हैं। प्रेमचन्दभाई! ऐसी बातें हैं।

प्रभु का यह फरमान है कि जो राग होता है, वह आत्मा के परिणाम नहीं, क्योंकि आत्मा के गुण हैं, वे सब पवित्र, निर्मल हैं; इसलिए राग परिणाम उसका नहीं है। आहाहा! वह राग परिणाम पर्याय में हुए, परन्तु वे पुद्गल के कारण से, पुद्गल के निमित्त के सम्बन्ध में हुए, इसलिए वे पुद्गल के परिणाम हैं। वे पुद्गल के परिणाम, आत्मा के— परद्रव्य के परिणाम अर्थात् मोक्षमार्ग जो परिणाम निर्विकारी, वह परद्रव्य इस राग की अपेक्षा से परद्रव्य के परिणाम, उसे यह राग ग्रहण नहीं करता। है ? वे **परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर...** राग अन्तर में मदद मिलकर **आदि-मध्य-अन्त में...** जीव के जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम उसमें राग अन्तर्व्यापक होकर, **आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण नहीं करता।** आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, पंच महाव्रत के परिणाम का राग, शास्त्र परवस्तु है, उसके पठन का राग, आहाहा! वे राग के परिणाम पुद्गल के गिनकर, जीव के वीतरागी परिणाम परद्रव्य के गिनकर, वे राग के परिणाम वीतरागी परिणाम को ग्रहण नहीं करते। वह वीतरागी परिणाम हुए, उनकी आदि में राग था, ऐसा नहीं है। वे वीतरागी परिणाम धर्म के हुए, उनके मध्य में राग था, ऐसा नहीं है। वे वीतरागी परिणाम धर्म के हुए, उनके मध्य में राग था, ऐसा नहीं है तथा वीतरागी परिणाम हुए, उसमें राग अन्त में था, ऐसा नहीं है। आहाहा! शशीभाई! ऐसा है, बापू! भाषा तो सादी है, भाई! कोई संस्कृत और व्याकरण और ऐसी कोई यह विद्वतता नहीं है। आहाहा! यह तो अन्तर की बातें भगवान तीन लोक के नाथ जिनेश्वर, इन्द्र और गणधरों के बीच कह रहे थे, वह कही हुई बात, वह बात आयी है। आहाहा! भाग्यवान को तो कान में पड़े, ऐसी बात है। यह समझने की बात तो एक ओर रह गयी। आहाहा!

कहते हैं कि वह राग जो शुभभाव—भगवान की भक्ति का, विनय का, पूजा का, दान का, दया का, आहाहा! वे परिणाम पुद्गल के परिणाम कहे। क्योंकि जीव के परिणाम निर्मलस्वरूप है, उसके परिणाम निर्मल होते हैं। इसलिए राग परिणाम पुद्गल के कहकर वह राग परद्रव्य के परिणाम हैं अर्थात् आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम को वह राग आदि में ग्रहण नहीं करता, मध्य में नहीं, परन्तु उस निर्मल परिणाम को राग स्पर्श भी नहीं करता। आहा! कहो, धीरुभाई! ऐसा मार्ग है। ऐसी बातें! ऐसा कहे न, नया कहाँ

से निकाला, ऐसा (लोग) कहते हैं। प्रभु! नया नहीं, भाई! मार्ग अनादि का तीर्थंकर त्रिलोकनाथ जिनेश्वर प्रभु का यह मार्ग है, भाई! तुझे सुनने को नहीं मिला हो, इसलिए नया लगता है, ऐसा (नया) नहीं है। आहाहा! चिमनभाई! आहाहा!

वह **परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण नहीं करता।** आहाहा! यहाँ जो सम्यग्दर्शन के परिणाम हुए, उन्हें राग है, वह पकड़ता नहीं। आहाहा! **उसरूप परिणमित नहीं होता।** राग समकितदर्शन के परिणामरूप, मिथ्यात्व का पलटा मारकर वह नहीं परिणमा है। **उसरूप उत्पन्न नहीं होता।** सम्यग्दर्शन के परिणामरूप राग उत्पन्न नहीं होता। आहाहा!

अब अभी तो यह व्यवहार राग साधन और निर्मल परिणाम साध्य, ऐसा (लोग) कहते हैं। प्रभु! दुनिया बहुत फेरफार में है। भाई! वीतराग परमेश्वर का मार्ग उसे सुनने को मिला नहीं। प्रभु! भगवान तो इस जीव को भगवानरूप से बुलाते हैं। आहाहा! क्योंकि स्वयं स्वरूप राग-द्वेष बिना का स्वरूप है, वह भगवन्तस्वरूप है। आहाहा! वह तो जिनस्वरूप है। उस जिनस्वरूप के परिणाम राग कहाँ से होगा? इससे उस राग के परिणाम को पुद्गल के परिणाम गिनकर, वह राग है, वह जीव के परिणाम में आदि-मध्य-अन्त में ग्रहण नहीं करता; राग वहाँ उपजता नहीं और राग उसे परिणमाता-बदलाता नहीं। आहाहा! है?

यहाँ तक तो परसों आया था। कल तो सज्झाय थी, परसों यहाँ तक आया है। परन्तु वह पहला क्या है, उसे समझाये बिना, 'परन्तु' का नहीं बैठे, इसलिए फिर से लिया, यह शशीभाई और वापस पहले-बहले हैं न? आहाहा! भगवान! पागल जैसी बातें लगे, ऐसी है, हों! आहाहा! क्योंकि दुनिया की रीति लोगों ने पूरी बदल डाली। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा के शुभभाव को लोगों ने धर्म मनाया है। आहाहा! और धर्म का कारण मनाया है। वह यहाँ इनकार करते हैं।

मुमुक्षु : पंचम काल में ऐसा हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : पंचम काल! अरे प्रभु! क्या करे? पंचम काल आत्मा को कहाँ लागू पड़ता है? आत्मा को पंचम काल कैसा, प्रभु? आहाहा! आत्मा को अवधि कैसी?

कि भाई इस शरीर को ८९-९० हुए, वे आत्मा को ८९-९० ऐसा है ? यह तो धूल की दशा को हुए ८९। प्रभु तो अनादि-अनन्त नित्य है। प्रभु अन्दर तो... आहाहा!

कहा नहीं एक बार जामनगर में, एक लड़का जवान था। यहाँ २५-३० लाख रुपये की दुकान नयी करनी होगी, सबको कितनों को ऐसा कि महाराज के दर्शन कर आवें, फिर ऐसा माने लोग कि ठीक चलता है। मैंने इतना पूछा, भाई! कहा, यह पच्चीस-पचास वर्ष और साठ वर्ष कहलाते हैं, वे शरीर के या आत्मा के ? तो वह कहे, मैं कुछ जानता नहीं। अर र र! यह उम्र जिसे कहा जाता है कि भाई! साठ हुए और सत्तर हुए, वे शरीर को या आत्मा को ? बापू! वह तो जड़ की स्थिति की बात है, आत्मा तो अनादि-अनन्त है। आत्मा को अवधि कैसी ? अरे रे! बातें फेरफार करके मार्ग विकृत कर डाला है। उसे भगवान प्रसिद्ध करके जाहिर करते हैं। आहाहा! भाई! ऐसा यह राग का भाव, उसे पुद्‌गल के परिणाम गिना। जीव शुद्ध है, उसके वे परिणाम कैसे हों ? ऐसा कहते हैं। शुद्ध द्रव्य, शुद्ध गुण के मलिन परिणाम कैसे हों ? आहाहा!

इसलिए उन मलिन परिणाम को पुद्‌गल के गिनकर और वे परिणाम आत्मा के सम्यग्दर्शन के परिणाम को ग्रहता, उपजता और बदलाता नहीं है और आत्मा में भी ऐसा अकार्यकारण नाम का गुण है कि जिससे सम्यग्दर्शन-ज्ञान के परिणाम हुए, वे राग कारण और यह कार्य, ऐसा उसमें नहीं है। तथा मोक्ष का मार्ग जो प्रगट हुआ अन्दर दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह कारण और राग कार्य - ऐसा नहीं है। आहाहा! परमाणु में भी ऐसा है। चिमनभाई! परमाणु में भी अकार्यकारण नाम का गुण है। आहाहा! यह सवेरे विचार करता था। आहाहा! वास्तव में तो वे पुद्‌गल के परिणाम हैं, वह भी धर्म का कारण हो, ऐसा नहीं है, तथा धर्म परिणाम का वह राग कार्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

बैठे उतना बैठाओ, प्रभु! क्या करे ? आहा! अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त का पार नहीं, इतने गुण, पवित्र से भरपूर प्रभु तू है, आहाहा! उन पवित्र... पवित्र... पवित्र... निर्मल गुणों का धनी-नाथ, उसके परिणाम मलिन कैसे हों ? कहते हैं। तो द्रव्य को उसने जाना नहीं। समझ में आया ?

जिसने मलिन परिणाम मेरे हैं, ऐसा माना है, उसने अनन्त पवित्र गुण का धनी मैं

हूँ—ऐसा उसने जाना नहीं। अनन्त पवित्र गुण का धनी जिसने जाना, उसके परिणाम तो पवित्र वीतरागी शान्त निर्दोष परिणाम होते हैं। उन निर्दोष परिणाम को, राग सदोष पुद्गल परिणाम उन्हें नहीं करता। आहाहा! ऐसी बातें हैं। इसमें ७५-७६-७७-७८-७९ ये पाँच गाथायें मौके से हमारे प्रेमचन्दभाई बराबर आये हैं मौके से। आहाहा! वीतराग का मक्खन है। जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का यह फरमान है, भाई! सम्प्रदाय में न चले, इसलिए कहीं बात खोटी हो जाये सत्य (हो) वह? समझ में आया?

ऐसा होने पर भी, **परन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला स्वभावरूप कर्म (कर्ता के कार्य)....** क्या कहते हैं अब? यह पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वे प्राप्य अर्थात् हुए हैं, उस काल में वे प्राप्य कहलाते हैं। उन्हें पुद्गल प्राप्त-ग्रहण करता है। जिस काल में पुण्य और पाप के भाव हुए, वह प्राप्य ध्रुव है, उन्हें पुद्गल ग्रहण करता है, आत्मा नहीं। अरे! ऐसी बातें अब। कहो, जयन्तीभाई! किसी ने सुनी न हो, ऐसी है, बापू! खबर नहीं? दुनिया की तो खबर है न, बापू! वीतराग परमेश्वर (का) ऐसा मार्ग कहीं है नहीं। वीतराग के अतिरिक्त कहीं किसी पंथ में यह मार्ग है ही नहीं। आहाहा! वेदान्त जो कुछ व्यापक और सर्वव्यापक, वह भी एकान्त मिथ्यात्व है। आहाहा!

यहाँ तो परिणाम परिणाम की बातें करते हैं। आहाहा! राग के परिणाम वे पुद्गल का प्राप्य है, राग के परिणाम वे प्राप्य अर्थात् ध्रुव है पुद्गल का। पुद्गल उसे ग्रहण करता है; विकार्य पुद्गल उसे बदलाता है, पुद्गलरूप उपजता है राग, पुद्गल उपजता है। ऐसा व्याप्य अर्थात् कार्यलक्षणवाला अपने स्वभावरूप कर्म अपने स्वभावरूपी कार्य कर्ता का। **उसमें पुद्गल स्वयं अन्तर्व्यापक होकर...** आहाहा! कठिन काम। शुभ-अशुभभाव में पुद्गल अन्तर्व्यापक होकर, वे हुए हैं। उस काल में उन्हें पुद्गल ने ग्रहण किया है, पुद्गल परिणमता है और पुद्गल उसमें उपजता है। आहाहा! क्योंकि जीवद्रव्य जो है प्रभु, आहाहा! उसका जिसे भान हुआ, उसकी बात है। जिसे भान नहीं (कि) जीवद्रव्य की पूर्ण शुद्ध पवित्र सत्तावाला यह तत्त्व है, उसकी खबर नहीं, वह तो राग के परिणाम को अपना कार्य मानता है और मिथ्यात्व का सेवन करता है और चार गति में भटकता है। आहाहा!

आज मकरसंक्रान्ति है। आहाहा! सूर्य बदलेगा, ऐसा कहते हैं न? आहाहा! ऐसे भगवान का सूर्य अनादि का राग में एकरूप मानता था। आहाहा! उसे संक्रमण कर दिया, बदल दिया। यह राग, यह पुण्य, दया, दान, यात्रा के परिणाम वह मैं नहीं, क्योंकि मेरा स्वरूप है, वह पवित्र है और पवित्रता के परिणाम पवित्र होते हैं, पवित्रता के द्रव्य-गुण के परिणाम पवित्र होते हैं। द्रव्य पवित्र, गुण पवित्र और उसके परिणाम पवित्र, वीतरागी परिणाम होते हैं। आहाहा! लॉजिक से, न्याय से पकड़ना चाहिए न?

बापू! यह तो भगवान का मार्ग निराला है, ऐसा है। आहाहा! ऐसे राग के परिणाम को, आहाहा! है? उसमें स्वयं अन्तर्व्यापक होकर... आहाहा! प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा व्याप्यलक्षणवाला, कार्यलक्षणवाला अपने स्वभावरूप कार्य पुद्‌गल, उसमें पुद्‌गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, राग के, पुण्य के परिणाम में वह पुद्‌गलद्रव्य आदि-मध्य में, आदि में पुद्‌गल, मध्य में पुद्‌गल और अन्त में पुद्‌गल। आहाहा! उस राग की आदि में भगवान आत्मा, मध्य में या अन्त में नहीं है। आत्मा उसे कहते नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अब अनजाने गाँव में जाये न मुम्बई जैसे में, उसे दृष्टान्त-दलील करके समझाना पड़े। दूसरा क्या हो? आहाहा!

उसमें पुद्‌गल स्वयं अन्तर्व्यापक होकर। किसमें? अपने परिणाम जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप के परिणाम में, पुद्‌गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर शुरुआत में, मध्य और अन्त में वह पुण्य-पाप के भाव को पुद्‌गल ग्रहण करता है, (वह) उसका प्राप्य है। ग्रहण अर्थात् प्राप्य। **उसरूप परिणमता है।** वह बदलाता है, **उसरूप उत्पन्न होता है।** पुद्‌गल। आहाहा! अरे! ऐसा! अरे! ८४ के अवतार में दुःखी-दुःखी, हाथ कट जाये, पैर कट जाये, आँखें फूट जाये, ऐसे अवतार अनन्त हुए हैं। अकेला तड़पे अरे! हाय... हाय...! बापू! तू कौन है, प्रभु? इन शरीर के टुकड़े हों, उसमें तेरा कुछ नहीं है। तू तो अन्दर अखण्ड है। आहाहा!

अखण्ड, एक अखण्ड, आता है न? उसमें अपने अखण्ड एक लिखा है, चौका है न वहाँ? आज देखा था वहाँ। एक अखण्ड ज्ञायक एक अखण्ड, नहीं? चौका है सामने परन्तु उसमें है अखण्ड एक, यह ३२० गाथा में। आहाहा! भगवान आत्मा अखण्ड है,

जिसमें पर्याय का भी भेद नहीं। एक स्वरूप सामान्य ऊर्ध्वप्रवाह ध्रुव, कायम रहनेवाला वह है... है... है... है... है... है... है... है... है। परम पवित्रता के गुण का धाम भगवान है... है... है... है... है, वह सामान्य द्रव्य, उसे सामान्य द्रव्य कहते हैं। उस द्रव्य की जिसे दृष्टि हुई है, उस द्रव्य का जिसे ज्ञान हुआ है, उसके परिणाम तो वीतरागी गिनने में आये हैं प्रभु के। उसे जो मलिन परिणाम होते हैं, वे इन वीतरागी परिणाम को ग्रहण नहीं करता, उपजता नहीं। अपने परिणाम को ग्रहे-उपजे और परिणमता है। आहाहा!

शब्द-शब्द में अन्तर, बहुत अन्तर लगे। एक घण्टे की ऐसी बातें। अब उसमें अभी तो आधा-पौन घण्टा हुआ है। भाई! परमात्मा जिनेश्वरदेव, भाई! उनकी वाणी गणधरों को और इन्द्रों को सुनने मिलती है, आहाहा! वह वाणी कैसी होगी? आहाहा! भाई! वह वाणी यह है। आहाहा!

इसलिए जीव के परिणाम को... क्या कहा? पुद्गल रागादि के परिणाम जीव के परिणाम के आदि-मध्य-अन्त में ग्रहे, उपजे और परिणमाता नहीं। परन्तु वे राग के परिणाम अपनी आदि-मध्य-अन्त में स्वयं अपने को ग्रहण करते हैं, परिणमते हैं और उपजते हैं। आहाहा! ऐसा कठिन है यह। अपने आप पढ़े तो कठिन पड़े, ऐसा है। बापू! मार्ग प्रभु का, वह वीर का मार्ग है, भाई!

'वचनामृत वीतराग के परम शान्त रस मूल;
औषध जो भवरोग के कायर को प्रतिकूल।'

आहाहा! प्रभु की वाणी परम शान्तरस मूल है। अर्थात् कि उसके परिणाम शान्तरस है, यह बतलानेवाली है। आहाहा! परम शान्तरस वीतराग परिणाम, वह जिनवाणी का फल है। आहा! औषध जो भवरोग के। चार गति के परिभ्रमण की वह औषधि है, वीतराग की वाणी का भाव (औषधि है), परन्तु कायर को प्रतिकूल पड़े। ऐसा-वैसा होता है? ऐसा मार्ग होगा? तो यह सब व्यवहार लोप हो जायेगा। ऐसा कहते हैं, दलील करता है न? व्यवहार का लोप करना, वही निश्चय की प्राप्ति है। आहाहा! व्यवहार का राग, वह पुद्गल के परिणाम हैं, मेरे नहीं, ऐसी जिसे दृष्टि द्रव्य के ऊपर हुई, उसके परिणाम वीतरागी होते हैं। आहाहा! उन वीतरागी परिणाम को पुद्गल के परिणाम ग्रहण नहीं करता, उपजाता

परिणमाता नहीं, परन्तु अपने परिणाम को ग्रहण करता है, उपजाता है और परिणमाता है। आहाहा!

इसमें पानी का छानना तो कहीं रह गया। भाई का प्रश्न था न उस दिन, नानालालभाई के मकान में, गत वर्ष होगा, कौन सा वर्ष था, नहीं? छठा (२००६) वर्ष, उसे बहुत वर्ष हो गये। अट्ठाईस वर्ष हुए। आहाहा!

इसलिए जीव के परिणाम को... अर्थात् कि जीव जो द्रव्य और गुण शुद्ध है, उसकी जिसे दृष्टि हुई है, उसके परिणाम को। आहाहा! यह दृष्टि है, वह जीव के परिणाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्शान्ति, वे जीव के परिणाम। उन **जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को...** अर्थात् राग के परिणाम को **अपने परिणाम के फल को...** राग का फल दुःख है, वह पुद्गल का परिणाम जानता नहीं। उस फल को नहीं जानता। आहाहा! पुस्तक सामने है या नहीं भाई? संसार में नामा मिलाता है या नहीं? वह कहे, मैं पाँच हजार तुमसे माँगता हूँ, यह कहे मैं दस हजार माँगता हूँ, यह रहे, देखो पढ़ो-मिलाओ। वहाँ मिलावे दशहरे के दिन दीवाली के नाम से। वह यह नामा भगवान क्या कहते हैं, और मैं क्या मानता हूँ, वापस उसे मिलान नहीं करता। ऐई! आहाहा!

ऐसा परद्रव्य पुद्गलद्रव्य प्राप्य, **जीव के परिणाम को...** अपने अर्थात् राग के परिणाम को, जीव के निर्मल परिणाम को और **अपने परिणाम के फल...** दुःख को **नहीं जानता ऐसा पुद्गलद्रव्य...** राग-द्वेष के परिणाम का द्रव्य पुद्गल, वह **प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्य परिणामस्वरूप कर्म...** आहाहा! ऐसा व्याप्य लक्षणवाला परद्रव्य परिणामस्वरूप कर्म, **उसे नहीं करता।** आहाहा! अपने व्याप्य जो रागादि में वह पुद्गल, वह जीव के परिणाम को-परद्रव्य के परिणाम को अर्थात् जीव के वीतरागी परिणाम को नहीं करता। वह वीतरागी परिणाम धर्म के परिणाम को राग परिणाम नहीं करता। आहाहा!

कहो, अब ऐसी बातें हैं। वे कहे कि पूजा, व्रत और यह राग और वह बन्ध का कारण, यह तो साधारण। और ११० कलश में तो ऐसा भी कहा है न? ११० कलश में, भाई! मिथ्यादृष्टि का शुभ परिणाम बन्ध का कारण है, वैसे सम्यग्दृष्टि का भी बन्ध का

कारण है, उसे व्रत नियम का विकल्प है, वह भी बन्ध का कारण कहा है। ११० कलश में, कलश में है, कलश, कलश। आहाहा!

प्रभु! प्रभु! प्रभु! सत् को सत्य रीति से स्वीकार कहने में भी अभी जिसका नकार। आहाहा! अरे! वह सत्य को प्राप्त कब करे? असत्य जो राग है, वह स्वरूप में नहीं, उसे अपना मानकर असत् श्रद्धा करे, आहाहा! वह सत् भगवान आत्मा चिदानन्द प्रभु को कब प्राप्त करे? अरे! अनादि से दुःख को भोग रहा है, जो निश्चय से पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा! सुख-दुःख के (परिणाम) आ गया है न?

मुमुक्षु : व्रत और भक्ति करने पर भी स्वयं अपने को नहीं जानता... उसे राग होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं जानता राग। क्या कहा? यह राग है, उसे धर्म मानता है। वह अज्ञानी उसे धर्म मानता है। ज्ञानी है, वह राग होता है, उसका ज्ञान करता है। राग तो ज्ञानी को भी आता है, परन्तु उस राग का ज्ञान, वह आत्मा का ज्ञान। राग, वह आत्मा का नहीं। आहाहा!

इन्होंने लन्दन में वाँचन शुरु किया है। सात-आठ लोग इकट्ठे होते हैं सब। अफ्रीका में अधिक है, नैरोबी, वहाँ तो बड़े साठ घर हैं न? यहाँ का वाँचन करते हैं, पच्चीस-तीस वर्ष से। बापू! यह वस्तु है, बापू! भाई! यह तो परमात्मा की कही हुई इन्द्रों और गणधरों ने सुनी हुई, उसमें कुन्दकुन्दाचार्य अनुभवी समकिती मुनि थे, उन्होंने यह सुनकर यह वापस यहाँ लाये। आहाहा! भाई! तेरी अस्ति कैसी, कितनी और कैसी है? प्रभु! तेरी अस्ति अनन्त-अनन्त गुण की पवित्रता की अस्ति तू है। आहाहा! ऐसी अनन्त गुण की पवित्रता की अस्ति की मौजूदगी का जिसने अस्तित्व स्वीकार किया। ऐसा अस्तित्व जिसने स्वीकार किया, वह सम्यग्दृष्टि। वह सम्यग्दर्शन के परिणाम, वे जीव के परिणाम हैं और सम्यग्दर्शन के परिणाम के आदि-मध्य-अन्त में आत्मा व्यापकर वहाँ रहा है। उसके परिणाम को राग परिणाम आदि-मध्य-अन्त में नहीं है। परन्तु राग के परिणाम में आदि-मध्य-अन्त में पुद्गल है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

यह व्याप्यलक्षणवाला अर्थात् कार्यवाला राग और द्वेष के कार्यवाला जो पुद्गल

का कार्य, वह परद्रव्य परिणामस्वरूप कार्य अर्थात् आत्मा के निर्विकारी सम्यग्दर्शन-ज्ञान के परिणामरूपी कार्य, उसे नहीं करता होने से, उसे राग नहीं करता होने से। अब यहाँ व्यवहार करता है, ऐसा अभी तो लोग कहते हैं।

यहाँ तो व्यवहार का राग है, उसे पुद्‌गल के परिणाम में गिना है। आहाहा! और वे परिणाम इस निर्मल परिणाम को **नहीं करता होने से, उस पुद्‌गलद्रव्य को जीव के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।** आहाहा! वह परद्रव्य परिणामस्वरूप ऐसा कार्य आत्मा का पवित्र परिणाम जो आत्मा के, वह जीव का कार्य, वह राग की अपेक्षा से परद्रव्य के परिणाम का कार्य। हाँ, अपनी अपेक्षा से स्वद्रव्य का कार्य। आहाहा! शब्द में अन्तर, शब्द में अन्तर, ऐसा कहते हैं न? वे कहते हैं न लोग, 'आनन्द कहे परमानन्दा माणसे माणसे फेर, एक लाखे तो न मळे ने एक त्रांबीयाना तेर।' इसी प्रकार यहाँ प्रभु कहते हैं कि तुझे और मेरे, अरे बापू! बात-बात में अन्तर है, भाई! आहाहा! प्रभु का मार्ग अलग है!

यह जीव के परिणाम, तो जीव अर्थात् आत्मा। आत्मा अर्थात पवित्रता का पिण्ड, पवित्र गुण का पिण्ड प्रभु। वह पवित्रता के गुण के पिण्ड का कार्य पवित्र है। यह राग उसका कार्य नहीं। आहाहा! यह राग और पुण्य-पाप के परिणाम का कार्य, वह पुद्‌गल का है। वे पुद्‌गल के परिणाम जीव के परिणाम वीतरागी सम्यग्दर्शन आदि के परिणाम, उसे वह नहीं करता। आहाहा! है? **उसे नहीं करता होने से....** उसे अर्थात्? परद्रव्यपरिणाम अर्थात्? राग से भिन्न ऐसा भगवान, उसके जो परिणाम वीतरागी परिणाम, उसे राग नहीं करता होने से। एक गाथा में तो गजब काम है न? यह तो वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी है, भाई! यह कहीं कथा-वार्ता नहीं है। यह तो भगवत्‌स्वरूप आत्मा, उसके परिणाम और राग के परिणाम दोनों भिन्न हैं, ऐसा बतलाना है। आहाहा!

अभी तो बड़ा विवाद उठाते हैं कि यह पूजा, भक्ति और व्रत, यह सब धर्म है। अरे प्रभु! वह तो विकल्प है, राग है, भाई! परसन्मुख के लक्ष्यवाली वृत्ति है। आहाहा! और पुण्य-पाप (अधिकार) में कहा है न? कि जब तुम इस शुभ-अशुभभाव का निषेध करोगे, तो मुनि को शरण क्या? आता है न? कि उन्हें शरण है आत्मा। आहाहा! यह पुण्य-पाप के भाव का शरण नहीं है। तुम उसे निषेध करते हो कि वे तो जीव के नहीं और जीव

का कार्य नहीं, तो अब मुनि को शरण क्या ? बापू ! मुनि को शरण शुभ-अशुभभावरहित, भगवान पूर्णानन्द का नाथ, यह उसका शरण समकिती को है। आहाहा ! अरिहन्त का शरण और सिद्ध का शरण—ऐसा कहना मांगलिक में, वह भी व्यवहार का राग है। आहाहा ! अरिहन्ता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, चत्तारि शरणं आता है न ? चत्तारि शरणं, अरिहन्ता शरणं, सिद्धा शरणं, साहू शरणं, केवलिपण्णत्तोधम्मो शरणं। वह भी, वह तो पर की अपेक्षा में विकल्प की बातें हैं, बापू ! आहाहा ! कहो, पुंजाभाई ! नैरोबी में तो यह सब कठिन पड़े ऐसा है, परन्तु अब नैरोबी में चलता है। वहाँ तो २५-३० वर्ष से चलता है। पन्द्रह लाख का मन्दिर बनाते हैं न वहाँ ? नैरोबी, अफ्रीका। उन लोग ने ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस से मुहूर्त किया है, पन्द्रह लाख का जिनमन्दिर थोड़े समय में हो जायेगा। पन्द्रह लाख का खर्च। वर्ष लगेगा, अफ्रीका, दो हजार वर्ष में वहाँ जैन का नाम नहीं था। वहाँ वे लोग मन्दिर बनाते हैं, यहाँ के वहाँ प्रचारवाले साठ घर हैं। अफ्रीका, नैरोबी। यह तो सत्य है न ? चाहे जो हो, बापू ! आहाहा !

उसे नहीं करता होने से, पुद्गलद्रव्य को अर्थात् राग को जीव के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है। राग कर्ता और निर्मल परिणाम कार्य, ऐसा नहीं है। भाषा तो सादी है, प्रभु ! आहाहा ! भाषा तो कोई ऐसी नहीं, प्रभु ! परन्तु समझने के लिये और जिसे हित करना हो, उसे समझना पड़ेगा भाई ! ऐसे भटक मरा है अनादि से। भ्रमणा... भ्रमणा... उल्टी। आहाहा ! वह मलिन परिणाम... निर्मल ऐसा भगवान आत्मा, अनन्तानन्त गुणों का निर्मल प्रभु, एक समय का मलिन राग, आहाहा ! उसे अपना मानकर, उसमें से मुझे हित होगा, (ऐसा) मानकर भटक मरा है, चौरासी के अवतार में। आहाहा ! इसलिए यहाँ परमात्मा, सन्त उसे भिन्न बतला रहे हैं।

भावार्थ, है भावार्थ ? **कोई ऐसा समझे कि पुद्गल जो कि जड़ है...** राग पुण्य-पाप आदि जड़ है **और किसी को नहीं जानता...** वह राग कुछ नहीं जानता, राग का स्वभाव कुछ जानने का है ? राग है, वह अचेतन है। राग, वह ज्ञान के स्वभाव चैतन्य से विरुद्ध है। आहाहा ! चाहे तो शुभराग हो परन्तु वह अचेतन है, चैतन्य का ज्ञानस्वरूप आनन्द प्रभु का उसमें-राग में अंश नहीं। इसलिए उस राग को अचेतन और पुद्गल कहा

है। आहाहा! **किसी को नहीं जानता, इसका जीव के साथ कर्ताकर्मपना होगा...** जाननेवाले को भले पर के साथ कर्ताकर्मपना न हो, परन्तु नहीं जाननेवाले को आत्मा के साथ कुछ कर्ताकर्मपना होगा? अर्थात् जड़ कर्ता और आत्मा के निर्मल परिणाम कार्य, ऐसा होगा? **परन्तु ऐसा भी नहीं है।** आहाहा!

पुद्गलद्रव्य जीव को उत्पन्न नहीं कर सकता। आहाहा! यह राग और पुण्य के परिणाम जीव के निर्मल परिणति उत्पन्न नहीं कर सकता। जीव के परिणाम निर्मल को बदला नहीं सकता। **तथा ग्रहण नहीं कर सकता।** इसलिए उसे जीव के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है। किसे? यह पुण्य और पाप के भाव, उन्हें पुद्गल गिनकर, उन्हें कर्ता और आत्मा के निर्मल परिणाम कार्य, ऐसा है नहीं। आहाहा! **उसका जीव के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।**

परमार्थ से किसी भी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है। आहाहा! आत्मा शरीर को हिला नहीं सकता। आहाहा! वह तो जड़ है, उसका हिलना, उसका कार्य तो जड़ का है। आत्मा कहे कि मैं इसे हिलाता हूँ, मूढ़ है। अजीव का मालिक होता है। अजीव को जीव मानता है। आहाहा! इस अन्तिम शब्द का अर्थ यह है। है न? परमार्थ से किसी भी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य के साथ, आत्मा को जड़ के साथ और जड़ को आत्मा के साथ या परमाणु को दूसरे परमाणु के साथ कोई सम्बन्ध कर्ताकर्म है नहीं। आहाहा! यह इसका अर्थ है, लो। घण्टा पूरा हो गया तुम्हारी एक गाथा में।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश-५०

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(स्रग्धरा)

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्त: कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृ-कर्मभ्रम-मति-रनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्य: ।।५०।।

श्लोकार्थ : [ज्ञानी] ज्ञानी तो [इमां स्वपरपरिणति] अपनी और पर की परिणति को [जानन् अपि] जानता हुआ प्रवर्तता है [च] और [पुद्गल: अपि अजानन्] पुद्गलद्रव्य अपनी तथा पर की परिणति को न जानता हुआ प्रवर्तता है; [नित्यम् अत्यन्त-भेदात्] इस प्रकार उनमें सदा अत्यन्त भेद होने से (दोनों भिन्न द्रव्य होने से), [अन्त:] वे दोनों परस्पर अन्तरंग में [व्याप्तृव्याप्यत्वम्] व्याप्यव्यापकभाव को [कलयितुम् असहौ] प्राप्त होने में असमर्थ हैं। [अनयो: कर्तृकर्मभ्रममति:] जीव-पुद्गल को कर्ताकर्मभाव है, ऐसी भ्रमबुद्धि [अज्ञानात्] अज्ञान के कारण [तावत् भाति] वहाँ तक भासित होती है कि [यावत्] जहाँ तक [विज्ञानार्चि:] (भेदज्ञान करनेवाली) विज्ञानज्योति [क्रकचवत् अदयं] करवत् की भाँति निर्दयता से (उग्रता से) [सद्य: भेदम् उत्पाद्य] जीव-पुद्गल का तत्काल भेद उत्पन्न करके [न चकास्ति] प्रकाशित नहीं होती।

भावार्थ : भेदज्ञान होने के बाद, जीव और पुद्गल को कर्ताकर्मभाव है, ऐसी बुद्धि नहीं रहती; क्योंकि जब तक भेदज्ञान नहीं होता, तब तक अज्ञान से कर्ताकर्मभाव की बुद्धि होती है।

प्रवचन नं. १६९, श्लोक-५०, दिनांक १५-०१-१९७९, सोमवार, पौष कृष्ण-२

समयसार, कलश - ५०

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्त: कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्।

अज्ञानात्कर्तृ-कर्मभ्रम-मति-रनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ।।५०।।

इन चार गाथाओं का यह सब इकट्ठा। ७६, ७७, ७८, ७९ गाथा का यह कलश है। ७५ का आ गया। व्याप्य व्यापक।

मुमुक्षु : ७५ से ज्ञानी किस प्रकार पहिचाना जाता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तथापि ७६ से यह प्राप्य, विकार्य आया है, उसका यह कलश है। उसमें तो मात्र इतना था कि द्रव्यदृष्टि हुई है, इसलिए ज्ञानी हुआ है। जिसे द्रव्यदृष्टि हुई है, वह ज्ञानी हुआ है, उसे राग-द्वेष के परिणाम जो अन्दर हैं, वे मोहकर्म के हैं। अभ्यन्तर ऐसी कर्म की जाति है। बाह्य में शरीर के परिणाम, वह नोकर्म की जाति है। क्योंकि द्रव्य जो वस्तु है चैतन्य ज्ञायकस्वरूप, ऐसी जो दृष्टि हुई, उसे अशुद्ध परिणाम नहीं होते। सूक्ष्म बात है, भाई! क्योंकि द्रव्य जो ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण पवित्र का पिण्ड प्रभु, उसकी जहाँ अन्तर्दृष्टि-ज्ञान हुआ और भान हुआ; इसलिए उसके परिणाम में मलिनता, वह उसका परिणाम नहीं, आहाहा! ऐसी बात है। वह जब जीव के परिणाम नहीं, तब वे पुण्य-पाप के मलिन परिणाम को पुद्गल के परिणाम का-पुद्गल का कार्य कहकर भिन्न कर दिया। समझ में आया ? ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पर्याय में-इसमें है वह, परन्तु यहाँ तो द्रव्यदृष्टि हुई है न ? द्रव्य, द्रव्य। चैतन्य ज्ञायकस्वरूप, जिसकी दृष्टि हुई है, इसलिए उसकी पर्याय में मलिन कैसे होगी ? ऐसा। क्योंकि मलिनता होने का कोई गुण नहीं है, तथा द्रव्य नहीं कि द्रव्य निर्मल है, वह मलिनता की पर्याय को करे। आहाहा!

वस्तुस्थिति, ज्ञानी लिया उसका अर्थ यह कि वस्तु जो आत्मा एक समय में ज्ञायक परिपूर्ण अनन्त गुण का एकरूप, ऐसा जो द्रव्य, उसकी जिसे दृष्टि हुई; इसलिए वह ज्ञानी हुआ। राग और पर्यायबुद्धि थी, और उसका कर्ता होता था, तब तक अज्ञानी था। क्योंकि राग ऐसी कोई गुण की पर्याय नहीं है, वह राग तो विकृतदशा है; इसलिए उसका कर्ता और राग मेरा कार्य, तब तक वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी था। आहाहा! दया, दान, पूजा, भक्ति के

भाव राग है और वह राग मेरा कार्य है, ऐसा माना। उसने द्रव्यस्वभाव पवित्र है, उसे माना नहीं। आहाहा! उसने यह पुण्य के परिणाम और मलिनता का कार्य मेरा, उसका अर्थ यह कि निर्मल भगवान आत्मा उसकी दृष्टि में नहीं आता। आहाहा! इसलिए उसकी दृष्टि में अनादि से अज्ञानी को वह पुण्य और पाप के परिणाम, वह मेरा कार्य है, ऐसा अज्ञानभाव से उसे भासित होता है। आहाहा! ऐसा मार्ग!

यह (गाथा) ७५ में कहा, पश्चात् ७६, ७७, ७८, ७९ में प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य लिया। जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस काल में होनी है, वह होगी, उसमें यहाँ पर्याय निर्मल की इसमें बात है। जीवद्रव्य है वस्तु, उसका जहाँ ज्ञान, भान हुआ; इसलिए उसकी पर्याय निर्मल, वह उसका प्राप्य है। आहाहा! निर्मल पर्याय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के जो वीतरागी परिणाम, वह जीवद्रव्य का-ज्ञानी का प्राप्य-कार्य-कर्म है। आहाहा! इसलिए चार गाथा का यह कलश है।

ज्ञानी अर्थात्? वस्तु जो ज्ञान चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, चैतन्यस्वभाव जिसका, ऐसा चैतन्य का जिसे ज्ञान हुआ, और राग और पुण्य परिणाम को भिन्न किया। आहाहा! राग के परिणाम और भगवान स्वभाव जब तक एकरूप मानता था, तब तक वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि था। आहाहा! परन्तु जब वह राग और त्रिकाली आनन्द ज्ञानस्वरूप भगवान दो को स्वभाव सन्मुख होकर, राग को भिन्न किया और स्वभाव की एकता की, वह ज्ञानी, वह द्रव्यदृष्टि, वह धर्मी है। उस ज्ञानी की यह व्याख्या है। आहाहा!

ज्ञानी तो 'इमां'... यह प्रगट, 'इमां' यह प्रगट। आत्मा की निर्मल पर्याय, उसका गुण और उसका द्रव्य। आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय निर्मल वे प्रगट और उत्पाद, व्यय और ध्रुव आत्मा के प्रगट अर्थात् कि शुद्ध परिणाम की उत्पत्ति, अशुद्धता का व्यय और ध्रुवता ऐसा उत्पाद, व्यय और ध्रुव। ज्ञानी उस द्रव्य-गुण-पर्याय को और उत्पाद-व्यय-ध्रुव को जानता है। क्या कहा? देखो न, **ज्ञानी तो 'इमां'** यह **अपनी परिणति।** परिणति शब्द में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों लेना। क्या कहा यह? परिणति अकेली शुद्ध पर्याय को जानता है, ऐसा नहीं। धर्मी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी द्रव्य दृष्टिवन्त अकेले निर्मल परिणाम की परिणति को ही जानता है, ऐसा नहीं, परन्तु उसे परिणति शब्द कहकर धर्मी अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को, द्रव्य शुद्ध और गुण शुद्ध और शुद्ध पर्याय को जानता है अथवा उत्पाद-

व्यय और ध्रुव—निर्मल परिणति की उत्पत्ति, पूर्व के परिणाम का अवस्थान्तर होना और ध्रुव, उसे ज्ञानी अपने स्वभावरूप से जानता है। आहाहा! इतना सब और याद रहे कहीं?

'**इमां**' यह प्रगट स्व, 'स्व' अर्थात् अपनी, अर्थात् कि द्रव्यशुद्ध और गुणशुद्ध और निर्मल पर्याय वह अपनी, और अपना उत्पाद, व्यय और ध्रुव, या उत्पाद-व्यय, उत्पाद निर्मल। निर्मल पर्याय का उत्पाद, निर्मल पर्याय का पूर्व का व्यय और ध्रुव। वह ज्ञानी अपनी अर्थात् यह तीन प्रकार, द्रव्य-गुण और पर्याय तथा उत्पाद, व्यय और ध्रुव को जानता हुआ और पर की परिणति को जानता हुआ, अर्थात् कि पर अर्थात् कि दया, दान, रागादि परिणाम हैं, वे परपरिणति-पर का कार्य है। आहाहा! वह उत्पाद होता है राग का, उसका कारण तो उसका पुद्गल है, वह है। वह पुद्गल का उत्पाद उसे, उसके गुण को और उसके द्रव्य को। वह पर में यह शब्द आया। धर्मी जीव अपनी द्रव्य-गुण-पर्याय की शुद्धता को और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय आदि अशुद्धता के राग आदि को द्रव्य-गुण-पर्याय, इन दोनों को जानता हुआ। है? अपनी और पर की परिणति, अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय। ऐसी बातें हैं। परिणति का अर्थ द्रव्य-गुण-पर्याय। ज्ञानी अकेली पर्याय को जानता है, ऐसा है? और ज्ञानी पर की अकेली पर्याय को जानता है, ऐसा है? परन्तु यहाँ परिणति की निर्मलता का कार्य है, उसे जानता है अर्थात् कि द्रव्य-गुण को भी जानता है। अकेली परिणति को नहीं। सूक्ष्म, बापू! मार्ग वीतराग का। आहाहा!

यहाँ कहते हैं ज्ञानी अर्थात् धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जिसकी दृष्टि में द्रव्य का स्वीकार हुआ है। जो अनन्त आनन्द का नाथ प्रभु, अनन्त-अनन्त बेहद ज्ञान का सागर आत्मा, उसका जिसे दृष्टि में सत्कार-स्वीकार हुआ है। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें? धीरे से कहा जाता है, प्रभु! मार्ग प्रभु का बहुत सूक्ष्म, बापू! अभी तो सब बहुत गड़बड़ हो गयी। अरे! सत्य सुनने को मिलता नहीं। आहा! वह सच्चा कार्य कब करे और कब जन्म-मरण से उभरे। आहाहा!

धर्मी जीव उसे कहते हैं, ज्ञानी कहो या धर्मी कहो। जिसे धर्मी ऐसा जो द्रव्यस्वभाव, परिपूर्ण शुद्ध है, ऐसे द्रव्य का स्वभाव जिसने-धर्मी ने जिसे जाना है, आहाहा! उसे धर्मी कहते हैं। यह सब इच्छामि पडिक्कमणं तस्स उत्तरि और सामायिक, प्रोषध करे, वे कोई

धर्मी नहीं, वे कोई ज्ञानी नहीं, वे तो सब अज्ञानी हैं। आहाहा! ऐई! आहाहा! जिसकी दृष्टि वर्तमान पुण्य और पाप के परिणाम जो विकृत है, उनके ऊपर दृष्टि है, वह अज्ञानी है। क्योंकि उसे पूरा द्रव्य-गुण जो शुद्ध त्रिकाली परमात्मस्वरूप जो सत्ता, जिसका अस्तित्व मौजूदगी पूर्ण शुद्ध और आनन्द है, उसका जिसे स्वीकार नहीं और राग का स्वीकार है। भले दया के परिणाम हुए, उसमें राग है वह, उसे मैंने किया – ऐसा स्वीकार है, वह अज्ञानी त्रिकाली ज्ञायकभाव का अनादर, तिरस्कार करता है। कहो, देवीलालजी! अब इस प्रकार की बात।

'**इमां स्वपरपरिणति**' प्रगट है आत्मा की निर्मल दशा, निर्मल गुण और निर्मल द्रव्य। आहाहा! उसे धर्मी जानता है और प्रगट है जो रागादि, पुण्यादि के परिणाम, पुद्गल के कार्य, वे परिणामी परिणाम, पुद्गल परिणामी है और उसका राग-द्वेष आदि उसका परिणाम है। उस परिणामी परिणाम को ज्ञानी जानता हुआ, आहाहा! और स्वयं परिणामी परिणाम को अपने को जानता हुआ, परिणामी आत्मा त्रिकाल और परिणाम वर्तमान निर्मल परिणाम। आहाहा! चारों गाथाओं का सार इसमें भर दिया है। आहाहा!

दूसरे प्रकार से कहें तो जो धर्मी है, ज्ञायकस्वरूप का जिसे पूर्ण स्वरूप है, उसका स्वीकार है, उस धर्मी को निर्मल परिणाम का उत्पाद है, और निर्मल परिणाम उसकी पर्याय है और वह उत्पाद, व्यय और ध्रुव अपने जानता है और निर्मल परिणति उसका कार्य है, उसे भी जानता है और उसका कर्ता द्रव्य-गुण, उसे भी जानता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म काम। और वह परद्रव्यस्वरूप है राग, वह परिणामी का परिणाम है, परिणामी पुद्गल है, उसका वह परिणाम है। भगवान परिणामी का वह परिणाम नहीं। आहा! है या नहीं? नवरंगभाई! आहाहा! ऐसा प्रभु। आहाहा!

(कहते हैं), अर्थात् यहाँ **अपनी और पर की परिणति को...** यह दोनों की व्याख्या की। समझ में आया? भगवान आत्मा का उत्पाद, व्यय और ध्रुव, तथा द्रव्य-गुण और पर्याय। वह उत्पाद भी निर्मल है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम उत्पाद है, पूर्व की अवस्थान्तर होकर हुआ, इसलिए वह व्यय है और ध्रुव है वस्तु वह तो त्रिकाल है। ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय को और स्व के उत्पाद, व्यय, ध्रुव को, स्व के उत्पाद-निर्मल वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम, उस स्व के उत्पाद-व्यय और ध्रुव को जानता है,

स्व के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, यह पर्याय अर्थात् निर्मल। और परद्रव्य के परिणाम, परिणामी का परिणाम, वह विकारी परिणाम, वह परिणामी पुद्गल की पर्याय है, उसे जानता है, उसके पुद्गलद्रव्य को जानता है, उसके गुण को जानता है और उस पुद्गलद्रव्य का जो राग हुआ-उत्पाद, उसे जानता है, उस पूर्व की अवस्था का अवस्थान्तर किया पुद्गल ने, उसे जानता है और उसके गुण और द्रव्य की ध्रुवता को भी जानता है। ऐसा है।

अरे! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! सर्वज्ञ वीतराग जिनेश्वर (का) यह मार्ग कहीं नहीं है। अन्यमत में कहीं यह गन्ध नहीं है। आहाहा! कितना स्पष्ट है! '**इमां**' कहा न? प्रगट है, कहते हैं। 'यह' निर्मल परिणाम, निर्मल परिणामी, निर्मल गुण उसे ज्ञानी स्वयं जानता है। मलिन परिणाम, उसका परिणामी द्रव्यकर्म, उस द्रव्य-गुण और पर्याय तथा उत्पाद, व्यय और ध्रुव को-पर को स्वयं अपने में रहकर, अपने को जानता और पर को **जानता हुआ प्रवर्तता है...** आहाहा! जानता हुआ प्रवर्तता है। आहाहा!

अर्थात् कि जानने के परिणाम में, श्रद्धा के परिणाम में, आनन्द के परिणाम में जानता हुआ प्रवर्तता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, दुनिया को कठिन पड़े और एकान्त लगता है, हों! ऐई, सोनगढ़वाले एकान्त करते हैं। अरे! प्रभु! सुन भाई! आहा! तुझे तत्त्व क्या है, बापू, और तत्त्व का परिणाम क्या होता है। परिणाम अर्थात् पर्याय। भगवान तत्त्व तो ज्ञायकतत्त्व है न, प्रभु! उसके परिणाम तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के वीतरागी परिणाम उसके हो न? आहाहा! अर्थात् कि जिसकी द्रव्यदृष्टि हुई है, वह ज्ञानी उस द्रव्य के परिणाम निर्मल उसे होते हैं। आहाहा! वे निर्मल परिणाम, वह धर्म। उस निर्मल परिणाम धर्म को जाने, गुण को जाने, द्रव्य को जाने। आहाहा! निर्मल परिणाम जो धर्म, वह उत्पाद हुआ उसे जाने, पूर्व का अवस्थान्तर किया, उसे जाने और ध्रुव को जाने। अपने और पर के तीनों। बहुत समेटा है। है? इतना अर्थ हुआ।

मुमुक्षु : परिणति का अर्थ हुआ ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह परिणति का अर्थ ऐसा है उसमें- कलश टीका में वाँचन हो गया है न व्याख्यान! अकेली पर्याय को जाने? परन्तु यहाँ परिणति उसकी निर्मल होती

है, उसकी प्रधानता से उसे और उसके द्रव्य-गुण को जाने, ऐसा कहा है। आहाहा! कहो, रसिकभाई! कलकत्ता में कहीं मिले, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : कलकत्ता में यह दुकान नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई, ऐसा कहते हैं न? लाभुभाई ने बात की न, इसलिए तो हम यहाँ आये न, लाभुभाई ने कहा था न, वड़ोदरा। आहाहा! अरे! ऐसा है, बापू! भाई! आहाहा!

सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वर की यह वाणी है। परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर जिनेश्वर अरिहन्त को वाणी होती है न? सिद्ध को वाणी नहीं होती, सिद्ध तो अशरीरी हैं, 'णमो सिद्धाणं'। यह तो णमो अरिहंताणं... आहाहा! जिन्हें शरीर और वाणी होती है तथापि जिन्होंने आत्मा के अन्दर में केवलज्ञान लिया है। आहाहा! अरि अर्थात् राग और द्वेष (रूप) दुश्मन, उन्हें हन्ता अर्थात् जिन्होंने हनन कर डाला है और उसके स्थान में जिन्होंने वीतरागी सर्वज्ञ पर्याय प्रगट की है। आहाहा! उन्हें अरिहन्त कहते हैं। उन अरिहन्त की वाणी जो निकली, ऐसा निमित्त से कहा जाता है, आहाहा! उसे दिव्यध्वनि कहा जाता है और उस दिव्यध्वनि में आया हुआ सार इस समयसार की व्याख्या, आत्मा की यहाँ है। आहाहा!

यह धीरे से समझने योग्य है, बापू! यह कहीं ऐसे ही उतावल से आम पक जाये, (ऐसा नहीं है)। गुठली बोयी और तुरन्त आम पक जाये? यह अपने कहते हैं कि उतावल से आम नहीं पकते। लोग बातें करते हैं परन्तु उसका अर्थ नहीं समझते। कहीं गुठली बोयी और हो गया आम? अरे! नहीं होता, भाई! उसे धीरज चाहिए। वह अंकुर फूटे, डालियाँ बड़ी हों, बड़ा वृक्ष हो, फिर उस पर आम आते हैं। हम गये थे न वहाँ कलकत्ता, गंगवाल है न कलकत्ता में, रतनलालजी गंगवाल। पाँच-छह करोड़ रुपये। उनके मकान में उतरे थे। सहज उन्हें बना ऐसा कि वहाँ उनके मकान में आम (वृक्ष) है। पाँच-छह करोड़ रुपये। गंगवाल आते हैं न यहाँ रतनलालजी। वह वच्छराजजी का मकान है न! उनका लड़का। वहाँ उतरे, तो वह कहे कि महाराज यहाँ उतरे परन्तु कौन जाने इस ही वर्ष आम वृक्ष को दस वर्ष में आम आये हैं, कहे। वहाँ साथ में आम था, आम आये, उसके बिना आम नहीं आता था सहज। आहाहा! आम (का वृक्ष), तथापि आम नहीं आते थे, कहे।

यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! आत्मा, आहाहा! अनन्त आनन्द का कन्द प्रभु, उसका

आम पक ही जाए। उसकी दृष्टि करे और उसका आदर करे तो पर्याय में आनन्द का आम आवे ही। आहाहा! और उस आनन्द के परिणाम को और उसके गुण को तथा उसके द्रव्य को ज्ञानी स्व-परिणति अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता हुआ और उस निर्मल परिणति का उत्पाद, पूर्व की पर्याय का अवस्थान्तर और ध्रुव को जानता हुआ तथा परपरिणति के द्रव्य-गुण-पर्याय को भी जानता हुआ। आहाहा! यह दया, दान और व्रत के विकल्प हैं, वह परपरिणति कर्म का परपरिणामी का परिणाम है, वह कर्म के परिणामी का परिणाम है; आत्मा के परिणामी का परिणाम वह नहीं है। आहाहा! प्रभु... प्रभु... प्रभु! कहो, चिमनभाई! कहीं मिले ऐसा नहीं है।

अरे रे! ऐसा मार्ग कुचल डाला है न? भगवान परमेश्वर यह धर्मी। वह '**पुद्गलः अपि अजानन्**' अब पुद्गल जो है, राग-द्वेष पुद्गल, वह '**अपि अजानन्**' वह पुद्गलद्रव्य अपनी अर्थात् पुद्गलद्रव्य अपनी अर्थात् पुद्गलद्रव्य का राग, वह उसकी पर्याय, पुद्गलद्रव्य का राग, वह उसका उत्पाद। आहाहा! वह पुद्गलद्रव्य अपनी अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय की, अर्थात् रागादि की पर्याय वह पुद्गल की है, उसे परपरिणति को अर्थात् पर अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय—निर्मल द्रव्य, निर्मल गुण और निर्मल पर्याय उस परपरिणति को नहीं जानता हुआ प्रवर्तता है। त्रिभोवनभाई! यह दो लाईन का ऐसा अर्थ है। आहाहा! कहो, चाँदमलजी! यह दिगम्बर में जन्मे उसे ऐसी खबर ही नहीं कुछ। वाडा मिला न अच्छा। आहाहा! यह तो धर्म है जैन परमेश्वर, वह कोई पन्थ नहीं या कोई पक्ष नहीं, वस्तु-वस्तु जैसी है, वैसी देखकर-जानकर कही, वह परमात्मा का पंथ है। आहाहा!

पुद्गलद्रव्य अपनी... अर्थात्? कर्म, कर्म का गुण और उसके अन्दर जो अनुभाग शक्ति आदि और उसका परिणाम यह रागादि। आहाहा! कर्म पुद्गल, उसका अनुभाग आदि, उसका गुण, और उसकी पर्याय जो रागादि, वह उसकी पर्याय, ऐसे अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को पुद्गल नहीं जानता और वह पुद्गल जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय को नहीं जानता हुआ (प्रवर्तता है)। आहाहा! ओहोहो!

कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य (वे) केवली के पथानुगामी, ओहोहो! वस्तु को स्पष्ट करके जगत के समक्ष जाहिर करते हैं। समझना हो तो समझो, बापू! मार्ग यह है। आहाहा! '**पुद्गलः अपि अजानन्**' पुद्गल शब्द से राग दया, दान, वे सब पुद्गल हैं। उस

पुद्गलपरिणामी का परिणाम है, इसलिए उसे पुद्गल कहा। वह **पुद्गलद्रव्य अपनी...** आहाहा! अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय की अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रुव की **और पर की परिणति को...** अर्थात् पर के द्रव्य-गुण-पर्याय को निर्मल, और उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव को **नहीं जानता हुआ प्रवर्तता है।** आहाहा! है न सामने, है या नहीं पुस्तक?

मुमुक्षु : उसमें लिखा हो तो न...

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें लिखा है न? परिणामी का परिणाम। यहाँ परिणामी का परिणाम, यहाँ परिणामी का परिणाम। आहाहा! धीर का काम है, भाई! वीतरागमार्ग सम्यग्दर्शन, वह कोई अलौकिक चीज़ है। चारित्र की तो बातें कहाँ करना, बापू! वह तो अभी कहाँ है? आहाहा! यह तो सम्यग्दर्शन के परिणाम, यह द्रव्य परिणामी के वे परिणाम हैं। उस परिणाम को ज्ञानी जानता हुआ द्रव्य-गुण-पर्याय को और राग के परिणाम को और पुद्गल को ज्ञानी जानता है। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, इतनी बात की। राग ज्ञेय है और आत्मा ज्ञायक है परिणाम में, इतना व्यवहारसम्बन्ध है। परन्तु उस ज्ञेय के परिणाम को आत्मा करे और ज्ञान के परिणाम को जड़ करे, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह पुद्गलपरिणाम अपनी और पर की परिणति को नहीं जानता हुआ, यहाँ परिणति में द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों लेना।

'नित्यम् अत्यन्त भेदात्' आहाहा! **इस प्रकार उनमें...** 'नित्यम्' अर्थात् सदा उनमें अर्थात् दो में, भगवान आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय और जड़ के द्रव्य-गुण परिणाम पर्याय, दोनों में **सदा अत्यन्त भेद होने से...** सदा अत्यन्त भिन्न दोनों की चीज़ भिन्न है। आहाहा! अब यहाँ तो शुभराग दया, दान और व्रत का हो, वह धर्म है, ऐसा कहते हैं। अरे भगवान! आस्रव है, बन्ध है, विकार है; वह स्वभाव का फल राग कहाँ है? स्वभाव प्रस्फुटित हो, तब तो वह तो निर्मल होता हो। विकार होगा? आहाहा!

वे सदा अत्यन्त इस प्रकार, इस प्रकार कहा न? यह कहा तत्प्रमाण, **उनमें सदा अत्यन्त भेद होने से (दोनों भिन्न द्रव्य होने से),...** आहाहा! दया, दान के परिणाम वे पुद्गलद्रव्य में जाते हैं और उन्हें जानने के सम्यग्दर्शन-ज्ञान के परिणाम, वे जीव में आते हैं। पुंजाभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! बेचारे प्रेमचन्दभाई आज गये, परन्तु बहुत प्रेम ले गये लन्दन। फिर से अब जल्दी आयेंगे, कहे। लन्दन में रहते हैं न? वहाँ वाँचन करते हैं।

आहाहा! जिसे अभी वाँचन का श्रवण भी नहीं मिलता अरे रे! वह स्व-परिणाम निर्मल है और वे द्रव्य से होते हैं। परिणामी से वह धर्म की पर्याय होती है, राग से और निमित्त से नहीं। आहाहा!

अब यहाँ तो कहते हैं कि पूजा और व्रत, वह राग नहीं, बन्धन का कारण नहीं, ऐसा लोग करते हैं। अरे रे! पढ़ा था न आज। आहाहा! कौन ऐई हिम्मतभाई! तुम्हारा कान्तिलाल। मुम्बई का इसलिए तुम्हारा ही कहलाये न? कान्तिलाल ईश्वर बेचारा। तीसरा मासिक आया न? यहाँ भेजा है। यहाँ के विरोध का है न? ठीक से गालियाँ दी हैं। उसमें कोई बाधा नहीं बापू! भले तुझे बैठी है न? तुझे बैठी है, वैसा कहे। 'जामें जितनी बुद्धि है, इतनो दिये बताय, वांको बुरो न मानिये और कहाँ से लाये?' भाई! आहाहा! ऐसा कि पूजा और भक्ति, क्या कहलाता है वह? व्रत, उसे ऐसा कि धर्म का कारण नहीं कहते, धर्म का नहीं कहते, बन्ध का कारण कहते हैं, वे अज्ञानी हैं, जैनधर्म के अजान हैं, अज्ञ हैं, बहुत शब्द प्रयोग किये हैं। ऐई! क्या हो, उसे बैठा हो वैसा कहे न? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि पूजा, भक्ति और व्रत और स्तुति, यह शब्द आते हैं एक जगह उसमें, स्तुति ली है। भक्ति, इसके अतिरिक्त स्तुति। वह ४३ में स्तुति शब्द नहीं, वन्दन, भक्ति, वैयावृत्य, पूजा ऐसा है। परन्तु कहीं स्तुति शब्द है उसमें। उसमें है या तो उसमें ११० कलश है न? ११०। ज्ञान और राग दोनों धारा वहाँ है, प्राय: करके। वह सब विकल्प राग है। आहाहा! और वह राग परिणामी पुद्‌गल का कार्य है। आहाहा!

भगवान आत्मा का कार्य तो जिसने भगवान को देखा, जाना, आहाहा! यह चैतन्य भगवान ज्ञायकस्वभाव के परिणाम तो राग और स्तुति के परिणाम को जानना, वह भी अभी व्यवहार कहा है। आहाहा! समझ में आया?

धीरे से समझनेयोग्य बात है, बापू! अनन्त काल में वीतराग परमात्मा जैसा कहते हैं, वैसा जाना नहीं। अपनी स्वच्छन्दता से कल्पना से पढ़ा और अर्थ किये और माना। आहाहा! परन्तु भगवान का क्या अभिप्राय है, त्रिलोकनाथ के परिणाम में-अभिप्राय में क्या कहना है। आहाहा! वह अत्यन्त अकषाय करुणावन्त प्रभु हैं। आहाहा! वे भगवान ऐसा कहते हैं, वह मुनि कहते हैं। आहाहा! भाई! अत्यन्त भिन्न द्रव्य होने से, वे राग के परिणाम और प्रभु के-आत्मा के परिणाम निर्मल परिणाम और मलिन परिणाम दोनों की अत्यन्त

भिन्नता है। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है परन्तु प्रभु! भाव तो जो है, वह है, क्या हो? आहाहा!

भिन्न होने से **वे दोनों परस्पर अन्तरंग में...** क्या कहा? वे दोनों अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम और यहाँ वीतरागी परिणाम और द्रव्य-गुण, दोनों को परस्पर अन्तरंग में **व्याप्यव्यापकभाव को प्राप्त होने में असमर्थ हैं।** अर्थात् परिणामी परिणामपने को होने को असमर्थ है। अर्थात् क्या? कि द्रव्य जो परिणामी है, वह रागरूप इस परिणाम को पावे, यह असमर्थ है। आहाहा! और राग के जो परिणाम हैं पुद्‌गल के, वे परिणाम हैं, वे परिणामी के अर्थात् जीव के परिणाम पावे, यह असमर्थ है। ऐसा है। है? यह तो चारों गाथायें बहुत सूक्ष्म आयी। उनका यह सार है। आहाहा!

उसमें – कलश टीका बनाकर भगवान अमृतचन्द्राचार्य मुनि, सन्त, दिगम्बर मुनि, इसमें जो है न, महाचलते सिद्ध थे, हजार वर्ष पहले, भरतक्षेत्र में थे, उनकी यह टीका है। आहाहा! दिगम्बर सन्त, जैन परमेश्वर का पन्थ है, वे मुनि दिगम्बर नग्न ही होते हैं, वस्त्रसहित हैं, वह तो नया (पंथ) श्वेताम्बरों ने कल्पित बनाया है। वह भगवान का मार्ग नहीं है। आहाहा! कठिन लगे, भाई! क्या हो? यहाँ तो 'नग्गो मोक्खो भणियो, शेषा उमग्गा' बाह्य और अत्यन्तर नग्न जो है, अभ्यन्तर भी राग बिना का, बाह्य में वस्त्र बिना का, ऐसे नग्न मुनि वे धर्मात्मा और मोक्ष के मार्गी हैं, और उसे मार्ग कहते हैं। इससे उन्मार्ग सब उन्मार्ग है। गजब बातें हैं, बापू! ऐसा। ऐसा है, भाई! मिठास से कहें, धीमे से कहें, कहें तो भी मार्ग तो यह है, बापू! आहाहा!

भगवान आत्मा उसका द्रव्य शुद्ध, उसके गुण शुद्ध और उसकी पर्याय शुद्ध। उस परिणामी का परिणाम, परिणामी ऐसा जो द्रव्य आत्मा, उसका परिणाम, परन्तु यह राग है, वह परिणामी का यह परिणाम आत्मा का परिणामी और उसका यह परिणाम, ऐसा नहीं। व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है। इसलिए राग परिणाम और आत्मा परिणामी, उसका अभाव है। पुद्‌गल परिणामी और राग परिणाम, इसका सद्‌भाव है। और राग परिणामी, राग पुद्‌गल और जीव के निर्मलपरिणाम, परिणाम इसका अभाव है। ऐसी बातें हैं। अकेले पक्ष के वाडा में बैठा हो, उसे यह बात ऐसी लगे (कि) यह क्या पागल जैसी बातें करते हैं? बापू! मार्ग प्रभु का... आहाहा!

आहाहा! उनमें **परस्पर अन्तरंग में...** अन्तः शब्द है न, अन्तः है, अन्तः। अन्तः अर्थात् उनको **परस्पर अन्तरंग में व्याप्यव्यापकभाव को प्राप्त होने में असमर्थ हैं।** अर्थात्? दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, परिणामी होकर जीव के निर्मल परिणाम, व्याप्य हों, इसका अभाव है। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा निर्मल परिणाम और निर्मली, परिणामी, उसका राग परिणाम हो और परिणामी द्रव्य हो या निर्मल परिणामी हो, इसका अभाव है। आहाहा! समझ में आया?

क्या कहा? विकारी परिणाम, वह परिणामी द्रव्य का परिणाम नहीं है, और निर्मल परिणाम वे कभी राग के-पुद्गल के परिणामी का परिणाम नहीं है। आहाहा! ऐसी बात भाई! एक कलश में तो गजब कर दिया है न!

मुमक्षु : प्रत्येक कलश कैसे?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी वस्तु है। यहाँ तो शक्ति प्रमाण उसका स्पष्टीकरण होता है, बाकी तो पार नहीं होता, सन्त और केवली इसको तोले.... आहाहा!

मुमुक्षु : एक दूसरे का करे नहीं परन्तु साथ रहने में...

पूज्य गुरुदेवश्री : परस्पर एक साथ रहे, उसमें विरोध कहाँ है, यह तो कहा न? ११० में, ११० कलश में आता है, परस्पर एकक्षेत्र में रहने में कुछ विरोध नहीं है, राग के व्यवहार का परिणाम पुद्गल के, और भगवान के निर्मल परिणाम उन्हें एक क्षेत्र में रहने में कोई विरोध नहीं है। स्वभाव विरोध है, परन्तु एक जगह रहने में विरोध नहीं है। ११० कलश। है न इसमें? ११०, देखो, ११०, देखो, जब तक क्रियारूप परिणाम और आत्मद्रव्य के शुद्धत्व का परिणमन, क्रिया अर्थात् राग, उनका एक जीव में, एक ही काल में अस्तित्वपना है, ऐसा भी है परन्तु, एक विशेष, कोई भी हानि नहीं। ठीक है। है? एक जीव में एक ही काल में ज्ञान क्रिया, दोनों किस प्रकार होगी? तो समाधान है कि विरोध तो कुछ नहीं। आहाहा! ११० कलश। यह तो भाई ने पूछा था, देवीलालजी ने। आहाहा!

यह राग के परिणाम, पुद्गल परिणाम के परिणाम, और निर्मल परिणाम, निर्मल द्रव्य के परिणाम एक क्षेत्र में, एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। एकरूप रहने में विरोध है, दोनों एक...

मुमुक्षु : साधक है, इसलिए ऐसा होगा ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! साधक है न? इसलिए अन्दर राग होता है, आहाहा! परन्तु उसे पुद्गल के परिणाम गिनकर, उसका भगवान आत्मा जाननेवाला गिना है, उसका करनेवाला और कर्ता नहीं। आहाहा! गाथा बहुत अच्छी आ गयी है। रसिकभाई! बराबर। आहाहा!

क्यों दोनों इकट्ठे रहें? कि आत्मा के मिथ्यात्वरूप विभाव परिणाम मिटे हैं, आत्मद्रव्य शुद्ध, उसे पूर्वोक्त बराबर परिपाक होना क्रिया के त्याग की पूर्णता नहीं, वहाँ वह क्रिया होती है राग की, तथापि दोनों भिन्न हैं, तो भी एक साथ रहते हैं। आहाहा! जैसे जड़ और चैतन्य एक साथ कैसे रहते हैं? वैसे राग और स्वभाव के परिणाम निर्मल, दोनों एक साथ होते हैं। आहाहा!

सब पूरा ११० कलश है। बड़े दो पृष्ठ भरे हैं। आहाहा! शान्ति से-धीरे से कहा जाता है, बापू! यह समझ में आये ऐसा नहीं-ऐसा नहीं है। इसे पकड़ में तो आवे कि इस प्रकार से कहते हैं। फिर भले इसे ज्ञान न हो सच्चा, परन्तु इसे ऐसा कहना चाहते हैं, इस प्रकार से ऐसे इस पद्धति से, ऐसा तो इसके ख्याल में आना चाहिए न?

मुमुक्षु : साथ में रहने में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त-निमित्तसम्बन्ध अर्थात् भिन्न होते हैं। तो राग एक आकाश के प्रदेश में छह द्रव्य इकट्ठे हैं, आत्मा है, वहाँ परमाणु है, वहाँ धर्मास्ति है, अधर्मास्ति (है), आकाश है, काल है, परन्तु यहाँ तो जरा विकारी परिणाम है, उन्हें पुद्गल के परिणाम गिनकर, व्यापक का व्याप्य गिनकर, यह व्यापक आत्मा और उसके निर्मल परिणाम व्याप्य गिनकर एक साथ होते हैं। दोनों एक नहीं हैं, एक साथ रहने पर भी दोनों एक नहीं हैं। दोनों भिन्न है। आहाहा!

अरेरे! ऐसा कहाँ! बनिये को निवृत्ति नहीं मिलती, धन्धा-पानी में घण्टे दो घण्टे मिले, उसमें और वापस श्रीमद् कहते हैं, उसे सुनने जाये वहाँ कुगुरु घण्टा लूट लेते हैं, दो घण्टा लूट लेते हैं कि तुम दया पालो, व्रत करो, अपवास पालो, धर्म होगा। लूट ले बेचारे का घण्टा। आहाहा! रसिकभाई! श्रीमद् ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : बहुत ठगाई चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात ऐसी ही है, बापू! आहाहा! इसे खबर नहीं न? खबर ही नहीं, इसलिए क्या हो? यह अज्ञान की भूल है, यह तो। आहाहा!

व्याप्यव्यापकभाव को '**कलयितुम्**' अर्थात् परिणामी परिणामभाव हो। जीव के परिणाम, वे परिणाम और राग के परिणाम वे परिणामी हो, ऐसा अभाव है। समझ में आया? और जीव के परिणाम वे व्यापक हो और राग के परिणाम व्याप्य हो, इसका अभाव है। एक कलश भी यदि यह बराबर सुने तो, बराबर विचार करे तो... आहाहा! '**कलयितुम् सहौ**' पाने में असमर्थ है, दो के परिणाम परिणामी एक होना, वह अशक्य है। आहाहा!

भगवान आत्मा के द्रव्य के परिणाम जो निर्मल हैं, वे निर्मल परिणाम परिणामी होकर राग के परिणाम को करे, यह अशक्य है। और राग के परिणाम जो पुद्‌गल है, वे परिणामी होकर, सम्यग्दर्शन के परिणाम अथवा आत्मा के निर्मल परिणाम को करे, वह अशक्य है। समझ में आया? इतना सब इसमें भरा है। आहाहा! थोड़ा सा पढ़ना घर में कि किसका क्या अर्थ हुआ था और क्यों हुआ था।

मुमुक्षु : आपने अर्थ किया, वह तो सच्चा ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्चा, और यह तो इसे बैठने के लिये, कि किस प्रकार से है।

कहा था न एक बार, नहीं? हमारे मास्टर थे, ७५ वर्ष पहले की बात है, ७७ वर्ष पहले, ८९, १२ वर्ष की उम्र थी, १३ वर्ष की। विद्यालय में मेरा नम्बर पहला चलता था न उस समय। उमराला, नरोत्तम मास्टर ब्राह्मण थे, फिर स्त्री नहीं थी, इतना अभी याद है, स्त्री कहीं अन्यत्र हो न। अकेले स्वयं पकाने का हो न? वे पकाते, फिर जो लड़के होशियार हों उन्हें घर में बुलाते, वे पकाते हों और लड़कों को बुलाते, उन्हें कहते कि तुम यह पाठ पढ़कर आना और इस पाठ का मैं क्या अर्थ करता हूँ, यह फिर तुम मिलान करना। यह तो ७७ वर्ष पहले की बात है। ७६, १२-१३ वर्ष की उम्र थी। विद्यालय में हमारा नम्बर उस समय पहला था। किसी समय दूसरा नम्बर हो जाये, कहीं बाहर गये हों और ऐसा हो गया। वे मास्टर घर में बुलाते। कणबीवाड है, वहाँ कमरा था, वहाँ बहुत वर्ष हुए, बेचारे स्वयं अकेले पकाते। दाल, भात, रोटी बनावे और लड़कों के साथ बात करे। तुम पाठ पढ़कर आये? अब इसका अर्थ सुनो, हम यह अर्थ करते हैं, तुमको बैठा था। तो हमको

तो कुछ बैठा नहीं भाई! हम तो... एक बार बारह महीने गारियाधार गया था, फिर आया पहले महीने तो नम्बर अन्तिम बैठे। गारियाधार बारह महीने गया था, पहले दिन तो कुछ नम्बर पहला दे? और अन्तिम नम्बर न, भाई! रोना आया, हों! अरे रे! हम अन्तिम नम्बर में? फिर महीने बाद बदल जाये। परन्तु पहले तो क्या कहा जाये? लेकर आवे न? सर्टीफिकेट या उसका हो कुछ? बैठावे तो अन्तिम नम्बर में न पहले, बारह महीने से गारियाधार। याद है, अन्तिम नम्बर सुनकर ऐसा रोना हुआ था तब। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, ओहोहो! '**अनयोः कर्तृकर्मभ्रममतिः**' '**अनयोः**' जीव और पुद्‌गल के बीच, अनयोः है न? अन्योअन्य, '**अनयोः कर्तृकर्मभ्रममतिः**' अन्य प्रकार से, वह **जीव और पुद्‌गल को...** अर्थात् जीव के निर्मल परिणाम को और राग के परिणाम को **कर्ताकर्मभाव है, ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञान के कारण...** है। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति के जो परिणाम हैं, वह राग है। उस राग के परिणाम को और आत्मा को, अर्थात् जीव और पुद्‌गल को कर्ताकर्मपना है, ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञान के कारण है। आहाहा! यह राग है, अज्ञानरूप से स्वयं माना है अपना, तब तक यह कर्ताकर्म—राग मेरा कार्य है और मैं कर्ता, ऐसा माने। जीव पुद्‌गल को कर्ताकर्मपना अथवा राग के परिणाम मेरा कार्य और मैं कर्ता, तथा निर्मल परिणाम कर्ता और राग उसका कार्य, ऐसा कर्ताकर्मपने का, ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञान के कारण है। आहाहा!

इसे बहुत जाना पड़े भाई! आहाहा! **वहाँ तक भासित होती है।** कहते हैं कि ऐसा वहाँ तक भासित होती है। **कि जहाँ तक भेदज्ञान करनेवाली विज्ञान ज्योति...** आहाहा! राग परिणाम मेरा कार्य और मैं कर्ता, निर्मल परिणाम कार्य और राग कर्ता, वहाँ तक इसे भासित होता है, निर्मल परिणाम तो इसे है नहीं। परन्तु यह द्रव्य मेरा द्रव्य के गुण के वे कर्ता, वहाँ तक भासित होता है कि जहाँ तक भेदज्ञान करनेवाली '**विज्ञानार्चिः**' विज्ञान ज्योति, 'अर्चिः' है न? अर्चि अर्थात् ज्योति। विज्ञान ज्योति, विज्ञान ज्योति, आहाहा! '**क्रकचवत् अदय**' विज्ञानज्योति करवत की भाँति निर्दय रीति से, आहाहा! राग के परिणाम को और भगवान आत्मा को भेदज्ञानरूपी ज्योति से—करवत की भाँति—करवत जैसे लकड़ी के दो भिन्न करता है, करवत-करवत। कर-वत, यह कर अर्थात् हाथ से ऐसे-ऐसे करे, वह करवत, उसका नाम करवत है न? एकाक्षरी है चारों बोल करवत, कानो मात्रा बिन्दी कुछ नहीं। आहाहा!

वह करवत जैसे लकड़ी में रखे और दो टुकड़े कर डालती है, उसी प्रकार विज्ञानज्योति भगवान आत्मा राग से भिन्न पड़कर जहाँ भेदज्ञान विज्ञान हुआ। आहाहा! विज्ञान ज्योति **'क्रकचवत् अदयं' करवत की भाँति निर्दयता से (उग्रता से)** अरे रे! राग को मुझे अनादि का सम्बन्ध, उस बाँधव को कैसे मुझे भिन्न करना? परमात्मप्रकाश में आता है न भाई? परमात्मप्रकाश। बन्धु को मार डालता है, धर्मी मुनि बाँधव को मार डालते हैं, अनादि का राग का सम्बन्धरूपी बाँधव। आहाहा!

निर्दय रीति से कहते हैं। ऐसा नहीं कि अरे रे! ऐसे मारो, इसे ध्यान की अग्नि लगाकर ऐसे, इस ओर से जरा हटकर, ऐसा कहते हैं। निर्दय अर्थात् जो रागभाव है, उसमें जो अपनापन माना है, उसमें से हटकर, निर्दय रीति से—जरा भी दया नहीं न, अरेरे! राग और मेरे सम्बन्ध अनादि का है न? थोड़ा सा तो राग रखूँ मेरा। आहाहा! **करवत की भाँति निर्दयता से (उग्रता से)...** अदयं है न? फिर अन्दर जरा दया नहीं। यह दया, दान और व्रत के विकल्प-राग भी मेरा स्वरूप नहीं। आहाहा! सम्यग्ज्ञान ज्योति जहाँ चैतन्य की ओर ढली है, राग का सम्बन्ध जो पर्याय में अनादि से है, उस बाँधव को मार डाला उसने अभी। आहाहा! बन्ध, सम्बन्ध ऐसा जो बाँधव उसे ज्ञान अर्चि। आहाहा! ज्ञान की पर्याय अन्दर में झुकी, पर का सम्बन्ध छोड़ा, निर्दय रीति से छोड़ा। आहाहा! यहाँ एक कलश में भी एक घण्टा हुआ।

'सद्यः भेदम् उत्पाद्य' जीव पुद्गल का तत्काल भेद उत्पन्न करके... आहाहा! 'सद्यः'—तत्काल राग का लक्ष्य छोड़कर जहाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा में ढलता है, आहाहा! तब उसे भेदज्ञान (अर्थात्) राग से भिन्न पड़ता है। आहाहा! 'सद्यः' अर्थात् **तत्काल भेद उत्पन्न करके...** किसका? राग का और भगवान आत्मा का। आहाहा! **प्रकाशित नहीं होती।** करवत को निर्दय रीति से उग्रता से **'सद्यः भेदम उत्पाद्य'** जीव पुद्गल का तत्काल भेद उत्पन्न करके **'न चकास्ति'** प्रकाशित नहीं होती, एकरूप से प्रकाशित नहीं होती, ऐसा। विज्ञानज्योति होती है, कब तक? कि जब तक अज्ञान है तब तक परन्तु भेदज्ञान किसी प्रकार से प्रकाशित होने से अज्ञान नहीं होता। पर से भिन्न पड़ा, इसलिए फिर अज्ञान नहीं होता। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १७०, श्लोक-५०, गाथा-८०-८२, दिनांक १६-०१-१९७९, मंगलवार, पौष कृष्ण-३

भावार्थ, ५० कलश। कल तो पूरा कलश एक घण्टे चला था। सूक्ष्म था, बहुत सूक्ष्म। यह तो भावार्थ है। **भेदज्ञान होने के बाद...** अर्थात् राग और भगवान स्वभाव का भेदज्ञान होने पर भी **जीव और पुद्गल को कर्ताकर्मभाव है...** (ऐसा नहीं) जीव और पुद्गल को अर्थात् रागादि को; राग है, वह पुद्गल का कार्य है। भेदज्ञान में राग जो दया, दान, व्रत आदि का विकल्प, वह कर्म का उत्पाद्य है, वह कर्म की पर्याय है, वह कर्म के परिणाम हैं। उसे और जीव को **कर्ताकर्मभाव है, ऐसी बुद्धि नहीं रहती।** आहाहा!

जीव के परिणाम सम्यक् निर्मल उस उत्पाद-व्यय और ध्रुव का कर्ता आत्मा और राग आदि व्यवहार के जितने विकल्प दया, दान, व्रत, भक्ति आदि, उन राग के परिणाम का उत्पादक कर्म है, वह कर्म की पर्याय है। वे कर्म के परिणाम हैं, यह **भेदज्ञान होने के बाद,...** दोनों को कर्ताकर्मभाव है, ऐसी बुद्धि नहीं रहती। ऐसा सूक्ष्म है। कल तो बहुत सूक्ष्म आ गया। इसमें तो शब्दार्थ हो इतना,... **क्योंकि जब तक भेदज्ञान नहीं होता...** अर्थात् कि जब तक द्रव्यदृष्टि, द्रव्यस्वभाव परिपूर्ण की दृष्टि नहीं होती, **तब तक अज्ञान से कर्ताकर्मभाव की बुद्धि होती है...** तब तक राग और दया, दान के विकल्प, इनका कर्ता अज्ञानबुद्धि से होता है। आहाहा!

इन पाँच गाथाओं में ज्ञान की बात की। ७५, ७६, ७७, ७८, ७९ पाँचों ही सूक्ष्म। अब अज्ञानी की बात करते हैं। **यद्यपि जीव के परिणाम...** अर्थात् यहाँ अभी विकारी परिणाम। वे जीव के परिणाम थे, वे निर्मल थे। है न, ऐसा आया था न? जीव के परिणाम के, इन पाँच गाथाओं में जीव के परिणाम अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वीतरागी परिणाम ऐसा था। जीव के परिणाम, धर्मी जीव के परिणाम वे वीतरागी दर्शन, ज्ञान और चारित्र, वे जीव के परिणाम, उन परिणाम को पुद्गल नहीं जानता राग। व्यवहाररत्नत्रय का राग वह उन जीव के परिणाम को नहीं जानता तथा राग, राग को नहीं जानता, तथा राग, राग के फल को-दु:ख को नहीं जानता। इसलिए उसे कर्ताकर्म भाव दो के बीच नहीं है— राग और स्वभाव के बीच (नहीं है)। यहाँ कहते हैं जीव के परिणाम अर्थात् विकारी लेना,

वहाँ आया था न पहले ७९ गाथा, नहीं? अब पूछता है कि जीव के परिणाम को... उपोद्घात, ७९ की पहली लाईन। है? वे जीव के परिणाम वीतरागी हैं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम, वे जीव के परिणाम। अपने परिणाम अर्थात् राग, पुद्गल के परिणाम राग दया, दान, व्रतादि, काम, क्रोध और अपने परिणाम का फल अर्थात् दुःख, राग का फल दुःख, उसे नहीं जानता ऐसे पुद्गलद्रव्य को जीव के साथ कर्ताकर्मपना है या नहीं? यह प्रश्न था, उसका उत्तर हो गया। अब यहाँ जीव के परिणाम को अर्थात् वहाँ जीव के परिणाम अलग और यह जीव के परिणाम अलग, ऐसी बात है। वहाँ जीव के परिणाम द्रव्यदृष्टिवन्त के परिणाम की बात ली है। आहाहा! इसलिए उसके परिणाम द्रव्य और गुण शुद्ध है, इसलिए जिसकी दृष्टि भेदज्ञान और द्रव्यदृष्टि हुई है, उसके परिणाम तो वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वे जीव के परिणाम हैं और वहाँ जो राग के परिणाम थे, वे सब पुद्गल के परिणाम, पुद्गल का कार्य, पुद्गल का उत्पाद-व्यय। आहाहा! सूक्ष्म बहुत, भाई!

गाथा-८०-८२

जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योऽन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि न तयोः कर्तृकर्मभाव इत्याह -

जीव-परिणाम-हेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गल-कम्म-णिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।।८०।।

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्ण-णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि।।८१।।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पोग्गल-कम्म-कदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।८२।।

जीव-परिणाम-हेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमन्ति।
पुद्गल-कर्म-निमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति।।८०।।

नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान्।
अन्योन्य-निमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि।।८१।।

एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन।
पुद्गल-कर्म-कृतानां न तु कर्ता सर्व-भावानाम्।।८२।।

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमन्ति पुद्गलकर्म निमित्तीकृत्य जीवोऽपि परिणमतीति जीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेऽपि जीवपुद्गलयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोऽपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः।

ततः कारणान्मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीवः

स्वभावस्य कर्ता कदाचित्स्यात्, मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्पुद्गलभावानां तु कर्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चयः ।।८०-८२ ।।

यद्यपि जीव के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को अन्योन्य (परस्पर) निमित्तमात्रता है, तथापि उन (दोनों) को कर्ताकर्मपना नहीं है-ऐसा अब कहते हैं :-

जीवभावहेतु पाय पुद्गल, कर्मरूप जु परिणमे।
पुद्गलकरम के निमित्त से यह जीव भी त्यों परिणमे।।८०।।

जीव कर्मगुण करता नहीं, नहिं जीवगुण कर्म हि करे।
अन्योन्य के हि निमित्त से परिणाम दोनों के बने।।८१।।

इस हेतु से आत्मा हुआ कर्ता स्वयं निज भाव ही।
पुद्गलकरमकृत सर्व भावों का कभी कर्ता नहीं।।८२।।

गाथार्थ : [पुद्गलाः] पुद्गल [जीवपरिणामहेतुं] जीव के परिणाम के निमित्त से [कर्मत्वं] कर्मरूप में [परिणमंति] परिणमित होते हैं, [तथा एव] तथा [जीवः अपि] जीव भी [पुद्गलकर्मनिमित्तं] पुद्गलकर्म के निमित्त से [परिणमति] परिणमन करता है। [जीवः] जीव [कर्मगुणान्] कर्म के गुणों को [न अपि करोति] नहीं करता [तथा एव] उसी तरह [कर्म] कर्म [जीवगुणान्] जीव के गुणों को नहीं करता; [तु] परन्तु [अन्योन्यनिमित्तेन] परस्पर निमित्त से [द्वयोः अपि] दोनों के [परिणामं] परिणाम [जानीहि] जानो। [एतेन कारणेन तु] इस कारण से [आत्मा] आत्मा [स्वकेन] अपने ही [भावेन] भाव से [कर्ता] कर्ता (कहा जाता) है, [तु] परन्तु [पुद्गलकर्मकृतानां] पुद्गल कर्म से किये गये [सर्वभावानाम्] समस्त भावों का [कर्ता न] कर्ता नहीं है।

टीका : 'जीवपरिणाम को निमित्त करके पुद्गल, कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्म को निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं'- इस प्रकार जीव के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को अन्योन्य हेतुत्व का उल्लेख होने पर भी, जीव और पुद्गल में परस्पर व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से, जीव को पुद्गलपरिणामों के साथ और पुद्गलकर्म को जीवपरिणामों के साथ कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से, मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध न होने से, अन्योन्य निमित्तमात्र होने से ही दोनों के परिणाम (होते) है; इसलिए, जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है; उसी प्रकार अपने

भाव से अपना भाव किया जाता है इसलिए, जीव अपने भाव का कर्ता कदाचित् है, परन्तु जैसे मिट्टी से कपड़ा नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार अपने भाव से परभाव का किया जाना अशक्य है, इसलिए (जीव) पुद्गलभावों का कर्ता तो कदापि नहीं हो सकता, यह निश्चय है।

भावार्थ : जीव के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को परस्पर मात्र निमित्त-नैमित्तिकपना है, तो भी परस्पर कर्ताकर्मभाव नहीं है। पर के निमित्त से जो अपने भाव हुए, उनका कर्ता तो जीव को अज्ञानदशा में कदाचित् कह भी सकते हैं, परन्तु जीव परभाव का कर्ता कदापि नहीं है।।८०-८२।।

गाथा - ८०-८२ पर प्रवचन

यह **जीव के परिणाम...** अर्थात् राग के परिणाम लेना। राग और द्वेष और मिथ्यात्वादि भाव वे जीव के परिणाम यहाँ लेना। और **पुद्गल के परिणाम...** अर्थात् कर्म है, उसकी जो पर्याय हो कर्म की, वह पुद्गल के परिणाम (के) **अन्योन्य निमित्तमात्रता है, तथापि उनके कर्ताकर्मपना नहीं है, ऐसा अब कहते हैं।** आहाहा! विषय बदला है। पाँच गाथाओं का विषय दूसरा था, यह विषय दूसरा है। पाँच गाथाओं में मूल रकम की बात थी। बहुत सूक्ष्म आया था।

यह विषय है, वह तो अब आत्मा के-राग-द्वेष के मिथ्यात्व के परिणाम और कर्म के उदय के कर्म के परिणाम, दो के बीच निमित्त-निमित्त सम्बन्ध होने पर भी कर्ताकर्मपना नहीं है, इतना अब सिद्ध करना है। समझ में आया? ऐसा अब कहते हैं। गाथा '**जीव परिणाम हेदुं**' उसमें आया था कि जीव परिणाम अर्थात् वीतरागी परिणाम, यह जीव परिणाम अर्थात् विकारी परिणाम। आहाहा!

जीव-परिणाम-हेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गल-कम्म-णिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।।८०।।

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्ण-णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि।।८१।।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पोग्गल-कम्म-कदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।८२।।

यहाँ पुद्गलकर्म अर्थात् कर्म जड़ लेना, परन्तु वहाँ जो पुद्गल लिया था, वे पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्यवहाररत्नत्रय के वे पुद्गल के परिणाम कहे। दोनों में अन्तर है, दोनों की पूरी भाषा बदल गयी। दृष्टि के विषयवन्त को परिणाम जो होते हैं, वह द्रव्यदृष्टि। द्रव्य और गुण शुद्ध होने से उसके परिणाम शुद्ध होते हैं, वह द्रव्य, गुण और पर्याय, ये तीनों ज्ञानी को शुद्ध हैं और रागादि जो परिणाम होते हैं, दया, दान, व्रत, भक्ति, वह सब पुद्गल का उत्पाद और पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा!

यहाँ इससे दूसरी बात है। वहाँ धर्मी जीव की दृष्टिवन्त के परिणाम की बात थी और यहाँ अज्ञानी के राग-द्वेष और मिथ्यात्व के परिणाम की बात है। आहाहा! कहो, अब पाँच गाथायें गयीं, वहाँ विषय बदला। नवरंगभाई! पाँच गाथायें बहुत सूक्ष्म गयीं, बहुत अच्छी, बहुत स्पष्ट, ऐसा स्पष्ट पहले नहीं किया था, ऐसा हुआ है बहुत सरस स्पष्ट। आहाहा!

'ण वि कुव्वदि कम्मगुणे' यह कम्मगुणे अर्थात् जड़ की पर्याय उसे यहाँ कम्मगुणे अर्थात् राग-द्वेष के परिणाम, दोनों में अन्तर था।

जीवभावहेतु पाय पुद्गल, कर्मरूप जु परिणमे।
पुद्गलकरम के निमित्त से यह जीव भी त्यों परिणमे।।८०।।

जीव कर्मगुण करता नहीं, नहिं जीवगुण कर्म हि करे।
अन्योन्य के हि निमित्त से परिणाम दोनों के बने।।८१।।

इस हेतु से आत्मा हुआ कर्ता स्वयं निज भाव ही।
पुद्गलकरमकृत सर्व भावों का कभी कर्ता नहीं।।८२।।

यह गाथा वर्णीजी के साथ बहुत वर्ष पहले चर्चा हुई थी। गुलबाचन्द गया था न यहाँ से, पहले वह लाया था, बहुत वर्ष, हों! यह तो (संवत्) २०१३ के पहले की बात है। (संवत्) २००० वर्ष... दो के वर्ष। ऐसा कि देखो। एक-दूसरे के निमित्त-निमित्त से होता है। यह तीन गाथाओं में है। होता नहीं, निमित्त है परन्तु उससे यहाँ परिणाम होते नहीं। इसलिए तो गाथा ली है।

टीका :- जीव परिणाम को निमित्त करके... अर्थात् कि जीव के राग-द्वेष और मिथ्यात्व परिणाम, जीव के मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम। वह यह बात पूरी बदल गयी। अज्ञानी की बात लेनी हैं न यहाँ तो। जीव के परिणाम को अर्थात् मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम को निमित्त करके, मात्र निमित्त करके, **पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हैं।** पुद्गल अपनी पर्याय के काल में, कर्मरूप परिणमने के काल में परिणमते हैं। निमित्त करके का अर्थ वे जीव के परिणाम वहाँ हुए, इसलिए पुद्गल के परिणामरूप परिणमना पड़ा, ऐसा नहीं है। आहाहा!

पुद्गल, वह उसे निमित्त है। यहाँ निमित्त वह एक-दूसरे को निमित्त है। परिणमता है तो स्वयं स्वतन्त्र अपने उपादान से। निमित्त कहा है, निमित्त है ऐसा। निमित्त करके अर्थात् निमित्त है और यहाँ कर्म के पुद्गल अपने को उस काल में वह कर्म की पर्यायरूप परिणमने की स्वयं का उत्पन्न क्षण था, इसलिए वह कर्म उसरूप परिणमे हैं। यह राग और यह द्वेष के, मिथ्यात्व के परिणाम का निमित्त हुआ, इसलिए उसे कर्मरूप परिणमना पड़ा, ऐसा नहीं है। अरे रे! ऐसी बातें हैं।

अब यह तो अज्ञानी की बातें अभी। पहले तो ज्ञान की गयी। वह यह प्रश्न लाये थे, बोलो। देखो! निमित्त से होता है, निमित्त से होता है, यह कहाँ कहा? यह तो निमित्त करके अर्थात् निमित्त यहाँ है और उस काल में कर्म के परिणामरूप परिणमने की पुद्गल में योग्यता से कर्म स्वयं परिणमते हैं। यहाँ परिणमा है, इसलिए वहाँ वह परिणमता है— ऐसा नहीं है। समझ में आया?

जीव परिणाम को निमित्त करके पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हैं... अर्थात् उपादानरूप से स्वयं से परिणमते हैं, **और पुद्गलकर्म को निमित्त करके...** कर्म का उदय है जड़, उसे निमित्त करके **जीव भी परिणमित होते हैं,...** वह जीव अपने भाव से राग-द्वेष और मिथ्यात्वरूप परिणमते हैं। आहाहा! कर्म का उदय तो निमित्तमात्र है। उस काल में जीव अपने परिणाम की उत्पत्ति का क्षण है, इसलिए वह मिथ्यात्व अथवा राग-द्वेष के परिणामरूप कर्तापने परिणमता है। यह निमित्त-उपादान का बड़ा झगड़ा। आहाहा!

इस प्रकार जीव के परिणाम को... अर्थात् विकारी परिणाम को **और पुद्गल के**

परिणाम के... अर्थात् कर्म के उदय के परिणाम को, **परस्पर हेतुत्व का उल्लेख होने पर भी...** अन्योन्य-एक-दूसरे का, जीव के परिणाम में कर्म का निमित्त और कर्म के परिणाम में यह कौन-सा निमित्त ? जीव के विकारी परिणाम में पूर्व के कर्म का उदय निमित्त। समझ में आया ? और पुद्गल के नये परिणाम में जीव के राग-द्वेष के परिणाम निमित्त। क्या कहा यह ? जीव के परिणाम जो राग-द्वेष होते हैं, उस काल में जो कर्म परिणमे, उस कर्म परिणमन में यह राग-द्वेष निमित्त, और कर्म का उदय है, वह उदय है, उस काल में-उस काल में उदय है, परन्तु उस काल में राग-द्वेष होते हैं, वे स्वयं के कारण से परिणमते हैं। समझ में आया ?

समय एक, परन्तु वस्तु स्वयं अपने-अपने से परिणमती है। आहाहा ! ऐसा **परस्पर हेतुत्व का उल्लेख होने पर भी...** हेतु अर्थात् निमित्त। **जीव और पुद्गल में परस्पर व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से...** आहाहा ! परिणामी कर्म और परिणाम राग-द्वेष उसका अभाव। परिणामी आत्मा और परिणाम कर्म का होना, इसका अभाव। व्याप्यव्यापक-कर्ताकर्म, परिणामी-परिणामपना अर्थात् परिणामी आत्मा और विकार परिणाम का कार्य कर्म का, ऐसा नहीं है, तथा विकारी आत्मा परिणाम, विकारी परिणाम कर्ता और कर्म के परिणाम उसका कार्य, ऐसा नहीं है तथा कर्म का उदय कर्ता और राग-द्वेष के परिणाम उसका कार्य, ऐसा नहीं है। आहाहा !

जीव को पुद्गल परिणाम के साथ और पुद्गलकर्म जीव परिणाम के साथ (अन्योन्य पुद्गलकर्म के परिणामों के साथ) कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से, है ? व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण अर्थात् कि कर्म का उदय व्यापक होकर जीव का विकार करे, इसका अभाव, इसी तरह जीव व्यापक विकारी होकर कर्म के परिणाम व्याप्य को करे, इसका अभाव है। ऐसा अब।

ऐसे जीव को पुद्गल परिणामों के साथ और उसके साथ **कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध नहीं है।** निमित्त हो, निमित्त हो, इसलिए यहाँ विकार हुआ, कर्म का उदय निमित्त है, इसलिए विकार हुआ—ऐसा नहीं है। तथा विकार के परिणाम हुए, इसलिए कर्म को परिणमना पड़ा—ऐसा नहीं है। आहाहा !

ऐसी स्वतन्त्रता है, दोनों की स्वतन्त्रता कर्ता अर्थात् स्वतन्त्ररूप से करे, वह कर्ता। अज्ञानी जीव पुण्य-पाप को स्वतन्त्ररूप से अज्ञान से करता है और कर्म के परिणाम जो पुद्‌गल के, पुद्‌गल वर्गणा थी, उसमें कर्म के परिणाम हुए, वह कर्म भी स्वयं स्वतन्त्ररूप से कर्म की पर्यायरूप परिणमता है। उसे यहाँ विकारी परिणाम थे, इसलिए यहाँ कर्म का परिणमन हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह बड़ा उपादान-निमित्त का घोटाला इसमें। **मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध न होने से परस्पर निमित्तमात्र होने से ही...** आहाहा! **अन्योन्य निमित्तमात्र होने से ही दोनों के परिणाम होता है।** दोनों के इस प्रकार स्वतन्त्ररीति से उसका-कर्म के परिणाम का निमित्त आत्मा नहीं और आत्मा के परिणाम का निमित्त कर्म नहीं, बस इतनी बात है, तथापि परिणाम स्वयं-स्वयं से होते हैं। आहाहा!

इसलिए जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है। मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है। **उसी प्रकार अपने भाव से अपना भाव किया जाता है।** इसी प्रकार जीव को, जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है, वैसे जीव के भाव द्वारा अपना विकार किया जाता है। उसमें अलग था। मिट्टी का कर्ता जैसे घड़ा, वैसे वहाँ आत्मा अपने निर्मल परिणाम का कर्ता जीव और विकारी परिणाम का कर्ता पुद्‌गल। जैसे मिट्टी घड़े को करे, वैसे कर्म विकारी परिणाम को करे, यह ज्ञानी की दृष्टि की अपेक्षा से बात थी। यह दृष्टान्त वहाँ भी घड़े का था कि मिट्टी घड़े को करती है व्यापक होकर व्याप्य; वैसे भगवान व्यापक होकर वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम को-व्याप्य को करता है। मिट्टी घटरूप होती है, वह मिट्टी का कार्य है; इसी प्रकार जीव स्वयं निर्विकारी परिणाम को करे, उसका वह कार्य और कर्ता है तथा विकारी परिणाम, ज्ञानी की दृष्टि में ज्ञानी को द्रव्यदृष्टि हुई है। विकारी परिणाम का व्यापकपना कर्म का है और व्याप्यपना उसके विकारी परिणाम हैं।

जैसे मिट्टी का घड़ा होता है, वैसे कर्म के कारण विकार परिणाम होते हैं, ऐसा वहाँ ज्ञानी की दृष्टि से यह लेना है। आहाहा! समझ में आया? दृष्टान्त तो दोनों के (एक सरीखे हैं), वहाँ यह था कि मिट्टी घटरूप होती है, वैसे विकारी परिणाम कर्म से होते हैं, ऐसा वहाँ दृष्टान्त था। ज्ञानी की दृष्टि की अपेक्षा से, द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से। आहाहा! और वहाँ मिट्टी

जैसे घड़े को करती है, वैसे आत्मा अपने निर्विकारी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम को करता है, ऐसा वहाँ था। यहाँ मिट्टी जैसे घड़े को करती है, वैसे अज्ञानी जीव अपने विकारी परिणाम को करता है। देवीलालजी! ऐसा है।

दृष्टान्त तो दोनों में है परन्तु दोनों में पहले (सिद्धान्त में) अन्तर है। है न? **जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है, उसी प्रकार अपने भाव से अपना भाव किया जाता है, इसलिए जीव अपने भाव का कर्ता कदाचित् होता है...** अज्ञानभाव की बात है न यह! जीव स्वयं, जैसे मिट्टी में से घड़ा होता है, वैसे जीव स्वयं अज्ञानभाव से, मिट्टी में से घड़ा होता है, वैसे जीव अज्ञानभाव से राग-द्वेष का कर्ता होता है। कदाचित् अर्थात् अज्ञानभाव से। आहाहा! कहो, समझ में आया? ऐसा है।

अब गाथायें पाँच गयीं, उनसे एकदम बदलाव कर डाला। दृष्टान्त वह का वह है, तथापि सिद्धान्त में उसका अन्तर। आहाहा!

मुमुक्षु : पूरब-पश्चिम का अन्तर।

पूज्य गुरुदेवश्री : इतना अन्तर है।

मुमुक्षु : दोनों में अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों में अन्तर है न? आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में अन्तर ही होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : जिसकी द्रव्यदृष्टि हुई है अर्थात् कि ज्ञानी हुआ है, अर्थात् कि चैतन्य के द्रव्य-गुण की शुद्धता का जिसे स्वीकार किया है, ऐसा जो ज्ञानी उसे, जैसे मिट्टी घड़ा करती है, वैसे वह ज्ञानी निर्मल वीतरागी परिणाम को करे और कर्ता होता है। आहाहा!

उसी प्रकार ज्ञानी को, जैसे मिट्टी घड़े को करती है, कर्म मिट्टी है उसी प्रकार विकारी पुण्य-पाप के परिणाम, वह उसका व्याप्य। वह घड़ा मिट्टी करती है, वैसे विकारी परिणाम कर्म करता है। कहो, त्रिभोवनभाई! ऐसा सूक्ष्म है इसमें! आहाहा! वह वहाँ थी वह द्रव्यदृष्टिवन्त की बात थी। जिसे आत्मा ज्ञायकस्वरूप पूर्णानन्द का नाथ प्रभु।

आहाहा! राग से भिन्न पड़कर जहाँ भेदज्ञान और सम्यग्ज्ञान हुआ है, उसे घड़ा जैसे मिट्टी से हुआ, वैसे निर्मल परिणाम जीव से हुए, और जैसे घड़ा मिट्टी से हुआ, वैसे मलिन परिणाम कर्म से हुए। आहाहा! समझ में आया ? पुंजाभाई! सूक्ष्म बहुत, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : समझ में आये ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहो, रसिकभाई! यह कल की बात दूसरी और आज की बात वापस दूसरी। यह व्याप्यव्यापक में तो कल कितना कहा था!

मुमुक्षु : दिन बदल गया न!

पूज्य गुरुदेवश्री : कल व्याप्यव्यापक ऐसा कहा था कि भगवान आत्मा व्यापक है और निर्मल परिणाम उसका व्याप्य-कर्ता का वह कर्म है। और उस ज्ञानी को जो कुछ विकार पुण्य, दया, दान, व्रत आदि के परिणाम हों, वह जैसे मिट्टी घड़ा करती है, वैसे वह विकारी परिणाम कर्म करता है। आहाहा! उनका वह (ज्ञानी) ज्ञाता है। आहाहा!

यहाँ अज्ञानी स्वयं स्वरूप का जहाँ भान नहीं। आहाहा! समझ में आया ? ऐसा जो अनादि प्रवाह में, अनादि अज्ञानी, आहाहा! जिसकी पर्यायबुद्धि है अर्थात् राग-द्वेष के परिणाम पर जिसकी रुचि और बुद्धि है। आहाहा! वह जीव, मिट्टी जैसे घड़े को करती है, वैसे अज्ञानी आत्मा अपने विकारी परिणाम को करता है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह जीव करता है, ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जीव करता है। वह कहे पुद्गल करता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म बहुत, बापू! व्यापारी को निर्णय करने की निवृत्ति नहीं मिलती, समय नहीं मिलता। आहाहा! यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, उन्हें जिस प्रकार से ज्ञानी की दलील और अज्ञानी की जो दलील करते हैं, उसे समझना चाहिए। आहाहा!

ज्ञानी को राग के, चाहे तो भगवान की भक्ति स्तुति का राग हो, उससे भी जिसने भिन्न आत्मा का ज्ञान किया है। आहाहा! उसके ज्ञान में तो उसके परिणाम, द्रव्य और गुण शुद्ध होने से द्रव्य और गुण शुद्ध की दृष्टि होने से, उसके परिणाम तो निर्मल कार्य होता है। वह जीव व्यापक और निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उस निर्मल कर्ता का कार्य है, और उस ज्ञानी को जो कुछ राग आदि बाकी होती है, वह व्याप्य कर्म है और वह कर्म व्यापक

है। आहाहा! उस विकारी परिणाम का कर्ता जड़ है और वह विकारी परिणाम जड़ है, इसलिए उसका वह कार्य है। कहो, समझ में आया?

यहाँ दूसरी बात है। यहाँ तो द्रव्य जिसे द्रव्य का ज्ञान नहीं, वस्तु की खबर नहीं, चैतन्य भगवान आनन्द का नाथ प्रभु, शुद्ध आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु का जिसे ज्ञान नहीं, इसलिए उसकी बुद्धि में राग और पुण्य-पाप मेरे हैं, यह मेरा है, ऐसा नहीं तो वह मेरा है। आहाहा! ज्ञानी को तो यह मेरा है, इसलिए वह मेरा नहीं, द्रव्य और गुण मेरे हैं; इसलिए राग मेरा नहीं। आहाहा! और अज्ञानी को तो द्रव्य-गुण मेरे नहीं, इसलिए उसे राग मेरा है, (ऐसा भासित होता है)। देवीलालजी! ऐसा तुम्हारे कहीं ढुंढिया में-मन्दिरमार्गी में ऐसा कुछ आवे, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : सवाल ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे थोड़ी-बहुत बात डाली है, परन्तु ऐसा स्पष्ट नहीं है। क्योंकि दृष्टि विपरीत से शास्त्र बनाये। आहाहा! और यह तो तीन लोक के नाथ की सीधी वाणी, सन्त सीधी वाणी जगत को कहते हैं। आहाहा!

जीव अपने भाव का कर्ता कदाचित् है, वैसा अज्ञानभाव है, तब तक विकार का कर्ता है, ऐसा। सदा ही कर्ता है, ऐसा नहीं। जब तक उसे द्रव्य और गुण की प्रतीति हुई नहीं, मेरा नाथ शुद्धचैतन्य भगवान पूर्णानन्द का नाथ है, उसके अस्तित्व की, अस्तित्व का-मौजूदगी का ज्ञान हुआ नहीं, इसलिए वह राग और द्वेष को ही वह देखता है, यह (स्वभाव को) अज्ञानी नहीं देखता और ज्ञानी अपने द्रव्य और गुण शुद्ध को देखता होने से उसके परिणाम भी निर्मल शुद्ध ही होते हैं, वे परिणाम उसका कार्य है, उस परिणामी का वह परिणाम है और ज्ञानी को राग-द्वेष है, वह परिणाम है, जो कर्म परिणामी का वह परिणाम है। आहाहा!

भाषा तो सादी परन्तु ध्यान रखना चाहिए न, भाई! यह तो वीतरागमार्ग है, बापू! आहाहा! जिसके पास इन्द्र एकावतारी जाकर पिल्ले की भाँति सुनने बैठे, परमात्मा के पास महाविदेह में। आहाहा! वह वाणी कैसी होगी भाई! उसके न्याय और उसकी रीति की पद्धति कोई वीतराग की अलग है। आहाहा!

यहाँ **जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है, उसी प्रकार अपने भाव से अपना भाव किया जाता है इसलिए...** अपना भाव अर्थात् राग और द्वेष यहाँ। उसमें अपना भाव अर्थात् निर्मल भाव था, ज्ञानी को।

मुमुक्षु : यह पुद्गल का भाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्गल का। वह तो ज्ञाता होकर ज्ञेय है न वह तो, और यहाँ तो मेरा स्वरूप है यह तो। जिसने आत्मा शुद्ध चैतन्यघन प्रभु, दृष्टि में लिया नहीं, उसके अस्तित्व में राग-द्वेष है, वह मेरा अस्तित्व है, ऐसा माना है। आहाहा! और जिसे अपना भगवान आत्मा, शुद्ध चैतन्य आनन्दघन है, उसका अस्तित्व भासित हुआ है, उसके परिणाम में राग-द्वेष मेरे हैं, ऐसा वहाँ नहीं है, वहाँ राग-द्वेष है, वह ज्ञाता का ज्ञेय है। आहाहा! आहाहा!

वह तो कर्म का कार्य है वहाँ, मैं तो उसका जाननेवाला हूँ। क्योंकि मुझमें विकार करे, ऐसा कोई गुण नहीं है, अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण होने पर भी कोई एक गुण भी विकार करे, ऐसा कोई गुण नहीं है।

मुमुक्षु : गुण विकार करे तो विकार मिटे किसका?

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण विकार करे तो फिर विकार ही वस्तु हो गयी। विकार वस्तु कभी होती ही नहीं तीन काल में। आहाहा!

अपने भाव से अपना भाव किया जाता है इसलिए, जीव अपने भाव का कर्ता कदाचित् होता है। देखा? जीव का अपना भाव राग और द्वेष, पुण्य-पाप के भाव, वह जीव का भाव यहाँ कहना है। वहाँ कहा था, वह कर्म का भाव कहा था।

मुमुक्षु : ज्ञानी की बात थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ ज्ञानी की बात थी, यह अज्ञानी की बात है। क्योंकि ज्ञानी को द्रव्य-गुण की शुद्धता भासित हुई है, इसलिए उसके भास में राग मेरा है, ऐसा भासित नहीं होता। आहाहा! अज्ञानी को द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है, वह भासित नहीं हुआ; इसलिए राग और द्वेष मेरे हैं—ऐसा उसे भासित हुआ है, इसलिए वह उसके कार्य का वह कर्ता है परन्तु कर्म कर्ता नहीं, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। उस विकारी परिणाम का जीव अपने भाव का कर्ता है। है? **जैसे मिट्टी से कपड़ा नहीं किया जा सकता,...** आहाहा! **उसी**

प्रकार अपने भाव से परभाव का किया जाना अशक्य है, इसलिए... आहाहा! मिट्टी से कपड़ा नहीं होता, वैसे आत्मा के भाव से कर्म के परिणाम नहीं होते, पुद्गल के परिणाम आत्मा के भाव से नहीं होते। आहाहा! ऐसा है। आहाहा!

दृष्टान्त कैसा आया है, देखा? उसमें मिट्टी का ही अकेला घड़ा, यहाँ फिर मिट्टी द्वारा कपड़ा नहीं होता, ऐसा कहकर परद्रव्य के परिणाम नहीं होते। कर्म के बन्धन के परिणाम जीव नहीं करता, जैसे मिट्टी से कपड़ा नहीं होता; उसी प्रकार जीव के पुण्य-पाप के विकार के भाव द्वारा कर्म के परिणाम नहीं होते और कर्म के परिणाम द्वारा आत्मा में विकारी परिणाम नहीं होते। मिट्टी से कपड़ा नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा के विकारी परिणाम द्वारा कर्म नहीं बँधते और कर्म के उदय के कारण जीव के (विकारी) परिणाम आत्मा में हों, वह मिट्टी कपड़ा न हो वैसे कर्म का उदय आया; इसलिए यहाँ राग-द्वेष हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह तो भाई! एक-एक गाथायें समयसार की गाथा अर्थात्, आहाहा! गहराई का पार नहीं होता।

मिट्टी से कपड़ा नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार अपने भाव से अर्थात् विकारी भाव से, **परभाव का...** अर्थात् कर्म का **किया जाना अशक्य है, इसलिए (जीव) पुद्गलभावों का कर्ता तो कदापि नहीं हो सकता।** यहाँ यह सिद्ध करना है। आहाहा! यहाँ राग-द्वेष हुए, इसलिए उसे यह कर्मबन्धन हुआ, ऐसा नहीं है। यह वहाँ पुद्गल के परिणाम में कर्मबन्धन के परिणाम होने का काल था, इसलिए वहाँ हुआ। यह राग-द्वेष तो निमित्तमात्र है और इन राग-द्वेष के भाव द्वारा कर्म का परिणमन हुआ, ऐसा नहीं है। मिट्टी से कपड़ा नहीं होता, वैसे राग-द्वेष के परिणाम से कर्म के परिणाम नहीं होते।

ऐसा अपने आप पढ़े तो बराबर समझ में आये, ऐसा नहीं है, यह ऐसी बात है। इसलिए निवृत्ति लेकर सुनने का योग करना। हमारे चिमनभाई ने निवृत्ति ली है और अब छोड़ दिया है सब। अब करो उद्धार। आहाहा! भाई! अरे! ऐसा काल कब आवे, बापू! आहाहा! अनन्त काल से भटका, कहीं त्रसपना पाया नहीं था, ऐसा निगोद में अनन्त काल रहा। आहाहा!

मुमुक्षु : त्रसपना पाया नहीं था...

पूज्य गुरुदेवश्री : बेचारा त्रसपना पाया नहीं था। इतना काल तो निगोद में गया। ओहोहो! और अभी कितने बेचारे त्रस हुए नहीं, ऐसे निगोद में जीव पड़े हैं, लट हुए नहीं अभी। आहाहा! निगोद में से निकले नहीं; इसलिए फिर क्या हुआ ? यह आलू, शकरकन्द। यह आलू की लोगों को शंका है परन्तु लहसुन और प्याज, मूला का कान्दा, अनन्त जीव उसमें अनन्त जीव। एक राई जितने टुकड़े में तो असंख्य शरीर, अंगुल के असंख्यवें भाग में औदारिकशरीर, एक राई जितने टुकड़े में असंख्य औदारिकशरीर और एक-एक शरीर में अनन्त जीव, और वहाँ से अभी कितने ही जीव निकले नहीं। आहाहा!

भगवान की वाणी में है, आहाहा! प्रभु! तू यह मनुष्य हुआ न अब, आहाहा! अब तुझे यह करनेयोग्य का काल तो यह है। निगोद में से त्रस हो तो वह छहढाला में कहते हैं कि वह तो उसे चिन्तामणि रत्न मिला, त्रस-त्रस लट हो। आहाहा! चिन्तामणि मिला, उसमें से मनुष्य हो और उसमें फिर... आहाहा! आर्य क्षेत्र में जन्म, उसमें भी वीतराग के कुल में-जैन में जन्म और उसमें भी वीतरागवाणी सुनने का योग ऐसे में जन्म। आहाहा! बापू! तेरे पुण्य का पार नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा!

यह दृष्टान्त कैसा दिया है, अमृतचन्द्राचार्य स्पष्टीकरण करते हैं। मिट्टी से कपड़ा नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार अपने भाव से परभाव, इतना यहाँ सिद्ध करना है। पुद्गलभावों का कर्ता तो कदापि नहीं होता, ऐसा सिद्ध करना है। कर्म का उदय है, इसलिए विकार हुआ है, यह भी ऐसा नहीं, वह तो पहले सिद्ध किया, परन्तु अब ऐसा सिद्ध करना है कि जीव स्वयं पुद्गल के परिणाम का कर्ता—अपने विकारी परिणाम का कर्ता होने पर भी, वह पर के परिणाम का कर्ता तो है ही नहीं, इतना सिद्ध करना है। समझ में आया ? नहीं तो पुद्गल-कर्म है, वह कहीं विकारी परिणाम का कर्ता नहीं, यह सिद्धान्त तो रख दिया। परन्तु इसे योगफल यह लेना कि जैसे जीव ज्ञानी हुआ, और विकारी परिणाम का कर्ता नहीं, वैसे अज्ञानी विकारी परिणाम का कर्ता है, वह पुद्गल के परिणाम का कर्ता नहीं। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! ऐसा है।

भावार्थ - जीव के परिणाम के... अर्थात् विकारी परिणाम के **और पुद्गल के परिणाम के...** अर्थात् कर्म की पर्याय के, **परस्पर मात्र निमित्त-नैमित्तिकपना है।** परस्पर

हों, वह निमित्त और यहाँ नैमित्तिक, यह निमित्त और वह नैमित्तिक। विकारी परिणाम निमित्त, कर्म नैमित्तिक; कर्म का उदय निमित्त, विकारी परिणाम नैमित्तिक, इतना सम्बन्ध है। निमित्त-नैमित्तिकपना है, **तो भी परस्पर कर्ताकर्मभाव नहीं है...** परस्पर आ गया वापस दोनों, कर्म का उदय वह राग को नहीं करता और राग है, वह कर्म को नहीं बाँधता। आहाहा!

पुराने कर्म का उदय है, वह राग को नहीं करता और राग है, वह नये कर्म बँधे, उसे नहीं करता, परन्तु पुराना है, उसके साथ सम्बन्ध फिर रहा नहीं। भाई! राग-द्वेष के परिणाम हैं, उसे पूर्व के कर्म का उदय निमित्त है, तो उस कर्म ने उन्हें यहाँ किया नहीं। एक बात। अब यहाँ राग-द्वेष निमित्त है और नये कर्म बँधते हैं, उन पुराने के साथ सम्बन्ध नहीं रहा। क्या कहा, समझ में आया? पुराने कर्म का निमित्तपना विकारी परिणाम करे उसे निमित्तपना कहते हैं, तथापि वह पुराने कर्म उस विकारी परिणाम का कर्ता नहीं। अब यहाँ विकारी परिणाम निमित्त और कर्मबन्धन के परिणाम, वे नैमित्तिक और वे पुराने कर्म जो विकार में निमित्त थे, वे नहीं। विकारी परिणाम निमित्त और नये कर्म के परिणाम हों, वे नैमित्तिक, तथापि उस कर्म के परिणाम का, विकारी परिणाम कर्ता नहीं है। नवरंगभाई! भाषा तो सादी आती है। देखा! कहाँ गया, तुम्हारा गया? है। वहाँ पढ़ा होगा वह पाप का सब। यह दूसरी जाति का है। आहाहा! कहो, समझ में आया? आहाहा!

तो भी परस्पर कर्ताकर्मभाव नहीं है, इसलिए दोनों सिद्ध किये। पर के निमित्त से जो अपने भाव होते हैं, है? कर्म का निमित्त और विकारी परिणाम अपने भाव हों। आहाहा! उनका कर्ता तो जीव को अज्ञानदशा में कदाचित् कहा भी जा सकता है, अज्ञानदशा में। आहाहा! शुद्ध परमात्मस्वरूप भगवान पवित्र का पिण्ड प्रभु, उसका जिसे ज्ञान नहीं और अज्ञान है। आहाहा! महाप्रभु पवित्र का पिण्ड आत्मा, अनन्त-अनन्त अपार गुण हैं, परन्तु सब पवित्र और शुद्ध, ऐसे भगवान आत्मा के गुण और द्रव्य का जिसे ज्ञान नहीं है, ऐसी चीज़ है विद्यमान, उसका ज्ञान नहीं। आहाहा! उसके अज्ञान के कारण विकारी परिणाम का उसे कर्ता कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

चैतन्य के भगवान शुद्ध, शुद्ध द्रव्य, शुद्ध गुण अपरम्पार अखण्ड भण्डार महाप्रभु!

ऐसे भण्डार के शुद्धभाव का जिसे ज्ञान नहीं। आहाहा! और जिसे मात्र राग-द्वेष और पर्याय का ज्ञान है, वह अज्ञान है। उस अज्ञानभाव से उसे पुण्य-पाप के विकारी परिणाम कार्य और कर्ता कहा जा सकता है अज्ञानभाव में, आहाहा! तथापि वह पुद्गल के परिणाम का कर्ता तो नहीं है। आहाहा!

परस्पर निमित्त-निमित्त सम्बन्ध होने पर भी परस्पर कर्ताकर्मपना, परिणामी परिणामपना नहीं है, व्याप्यव्यापकपना नहीं है। आहाहा! ऐसी सब भाषा।

मुमुक्षु : कदाचित् क्यों कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञान कहा न! अज्ञान है, तब तक कर्ता है। कहा, क्या? परन्तु कदाचित् अज्ञान है, तब तक तो वह कदाचित् अभी कर्ता है। भान हुआ, फिर कर्ता नहीं। यहाँ तो बात हो गयी न। दो बार बात हो गयी। उसके लिये तो यह दो-तीन बार बात की है कि शुद्ध चैतन्यद्रव्य और गुण शुद्ध है, महाप्रभु महा अस्तिवाला महातत्त्व है, उसकी जिसे खबर नहीं, वह अज्ञानी, उसे पुण्य-पाप के विकारी परिणाम पर दृष्टि है, इसलिए वह अज्ञानी, उसका कर्ताकर्म होता है। आहाहा! आहाहा!

परन्तु जिसके शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय की अस्ति की प्रतीति हुई है, आहाहा! जिसकी ज्ञान की पर्याय में महाप्रभु द्रव्य और गुण महाशुद्ध प्रभु ज्ञात हुआ है, उसके परिणाम में शुद्धता के अतिरिक्त क्या हो उसे? क्योंकि उसका विषय ही पूरा शुद्ध है पर्याय का। वह शुद्ध है, उसके परिणाम शुद्ध होते हैं। आहाहा! उसे जो रागादि हों, उन्हें वह पररूप से-ज्ञेयरूप से जानता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

इस वस्तु तत्त्व को समझे बिना, कुछ नहीं होता ले लो व्रत और प्रतिमा और फिर हैरान... हैरान होकर...। वस्तु की तो अभी खबर नहीं क्या है यह?

मुमुक्षु : समझने के बाद भी व्रत-तप तो करना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : करना या नहीं, विकल्प आवे उसका जाननेवाला रहता है, फिर ऐसा है। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! मार्ग सूक्ष्म बहुत। अभी तो पूरे स्वरूप को लोगों ने पलटा दिया है और बेचारे बनिये को निवृत्ति नहीं होती।

उसने लिखा है न? कहाँ का? वह जापानी... जापानी, वह जापान का बड़ा

ऐतिहासिक है, ६७ वर्ष का और उसका लड़का ऐतिहासिक है। बहुत शास्त्र (पुस्तकें) बहुत देखी है उसने। यह जैन के शास्त्र देखे। फिर वह कहता है कि ओहोहो.. जैन में तो 'अनुभूति का कहा है।' जैन में तो अनुभूति करना, यह कहा है, परन्तु जैन (धर्म) बनियों को मिला और बनिये व्यापार के कारण निवृत्त नहीं होते। जापान का ऐतिहासिक है, उसे खबर पड़ गयी सबको। बनिया व्यापार के कारण निवृत्त नहीं, इसलिए यह निर्णय करने का उसे समय नहीं मिलता। अनुभूति भगवान आत्मा कहते हैं, आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु, आहाहा! उसकी अनुभूति करना, वह जैनधर्म है। परन्तु यह द्रव्य क्या है, उसकी अभी खबर भी नहीं होती। आहाहा! और यह प्रतिमा धारण कर ली एक, दो, चार, पन्द्रह, दस, ग्यारह, वह तो राग का कर्ता होता है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

कठिन काम, बापू! वह बेचारा ऐसा कहता है... कि जैनी हुए परन्तु बनिये को बात मिली और जैन परमेश्वर का मार्ग है अनुभूति। आत्मा जो शुद्ध है, वह बहुत उसे ख्याल नहीं होगा। परन्तु, बहुत पढ़ा हुआ तथा जैन का, अन्य का पढ़ा हुआ और जैन का उसने यह निकाला। वह जापान का ऐतिहासिक है। लेख आया था। यहाँ निवृत्ति नहीं मिलती, इसे धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती।

मुमुक्षु : जापानवाले को निवृत्ति कैसे मिली होगी?

पूज्य गुरुदेवश्री : रामजीभाई जैसे निवृत्त तो कोई होते होंगे न? आहाहा! यह बनियों की ऐसी हालत की है, बनिया व्यापार के कारण निवृत्ति नहीं मिलती, उसमें आत्मा के जैनधर्म की अनुभूति है, उसका निर्णय वह कब करे? यह प्रतिमा लो, व्रत ले लो और मुनिपना ले लो न, भगवान की भक्ति करो, मन्दिर बनाओ, यह ऐसे उपदेश सब। आहाहा!

भगवान आत्मा, वह राग के कर्ता बिना की चीज़ अन्दर है, क्योंकि जो शुद्धस्वरूप है, वह अशुद्ध का कर्ता कैसे हो? आहाहा! ऐसी जो शुद्धचैतन्य भगवान पूर्णानन्दस्वरूप (चीज़) पड़ी है। आहाहा! उसका तो आश्रय लिया नहीं और यह राग का आश्रय लेकर यहाँ क्रियाकाण्ड में जुड़ गया। इसलिए वह अज्ञानी कदाचित् राग का कर्ता कहो। आहाहा! ऐसा लोगों को कठिन पड़ता है, इसलिए सोनगढ़ का एकान्त है और ऐसा करके

बातें करते हैं बेचारे। क्या करे ? दुनिया की तो सब खबर है न बापू! खबर नहीं ? यह मार्ग अलग, भाई! आहाहा!

परन्तु जीव परभाव का कर्ता तो कदापि नहीं है... यहाँ अन्तिम सिद्ध यह किया है। पुद्गल को और इसे परस्पर निमित्त-निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म राग का कर्ता नहीं। राग पुद्गल (का कर्ता नहीं), इतना सिद्ध करके, अन्तिम सिद्ध यह किया कि जीव पुद्गल के परिणाम का कर्ता नहीं। जीव की बात इन्हें सिद्ध करनी है न अधिक तो। आहाहा!

इसीलिए यह सिद्ध हुआ कि जीव को अपने ही परिणामों के साथ कर्ताकर्म भाव... इतना ही लेना। जीव अज्ञानरूप से अपने पवित्र पूर्ण स्वरूप के भान बिना, उस ओर की दृष्टि बिना, उस ओर के झुकाव के बिना। आहाहा! जो अपवित्र जो पुण्य-पाप है, पवित्र स्वभाव से विरुद्ध। आहाहा! उसके साथ कर्ताकर्मभाव, यहाँ विशेष मिलाया अब। **भोक्ताभोग्य भाव है ऐसा अब कहते हैं।** वापस देखा ? कर्ताकर्मपना सिद्ध किया, अब भोक्ताभोग्य, भोक्ता आत्मा और विकारी परिणाम भोग्य। परपदार्थ आत्मा को भोग्य, ऐसा नहीं। आहाहा!

इन रोटियों को आत्मा भोगे, स्त्री के शरीर को भोगे, ऐसा नहीं। ऐसा तो अज्ञानरूप से भी नहीं, ऐसा कहते हैं। वह अपने विकारी परिणाम का भोक्ता और भोग्य उसे विकारी परिणाम, बस। आहाहा! एक भोक्ता आत्मा और रोटियों का भोग्य, रोटियाँ भोगने के योग्य, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। उसमें कर्ताकर्मपना कहा, परन्तु अब इन परिणामों के साथ कर्ताकर्मभाव और भोक्ताभोग्यपना भी है, ऐसा अब कहते हैं।

अपने परिणाम के साथ भोक्ताभोग्य है, परन्तु परवस्तु को भोगे आत्मा या कर्म को भोगे या स्त्री को भोगे या मौसम्बी को भोगे या मैसूर को भोगे, ऐसा कभी तीन काल में नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : खट्टा-मीठा स्वाद कैसे आता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वाद कहाँ, राग का स्वाद आता है। वह कहा नहीं था ? मैसूर जो है मुँह में पड़ा, जीभ ने उसे छुआ, जीभ। आत्मा ने उसे छुआ नहीं, परन्तु आत्मा को

स्वाद आया कि, यह मीठा है, ऐसा ख्याल आया। मीठी चीज़ को छुआ नहीं। वह मीठी चीज़ तो जड़ है—मिट्टी-धूल है और आत्मा तो अरूपी है। उस मीठी चीज को आत्मा स्पर्श नहीं करता, परन्तु उसकी ओर लक्ष्य जाने से, ठीक है, ऐसा जो राग हुआ, उस राग का अनुभव करता है। मैसूर का नहीं, स्त्री का नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

यह स्वयं अपना भोक्ता, राग का भोक्ता भोग्य है। परन्तु उसे स्त्री का शरीर या माँस, हड्डियाँ या क्या कहलाता है दूसरा, मैसुर और मौसम्बी और रसगुल्ला और मिर्ची का अथाणां, वह सब आत्मा (का) भोग्य और भोगा जाये, ऐसा नहीं है। यह आत्मा उन्हें भोग सकता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

सवेरे दूध पीवे, चाय, बहुत तो उकाली, दोपहर में फिर दाल, भात, रोटी, सब्जी, और दो बजे कुछ दूध-बूध करे कुछ और शाम को पूड़ी खीचड़ी, कढ़ी कुछ पहले तो खीचड़ी और कढ़ी करते थे। अब और कुछ पूड़ी, रोटी और अमुक, वह क्या कहलाता है? भुजिया-बुजिया, ऐसा कुछ करे शाम को। बहुत फेरफार हो गया पहले की अपेक्षा। पुरानी लाईन में तो रोटी और रोटला, बस। चावल तो किसी जगह हो।

मुमुक्षु : मेहमान आवे तब।

पूज्य गुरुदेवश्री : मेहमान आवे तब। यह तो अब चावल प्रतिदिन, सब्जी एक और दो सब्जी बनावे और एक दाल हो और नहीं तो एक सब्जी और दाल हो। वह तो एक दाल हो तो सब्जी नहीं और सब्जी हो तो दाल नहीं, तब ऐसा था। साठ वर्ष पहले तो। बहुत फेरफार, बहुत फेरफार हो गया। लोगों के बाहर के जीवन में भी बहुत फेरफार हो गया।

यहाँ कहते हैं कि जीव जैसे राग-द्वेष का कर्ता और भोक्ता है, राग-द्वेष का कर्ता और कर्म है, परन्तु पर का कर्ता नहीं, उसी प्रकार आत्मा अपने परिणाम का भोक्ता है परन्तु परवस्तु का भोक्ता नहीं, इसकी बात करेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–८३

ततः स्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च–

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं।।८३।।

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानम्।।८३।।

यथोत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थयोः समीरसञ्चरणासञ्चरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वादिमध्यान्तेषूत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थे व्याप्योत्तरङ्गं निस्तरङ्गं त्वात्मानं कुर्वन्नात्मान–मेकमेव कुर्वन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्।

यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वादुत्तरङ्गं निस्तरंङ्गं त्वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्।

तथा ससन्सारनिःसन्सारावस्थयोः पुद्गलकर्मविपाकसम्भवासम्भवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीव एव स्वयमन्त–र्व्यापको भूत्वादिमध्यान्तेषु ससन्सारनिःसन्सारावस्थे व्याप्य ससन्सारं निःसन्सारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत्।

तथायमेव च भाव्यभावकभावाभावात् परभावस्य परेणानुभवितुमशक्य–त्वात्सन्सारं निःसन्सारं वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभातु, मा पुन–रन्यत्।।८३।।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जीव को अपने ही परिणामों के साथ कर्ताकर्मभाव और भोक्ताभोग्यभाव (भोक्ताभोग्यपना) है, ऐसा अब कहते हैं:–

आत्मा करे निजको हि यह मंतव्य निश्चय नयहि का।
अरु भोगता निज को हि आत्मा, शिष्य! यों तू जानता।।८३।।

गाथार्थ : [निश्चयनयस्य] निश्चयनय का [एवम्] ऐसा मत है कि [आत्मा] आत्मा [आत्मानम् एव हि] अपने को ही [करोति] करता है [तु पुनः] और फिर [आत्मा] आत्मा [तं च एव आत्मानम्] अपने को ही [वेदयते] भोगता है – ऐसा हे शिष्य! तू [जानीहि] जान।

टीका : जैसे उत्तरंग[1] और निस्तरंग[2] अवस्थाओं को हवा का चलना और न चलना निमित्त होने पर भी, हवा और समुद्र को व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से कर्ताकर्मपने की असिद्धि; इसलिए समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उत्तरंग अथवा निस्तरंग अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उत्तरंग अथवा निस्तरंग ऐसा अपने को करता हुआ स्वयं एक को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु अन्य को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; और फिर जैसे वही समुद्र, भाव्यभावकभाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभव अशक्य होने से, अपने को उत्तरंग अथवा निस्तरंगरूप अनुभवन करता हुआ, स्वयं एक को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; इसी प्रकार ससंसार और निःसंसार अवस्थाओं को पुद्गलकर्म के विपाक का सम्भव[3] और असम्भव निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म और जीव को व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से, कर्ताकर्मपने की असिद्धि है; इसलिए जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर ससंसार अथवा निःसंसार अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर ससंसार अथवा निःसंसार ऐसा अपने को करता हुआ, अपने को एक को ही करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु अन्य को करता हुआ प्रतिभासित न हो; और फिर उसी प्रकार यही जीव, भाव्यभावकभाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभव अशक्य है; इसलिए ससंसार अथवा निःसंसाररूप अपने को अनुभव करता हुआ, अपने को एक को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न हो।

भावार्थ : आत्मा को परद्रव्य-पुद्गलकर्म-के निमित्त से ससंसार-निःसंसार अवस्था है। आत्मा उस अवस्थारूप से स्वयं ही परिणमित होता है। इसलिए वह अपना ही कर्ता-भोक्ता है; पुद्गलकर्म का कर्ता-भोक्ता तो कदापि नहीं है।।८३।।

---

१. उत्तरंग=जिसमें तरंगें उठती हैं ऐसा; तरंगवाल।

२. निस्तरंग=जिसमें तरंगें विलय हो गई हैं ऐसा; बिना तरंगों का।

३. सम्भव=होना; उत्पत्ति।

प्रवचन नं. १७१, गाथा-८३, दिनांक १७-०१-१९७९, बुधवार, पौष कृष्ण-४

समयसार, ८३ गाथा

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं।।८३।।

आत्मा करे निजको हि यह मंतव्य निश्चय नयहि का।
अरु भोगता निज को हि आत्मा, शिष्य! यों तू जानता।।८३।।

यहाँ तो समुच्चय बात करनी है। ज्ञानी की बात थी, वह गयी ७५-७६-७७-७८-७९। यह तो समुच्चय सामान्य बात जो अनादि की है, वह बात है।

जैसे उत्तरंग और निस्तरंग... समुद्र में जो तरंगें उठें और तरंगें समा जाये, समुद्र में तरंग उठे और समुद्र में तरंग समा जाये-विलय हो। ऐसे **अवस्थाओं को हवा का चलना...** हवा का होना, यह वायु उत्तरंग में, तरंग होने में हवा चलना निमित्त और निस्तरंग में हवा का **नहीं चलना वह निमित्त...** ऐसा **होने पर भी हवा और समुद्र को व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से...** हवा है वह व्यापक है, कर्ता है और समुद्र की पर्याय व्याप्य-कर्म है, कार्य है, इसका अभाव है। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया?

समुद्र में-सागर में पानी की तरंग उठे, उसमें हवा का चलना निमित्त और तरंग विलय हो, उसमें हवा का न चलना निमित्त, अभाव निमित्त है। तथापि हवा को और समुद्र को व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है। हवा है, वह व्यापक हुई और उसके तरंग को उठावे, इसका अभाव है। इसी प्रकार हवा का अभाव होने से यहाँ उसका विलय हो, तरंग का नाश हो, इसका अभाव है। ऐसा सूक्ष्म है।

समुद्र के तरंग के उत्पन्न में हवा निमित्त होने पर भी और हवा के अभाव का तरंग के नाश को निमित्त होने पर भी हवा के भाव को और समुद्र के तरंग की अवस्था को व्यापकभाव और व्याप्य का अभाव है। हवा कर्ता होकर व्यापक हुई और तरंग को उत्पन्न करती है, ऐसा नहीं है। तथा हवा का अभाव व्यापक होकर तरंग का विलय करती है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? हवा के और समुद्र के व्याप्य अर्थात् कार्य और व्यापक / कर्ता-

ऐसे कर्ताकर्म के भाव के, अभाव के कारण हवा का और समुद्र के पानी का उछलना, वह तरंग, वह कर्म किसका अभाव है। निमित्त भले हो, तथापि उस हवा का चलना, उस तरंग का उठना, इसका कर्ता है हवा का चलना, यह है नहीं। आहाहा!

कर्ताकर्मपने की असिद्धि है, इसलिए... हवा के और समुद्र के तरंग के कर्ताकर्म भाव की असिद्धि है, इसलिए **समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर...** समुद्र स्वयं ही व्यापक / कर्ता होकर, **उत्तरंग अथवा निस्तरंग अवस्था में...** आहाहा! इस पानी में जो समुद्र की तरंग उठी, उसके आदि-मध्य-अन्त में समुद्र है, उसकी आदि में हवा का चलना निमित्त है, इसलिए वह उसकी आदि में है, इसलिए वहाँ तरंग उठती है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? समुद्र ही, 'ही' है न? एकान्त है। वापस ऐसा नहीं कि निमित्त कुछ-कुछ कर्ता है, कथंचित्-कथंचित् समुद्र स्वयं तरंग का कर्ता है और कथंचित् हवा कर्ता है—ऐसा नहीं है। आहाहा!

प्रश्न उठा था न तब? निमित्त किसी समय भी करता है, ऐसा प्रश्न था, वहाँ ईसरी, ईसरी। यहाँ कहते हैं कि हवा निमित्त हो और तरंग का उठना हो, परन्तु उस तरंग के उठने में निमित्त होने पर भी तरंग के उठने में वह व्यापक है हवा और उसका यह कार्य है उठना, ऐसा नहीं है। समुद्र स्वयं ही अन्तर में आदि-मध्य-अन्त में व्यापकर तरंग को उत्पन्न नहीं करती। आहाहा! समझ में आया या नहीं?

अब यह मौजूद दिखता है कि हवा आवे और तरंग उठे तथा पवन न हो तो तरंग विलय हो जाये। नहीं, नहीं; ऐसा नहीं है। सुन, कहते हैं। आहाहा! समुद्र स्वयं ही उसकी तरंग उठने में आदि में-मध्य में और अन्त में समुद्र है, उसकी आदि में हवा थी, इसलिए तरंग उठी - ऐसा नहीं है। आहाहा! देखो तो स्वतन्त्रता! फिर यह तो आत्मा में उतारेंगे, हों! यह तो दृष्टान्त है। समुद्र ही, समुद्र ही - ऐसा है न? अकेला ही समुद्र। आहाहा!

'पारावार एव' है न? अन्दर है। 'पारावार एव' दूसरी लाईन में संस्कृत में है। आहाहा! दूसरी लाईन में है। यह तो नजर वहाँ गयी हो इसलिए। 'पारावार एव' दूसरी लाईन। समुद्र ही स्वयं, आहाहा! अन्तर्व्यापक होकर, समुद्र स्वयं ही, यह तो निमित्त से कथन, बाकी हवा स्वयं ही, यहाँ उत्तरंग में स्वयं ही अपना कर्ताकर्म होकर उत्पन्न होती है।

यह तरंग जो उठती है, उसका कर्ता तरंग, कार्य तरंग, साधन तरंग, षट्कारक तरंग उसके हैं, परन्तु अब यहाँ समुद्र बतलाना है। आहाहा! ऐसी बात! वह **समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर...** अर्थात् पसरकर **उत्तरंग...** अर्थात् तरंग का होना और तरंग का विलय होना, **उस अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर...** शुरुआत, मध्य और अन्त में समुद्र तरंग के उत्पन्न और नाश को अवस्था में व्याप्तकर, **उत्तरंग अथवा निस्तरंग ऐसा अपने को करता हुआ,...** समुद्र ही अपने तरंग को उठाता और विलय करता हुआ, यह करता हुआ, **स्वयं एक को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है।** आहाहा! परन्तु दो हवा और समुद्र और तरंग दो होकर काम होता है, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

कार्य के दो कारण होते हैं या नहीं? व्यवहार का अर्थ 'यह नहीं' ऐसा उसका अर्थ। निमित्त अर्थात् व्यवहार अर्थात् कि नहीं। उपचार से कथन है। आहाहा! ऐसा है। **स्वयं एक को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु अन्य को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।** अर्थात्? यहाँ ऐसा लेना है, हवा इसे नहीं करती, ऐसा नहीं परन्तु हवा को समुद्र नहीं करता ऐसा प्रतिभासित नहीं होता, समुद्र अपने उत्तरंग-तरंग को करता हुआ प्रतिभासित होता है परन्तु हवा को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता, हवा को करता, ऐसा। हवा उसे नहीं करती। यह तो साधारण बात पहले आ गयी परन्तु हवा को लाना-चलाना और उठना उसे यह समुद्र की तरंग नहीं करती। क्या कहा, समझ में आया?

हवा का निमित्तपना होने पर भी उस हवा के कारण उत्तरंग-निस्तरंग नहीं और उत्तरंग-निस्तरंग जो होता है, वह समुद्र स्वयं व्यापकर करता है, तथापि वह स्वयं को करता प्रतिभासित होता है, परन्तु हवा को लाना और नहीं लाना, इसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता। हवा का यहाँ नहीं करता अथवा करता नहीं प्रतिभासित का यह तो पहले अन्दर आ गया है। आहाहा!

यह तो समयसार शास्त्र है, बापू! एक-एक में बहुत गम्भीर रहस्य भरा है। ओहो! समुद्र में हवा-फवा के कारण ही तरंग नहीं उठती, यह तो ठीक, परन्तु तरंग के आदि-मध्य में समुद्र है, तो अपने तरंग को उठाने का वह कर्ता प्रतिभासित होता है, तो हवा का लाना, इसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता है। समझ में आया? हवा व्यापक होकर तरंग

को उठावे और हवा का अभाव होकर यहाँ तरंग का विलय करे, यह तो नहीं। परन्तु समुद्र अपने तरंग को उत्पन्न करता और विलय करता प्रतिभासित होता है, परन्तु वह हवा को लावे और हवा का कर्तापना और हवा का कार्य इसका है, ऐसा नहीं है। हवा का इसका कार्य तो नहीं परन्तु इसका हवा का लाना, वह कार्य नहीं, ऐसा। है या नहीं अन्दर देखो! कहो, ऐसा सूक्ष्म है। तुम्हारे वह नामा लिखना हो तो चक्रवृद्धि ब्याज भी शीघ्र-शीघ्र निकाल डाले। यह समझना न? आहाहा!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं कि समुद्र की तरंग उठती है, नहीं होना और होना, इससे उसे हवा का निमित्त है, इसलिए तरंग हुई, ऐसा नहीं है। वह पल तरंग उठने का था, उसका समय ही था। आहाहा! वह हवा के कारण से नहीं, वह तरंग उठने का उसका निज समय-काल था। आहाहा! (प्रवचनसार) १०२ गाथा कहाँ लागू पड़े, बोलो। यह समुद्र स्वयं तरंग को उठने का समय है, इसलिए वास्तव में तरंग तो तरंग के काल में तरंग स्वयं अपने कारण से उठती है। उसे समुद्र उठाता है, ऐसा कहने में आता है, आहाहा! परन्तु हवा के कारण वह तरंग उठती है—ऐसा नहीं तथा जो समुद्र का जो तरंग का नाश हुआ, उसके आदि-मध्य-अन्त में समुद्र है, परन्तु हवा का अभाव है इसलिए यहाँ विलय हुआ, ऐसा नहीं है। तरंग का समा जाना हुआ, हवा का अभाव इसलिए समा जाना हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

अब यह तो गाथायें साधारण हैं। आहाहा! **परन्तु अन्य को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।** पहले उसमें तो आ गया है, हवा का और समुद्र का व्याप्यव्यापकभाव का अभाव, यह तो आ गया है, दूसरी लाईन में। समझ में आया? हवा को और समुद्र के तरंग को व्याप्यव्यापक का अभाव है, यह तो वहाँ सिद्ध हुआ। अब यहाँ तो, इससे अधिक स्वयं, स्वयं करता है न उत्तरंग और तरंग? और विलय करता है न? ऐसा तो करता है न? तो यह फिर हवा का लाना करे तो क्या बाधा है? उसके कारण से वहाँ हवा को आना पड़ा, यह समुद्र की तरंग उठी, वह हवा को लायी, ऐसा उसका कर्ता नहीं है। हवा भी उसके कारण से और उसकी पर्याय के उत्पन्न कारण से आयी और उसके कारण से उसकी पर्याय का अभाव-हवा का हुआ। आहाहा!

इसी प्रकार समुद्र की पर्याय में स्वयं के कारण से उत्पन्न हुआ, वह पर के कारण से नहीं और पर को नहीं। पर के कारण से नहीं और पर को करता नहीं। दो बातें सिद्ध की हैं। कहो, समझ में आया या नहीं ? आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! इससे तो गाथा ७५, ७६, ७७, ७८, ७९ बहुत सूक्ष्म गया है। आइहा!

(कहते हैं) **और फिर...** अब भोक्ता की बात करते हैं। यह कर्ता-कर्म की कही। अब भोक्ता-भोग्य, **फिर जैसे वही समुद्र, भाव्यभावकभाव के अभाव के कारण...** अर्थात् ? यह हवा भावक है और समुद्र की पर्याय उसका भाव्य है, इसका अभाव है। आहाहा! **भाव्यभावकभाव के अभाव के कारण...** यह भव्यभावक (गाथा) ३२ में आया है और ३७ में आया है। भाई! कहा न अभी। ३२ में भव्यभावक आया था। निजस्तुति है, वहाँ। भगवान की स्तुति है, वह तो पर के ऊपर जाता है विकल्प में है। यह तो स्वस्तुति है। अर्थात ? भाव जो कर्म है मोह, उसके अनुसार होती आत्मा की भाव्य जो अवस्था, उसे नहीं करता, उसे छोड़ता हुआ।

मुमुक्षु : भाव्यभावकभाव का अर्थ यहाँ अलग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अलग है क्योंकि वहाँ तो स्वद्रव्य की स्तुति का वर्णन है और यहाँ तो मात्र पर्याय में दूसरा निमित्त होने पर भी वह पर्याय का कर्ता नहीं है, इतना सिद्ध करना है। आहाहा!

फिर से, इसमें कोई दूसरी-तीसरी बार आवे तो कुछ बाधा नहीं है। ३२वीं गाथा में भाव्यभावक है, वह वहाँ निजस्तुति है, निजस्तुति। भगवान की स्तुति है, वह तो पर की स्तुति है, वह तो विकल्प में जाती है। आहाहा! और स्व की स्तुति में भावक जो मोह, उसके अनुसार होता विकल्प-भाव्य, उसे न होने देकर, उससे भिन्न करके, निश्चयस्तुति है न ? भावक मोह के अनुसार, अनुसार। वह करता नहीं भले, उसके अनुसार होता भाव्य अर्थात् राग-द्वेष-मोह भाव्य, उसका भेदज्ञान किया। उसे न होने देकर, दूर से न होने देकर, ऐसा है न, भाई ? आहाहा! ऐसा कि हुआ है और फिर टालता है, ऐसा नहीं। क्या कहा यह ?

कर्म का भावक है और यहाँ भाव्य विकार हुआ है, उसे जीतता है-ऐसा नहीं। परन्तु

कर्म जो निमित्त है, उसके अनुसार जो भाव होता था, उससे भिन्न पड़ा, वह स्व के अनुसार होने से कर्म के निमित्त के अनुसार जो भाव्य था, वह फिर हुआ नहीं, यह जीव की निश्चयस्तुति कहलाती है। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है परन्तु भाई! भाव तो जो है वह आवे, दूसरा क्या आवे? आहाहा! और (गाथा) ३७ में यही भावकभाव्य। ३६ में ज्ञेयज्ञायक कहा और ३७ में भाव्यभावकभाव। परन्तु वहाँ जीव को सिद्ध करना है, इसलिए भावककर्म और भाव्य विकारी भोगने का भाव, उसका अभाव है। वह अपने अनुभव को भोगता है। आहाहा! वहाँ तो फिर शब्द बहुत लिये हैं। सोलह बोल नहीं? मोह और कर्म बहुत लिये हैं। १६ बोल। जब चलता हो, तब वहाँ वह चले। आहाहा! क्या कहा यह? ३७ में जो भावक है मोह और उससे भाव्य जो विकारी भाव का अनुभव, उसका अभाव है।

यहाँ कहते हैं कि भावक जो हवा, उसका उत्तरंग-जो तरंग का उठना, वह व्याप्य कर्म, इसका अभाव है। यहाँ जीव में अभी तो यह लेंगे।

मुमुक्षु : मिथ्यात्व में से भावकभाव आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भावक है उसका दर्शनमोह का उदय और उसके अनुसार होता मिथ्यात्वभाव, उससे भिन्न पड़ा, वह भाव्य हुआ ही नहीं, इसलिए उसे आत्मा की स्तुति कही न? वहाँ पर की स्तुति में तो विकल्प है। आहाहा! और इस निज स्तुति में तो वह भाव्य होने दिया ही नहीं, और स्वभाव की एकता होने से आनन्द का भाव्य हुआ। आहाहा! भावक आत्मा होकर आनन्द की अवस्था का भाव्य हुआ। आहाहा!

मुमुक्षु : कषाय का समूह वह भावक भाव...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब कहा न! यह बात तो हुई परन्तु सब, जितना कहा उसमें से कुछ अन्तर पड़े? भावक भाव्य ३२ में कहा, वह मोहकर्म के उदय से-भावक से भाव्य जो था, उससे भिन्न पड़ा, हुआ ही नहीं, इसका नाम स्तुति है न? भाव्य हुआ और फिर जीता, ऐसा नहीं। आहाहा! उसमें आता है न? ऐसा कि परीषह आया, फिर विकल्प तो हुआ, फिर जीता - ऐसा नहीं। फूलचन्दजी बीच में जरा है न? है, विचार भेद। आहाहा! ऐसा कि परीषह आवे, इसलिए ऐसा विकल्प तो हो, फिर उसे जीते - ऐसा भी नहीं है।

परीषह के काल में ही विकल्प न होने दे, वह परीषह जीता कहलाता है। आहाहा! ऐसा गजब है, भाई! थोड़े अन्तर से अन्दर बहुत अन्तर पड़ जाता है। हों! दूसरे को ऐसा लगे कि इसमें थोड़ा फेर है, परन्तु अन्दर बहुत, बहुत अन्तर पड़ जाता है मूल में। आहाहा!

और फिर, भाव्यभावक का लेते हैं, पहले कर्ताकर्म लिया। **फिर जैसे वही समुद्र भाव्यभावकभाव के अभाव के कारण...** हवा जो भावक, उसका अभाव और इसलिए यहाँ भाव्य का अभाव, ऐसा नहीं है। भाव्य अर्थात् तरंगों का अभाव अनुभवने का अभाव, ऐसा नहीं है। जैसे वह समुद्र भाव्यभावकभाव, भावक जो हवा उसका जो भाव्य विकार तरंग उठना, वह ऐसे भाव के अभाव के कारण, **परभाव का पर के द्वारा अनुभवन अशक्य होने से,...** परभाव का पर द्वारा अनुभव अशक्य होने से, **अपने को उत्तरंग और निस्तरंगरूप अनुभवन करता हुआ...** परभाव का-हवा का आत्मा अनुभवन नहीं करता। हवा को आत्मा अनुभव नहीं करता, परन्तु हवा के निमित्त के संग में जो कुछ भाव्य हुआ विकार, वह इस समुद्र की पर्याय उत्तरंग, उसे वह अनुभव करता है, पर का अनुभवन अशक्य होने से उत्तरंग-निस्तरंग अपने को अनुभव करता हुआ, जैसे तरंग उठे और विलय हो, उसका कर्ता स्वयं है और उसका भोक्ता भी स्वयं है। पर का भोक्ता नहीं और पर का यह भोक्ता नहीं और पर का स्वयं भोक्ता नहीं। पर से भोक्तापना नहीं और स्वयं पर का भोक्ता नहीं। आहाहा! ऐसी सैद्धान्तिक बात लॉजिक से (करते हैं)।

समुद्र, वही समुद्र, ऐसा। भाव्यभावक-कर्ताकर्म कहा था न, इसलिए भोक्ता आया। भाव्यभावकभाव। आहाहा! हवा भावक और यहाँ भाव्य भोगना उसका, समुद्र को तरंग का भोगना, इसका अभाव है ऐसे **परभाव का पर के द्वारा अनुभवन अशक्य होने से,...** आहाहा! **अपने को उत्तरंग अथवा निस्तरंगरूप अनुभवन करता हुआ...** यह समुद्र अपने तरंग को उत्पन्न करके उसे भोगता हुआ, उसे करता हुआ और उसे भोगता हुआ; पर को करता हुआ और पर को भोगता हुआ नहीं - ऐसा सिद्ध करना है।

पहले तो ऐसा कहा था कर्म भावक और आत्मा का भोग्य-समुद्र का भोग्य, ऐसा नहीं। परन्तु अब समुद्र जो अपने भाव्य को भोगता है, वैसे पवन को भी भोगता है, ऐसा नहीं है। है इसमें रतिभाई! है, इसमें लिखा है। सूक्ष्म, बहुत सूक्ष्म। आहाहा! मार्ग सूक्ष्म,

बापू! आहाहा! अभी तो समुद्र का दृष्टान्त है। आत्मा में तो अब बाद में घटित करेंगे।

निस्तरंग अपने को अनुभवन करता हुआ **स्वयं एक को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।** यहाँ यह लेना है। अनय को अनुभव करने का, यह तो पहले में निषेध हो गया। पर को-अन्य को अनुभव करता प्रतिभासित नहीं होता, यह समुद्र हवा को भोगता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अब यह तो दृष्टान्त हुआ।

अब सिद्धान्त आत्मा में (घटित करते हैं) **उसी प्रकार संसारयुक्त...** संसार अवस्था में यह तरंग उठना और नि:संसार अवस्था में तरंग का-विकार का विलय हुआ, संसारयुक्त अवस्था में-उदय अवस्था में और उदय के अभाव की अवस्था में। आहाहा! संसारयुक्त है न? संसारसहित दशा में विकारी परिणाम; नि:संसार अवस्था में निर्विकारी परिणाम। संसारयुक्त अवस्था, वह सविकारी परिणाम; नि:संसार अवस्था, वह निर्विकारी आनन्द की पर्याय। **पुद्‌गलकर्म के विपाक का सम्भव (होना, उत्पत्ति)...** इस संसार अवस्था में-राग की अवस्था में, कर्म के पुद्‌गल का सम्भव विपाक का सम्भव निमित्त होने पर भी, सम्भव अर्थात् होना, उत्पत्ति **और असम्भव (न होना)...** कर्म के सम्भव का अभाव, ऐसा **निमित्त होने पर भी पुद्‌गलकर्म और जीव को व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से...** अर्थात्? कि कर्म का उदय विपाक, वह व्यापक और विकारी अवस्था वह उसका व्याप्य-कार्य, इसका अभाव है। पहले यह लिया, पश्चात् लेंगे कर्म का कार्य, वह आत्मा का नहीं। समझ में आया? आहाहा! भाई! यह तो धीर का काम है। यह तो भाई सिद्धान्त-अकेले वीतरागी सिद्धान्त हैं। आहाहा! पर्याय की स्वतन्त्रता सिद्ध करनी है। आहाहा!

संसारयुक्त दशा में, कर्म के विपाक का सम्भव, उत्पत्ति वह निमित्त, उत्पत्ति। कर्म का उत्पन्न है, वह उसमें निमित्त और असम्भव, नि:संसारदशा में या मोक्षदशा में कर्म के विपाक का-निमित्त का अभाव, ऐसा निमित्त होने पर भी, असम्भव निमित्त होने पर भी, उसमें सम्भव निमित्त होने पर भी पुद्‌गलकर्म के और जीव के व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव; पुद्‌गल कर्म है, वह व्यापक है और जीव के भाव हैं, वे व्याप्य हैं, इसका अभाव है। अब यहाँ तो पहले यह सिद्ध किया। समझ में आया? पश्चात् जीव के परिणाम व्यापक

होकर कर्म के परिणाम को भोगते हैं और भाव्य हैं, ऐसा नहीं, यह बाद में कहेंगे। ओहोहो! पहले तो यहाँ से ऐसे लिया। ओहोहो!

संसारयुक्त-निःसंसारदशा में, पुद्‌गलकर्म का विपाक संसारयुक्त दशा में उत्पत्ति कर्म की, उत्पत्ति का निमित्त होने पर भी उसे मोक्षदशा में कर्म के उत्पत्ति के अभावरूपी निमित्त, अभावरूपी निमित्त, ऐसा। आहाहा! परन्तु पुद्‌गलकर्म को और जीव को, यह पुद्‌गलकर्म व्यापक कर्ता होकर जीव की संसार अवस्था करे, इसका अभाव है। ऐसे पुद्‌गलकर्म का अभाव, कर्ता होकर केवलज्ञान-मोक्षदशा को करे, इसका अभाव है। समझ में आया?

क्या कहा यह? कि संसारदशा में रागादि जो विकार है, उस काल में कर्म की उत्पत्ति का निमित्त है, तथापि वह उत्पत्ति का निमित्त उस विकार को निमित्त होने पर भी विकार का व्यापक कर्म और विकार व्याप्य-कार्य, ऐसा नहीं है। विकारी परिणाम उसका व्याप्य, इसका अभाव होने से, आहाहा! **कर्ताकर्मपने की असिद्धि है इसलिए...** आहाहा! कर्म ने राग को कराया—ऐसा नहीं है तथा कर्म का अभाव हुआ, इसलिए मोक्षदशा हुई—ऐसा नहीं है। आहाहा! भाई ने लिखा है न? फूलचन्दजी ने, ज्ञानावरणीय का क्षय है, इसलिए केवलज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है। कर्म का क्षय हुआ, वह अकर्म पर्याय हुई।

मुमुक्षु : कर्म की अकर्मदशा।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य है। परमाणु की जो पर्याय कर्मरूप पर्याय थी, उसकी अकर्मरूप हुई, परन्तु कर्म की अकर्मरूप पर्याय हुई, इसलिए यहाँ केवलज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा!

जैसे समुद्र के तरंग को उत्पन्न में तथा नाश में हवा का चलना, न चलना निमित्त होने पर भी वह पवन का-व्यापक का कार्य है, ऐसा नहीं। उसी प्रकार भगवान आत्मा संसार अवस्था की विकृत दशा में उसे कर्म की उत्पत्ति का निमित्त होने पर भी उस कर्म का व्यापक होकर विकारी का कार्य करे, ऐसा नहीं है। आहाहा!

जीव स्वयं ही... आहाहा! **अन्तर्व्यापक होकर संसारयुक्त...** यह विकार का भाव जो होता है, उसकी आदि में, अन्त में जीव स्वयं है। आहाहा! अब उसमें ऐसा कहना,

ज्ञानी में ऐसा आया था कि जिसकी द्रव्यदृष्टि हुई है, ज्ञायकभावस्वरूप का ज्ञान हुआ है, उसे राग का जो उत्पन्न होना, वह उत्पन्न होने का कारण, वह कर्म है। समझ में आया? यह पहले आ गया था। यहाँ राग होना, राग, ज्ञानी को। जिसकी दृष्टि द्रव्य पर पड़ी है, ऐसा जो ज्ञान हुआ है, उसे जो राग होता है, उस राग का कर्ता कर्म है और राग उसका कार्य है। आहाहा! आत्मा उसका जाननेवाला है। ज्ञायक है न? जाना, जाननेवाला है, इसलिए राग होता है, उसका राग जीव का कार्य है, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर राग करता है, यह ज्ञानी की दृष्टि में नहीं है।

यहाँ तो समुच्चय जीव की व्याख्या करते हुए क्या होता है, यह बात है। आहाहा! जो वहाँ ऐसा कहा था ७९ गाथा में और उसके कलश में। कलश एक घण्टे चला था कि राग का उत्पन्न होना, उसका व्याप्य वह कर्म, वह राग कार्य कर्म का है।

मुमुक्षु : वह ज्ञानी की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, जिसकी स्वभावदृष्टि हुई है। आहाहा! तो स्वभाव और द्रव्य तो शुद्ध है, इसलिए उसका उत्पाद, निर्मल पर्याय का उत्पाद, वह उसका कार्य है। परन्तु मलिन पर्याय का उत्पाद, वह कार्य कर्म का है। आहाहा! यहाँ तो वस्तुस्थिति स्वतन्त्र कैसे है, यह सिद्ध करना है। यह बात, आहाहा! समझ में आया?

जीव ही स्वयं... न एकान्त है, दो कारण नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जयसेन आचार्य की टीका में आता है न? दो कारण से होता है, स्त्री और पुरुष दो होकर पुत्र होता है, उसी प्रकार कर्म और आत्मा दो होकर राग होता है। यह तो दूसरा निमित्त का ज्ञान कराया है। आहाहा!

यहाँ तो **जीव स्वयं ही अन्तर्व्यापक होकर संसारयुक्त...** अर्थात् विकारीदशा में आदि-मध्य-अन्त में जीव स्वयं है। उसके आदि-मध्य-अन्त में कर्म है, इसलिए वहाँ संसार अवस्था है, ऐसा नहीं है। आहाहा! संसारयुक्त अवस्था में जीव ही स्वयं आदि में विकार की अवस्था की आदि में, विकार की अवस्था के मध्य में, विकार की अवस्था के अन्त में स्वयं व्याप्त है। आहाहा! और निःसंसार अवस्था में भी केवलज्ञान की पर्याय हुई, उस अवस्था में भी आदि में आत्मा व्याप्त है, मध्य में-अन्त में वह है; कर्म का अभाव है,

इसलिए वहाँ केवलज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! ज्ञानावरणीय का क्षय हुआ, इसलिए केवलज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है, कहते हैं। और वह तो ज्ञायक हुआ, तब तो उसका अभाव है, तथापि वह अभाव है, इसलिए यहाँ ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! इसमें बनिया को सब याद कब रखे, घड़ीक में पर का और घड़ीक में स्व का। पर का कर्ता नहीं, ऐसा कहकर फिर वापस, सूक्ष्म-सूक्ष्म पर अपना कर्ता नहीं। आहाहा!

संसारयुक्त अवस्था में विकार की दशा के काल में, जीव ही स्वयं आदि-मध्य-अन्त में व्यापकर उसका कर्ता कर्म करता है। आहाहा! वह कर्ता होकर कर्म तो उसका है। विकार है, वह कर्ता और कर्म और विकार कार्य, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा है। और निःसंसार अवस्था में-आत्मा की मोक्षदशा में पवित्र आनन्द की दशा के काल में कर्म का अभाव निमित्त है, इसलिए वह उसका कार्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो महा लॉजिक के-न्याय के सिद्धान्त हैं। वीतराग के सिद्धान्त, दिगम्बर सन्तों के सिद्धान्त तो अलौकिक बातें हैं। आहाहा!

निःसंसार अवस्था में केवलज्ञान की पर्याय आत्मा प्राप्त करे, उस अवस्था में कर्म के अभाव का निमित्त है, इसलिए उसका वह व्याप्य है अर्थात् कार्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अपना भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूप प्रभु, उसका ध्यान करके जो केवलज्ञान प्रगट हुआ, उस केवलज्ञान की पर्याय के आदि-मध्य-अन्त में आत्मा स्वयं है। वह केवलज्ञान हुआ, इसलिए आदि में कर्म का अभाव हुआ, इसलिए वह आदि में था, इसलिए केवलज्ञान हुआ - ऐसा नहीं है। आहाहा! सूत्र में ऐसा आवे 'कर्म क्षयात्' उमास्वामी (कृत) तत्त्वार्थसूत्र। 'मोहक्षयात्' ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अन्तराय क्षयात। यह सब निमित्त का ज्ञान कराया है। आहाहा!

यहाँ तो भगवान आत्म जो कुछ मिथ्याभ्रान्ति करे—शरीर का कर सकता हूँ, पर का कर सकता हूँ, दूसरे को जिला सकता हूँ, दूसरे को मार सकता हूँ, दूसरे को सुविधा दे सकता हूँ—ऐसी जो मान्यता मिथ्यात्व की, उसके आदि-मध्य-अन्त में आत्मा है। उस मिथ्यात्व की आदि में दर्शनमोह था, इसलिए मिथ्यात्व हुआ है... उत्पत्ति कही थी न, 'सम्भव'? दर्शनमोह की उत्पत्ति-उत्पन्न है, इसलिए मिथ्यात्व हुआ है, ऐसा नहीं है।

आहाहा! इसी प्रकार आत्मा में होनेवाला राग, उस राग की उत्पत्ति में आदि-मध्य-अन्त में आत्मा है। उस राग की उत्पत्ति में आदि में कर्म था, इसलिए राग हुआ है, ऐसा नहीं है। कहो, रसिकभाई! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : ज्ञानी की बात करो, तब ऐसा कहते हो कि राग कर्म का कार्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उस समय तो, द्रव्यस्वभाव की दृष्टि हुई है बहुत, इसलिए वहाँ तो बहुत सूक्ष्म बताया है। उत्पाद-व्यय और ध्रुव, द्रव्य, गुण और पर्याय छह बोल लिये थे। वहाँ ऐसा स्पष्टीकरण पहले कभी नहीं किया था, इतना किया है।

आत्मा जहाँ राग से भिन्न पड़कर स्वरूप का ज्ञान करता है, चिदानन्द भगवान ज्ञायकस्वरूप है, ऐसा भान करता है, उसे जो कुछ राग की उत्पत्ति है, वह उसका कार्य नहीं। राग की उत्पत्ति, राग का व्यय और राग का ध्रुवपना, ये तीनों पर के हैं, उसे ज्ञान जानता है, और अपनी जो ज्ञानपर्याय निर्मल उत्पन्न हो, व्यय हो, और ध्रुव, उसे जाने वह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है। परन्तु पर के कारण से आत्मा में हो और अपने कारण से पर में कुछ हो, ऐसा है नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, बापू! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है। दुनिया को निवृत्ति नहीं मिलती, दुनिया के पाप के धन्धे के कारण पूरे दिन पाप। फिर भले सब पाँच-पचास लाख धूल इकट्ठी हो, वह पाप पूरे दिन यह किया और यह किया, धन्धा पानी, आहाहा! और अब उसमें तत्त्व को समझना। बहुत निवृत्ति चाहिए। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तू जो अभी तक चार गति में भटका, ८४ (लाख योनि) के अवतार किये, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेष-भाव, उसकी उत्पत्ति का कारण तू है। उस विकार की उत्पत्ति का कारण कर्म है, ऐसा नहीं। 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।' आहाहा! अनादि से पर में सुख माना, सुख तो भगवान आत्मा में है। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु है। अब इसे इन्द्रिय के विषय में, पैसे में, स्त्री में, पुत्र में, कुटुम्ब में, राज्य में सुख माना, वह भ्रमणा मिथ्यात्व महापाप है। तो कहते हैं कि उस मिथ्यात्व की उत्पत्ति का कारण कौन ?—कि तू। आहाहा! कर्म के कारण नहीं। आहाहा! 'कर्म बेचारे कौन भूल मेरी अधिकाई' कर्म तो जड़ है, धूल है, मिट्टी है। आहाहा! तेरी भूल

तूने अनादि से की है, प्रभु! बड़ा राजा हुआ, करोड़ों-अरबोंपति, तो माना हमने अरब इकट्ठे किये, हम उद्योगपति, वह मूढ़ है। आहाहा! पर के उद्योग से मुझे पैसा मिला और मैंने पर का उद्योग किया, वह भ्रमणा अज्ञानी की, उस भ्रमणा की उत्पत्ति का कारण तू है। उस भ्रमणा की उत्पत्ति की आदि-मध्य-अन्त में तू है। उसकी आदि में कर्म की उत्पत्ति का कुछ भी निमित्त है शुरुआत कुछ न कुछ असर है, इसलिए यह राग होता है और विकार होता है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह सब दुनिया के चतुर कहलाते हैं न? पचास-पचास लाख पैदा करे और करोड़, दो करोड़ पैदा करे, हम बहुत होशियार हैं, हम चतुर हैं, इसलिए यह सब होता है। यह मिथ्यात्वभाव, पाखण्डभाव, अज्ञानभाव, इसकी उत्पत्ति की आदि-मध्य-अन्त में तू है। कर्म की शुरुआत है, इसलिए विकार ऐसा हुआ—ऐसा है नहीं। आहाहा!

और जब आत्मा धर्म पाता है, सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट करता है, जिस क्षण, उस समय उसकी आदि-मध्य-अन्त में स्वयं आत्मा है। सम्यग्दर्शन की, सत्यदर्शन की श्रद्धा कि मैं तो ज्ञायक त्रिकाली शुद्ध चैतन्य हूँ। मेरा स्वभाव पूर्णानन्द का नाथ मैं परमात्मस्वरूप मैं हूँ। ऐसा जो सम्यग्दर्शन होता है, उस पर्याय की आदि-मध्य-अन्त में आत्मा है। कर्म जरा हट गया, इसलिए उसकी आदि में शुरुआत थी, इसलिए यह सम्यग्दर्शन हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें अब पागल जैसी बातें हैं। पागलों को पागल जैसी लगे, ऐसी है यह तो। आहाहा! 'प्रभु का मारग है शूरों का' कोई यह तो। आहाहा!

कहते हैं कि उस विकार की दशा में भी आदि-मध्य-अन्त में एक को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है, देखा? **अपने को एक को ही करता हुआ प्रतिभासित हो।** दूसरा कर्म भी साथ में है, इसलिए हुआ, ऐसे दो नहीं हैं। आहाहा! वे विकार के परिणाम भ्रमणा के, अज्ञान के, राग-द्वेष के, उनके करने में तू अकेला ही है; दूसरी कोई चीज़ तुझे कराती है, ऐसा है नहीं। आहाहा! कहो, रसिकभाई! ऐसी यह तो समझ में आये ऐसी भाषा तो सादी है, परन्तु भाव तो बापू! आहाहा! पूरी दुनिया से अलग हैं। यह तो तीन लोक के नाथ, तीर्थंकरदेव की वाणी है। सर्वज्ञ परमात्मा, यह सन्तों की वाणी है, वह उनकी वाणी है। आहाहा! है? इस संसारदशा में अर्थात् विकारी संसरण भटकने में जो मिथ्यात्व और

राग-द्वेष के परिणाम हों, उनकी आदि-मध्य-अन्त में तू है। उसकी आदि में कर्म का जरा तीव्रपना, उदय है तीव्र, तीव्र उदय उत्पत्ति हुई; इसलिए यहाँ मिथ्यात्व और राग-द्वेष हुए, ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो ऐसा स्वरूप है। यह सत्य वस्तु ऐसी है, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

यह संसार कहा। अब नि:संसारदशा अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की पर्याय तुझे जो प्रगट हो, उसकी आदि-मध्य-अन्त में तू है। उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति हो, इसलिए कोई दूसरे आदि में हैं। आहाहा! काललब्धि आदि में है, 'हो' परन्तु आदि में काललब्धि है, इसलिए यह हुआ, ऐसा नहीं है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आहाहा!

आता है न एक जगह? यह काललब्धि पाकर, गुरुउपदेश पाकर। आहाहा! वह तो सब निमित्त के कथन हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्यसंग्रह में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत जगह, कलश-टीका में बहुत आता है। कलश-टीका में आता है। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड़ में लिखा है, कालादिलब्धि पाकर। है न सब, खबर है न! सब चारों ओर की खबर है। एक बार एक कहते हों, उसमें से उसी की नजर है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

कहते हैं, आत्मा में जो कोई यह मोक्ष के धर्म के परिणाम हों, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के वीतरागी निर्दोष परिणाम हों, त्रिकाली परमात्मस्वरूप भगवान स्वयं है, उसका आश्रय लेकर जो परिणाम वीतरागी हों, धर्म के हों, मोक्षमार्ग के हों, उसकी आदि-मध्य-अन्त में तेरा स्थान है। उसकी आदि में कर्म का अभाव और ऐसा आदि में हो तो वह हो धर्म का भाव, धर्म का सद्भाव - ऐसा नहीं है। इसमें कितना याद रखना? ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा! बहुत गम्भीर! तत्त्व बहुत गहरा!! ओहोहो! आहाहा! भगवान की स्तुति की, इसलिए सम्यग्दर्शन की आदि में वह स्तुति कारण था, ऐसा नहीं - ऐसा कहते हैं। ऐई! भगवान का-तीर्थंकर का विनय किया, इन महात्मा का-मुनियों का (विनय किया), इसलिए वहाँ आगे समकित हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा!

समकित अर्थात् सत्यदर्शन जैसा सत्य प्रभु है, सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा है, वैसा ही

उसे दर्शन होना, प्रतीति होना, ज्ञान होना, उसकी आदि में भगवान आत्मा स्वयं है। उसकी आदि में कर्म का अभाव और कोई काल और अमुक होना, ऐसा है नहीं – ऐसा यहाँ यह सिद्ध करते हैं। आहाहा! उसमें लिखा है कलश टीका में 'काललब्धि', यह अपेक्षा से ज्ञान कराया है। आहाहा!

भगवान! यहाँ तो आत्मा को भगवानरूप से ही बुलाया है, प्रभु! यह भगवान अन्दर भग अर्थात् अनन्त ज्ञान और आनन्द की लक्ष्मी का वान-स्वरूपवान है। वह उसका अन्तरस्वरूप तो प्रभु अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, वह उसका स्वरूप है। उसकी इसे खबर नहीं, इसने कभी देखा नहीं, सुना नहीं। रंक-भिखारी होकर घूमा करता है। भिखारी... भिखारी, लाओ, पैसा लाओ, स्त्री लाओ, पुत्र लाओ, कीर्ति लाओ, बड़ा कहो – बड़ा भिखारी है। आहाहा! इस भिखारीपने के भाव की आदि में भी यह आत्मा है। चिमनभाई! आहाहा!

और जिसे ऐसे आत्मा पुण्य और पाप के विकार और कर्म, शरीर आदि से भिन्न, ऐसा जो प्रभु आत्मा का स्वरूप है, वैसा ज्ञान, श्रद्धा और शान्ति हुई, उसकी आदि में स्वयं आत्मा है। मध्य में आत्मा, अन्त में आत्मा है। उसे कोई कर्म मन्द पड़ा, कर्म का जोर कुछ मन्द पड़ा, इसलिए धर्म पर्याय हुई, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : कम्मो बळियो धम्मो बळियो, ऐसा तो आता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब निमित्त से कथन है। कम्मो अर्थात् अपना विकारी परिणाम, वह कम्मो बळियो। जीव बणीयो अर्थात् जो स्वभाव सन्मुख देखे, वह जीव बळियो, विकार पर गया तो कम्मो बळियो, विकार बळियो। आहाहा! ऐसा है। अब इस प्रकार की बात भी कैसी कहलाये, ऐसा उपदेश किस प्रकार का? बापू! तुझे खबर नहीं, भाई! इस सत्य के तत्त्व के उपदेश की रीति कोई अलौकिक है। आहाहा! अभी तो सब गड़बड़-गड़बड़ सब सम्प्रदाय में गड़बड़ और यों ही सम्प्रदाय बिना के लोग तो गड़बड़ है ही वह अन्दर में। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आहाहा! अपने को एक को प्रतिभास हो, अर्थात्? करने में, राग के करने में और राग के अभाव होने में, **अपने को एक को करता हुआ प्रतिभासित हो परन्तु**

अन्य को करता हुआ प्रतिभासित न हो... अन्य को करता न प्रतिभास हो, ऐसा लेना है यहाँ। कर्म को करता, कर्म यहाँ करता हुआ, अन्य को करता हुआ, स्वयं अन्य को करता हुआ न प्रतिभासित हो - ऐसा। अन्य को करता न प्रतिभासो, ऐसा। (अपने को) अन्य करता प्रतिभासो, ऐसा नहीं। यह तो पहले में आ गया, भाई! यहाँ तो अन्य को करता न प्रतिभासो। कर्म को करता आत्मा को न प्रतिभासो, ऐसा कहना है। वह तो पहले आ गया, कर्म के कारण, इसमें है वह नहीं। इसलिए कर्म उसका कर्ता नहीं है।

अब यहाँ तो आत्मा अपने सविकारी परिणाम को या अविकारी परिणाम को करे, ऐसा जानो, परन्तु वह कर्म को करे, ऐसा न भासो। कर्म को बाँधे और कर्म को करे और कर्म का अभाव करे, ऐसा न भासो। आहाहा! है? यह पहले में आ गया है। समुद्र में भी आ गया है। परन्तु अन्य को, अन्य को करता न प्रतिभासो। अन्य को स्वयं करता, ऐसा न भासो। अन्य करता न प्रतिभासो, यह तो पहले में आ गया है। भाई! एक-एक अक्षर बापू! यह तो कोई मुफ्त की चीज़ नहीं है। यह तो अलौकिक धर्म की बातें हैं। आहाहा! अब यह कर्ता-कर्म का कहा। अब थोड़ा है।

और फिर उसी प्रकार वही जीव, भाव्यभावकभाव के अभाव के कारण... आहाहा! कर्म है, वह भावक है और विकारी भाव का भोक्ता, वह जीव है, उसका अभाव है। क्या कहते हैं? कर्म भावक है और आत्मा के भोगने के भाव दुःख के या सुख के। इस संसार में दुःख के भोगने के भाव, यह संसारी प्राणी है, वे तो अकेले दुःख को भोगते है। संयोगी चीज़ के कारण नहीं। दुःख अन्दर जो अज्ञानभाव और रागभाव है, वह दुःख है। उस दुःख को भोगता है। यह सब सेठिया कहलाये करोड़पति-अरबोंपति, वे सब दुःख को भोगते हैं, पैसे को नहीं।

मुमुक्षु : सेठाई को भोगते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठाई अर्थात् क्या? मैं सेठ हूँ, ऐसे मिथ्यात्वभाव को भोगते हैं। आहाहा! इसमें हो, उसे भोगे न? पर में कहाँ गया है, उस पर को भोगे और पर कहाँ इसे भोगने में आता है? आहाहा!

जीव, भाव्यभावकभाव का अभाव, कितने सब भाव्यभावकभाव का अभाव। इतने

सब भाव... भाव हैं। भाव अर्थात् विकारीदशा या अविकारीदशा, उसमें भावक अर्थात् कर्म भावक। विकारीदशा में निमित्त और अविकारीदशा में निमित्त का अभाव, ऐसे भाव्यभावकभाव के अभाव के कारण, **परभाव का पर के द्वारा अनुभवन अशक्य है इसलिए...** आहाहा! कर्म का आत्मा के द्वारा अनुभवन अशक्य है इसलिए, आहाहा! **ससंसार अथवा निःसंसार...** दशा में **अपने को अनुभव करता हुआ,...** आहाहा! संसारदशा में अज्ञान में राग-द्वेष को स्वयं अपने अनुभव करता हुआ भासे, पर तुझे अनुभव में आता है, यह तो नहीं, परन्तु तू पर को अनुभव करता है, यह नहीं। आहाहा! क्या कहते हैं? जैसे कि यह स्त्री का विषय लेना है जब, तब वहाँ इसे राग होता है, तो इस राग को भोगने का प्रतिभासो। परन्तु पर को भोगता हूँ, यह तो नहीं। वह तो शरीर जड़, माँस, हड्डियों का है, उस शरीर को कहाँ भोगता है? पर को भोगता न भासो, उस समय उसके राग के भाव का अनुभव करता हुआ भासो। आहाहा! ऐसी बातें गजब भाई! जगत से उल्टी है।

संसारयुक्त और निःसंसाररूप, देखा! वापस निःसंसाररूप वह अपना, **अपने को अनुभव करता हुआ, अपने को एक को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो...** अपने संसार अवस्था में दुःख को-एक को ही अनुभव करता हुआ भासित हो, और मोक्षमार्ग में आनन्द को अनुभव करता हुआ भासित हो, परन्तु पर को अनुभव करता हुआ भासित न हो, पर द्वारा अनुभवता हुआ, वह नहीं। **परन्तु अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न हो...** कर्म को आत्मा अनुभव करता है या इस शरीर को अनुभव करता है या मैसूर खाये, मैसूर तो, मैसूर का अनुभव करता है, ऐसा न भासित हो, परन्तु उस काल में उसका प्रेम और राग हुआ, उस राग का अनुभव करता है, ऐसा प्रतिभासित हो। आहाहा!

मैसूर का टुकड़ा पड़े न मुँह में, वह अरबी के भुजिया हों अन्दर, अरबी के पत्ते के। अब कहते हैं कि तुझे उस समय जो राग का अनुभव हुआ, वह तेरा अनुभव है, परन्तु तू पर के कारण अनुभव करता है, यह तो नहीं, परन्तु तू पर को अनुभव करता है, यह भी नहीं। आहाहा! इन लड्डुओं को तू अनुभव करता है, मौसम्बी को अनुभव करता है, स्त्री को अनुभव करता है, ऐसा प्रतिभासित नहीं होता। विशेष बात है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १७२, गाथा-८३-८४, दिनांक १८-०१-१९७९, गुरुवार, पौष कृष्ण-५

८७ का भावार्थ, समयसार।

आत्मा के परद्रव्य-पुद्गलकर्म के निमित्त से संसारयुक्त और संसाररहित अवस्था है... अर्थात्? पुद्गलकर्म का तो निमित्त है और यहाँ अवस्था होती है जीव को अपने उल्टे पुरुषार्थ से, राग-द्वेष विकारादि। उस अवस्था में पुद्गलकर्म तो मात्र निमित्त है और निःसंसार आत्मा की मोक्षदशा में कर्म के निमित्त का अभाव निमित्त है, अभाव।

ऐसे परद्रव्य पुद्गलकर्म के निमित्त से संसारयुक्त और निःसंसार अवस्था है... उस अवस्थारूप आत्मा स्वयं ही परिणमित होता है। राग-द्वेष और कर्म निमित्त भले हो, परन्तु उसमें राग-द्वेष और मिथ्यात्वभाव से आत्मा स्वयं परिणमता है, वह कर्म परिणमाता नहीं, तथा कर्म को वह परिणमाता नहीं। आहाहा! ऐसी बातें!

मुमुक्षु : कल ऐसा कहते थे कि आत्मा राग करता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग (करता नहीं), वह तो ज्ञानी की दृष्टि की अपेक्षा से (बात है)। द्रव्यदृष्टि है, द्रव्य जहाँ दृष्टि में है, उसे तो शुद्धता के परिणाम का प्राप्त कार्य है, ऐसा। उसे जो अशुद्धता हो... क्योंकि द्रव्यदृष्टि जो हुई है, वह तो ज्ञायकशुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु है, उसके परिणाम राग नहीं। उस परिणामी का परिणाम तो निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह परिणामी का परिणाम है। उसे कर्म परिणामी का रागादि परिणाम, वह कर्म का है। कहो, यह बात चली थी। आहाहा! वह परिणामी आत्मा, वह तो शुद्ध है, पवित्र है, परमानन्दस्वरूप है। उसका परिणाम परम आनन्द, शान्ति और सम्यग्दर्शन-(ज्ञान)-चारित्र और वीतरागता आवे। वह उसका व्याप्यव्यापक है। व्यापक आत्मा और निर्विकारी परिणाम उसका कार्य अर्थात् व्याप्य और उसमें जो राग होता है, वह कर्म व्यापक और राग उसका कार्य - व्याप्य, उसके साथ उसे सम्बन्ध है। यह तो द्रव्यदृष्टि का ज्ञान है, ज्ञाता हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, उसकी बात है। आहाहा! यहाँ तो समुच्चय बात है।

यह आत्मा संसार अवस्था में जो कोई वह मिथ्यात्व, उसमें कर्म निमित्त हो, दर्शनमोह भले, परन्तु मिथ्यात्वरूप परिणमता है तो जीव, व्याप्यव्यापकरूप से मिथ्यात्व

के भाव राग-द्वेष के भावरूप जीव परिणमता है, उसमें अनुकूल भले कर्म का निमित्त हो, परन्तु अनुकूल होने से उससे यहाँ परिणमता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! उस आत्मा को परद्रव्य पुद्गलकर्म के निमित्त से,... है न निमित्त से? संसारयुक्त विकारभावरूप स्वयं परिणमता है, उसमें निमित्त कर्म है और संसाररहित निर्विकार परिणमन अवस्थारूप परिणमे, उसमें कर्म का अभाव का निमित्त है। उस अवस्थारूप आत्मा स्वयं ही परिणमता है। **इसलिए वह अपना ही कर्ता-भोक्ता है, पुद्गलकर्म का कर्ता-भोक्ता तो कभी नहीं है।** आहाहा! कर्म के उदय का आत्मा कर्ता या भोक्ता, ऐसा नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बातें बहुत। उपादान की स्वतन्त्रता।

यहाँ बहुत से ऐसा कहते हैं, उपादान में अनेक प्रकार की योग्यता है, जैसा निमित्त आवे, वैसा हो। ऐसा नहीं है, भाई! इसकी तो उस समय में जो कुछ मिथ्यात्व या राग-द्वेष होने की योग्यता समय में है, वह स्वयं से होता है, उसमें अनुकूल कर्म भले हो परन्तु अनुकूल होने से वह यहाँ करता है, ऐसा नहीं है। अब ऐसी बातें! **इसलिए वह अपना ही कर्ता-भोक्ता है...** समुच्चय बात है न यहाँ! अज्ञानी राग-द्वेष को स्वयं करता है, इसलिए वह राग-द्वेष का स्वयं कर्ता है। **पुद्गल कर्म का कर्ता-भोक्ता तो कभी नहीं...** भले उसे राग-द्वेष के परिणमन में अनुकूल निमित्त पुद्गल हो, तथापि उस निमित्त पुद्गल का वह कर्ता नहीं है। समझ में आया? यह ८३ हुई।

गाथा–८४

अथ व्यवहारं दर्शयति–

ववहारस्स दु आदा पोग्गल–कम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गल–कम्मं अणेय–विहं।।८४।।

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम्।
तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गल–कर्मानेक–विधम्।।८४।।

यथान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवन्श्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्तितावद्व्यवहारः।

तथान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावक–भावेन पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गलकर्म–सम्भवानुकूलं परिणामं कुर्वाणः पुद्गलकर्मविपाकसम्पादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानुभवन्श्च जीवः पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासन्सारप्रसिद्धोऽस्ति तावद्व्यवहारः।।८४।।

अब व्यवहार बतलाते हैं :–

आत्मा करे बहुभाँति पुद्गलकर्म–मत व्यवहार का।
अरु वो हि पुद्गलकर्म, आत्मा नेकविधमय भोगता।।८४।।

गाथार्थ : [व्यवहारस्य तु] व्यवहारनय का यह मत है कि [आत्मा] आत्मा [नैकविधम्] अनेक प्रकार के [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म को [करोति] करता है [पुनः च] और [तद् एव] उसी [अनेकविधम्] अनेक प्रकार के [पुद्गल कर्म] पुद्गलकर्म को [वेदयते] भोगता है।

टीका : जैसे, भीतर व्याप्यव्यापकभाव से मिट्टी घड़े को करती है और भाव्यभावकभाव से मिट्टी ही घड़े को भोगती है, तथापि बाह्य में व्याप्यव्यापकभाव से घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल ऐसे (इच्छारूप और हाथ आदि की क्रियारूप अपने) व्यापार को करता हुआ तथा घड़े के द्वारा किये गये पानी के उपयोग से उत्पन्न तृप्ति को (अपने तृप्तिभाव को) भाव्यभावकभाव के द्वारा अनुभव करता हुआ-भोगता हुआ कुम्हार घड़े को करता है और भोगता है, ऐसा लोगों का अनादि से रूढ़ व्यवहार है; उसी प्रकार भीतर व्याप्यव्यापकभाव से पुद्‌गलद्रव्य कर्म को करता है और भाव्यभावकभाव से पुद्‌गलद्रव्य ही कर्म को भोगता है, तथापि बाह्य में व्याप्यव्यापकभाव से अज्ञान के कारण पुद्‌गलकर्म के होने में अनुकूल (अपने रागादिक) परिणाम को करता हुआ और पुद्‌गलकर्म के विपाक से उत्पन्न हुई विषयों की निकटता से उत्पन्न (अपनी) सुखदु:खरूप परिणति को भाव्यभावकभाव के द्वारा अनुभव करता हुआ-भोगता हुआ जीव, पुद्‌गलकर्म को करता है और भोगता है - ऐसा अज्ञानियों का अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार है।

भावार्थ : पुद्‌गलकर्म को परमार्थ से पुद्‌गलद्रव्य ही करता है; जीव तो पुद्‌गलकर्म की उत्पत्ति के अनुकूल अपने रागादिक परिणामों को करता है। और पुद्‌गलद्रव्य ही कर्म को भोगता है; जीव तो पुद्‌गलकर्म के निमित्त से होनेवाले अपने रागादिक परिणामों को भोगता है। परन्तु जीव और पुद्‌गल का ऐसा निमित्त-नैमित्तकभाव देखकर अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि जीव पुद्‌गलकर्म को करता है और भोगता है। अनादि अज्ञान के कारण ऐसा अनादिकाल से प्रसिद्ध व्यवहार है।

परमार्थ से जीव-पुद्‌गल की प्रवृत्ति भिन्न होने पर भी, जब तक भेदज्ञान न हो तब तक बाहर से उनकी प्रवृत्ति एक सी दिखाई देती है। अज्ञानी को जीव-पुद्‌गल का भेदज्ञान नहीं होता, इसलिये वह ऊपरी दृष्टि से जैसा दिखाई देता है वैसा मान लेता है; इसलिये वह यह मानता है कि जीव पुद्‌गलकर्म को करता है और भोगता है। श्री गुरु भेदज्ञान कराकर, परमार्थ जीव का स्वरूप बताकर, अज्ञानी के इस प्रतिभास को व्यवहार करते हैं।।८४।।

गाथा - ८४ पर प्रवचन

अब ८४, **अब व्यवहार बतलाते हैं।**

ववहारस्स दु आदा पोग्गल-कम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गल-कम्मं अणेय-विहं।।८४।।

आत्मा करे बहुभाँति पुद्गलकर्म-मत व्यवहार का।
अरु वो हि पुद्गलकर्म, आत्मा नेकविधमय भोगता।।८४।।

टीका - जैसे, भीतर में व्याप्यव्यापकभाव से मिट्टी... अर्थात् कि मिट्टी व्यापक और घड़ा उसका व्याप्य, मिट्टी कर्ता और घड़ा उसका कार्य, व्याप्यव्यापक अर्थात्, मिट्टी परिणामी और घड़ा उसका परिणाम, यह आयेगा व्याप्यव्यापक का हुआ। **भीतर में व्याप्यव्यापकभाव से मिट्टी घड़े को करती है...** आहाहा! **और भाव्यभावकभाव से मिट्टी ही,...** भावक ऐसी जो मिट्टी, उसका जो भाव्य अर्थात् ऐसे भाव से मिट्टी घड़े को भोगती है। मिट्टी घड़े को भोगती है।

मुमुक्षु : अजीव है वह कैसे भोगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय उसकी है न? ऐसा, पर्याय उसकी है न, इसलिए उसे करता है और भोगता है। आहाहा! मिट्टी परिणामी अपने घड़े के परिणाम को करे और मिट्टी भावक अपने घड़ेरूप भाव्य को भोगे। कहो, अब इतना तो स्पष्ट होता है। सूक्ष्म बात है, भाई! तत्त्व को-भिन्न तत्त्व की जाति को जानना, और भिन्नता के तत्त्व को भिन्न कुछ कर नहीं सकता, यह जानना, यह जरा बहुत पुरुषार्थ माँगता है। आहाहा! समझ में आया?

भाव्यभावकभाव से मिट्टी अर्थात्? पहले कहा था कि व्यापक परिणामी और व्याप्य परिणाम मिट्टी घड़ा, इसी प्रकार यहाँ भाव्य मिट्टी की अवस्था, वह भाव्य और भावक मिट्टी, वह ऐसे भाव से **मिट्टी ही घड़े को भोगती है।** आहाहा! जड़ जड़ को भोगता है, उसकी पर्याय है न? उसका व्यय उससे होता है न? आहाहा! **तो भी...** ऐसा होने पर भी, बाह्य में अर्थात् **बाहर में...** अब कुम्हार, बाहर में अब कुम्हार, बाहर में उसे और बाहर में व्याप्यव्यापक, ऐसा नहीं, घड़े को बाहर में व्याप्यव्यापक ऐसा नहीं, बाहर में व्याप्यव्यापक

कुम्हार, अन्दर में तो मिट्टी व्याप्यव्यापक होकर अपने घटरूप कार्य को करती है और भाव्यभावक होकर अपने भाव को भोगती है।

'अब बाहर में कुम्हार अपने व्याप्यव्यापकभाव को करे।' आहाहा! व्याप्य अर्थात् कार्य, परिणाम; व्यापक अर्थात् द्रव्य, परिणामी, ऐसे भाव से **घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल...** घड़े की उत्पत्ति में मात्र निमित्त, है न? **अनुकूल...** उत्पत्ति, **ऐसे (इच्छारूप और हाथ आदि की क्रियारूप अपने) व्यापार को करता हुआ...** यहाँ हस्तादि की क्रिया करता है, यह सिद्ध नहीं करना है। यहाँ से भिन्न स्वयं करता है, इतना सिद्ध करना है। बाकी हस्तादि की क्रिया भी वह नहीं कर सकता परन्तु इससे भिन्न इच्छा और हस्तादि की क्रिया उसकी है, और इसकी नहीं, ऐसा बतलाना है। समझ में आया? ओहोहो!

व्याप्यव्यापकभाव से... कुम्हार **घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल...** ऐसी इच्छा और हाथ की क्रिया अपने व्यापार को करता हुआ, कुम्हार को इच्छा और हाथ के अपने,... यहाँ तो पर से भिन्न वह स्वयं करता है, इतना बतलाना है, बाकी हाथ का व्यापार वह कर नहीं सकता, वह अभी काम नहीं। यहाँ तो यहाँ घड़े को अनुकूल ऐसी इच्छा और राग है, तो वह घड़े को करता नहीं परन्तु उसके परिणाम स्वयं के जो हैं इच्छा के और राग के, उन्हें वह करता है, ऐसा बतलाना है। इसमें से कोई ऐसा निकाले कि देखो! कुम्हार हाथ को कर सकता है। यह प्रश्न अभी यहाँ नहीं है। आहाहा! अरे भाई! विवाद-विवाद।

यहाँ तो मात्र घड़े को व्याप्यव्यापकपना तो मिट्टी के साथ है, परन्तु बाहर में कुम्हार को अपने हाथ और राग के साथ, इच्छा के साथ व्याप्यव्यापकपना है। समझ में आया? और वह घड़े के अनुकूल निमित्तरूप है, इसलिए उसे अज्ञानी ऐसा मानता है कि कुम्हार घड़े को करता है और भोक्ता है। परन्तु कुम्हार अपने हाथ को और इच्छा को करता है और वास्तव में तो उस इच्छा को वह भोगता है, पानी को भोगता है, अर्थात् इच्छा को। यह कहेंगे।

हस्तादि की क्रिया को तो करता हुआ **तथा घड़े के द्वारा किये गये पानी के उपभोग से उत्पन्न तृप्ति को (अपने तृप्तिभाव को)...** अर्थात् रागादि हों, वे। उन्हें **भाव्यभावकभाव के द्वारा अनुभव करता हुआ...** भावक कुम्हार और भाव्य उसका

विकारी भाव उसे **अनुभव करता हुआ भोक्ता हुआ कुम्हार घड़े का कर्ता है और भोक्ता है। ऐसा लोगों का...** आहाहा! कैसी टीका है! कुम्हार घड़े को निमित्त, सम्भव, अनुकूल ऐसे अपने इच्छा और हाथ को करता हुआ और कुम्हार जो पानी पीता है, उस पीने के भाव का वह स्वयं कर्ता और भोक्ता, उसे वह भोक्ता है; घड़े को नहीं। घड़े को भोगती मिट्टी और यह भोक्ता है अपने राग को। आहाहा! पानी पीने सम्बन्धी का जो घड़े सम्बन्धी का जो राग, उसे यह करता और उसे यह भोक्ता है, ऐसा है। आहाहा!

वह **उपभोग से उत्पन्न तृप्ति को (अपने तृप्ति भाव को) भाव्य...** यह तृप्ति का भाव है, वह भाव्य है और भावक है स्वयं वह कुम्हार, उसके भाव द्वारा **अनुभव करता हुआ भोक्ता हुआ कुम्हार घड़े का कर्ता है और भोक्ता है...** अब ऐसा लेना। है वह अपने राग को करता है और भोक्ता है, तथापि घड़े को निमित्त होने से अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि घड़े को करता है और भोक्ता है। वह कुम्हार घड़े को कर्ता और भोक्ता है। वह निमित्त है न ? इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वतन्त्र है। उसके बदले निमित्त है, इसलिए वह घड़े को करता है और भोक्ता है, (यह) झूठी बात है। **घड़े का कर्ता है और भोक्ता है, ऐसा लोगों का अनादि से रूढ़ व्यवहार है।** अनादि से अज्ञानी का-मिथ्यादृष्टि का ऐसा व्यवहार है। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया इसमें ?

मिट्टी स्वयं परिणामी होकर घड़े का परिणाम करे, वह व्यापक होकर व्याप्य करे और मिट्टी अपने घड़े के भाव्य को भावक होकर भोगे। मिट्टी भावक होकर घड़े की पर्याय को भोगे। आहाहा! परन्तु वह घड़े के अनुकूल ऐसा निमित्तपना है कुम्हार का, वह कुम्हार अपने राग को व्याप्यव्यापकभाव से करता और उसे भोक्ता है। परन्तु यहाँ यह निमित्त है वह, इसलिए अज्ञानी का व्यवहार ऐसा है कि वह कुम्हार घड़े को करता है। वह निमित्त देखकर घड़े को कुम्हार करता है, ऐसा अज्ञानी का व्यवहार है। समझ में आया ?

यह तो अभी दृष्टान्त हुआ, अब सिद्धान्त तो अब है। दृष्टान्त में भी कठिन पड़ता है। यह बाहर में विवाद उठता है, बाहर में ऐसा कि उसे बाहर में यह करता है, ऐसा नहीं। वह स्वयं बाहर में तो कुम्हार अपने व्याप्यव्यापकभाव को करता है। इससे व्याप्यव्यापकभाव को अपने को करता और उसे उसका निमित्त है, इसलिए अज्ञानी कहते हैं कि घड़े का

कर्ता कुम्हार है। आहाहा! निमित्त देखकर अज्ञानी घड़े का कुम्हार कर्ता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! और घड़े के पानी को भोक्ता हुआ राग को, वहाँ वह उसे निमित्त है, इसलिए घड़े को वह भोगता है। भोगता है वह अपने परिणाम को, तथापि घड़े को करता है और घड़े को भोगता है। ऐसा अनादि का अज्ञानी का झूठा व्यवहार असत्य है। कहो, समझ में आया या नहीं इसमें?

अब सिद्धान्त आत्मा में अब। है न सामने पुस्तक है किस शब्द का क्या (अर्थ होता है)। आहाहा! यहाँ तो निमित्त उसे करता नहीं और यह घड़ा होता है, वह पर को कुछ निमित्त है, इसलिए उसे करता है कुम्हार का कुछ, वह अभी सिद्ध करना नहीं है। मात्र कुम्हार इसे निमित्त है, इसलिए वे अज्ञानी कहते हैं कि कुम्हार ने घड़ा किया और भोगा। आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार... अब इस दृष्टान्त के सिद्धान्त की अपेक्षा से, आहाहा! **भीतर व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलद्रव्य कर्म को करता है...** यहाँ यह लेना है। उस घड़े की जगह वह पुद्गल कर्म। अन्दर में व्याप्यव्यापक पुद्गलद्रव्य कर्म को करता है। अर्थात्? कर्म की पर्याय का परिणाम कर्म के पुद्गल परिणामी, वे उसे करते हैं। ज्ञानावरणी की जो पर्याय हुई, वह व्याप्य है और उसका व्यापक उसके वे परमाणु हैं। परमाणु परिणामी हैं और उसका यह ज्ञानावरणी पर्याय उसका परिणाम है। आहाहा! परमाणु (कार्य) करता है और उसकी ज्ञानावरणी की पर्याय, वह उसका कार्य है। यह बड़ा विवाद ही यह उठा है न? ज्ञानावरणी—ज्ञान-आवरणीय, कहा न? इसलिए ज्ञान को आवृत्त करे, ऐसा नहीं। आहाहा! मात्र ज्ञान की पर्याय अपने को अपने से हीनरूप परिणमती है, वह उसके व्याप्य का कर्ता ज्ञान अथवा आत्मा है। ज्ञान के हीनरूप परिणमन का व्याप्य, परिणाम का परिणामी आत्मा है, उसे वह ज्ञानावरणीय का निमित्त है, इसलिए अज्ञानी ऐसा कहता है कि उसके कारण यह हीन दशा हुई। समझ में आया इसमें?

ज्ञानावरणीय कर्म है, वह पुद्गल की पर्याय है। अब उस पुद्गल की पर्याय का व्याप्य वह पुद्गल है, उसमें मात्र यहाँ के हीन परिणाम निमित्तमात्र है, तथापि वे पुद्गल के परिणाम अपना व्याप्यव्यापक करते हैं, वह उस कर्म ज्ञान की पर्याय को भी निमित्त है,

इसलिए हीन करते हैं, यह बात मिथ्या है। आहाहा! तथा ज्ञान की पर्याय जीव हीन करता है, इसलिए वह कर्म की पर्याय ज्ञानावरणी की पर्याय को करता है, ऐसा नहीं है। बड़ा यह कर्म का बड़ा जैन में अभी झगड़ा। आहाहा!

उसी प्रकार अन्दर में अर्थात् आत्मा। यहाँ पुद्गल लेना अन्दर में, अन्दर में कर्म पुद्गल व्याप्यव्यापक पुद्गलकर्म को करता है, इसलिए पुद्गलकर्म व्यापक अर्थात् परिणामी और कर्म की पर्याय उसका व्याप्य अर्थात् कार्य, उसे करता है और भाव्यभावकभाव से पुद्गलद्रव्य उसे भोगता है। भावक जो पुद्गल है, उसका अनुभाग जो उदय आया, उसके भाव्य को उस भाव से वह पुद्गल भोगता है। आहाहा! पुद्गल के व्याप्यव्यापक के पुद्गल के परिणाम का व्याप्य परिणाम और यह पुद्गल उसका परिणामी। यह परिणामी उसके परिणाम को करे और वह परिणामी स्वयं भोगनेवाला अपनी पर्याय का उदय हुआ-हीन-अधिक भाग, उसे भोगता है, परन्तु आत्मा की हीन दशा को करता और भोगता नहीं तथा आत्मा की हीन दशा हुई, वह उसके-ज्ञानावरणीय के उदय को करती और भोगती नहीं। आहाहा!

(संवत्) १९८४ में प्रश्न हुआ था, तुम्हारे वीरजीभाई का राणपुर। राणपुर ८४ के वर्ष में वीरजीभाई आये थे। वहाँ प्रश्न किया था कि निगोद के जीव में ज्ञानावरणीय आदि स्थिति, रस और प्रकृति, प्रदेश है, उसे आत्मा में क्या? कहा, आत्मा को उसकी अपनी योग्यता प्रमाण उस प्रकार का परिणमन उसके अपने कारण से है और कर्म में जो तीव्रता और स्थिति रस है, वह कर्म के कारण है, दोनों का अलग-अलग है। उसे कर्म की बहुत बहुलता तथा रस और स्थिति है, इसलिए यहाँ हीनदशा उसकी है, ऐसा नहीं है। (संवत्) १९८४ की बात है। कितने वर्ष हुए? कहो, ५१ वर्ष हुए। चातुर्मास में वहाँ आये थे, राणपुर आये थे। कहे, इसमें कैसे? निगोद के जीव की सब हीन अवस्था, कि सब गुणों की, उसमें कुछ कर्म का है या नहीं? कहा, नहीं; कर्म के प्रकृति, प्रदेश, स्थितिभाग उसके परिणाम में उसमें और इसकी हीन दशा के परिणाम परिणामी के अपने, अपने में, पर के कारण इसमें कुछ नहीं। कहो, देवीलालजी!

परन्तु कर्म के कारण यहाँ हीन दशा हुई न अन्दर, निगोद में किसकी हुई? आहाहा!

कहा था न ? किसी समय कम्मो बळियो और किसी समय जीवो बळियो। यह कम्मो बळियो अर्थात् विकार की पर्याय का बल स्वयं के कारण से है, वह कर्म तो निमित्तमात्र है। निमित्त और यहाँ की अवस्था को दोनों का एक-दूसरे में अभाव है और एक-दूसरे को स्पर्श ही नहीं करते। आहाहा!

निगोद के जीव को भी पर्याय में जो हीनपना-विपरीतपना, ज्ञान-दर्शन आदि का हीनपना, वीर्यादि का, श्रद्धा आदि का विपरीतपना। समझ में आया ? आहाहा! यह उसके अपने ही योग्यता के परिणाम का व्याप्य और व्यापक उसका जीव है। वह कर्म वहाँ उसके स्थिति, अनुभाग प्रदेश प्रमाण पड़े हैं, वे उसके परिणामी परिणाम उसका है। उसके कारण यहाँ परिणाम ऐसे होते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया ?

कहो, निगोद के जीव, अभी कितने ही त्रस हुए नहीं, कितनों को कर्म का जोर है, ऐसा कोई कहे। ऐसा नहीं है। उसके परिणाम की परिणति की स्थिति ही ऐसी है। वह अपने कारण से, उसमें कर्म तो निमित्तमात्र है। निमित्तमात्र देखकर इसकी हीन अवस्था को बाहर निकलने नहीं देता कर्म, ऐसा कहना वह एकदम झूठ है। आहाहा! हुआ ? अन्दर में व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलद्रव्य कर्म ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आदि अपनी पर्यायरूपी कार्य को-परिणाम को वह पुद्गलद्रव्य परिणामी करता है और भाव्यभावकभाव से वह पुद्गलद्रव्य की पर्याय जो भाव्य, उसका भावक जो पुद्गलभाव, पुद्गल उसके भाव से पुद्गलद्रव्य को-कर्म को भोगता है। पुद्गलद्रव्य ही अपनी पर्याय को भोगता है। आहाहा!

जैसे यहाँ घड़े का दृष्टान्त दिया था। घड़े की पर्याय को मिट्टी करती है और मिट्टी उस पर्याय को वह करती है और भोगती है। इसी प्रकार यहाँ कर्म ही अपनी पर्याय को करता है, व्याप्यव्यापक होकर और अपनी ही पर्याय को भाव्यभावक होकर भोगता है। भाव्य अर्थात् उसकी अवस्था, भावक अर्थात् परमाणु, उसका जो भाव, उसे वह भोगता है। आहाहा! अब ऐसा मिला नहीं। बापू! वस्तु (स्थिति ही ऐसी है कि यह) भिन्न तत्त्व है न ? दोनों तत्त्व भिन्न हैं, उन्हें भिन्न न मानकर एक मानना, वह तो मिथ्यात्व है।

दूसरा तत्त्व, दूसरे तत्त्व को कुछ हीन कर सके या धक्का मार सके या विपरीतता कर सके, यह एकदम मिथ्यात्व है। मिथ्या अर्थात् झूठी बुद्धि है और वह मिथ्याभाव है।

आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि पुद्गलकर्म में जो पर्याय उसकी होती है – ज्ञानावरणी की, दर्शनावरणी की, अन्तराय और मोहनीय की, वह जो पर्याय हो, वह परिणाम है, वह व्याप्य है, वह कर्म है, वह कार्य है, उसका कर्ता पुद्गल परिणामी है, वह द्रव्य है। उसे पलटने में कारण है, इसलिए वह व्यापक है। पुद्गल स्वयं व्यापक है और उसकी ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आठ कर्म की पर्याय उसका व्याप्य है। आहाहा! आत्मा उसमें निमित्त है और यहाँ जीव ने राग-द्वेष किये, ऐसा निमित्त है, तत्प्रमाण मोहनीय कर्म वहाँ हुआ, परन्तु वह मोहनीयकर्म हुआ, वह राग-द्वेष के कारण नहीं हुआ है। आहाहा! समझ में आया?

वह मोहनीय कर्म, यहाँ राग-द्वेष किये उसका निमित्त है तो कर्म परिणमा, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह बड़ा प्रश्न हुआ था पहले राजकोट में, मूलशंकरभाई के साथ। देखो कि यहाँ राग-द्वेष होते हैं, तो वहाँ कर्म परिणमते हैं या नहीं? राग-द्वेष न हो तो परिणमे? परन्तु यहाँ प्रश्न ही यह नहीं, कहा यहाँ। यहाँ तो राग-द्वेष के काल में राग-द्वेष का कर्ता-भोक्ता जीव, उस काल में कर्म है, वह स्वयं के कारण से कर्म की पर्यायरूप व्याप्यव्यापकरूप से भाव्यभावकरूप से हुआ है। आहाहा! यहाँ राग-द्वेष हुए, इसलिए वहाँ ज्ञानावरणी को दर्शनमोह को होना पड़ा, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : राग-द्वेष हुए उस काल में ही होते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह काल भले एक हो, इससे समकाल देखकर अज्ञानी मानता है, यह ऐसा, वह कहते हैं। एक काल देखकर, यह तो कहेंगे—

घड़े के होने में कुम्हार का निमित्तपना एक काल में होने से अज्ञानी कहते हैं कि कुम्हार घड़े का कर्ता है, इसी प्रकार आत्मा में हीनदशा और विपरीत दशा के परिणाम का निमित्त और ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अन्तराय के हीनपने का उत्कृष्टपना यहाँ परिणमा और मोहनीय का परिणमन यहाँ विपरीतता की ऐसा निमित्त होने से यह अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि वह तो पुद्गल अपने परिणाम को परिणामी होकर करता है, और पुद्गल अपने परिणाम को भाव्य होकर भावक होकर भोगता है। परन्तु इसका निमित्त है, इसलिए अज्ञानी उसे देखकर इस आत्मा ने यह किया और आत्मा ने यह भोगा अरे! ऐसा सब याद किस प्रकार? रतिभाई! यह तुम्हारे यन्त्र-बन्त्र की काम की बात तो कहीं रह गयी।

यहाँ तो निमित्त-निमित्त है, नजदीक में है, काल एक है, समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : राग-द्वेष करे तो उदय कहलाये, राग-द्वेष न करे तो निर्जरा कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहाँ प्रश्न है यहाँ? राग-द्वेष के परिणाम कर्ता कौन और भोक्ता कौन, इतनी बात यहाँ है और उदय का खिरना और झरना, वह तो उसके कारण से है। यहाँ राग-द्वेष नहीं हुए, नहीं किये, इसलिए उदय का खिरना हुआ है, ऐसा भी नहीं। (उदय का खिरना)। उसके अपने कारण से। आहाहा! बात बहुत सूक्ष्म, भाई! आहाहा! न्याय से पकड़ में आये ऐसा है। जरा ख्याल रखे, उसे भाव्यभावक भाव से पुद्गलद्रव्य ही कर्म को भोगता है। ज्ञानावरणी के विपाक का फल वह ज्ञानावरणी के परमाणु भोगते हैं। आहाहा! मोहनीय के कर्म का फल वह मोहनीय कर्म भोगता है, अनुभाग। आहाहा!

ऐसा होने पर भी, ऐसा है न? तो भी, 'तो भी' क्यों लिया? कि इस प्रकार से करता है, उसमें बाहर में अब ऐसा वहाँ अन्दर में है कर्म में, तथापि बाहर में अब आत्मा, है? **व्याप्यव्यापकभाव से अज्ञान के कारण...** लो! अज्ञान के कारण पुद्गलकर्म के अनुकूल और निमित्तरूप अनुकूल ऐसे **अपने राग-द्वेष आदि परिणाम का करता...** आहाहा! कर्म के, कल कर्म के परिणाम का परिणामी कर्म कर्ता-भोक्ता है। उस काल में वह जीव यहाँ बाह्य में अर्थात् कर्म की दशा से और कर्म से बाहर में आत्मा अपने अज्ञानभाव से राग को करता है, है? अपने रागादि को करता और उसके फल को **उत्पन्न हुई विषयों की निकटता, उससे उत्पन्न...** यह सामग्री का निमित्तपना डाला। विषयों की निकटता, उसे मिला है निमित्त से, संयोग। उसकी **निकटता, उससे उत्पन्न सुख-दुःख परिणति...** अपनी-अपने कारण से। साता-असाता के संयोग के कारण मिला परन्तु स्वयं उसके लक्ष्य में स्वयं सुख-दुःख के परिणामरूप परिणमता है। वह साता-असाता उसे परिणमाता नहीं, तथा वह साता-असाता संयोग जो निमित्त हुए, वे उसे यहाँ सुख-दुःख कराते नहीं। आहाहा!

पुद्गलकर्म के विपाक से उत्पन्न हुई, विषयों की निकटता से उत्पन्न... परिणति को। आहाहा! पुद्गलकर्म के विपाक से हुई **सुख-दुःखरूप परिणति को भाव्यभावकभाव से अनुभव करता हुआ भोगता हुआ ऐसा जीव पुद्गलकर्म को करता है।** आहाहा! यहाँ तो मात्र उसकी सुख-दुःख परिणति को स्वयं भोगता है और स्वयं सुख-दुःख के परिणाम

को करता है, तथापि वह जीव पुद्गलकर्म को करता है, (ऐसा कहा), क्योंकि जितना जैसा यहाँ भाव हुआ, उतने-उतने प्रमाण में कर्म हुआ। समझ में आया? तराजू में दो सेर पड़े और यहाँ दो सेर माल हो तो समान हो, परन्तु यहाँ दो सेर माल हो और डेढ़ सेर (बांट) हो तो कांटा समतौल नहीं होता। इसलिए माल कम पड़ा, इसलिए कांटा ऐसा ऊँचा रहा, ऐसा इनकार करते हैं। आहाहा! कांटा था तो यहाँ दो सेर और डेढ़ सेर रखा तो कांटा ऐसा रह गया, वह यहाँ कम है, इसलिए रह गया—ऐसा नहीं, कहते हैं। यह तो सब उसे निमित्त है और उपादान तो वहाँ उसके अपने कारण से वहाँ हुआ है। ऐसी बातें हैं दुनिया से (अलग)। आहाहा!

यहाँ तो पुद्गल में परमाणुओं में उस समय की वह पर्याय कर्मरूप होने की, आहाहा! वह उसका जन्मक्षण है। इसलिए उस पुद्गल के परिणाम को कर्म के परिणाम को कर्म करता है और उसके—कर्म के फल को कर्म भोगता है। आहाहा! परन्तु उसमें आत्मा का निमित्त देखकर आत्मा उसे करता है और भोगता है, ऐसा कहना वह एकदम झूठ है। आहाहा!

कर्म आत्मा करता है, क्योंकि जैसा उसने दया का भाव किया, राग, उसके प्रमाण में यहाँ साता बँधी। इसलिए साता बँधने के परिणाम का परिणाम कर्म का वह परिणामी कर्म, उसे वह राग हुआ, वह निमित्त है; इसलिए उसका कर्ता है, सातावेदनीय के परिणाम के बाँधने का कर्ता राग है—ऐसा झूठा है। आहाहा!

अब इसमें निवृत्ति कहाँ से यह सब। ऐई! नवरंगभाई! पानी का छनना... इच्छा हुई, इसलिए पानी के छनने की क्रिया हुई, यह इनकार करते हैं यहाँ। वह पानी के परमाणु उस समय उस प्रकार से छनने की पर्यायरूप परिणमने के थे, उस परिणमन का परिणामी पानी के परमाणु परिणामी हैं, परन्तु इसकी इच्छा हुई, इसलिए उन्हें परिणमाया। वह निमित्त देखकर अज्ञानी कहता है, इसे इच्छा हुई, इसलिए इसने पानी को छाना, यह बात झूठी है। कठिन बात, भाई! ऐसी बातें तो कभी सुनने को न मिली हो, ऐसी है। पानी छान नहीं सकता। छनना ऐसा लम्बा कर नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। कलश होता है न कलश? क्या कहलाता है? गगरी रखते हैं न गगरी, तब पानी डाले न, तब बर्तन में छानना हो न ऐसा

चौड़ा। कहते हैं, वह छनना ऐसा हुआ, वह आत्मा ने किया नहीं। मात्र उस छनने की पर्याय उस समय उस प्रकार से वैसी होने की थी, उसका काल था, वह हुई है। ऐसा यह छनने के परमाणुओं का परिणमन है। उसे वह इच्छावाला कहता है कि मेरे कारण से यह परिणमन होता है, यह छनना छनता है, मैंने रखा है। अरे रे! बातें भारी अटपटी। कितनों ने तो यह बात पहले सुनी भी नहीं होगी। आहाहा! यहाँ तो अन्दर में डाला है। आहाहा!

कि पुद्‌गलकर्म, जैसे घड़ा मिट्टी से हुआ, वैसे पुद्‌गलकर्म की पर्याय पुद्‌गलकर्म से हुई, उसके परिणाम के अनुकूल, ऐसे अज्ञानी के राग-द्वेष निमित्त देखकर अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि मुझसे यह कर्म हुआ, यह अज्ञानी का झूठा मिथ्यात्व का व्यवहार है। कहो, पुंजाभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : पुद्‌गलकर्म को करे और भोगे, यह पुराने कर्म की बात है या नये कर्म की?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब, यह प्रश्न कहाँ है यहाँ। नये तो बाँधने की बात है। नये बाँधने की बात है और पुराने भोगने की बात है। यह प्रश्न यहाँ कुछ नहीं। यहाँ तो कर्म की पर्याय का होना और भोगना भाव्य और भावक और कर्ताकर्म, वह कर्म में है। आत्मा उसे राग-द्वेष के निमित्त की अनुकूलता होने से अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि इस आत्मा ने कर्म बाँधा और भोगा। समझ में आया? आहाहा!

रोटी होने में अनुकुल बेलन ऐसा हो, वह रोटी होने में निमित्त है, इसलिए यह परिणाम जो हुए बेलन के, वे निमित्त हैं, और हुए हैं परिणाम उसे उसके कारण से, परन्तु निमित्त देखकर बेलन ने रोटी को लम्बा-चौड़ा किया, ऐसा माननेवाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। कहो, समझ में आया? आटा है, उसकी रोटी हुई, उस रोटी के परिणाम का परिणामी आटा कर्ता है, और उसकी पर्याय का भोक्ता भी वह उसका आटा है। अब उसे साथ में अनुकूल बेलन देखकर बेलन ने वह रोटी बनायी, वह तो निमित्त है, अनुकूल निमित्त है, परन्तु अनुकूल देखकर उसे इसने किया, यह मान्यता मिथ्याभ्रम है।

मुमुक्षु : बाई ने रोटी बनायी।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु बाई अर्थात् कौन करता था, बाई का तो राग है वह। बाई के द्रव्य की तो बात ही कहाँ है यहाँ? उसका जो राग है, वह इच्छा रोटी के समय हुई, वह

इच्छा रोटी की पर्याय होने में अनुकूल निमित्त है, इसलिए इच्छा ने यह रोटी बनायी, यह मान्यता अज्ञानी की है। आहाहा! ऐसा तत्त्व का स्वरूप है।

यह चश्मे की पर्याय यहाँ जो रही है, उस परिणाम का आधार का आधार उसके परमाणु हैं, परन्तु उसे इस नाक का निमित्तपना देखकर, नाक के आधार से यह रहा है, ऐसा जो कहते हैं, वह मिथ्यादृष्टि है। कहो, रसिकभाई! ऐसा सुना नहीं कभी जिन्दगी में। लाभुभाई! ऐसी बात है। आहाहा! यह वस्त्र जो ऐसा है, इस वस्त्र के परिणाम का आधार, व्याप्यव्यापक, भाव्यभावक कपड़े में-उसमें है परन्तु इस सिर का निमित्त देखकर, सिर के आधार से यह कपड़ा रहा है, ऐसा कहना वह मिथ्याभ्रम है। ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : पूरी दुनिया मिथ्यादृष्टि हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरी दुनिया इस प्रकार माने तो पूरी दुनिया ही है, उसमें क्या है? आहाहा! कहो, चिमनभाई! ऐसी बातें तो कहीं किसी समय कहने में आती हैं, यहाँ आता हो तो कहा जाये न! आहाहा! क्या बात? कितना भरा है सिद्धान्त में! आहाहा! यह बाई होशियार हो और उसे पुडला बनाना आता हो, पुडला बनाना और पकाना और वापस तेल डालना ऊपर-ऊपर ऐसे किनारे-किनारे डाले, ऊपर नहीं, वह होशियार हो तो पुडला बना सकती है, यह बात मिथ्यात्व है, यहाँ कहते हैं। उस बाई की इच्छा का निमित्त और उपादान, वह क्या कहलाता है, कहा? पुडला-पुडला की पर्याय का कर्ता वे परमाणु हैं, पकने में और उस परिणाम का भोक्ता वे परमाणु हैं, तथापि अज्ञानी को इच्छा है, ऐसा उसे निमित्त देखकर उस पुडले की पर्याय को मैंने किया, यह भ्रमणा अज्ञान है।

ऐई! इस लिखने में! यह लिखने की जो पर्याय है, वह परमाणु की पर्याय उस समय हुई। उस पर्याय का कर्ता वे परमाणु हैं। कलम भी नहीं, इसका हाथ भी नहीं, इसका आत्मा भी नहीं। आहाहा! परन्तु इन अक्षर के स्वतन्त्र परिणाम का परिणामी परमाणु और भोगनेवाला वह परमाणु, परन्तु उसे वह इच्छावाला निमित्त है न? उसे ऐसे ही अक्षर लिखने का भाव था, वह निमित्त है, तो अज्ञानी ऐसा मानता है कि इच्छा के कारण से ऐसे अक्षर हुए।

मुमुक्षु : यह मोती के दाना जैसे अक्षर होते हैं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मोती के दाना जैसे, वह परमाणु की पर्याय उस काल में वैसी

होनेवाली थी, उसी काल में वैसी होने की थी। मोती के दाने की पर्याय परमाणु का उस समय का उस उत्पत्ति का उसका वह काल और इससे उस परिणाम का वह परिणामी उसके परमाणु कर्ता। परन्तु लिखनेवाला कहता है कि यह मुझसे लिखा गया, वह मिथ्यादृष्टि है। कालीदासभाई! क्या करना इसमें? कहो, मलूकचन्दभाई! यह सुनायी देता है या नहीं?

यह तुम्हारा वह वहाँ रह गया भटकने, न्यालचन्द वहाँ भटकता है। यहाँ सुने पन्द्रह दिन तो खबर पड़े, यह सब क्या है? उसे सुनने को भी मिलता नहीं। आहाहा! अरे भगवान! यहाँ तो पदार्थ की स्वतन्त्रता जिस प्रकार स्वयंसिद्ध है, उस प्रकार उसकी बात करते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रचलित घर की भाषा में आप बात करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रचलित भाषा तो कहा। आहाहा! दृष्टान्त भी भगवान! देते हैं न! तुम्हारे लिये तो दृष्टान्त घर में हो, (वैसे) दृष्टान्त। आहाहा!

भगवान! तेरी बलिहारी है, प्रभु! यह उल्टा पड़े तो भी तेरी पर्याय में और सुलटा पड़े तो भी तेरी पर्याय में, पर के कारण कुछ है नहीं और पर के परमाणु पलटें और विनाश हो जाये या व्यय हो जाये या उत्पन्न हो, उसमें तेरा कुछ अधिकार नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, भाई! यह तो चार पैसे सेर तो मण का ढाई रुपया, यह चाबी है। फिर इसके दृष्टान्त चाहे जितने करो। ३५ सेर के ३५ आने, साढ़े तीन सेर के साढ़े तीन आने। इसी प्रकार सिद्धान्त यह है, यह तो दृष्टान्त सब। कहो, वजुभाई! क्या किया यह सब अभी तक। वहाँ किया था, क्या कहलाता है? वांकानेर में। वह मकान बनाया था न, यह सब। पत्र बनाये थे, नक्शे बनाये थे। नक्शा बनाया ऐसा, ऐसा करो और ऐसा ऊपर शिखर और नीचे ऐसा। आहाहा! उस नक्शे के परिणाम का परिणामी परमाणु है और नक्शे के परिणाम को जीव ने किया, ऐसा कहना,वह निमित्त देखकर मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है। आहाहा! बहुत कठिन काम भाई, हों!

ज्ञानावरणी कर्म के कारण यहाँ हीन अवस्था हुई। हीन अवस्था में वह निमित्त है देखकर, उसने हीन अवस्था की, यह अत्यन्त मिथ्याभ्रम है। तथा ज्ञानावरणी की पर्याय हटी थोड़ी, इसलिए यहाँ क्षयोपशम हुआ, यह बात भी झूठ है। ज्ञानावरणी की पर्याय का

हटना, जरा उघाड़ होना, वह उसकी पर्याय का प्राप्य कार्य उसका है और यहाँ जो उघाड़ हुआ, वह प्राप्य का काम आत्मा का है, तथापि वह उघाड़ ज्ञानावरणी हटा, इसलिए यहाँ उघाड़ हुआ, ऐसा जो मानना, वह मिथ्याभ्रम है। यह तो दृष्टान्त है। आहाहा!

जैन में कर्म की विपरीतता बहुत बड़ी है। अन्तराय कर्म अन्तराय करता है, मोहनीयकर्म आत्मा को भुलाता है, सातावेदनीय आत्मा को अनुकूल साधन देता है, यह भी खोटी बात है। अनुकूल साधन आना, वह परमाणु की पर्याय, उसका वह कार्य है। सातावेदनीय तो उसमें निमित्त है। निमित्त देखकर ऐसा कहना कि सातावेदनीय के कारण इस शरीर में साता हुई या अनुकूल साधन मिले, वह सब व्यवहार भ्रम है। कहो, पवनभाई! समझ में आया? वहाँ उदयपुर में ऐसा कहीं नहीं मिलता। आहाहा! घासीलालजी! आहाहा! बहुत सरस बात है। आहाहा!

भेदज्ञान की यथार्थता, वास्तविकता। **पुद्‌गलकर्म के विपाक से उत्पन्न हुई विषयों की निकटता...** नजदीक, अनुकूलता **से उत्पन्न (अपनी) सुख-दुःखरूप परिणति को भाव्यभावकभावक के द्वारा अनुभव करता हुआ-भोगता हुआ ऐसा जीव...** ऐसा जीव! **पुद्‌गलकर्म को करता है और...** पुद्‌गलकर्म के फल के विपाक को **भोगता है ऐसा अज्ञानियों का अनादि संसार से... अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार है।** आहाहा!

मुमुक्षु : अज्ञानी का व्यवहार है तो ज्ञानी का क्या व्यवहार है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यहाँ कहाँ प्रश्न है। ज्ञानी का व्यवहार तो अपने परिणाम को करे, यह व्यवहार है। वह अभी यहाँ यह काम नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि कर्म के परिणाम कर्म से हुए कर्ताकर्मरूप से और भाव्यभोक्तारूप से और उसमें आत्मा के राग-द्वेष का मात्र निमित्त था, इसलिए गिनकर अज्ञानी इसने किया—ऐसा कहने में आता है। यहाँ सिद्धान्त तो यह है।

ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, आहाहा! छह कारण से ज्ञानावरणी बँधता है न? छह प्रकार हैं न? उन प्रकार के परिणाम का कर्ता तो जीव है। अब उन छह प्रकार के परिणाम जीव ने किये, इसीलिए ज्ञानावरणीय बँधा, यह भ्रम है। आवे ऐसा, छह कारण से ज्ञानावरणीय बँधता है, छह कारण से दर्शनावरणीय बँधता है, नहीं आता? शास्त्र भाषा

बोलते हैं, परन्तु यह तो इसे समझाते हैं कि वहाँ निमित्त कौन था। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो स्पष्ट बात की, परिणाम से ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बँधते।

पूज्य गुरुदेवश्री : परिणाम को करता ही नहीं। ज्ञानावरणीय परिणाम आत्मा की हीन दशा को करता ही नहीं।

मुमुक्षु : तो यह खोटे परिणाम बँधते ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह बात ही खोटी है, ऐसा कहते हैं। खोटे परिणाम करे और उससमय यदि वहाँ वे परमाणु बँधे तो उन खोटे परिणाम के कारण से नहीं और शुभपरिणाम किये, इसलिए यहाँ सातावेदनीय बँधी, ऐसा नहीं है। सातावेदनीय के परमाणु का उस समय में उस पर्याय से परिणमने का काल था, तब इसके राग के की मन्दता निमित्त कही है, परन्तु निमित्त से यह सातावेदनीय बँधा, यह मत भ्रम है। अज्ञानी का व्यवहार भ्रम है। अब इसमें क्या करना? धन्धा करना या नहीं हमें? आहाहा!

यह अँगुली है देखो, उसकी यह पर्याय होती है और यह पर्याय प्राप्य है, कर्म है, कार्य है। किसका? इसके परमाणु का, परमाणु परिणामी की यह पर्याय है। परन्तु इसमें आत्मा की इच्छा ने अँगुली ऐसे हिलायी, ऐसी इच्छा का निमित्त देखकर अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि आत्मा ने यह अँगुली ऐसे हिलायी। समझ में आया? आहाहा! गजब गाथा-८४ के अवतार छुड़ा दे, ऐसी गाथा है। आहाहा!

महिलायें बहुत होशियार हो न तो वड़ी बहुत अच्छी बनावे। खबर नहीं? वडी-वडी। पापड़ बनावे, खाट में वह डाले न लम्बा पाटिया। होशियार होवे तो नमकीन अच्छा बनावे, पापड़ अच्छा बनावे और वड़ी अच्छी बनावे, पुडला अच्छा बनावे, हाथ अच्छा हो न? यह बात एकदम अज्ञान है, ऐसा कहते हैं। हम एक बार वणोद गये थे, वणोद-वणोद। उमराला से है न। है, अब अविवाहित / कुँवारा रोटी बनावे न? उमराला से वणोद है न वहाँ जायें तो कुँवारा रोटी ऐसी सरीखी नहीं, बेलन घुमाना ऐसे आवे नहीं इसलिए ऐसा हो गया होगा? परन्तु बाहर से तो ऐसा कहलाये न, ऐसे रोटी गोल चक्कर सरीखी होनी चाहिए न! बेलन ऐसे व्यवस्थित घुमना चाहिए न? उसके बदले वह कुँवारा व्यक्ति था इसलिए ऐसी जरा आड़े-टेढ़े रोटी के कौने हुए परन्तु उसी समय उस रोटी की पर्याय उसी प्रकार से

परिणामरूप होनेवाली थी, उसे बेलन ने किया और बेलन घुमाना नहीं आया, इसलिए हुई, यह बात खोटी है। आहाहा! ऐसी बातें। यह तो सब दृष्टान्त है। चाबी तो यह है। परद्रव्य के परिणाम के काल में परिणामी वह द्रव्य है कर्ता-भोक्ता। निमित्त अनुकूल देखकर उससे यह कर्ता-भोक्ता कहना, उसका करनेवाला, यह मिथ्याभ्रम अज्ञान है, उसके ज्ञान में बड़ी विपरीतता है।

भावार्थ :- पुद्गलकर्म को परमार्थ से... यह लिया वास्तव में **पुद्गलद्रव्य ही करता है...** ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय, मोहनीय, नाम... आहाहा! यहाँ परिणाम तीर्थंकरगोत्र के हुए, पुण्य-शुभभाव (हुआ), इसलिए वहाँ तीर्थंकरगोत्र पर्याय बँधी, ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! इस समय उन परमाणुओं की पर्याय तीर्थंकर प्रकृति की पर्यायरूप परमाणुओं का परिणमन का काल था, इसलिए परिणमित हुए हैं। उसे ज्ञानी का शुभराग निमित्त कहलाता है, परन्तु इससे उस शुभराग के कारण तीर्थंकर प्रकृति बँधी, यह बात खोटी है। पूरी दुनिया से सब फेरफार लगे। ऐसा नहीं, चक्कर पूरा चक्कर, फेर है। आहाहा! अलग बात है, बापू! तत्त्व बहुत सूक्ष्म है, भाई! आहाहा!

इन तत्त्वों को तत्त्व की स्थिति से जैसा है, वैसा जानना, यह सब महापुरुषार्थ है। आहाहा! फिर दया, दान और व्रत के परिणाम होना, वह तो और अलग बात है। परन्तु यह अभी उसका यथार्थ ज्ञान होना, पहले मौके से, इसके बिना आगे नहीं चल सकेगा। इस बात का यथार्थ ज्ञान पहले करना पड़ेगा। आहाहा! आहाहा!

जीव तो पुद्गलकर्म की उत्पत्ति के... निमित्त **अनुकूल अपने रागादि परिणाम को करता है...** बस। परन्तु उन पुद्गल के परिणाम को नहीं करता। **और पुद्गलद्रव्य ही (पुद्गल) कर्म को भोगता है...** ऐसे व्यय होता है। **जीव तो पुद्गलकर्म के निमित्त से होनेवाले अपने रागादिक परिणाम को भोगता है परन्तु जीव और पुद्गल का ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव देखकर...** देखो! निमित्त-नैमित्तिकभाव देखकर। मोक्षमार्गप्रकाशक में बहुत आता है। यह निमित्तभाव देखकर, देखकर बहुत जगह आता है, पृष्ठ भी लिखे हैं वहाँ। **अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि जीव पुद्गलकर्म को करता है और भोगता है अनादि अज्ञान के कारण ऐसा अनादि काल से प्रसिद्ध व्यवहार है।** परन्तु वह सब खोटा है, यह विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १७३, गाथा-८४-८५-८६, दिनांक १९-०१-१९७९, शुक्रवार, पौष कृष्ण-६

(समयसार गाथा) ८४ का अन्तिम पैरेग्राफ है न? **परमार्थ से जीव पुद्गल की प्रवृत्ति भिन्न होने पर भी...** जीव की परिणति और पुद्गल की परिणति अत्यन्त भिन्न-भिन्न है, प्रवृत्ति कही है न? जीव और पुद्गल की प्रवृत्ति अर्थात् परिणति अर्थात् पर्याय भिन्न-भिन्न होने पर भी **जब तक भेदज्ञान न हो, तब तक बाहर से उनकी प्रवृत्ति एक-सी दिखायी देती है।** पुद्गल की परिणति और जीव की परिणति भेदज्ञान बिना एक-सी दिखायी देती है। बहुत सूक्ष्म बात है। आहाहा!

अज्ञानी को जीव पुद्गल का भेदज्ञान नहीं होता इसलिए... पुद्गल के परिणाम और जीव के परिणाम भिन्न हैं, ऐसा भेदज्ञान नहीं होता इसलिए, **वह ऊपरी दृष्टि से जैसा दिखाई देता है, वैसा मान लेता है।** अर्थात् मानो कि पुद्गल के परिणाम मैंने किये और मेरे परिणाम उसने किये, ऐसा भेदज्ञान के अभाव से दो की क्रिया का कर्ता मैं हूँ, पर का और मेरा - ऐसा वह मानता है। **इसलिए वह यह मानता है कि जीव पुद्गलकर्म को करता है।** जीव पुद्गल की पर्याय को करता है, ऐसा। समझ में आया? कर्मबन्धन की पर्याय होती है और यहाँ परिणाम हुए, वे परिणाम इसका कार्य, परन्तु उसके कारण मानता है कि कर्म जो पुद्गल हैं, उसके परिणाम भी मैंने किये, ऐसा यह करता है **और भोगता है।** ऐसा वह मानता है।

श्रीगुरु भेदज्ञान कराकर, परमार्थ जीव का स्वरूप बताकर अज्ञानी के इस प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं। आहाहा! अज्ञानी की बात है न अभी? उसके परिणाम जो हैं। छह प्रकार से कर्म बँधे, ऐसे जो परिणाम हैं। पण्डिती! वे छह बोल के परिणाम हैं, वे ज्ञानावरणीय के बन्धन में निमित्त हैं, वे परिणाम हैं, वे जीव के, तो उन जीव के परिणाम का अज्ञानी कर्ता है। परन्तु उन परिणाम का कर्ता होने पर भी उस काल में उसी प्रकार का वहाँ ज्ञानावरणीय कर्म बँधा, तथापि उस परिणाम का कर्ता वह अज्ञानी नहीं है। अरे! अब ऐसी बातें। समझ में आया? **अज्ञानी के इस प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं...** तुझे भास होता है कि तेरे परिणाम करें और पुद्गल के परिणाम भी करे, यह तेरा व्यवहार-अज्ञानी का यह व्यवहार है, खोटा है। आहाहा! यह तो थोड़ा आ गया था। अब इसमें 'क्रिया' शब्द स्पष्ट आयेगा। 'क्रिया', **अब इस व्यवहार को दूषण देते हैं।** (गाथा) ८५ है न?

गाथा–८५

अथैन दूषयति–

जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरिया–वदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं।।८५।।

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा।
द्विक्रिया–व्यतिरिक्त: प्रसजति स जिनावमतम्।।८५।।

इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना, परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्न:। ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति।

क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततोऽयं स्वपरसमवेतक्रिया–द्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजन्त्यां स्वपरयो: परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेक–मात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमत: स्यात्।।८५।।

अब इस व्यवहार को दूषण देते हैं :–

पुद्गलकरम जीव जो करे, उनको हि जो जीव भोगवे।
जिनको असम्मत द्विक्रिया से एकरूप आत्मा हुवे।।८५।।

गाथार्थ : [यदि] यदि [आत्मा] आत्मा [इदं] इस [पुद्गलकर्म] पुद्गल कर्म को [करोति] करे [च] और [तद् एव] उसी को [वेदयते] भोगे तो [स:] वह आत्मा [द्विक्रियाव्यतिरिक्त:] दो क्रियाओं से अभिन्न [प्रसजति] ठहरे, ऐसा प्रसंग आता है– [जिनावमतं] जो कि जिनदेव को सम्मत नहीं है।

टीका : पहले तो, जगत में जो क्रिया है, सो सब ही परिणामस्वरूप होने से

वास्तव में परिणाममे भिन्न नहीं है (-परिणाम ही है); परिणाम भी परिणामी से (द्रव्य से) भिन्न नहीं है, क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है (-भिन्न-भिन्न दो वस्तु नहीं है)। इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) जो कुछ क्रिया है, वह सब ही क्रियावान से (द्रव्य से) भिन्न नहीं है। इस प्रकार, वस्तुस्थिति से ही (वस्तु की ऐसी ही मर्यादा होने से) क्रिया और कर्ता की अभिन्नता (सदा ही) प्रगट होने से, जैसे जीव व्याप्यव्यापकभाव से अपने परिणाम को करता है और भाव्यभावक से उसी का अनुभव करता है-भोगता है; उसी प्रकार यदि व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे और भाव्यभावकभाव से उसी को भोगे तो वह जीव, अपनी और पर की एकत्रित हुई दो क्रियाओं से अभिन्नता का प्रसंग आने पर, स्व-पर का परस्पर विभाग अस्त (नाश) हो जाने से, अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्मा को अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टिता के कारण सर्वज्ञ के मत से बाहर है।

भावार्थ : दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया को चेतन नहीं करता और चेतन की क्रिया को जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्य को दो क्रियायें करता हुआ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्य की क्रियाओं को एक द्रव्य करता है-ऐसा मानना जिनेन्द्र भगवान का मत नहीं है।।८५।।

गाथा - ८५ पर प्रवचन

जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरिया-वदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं।।८५।।

पुद्गलकरम जीव जो करे, उनको हि जो जीव भोगवे।
जिनको असम्मत द्विक्रिया से एकरूप आत्मा हुवे।।८५।।

आहाहा! 'पुद्गलकर्म जीव जो करे' कर्म, हों, पुद्गल की पर्याय को, पुद्गल को नहीं, '**पुद्गलकर्म जीव जो करे, उनको हि जो जीव भोगवे**' पुद्गल के परिणाम को जीव करे और पुद्गल के परिणाम को जीव भोगे '**जिनको असम्मत द्विक्रिया से एकरूप आत्मा हुवे**' तो अपने परिणाम को भी करे और भोगे तथा पर के परिणाम को भी करे और भोगे (तो वह) द्विक्रियावादी हुआ। आहाहा! दो क्रिया का करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

टीका - देखों, इसमें 'क्रिया' शब्द स्पष्ट आया है। जगत में—**पहले तो जगत में जो क्रिया है, सो सब ही परिणामस्वरूप होने से वास्तव में परिणाम से भिन्न नहीं है (परिणाम ही है)।** ध्यान रखना! फिर ऐसा भी कहेंगे कि आत्मा परिणाम का कर्ता है, वह अभिन्न से कहेंगे, और भिन्न से परिणाम परिणाम का का कर्ता है, यह भिन्न से है। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि समस्त (क्रिया) परिणामस्वरूप होने से, जितनी क्रिया जगत में परमाणु की या आत्मा की, वह परिणामस्वरूप होने से, वह क्रिया पलटने की क्रिया जो है, वह पर्याय है, वह समस्त परिणामस्वरूप है। गुण-द्रव्यस्वरूप नहीं। समझ में आया?

परिणामस्वरूप होने से वास्तव में परिणाम से भिन्न नहीं है। जो पलटने की क्रिया; क्रिया परिणामस्वरूप होने से, परिणाम से वह क्रिया भिन्न नहीं है। उस परिणमन की क्रिया से परिणमन क्रिया भिन्न नहीं है। एक बात। **और परिणाम भी परिणामी से (द्रव्य से) भिन्न नहीं है।** यहाँ अभेद से सिद्ध करना है। नहीं तो परिणाम परिणामी से भिन्न है। परिणाम परिणामी से भिन्न है। परिणाम का कर्ता परिणाम है, परन्तु यहाँ अभी अभिन्न की बात करनी है। जैसे वह आया था न भाई! कि सत्ता को द्रव्य कहना, वह निश्चय है और सत्ता को गुण कहना, उस गुण को गुण कहना, वह व्यवहार, यह अनेकान्त है। इसी प्रकार इस परिणाम का जीव को कर्ता कहना, यह अभेद से कथन है। बाकी परिणाम परिणाम का कर्ता कहना, यह भेद से कथन है। आहाहा! अब ऐसा सब कहाँ? कहो।

परिणाम भी, परिणाम जो है, पर्याय है, वह क्रिया है। अब यह जगत परमाणु की पर्याय हो या आत्मा की पर्याय हो, उस पर्याय को क्रिया कहा जाता है और वह परिणाम-क्रिया परिणमनरूप क्रिया परिणाम से बदलने के भाव से भिन्न नहीं है। परिणामस्वरूप होने से परिणाम से भिन्न नहीं है। आहाहा! देखो! वह परिणाम से भिन्न नहीं है। परिणति, परिणति से भिन्न नहीं है। '**यः परिणमति स कर्ता:**' परिणाम भी, अब यह परिणाम भी... टीका तो कैसी टीका है! पहले क्या कहा, समझ में आया? जीव के परिणाम हो या पुद्गल के परिणाम हो, वे परिणाम परिणाम की क्रिया है, वह परिणाम से भिन्न नहीं है, वह परिणामरूपी जो क्रिया है, क्रिया, वह परिणाम की क्रिया उस परिणाम से भिन्न नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

अब यहाँ वह परिणाम भी परिणामी से भिन्न नहीं है। पर के परिणाम से भिन्न

बतलाना है न ? इसलिए वह परिणाम है, वह परिणामी से भिन्न नहीं है, अभेद से यह कथन है। वास्तव में तो परिणामी से परिणाम भिन्न है और परिणाम का कर्ता द्रव्य नहीं, तथापि यहाँ अभिन्न से कर्ता द्रव्य कहेंगे। आता है न भाई उसमें ? 'कर्ता परिणामी दरव, कर्मरूप परिणाम, क्रिया पर्यय की फेरनी, वस्तु एक त्रय नाम।' यह तो अभिन्न से कथन करना है, कि परिणाम का कर्ता द्रव्य है, यह उसका परिणाम है, ऐसा बताने को अभिन्न से उसका कर्ता द्रव्य कहा। यह अभिन्न से कथन है। आहाहा ! परिणाम परिणाम का कर्ता है, यह भिन्न (भेद) से कथन है। आहाहा ! ऐसी बातें हैं।

यह आगे आयेगा, श्लोक आयेगा। श्लोक आयेगा न ? (गाथा) ८६ के बाद श्लोक आयेगा, ८६ में श्लोक आयेगा। '**यः परिणमति स कर्ता**' ५१ वाँ कलश '**परिणमति स कर्ता**' परिणमे वह कर्ता, ऐसा कहेंगे, परिणमति-परिणमति, वह पर्याय कर्ता—ऐसा नहीं परन्तु परिणमति, वह कर्ता। है न भाई ? ५१ श्लोक है। '**यः परिणमति स कर्ता**' 'कर्ता परिणामी दरव' ऐसा इसका अर्थ किया। परिणामी है, वह परिणाम का कर्ता है, यह अभिन्न से कथन है। आहाहा ! और परिणाम परिणाम का कर्ता है, यह भिन्न है, जैसे सत्ता द्रव्य है, यह अभिन्न से कथन है और सत्ता गुण है, यह भिन्न से कथन है; उसी प्रकार पर्याय परिणामी कर्ता है, यह अभिन्न से कथन है; परिणाम परिणाम से करता है, यह भिन्न से कथन है।

मुमुक्षु : इसमें सच्चा क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों सच्चे हैं। किस अपेक्षा से कहा है ? यहाँ तो परिणाम का कर्ता द्रव्य है, ऐसा कहना है। दूसरे के परिणाम का कर्ता नहीं, इतना सिद्ध करने के लिये अभिन्न कहा। समझ में आया ?

जीवद्रव्य अपने परिणाम का कर्ता है। भले विकारी हो तो भी कर्ता है, वह स्वयं, ऐसा कहना, उन पर के परिणाम का कर्ता नहीं। पर से भिन्न सिद्ध करने को इसके परिणाम का कर्ता जीव है, ऐसा अभिन्न सिद्ध करना है। निश्चय से तो परिणाम परिणाम का कर्ता है। आहाहा ! राग के परिणाम का राग कर्ता है, परन्तु पर के परिणाम का कर्ता नहीं, इसलिए वह द्रव्य अपने परिणाम का कर्ता है, ऐसा कहना है। आहाहा ! ऐसा है। परिणाम भी, है न ?

परिणाम भी परिणामी से... अर्थात् **द्रव्य से भिन्न नहीं है।** यहाँ अभेद कथन करना है न? आहाहा! समझ में आया इसमें? कहाँ क्या अन्तर पड़ता है? आहाहा!

जीव के परिणाम का जीवद्रव्य कर्ता है, यह अभिन्न से कथन है, वह द्रव्य उसका कर्ता है, परद्रव्य नहीं, इतना सिद्ध करने (के लिये बात है)। बाकी, वास्तव में तो परिणाम परिणाम का कर्ता है, यह भिन्न से कथन है। जैसे सत्ता, वह द्रव्य है, यह अभिन्न से कथन है; सत्ता गुण है, यह भिन्न से कथन है। वैसे परिणाम का कर्ता परिणामी, यह अभिन्न से कथन है और परिणाम परिणाम का कर्ता, यह भिन्न से कथन है। अनेकान्त है। आहाहा!

अब ऐसा सब लम्बा सुनने की निवृत्ति कहाँ, बापू! मार्ग तो ऐसा है, भाई! अर्थात्? कि जीव स्वयं जो विकारी परिणाम (रूप) होता है, उस परिणाम का पुद्‌गल कर्ता नहीं है। पुद्‌गल के परिणाम उसका कर्ता नहीं है, इसलिए ऐसा सिद्ध करना है कि उस परिणाम का कर्ता जीव है। समझ में आया? यह अभेद से कथन किया है, विकारी परिणाम का कर्ता भी जीव है, ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, वे जीव के परिणाम हैं और वह परिणति परिणाम है, वह परिणाम से भिन्न नहीं है, क्या कहा? राग-द्वेष के परिणाम हों, वह क्रिया है, वह क्रिया उसके परिणाम से भिन्न नहीं है, उस परिणाम से भिन्न नहीं है, इसलिए वह परिणामस्वरूप है और वह परिणाम, परिणामी से भिन्न नहीं है अर्थात् कि वह दूसरे के परिणाम है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

वे परिणाम राग-द्वेष के, जीव परिणामी है, उसके हैं—ऐसा अभिन्न से कथन है। पहला तो अपने आ गया छह कारक में तो कि परिणाम विकारी है, यह ६२वीं गाथा में में आया था, पंचास्तिकाय, विकारी परिणाम का कर्ता परिणाम; विकारी परिणाम उसका कार्य, विकारी परिणाम उसका साधन अर्थात् करण, उसके लिये किया है, परिणाम के लिये परिणाम किया है, परिणाम से परिणाम हुआ है, परिणाम के आधार से परिणाम हुआ है, यह पर्याय के षट्कारक स्वतन्त्र हैं, जिसे द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं और निमित्त की भी अपेक्षा नहीं। आहाहा!

परन्तु यहाँ परद्रव्य के परिणाम परद्रव्य से होते हैं, और इसके परिणाम इससे होते हैं। समझ में आया? ऐसा बतलाने के लिये परिणाम परिणामी से भिन्न नहीं है, ऐसा। समझ

में आया ? विकारी परिणाम, वह परिणति की क्रिया, वह परिणाम से भिन्न नहीं और वे परिणाम परिणामी से भिन्न नहीं। ऐसा है। समझ में आया या नहीं ?

परिणाम भी... आहाहा! गजब कितनी स्पष्ट (बात) की है। ओहोहो! जगत में जो क्रिया है, जगत में जितने पदार्थ की पर्याय है। वह पर्याय, वह क्रिया। आहाहा! वह क्रिया परिणामस्वरूप होने से वास्तव में परिणाम से भिन्न है। वह क्रिया उस पर्याय से भिन्न नहीं है। आहाहा! और वह परिणाम भी परिणामी से-द्रव्य से भिन्न नहीं है। समझ में आया ? एक ओर ऐसा कहना कि परिणाम परिणाम को कर्ता, परिणाम का कर्ता द्रव्य नहीं। यह भिन्न पर्याय की कथन शैली है और यह अभिन्न परिणाम उसका है, ऐसा कहकर उस परिणाम का कर्ता द्रव्य है, ऐसा सिद्ध करना है। उस परिणाम का कर्ता परद्रव्य और यह परपरिणाम नहीं, इतना सिद्ध करना है, आहाहा! ऐसा है। भले अज्ञानी परिणाम को करे, समझ में आया ? तथापि वह क्रिया परिणाम के परिणामस्वरूप क्रिया, वह परिणामस्वरूप है। एक बात।

अब अज्ञानी करता है, इसलिए वह परिणाम परिणामी से भिन्न है, ऐसा। समझ में आया ? ऐसी बात है, बापू! ओहोहो! मार्ग वह मार्ग प्रभु का कितना अन्दर स्वतन्त्र-स्वच्छता है। आहाहा!

क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है। देखा ? यहाँ यह सिद्ध करना है। परिणाम और परिणामी, पर्याय और परिणामी द्रव्य दो अभिन्न वस्तु है। भिन्न-भिन्न दो वस्तुयें नहीं, ऐसा। जैसे पुद्गल और पुद्गल के परिणाम, भिन्न वस्तु है, वैसे परिणाम और परिणामी वह अपेक्षा से भिन्न वस्तु नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम। जगत को सत्य मिला नहीं, बेचारे सत्य को कहाँ का कहाँ लगया दिया। आहाहा! इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि जो कोई क्रिया है। देखो, वापस आया, जो कोई परिणमन की क्रिया है, जो कोई अवस्थान्तर होती क्रिया है। आहाहा! वह क्रिया सब क्रियावान से, देखा! द्रव्य से, वह क्रिया सब क्रियावान से भिन्न नहीं है। आहाहा! भाषा तो सादी है, बापू! समझ में आये ऐसा तो है न भाई, रसिकभाई ? आहाहा!

यह क्रिया कल कहते थे '**क्रि**' वह इसमें ही आया। मैंने कहा, कहीं क्रिया शब्द

आता है। स्पष्ट; परन्तु ख्याल में नहीं था, यह 'क्रिया' स्पष्ट शब्द यहाँ आया है। क्रिया प्रत्येक द्रव्य का परिणमन पर्याय-अवस्था वह क्रिया। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन-परिणाम-अवस्था, वह क्रिया। वह क्रिया परिणामस्वरूप होने से, परिणाम से भिन्न नहीं और वह परिणाम जिसके हैं, उसके परिणामी से उन्हें अभिन्न गिनकर उससे भिन्न नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : वह अभिन्न कहे जाते हैं, वास्तव में अभिन्न नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अभिन्न कहे जाते हैं, वास्तव में अभिन्न नहीं। हैं? आहाहा! क्रिया है, वह सब क्रियावान से भिन्न नहीं है, यहाँ तो उसका परिणमन है, उस द्रव्य का; परद्रव्य का नहीं, इतना सिद्ध करने के लिये उस द्रव्य के परिणाम को उस द्रव्य की क्रिया है, ऐसा कहा है। आहाहा! सब बड़ा अन्तर। क्या यहाँ सिद्ध क्या करना है, इस अपेक्षा से।

उसमें आता है न कलश में? 'कर्ता परिणामी दरव' यह अभिन्न से कथन है, 'कर्ता परिणामी दरव' परिणामी है, वह परिणाम का कर्ता और 'कर्मरूप परिणाम' और जो पर्याय हुई-परिणाम हुए, अवस्था हुई वह कार्य। 'कर्ता परिणाम दरव कर्मरूप परिणाम क्रिया वस्तु की फेरनी' वस्तु बदलती है, ऐसे पलटती है, पलटती है, पुरानी अवस्था होकर पलटती है, वह क्रिया 'वस्तु एक' वह की वह वस्तु के तीन प्रकार इस अपेक्षा से कहे जाते हैं। आहाहा! कर्ता और परिणाम कर्ता का कहना, वह अभिन्न है, दूसरे का वह परिणाम नहीं है, ऐसा कहने के लिये यह परिणाम कर्ता का है, ऐसा कहना है। आहाहा!

जो कुछ क्रिया है, वह सब ही क्रियावान से (द्रव्य से भिन्न नहीं है)। इस प्रकार वस्तुस्थिति से ही (वस्तु की ऐसी ही मर्यादा होने से) क्रिया और कर्ता की अभिन्नता सदा ही प्रगट होने से... लो ठीक, परिणति की क्रिया और उसका कर्ता द्रव्य, उनका अभिन्नपना सदा प्रगट होने से... आहाहा! यहाँ तो पर के परिणाम का यह कर्ता नहीं है और यह परिणाम पर का कर्ता नहीं है, ऐसा सिद्ध करने के लिये... यह परिणाम आत्मा से अभिन्न है और पुद्गल के परिणाम पुद्गल से अभिन्न है। समझ में आया? ऐसा है।

इसी प्रकार **क्रिया और कर्ता की अभिन्नता...** देखा? द्रव्य और उसकी पर्याय अर्थात् अवस्था अर्थात् क्रिया, वह अभिन्न है। द्रव्यदृष्टि से यह कथन है आहाहा! और

पर्याय, पर्याय की कर्ता, यह पर्यायदृष्टि का कथन है। भेददृष्टि का कथन कहो या पर्यायदृष्टि का कथन कहो और यह अभेददृष्टि का कहो या द्रव्यदृष्टि का कहो। आहाहा! परद्रव्य की कोई भी पर्याय उस समय में उसकी होती है, उस पर्याय का दूसरा द्रव्य कर्ता नहीं, ऐसा सिद्ध करने के लिये वह पर्याय उस परिणामी से भिन्न नहीं है, ऐसा द्रव्यदृष्टि से कथन है। समझ में आया? आहाहा! आहाहा.... !

राग को करता है, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम को, वह परिणाम है, वह परिणति की क्रिया के वे परिणाम हैं, उस परिणाम से वह क्रिया भिन्न नहीं और वह परिणाम परिणामी से भिन्न नहीं। आहाहा! कठिन बात है, भाई! मूल अभी गड़बड बहुत हो गयी न, इसलिए लोगों को... वस्तु बहुत सरल और सीधी है। पर के और इसे कोई सम्बन्ध नहीं है, इतना सिद्ध करने के लिये यह परिणति की क्रिया परिणामस्वरूप होने पर भी, वह परिणाम परिणामी का है अभिन्न से, ऐसा यहाँ सिद्ध किया है। आहाहा! है?

यह क्रिया और कर्ता की अभिन्नता सदा ही प्रगट होने से... देखा! यह द्रव्य के जो परिणाम हैं, वह दूसरे द्रव्य के परिणाम नहीं। आहाहा! थोड़ा अन्तर कहाँ है, यह जरा मुश्किल पड़े, थोड़े अन्तर में बड़ा अन्तर है। आहाहा!

प्रगट होने से, जैसे जीव व्याप्यव्यापकभाव से अपने परिणाम को करता है। देखा? ऐसा सिद्ध करना है, जीव व्यापक है, जीव कर्ता है (और) परिणाम व्याप्य है, परिणाम कार्य है, जीव जैसे व्याप्य अर्थात् कार्य, कर्म, अवस्था; व्यापक अर्थात् कर्ता, द्रव्य, परिणामी ऐसे भाव से अपने परिणाम को करता है। व्याप्यव्यापकभाव से अपने परिणाम को जीव करता है। आहाहा! यहाँ तो राग को करता है, यह अज्ञानी भी अपने भाव से-द्रव्य से करता है, वह द्रव्य उसका कर्ता है। द्रव्य तो शुद्ध है। आहाहा! बहुत बात कठिन बहुत। फेरफार थोड़ा हो, वहाँ फेरफार बहुत पूरा है, ऐसा ही अन्दर है। दूसरे को साधारण को ऐसा लगे कि थोड़ा सा (फेरफार है), परन्तु बहुत फेरफार है। यह परिणाम पर का परिणाम कहना वह नहीं, इसलिए वह परिणाम द्रव्यदृष्टि से इसका है। विकार परिणाम भी जीव के हैं, आहाहा! यह अभिन्न से कहा जाता है अज्ञानी को।

जैसे जीव व्याप्य अर्थात् कार्य, व्याप्य अर्थात् कर्म, व्याप्य अर्थात् अवस्था;

व्यापक अर्थात् कर्ता, व्यापक अर्थात् द्रव्य, व्यापक अर्थात् अभिन्न वस्तु। यह व्याप्यव्यापकभाव से अपने परिणाम को करता है। **और भाव्यभावकभाव से...** आहाहा! भावक द्रव्य, विकारी परिणाम भाव्य, ऐसे भाव से **उसी का अनुभव करता है-करता है।** आहाहा! अलिंगग्रहण में ऐसा कहा कि आत्मा इन्द्रियों के विषयों का भोक्ता है ही नहीं। वहाँ निर्मल द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से बात है। आहाहा! है न भाई? बारहवाँ बोल है, बारहवाँ। इन्द्रिय के विषय का भोक्ता आत्मा नहीं है। उसमें है न उसमें? दोपहर के प्रवचनसार १७२ गाथा। आहाहा! आत्मा इन्द्रिय के विषय का भोक्ता नहीं अर्थात् राग का... आहाहा! और विकार का वह भोक्ता नहीं। यह शुद्ध द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से बात की है। यहाँ अशुद्ध द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से है। आहाहा! समझ में आये उतना समझना बापू! यह तो परम सत्य है, परमात्मा का मार्ग ऐसा है। आहाहा!

भाव्यभावकभाव से उसी का अनुभव करता है... कौन? अज्ञानी आत्मा अपने विकारी परिणाम का भाव्य और भावक स्वयं, उसी को वह भोगता है। आहाहा! यहाँ कहना है कि विकारी परिणाम को जीव भोगता नहीं, अलिंगग्रहण में, वह तो द्रव्यदृष्टि की बात है, शुद्ध द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से (बात है)। आहाहा! विकारी परिणाम का भोग्य आत्मा और भोक्ता आत्मा, ऐसा है नहीं। आहाहा! कितनी अपेक्षा के कथन अलौकिक बात है। यह सब अपेक्षायें ज्ञान की बहुलता बतलाती है, आहाहा! अनेकान्तपना सिद्ध करती है। आहाहा!

उसी प्रकार यदि व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे... यहाँ बात ऐसी लेनी है, अर्थात् उसे उसके परिणाम का कर्ता वह द्रव्य है, ऐसा सिद्ध किया। नहीं तो परिणाम का कर्ता परिणाम है। विकारी परिणाम का कर्ता भी परिणाम है और निर्मल परिणाम का कर्ता भी वह परिणाम है। आहाहा! समझ में आया? जैसे जीव स्वयं कार्य के कर्तारूप होता है और भाव्य के भावकरूप भोगता है, उसी प्रकार यदि व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे, 'भी करे' ऐसा है न? यह भी करे और यह भी करे, इतना सिद्ध करना है। व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे अर्थात्? कर्म की पर्याय का कार्य और आत्मा कारक कर्ता, ऐसा यदि हो, आहाहा! समझ में आया? कर्मबन्धन की पर्याय

का कर्ता आत्मा और उसका व्याप्य वह परिणाम उसका, यदि ऐसा हो, **और भाव्यभावकभाव से उसी को भोगे...** कर्म को। जैसे अपने को भाव्यभावकभाव से भोगता है, वैसा कर्म के अनुभाग को, कर्म के फल को यह आत्मा भोगे। आहाहा! **उसी को भोगे तो वह जीव, अपनी और पर की एकत्रित हुई दो क्रियाओं से अभिन्नता का प्रसंग आने पर...** लो, यह सिद्ध करना है। आहाहा!

जैसे भगवान आत्मा अपने परिणाम की क्रिया को करे और व्याप्यव्यापकभाव से उसे करे और भाव्यभावकभाव से उसे भोगे, भाव्य अर्थात् विकारी परिणाम और भावक स्वयं, उसे भोगे, उसी प्रकार कर्म के परिणाम हैं पुद्गल के, ज्ञानावरणीय के, दर्शनावरणीय के, सातावेदनीय के, उन परिणाम को आत्मा व्याप्यव्यापक होकर वह कार्य मेरा और कर्ता आत्मा तथा उसके-कर्म के फल को भोगे अर्थात् भाव्यभावक, भाव्य कर्म का है और भावक स्वयं होता है और उसे भोगे तो दो द्रव्य की क्रिया एक हो जाती है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, हों! आहाहा! आहाहा!

भाव्यभावकभाव से उसी को भोगे, तो व्याप्यव्यापकभाव से भी उसी को भोगे— **तो वह जीव, अपनी और पर की एकत्रित हुई दो क्रियाओं से...** देखा? जीव की क्रिया राग-द्वेष आदि की और पुद्गल की क्रिया परिणाम जो ज्ञानावरणी का परिणमन हुआ, वह तथा आठों ही कर्म को, उन्हें भी भोगे, तो उस जीव को अपनी और पर की एकत्रित हुई **दो क्रियाओं से अभिन्नता का प्रसंग...** आवे। एक क्रिया से अभिन्न है और उसका भी व्याप्य-कार्य स्वयं करे और भाव्य उसे भोगे तो दो क्रिया का एकपना हो जाता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : दृष्टान्त दीजिये न।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या? कहा न यह, क्या कहा न? दृष्टान्त तो दिया न? घड़े का दृष्टान्त नहीं दिया। घड़े की पर्याय को मिट्टी करती है और घड़े की पर्याय को मिट्टी भोगती है, उसी प्रकार कुम्हार की पर्याय को वह कुम्हार करता है और उस घट की पर्याय को करे और घट की पर्याय को भोगे तो दोनों अभिन्न हो जाते हैं, वह तो घड़े का दृष्टान्त देकर पहले बात की है। आहाहा! है भाई! सूक्ष्म बहुत और बहुत अन्तर। आहाहा!

दो क्रियाओं से अभिन्नता का प्रसंग आने पर... कौन सी दो क्रियायें ? पुद्गल के परिणाम और जीव के परिणाम, इन दोनों को जीव करे और पुद्गल के परिणाम तथा जीव के परिणाम दोनों को जीव भोगे तो **दो क्रियाओं से अभिन्नता का प्रसंग आने पर स्व-पर का परस्पर विभाग अस्त (नाश) हो जाने से...** स्व-पर का परस्पर एक-दूसरे में विभाग है, वह अस्त हो जाता है। आहाहा! एक-दूसरे की भिन्नता नहीं रहती। कितना समाहित किया है। क्या अमृतचन्द्राचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य। आहाहा! ऐसा यह प्रवचनसार-दिव्यध्वनि का सार। आहाहा! धीरे से तो कहा जाता है धीरे... धीरे... धीरे। बात तो बहुत सूक्ष्म समझने योग्य है, बापू!

यहाँ तो पर के परिणाम जीव नहीं करता और जीव के परिणाम पर नहीं करता, इतना सिद्ध करने के लिये परिणामी से परिणाम भिन्न नहीं हैं, ऐसा सिद्ध किया है। आहाहा!

ऐसा यदि हो कि कर्म के परिणाम की पर्याय जो है, उसे व्याप्यव्यापक से जीव करे अर्थात् कार्य व्याप्य और आत्मा व्यापक कर्ता, वह पर्याय भाव्य और आत्मा भोक्ता तो दो द्रव्यों की क्रिया एक हो जाती है। आहाहा! स्व-पर का विभाग अस्त हो जाता है। स्व-पर दोनों भिन्न नहीं रहते। स्व-पर दोनों एक हो जाते हैं। उनकी भिन्नता अस्त हो जाती है। आहाहा! कपूरभाई नहीं ? गये लगते हैं।

मुमुक्षु : गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक। आहाहा! **स्व-पर का परस्पर,...** परस्पर देखा ? परस्पर जीव के परिणाम पुद्गल करे और पुद्गल के परिणाम जीव करे, तो परस्पर ऐसा होने से दोनों की भिन्नता अस्त हो जाती है, दोनों की भिन्नता नहीं रहती। आहाहा!

अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्मा का अनुभव करता हुआ... आहाहा! अनेक द्रव्यस्वरूप, अनेक द्रव्यस्वरूप। जो पुद्गल के परिणाम, वे पुद्गल के परिणाम हैं, और आत्मा के परिणाम वे आत्मा के हैं, दोनों। अनेक द्रव्यस्वरूप एक आत्मा का अनुभव करता हुआ... अपने परिणाम और पर के परिणाम को अनेक द्रव्यस्वरूप, वापस देखा ? वह परिणाम कहे, वह उसके द्रव्यस्वरूप; और यह परिणाम हैं, वे आत्मा के द्रव्यस्वरूप, आहाहा! तथापि परिणाम हैं, वे द्रव्यस्वरूप नहीं। तथापि यहाँ तो अनेकद्रव्यस्वरूप

अर्थात् अपने परिणाम अपने द्रव्य के हैं और उसके परिणाम उसके द्रव्य के हैं, तो दोनों को भोगे तो अनेकद्रव्यस्वरूप, आहाहा! **एक आत्मा का अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टिता के कारण सर्वज्ञ के मत के बाहर है।** वह सर्वज्ञ के मत में नहीं है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया?

कि जिस काल में इसने परिणाम किये, ज्ञानावरणीय को बाँधने में निमित्तरूप, वे परिणाम अज्ञान से किये और उसका यह कर्ता, तथा उस परिणाम की क्रिया इस परिणाम से भिन्न नहीं है, उस क्रिया के परिणाम परिणामी आत्मा से भिन्न नहीं है। आहाहा! तथा एक ओर कहना कि राग, वह आत्मा का है ही नहीं, तथा एक ओर कहना कि राग परिणाम वह आत्मा से भिन्न नहीं है, आहाहा! क्या अपेक्षा है, यह जानना चाहिए न? यहाँ तो परद्रव्य से भिन्न करना है और जब राग से, पुण्यतत्त्व है, उससे भिन्न करना हो तब ज्ञायकभाव में वह राग है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? जैसे यहाँ परिणाम राग के कहे, वे परिणाम से भिन्न नहीं है, ऐसा कहा और पुद्गल के परिणाम आत्मा से भिन्न हैं, ऐसा कहा, तथापि वे परिणाम इसके हैं, ऐसा कहा, यह भी अभेद से कथन है। बाकी परिणाम तो परिणाम के, राग राग का कर्ता है; राग का कर्ता आत्मा है – द्रव्य—वस्तु कर्ता कहाँ से आये? आहाहा! समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म, यह लोगों को ऐसा लगता है कि यह एकान्त है, एकान्त है। गजब बातें। आहाहा!

निमित्त से भी होता है, किसी समय निमित्त से होता है, उसे यहाँ उड़ाते हैं।

मुमुक्षु : किसी समय नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी समय नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? कर्म के निमित्त से आत्मा में विकार होता है, (ऐसा) कभी नहीं। तथा आत्मा के विकार और परिणाम के कारण कर्म की पर्याय होती है, (ऐसा) कभी नहीं। आहाहा! समझ में आया? वीतराग का मार्ग, बापू! आहाहा!

और वह भी कल तो कहा था न जरा कि परिणाम जो है, वह आत्मा का लक्ष्य करता है, वह भी परिणाम स्व कर्ता हेतु, कर्ता होकर स्वयं लक्ष्य करता है। सम्यग्दर्शन के परिणाम या सम्यग्ज्ञान के परिणाम द्रव्य का लक्ष्य करते हैं, वे लक्ष्य करते हैं, वे स्वयं कर्ता

होकर लक्ष्य करते हैं। आहाहा! ओहोहो! ऐसी सूक्ष्म बातें बहुत, भाई! परिणति को अन्दर में झुकाना, ऐसा कहना, आहाहा! ज्ञान की पर्याय जो है, उसे अन्तर ज्ञायक में झुकाना, परन्तु वह झुकने की जो पर्याय है, वह स्वतन्त्र कर्ता होकर वह अन्दर झुकती है, द्रव्य उसका कर्ता होता है – ऐसा नहीं है। परन्तु यहां तो यह परिणाम उसके हैं, ऐसा बतलाने के लिये परिणाम उस ओर झुका है, वह परिणाम स्वयं अपने कर्तापन से झुका है, तथापि वह परिणाम द्रव्य का है, ऐसा बतलाने के लिये वह परिणाम द्रव्य से अभिन्न है। जैसे यहाँ विकार का लिया, वैसे वहाँ अविकार को लेना। आहाहा! यहाँ तो यह विकारी की बात है।

अनेकद्रव्यस्वरूप, देखा? अनेकद्रव्यस्वरूप। उन परिणाम को द्रव्यस्वरूप उसका–पुद्गल का परिणाम है, इसलिए पुद्गल और जीव के परिणाम हैं, इसलिए जीव, इन दो को अनेकद्रव्यस्वरूप, ऐसा कहा। **अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्मा का अनुभव करता हुआ...** अनेकद्रव्यस्वरूप परिणाम को, एक द्रव्य–आत्मा अनुभव करता हुआ, **मिथ्यादृष्टिता के कारण... 'जिणायमदं'** है न अन्तिम? जिनवर की आज्ञा से बाहर है। सर्वज्ञ की आज्ञा से बाहर मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! उसमें है न? चेतनजी! उसमें है न, बापू! देखो न! आहाहा! ऐसी बात, बापू! किसी समय सुनने को मिले, ऐसी है। आहाहा!

तेरी स्वतन्त्रता, प्रभु! अज्ञान भी करे वह तेरी स्वतन्त्रता, ऐसा कहते हैं। वह कर्म के कारण विकार होता है, ऐसा नहीं और कर्म की पर्याय हुई, वह तेरे कारण से नहीं... भाषा तो बहुत सादी, टीका बहुत सादी और अकेला मर्म भरा है।

मुमुक्षु : मर्म खोलना पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : है ही ऐसा यहाँ तो, है यह बात। आहाहा! शब्द तो बोलते हैं या नहीं, देखो? शब्द तो शब्द है, कहीं शब्द उसका अर्थ वे कुछ नहीं कर सकते। आहाहा! ८४ और यह ८५ (गाथा) आहाहा!

घड़े की पर्याय को कुम्हार करे और कुम्हार अपने राग की इच्छा को करे, दो क्रिया कैसे कर सकता है? कहते हैं। तो अनेक द्रव्य का एकरूप परिणमन होने का अनुभव हुआ, ऐसा हुआ यह तो। आहाहा! अरे! भगवान! कहो, यह रोटी को आत्मा करे और आत्मा इस रोटी को ऐसी हो, ऐसी इच्छा करे – दोनों को करे, तो अनेकद्रव्यस्वरूप दो का

एक अनुभव हुआ। भिन्न रहे नहीं। आहाहा! बहुत अच्छी गाथा है। आहाहा! 'क्रिया' शब्द यहाँ बहुत स्पष्ट आया, भाई! अन्यत्र आता है कहीं, परन्तु मस्तिष्क में नहीं, परन्तु उसमें से निकाला था जरा, पुद्‌गलपरिणामस्वरूप क्रिया। आहाहा!

भावार्थः-दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है... सादी भाषा ली है। पुद्‌गल के परिणाम की क्रिया और जीव के परिणाम की क्रिया... आहाहा! भिन्न ही है। आहाहा! **जड़ की क्रिया...** परमाणु की-कर्म की पर्याय की क्रिया, आहाहा! **चेतन नहीं करता...** कर्मबन्धन का कर्मरूप परिणाम होना, उस परिणाम को चेतन नहीं करता। आहाहा! **चेतन की क्रिया जड़ नहीं करता...** राग और पुण्य—दया, दान के विकल्प जो हैं, भगवान की स्तुति आदि का राग, उस राग की क्रिया को जड़ नहीं करता। आहाहा! वह कर्म इसे नहीं करता, कर्म का उदय आया, इसलिए यहाँ राग हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

जो पुरुष एक द्रव्य को दो क्रियायें करता हुआ मानता है। आहाहा! जो कोई आत्मा, एक द्रव्य को अपनी पर्याय और पर की पर्याय दो क्रियायें करता हुआ मानता है, **वह मिथ्यादृष्टि है।** वह जैन नहीं है। आहाहा! ऐसा स्पष्टीकरण है। आहाहा! दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं है। आहाहा! जिसने समय-समय के परिणाम, उसका कर्ता स्वयं द्रव्य अभिन्न से कथन है। आहाहा! बाकी परिणाम परिणाम का कर्ता, यह भिन्न है। आहाहा! ऐसा अनेकान्तपना द्रव्य का स्वरूप है, ऐसा भगवान ने वर्णन किया है और सन्तों ने कहा है, जगत के लिये प्रसिद्ध किया है। आहाहा!

आज तो वह सूर्य बराबर आँख में सामने आया, पाट पर बैठे। कहा, इस सूर्य में भगवान तो विराजते हैं, अन्दर प्रतिमा, अन्दर जिनमन्दिर है। और भरत देख सकते थे और अपने को अभी यहाँ दिखता नहीं। सूर्य, पाट पर ऐसे बैठा और जब यह पढ़ने का साढ़े सात, पौने आठ, सूर्य ऐसे बराबर इस ओर आया ऐसे सामने। आहाहा! वहाँ भगवान विराजते हैं, प्रतिमा है, वहाँ जिनप्रतिमा है।

मुमुक्षु : चक्रवर्ती देख सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चक्रवर्ती देख सकता है, यह कहा न? आहाहा! भरत चक्रवर्ती, जिन्हें पाँच महल हैं, देवों ने बनाये हुए, उनके ऊपर बैठे थे और ऐसे (सूर्य को देखा)।

भगवान का मन्दिर दिखायी दिया। आहाहा! और वन्दन किया, अकृत्रिम, अकृत्रिम। प्राकृतिक प्रतिमा। ऐसी अकृत्रिम तो वहाँ। फिर लोग सूर्यनारायण को वन्दन करने लगे। उन भरत ने वन्दन किया न, वहाँ भगवान की प्रतिमा को-यह सूर्यनारायण को लोग वन्दन करते हैं, दाँतुन करके, जय सूर्यनारायण - अब वह तो पत्थर है यह। आहाहा!

यह सूर्यनारायण भगवान आत्मा, आहाहा! यह चैतन्य प्रतिमा है, जिनप्रतिमा है। आता है न श्रीमद् में, भाई! आता है न? जिनप्रतिमा हो, एक बार जिन चैतन्य प्रतिमा हो, प्रभु! आहाहा! जिन प्रतिमा वह तेरा स्वरूप है, राग तेरा स्वरूप नहीं है। वह तो अज्ञानभाव से तेरी दृष्टि द्रव्य के ऊपर नहीं गयी, इसलिए तुझे राग का कारण तुझे कहते हैं। आहाहा! आहाहा! यह चैतन्य भगवान परमात्मा है, उसके दर्शन कर। आहाहा! राग के दर्शन छोड़ दे, राग को देखता है, वह पर्यायबुद्धि छोड़ दे। आहाहा!

निर्मलानन्द का नाथ अन्दर परमेश्वर, आहाहा! देह देवालय में देव है। मन्दिर में देव नहीं। आहाहा! आता है न? देह मन्दिर में देव है। दीक्षा के लिये गमन करे मेरा भिक्षुभगवान। भिक्षा माँगे, प्रतिमा के निकट-भगवान के निकट माँगे, मुझे दे प्रभु। आहाहा! यह निश्चय से कहा जाता है। शुभभाव आवे तब ऐसा विकल्प होता है। आहाहा! तथापि उस शुभविकल्प का भी जाननेवाला है। जाननेवाला है, ऐसी चैतन्यप्रतिमा, जिनप्रतिमा प्रभु है। आहाहा! उसे देख न। आहाहा!

तेरी परिणति को कर्तारूप से स्वतन्त्ररूप से भी उसकी ओर झुका न! आहाहा! यह यहाँ कहते हैं। **दो क्रियायें कर्ता हुआ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि दो द्रव्यों की क्रियाओं को एक द्रव्य करता है...** एक द्रव्य करता है, देखा! यहाँ ऐसा लेना है न यहाँ तो, अभिन्न से। **ऐसा मानना जिनेन्द्रभगवान का मत नहीं है।** वीतराग परमात्मा अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवलियों का यह मत नहीं है। भाई! आहाहा! क्या अमृत प्रवाहित किया है न! आहाहा!

गाथा–८६

कुतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत्–

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरिया–वादिणो हुंति।।८६।।

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गल–भावं च द्वावपि कुर्वन्ति।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रिया–वादिनो भवन्ति।।८६।।

यत: किलात्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वन्तमात्मानं मन्यन्ते द्विक्रियावादिनस्ततस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति सिद्धान्त:। मा चैकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणाम: क्रियमाण: प्रतिभातु।

यथा किल कुलाल: कलशसम्भवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्य–तिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाण: प्रतिभाति, न पुन: कलशकरणाहंकारनिर्भरोऽपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकाया: कलशपरिणामं मृत्तिकाया: अव्यतिरिक्तं मृत्तिकाया: अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाण: प्रतिभाति।

तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाण: प्रतिभातु, मा पुन: पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोऽपि स्वपरिणामानुरूपं पुद्गलस्य परिणामं पुद्गलादव्यतिरिक्तं पुद्गलादव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाण: प्रतिभातु।।८६।।

अब पुन: प्रश्न करता है कि दो क्रियाओं का अनुभव करनेवाला मिथ्यादृष्टि कैसे है? उसका समाधान करते हैं–

जीवभाव, पुद्गलभाव–दोनों भाव को आत्मा करे,
इससे हि मिथ्यादृष्टि ऐसे द्विक्रियावादी हुवे।।८६।।

गाथार्थ : [यस्मात् तु] क्योंकि [आत्मभावं] आत्मा के भाव को [च] और [पुद्गलभावं] पुद्गल के भाव को- [द्वौ अपि] दोनों को [कुर्वन्ति] आत्मा करता है, ऐसा वे मानते हैं, [तेन तु] इसलिए [द्विक्रियावादिन:] एक द्रव्य के दो क्रियाओं का होना माननेवाले [मिथ्यादृष्टय:] मिथ्यादृष्टि [भवन्ति] हैं।

टीका : निश्चय से द्विक्रियावादी (अर्थात् एक द्रव्य को दो क्रिया माननेवाले) यह मानते हैं कि आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को स्वयं (आत्मा) करता है, इसलिए वे मिथ्यादृष्टि ही हैं, ऐसा सिद्धान्त है। एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों के परिणाम किये गये प्रतिभासित न हों। जैसे कुम्हार घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल अपने (इच्छारूप और हस्तादि की क्रियारूप) व्यापारपरिणाम को-जो कि अपने से अभिन्न है और अपने से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है उसे-करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु घड़ा बनाने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी (वह कुम्हार) अपने व्यापार के अनुरूप मिट्टी के घट-परिणाम को-जो कि मिट्टी से अभिन्न है और मिट्टी से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है उसे-करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; इसी प्रकार आत्मा भी अज्ञान के कारण पुद्गलकर्मरूप परिणाम के अनुकूल अपने परिणाम को-जो कि अपने से अभिन्न है और अपने से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है उसे-करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु पुद्गल के परिणाम को करने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी (वह आत्मा) अपने परिणाम के अनुरूप पुद्गल के परिणाम को-जो कि पुद्गल से अभिन्न है और पुद्गल से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है उसे-करता हुआ प्रतिभासित न हो।

भावार्थ : आत्मा अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो; पुद्गल के परिणाम को करता हुआ कदापि प्रतिभासित न हो। आत्मा की और पुद्गल की-दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है, ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। जड़-चेतन की एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्यों के पलट जाने से सबका लोप हो जायेगा-यह महादोष उत्पन्न होगा।।८६।।

गाथा - ८६ पर प्रवचन

अब पुनः प्रश्न करता है कि दो क्रियाओं का अनुभव करनेवाला,... दो क्रिया समझ में आयी? जीव के विकारी परिणाम को भी अनुभव करे और पुद्गल के परिणाम को करे और अनुभव करे। अपने परिणाम को करे और अनुभव करे तथा पर के परिणाम करे करे और अनुभव करे। आहाहा! दो क्रियाओं का अनुभव करनेवाला... क्रिया शब्द से परिणति, पर्याय। **पुरुष मिथ्यादृष्टि कैसे है?** वह मिथ्यादृष्टि है, जैन ही नहीं, उसे तत्त्व की खबर ही नहीं। आहाहा! यह शिष्य का प्रश्न है। ऊपर मिथ्यादृष्टि कहा। तो वह मिथ्यादृष्टि कैसे है, किस प्रकार है? उसका उत्तर। ऐसा जिसे प्रश्न उठा हो, उसे यह समाधान कहते हैं। कहते हैं। आहाहा!

देखो, है न ऊपर '**कुतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत्**' अमृतचन्द्राचार्य का शब्द है ऊपर। ८६ के ऊपर '**जम्हा दु अत्तभावं**' देखा? आत्मा का भाव कहा, वह अभी अभेद से वर्णन है है न, पर से नहीं, ऐसा।

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरिया-वादिणो हुंति।।८६।।

जीवभाव, पुद्गलभाव-दोनों भाव को आत्मा करे,
इससे हि मिथ्यादृष्टि ऐसे द्विक्रियावादी हुवे।।८६।।

आहाहा! देखो, यह समयसार -

टीका - निश्चय से... अर्थात् वास्तव में **द्विक्रियावादी 'अर्थात् एक द्रव्य को दो क्रिया होना माननेवाले।'** आहाहा! निमित्त से भी आत्मा में कुछ होता है और आत्मा से आत्मा में होता है, ऐसा दो माननेवाले। आहाहा! अपना करे और पर का करे। पर का भी करे और आत्मा का भी करे। आहाहा! कर्म का उदय उदय को करे और आत्मा के विकार को करे, द्विक्रियावादी है। आहाहा! ठीक सब जोग में हैं अभी यह। ऐसी बातें हैं। **निश्चय से द्विक्रियावादी 'अर्थात् एक द्रव्य को दो क्रिया होना माननेवाले।** अर्थात् कि राग को भी अपना माननेवाले और पुद्गल के (परिणाम) भी मैंने मेरे किये, ऐसा माननेवाले।

आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को स्वयं (आत्मा) करता है, इसलिए वे मिथ्यादृष्टि ही हैं, ऐसा सिद्धान्त है। ऐसी वस्तु सिद्ध हुई है, यह कहते हैं। आहाहा!

आत्मा इच्छा को करे और लिखने की क्रिया को भी करे। आहाहा! आत्मा इच्छा को भी करे और बोलने की क्रिया को भी करे, मिथ्यादृष्टि है। श्रीपालजी! श्रीपालजी, यह कठिन बातें हैं। दिल्ली में कहीं (नहीं), सर्वत्र घोटाला-घोटाला उठा है। वीतराग ऐसा मार्ग। वह तो कहे पर की सेवा करो, पर की क्रिया करते हैं, करे क्या? बोला जाता है। करता क्या? तीन काल में करे नहीं। असत्य झूठी दृष्टि से कहा जाता है। नहीं आया अपने, छह प्रकार में नहीं आया? (प्रवचनसार) १६वीं गाथा, घड़ा कुम्हार करता है, यह असत्य भाषा से बोलने में आता है, झूठी भाषा है। आहाहा! ऐसा सिद्धान्त है।

एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों के परिणाम किये गये प्रतिभासित न हों। एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों की अवस्था किया जाना प्रतिभासित न हो। फिर दृष्टान्त देंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १७४, गाथा-८६, दिनांक २१-०१-१९७९, रविवार, पौष कृष्ण-८

समयसार, ८६ गाथा की टीका।

टीका-निश्चय से वास्तव में द्विक्रियावादी (एक द्रव्य को दो क्रिया होना माननेवाला)... अर्थात् क्या ? कि आत्मा वस्तु है। वह स्वयं अपने पुण्य-पाप के भाव को करे, वह तो उपचार से बराबर है। आत्मा जो वस्तु है, आनन्दकन्द नित्यानन्द प्रभु, वह उसके परिणाम में अज्ञान से पुण्य और पाप, दया, दान, काम, क्रोध के भाव को करे, वह एक सत्य मानना, वह उपचार है, तथापि वह अपने परिणाम को भी करे और कर्मबन्धन जो नया हो, उस कर्मबन्धन की पर्याय को भी करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

यह तो अन्तर की बात है। बाहर की तो बाद में कि आत्मा राग को करे और शरीर की क्रिया भी ऐसे हिला सके, यह तीन काल में बनता नहीं। यह तो अन्तर के परिणाम के सम्बन्ध का, कर्म का इसके साथ पहला प्रश्न है। सूक्ष्म बात है, भाई! जिनेश्वरदेव का तत्त्वज्ञान बहुत सूक्ष्म! अज्ञानरूप से, वस्तु भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द आनन्दकन्द है, उसके अनुभव के अभाव में अज्ञानी पुण्य और पाप, शुभ-अशुभभाव को करे, परन्तु वह स्वयं अपने परिणाम को करे, और कर्मबन्धन की पर्याय को करे, ऐसी दो बात नहीं हो सकती। आहाहा! एक तत्त्व दो परिणाम, अपने और पर के, ऐसा नहीं कर सकता। अरे! ऐसी बातें अब।

है ? द्विक्रियावादी, क्रिया अर्थात् अवस्था अवस्थान्तर होना। आत्मा में अवस्थान्तर होना और पुद्गल जड़कर्म में अवस्थान्तररूपी क्रिया होना, ऐसी दो क्रियाओं को एक करे, ऐसा माननेवाले वे **आत्मा के परिणाम को...** है ? आत्मा के परिणाम अर्थात् ? अभी यहाँ पुण्य और पाप, दया, दान, काम, क्रोध के परिणाम, वे आत्मा के अभी अज्ञानभाव से कहे जाते हैं। आहाहा!

यह शुभ-अशुभभाव, अज्ञानरूप से आत्मा अपने परिणाम को करे और पुद्गल के परिणाम को स्वयं करे, आहाहा! यह ज्ञानावरणी आदि कर्म जो बँधते हैं, वे यहाँ अपने

परिणाम जो उन्हें निमित्त होते हैं, उन परिणाम को करे, पुण्य-पाप, काम-क्रोध आदि। परन्तु उन परिणाम को करते हुए कर्म की पर्याय जो बँधती है, उस पर्याय को भी आत्मा करे ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! आत्मा अपने पुण्य-पाप को करे, वह भी उपचार से कथन है। वास्तव में तो वह परिणाम परिणाम को करता है। सूक्ष्म बात है, बापू! तत्त्व जैनदर्शन, परमेश्वर वीतराग का कहा हुआ तत्त्व पदार्थ स्वरूप बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

यह **आत्मा के परिणाम को...** यहाँ आत्मा के परिणाम अर्थात् पुण्य-पाप के लेना है। दया के, दान के, व्रत के, भक्ति के, मैं पर का काम कर सकता हूँ, ऐसे पाप के, हिंसा के, झूठ के, चोरी के, विषयभोग की वासना के ये आत्मा के परिणाम अभी अज्ञानपने कहे गये हैं। आहाहा! समझ में आया? इन **आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को...** उस समय जो कर्म बँधते हैं, वह परमाणु की पर्याय है, कर्मरूप जो होती है, वह कर्मरूपी अवस्था होती है, वह कर्म जड़ परमाणु की एक अवस्था है, वह उस अवस्था को भी आत्मा करे और अपने परिणाम को भी करे, **ऐसा मानता है...** ऐसा जो कोई मानता है, **इसलिए वे मिथ्यादृष्टि ही है।** झूठी दृष्टिवन्त है। सत्य दृष्टि से भ्रष्ट है। आहाहा!

भगवान आत्मा, अपने सत्व में, अपनी सत्ता कायम रहकर परिणाम में पुण्य-पाप के अज्ञानभाव से करे, वह भी उपचार, परन्तु उस परिणाम को भी करे और साथ में कर्मबन्धन के परिणाम को भी करे, ऐसा माननेवाले झूठी दृष्टि, असत्य दृष्टि को सेवन करनेवाले हैं। आहाहा! कहो, चन्दुभाई! डॉक्टर को तो यह सब भारी कठिन पड़े। डॉक्टर कहता है कि मैं दूसरे के परिणाम को करूँ और दूसरे के देह के परिणाम को करूँ और मेरे परिणाम को करूँ। यह तो अन्दर की बात है। बाहर की बात तो बहुत स्थूल है कि आत्मा अन्दर विकल्प-राग को भी करे और दूसरे के शरीर की पर्याय को भी करे, ऐसा तीन काल में नहीं है।

मुमुक्षु : मोतिया ऐसे का ऐसा निकल जाता होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसीलिए तो यह कहा जाता है। मोतिया (मोतियाबिन्द) को उतारे और उसका विकल्प करे कि इसे उतारूँ, इस विकल्प को-राग को भी करे और वह उसकी क्रिया करे, यह दो माननेवाले मिथ्यादृष्टि, पाखण्डी, झूठे हैं।

मुमुक्षु : एक तो बेचारे काम करे और मोतिया उतारे और झूठे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : काम कौन करे ? क्या करे ? सूक्ष्म बात है, प्रभु ! यह तो जिनेश्वर तीन लोक के नाथ परमात्मा ने कहे हुए तत्त्वों की स्थिति है। यह कोई ऐरे-गेरे की कही हुई बात नहीं है। जगत के अभिप्राय से अलग जाति की यह बात है। आहाहा !

यह कहते हैं, कि जो अपने परिणाम को भी करे और पर की-जड़ की क्रिया के तथा दूसरे आत्मा के परिणाम को भी करे, इन दो परिणामों का करनेवाला माननेवाला सत्य नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि, झूठी दृष्टि को सेवन करनेवाला है। आहाहा ! वह पापी है, ऐसा कहते हैं। ऐसा काम है। जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ वीतरागदेव इन्द्र और गणधरों के समक्ष में ऐसा कहते थे, वह बात यह आयी है। समझ में आया ? आहाहा !

वे मिथ्यादृष्टि ही हैं... 'ही' ऐसा सिद्धान्त है। ऐसा नियम है। आहाहा ! है, गाथा में है ८६, ८६ टीका। अब इसका दृष्टान्त देते हैं।

एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों के परिणाम किये गये प्रतिभासित न हों... प्रभु ! तू आत्मा है न ? तेरी पर्याय की सत्ता में तेरे परिणाम को कर, वह उपचार से।

मुमुक्षु : पर्याय अर्थात् क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय अर्थात् परिणाम; परिणाम अर्थात् अवस्था; अवस्था अर्थात् दशा; दशा अर्थात् वर्तमान होते भाव। कहो इतने शब्द। आहाहा !

वस्तु है, उसकी अवस्था, उसे यहाँ पर्याय और परिणाम कहते हैं। वह वस्तु अपने परिणाम को करे और वह परिणाम उसका कार्य, यह भी उपचार से जहाँ कथन है, क्योंकि पर्याय पर्याय करती है, यह द्रव्य, पर्याय को करता है—ऐसा कहना, वह उपचार है। उपचार अर्थात् आरोपित बात है। आहाहा ! तो वह परिणाम दूसरे के परिणाम को दूसरे की दशा को करे ? आहाहा ! गजब बात है। अरे ! इसे अनादि से अज्ञानरूप से भी क्या था, इसका भान नहीं, तो ज्ञान की तो बात क्या करना ? आहाहा ! सूक्ष्म तत्त्व है, प्रभु ! दुनिया की वर्तमान बात से पूरी बात अलग है। आहाहा ! सम्प्रदाय में भी यह चले कि पर की दया पालो, पर को कुछ मदद करो, पर की सेवा करो, वह एकदम मिथ्यादृष्टि की प्ररूपणा के भाव हैं। आहाहा ! कठिन काम।

एक द्रव्य द्वारा, एक वस्तु द्वारा, ऐसा। द्रव्य अर्थात् पैसा नहीं, हों! अकेला। एक द्रव्य अर्थात् एक तत्त्व द्वारा, एक वस्तु द्वारा। दो द्रव्य अर्थात्? दो वस्तु के परिणाम, अर्थात् अवस्था की गयी प्रतिभासित न हो। आहाहा! ऐसा भासित न हो, ऐसा भगवान यह कहते हैं। आहाहा! है? अब दृष्टान्त देते हैं। लोगों को साधारण ख्याल में आवे यह जो कही हुई बात, उनके ख्याल में आवे, इस प्रकार से दृष्टान्त देते हैं।

जैसे कुम्हार घड़े की... परिणाम को **घड़े की उत्पत्ति में...** अर्थात्? घड़े की पर्याय जो मिट्टी से उत्पन्न होती है। घड़े की जो अवस्था, मिट्टी से उत्पन्न होती है, उसे **कुम्हार घड़े की उत्पत्ति में...** देखा? सम्भव को अर्थात् घड़े की उत्पत्ति के समय अनुकूल, **अनुकूल अपने (इच्छारूप और हस्तादि की क्रियारूप) व्यापार परिणाम को, जो कि अपने से अभिन्न है।** आहाहा! क्या कहते हैं? कुम्हार राग करे कि मैं इस घट को करूँ। घट की उत्पत्ति तो मिट्टी से होती है। परन्तु उस पर्याय को अनुकूलरूप से यह राग मैं करूँ, राग करूँ तो घट की पर्याय होगी, आहाहा! गजब, दुनिया से कठिन, बापू! कुम्हार घट के सम्भव-घट की उत्पत्ति तो सिद्ध की, उसे मात्र अनुकूल... चन्दुभाई! घट की उत्पत्ति तो मिट्टी से हुई है, कुम्हार से नहीं। क्या कहा? समझ में आया इसमें?

कि एक आत्मा अपनी पर्याय अर्थात् परिणाम को करे, वैसे परद्रव्य की अवस्था को करे तो दो माननेवाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, मूढ़ है। किसकी भाँति? कि जैसे घट की उत्पत्ति मिट्टी से होती है, उत्पत्ति तो मिट्टी से होती है, उस मिट्टी का घट कार्य है, घट कार्य है, मिट्टी कर्ता है, ऐसे घट की पर्याय को कुम्हार का राग अनुकूल-निमित्त है। वह रागी प्राणी ऐसा माने कि, इस व्यापार परिणाम को जो कि परिणाम अपने से अभिन्न है। कुम्हार ने राग किया कि मैं घड़ा करूँ। घड़ा तो मिट्टी से हुआ है, परन्तु मैं घड़ा करूँ, ऐसा जो राग किया है, आहाहा! उस व्यापार परिणाम को अपने से अभिन्न है, वह राग है, वह कुम्हार का परिणाम, कुम्हार के आत्मा से अभिन्न है। आहाहा!

वीतराग का तत्त्वज्ञान बहुत सूक्ष्म है, भाई! अभी तो जगत को कहीं निवृत्ति भी नहीं मिलती बेचारे। अकेला धन्धा-धन्धा धन्धा पूरे दिन पाप का धन्धा। निवृत्त हो तो स्त्री-पुत्र को सम्हालना, पाप... पाप, अब उसमें धर्म क्या है, यह तो कहाँ समझने की... (दरकार है)। जन्म-मरण कर रहा है ८४ के अवतार से... आहाहा!

कहते हैं कि घट की उत्पत्ति तो मिट्टी से हुई, उसकी उत्पत्ति में सम्भव हुआ उसके निमित्तरूप से अनुकूल कुम्हार ने राग किया कि मैं घड़ा बनाऊँ, वे राग के परिणाम हैं, वे कुम्हार से अभिन्न हैं, एकमेक हैं और घट की पर्याय है, वह मिट्टी से अभिन्न है।

मुमुक्षु : उपचार कहा था न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उपचार से कहा था परन्तु अभी तो द्रव्य लेना है न? नहीं तो परिणाम, परिणाम से करता है, वह अभी (बात नहीं है) द्रव्य उसे करता है, ऐसा उपचार से कहना है न? यह तो पहले बीच में कहा था। आहा! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! आहाहा!

यह हाथ है न? देखो! यह हाथ, यह परमाणु का पिण्ड है, यह जड़ है, यह मिट्टी है। इस मिट्टी के परमाणु ऐसे हिलते हैं, देखो ऐसे, यह उसकी अवस्था है, यह उसके परिणाम हैं, यह उसकी पर्याय है। वह इस मिट्टी के परमाणु यह जड़ रजकण, इनका ऐसे गतिमान होना, ऐसी जो पर्याय, परिणाम, उसका कर्ता वे परमाणु हैं। वह भी उसका कर्ता परमाणु है—ऐसा कहना, वह भी उपचार से है, बाकी परिणाम परिणाम का कर्ता है परन्तु यहाँ तो अभिन्न कहकर, पर से भिन्न बतलाना है; इसलिए यह अवस्था होती है, वह जड़ की पर्याय है, उसे आत्मा ऐसा माने कि मैं इस हाथ को हिलाता हूँ, ऐसी इच्छा का तो कर्ता हो और इस अवस्था को इच्छा अनुकूलरूप से निमित्त कहलाये, परन्तु उस इच्छा से हाथ की पर्याय हिली है, यह तीन काल में नहीं है। लॉजिक से तो बात है, भाई! तत्त्व से। परन्तु अब इसे कुछ दरकार नहीं होती।

यह शरीर मिट्टी, धूल है। आहाहा! जैसे घड़े की उत्पत्ति मिट्टी से हुई, वैसे इस शरीर की ऐसी हिलने की दशा, वह परमाणु-मिट्टी से हुई है, इसके परमाणु से हुई है। ऐसा होने पर इसे अनुकूल जो इच्छा है कि ऐसा करूँ, वह इच्छा अनुकूल निमित्त है, परन्तु उस इच्छा का करनेवाला ऐसा माने कि इच्छा भी मैं करता हूँ और इसकी अवस्था को भी मैं हिला देता हूँ, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। सत्य का खून करनेवाला है। ऐसा है, बापू! ऐई! लॉजिक से तो-न्याय से तो कहा जाता है। आहाहा! न्याय 'नी' धातु है। 'नी' धातु में जैसा स्वरूप है, उसमें ज्ञान को ले जाना, इसका नाम न्याय। 'नी' न्याय में 'नी' धातु है अर्थात् कि जैसा स्वरूप है, उसमें 'नी' धातु न्याय, ज्ञान को ले जाना, यथार्थरूप से, उसका नाम न्याय है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि कुम्हार अपने व्यापार के परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो, अपने से अभिन्न परिणाममात्र क्रिया से किये जाते हैं, उन्हें कर्ता प्रतिभासित हो। यह क्या कहा ? कुम्हार को उसके परिणाम घड़े के करने में निमित्तरूप अनुकूल नहीं थे, पहले दूसरे परिणाम थे, पश्चात् यह परिणाम पलटाकर घड़े का करना, ऐसा अनुकूल राग करूँ, राग, वह राग अवस्थान्तर होकर पहली अवस्था से बदलकर राग दूसरी अवस्था हुई। है ? यह परिणतिमात्र क्रिया, बदलनेमात्र की क्रिया, आहाहा ! गजब बात है, बापू ! उस क्रिया से किया जाता है, उसे करता प्रतिभासित हो। क्या कहा, समझ में आया ? चन्दुभाई !

कि कुम्हार है, वह पहले वह उसकी स्त्री के सामने देखता, दृष्टान्त, और उसका राग करता था, अब उस राग को पलटाकर घड़ा बनाऊँ, ऐसा विकल्प उठा, वह अवस्थान्तर की क्रिया हुई, उस क्रिया का कर्ता वह कुम्हार है। उस राग की क्रिया का कर्ता कुम्हार प्रतिभासित हो। है ? अरे ! ऐसी बातें। अपने आप वाँचन करे तो पकड़ में नहीं आती। जगत की चतुराई सब आवे इसको, इस डॉक्टर को, ऐसा। यह नहीं, वकीलों को, एल.एल.बी. के पुंछड़े (डिग्रियाँ) रामजीभाई एल.एल.बी. थे और वकील थे। पैंतीस वर्ष पहले पाँच घण्टे के २०० रुपये लेते थे, परन्तु वह सब कुज्ञान था। मैं पर का कर सकता हूँ,... क्या कहते हैं ? मुवक्किल को जीता सकता हूँ, यह तो भाई ऐसा कहते थे (कि) वह तो मेरा कुज्ञान था। आहाहा !

मुमुक्षु : यह तो आपने बताया।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु न्याय से तो देखो न, प्रभु ! न्याय से वस्तुस्थिति जो है आत्मा और परमाणु जगत के तत्त्व जो कायम रहकर पलटते हैं, वस्तु कायम रहकर पलटती है, बदलती है, वह वस्तु कायम रहकर पलटनेवाली अवस्था, उस अवस्था का कर्ता, इस द्रव्य को उपचार से कहा जाता है। समझ में आया ? परन्तु वह अवस्था करने से पर की अवस्था भी मैं कर सकता हूँ... (ऐसा नहीं है)... आहाहा !

मुमुक्षु : परन्तु पर का तीनों काल कर्ता नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह मान्यता थी अज्ञानी की। कहो, वीरचन्दभाई ! क्या बात चलती है यह ? यह लड़के का कर दूँ, शिक्षा दूँ, उसका विवाह कर दूँ, उसे ठिकाने

(व्यवस्थित) लगा दूँ, ऐसी क्रिया का करनेवाला अज्ञानी राग को करे और उसे भी करे, ऐसा मानता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं।

यहाँ तो वीतराग की कॉलेज है। सर्वज्ञ भगवान जिनेश्वरदेव सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराजते हैं, उसमें से आयी हुई यह बात है। आहाहा! भगवान तीन लोक के नाथ परमात्मा महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, तीर्थंकरदेव हाजरा-हुजूर है। वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त संवत् ४९ में गये थे, वहाँ से आकर यह शास्त्र रचे हैं। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि कुम्हार घट की उत्पत्ति को अनुकूल; अनुकूल अर्थात् निमित्त। उत्पत्ति तो घट की मिट्टी से हुई है, परन्तु उसे अनुकूल अपने राग को और हस्तादि की क्रिया, ऐसे-ऐसे हाथ की क्रिया होती है न, उसके व्यापार परिणाम को... हाथ की क्रिया कर नहीं सकता, यह अभी सिद्ध नहीं करना है, अभी तो पर से भिन्न उसके परिणाम हैं, इतना सिद्ध करना है। आहाहा! यह व्यापार परिणाम (हैं, वे) स्वयं से अभिन्न हैं। कुम्हार घट की उत्पत्ति के काल में कुम्हार को इच्छा हुई, वह इच्छा घट को अनुकूल निमित्त है, परन्तु वह परिणाम उस कुम्हार के परिणाम कुम्हार से अभिन्न हैं। उस कुम्हार की इच्छा है, वह कुम्हार के आत्मा से अभिन्न है और घट की पर्याय से वह इच्छा भिन्न है। अरे रे! ऐसी बातें हैं। एक-एक शब्द में बड़ा अन्तर, बापू! पूरी दुनिया से बहुत अन्तर है, भाई! आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने कहे हुए तत्त्व से विरुद्ध मानना, आहाहा! वह संसार में परिभ्रमण का कारण है, भटकने का कारण है, कहते हैं। आहाहा! कहो, रतिभाई!

यह सब कारखाना चलाते हैं न, नहीं? यह रतिभाई सामने हों और लड़कों को शिक्षा करे कि लो न ऐसे घुमाना, ऐसे मशीन सब चलेगी।

यहाँ तो कहते हैं कि यह इच्छा करे परन्तु ऐसे जो घुमाने की पर्याय है, उस पर्याय का कर्ता तो वह परमाणु है। उस परमाणु की पर्याय में, इच्छा और इच्छा करनेवाला वह निमित्तरूप अनुकूल है परन्तु वह इच्छा वह उसके आत्मा के साथ अभिन्न है और वह क्रिया जो है, वह आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। अरर! ऐसी बातें अब। है?

अपने से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है... बदल डाला। पहले

परिणाम दूसरे थे और वह परिणाम घड़े की उत्पत्ति को अनुकूल राग करूँ, ऐसा राग हुआ। उसे करता हुआ प्रतिभासित होता है, **परन्तु घड़ा बनाने के अहंकार से...** आहाहा! मैं घड़ा बनाता हूँ, ऐसा जो अहंकार-अभिमान। आहाहा! **घड़ा बनाने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी....** कुम्हार अहंकार से भरा हुआ होने पर भी, मैं घड़े को बनाऊँ, ऐसे **अहंकार से भरा हुओ पर भी (वह कुम्हार) अपने व्यापार के अनुरूप...** अपने व्यापार के अनुरूप—वह उसका अनुकूल था और यह इसके **व्यापार के अनुरूप मिट्टी घट परिणाम को...** आहाहा! जो मिट्टी से अभिन्न है। घट की पर्याय मिट्टी से एकमेक है। घट की दशा मिट्टी से अभिन्न है। उस परिणाम को कुम्हार ऐसा मानता है कि मैं कर्ता हूँ, वह मिथ्या अहंकारी मूढ़ जीव है।

कठिन काम भाई! पूरे दिन दुनिया करती है न? सवेरे से उठकर यह करो, यह करो, यह करो। सब्जी ले आओ। क्या सब्जी लाऊँ, बापू? हरी लाना, घिसोड़ा दो सेर ले आना, मेहमान पधारे हैं। ऐसा करना, टुकड़े ठीक से करना, ऊपर की छाल निकालकर... घिसोड़ा की होती है न ऊपर की? टुकड़े करना। आहाहा!

परमात्मा ऐसा कहते हैं कि वह पर्याय जो होती है, वह उसके द्रव्य के परिणाम से होती है, इसलिए वह परिणाम उस द्रव्य से अभिन्न है। करनेवाला इच्छावाला वह इच्छा उसके आत्मा से अभिन्न है परन्तु वह इच्छावाला ऐसा माने कि अहंकार करे कि यह क्रिया मैं करता हूँ। भारी कठिन, भाई!

मुमुक्षु : यह बोलता कौन है?

पूज्य गुरुदेवश्री : बोले जड़। यह बोले, जड़; आत्मा नहीं। आहाहा! बोलने की जो पर्याय है, वह परमाणु की पर्याय भाषा की है, उसमें इच्छावाला (जीव) ऐसा माने कि मैं इस भाषा को बोलने की इच्छा करता हूँ, इसलिए इच्छा को भी मैं करता हूँ और भाषा की पर्याय करता हूँ। मूढ़ है, झूठा, असत्य, पाप को सेवन करनेवाला है। चिमनभाई! दुनिया से पूरा अलग प्रकार है। सब खबर है।

यहाँ तो शरीर को ८९ वर्ष हुए, ७० वर्ष से तो यह सब जगत को जानते हैं। आहाहा! दुकान में भी हमारे यह सब अभिमानी थे न, हम करते हैं, हम करते हैं। हमारे कुँवरजीभाई

थे न, बुआ के पुत्र, भागीदार थे। यह (संवत्) १९६४-६५ की बात है। संवत् ६४-६५, मैं करूँ... मैं करूँ... पूरे दिन। (मैंने) कहा—मरकर ढोर होगा, याद रखना। ऐई! मैं तो पहले भगत कहलाता था न, छोटी उम्र से दुकान चलाता था, घर की दुकान थी। बुआ का पुत्र था भागीदार। बड़े भाई थे और उनके छोटे भाई तथा उनके बड़े भाई और मैं दो भागीदार। कहा, पूरे दिन क्या किया दुकान में—मैंने किया, मैंने किया, क्या है यह? मैंने तो कहा था... रतिभाई! ६६ के वर्ष में, कितने वर्ष हुए? ६९ वर्ष। अभी तो शरीर को ८९ हुए, जड़ को इस वैशाख शुक्ल दूज को ९०वाँ लगेगा, जन्म का, हों! सवा नौ महीने गर्भ के गिनों तो अलग है। वह तो यहाँ का आयुष्य है न! सवा नौ महीने माता के गर्भ में रहा, वह देह यह। मैंने कहा था, भाई! क्या है परन्तु यह पूरे दिन? आहाहा! हम कमाते हैं और हम पैदा करते हैं, हम ग्राहक को सम्हालते हैं। ऐसा तब कहा था परन्तु मेरे सामने बोले नहीं। क्योंकि मैं तब भगत कहलाता था छोटी उम्र से। बोले नहीं। यह क्या है यह? कहा।

यहाँ भगवान-परमात्मा कहते हैं कि घट की उत्पत्ति मिट्टी से हुई, वह मिट्टी का कार्य है। उसे अनुकूल कुम्हार इच्छा करे और इच्छा का कर्ता हो, क्योंकि वह इच्छा कुम्हार के आत्मा से अभिन्न है और घट की पर्याय उस मिट्टी से अभिन्न है। उस पर्याय को मैं करूँ, ऐसा अहंकार करता है, वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। अरे! अरे! भारी कठिन काम।

मुमुक्षु : घड़ा कुम्हार न करे तो कौन करता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिट्टी करता है, कहा न पहले? करे कौन? कहा न, कुम्हार घट की उत्पत्ति को, उत्पत्ति—मिट्टी की उत्पत्ति (उत्पाद) से घड़ा हुआ है। मिट्टी वस्तु है या नहीं? जड़ है या नहीं? परमाणु है या नहीं? जगत का सत् और सत्व है या नहीं? सत् वस्तु को उसके भाव, वह उसका सत्त्व है, उस सत्‌रूप परिणमता है, उस घट की पर्यायरूप। उस घट की पर्याय का कर्ता वह मिट्टी है। आहाहा! ऐसा परन्तु यह तो पागल जैसा लगे सब। यह किस प्रकार की बात! दुनिया में कहीं मेल न खाये, बापू! मार्ग ऐसा है, भाई! परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव तो ऐसा फरमाते हैं। हैं?

परन्तु घड़ा बनाने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी... भले अहंकार करे, **वह कुम्हार अपने व्यापार के अनुरूप मिट्टी के घट परिणाम को...** क्रिया को किया जाता है,

उसे करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता। घट की पर्याय को कुम्हार (का) राग अनुकूल होने पर भी, राग का कर्ता प्रतिभासित हो, वैसे घट की पर्याय का कर्ता वह प्रतिभासित नहीं होता। आहाहा! यह किस प्रकार की बात! यह तो भगवान की कॉलेज है। तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ की यह कॉलेज है। उसका यह योगफल है। आहाहा! भारी कठिन काम। गाथा ऐसी आयी है न? आहाहा!

करता प्रतिभासित नहीं होता, कहा न? घट की पर्याय को, कुम्हार राग करने पर भी, राग का कर्ता प्रतिभासित हो। क्योंकि राग उसके आत्मा से अभिन्न है, और मिट्टी की पर्याय का घड़ा वह उससे भिन्न है; इसलिए भिन्न पर्याय का कर्ता प्रतिभासित नहीं होता। आहाहा! यह भारी सूक्ष्म, भाई!

इसी प्रकार... अब यह दृष्टान्त सिद्ध हुआ। अब सिद्धान्त; अब सिद्धान्त आत्मा में घटित करते हैं। ऐसा था न अन्दर? जिस प्रकार था न? उसमें 'जैसे' था ऊपर, 'जैसे' कुम्हार, ऐसा था, इसी प्रकार, अब उसी प्रकार। उस दृष्टान्त के साथ सिद्धान्त लागू करने के लिये। है? **इसी प्रकार आत्मा भी अज्ञान के कारण...** अज्ञान के कारण। आहाहा! शुभ-अशुभराग करे, वह अज्ञान के कारण ज्ञान भानवाले को राग शुभाशुभभाव का वह कर्ता नहीं है। आहाहा!

धर्मी जो है, जिसे आत्मज्ञान है, जिसे आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान अर्थात् निमित्त का नहीं, राग का नहीं, पर्याय का नहीं। आत्मज्ञान है, वह राग का कर्ता है नहीं। जिसे आत्मज्ञान है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन है, उसका ज्ञान है, अर्थात् आत्मज्ञान है, उसे तो दया, दान, काम, क्रोध के परिणाम का भी वह कर्ता नहीं है। आहाहा! कहो, नवरंगभाई! क्या इसमें तुम्हारा कुछ आवे डॉक्टर-फॉक्टर में आता है ऐसा कुछ?

मुमुक्षु : यह तो अलग विज्ञान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लाईन अलग है, यह लाईन अलग है। पटरी बदलो तो लाईन बदल जाती है या नहीं? यह रेल में नहीं? एक पटरी चलती हो और उस पटरी में पतला रखते हैं न ऐसा, ऐसा उतारा, तो दूसरी पटरी पर गाड़ी चली जाये। हमारे वहाँ पालेज नजदीक था न? सब देखा था। दुकान के साथ स्टेशन था। सब एक-एक देखा है,

(रेलवे) मास्टर-बास्टर हमारे परिचित थे न, बड़े-बड़े मास्टर पाँच सौ के वेतनवाले सब। हमारे व्यापार था न, भले छोटी उम्र थी, १७ से २२, पाँच वर्ष दुकान चलायी थी।

मुमुक्षु : व्यापार बदल डाला न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह सब पाप का भाव करते थे। आहाहा!

वहाँ रेल है, रेल है न ऐसे पटरी होती है और ऐसे उसे दूसरी पटरी पर ले जाना हो तो पतली पटरी होती है ऐसी, ऐसी पतली होती है, उसके कारण ऐसे इकट्ठा करे तो है सब, वहाँ नजदीक था, माल हमारे मुम्बई से आता था। मास्टर को कहे, क्या है हमारा माल? कहाँ है हमारा माल, लेने जाते थे। पाँच वर्ष सब पाप किया, अनुभव। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, क्या कहा यहाँ? जैसे कुम्हार के परिणाम को कुम्हार करता प्रतिभासित होता है, परन्तु कुम्हार के परिणाम का अहंकारी जीव घट के परिणाम का कर्ता प्रतिभासित नहीं होता। वह अहंकार करे, तथापि उसका कर्ता वह है नहीं; उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञान के कारण, देखो? अज्ञान के कारण पुण्य और पाप के भाव करता है, वह अज्ञान के कारण करता है। आहाहा! जगत के परिणाम जो करता है, हिंसा के, झूठ के, चोरी के, विषय के, भोग के, राग के, मान के, माया के, लोभ के, उन परिणाम का कर्ता अज्ञानी है।

ज्ञानी उस परिणाम का कर्ता नहीं है। क्योंकि ज्ञानी आत्मज्ञान, जिसे आत्मा अनन्त आनन्दस्वरूप है, उसका ज्ञान हुआ है, इसलिए उसकी निर्बलता के कारण भले रागादि हों, तथापि उस राग की स्थिति के समय ज्ञान के परिणाम स्वयं से उसे और पर को जानने के उत्पन्न होते हैं। चन्दुभाई! ऐसा है, प्रभु! क्या हो? परन्तु अब किसे कहना यह? आहाहा!

मुमुक्षु : जरा कठिन पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या बापू! मार्ग यह है। विशेष स्पष्टीकरण करते हैं, तो भी यह है। आहाहा!

आत्मा भी अज्ञान के कारण... है? **पुद्गलकर्मरूप परिणाम को अनुकूल...** कर्मबन्धन होता है, वह तो उसकी पर्याय से होता है परन्तु उसे अनुकूल अपने परिणाम को या राग-द्वेष को जो कि अपने से अभिन्न है। आहाहा! पुण्य-पाप के परिणाम आत्मा

से अभिन्न है, ऐसा आया। एक ओर कहना कि पुण्य-पाप के भाव, वे कर्म व्यापक है और व्याप्य उसका कर्म है। अरे भगवान! किस प्रकार से है प्रभु! ७६-७७ कर्म व्यापक है और पुण्य-पाप के भाव उसका कार्य अर्थात् व्याप्य अर्थात् पर्याय है, वह तो ज्ञानी की अपेक्षा से वहाँ बात है। आत्मा व्यापक है और उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्मल परिणाम उसका व्याप्य अर्थात् कार्य है। आहाहा! परन्तु यहाँ तो अज्ञानी की बात है। आहाहा! थोड़ा-थोड़ा धीरे से कहा जाता है, बापू! यह तो महासिद्धान्त, जगत से अलग प्रकार है।

आत्मा भी अज्ञान के कारण पुद्गलकर्मरूप परिणाम के अनुकूल... अर्थात् यह क्या कहा? कि जो नये कर्म बँधते हैं न, वह परमाणु की पर्याय है। कर्म बँधते हैं न ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय उन आठ कर्म के परिणाम से होता है, वह परमाणु से होता है, ऐसे आठ कर्म के जो परिणाम बँधे हैं, वे तो उसके परिणाम से हुए। वे परमाणु के परिणाम से, परिणाम वह परमाणु से अभिन्न है, परन्तु उसके अनुकूल ऐसे यहाँ अज्ञानी के राग-द्वेष हैं। आहाहा!

जैसे घट की पर्याय की उत्पत्ति मिट्टी से हुई, परन्तु कुम्हार का राग उसके अनुकूल निमित्त है, उस राग का कर्ता वह प्रतिभासित हो, परन्तु मिट्टी है, घट की पर्याय हुई, उसा वह कर्ता प्रतिभासित नहीं होता। इसी प्रकार नये कर्म जो बँधे हैं, उस पर्याय का कर्ता वे परमाणु हैं, परन्तु उसके अनुकूल अज्ञानी के राग-द्वेष अनुकूल निमित्त हैं, वे **परिणाम के अनुकूल अपने परिणाम को जो कि अपने से अभिन्न है,...** पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव वह जीव अज्ञान से करता है, वे परिणाम जीव से एकमेक हैं, पर से भिन्न बतलाना है न? आहाहा! ऐसा है। नहीं तो वास्तव में तो वे पुण्य-पाप के परिणाम, वे आत्मा से भिन्न हैं, इतना। यहाँ अभी मात्र पर से भिन्न बतलाना है। ऐसी बात है, बापू, 'जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ समझना वही, वहाँ-वहाँ वह-वह आचरे आत्मार्थीजन सही।'

बापू! मार्ग अलग है, प्रभु! आहाहा! परिभ्रमण में से निकलने का मार्ग, बापू! बहुत कठिन है। आहाहा! अभी तक ८४ के अवतार कर-करके मर गया है। मनुष्य मरकर पशु होता है, पशु मरकर नरक में जाता है, नरक में (से) मरकर राजा होता है, राजा मरकर नरक में (नारकी) होता है। नारकी अन्दर है, ऐसे भव अनन्त-अनन्त अनन्त-अनन्त कर चुका है, अज्ञान के कारण (कर चुका है)। आहाहा!

परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अज्ञान के कारण तूने किया हो तो तेरे परिणाम को तूने किया है।

मुमुक्षु : परिणाम तो परीक्षा दे तब आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया के परिणाम की कहाँ बात है ? विद्यालय में ऐसा कहे, क्या परिणाम आया ? वह बात यहाँ नहीं है। यह तो उसका फल क्या आया ? यह तो परिणाम अर्थात् तेरी वर्तमान दशा। आत्मा के राग-द्वेष, वह वर्तमान उसके परिणाम अर्थात् दशा और मिट्टी से घड़ा हुआ, उस मिट्टी से उसकी—घड़े की पर्याय अभिन्न है, ऐसा अभी लेना है। वे परिणाम तुम्हारे आया, नहीं आया, वह बात यहाँ नहीं है। वह तो सब खबर है, बापू! पूरी दुनिया की एक-एक की खबर है। दुनिया के सब खेल देखे हैं। खेल नाचे नहीं परन्तु नाचनेवाले को देखा है। नाचनेवाला कैसे नाचता है, वह सब देखा है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि एक बार सुन तो सही, प्रभु! ऐसा मनुष्यभव मिला और यदि हार जायेगा तो वापस कब फिर मनुष्य होगा ? आहाहा! इसकी अवधि तो २५, ५०, ६० वर्ष या १०० वर्ष की, फिर है न आत्मा तो, नाश हो ऐसा नहीं है। यह तो संयोगी चीज़ है। संयोग, वियोग होकर चली जायेगी। तू है वह है। वापस जैसा अज्ञानभाव किया होगा, मरकर जायेगा ढोर में, कहीं चला जायेगा।

यहाँ कहते हैं, एक बार अज्ञानभाव से भी तूने जो परिणाम किये, वे परिणाम पुण्य-पाप के भाव तुझसे अभिन्न हैं, ऐसा अभी हम कहते हैं। है ? जो अपने परिणाम **अपने से अभिन्न हैं और अपने से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है...** अर्थात् क्या कहा ? कि जीव को पहले जो परिणाम थे, उससे पलटकर यह क्रिया के परिणाम हुए हैं। अवस्थान्तर होकर (हुए हैं)। उसी और उसी के स्वयं के पूर्व के परिणाम थे, पश्चात् अवस्थान्तर होकर पर्याय हुई। कर्म बन्धन में निमित्त होते परिणाम, पूर्व के परिणाम थे अवस्थान्तर होकर परिणाम हुए हैं। आहाहा! **उसे करता हुआ प्रतिभासित हो।** इस राग के परिणाम को, पुण्य के परिणाम को, पाप के परिणाम को करता हुआ तू अज्ञानरूप से भासित हो। आहाहा!

ऐसी बातें अब! कोई घर से सुनने न आये हों, पूछे, क्या सुनकर आये तुम ? कौन

जाने, इसका ऐसा और इसका ऐसा करते थे, दुनिया से अत्यन्त अनजान बात, बापू! दुनिया की सब खबर है, हों! आहाहा!

परमात्मा तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव का यह फरमान है कि अज्ञानी अपने राग-द्वेष और पुण्य-पाप के परिणाम को करता प्रतिभासित हो, परन्तु उस पुण्य-पाप के परिणाम के काल में जो कर्मबन्धन हुआ, कर्मबन्धन के परिणाम को करता प्रतिभासित न हो। आहाहा! कहो, समझ में आया या नहीं? रसिकभाई! अटपटी बातें हैं। दुनिया पागल है, उसे यह पागल जैसा लगे ऐसा है कि यह तो क्या कहते हैं?

परमात्मप्रकाश में कहा था, दुनिया पागल है और जब धर्मात्मा तत्त्व की बात करे, तब उसे पागल जैसी लगती है। पागल को पागल जैसी लगती है। क्या हो, बापू! आहाहा! तत्त्व का स्वरूप ही ऐसा है, उसमें किसी का अधिकार नहीं कि मैं किसी का कर दूँ, आहाहा! मैं दूसरे को आहार-पानी दूँ, भूखे को आहार-पानी दूँ, प्यासे को पानी दूँ। आहाहा! रोगी को औषध दूँ, रहने की जमीन नहीं तो उसे जमीन दूँ। यह सब क्रिया आत्मा नहीं कर सकता, प्रभु!

मुमुक्षु : शरीर का तो कर सकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो शरीर का दृष्टान्त दिया न, उसका-हाथ का? यह होंठ हिलता है, वह परमाणु है, वह मिट्टी है, उसे यह हिलने की वह मिट्टी की अवस्था है। मिट्टी के परिणाम हैं। अरे रे! यह मिट्टी की दशा है, उसे आत्मा अन्दर अज्ञानभाव से राग करे कि मैं बोलूँ। यह राग करे परन्तु राग कर्ता इस होंठ की पर्याय को हिला सके, यह तीन काल में नहीं है।

मुमुक्षु : पक्षघात हुआ हो तब न हिला सके।

पूज्य गुरुदेवश्री : पक्षघात हुआ हो, तब वह परमाणु की पर्याय होनेवाले नहीं थी, इसलिए ऐसे-ऐसे नहीं कर सकता। अभी होता है, वह परमाणु की पर्याय से हिलता है। यह गजब बात है, बापू! दुनिया की सब खबर है, सुनो! आहाहा!

कहा नहीं था पहले अभी? कि यह पैर जो है, वह पैर जमीन को स्पर्श कर चलता नहीं। नहीं बैठे, कड़क पड़ेगा। पैर है, वह जमीन को स्पर्श ही नहीं करता, पैर को चलने

में जमीन का आधार नहीं क्योंकि उस पैर के परमाणुओं में वे षट्कारक के कारक भरे हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अधिकरण। उस पर्याय का आधार पर्याय है। पर्याय का आधार वह नीचे की जमीन नहीं। अरे! यह तो पागल कहे, हों! ऐई शशीभाई! आहाहा!

इस घड़ी इस पेटी के आधार से नहीं रही।

मुमुक्षु : आप तो पाट के आधार से विराजते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाट के आधार से शरीर रहा नहीं। शरीर के आधार से आत्मा रहा नहीं। भिन्न-भिन्न पदार्थ के आधार से कोई भिन्न पदार्थ होगा—(ऐसा) तीन काल में नहीं। बातें कठिन पड़े, बापू! जगत की मान्यताओं का ख्याल नहीं? आहाहा!

परन्तु पुद्गल के परिणाम को करने के अहंकार से... कर्मबन्धन मैंने किया। आहाहा! यह तो नजदीक की बात है। दूर की बात तो शरीर, वाणी, मन, बाहर पैसे और उनकी बातें तो कहाँ करना? कहते हैं। आहाहा! एक पैसा या नोट मैं ऐसे दे सकता हूँ, यह बात हराम है, कहते हैं। वह नोट की पर्याय वहाँ ऐसे अन्दर क्रियावती होकर ऐसे जाने की थी, उस नोट के परिणाम का कर्ता नोट है। उसके बदले दूसरा कहे कि मैंने इसे नोट दिये, ऐसे तेरे परिणाम का तू कर्ता हो तुझमें, परन्तु उस नोट के परिणाम का कर्ता तू है, ऐसा नहीं है। वीरचन्दभाई! क्या है यह... ?

मुमुक्षु : बहुत रुपये रोज फिराते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़के हैं पुरानी के दो। अभी आया था वह छोटा किशोर, वीरचन्दभाई! तुम्हारा वह छोटा आया था न यहाँ। उसके लड़के का विवाह था न, आया था यहाँ। छोटा रमणीक से छोटा। वे सब स्वतन्त्र स्वतन्त्र कोई किसी का पुत्र नहीं और कोई किसी का पिता भी नहीं। आहाहा! ऐसा है, भाई!

कहा क्या? कि अपने से अभिन्न परिणाम अज्ञानी राग-द्वेष को करे, शुभ-अशुभभाव को करे, वह परिणति की क्रिया से किये जाते हैं, इससे उसका कर्ता प्रतिभासित हो। **परन्तु पुद्गल के परिणाम को...** अर्थात् कि कर्मबन्धन की अवस्था के परिणाम को **करने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी...** मैंने कर्म बाँधे, मैंने कर्म बाँधे, ऐसा जो अहंकारी जीव **होने पर भी (वह आत्मा) अपने परिणाम के अनुरूप पुद्गल के परिणाम को...** आहाहा! राग-द्वेष के अनुकूल है, वह उस प्रकार से वहाँ परमाणु बँधते हैं उसके कारण

से, पुद्गल के कारण से, ऐसे पुद्गल परिणाम को **जो कि पुद्गल से अभिन्न है और पुद्गल से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है...** सूक्ष्म बात है। वह परमाणु जो थे पहले कर्मरूप नहीं हुए, वह परिणति बदलकर कर्मरूप अवस्था कर्म में हुई, वह क्रिया परमाणु की है, आत्मा की नहीं। कठिन गाथायें आयी हैं। आहाहा!

कि जो पुद्गल से अभिन्न है और पुद्गल से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है... अर्थात् यह क्या कहा? कि जो कर्म बँधते हैं न, आठ कर्म हैं - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, साता-असाता, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय बँधते हैं। वे परमाणु थे। वह पहली कर्म की अवस्था उसमें नहीं थी, दूसरी अकर्मरूप थी। वह फिर बदलकर कर्मरूप अवस्था हुई, वह क्रिया उन परमाणुओं से की हुई है। उन परमाणुओं से की हुई है, आत्मा से नहीं। जैसा भाव करे वैसा आयुष्य बँधता है, ऐसा कहा जाता है। लो, भाई! यह पशु का आयुष्य बँध गया। उसने ऐसे कठोर वक्रता के परिणाम किये, वक्रता के, वक्रता के। समझ में आया? यह तिर्यंच है और तिर्यंच गाय, भैंस ऐसे आड़े हैं। गाय, भैंस, घोड़ा, गिलहरी, गोंच और कोल ऐसे आड़े हैं। मनुष्य ऐसे खड़े हैं।

परमात्मा ऐसा कहते हैं कि वह उसका आड़ा शरीर क्यों हुआ? कि पूर्व में उसने राग-द्वेष की-कषाय की वक्रता बहुत की थी, उसमें से यहाँ कर्मबन्धन हुआ, उस कर्मबन्धन के कारण से यह परिणाम हुए और इन परिणाम के कारण कर्मबन्धन हुआ, ऐसा नहीं है। और उस कर्मबन्धन का जहाँ उदय आया, तब उसे तिरछा शरीर मिला। गाय, भैंस, घोड़ा, गिलहरी, नेवला, मोटा चूहा, वह कर्म का निमित्तमात्र है और उस समय वे ही परमाणु घोड़ारूप और गायरूप परिणमने की पर्याय से हुए हैं। इसमें कहाँ कितना याद रखना? समझ में आया?

बड़े करोड़ोंपति-अरबोंपति सेठिया हो, धर्म किया न हो, तथा सत्समागम सच्चा दो-चार घण्टे सेवन करना और दो-चार घण्टे वाँचन करना तो पुण्य हो, वह पुण्य भी न किया हो और मरकर जाये-ढोर में जाये। यह पूर्व में इसने परिणाम ऐसे किये, उनका बन्धन हुआ, उस बन्धन का कर्ता वह जीव नहीं है और बन्धन के परिणाम का उदय आया, इसलिए वहाँ शरीर ऐसा तिरछा हुआ, यह वक्र परिणाम वे पूर्व के बन्ध के परिणाम, उसका कर्ता नहीं। आहाहा!

बहुत बात में अन्तर। बात-बात में अन्तर, वह नहीं कहते अपने? 'आनन्दा कहे परमानन्दा, माणसे माणसे फेर, एक लाखे तो न मिले, और एक त्रांबियाना तेर।' इसी प्रकार भगवान कहते हैं कि मेरे और तेरे बात-बात में अन्तर है, प्रभु! कहीं बात में मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, मलूकचन्दभाई!

यह और याद आया। इनका लड़का है न पाँच करोड़ रुपये (हैं)। एक लड़का यहाँ मुम्बई में पूनमचन्द, पाँच करोड़, बड़ा लड़का स्वीट्जरलैण्ड में, चार करोड़, इनके दो बड़े लड़के नौ करोड़वाले हैं, परन्तु वहीं के वहीं फँस गये हैं। सुनने की भी फुरसत नहीं मिलती। बड़े को तो लड़का भी नहीं, चार करोड़ रुपये। एक लड़की, विवाह कर दिया। तो भी चैन नहीं होता। कभी बारह महीने में आना, दो-चार-पन्द्रह दिन, वह नहीं मिलता।

मुमुक्षु : अब तो वह आपकी गोद में... रोता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मैं कुछ कहूँ तब बेचारा रोता है, ऐसे तो नरम व्यक्ति न! परन्तु न्यालभाई! यह क्या करते हो पूरे दिन? तुम ऐसे बाग-बगीचे देखो तो चार करोड़ रुपये, लड़का एक भी नहीं, लड़की है। बड़े बँगले और बाग-बगीचे स्वीट्जरलैण्ड में।

मुमुक्षु : हवा कैसी सुन्दर आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी हवा नहीं। हवा हवा में रह गयी और आत्मा आत्मा में रह गया। अरे भगवान! सुन भाई!

यहाँ तो बापू! मार्ग अलग है, भाई! उसको सुनने को समय नहीं मिलता। यह उसका परिणाम क्या होगा, भाई! कुदरत के नियम प्रमाण उसके परिणाम होकर चले जायेंगे।

यहाँ प्रभु ऐसा कहते हैं कि कर्मबन्धन की क्रिया जो हुई, वह पुद्गल से अभिन्न थी। अन्दर कर्मबन्धन हुआ है वह। और पुद्गल से अभिन्न परिणति पलटकर क्रिया द्वारा की जाती है, उसे कर्ता प्रतिभासित न हो। अज्ञानी राग-द्वेष का कर्ता प्रतिभासित हो, परन्तु उस कर्मबन्धन की पर्याय का कर्ता प्रतिभासित न हो। आहाहा! इसमें एक घण्टे में किस प्रकार की बात यह! बापू! यह तो भगवान के कॉलेज की बात है। आहाहा! यह तो तत्त्व की वस्तु ऐसी है, बापू! भगवान! सुनने को मिलना मुश्किल है, भाई! आहाहा! यह इसका भावार्थ आयेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १७५, गाथा-८६, श्लोक-५१-५३ दिनांक २२-०१-१९७९, सोमवार, पौष कृष्ण-९

श्री समयसार, ८६ गाथा। उसका भावार्थ। है भावार्थ? टीका चल गयी है कल। (गाथा) ८६ का भावार्थ।

भावार्थ-सूक्ष्म बात है। **आत्मा अपने ही परिणाम का कर्ता प्रतिभासित हो...** आत्मा है, वह अपने पुण्य और पाप के भाव करता प्रतिभासित हो, परन्तु परद्रव्य के परिणाम आत्मा करे, यह तीन काल में (आत्मा) कर सकता नहीं। है? आत्मा अपने ही, अपने ही परिणाम पुण्य और पाप, शुभाशुभभाव, अज्ञानभाव से करो, परन्तु अपने परिणाम का कर्ता है, ऐसा प्रतिभासित हो परन्तु **पुद्‌गल के परिणाम को करता हुआ कदापि प्रतिभासित न हो...**

(पुण्य-पाप के भाव हों) उस समय जो कर्मबन्धन होता है, तो कर्मबन्धन की पर्याय आत्मा करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। कर्मबन्धन की जो पर्याय है, वह परिणाम-कर्मबन्धन जड़ का-पुद्‌गल का है। उस परिणाम का कर्ता आत्मा (कदापि) नहीं हो सकता। आत्मा अपने परिणाम का कर्ता हो। आहाहा! है? **पुद्‌गल के परिणाम को करता हुआ कदापि प्रतिभासित न हो...**

(अब कहते हैं) **आत्मा की और पुद्‌गल की-दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है, ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं।** आत्मा अपने परिणाम को भी करे और जड़ की दशा-परिणाम को भी करे, ऐसा माननेवाले जैन नहीं, मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! देवीलालजी! यहाँ तो अन्दर कर्मबन्धन होता है न? उस कर्मबन्धन की पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा अपने परिणाम का कर्ता है। दया, दान, व्रत, काम, क्रोध (आदि) विकारी भाव का वह अज्ञानभाव से (कर्ता है)। परन्तु पर के परिणाम का कर्ता तो आत्मा है नहीं। **आत्मा की और पुद्‌गल की - दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है...** जड़ की पर्याय को भी करे आत्मा और आत्मा के परिणाम को भी करे, ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। उसकी दृष्टि अत्यन्त झूठी-अज्ञान है। आहाहा! आत्मा राग (इच्छा) भी करे और आत्मा शरीर को भी हिला (-चला) सके, ऐसी (ऐसी दो क्रियाएँ एक आत्मा करता है), ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा!

जड़-चेतन पृथक् है। भगवान आत्मा पृथक् है तो (आत्मा) अपने परिणाम को करे और (साथ ही साथ) जड़ के परिणाम को भी करे, ऐसा माने तो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। ऐसी बात है भाई! है? आहाहा! **जड़-चेतन की एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्यों के पलट जाने से सबका लोप हो जायेगा-यह महादोष उत्पन्न होगा।** आत्मा अपने परिणाम को करे और पर के परिणाम को करे तो भिन्न पदार्थों का लोप हो जायेगा। भिन्न (पृथक्-पृथक्) पदार्थ अपने परिणाम को करते हैं (उसके कर्ता हैं) तो यह (अज्ञानी) कहता है कि मैं उसका कर्ता हूँ, तब तो भिन्न पदार्थों का लोप हो जायेगा! सूक्ष्म बात है भाई!

वीतरागमार्ग जिनेश्वर का मार्ग बहुत ही सूक्ष्म है, लोगों को सुनने मिलता नहीं। आहाहा! यह राग करे परन्तु पर की दया भी पाल सके, यह तीन काल में नहीं। क्योंकि पर की दया के परिणाम तो जड़ की पर्याय है न! तो जड़ की (देह की) पर्याय और चेतन (जीव) दोनों का (साथ-साथ) रहना तो वह आयुष्य प्रमाण रहते हैं, इसके कारण से रहते हैं तो यह दया (जीव को बचाने का भाव) के परिणाम यह (जीव) करे—राग को करे अज्ञानी, परन्तु पर की क्रिया कर सके, यह तीन काल में नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है।

जड़ और चेतन की एक क्रिया हो, आत्मा और यह परमाणु—यह मिट्टी, शरीर-कर्म-वाणी, जड़ आदि सबकी क्रिया यदि एक हो तो सर्व द्रव्य पलट जाने से, सब द्रव्य-सभी पदार्थ बदल जाने से, सबका लोप हो जायेगा, यह महादोष उत्पन्न होगा। आहाहा! यह भावार्थ था, अब कलश कहते हैं।

कलश–५१

अब इसी का समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैं:–

(आर्या)

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।५१।।

श्लोकार्थ : [यः परिणमति स कर्ता] जो परिणमित होता है, सो कर्ता है, [यः परिणामः भवेत् तत् कर्म] (परिणमित होनेवाले का) जो परिणाम है, सो कर्म है [तु] और [या परिणतिः सा क्रिया] जो परिणति है, सो क्रिया है; [त्रयम् अपि] यह तीनों ही, [वस्तुतया भिन्नं न] वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं।

भावार्थ : द्रव्यदृष्टि से परिणाम और परिणामी का अभेद है और पर्यायदृष्टि से भेद है। भेददृष्टि से तो कर्ता, कर्म और क्रिया, यह तीन कहे गये हैं, किन्तु यहाँ अभेददृष्टि से परमार्थ कहा गया है कि कर्ता, कर्म और क्रिया–तीनों ही एक द्रव्य की अभिन्न अवस्थायें हैं, प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं।।५१।।

कलश - ५१ पर प्रवचन

आहाहा! अब अमृतचन्द्राचार्य (रचित कलश)। कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में हुए, वे भगवान सीमन्धर (नाथ विदेहवासी) के पास गये, परमात्मा महाविदेह में विराजते हैं, वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य भगवान गये थे, आठ दिन वहाँ रहे थे। वहाँ से आकर यह शास्त्र (समयसार बनाया)। यह मूल श्लोक (गाथायें) उनके हैं और पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अमृतचन्द्राचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य के बाद एक हजार वर्ष में दिगम्बर सन्त हुए, उन्होंने यह टीका बनायी है। उसका यह श्लोक है।

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।५१।।

आहाहा! **अर्थ –'यः परिणमति स कर्ता' जो परिणमित होता है, सो कर्ता है।**

अभेद से वर्णन है यहाँ—जो पर्याय को करे, वह आत्मा उसका कर्ता। आत्मा-अपने परिणाम को करे तो आत्म कर्ता, जड़ उसकी पर्याय को करे तो जड़ उसका कर्ता। (देखो!) इस शरीर की यह (हलन-चलन) अवस्था होती है, उस अवस्था का कर्ता उस (शरीर के) जड़-परमाणु हैं, आत्मा नहीं। आहाहा! यह कहते हैं, जो बदलता है, वह कर्ता है। यहाँ तो अभेद से वर्णन है न!

आत्मा है, वह अपने परिणाम को बदलता है-करता है तो वह उसका कर्ता है। और परिणमनेवाले का जो परिणाम है, वह कर्म है-कार्य है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त काल से इसने सत्य समझा ही नहीं और सत्य की दृष्टि बिना सब व्यर्थ है, बिना अंक के शून्य है।

(कहते हैं कि) परिणमन करनेवाला आत्मा, अपने परिणाम को करे और जड़ है, वह अपनी परिणति-क्रिया का करनेवाला है, उस क्रिया को जड़ करता है। है? कर्म, वह कर्म है—आत्मा राग करे तो वह आत्मा का कर्म अर्थात् कार्य है और जड़ कर्मबन्धन होता है, वह जड़ का परिणाम उसका है—वह जड़ का कर्म-कार्य है। (देखो!) यह शरीर है-मिट्टी-धूल-पुद्गल है तो ऐसी-ऐसी (हिलने-चलने की) अवस्था होती है, वह अवस्था उसका कार्य है, (पुद्गल का) कर्म है—उस परमाणु की वह अवस्था-कर्म है। कर्म अर्थात् कार्य, कर्म अर्थात् वह जड़कर्म (-द्रव्यकर्म) यहाँ नहीं समझना... आहाहा! सूक्ष्म बात भाई!

अनन्त काल से चैतन्य (आत्मा) और जड़ (पुद्गल-परमाणु) भिन्न-भिन्न है। उस भिन्नता की अन्दर श्रद्धा कभी की ही नहीं। आहाहा! यहाँ तो अभी राग, आत्मा राग करता है, वह भी अभी अज्ञानभाव से करता है, तो राग उसका (आत्मा का) कार्य है और आत्मा उसका कर्ता है, यह अभिन्न-अभेद से कहा गया है। आहाहा!

जब कर्मबन्धन होता है, शरीर-वाणी की दशा होती है, वह पर्याय, यह वाणी की पर्याय है और इसका भाषा का वह कार्य है, वह जड़-परमाणु का कर्म-कार्य है, आत्मा का नहीं। आहाहा! भाषा आत्मा बोल नहीं सकता। कोई भी बोल नहीं सकता। भाषा की पर्याय का कार्य भाषा का है, आत्मा का वह (कार्य) है नहीं। वीतराग के अतिरिक्त-सर्वज्ञ

परमेश्वर के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं है। अभी तो सम्प्रदाय में गड़बड़ उठी है। आहाहा!

पर का कर दूँ-पर का कर दूँ। पर का कर दूँ। पर को जिला-मार सकता हूँ-पर का मैं कर दूँ-पर को सुखी कर दूँ (पर को दु:खी कर दूँ), सब मिथ्याभ्रम अज्ञान है। यहाँ कहते हैं कि यदि दो क्रिया एक हो जाये, आहाहा! तो सब लोप हो जायेगा। है ? जड़-चेतन की एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्य पलट जाने से सर्व का लोप हो जाये-यह बड़ा दोष उत्पन्न हो। **जो परिणाम है, सो कर्म है और जो परिणति है सो क्रिया है।** आत्मा, पूर्व की अवस्था पलटकर नयी अवस्था करता है वह क्रिया है और जड़ में भी पहली यह अवस्था है और ऐसी अवस्था हो जाती है, वह परमाणु-जड़ की क्रिया है। वह जड़ की क्रिया आत्मा नहीं करता और आत्मा की क्रिया जड़ नहीं करता। करता नहीं, ऐसा है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, बापू!

समयसार है यह! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का! आता है न 'मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो...' (तीसरे स्थान में) यह कुन्दकुन्दाचार्य! उनका शास्त्र, उसकी टीका अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त की है। यह उनका (रचित) कलश है। आहाहा!

जो परिणाम हैं, वह कार्य है कर्म और परिणति है, वही क्रिया है। आत्मा पूर्व की हालत-दशा बदलकर नयी अवस्था करता है राग की, वह क्रिया! जड़ में भी कर्म की अवस्था (पहले) नहीं थी और कर्म की अवस्था हुई परमाणु में, वह क्रिया है—वह जड़ की क्रिया जड़ में हुई। आत्मा की क्रिया आत्मा में हुई। आत्मा, जड़ की क्रिया को करे नहीं और जड़, आत्मा की क्रिया को करे नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। 'जड़-चैतन्य दोनों का प्रगट स्वभाव दोनों भिन्न'—जड़ और चैतन्य (भिन्न-भिन्न हैं)। यह शरीर-यह तो जड़ है मिट्टी-धूल है, इसकी क्रिया और आत्मा की क्रिया तो अत्यन्त भिन्न (भिन्न) है। खबर भी नहीं अनादि काल से! अजीव की क्रिया मैं करता हूँ, और मेरी क्रिया मुझमें राग होता है, वह राग, कर्म कराता है—ऐसी मान्यता, वह मिथ्यादृष्टि है और मैंने राग किया तो कर्म का बन्धन हुआ, वह भी कर्मबन्धन का परिणाम मुझसे हुआ है, वह भी मिथ्यादृष्टि है, वह जैन नहीं है। ऐई... आहाहा! जैन के तत्त्व की तो इसे खबर नहीं। है ?

(अब कहते हैं) **यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं है।** यहाँ अभेद से कहा है न! आत्मा अपने परिणाम करे, (इसलिए) कर्ता और परिणाम उसका कार्य और पूर्व की अवस्था बदलकर (जो) कार्य हुआ तो वह क्रिया, (कर्ता, कर्म और क्रिया) यह तीनों वस्तु-आत्मा की है। अभेद से कहना है न यहाँ, वह अवस्था आत्मा है और आत्मा अवस्था है (अभेद है), ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया? आहाहा! वे (तीनों) वस्तु से भिन्न नहीं है।

आत्मा अपने परिणाम को करे, उस परिणाम का कर्ता वह आत्मा, वह परिणाम उसका कार्य और बदलकर जो क्रिया (-परिणति) हुई, वह अपनी परिणति, वह किया, ये तीनों वस्तु आत्मा की है। है तो अवस्था परन्तु वह अवस्था आत्मा की है, इसलिए अवस्था आत्मा है। ये (तीनों) अवस्था आत्मा है। आहाहा! रसिकभाई! ऐसा सूक्ष्म है।

बेलगाँव के कोई आये हैं न, वे कहें हिन्दी में बोलो, तो यह हिन्दी शुरु हुआ। बेलगाँव के कोई आये न, वे कहते थे कि कल हिन्दी करेंगे? कहा, अकेले के लिये हिन्दी नहीं होता यह तो आज अधिक हैं... नहीं आये लगते। वे मानो कि हिन्दी नहीं हो तो नहीं सुनाये दे-समझ में आये। एक बेलगाँव का लड़का था, (कर्नाटक का)। आहाहा!

भावार्थ - द्रव्यदृष्टि से... यहाँ तो ऐसा कहना है न, भाई! अभिन्न कहना है। **द्रव्यदृष्टि से परिणाम और परिणामी का अभेद है...** यहाँ पर्याय भिन्न है और द्रव्य भिन्न है, ऐसा सिद्ध नहीं करना। (यहाँ तो) आत्मा के परिणाम और आत्मा परिणामी, यह दोनों अभेद है। यह अवस्था है वह आत्मा है; आत्मा है, वह अवस्था है। ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। पर की अवस्था वह जड़ की है और जड़ की अवस्था वह पर है। वह स्वयं की अवस्था उस जड़रूप है, वह यह शरीर है, रजकण है, यह अवस्था है, वह जड़ की, वह जड़ अवस्था है, वह जड़ है और जड़ वह अवस्था है।

आत्मा इस शरीर को हिला नहीं सकता तीन काल में। आहाहा! ऐसा भगवान कहते हैं। क्योंकि जड़ की भाषा (वाणी) की जो अवस्था है, वह जड़ है—जड़ की अवस्था है, इसलिए जड़ है और जड़ की अवस्था वह जड़रूप है—वह अवस्था (भाषा

की-वाणी की) जड़रूप ही है। जड़ की पर्यायरूप है। ऐसे आत्मा के परिणाम जो रागादि हैं, वे आत्मा हैं और आत्मा है, वह राग-द्वेष है। अरेरे! ऐसा सूक्ष्म है, बापू! वीतराग का मार्ग, जिनेश्वरदेव परमेश्वर केवलज्ञान का मार्ग तो बहुत सूक्ष्म! अभी तो कुछ खबर नहीं होती और ऐसा और वैसा हाँकते जाते हैं! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि भगवान की पूजा जब होती है, तब राग आता है, वह आत्मा का परिणाम है, परन्तु उस समय पूजा में (पूजा करते समय) हाथ हिलता है तथा स्वाहा वाणी (निकलती है) वह सब जड़ का परिणाम है। ऐसी बात है, बापू! 'स्वाहा' यह तो जड़ की अवस्था, भाषा की अवस्था है, यह आत्मा के परिणाम नहीं। आत्मा तो (तब) राग करे, हों! अज्ञानभाव से, उस राग का कर्ता (आत्मा) अज्ञानभाव से बनता है। धर्मभाव जहाँ आत्मा की दृष्टि हुई वहाँ राग का भी कर्ता नहीं, वह तो राग का जाननेवाला रहता है। आहाहा!

यहाँ तो राग का करनेवाला है, उसने अज्ञानभाव से राग किया, तो राग उसका परिणाम है और उस परिणाम का कर्ता वह जीवद्रव्य है, परन्तु उस समय जो जड़ की पर्याय जो होती है, वह तो जड़ परिणाम का कर्ता जड़ है, परन्तु यह आत्मा जड़ का परिणाम करे, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा काम है! द्रव्यदृष्टि से लेना है न यहाँ, पर्यायदृष्टि से भिन्न करना है, यह अभी (यहाँ नहीं) अभिन्न कहना है न! द्रव्यदृष्टि से परिणाम और परिणामी का (सम्बन्ध) अभेद है और पर्यायदृष्टि से भेद है।

आत्मा राग के परिणाम करे-यह द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से (कहा उसमें) द्रव्य अर्थात् वस्तु (आत्मवस्तु) और दृष्टि अर्थात् त्रिकाली की दृष्टि, ऐसा नहीं है, (परन्तु) वस्तु की दृष्टि से देखो तो राग के परिणाम हैं, वे आत्मा के हैं—द्रव्यदृष्टि से (अर्थात् अभेददृष्टि से), पर्यायदृष्टि से द्रव्य भिन्न है, परिणाम भिन्न है—द्रव्य-पर्याय भिन्न (भिन्न) है। ऐसी बातें हैं। **भेददृष्टि से तो कर्ता, कर्म और क्रिया यह तीन कहे गये हैं...** आत्मा राग का कर्ता, राग उसका कार्य और राग की क्रिया उसकी, ऐसे तीन कहे गये हैं।

किन्तु यहाँ अभेददृष्टि से परमार्थतः यह कहा गया है कि कर्ता, कर्म और क्रिया—तीनों ही एक द्रव्य की अभिन्न अवस्थायें हैं... आहाहा! राग क्रिया—दया-दान

के, भक्ति के, पूजा के (भाव), वह राग है। उस राग का कर्ता आत्मा है। ओहो! राग उसका कार्य-कर्म है, राग उसकी क्रिया है, यह तीनों एक द्रव्य के हैं—ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा! कहो, पण्डितजी? ऐसा है, वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई! लोगों को-बेचारों को खबर नहीं होती, ऐसे के ऐसे अन्ध दृष्टि से अज्ञानपने चलते जाते हैं। उसमें भवभ्रमण का नाश नहीं होता, किन्तु अज्ञानभाव में तो भवभ्रमण बढ़ता है। आहाहा! समझ में आया?

किन्तु यहाँ अभेददृष्टि से परमार्थतः यह कहा गया है कि कर्ता, कर्म और क्रिया—तीनों ही एक द्रव्य की अभिन्न अवस्थायें हैं... आहाहा! यह पृष्ठ है—कागज, इसकी (ऐसे-ऐसे) जो अवस्था होती है, वह अवस्था उस परमाणु का कार्य है। इस अँगुली का वह कार्य नहीं है, इस अँगुली ने वह ऊँचा-नीचा किया नहीं। अरे! ऐसी बातें बहुत कठिन, बापू! ऐसा यहाँ कहते हैं, भगवान! कि यह परमाणु जो है, उसकी ऐसी पर्याय हुई, उस पर्याय का कर्ता वह परमाणु है। और पर्याय, परमाणु का कार्य है और ऐसा होकर... ऐसा होकर वह (परिणति की) अवस्था-क्रिया भी उस परमाणु की है, आत्मा की नहीं, आत्मा वह (क्रिया) कर नहीं सकता। है?

मुमुक्षु : हाथ में कागज पकड़ा किसलिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन पकड़ता है? पकड़ा ही नहीं न! यह हाथ उसे स्पर्श ही नहीं करता। सूक्ष्म मार्ग, भाई! वीतराग का परमेश्वर का मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

(क्या कहते हैं?) यह तो हाथ कागज को स्पर्शा ही नहीं, क्योंकि उसमें और इसमें दोनों में (एक-दूसरे का अत्यन्त) अभाव है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म मार्ग, भाई! आहाहा! इसने अनन्त काल में सच्ची तत्त्वदृष्टि की ही नहीं, इस तत्त्वदृष्टि बिना, दया-दान-पूजा-भक्ति (के भाव) अनन्त बार किये, परन्तु उसका फल इसे चार गति में भटकने का है। आहाहा! अन्तर्दृष्टि है-सम्यग्दृष्टि है, वह क्या है, इसकी खबर नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो अज्ञानभाव से जो राग करता है, वह तो राग की क्रिया-रागपरिणाम और राग का कर्ता (आत्मा) वह तीनों एक है, ऐसा कहा गया है। अन्य-दूसरी चीज़ के साथ

कुछ सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया? ऐसा है। **कर्ता, कर्म और क्रिया—तीनों एक द्रव्य अभिन्न अवस्थायें हैं...** प्रदेश भेदरूप भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं—इतनी बात है। कर्ता जो आत्मा है, उसके प्रदेश भिन्न और राग परिणाम कर्म, उसके प्रदेश भिन्न, ऐसा है नहीं, सबके प्रदेश एक ही हैं। आहाहा! भिन्नता (है, वह अभी नहीं) अभी तो अभी द्रव्यदृष्टि की-(अभेद की) अपेक्षा से बात है। यहाँ तो पर से पृथक् बतलाने की बात है। अपनी पर्याय से पृथक् द्रव्य है, वह बात बाद में। पर्याय से पृथक् द्रव्य है, यह अभी इतना निर्णय करे नहीं, उसे कहाँ से बैठे? आहाहा!

कर्ता, कर्म और क्रिया—तीनों एक द्रव्य अभिन्न अवस्थायें हैं... देखो! आत्मा राग करे, उस राग का कर्ता आत्मा, राग उसका कार्य, और राग उसकी क्रिया, तीनों आत्मा हैं; जड़ (पुद्गल परमाणु) नहीं। आत्मा में राग होता है तो कर्म से राग होता है, ऐसा है नहीं, ऐसा कहते हैं। कर्म उसका-राग का कर्ता नहीं। राग का कर्ता आत्मा है, वह भी अज्ञानभाव की बात है न! आहाहा! अज्ञान-मिथ्यादृष्टिरूप से अज्ञानी है तो (इसलिए वह) राग का कर्ता होता है, परन्तु वह राग का कर्ता, कर्म (पुद्गल-जड़) है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझमें आया? सूक्ष्म बात है, भाई!

अनन्त काल गया परिभ्रमण करते-करते, चौरासी के अवतार हुए—चौरासी लाख योनि, एक-एक योनि में अनन्त बार अवतार किये—महादुःखी, दुःखी, दुःखी... दुःखी अनन्त बार अरबोंपति मनुष्य हुआ, अरबोपति होकर मरकर ढ़ोर में चला गया है, ऐसे अनन्त बार भव किये! परन्तु सत्य बात (सुनी) भी नहीं।

मुमुक्षु : पैसे के समय भी दुःखी है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा! उस समय भी दुःखी है। पैसा है, उस समय भी पैसे के ऊपर लक्ष्य जाता है—जड़ के ऊपर लक्ष्य जाता है, वह दुःख है। आहाहा! दुःखी है, दुःखी! पैसे मेरे ऐसी मान्यता (ममताभाव), वह दुःखी है, पैसा तो जड़ है-धूल है-पुद्गल है। आहाहा!

मुमुक्षु : पैसे के बिना सब्जी आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे के बिना ही सब्जी आती है—सब्जी, सब्जी से आती है।

आत्मा इच्छा करता है, इसलिए (सब्जी) आती है, ऐसा नहीं है और पैसे से आती है, ऐसा नहीं है।

आहाहा! पैसा जो है, वह (पुद्‌गल का) परिणाम है, उसकी पर्याय और पैसा (पुद्‌गल) उसका कर्ता है, और सब्जी लावे, वह उसका परिणाम है, ऐसा है नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! इसने अनन्त काल भटकते (भटकते) किसी समय सत्य बात समझी नहीं, जैन सम्प्रदाय भी अनन्त बार मिला। परन्तु जैन परमेश्वर को क्या कहना है, स्वतन्त्र (प्रत्येक चीज़) कैसी है, उसकी खबर नहीं। अज्ञानरूप से-मूढ़रूप से अनन्त भव किये। आहाहा! तीनों एक द्रव्य की अभिन्न अवस्थायें हैं, प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तुयें नहीं। — इतना यहाँ सिद्ध करना है। पर से भिन्न (है, इतना) सिद्ध करना है।

कलश-५२

पुनः कहते हैं कि-

(आर्या)

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्या-दनेक-मप्येक-मेव यतः।।५२।।

श्लोकार्थ : [एकः परिणमति सदा] वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, [एकस्य सदा परिणामः जायते] एक का ही सदा परिणाम होता है (अर्थात् एक अवस्था से अन्य अवस्था एक की ही होती है) और [एकस्य परिणतिः स्यात्] एक की ही परिणति-क्रिया होती है; [यतः] क्योंकि [अनेकम् अपि एकम् एव] अनेकरूप होने पर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं है।

भावार्थ : एक वस्तु की अनेक पर्यायें होती हैं; उन्हें परिणाम भी कहा जाता है और अवस्था भी कहा जाता है। वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि से भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होती हैं तथापि एक वस्तु ही है, भिन्न नहीं है; ऐसा ही भेदाभेदस्वरूप वस्तु का स्वभाव है।।५२।।

कलश - ५२ पर प्रवचन

अब, ५२

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्या-दनेक-मप्येक-मेव यतः ।।५२।।

आहाहा! '**एकः परिणमति सदा**' **वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है...** परमाणु, परमाणु एक ही अपनी अवस्था—परिणाम होते हैं। आत्मा (आत्मा) एक ही अपने परिणमन से परिणाम करता है, कोई दूसरा उसे सहायता दे तो परिणमन करता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? **वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है...** वस्त आत्मा और परमाणु, एक-एक (प्रत्येक) भिन्न (भिन्न) चीज़ सदा परिणमित होती है। एक वस्तु ही सदा अवस्थारूप से परिणमित होती है, वह एक ही परिणमित होती है। उसमें दूसरी वस्तु की कोई सहायता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। अभ्यास नहीं न, अभी तो यह सुनने में भी नहीं आता। (सुनने में आवे कि) यह करो,... यह करो... यह करो... यह करो!

मुमुक्षु : वह बात जल्दी समझ में आती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें तो समझ में आये, ऐसी बात नहीं? सोना है, सोना-स्वर्ण, उसके जो गहने होते हैं-जेवरात-गहने, वह सोने का कार्य है, वह स्वर्णकार का नहीं।

मुमुक्षु : किस देश में ऐसा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान के देश में यह है। अज्ञानी के देश में अज्ञान है। आहाहा! सोनी जो स्वर्ण (के गहने) करता है (करता दिखता है) तो सोना घड़ता है, ऐसा (लोग) कहते हैं, सोने के जो परिणाम-जेवरात-गहने (हुए), दागीना कहते हैं न! वह जेवरात की पर्याय जो हुई, उसका कर्ता स्वर्ण है, वह कार्य स्वर्ण का है, वह परिणति बदली वह स्वर्ण ने बदलाई है, स्वर्णकार ने नहीं। आहाहा! ऐसा है।

घड़ा जो बनता है, कुम्हार (से नहीं), मिट्टी से बनता है, मिट्टी कर्ता है और घड़ा उसका कार्य है-कर्म है। और पूर्व की अवस्था—पिण्ड की अवस्था पलटकर घड़ा हुआ,

वह क्रिया मिट्टी की है—यह कर्ता, कर्म और क्रिया तीनों अभेद एक वस्तु के (परिणाम) हैं। द्रव्यदृष्टि से (अभेद से)। आहाहा! इसी प्रकार यह आत्मा, राग का कर्ता हो, तो राग का कर्ता आत्मा, राग उसका कार्य, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव और राग की पर्याय जो पूर्व की अवस्था पलटकर हुई, वह क्रिया। यह कर्ता, कर्म और क्रिया तीनों आत्मा हैं। यहाँ तो अवस्था वह आत्मा है—ऐसा सिद्ध करना है न? आत्मा, वह अवस्था और अवस्था, वह आत्मा! आहाहा! समझ में आया?

देखो! यह लकड़ी है, देखो! लकड़ी है, वह ऐसे (ऊँची-नीची) हुई तो वे लकड़ी के परमाणु हैं, उनका यह परिणाम-कार्य है और वह परिणाम परमाणु उसके कर्ता हैं, पूर्व की अवस्था ऐसी (ऊँची) थी और पलटकर ऐसी (नीची) अवस्था हुई—क्रिया हुई, वह भी परमाणु की क्रिया है, उसके परमाणु की वह क्रिया है, वह हाथ की नहीं, ऐसे-ऐसे (ऊँची-नीची) क्रिया हुई वह हाथ की क्रिया नहीं। हाथ के परिणाम यह पर्याय है (हाथ से यह हुई है) तो अपनी पर्याय के कर्ता तो वे परमाणु हैं और पर्याय उसका कार्य है और पलटकर हुई वह परमाणु की क्रिया है। यह हाथ की क्रिया आत्मा कर सके या इस शरीर की—अँगुली की क्रिया—हाथ की क्रिया (आत्मा) कर सके, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : संयोगदृष्टि से तो कर्ता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता है नहीं, अज्ञानी कर्ता मानता है, संयोग से (संयोगीदृष्टि से) अज्ञानी मानता है, यह तो कहा न कि अपने परिणाम भी करे और दूसरे के परिणाम भी करे, ऐसा माने, वह मिथ्यादृष्टि! दोनों की क्रिया (एक करता है ऐसा) मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! जगत से... वीतराग परमात्मा जो कहते हैं, वह बात समझना जगत को बहुत दुर्लभ है। अभी तो धर्म के नाम से सब गड़बड़ है। आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु दृष्टि दो ही है न—संयोगीदृष्टि और वस्तुदृष्टि!

पूज्य गुरुदेवश्री : संयोगीदृष्टि! परन्तु संयोगीदृष्टि करे, परन्तु दृष्टि, संयोग से हुई नहीं और संयोग में क्रिया हुई, तो संयोगीदृष्टि है, तो संयोगीक्रिया हुई, ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसा है।

वस्तु सदा एक ही परिणमित होती है, एक के ही सदा परिणाम होते हैं... देखो! एक ही आत्मा और परमाणु एक ही अपने से परिणमित होता है और एक के ही सदा परिणाम होते हैं। एक अवस्था से अन्य अवस्था एक की ही होती है। **'एकस्य परिणतिः स्यात्' एक की ही परिणति-क्रिया होती है...** आत्मा की क्रिया एक की ही होती है, जड़ की क्रिया जड़ से एक की ही होती है। आहाहा! 'जड़ अरु चैतन्य दोनों प्रगट स्वभाव भिन्न'—तो किसी के स्वभाव की पर्याय कोई (दूसरा) करे, ऐसा नहीं होता। यदि ऐसा करने जाये तो (सर्व) पदार्थों का लोप हो जाये! पदार्थ, स्वतन्त्र अपनी पर्याय करे, ऐसा नहीं रहता—परपदार्थ उसकी पर्याय करे तो उसका लोप हो जाये, उसकी पर्याय तो न रही (पर्याय बिना का) वह पदार्थ रहा नहीं। क्या कहा? समझ में आया?

(इस विश्व में) परपदार्थ का अस्तित्व है और अपना भी अस्तित्व है। अब परपदार्थ के अस्तित्व की पर्याय, पर (दूसरा) पदार्थ करे तो उसकी पर्याय का अस्तित्व तो रहा नहीं, तो (दूसरे की) पर्याय का करनेवाला वह द्रव्य, तब (तो) द्रव्य का नाश हो गया! आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : कर्ता (न बने) तो कोई सहकार करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सहकार करे, यह बात ही झूठी है। सह+कार, सहाय का अर्थ साथ में होता है, इतना है। आत्मा (और परमाणु) गति करे तो धर्मास्तिकाय को सहाय (कारी) कहा गया। सहाय का अर्थ साथ में है, परन्तु वह (धर्मास्तिकाय) उसे गति कराता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म अब!

आहाहा! एक-एक (प्रत्येक) परमाणु अपनी पर्याय का कर्ता है। और वह पर्याय उसका कार्य है और बदलने की क्रिया उस-उस परमाणु की है, दूसरा परमाणु उसे पलट सके, ऐसा नहीं है। आहाहा! परमाणु (में) आता है न? दो गुण अधिक, एक में चार गुण हो और एक में छह गुण हो—पर्याय, तो यहाँ (दोनों परमाणु) छह गुण हो जाते हैं न! यह प्रश्न एक बार हो गया था। (द्विअधिकांश) हाँ, द्विअधिक अंश—एक परमाणु में चार गुण की पर्याय है, दूसरे परमाणु में छह गुण की पर्याय है, तो शास्त्र में ऐसा आता है कि दोनों (परमाणु) इकट्ठे हों, तो (दोनों को) छह गुण हो जाते हैं। (तो) दूसरे परमाणु में छह गुण

पर्याय है तो होता है (दोनों परमाणु की छह गुण) ऐसा है नहीं। (परन्तु) उस समय में (उस परमाणु की) स्वयं की पर्याय छह गुण (अधिक) पर्याय होनेवाली स्वयं की योग्यता से हुई है। आहाहा! यह प्रश्न पहले चला था। पहले मूलशंकरभाई का छोटा भाई क्या (नाम)? शान्तिलाल। बहुत वर्ष पहले, वहाँ से—वर्णीजी के पास से आया था न! उसने यह प्रश्न किया था!

(वह कहते हैं) देखो, शास्त्र में ऐसा है—ऐसा (कहा है) कि एक परमाणु में दो गुण रंग की पर्याय है और दूसरे परमाणु में चार गुण पर्याय है तो वे (मिलें तो दोनों को) चार गुण हो जाते हैं। स्निग्धता दो गुण हो, वह चार गुण तो वह हो जाती है। परन्तु यह कहा, वह चार गुण में गया, इसलिए चार गुण हुआ, ऐसा नहीं है, उस समय अपनी पर्याय चार गुणरूप से परिणमने की अपनी क्रिया है—दो गुण थे और चार हुए, चार पलटकर छह हुए, (वह परमाणु की) अपनी क्रिया अपने से हुई है, निमित्त से हुई नहीं। यह शान्तिभाई के साथ बहुत समय पहले (बात हुई थी)। संबलपुर में है न अभी, संबलपुर में है। आहाहा! बहुत कठिन बात, भाई! मार्ग!

वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है... देखो! अभिन्न लेना है न! और 'एक अवस्था से अन्य अवस्था एक की ही होती है' और '**एकस्य परिणतिः स्यात्' एक की ही परिणति-क्रिया होती है, कर्ता, कर्म, और क्रिया एक में ही होते हैं।** आहाहा! पर के कारण से अपने में कर्ता, कर्म और क्रिया हो तथा अपने कर्ता, कर्म और क्रिया से पर में कर्ता, कर्म, क्रिया हो—ऐसा तीन काल में, तीन लोक में नहीं होता। ओहोहो!

(देखो!) यह अँगुली है, तो वह अँगुली पलटकर (टेढ़ी होकर) यहाँ आकर वापस (सीधी होकर) यहाँ आयी तो वह क्रिया अँगुली ने की, ऐसा नहीं, वह (प्रत्येक-प्रत्येक) परमाणु पलटकर अपनी क्रिया यहाँ हुई, तो उस परिणाम का कर्ता (पुद्गल) परिणामी परिणाम (की परिणति) पलटकर जो कार्य-कर्म और पलटकर जो क्रिया हुई, वह परिणामी की क्रिया उसके साथ (पुद्गल-परमाणु के) साथ सम्बन्ध है। अँगुली के साथ सम्बन्ध नहीं, नाक के साथ सम्बन्ध नहीं। आहाहा!

अभी जगत को ऐसा बैठना कठिन पड़ता है! क्या हो? यह गाँववाले तो समझे भी नहीं, भाषा—यह क्या कहते हैं? कौन जाने, यह सोनगढ़ का है कुछ, ऐसा कहे (बोले

और) सोनगढ़ का भी अलग है, कहते हैं! सम्प्रदाय होकर, ऐसा कहे। सम्प्रदाय में जो चलता है (करने का उपदेश) ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो—पूजा करो, भक्ति करो, गजरथ निकालो। यहाँ कहते हैं वह पर्याय आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा!

क्योंकि अनेकरूप होने पर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं... कर्ता, कर्म और क्रिया एक में ही हुई, अनेक (रूप) होती होने पर भी एक ही है चीज़-वस्तु तो एक ही है। दूसरी चीज़ आयी तो उसमें परिणाम हुए—क्रिया हुई, ऐसा नहीं है। आहाहा! एक वस्तु की अनेक पर्याय होती है। आहाहा! अभी तो ऐसा उपदेश चलता है, यह करो और यह करो, इसे सुखी करो, इसका दुःख मिटाओ और इसे (मदद करो), पैसा दो न इसे, आहाहा! यह ऐसी क्रिया! परन्तु क्या लोगों को बेचारों को खबर ही नहीं होती, सुननेवाले भी जय-जय करे और वह ऊपर हाँक रखे अज्ञान का। आहाहा!

एक वस्तु की अनेक पर्यायें होती हैं... एक पदार्थ की अनेक अवस्थायें होती हैं। **उन्हें परिणाम भी कहा जाता है और अवस्था भी कहा जाता है।** परमाणु और आत्मायें, एक-एक चीज़ को अनेक अवस्थायें होती हैं, तो अवस्थायी रूप से एक है और अवस्थारूप से अनेक है। आहाहा! (परिणाम को) अवस्था भी कहा जाता है। क्या?—कि यह पर्याय-परिणाम है (उसे) अवस्था भी कहते हैं। एक वस्तु की अनेक पर्याय होती है, उन्हें परिणाम भी कहते हैं (और) उन्हें अवस्था भी कहा जाता है।

वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि से भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होती हैं... कर्ता, कर्म (और) क्रिया भिन्न-भिन्न शब्द आये न, संख्या आदि। **तथापि एक वस्तु ही है।** अभी तीनों परिणाम एक ही चीज़ है। आहाहा! वहाँ भी यह लिया है उसमें (प्रवचनसार में) सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् पर्याय वह (सत् का) विस्तार है। नामभेद है तीनों में, तथापि प्रदेशभेद से तो एक है (अर्थात्) प्रदेशभेद नहीं है। (यहाँ) सत् सिद्ध करना है न! द्रव्यसत्, गुणसत्, पर्यायसत्—एक 'सत् के' ये तीन भाग हैं। 'सत्' को सिद्ध करना है, अकेला!

(इस जगत में) जितने द्रव्य हैं-गुणों में, उस प्रत्येक द्रव्य का द्रव्यसत्, गुणसत् और पर्यायसत्, बस एक ही सत्-अस्तित्व वह तीन प्रकार का है—द्रव्य में, गुण में और पर्याय में, बस इतना! आहाहा! तथापि उसके प्रदेश, नामभेद, संज्ञाभेद, (भिन्न-भिन्न) हैं,

तथापि उनके प्रदेश भिन्न नहीं है, ऐसा है यहाँ। (प्रवचनसार में) अतद्भाव, ऐसा है वहाँ। अर्थात् क्या ? कि द्रव्य, गुण और पर्याय ऐसे अतद्भाव हैं। (अर्थात् कि) द्रव्य, वह गुण नहीं; गुण, वह पर्याय नहीं - ऐसा अस्तित्वरूप से अतद्भाव है। वह द्रव्यभाव, वह गुण नहीं और गुण, वह पर्याय नहीं, तथापि अतद्भाव होने पर भी उनमें प्रदेश भिन्न नहीं हैं। इसलिए (दूसरे पदार्थों को) जैसे प्रदेश भिन्न से अन्यपना है, वैसा इसमें अन्यपना नहीं है, 'अन्यत्व' शब्द है वहाँ, (उसका अर्थ यह है)। आहाहा! गजब बात! ऐसा सूक्ष्म!

सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् पर्याय एक गुण के तीन प्रकार यह, गुण तो एक ही है। परन्तु उसका द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत् ऐसे एक-एक में अतद्भावरूप से कहा गया है। गुण, वह द्रव्य नहीं; गुण, वह पर्याय नहीं और पर्याय, वह गुण नहीं, इतना, वह एक अस्तित्व की बात है। समझ में आया ? सवेरे भाई को प्रश्न उठा कि यह एक गुण में अनन्त गुण का रूप है, यह कहाँ से निकाला ? (किस) शास्त्र में से ? ऐसा विचार आया था, ऐसा तो बहुत आया था कि एक आत्मा है, उसमें एक गुण है, ज्ञान, वह ज्ञानगुण है, वह अनन्त रूपवाला है—अनन्त गुण के अनन्तरूपवाला तो एक (ज्ञान) गुण, परन्तु अनन्त सामर्थ्यवाला और एक गुण और उसके अनेकरूप, तथापि वह गुण पूर्ण है। समझ में आया ?

'सर्वज्ञ'-ज्ञायक कहो, ज्ञायक से लिया परन्तु 'सर्वज्ञ'—सर्वज्ञगुण जो है, वह पूर्ण है। और वह सर्वज्ञगुण है, उसमें दूसरे अनन्त गुणों का रूप है। उन अनन्त गुणों का रूप भी वहाँ पूर्ण है। आहाहा! समझ में आया ? आत्मा वस्तु है, उसका सर्वज्ञ गुण, वह सर्वज्ञ पूर्ण गुण है। 'ज्ञ' स्वभाव कहो या सर्वज्ञस्वभाव कहो या पूर्ण गुण कहो, इस प्रकार ऐसे प्रत्येक गुण हैं, वे पूर्ण हैं और पूर्ण गुण में भी एक-एक गुण का पूर्णरूप है। आहाहा! एक गुण पूर्ण है और दूसरे अनन्त गुण हैं, वे भी स्वयं से पूर्ण है, (और) उस-उस गुण का रूप भी उन-उन दूसरे गुण में पूर्ण रूप है। चिद्-विलास में कहा है न ? कि एक-एक गुण में अनन्त शक्ति है, और अनन्त पर्याय है, ऐसा लिया है। मूल यह कहना है। आहाहा!

इस एक-एक गुण में अनन्त शक्ति है, और अनन्त पर्याय है—अनन्त शक्ति अर्थात् कि एक गुण है, वह स्वयं से पूर्ण है परन्तु दूसरे अनन्त गुणों का उसमें रूप है, इसलिए अनन्त शक्ति उसमें है। आहाहा! और वह भी पूर्ण गुण है। सुख है, आत्मा में एक सुखगुण है, वह भी पूर्ण है, और उस सुखगुण में दूसरे ज्ञान आदि गुणों का रूप है, वह भी पूर्ण है,

इसलिए उस सुखगुण में भी अनन्त-अनन्त पूर्णरूप है। आहाहा! इसी प्रकार एक 'कर्ता' नाम का गुण है, उसमें भी अकर्तापना और ज्ञान आदि का रूप है, वह कर्तागुण भी पूर्ण है, और दूसरे गुण पूर्ण हैं, उनका उसमें रूप है, दूसरे गुण उसमें नहीं। आहाहा! वह गुण गुण के अपने कारण से अपना रूप है, पर के कारण से नहीं। ऐई! और वह-वह गुण स्वयं के कारण से पूर्ण है! आहाहा!

ऐसे अनन्त गुण का एकरूप वह भगवान आत्मा—द्रव्य! आहाहा! ऐसे 'पूर्णमिदं' की दृष्टि करना, वह पर्याय से, वह पर्याय से—पर्याय से दृष्टि है न! आहाहा! पर्याय में भी—एक-एक पर्याय में दूसरी सब पर्याय का रूप है, ऐसी अनन्त पर्याय, एक श्रद्धा ऐसे ढलती है तो सब पर्यायें ऐसे ढल जाती हैं!! आहाहा! चिमनभाई! ऐसा सूक्ष्म है, बापू! परन्तु सत्य तो ऐसा है। कहो, श्रीपालजी! अरे! ऐसा एक-एक भगवान (आत्मा है) अरे! एक-एक परमाणु, आहाहा! वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श आदि एक-एक गुण भी पूर्ण है और उसमें दूसरे गुणों का रूप! दूसरे गुण भी पूर्ण हैं, उस गुण में उनका रूप है। आहाहा! एक ही प्रदेशी (शुद्ध परमाणु) तथापि पूर्ण अनन्त गुण के रूप से भरपूर भगवान पूर्ण है, वह भगवान अर्थात् उसकी महिमावाला ऐसा। वह (परिपूर्ण) महिमावाला तत्त्व है। आहाहा!

ऐसे एक-एक गुण एक ही आत्मा में! यहाँ तो विचार यह आया था कि सर्वज्ञ जो परमेश्वर हैं, उनकी जिसे प्रतीति आती है, उसे सर्वज्ञ पूर्णस्वरूप है, ऐसी प्रतीति करे तब, उसकी सर्वज्ञ की प्रतीति व्यवहार से कहलाती है। समझ में आया? अपना सर्वज्ञस्वभाव है, क्षेत्र भले छोटा, उसका कुछ नहीं, अनन्त गुण भले असंख्य प्रदेश में हैं, अनन्त गुण को कहीं अनन्त प्रदेश नहीं चाहिए, आहाहा! परन्तु उन अनन्त में अनन्तता बहुत बड़ी है, प्रभु! आहाहा!

जो अनन्त गुण है, उनकी संख्या बड़ी कि जिसका पार न हो! ऐसे-ऐसे अनन्त गुण का पार नहीं होता (असीम) ऐसे-ऐसे एक-एक गुण पूर्ण, उसका भी पार नहीं, ऐसा (प्रत्येक) गुण का उसमें रूप है। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, अभी तो उस आत्मा की बात चलती है। उसकी परिणति की क्रिया तो अनन्त गुण की एक साथ है, अब अभी यह शुद्ध की बात चलती है, पूर्ण लेना है न! यह अनन्त गुण का पूर्णरूप प्रभु! जब (उसरूप) परिणति होती है, तब उसमें प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र स्वयं से परिणमित हो रही

है। आहाहा! वह पर्याय सत्, गुण सत् और द्रव्य सत् अर्थात् एक सत् का-अस्तित्व का विस्तार है। इसलिए एक गुण का अस्तित्व दूसरे गुण के अस्तित्व में आया, ऐसा यहाँ नहीं है। भाई! आहाहा!

यह तो एक गुण द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से, ऐसा है वहाँ। आहाहा! ऐसा प्रत्येक गुण स्वयं द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से! आहाहा! महासमुद्र है। ऐसा जो भगवान आत्मा, अपनी दृष्टि करके जब परिणति होती है, उस परिणति का कर्ता वह द्रव्य है। यहाँ चलता है, वह अशुद्ध की भी परन्तु शुद्ध-अशुद्ध परिणति दोनों बात अन्दर में से लेनी है, आगे जाकर दोनों लेंगे। शुद्ध परिणमो या अशुद्ध परिणमो, परन्तु स्वयं से वह परिणमता है, पर से नहीं। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात बैठना कठिन पड़े, आहाहा! ऐसा यह।

मुमुक्षु : आपने सरल कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा तो सरल है। आहाहा!

ऐसा जो अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु (निजात्मा) अनन्त-अनन्त के रूप से भरपूर एक-एक गुण, आहाहा! उस गुण की संख्या का पार नहीं होता और ऐसे-ऐसे अनन्त गुण (और) एक-एक गुण में (अनन्त गुण का) रूप है, ऐसा (आत्मतत्त्व)। आहाहा! भले उसका क्षेत्र असंख्य प्रदेश है, परन्तु बड़ा समुद्र है। वह अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु भगवान, उसकी दृष्टि होने से; जो दृष्टि हुई, वह पर्याय हुई, उसका कर्ता वह द्रव्य है। यहाँ अभिन्न से वर्णन करना है न! नहीं तो वह पर्याय हुई है, वह पर्याय कर्ता से हुई है। यहाँ तो अभी अभिन्न से बात है न! तो अभिन्न से यह। आहाहा! इस सम्यग्दर्शन की पर्याय का कर्ता, वह द्रव्य है। यह सम्यग्दर्शनपर्याय वह कर्ता का कर्म है, और सम्यग्दर्शनपर्याय वह पूर्व की अवस्था पलटकर हुई है, वह क्रिया है, वह भी द्रव्य की है। आहाहा!

इसी प्रकार मिथ्यात्वदशा में राग के परिणाम जो कोई (होते हैं), कोई गुण राग करे, ऐसा (आत्मा में) कोई गुण नहीं है, इसलिए उसे दृष्टि (आत्म) द्रव्य की नहीं, उसकी दृष्टि राग के ऊपर, पर्याय के ऊपर है। इसलिए वह पर्यायदृष्टिवाला जीव, राग को करे, वह अज्ञानी का कर्तव्य अर्थात् कर्म है, वह राग उसके परिणाम करे, वह उसका कर्म है—

कार्य है, उसका कर्ता अज्ञानी आत्मा है। है तो पर्याय, पर्याय की कर्ता परन्तु अभी अभिन्न लेकर वर्णन करना है। आहाहा! इस राग की क्रिया का कर्ता अज्ञान आत्मा, राग का परिणाम उसका कर्म और कर्ता स्वयं, तीनों ये अवस्थायें आत्मा की-अवस्था, वह आत्मा और आत्मा द्रव्य, वह अवस्था और अवस्था वह द्रव्य, ऐसा अभी सिद्ध करना है। समझ में आया?

(आचार्यदेव) संवर अधिकार में कहे कि अवस्था के प्रदेश भिन्न है, वह अभी यहाँ सिद्ध नहीं करना और अतद्भाव में भी वह (अतत्) यह अभी सिद्ध नहीं करना। पर्याय, वह गुण नहीं और गुण, वह पर्याय नहीं। अतद्भाव से, तथापि प्रदेश सबके एक हैं। प्रदेश भिन्न है, वहाँ (संवर अधिकार में) वह अभी सिद्ध नहीं करना है। परन्तु संवर अधिकार में और दूसरे प्रकार से जब शुद्ध अवस्था उसका कर्म है, तब कर्ता आत्मा है, ऐसा भिन्न करके निर्मल परिणाम का कर्ता आत्मा है, निर्मल परिणाम कार्य, निर्मल परिणाम पलटकर हुआ, इसलिए वह क्रिया आत्मा की है। उसमें परद्रव्य का कुछ क्षयोपशम हुआ, इसलिए वह क्रिया इसमें हुई, ऐसी कोई अपेक्षा नहीं है। समझ में आया? आगे गया!

भावार्थ- यहाँ तो ऐसा कहते हैं, आहाहा! भावार्थ है न, **एक वस्तु की अनेक पर्यायें होती हैं; उन्हें परिणाम भी कहा जाता है और अवस्था भी कहा जाता है। वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि से भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होती हैं...** क्योंकि एक का नाम पर्याय, एक का नाम द्रव्य, एक का नाम क्रिया, एक का नाम अक्रियद्रव्य, एक का नाम परिणाम, एक का नाम परिणामी—ऐसी-ऐसी संज्ञा है। है? संख्या, द्रव्य एक है और पर्याय अनेक है, (गुण अनेक है), यह संख्या, लक्षण और प्रयोजन आदि से भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होते हैं। **तथापि एक ही वस्तु है...** अभी तो यह सिद्ध करना है न! यह तो धीर का काम है, भाई!

और.... जहाँ निश्चय सिद्ध करना हो, वहाँ भी राग है, कर्ता, निर्मल पर्याय का, ऐसा नहीं, निर्मल पर्याय का कर्ता आत्मा—धर्म की पर्याय का कर्ता आत्मा, धर्म परिणाम वह उसका कार्य-कर्म, पूर्व की अवस्था पलटकर जो धर्मक्रिया हुई, वह क्रिया—ये तीनों वस्तु की है। यह राग है, उसके कारण पलटा है और उसका कार्य है और कर्म है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो (कहते हैं कि) है न? **तथापि एक ही वस्तु है, भिन्न नहीं ऐसा ही भेदाभेदस्वरूप वस्तु का स्वभाव है।** देखो! एक ओर पर्याय-परिणाम और यह परिणामी, ऐसा भेद हुआ, तथापि परिणाम, वह परिणामी का ही परिणाम (कार्य-कर्म), वह परिणाम उसके ही, ऐसा भेदाभेद से कथन है। कहो, त्रिभोवनभाई! समझ में आया या नहीं? ऐसी ही भेदाभेदस्वरूप वस्तु है। क्या कहा? संज्ञा, संख्या, लक्षण से तो भेद है। है न? तथापि वस्तुरूप से अभेद है। परिणाम उसके हैं—उसका कार्य है और उसका वह कर्ता है।

मुमुक्षु : प्रदेश भिन्न नहीं हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रदेश भिन्न नहीं है। आहाहा! यह ५२ (श्लोक पूरा) हुआ।

कलश-५३

और कहते हैं कि:-

(आर्या)

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्यादनेक-मनेक-मेव सदा।।५३।।

श्लोकार्थ : [न उभौ परिणमतः खलु] दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, [उभयोः परिणमः न प्रजायेत] दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और [उभयोः परिणति न स्यात्] दो द्रव्यों की एक परिणति-क्रिया नहीं होती; [यत्] क्योंकि जो [अनेकम् सदा अनेकम् एव] अनेक द्रव्य हैं, सो सदा अनेक ही हैं, वे बदलकर एक नहीं हो जाते।

भावार्थ : जो दो वस्तुएँ हैं, वे सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेशभेदवाली ही हैं। दोनों एक होकर परिणमित नहीं होती, एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करती और उनकी एक क्रिया नहीं होती-ऐसा नियम है। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों तो सर्व द्रव्यों का लोप हो जाये।।५३।।

कलश - ५३ पर प्रवचन

नोभौ परिणमत: खलु परिणामो नोभयो: प्रजायेत।
उभयोर्न परिणति: स्यादनेक-मनेक-मेव सदा।।५३।।

(आहाहा!) **'स्वादनेक-मनेक-मेव सदा' दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते।** राग आत्मा में होता है तो आत्मा भी राग करे और कर्म भी राग करे (-करावे) ऐसा नहीं होता। लो ठीक! उसमें जयसेनाचार्य की टीका में भी ऐसा फरमाते हैं कि दो कारण से कार्य होता है। निमित्त और उपादान, दो से, पर और स्व से दो से होता है। वह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। आहाहा! यहाँ देखो न, यह क्या कहते हैं? **दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते।** आत्मा राग भी करे और कर्म भी राग करे—ऐसे दो द्रव्य मिलकर राग होता है, ऐसा नहीं है। अथवा कर्मबन्धन की पर्याय कर्म भी करे और आत्मा भी करे, एक परिणाम के दो द्रव्य कर्ता नहीं होते हैं। समझ में आया?

यहाँ तो स्पष्ट कहा—राग और द्वेष, कर्म हैं; इसलिए होते हैं, इसका निषेध ही है। यही प्रश्न वहाँ था न! वर्णीजी के साथ। (वे कहें), राग है, वह इस कर्म के निमित्त से होता है, इसलिए विभाव है। उसका कारण न मानो तो (राग) स्वभाव हो जायेगा! वह तो यहाँ तो इनकार ही करते हैं। जीव में अज्ञानी को जो राग-द्वेष होता है, उसका कर्ता भी एक ही (वह) जीव है। कर्म भी कर्ता है निमित्त है इसलिए, ऐसा नहीं है (और) विकार है, इसलिए भी कर्म करता है-निमित्त है इसलिए, (ऐसा) नहीं है। विशेष कहा जायेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १७६, श्लोक-५३-५४-५५ दिनांक २३-०१-१९७९, मंगलवार, पौष कृष्ण-१०

श्री समयसार, ५३ कलश है। ५३ है न! फिर से।

नोभौ परिणमत: खलु परिणामो नोभयो: प्रजायेत।
उभयोर्न परिणति: स्यादनेक-मनेक-मेव सदा।।५३।।

५३ है न? '**नोभौ परिणमतः खलु' दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते...** क्या कहते हैं? आत्मा और कर्म दोनों साथ में हैं, तो आत्मा रागरूप परिणमे और कर्म की पर्यायरूप (भी) परिणमित हो, ऐसा नहीं होता। दो द्रव्य एक होकर नहीं परिणमते, अथवा आत्मा में जो रागादि होते हैं, तो आत्मा भी राग करे और कर्म भी राग करे, ऐसे दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते। आहाहा!

कर्म से विकार होता है, वह विकार कर्म से (ही) होता है, ऐसा कहते हैं न! वह झूठ है। दो द्रव्य मिलकर एक परिणाम नहीं करते—दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते। आहाहा! आत्मा राग करे कदाचित् अज्ञानभाव से तो राग भी करे और शरीर को भी चलावे—शरीर की क्रिया भी चलाने की कर सके, ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा!

दो द्रव्य-दो पदार्थ एक होकर-मिलकर परिणमित नहीं होते। '**उभयोः परिणामः न प्रजायेत' दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता।** आत्मा का परिणाम और जड़ (शरीर आदि के) परिणाम, यह दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता। आत्मा में राग होता है, तो दो द्रव्यों से राग है, ऐसा नहीं है। शरीर चलता है तो आत्मा और शरीर दोनों मिलकर चलते हैं, ऐसा नहीं है। दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता। दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता। (प्रत्येक) द्रव्य के भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई!

(कहते हैं) प्रत्येक पदार्थ, आत्मा हो या परमाणु, अपने-अपने परिणाम को करता है, (परन्तु) दो (पदार्थ) मिलकर (एक होकर) एक परिणाम को नहीं करते और एक दूसरे का नहीं कर सकते। तीन काल में नहीं कर सकते। कहते हैं, यह हिलना-चलना -बोलना यह सब क्रिया जड़ की है, उसे आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! यह धन्धा-दुकानें चलाते हैं न, वह धन्धे की क्रिया के परिणाम जड़ करे और आत्मा भी वह परिणाम करे, ऐसा नहीं होता।

आत्मा अपने में राग करे और जड़ की पर्याय जड़ करे, ऐसा है। (परन्तु) दोनों मिलकर एक का परिणाम नहीं होता। एक द्रव्य दो परिणाम का कर्ता नहीं है। आहाहा! आत्मा राग भी करे और पर की दया भी पाल सके, ऐसा नहीं होता।

मुमुक्षु : कम्पनी बनाकर सब इकट्ठे काम करते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं करते, सब अपने-अपनी पर्याय को करते हैं। आहाहा! कारखाना चलाते हैं तो कारखाना की पर्याय जो है, वह कारखाना के परमाणु से वह होती है। यह मनुष्य चलाता है कारखाने को, ऐसा तीन काल में नहीं है। मनुष्य अपने राग को करे! पर की पर्याय पर से होती है और (मनुष्य को) राग होता है, उसमें दोनों मिलकर राग होता है, ऐसा भी नहीं है। कर्म और आत्मा, दोनों मिलकर, आत्मा में राग होता है - ऐसा भी नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म! यह है न! दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता।

और **'उभयोः परिणतिः न स्यात्' दो द्रव्यों की एक परिणति-क्रिया नहीं होती।** परिणति (क्रिया) दो द्रव्यों की मिलकर पलटकर होती है, ऐसा नहीं है। यह शरीर भी पलटे और आत्मा भी पलटे, दोनों की क्रिया (एक परिणति) में, ऐसा नहीं है। शरीर शरीर से पलटता है, आत्मा आत्मा से परिणमता है—दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता। आहाहा! दो द्रव्यों की एक परिणति—क्रिया नहीं होती। आहाहा! क्योंकि **'अनेकम् सदा अनेकम् एव' अनेक द्रव्य हैं सो सदा अनेक ही हैं, वे बदलकर एक नहीं हो जाते।** क्योंकि अनेक द्रव्य हैं और सदा अनेक ही हैं—सदा द्रव्य अनेक ही हैं, अनेक एक होकर परिणमन करे, ऐसा कभी नहीं होता। आहाहा! आत्मा भक्ति का-पूजा का राग भी करे और शरीर की 'स्वाहा' ऐसी क्रिया भी करे, ऐसा कभी नहीं होता। आत्मा इच्छा भी करे और भाषा की पर्याय भी करे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई!

'उभयो' दो द्रव्यों की एक क्रिया नहीं होती। क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं, वे तो सदा अनेक ही हैं, वे बदलकर एक नहीं हो जाते। कोई द्रव्य बदलकर दोनों (द्रव्य) एक नहीं हो जाते। भिन्न-भिन्न अपनी परिणति को सब करते हैं। परमाणु, वह परमाणु अपनी-अपनी पर्याय को करता है और आत्मा (प्रत्येक आत्मा) अपने परिणाम को करता है। आत्मा शरीर की क्रिया करे और शरीर की क्रिया शरीर भी करे और शरीर आत्मा को राग भी करे, ऐसा कभी नहीं होता। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

आत्मा इच्छा भी करे और शरीर को हिला सके, पैर को (हिला सके) ऐसी दो द्रव्यों की एक क्रिया नहीं होती। आहाहा! जड़ की क्रिया चलने की जड़ से होती है और राग, आत्मा से अज्ञानभाव से राग का कर्ता आत्मा होता है। आहाहा!

भावार्थ - दो वस्तुएँ हैं, वे सर्वथा भिन्न ही हैं। सर्वथा भिन्न ही हैं, कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न, ऐसा नहीं है। अनेकान्त है न! कि दो द्रव्य एक भी हैं और दो द्रव्य भिन्न भी हैं। (यह अनेकान्त?) ऐसा है नहीं। आया था न रात्रि में एकत्व, सर्वार्थसिद्धि में—दो द्रव्यों की एक क्रिया होती है, पर में आत्मा जब राग करे और कर्मबन्धन हो तो दोनों एक हो जाते हैं, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। आहाहा! कर्म की पर्याय कर्म में होती है, आत्मा की पर्याय आत्मा में होती है, कोई दोनों मिलकर एक (पर्याय) नहीं होती। और एक (द्रव्य) दोनों के परिणाम नहीं कर सकता, दोनों मिलकर एक परिणाम नहीं होता और एक द्रव्य के दो परिणाम कभी नहीं होते। आहाहा! ऐसा है। सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म! दो वस्तुएँ हैं, वे सर्वथा भिन्न ही हैं। 'सर्वथा' कहा।

आत्मा और कर्म सर्वथा भिन्न है। कर्म और आत्मा कथंचित्-व्यवहार से एक है और निश्चय से भिन्न है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आत्म और परमाणु आदि दो द्रव्य जो भिन्न (भिन्न) हैं सर्वथा-सर्वथा भिन्न ही है, ऐसा कहा है। कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है, एक है - (ऐसा नहीं है)। (देखो!) यह शरीर और आत्मा, एक साथ रहते हैं तो (भी) है भिन्न-भिन्न! शरीर की क्रिया शरीर से होती है, आत्मा की क्रिया आत्मा से होती है। सर्वथा भिन्न है। कथंचित् एक है, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा!

दोनों एक होकर परिणमित नहीं होती... दो द्रव्य एक होकर क्रिया उसकी परिणति की-बदलने की नहीं होती। आहाहा! **एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करती...** दोनों एक होकर एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करती, ऐसा कहते हैं। है? दोनों एक होकर क्रिया नहीं करती-परिणति बदलती है, दोनों एक होकर (ऐसा नहीं होता)। एक परिणाम को दोनों होकर उत्पन्न नहीं करती। आहाहा! पैर चलता है, वे पैर के परमाणु जो हैं, वे चलने की क्रिया के कर्ता है और आत्मा भी उसकी क्रिया का कर्ता है, ऐसा है नहीं। आत्मा चलने की क्रिया करे और आत्मा राग भी करे, ऐसे दो द्रव्यों की क्रिया नहीं कर सकता।

आहाहा! भारी कठिन! पूरा दिन करे और ऐसा कहना कि करता नहीं (कर नहीं सकता)। मानता है यह तो।

यह तो (वाणी निकली) भाषा पर्याय तो परमाणु में भाषा पर्याय होने की योग्यता से बोली जाती है। परमाणु में भाषावर्गणा की पर्याय होने की योग्यता होती है तो पर्याय होती है, आत्मा से नहीं-होंठ से नहीं।

मुमुक्षु : ....बहुत परमाणु इकट्ठे होकर... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे तो बहुत इकट्ठे हैं-बहुत साथ में हैं, बहुत एक साथ हैं परन्तु पर्याय प्रत्येक परमाणु की भिन्न-भिन्न होती है। भाषा, एक-एक परमाणु की पर्याय में भाषा होने की योग्यता से वह भाषा होती है, एक हुई है, ऐसा नहीं है। भाषा में भी एक-एक परमाणु की पर्याय स्वतन्त्र अपने से है। सब मिलकर भाषा की पर्याय हुई है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा काम है! क्या?

मुमुक्षु : फिर पुद्‍गलास्तिकाय क्यों कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्‍गलास्तिकाय है तो अस्तिकाय है तो उसमें बहुत परमाणु हैं। अस्ति है, प्रदेश बहुत हैं, वहाँ (स्कन्ध में-अस्तिकाय में), एक परमाणु तो अस्तिकाय नहीं है, (शुद्ध) एक ही है (परन्तु) बहुत मिले हुए को अस्तिकाय कहा जाता है। मिले हुए अर्थात् एकसाथ रहते हैं। परन्तु किसी के परिणाम का कर्ता कोई (दूसरा) है नहीं।

इस अँगुली में अनन्त परमाणु हैं। तो उसमें जो एक परमाणु है, वह दूसरे परमाणु की क्रिया नहीं कर सकता। एक परमाणु है, वह स्कन्ध में भी अपनी पर्याय स्वतन्त्र करता है, पर की (दूसरे परमाणु की) पर्याय नहीं करता और पर और अपनी-दोनों की पर्याय एक नहीं होती। ऐसा है। सूक्ष्म तत्त्व है, यह वीतराग का। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने सर्वज्ञपने से देखा है और ऐसा है। लॉजिक से-न्याय से भी ऐसा सिद्ध होता है। यह कहा न अनेक हैं, वे अनेक ही रहते हैं। अनेक हैं, वह एक की क्रिया अनेक करे तो दूसरे द्रव्यों का नाश हो जाये। एक तत्त्व, दूसरे तत्त्व की (द्रव्य की) क्रिया करे तो दूसरे द्रव्य की क्रिया इसने की, तो इसकी क्रिया का तो अभाव हुआ, तब तो उसका नाश हो गया। समझ में आया?

आत्मा जो है, उसे राग जो है, उस (राग को) कर्म करे, तो राग की पर्याय का कर्ता, कर्म हुआ तो (राग) पर्यायवाला (आत्म) द्रव्य नहीं रहता तो (पर्याय बिना के द्रव्य का) नाश हो गया। और आत्मा राग करे और कर्म की पर्याय भी करे (-कर्म बाँधे) तो कर्म की पर्याय जो है, उस पर्याय को यह (आत्मा करे), उस पर्याय को यह करे तब तो पर्याय बिना का द्रव्य हो गया—सब द्रव्यों का नाश हो जाये।

(१) कुम्हार अपने राग को (इच्छा को) भी करे और घट की पर्याय को भी करे, तो घट की पर्याय वह (मिट्टी) द्रव्य की है, तो (घट की) पर्याय तो उसने (कुम्हार ने) की तो यह पर्याय बिना की (मिट्टी) द्रव्य हो गया तो पर्याय बिना का द्रव्य (तो होता नहीं)। पर्याय बिना का (मिट्टी) द्रव्य हो गया तो उसका नाश हो जायेगा। समझ में आया? आहाहा!

(२) रोटी बनती है, उस रोटी को स्त्री बना सके, ऐसा नहीं है, क्योंकि रोटी के (आटे के) परमाणु रोटीरूप हुए, वह पर्याय परमाणु से हुई है और वह रोटी की पर्याय दूसरा (कोई) करे तो वह पर्याय बिना का द्रव्य हो जाये, पर्याय बिना का द्रव्य, वह द्रव्य ही नहीं रहता। ऐसा है!

(३) कपड़ा है-टोपी है लो न, यह टोपी जो यहाँ (सिर के ऊपर) है, अपनी पर्याय से यहाँ है, इस शरीर की इस पर्याय से नहीं, शरीर की पर्याय से (सिर की पर्याय से) यदि यह यहाँ हो तो इसकी पर्याय का तो अभाव हो गया, इसकी (टोपी की) पर्याय का अभाव हुआ तो बिना पर्याय द्रव्य का नाश हो गया—पर्याय बिना का द्रव्य (कभी) नहीं होता। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

(४) अक्षर, जो (अक्षर) लिखे जाते हैं अक्षर-अक्षर (वह) अनन्त परमाणु की वह पर्याय है। एक-एक परमाणु की पर्याय भिन्न-भिन्न है, ऐसे अक्षर की पर्याय यदि आत्मा करे या (हाथ की) अँगुलियाँ करें, लो न! तो अक्षर की पर्याय अँगुली करे तो अक्षर की पर्याय बिना का (वह परमाणु) द्रव्य हुआ तो पर्याय बिना के द्रव्य का नाश हो जायेगा। आहाहा! समझ में आया?

(५) यह अँगुली है, इसकी यह अवस्था (वांकी-सीधी होने की), उसे परमाणु

करते हैं और यदि उसे आत्मा करे तो परमाणु पर्याय बिना के हुए, पर्याय बिना का द्रव्य होता नहीं। (इसलिए पर्याय बिना के) द्रव्य का नाश हो जाता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म! लोगों को तो दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो! आहाहा!

जो दो वस्तुयें हैं वे सर्वथा भिन्न ही है... यह 'सर्वथा' के ऊपर वजन है। एक परमाणु दूसरे परमाणु से सर्वथा भिन्न है, एक आत्मा कर्म के परमाणु से सर्वथा भिन्न है, कर्म के परमाणु आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! एक परमाणु में चार गुण रूक्षता की पर्याय-दशा हो, और दूसरे परमाणु में छह गुण की हो, तो दोनों मिलकर छह (गुण रूक्षता) हो जाती है, ऐसा नहीं है। छह वाला (परमाणु) है, उसने (दूसरे परमाणु की पर्याय) छह की, यह छह की पर्यायवाला द्रव्य (परमाणु) पर्याय बिना का हो गया, पर्याय बिना का द्रव्य नहीं रहता। समझ में आया? वीरचन्दभाई! ऐसा सूक्ष्म है। जगत से भारी कठिन काम! यह तो जहाँ हो वहाँ हम करते हैं... हम करते हैं। आहा!

आत्मा और एक परमाणु तथा एक परमाणु और दूसरे परमाणु, दोनों वस्तुयें हैं, वे सर्वथा भिन्न ही है—सर्वथा भिन्न है। आत्मा और यहाँ कर्म जो है, वे (दोनों) सर्वथा भिन्न है। कथंचित् एक है और कथंचित् भिन्न है, ऐसा है नहीं। आहाहा! **प्रदेशभेदवाली ही है...** प्रत्येक चीज़, अपने प्रदेश जो अंश क्षेत्र का है, उससे सब अपने प्रदेशवाली (चीज़) है। आत्मा के प्रदेश आत्मा में हैं, परमाणु का प्रदेश परमाणु में है। **दोनों एक होकर परिणमित नहीं होती।** दो द्रव्य एक होकर बदलने की क्रिया नहीं होती। जैसे (मिट्टी के) पिण्ड में से बदलकर जैसे घड़ा होता है, वह क्रिया पिण्ड की क्रिया बदलने की मिट्टी की ही है। कुम्हार (घड़ा घड़ता है), वह पिण्ड में से घड़े की पर्याय (कुम्हार) करता है-बदलाता है तो उस बदलने की पर्याय बिना का मिट्टी का पिण्ड रहा। पर्याय बिना का द्रव्य तो नाश हो जायेगा। आहाहा! लॉजिक से तो है परन्तु सूक्ष्म बात है न, भाई! आहाहा! बहुत सरस बात है। **दोनों एक होकर परिणमित नहीं होती। एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करती।** दो पदार्थ एक पर्याय को उत्पन्न नहीं करते। आहाहा!

दो द्रव्य हैं, वे अपने-अपने परिणाम को करे परन्तु दो द्रव्य मिलकर एक परिणाम को करे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! **और उनकी एक क्रिया नहीं होती - ऐसा नियम है।** ऐसी वस्तु की मर्यादा है। वस्तु अपनी मर्यादा में अपनी पर्याय करती है (परन्तु) अपनी

मर्यादा छोड़कर पर की (पर्याय को) करे, आहाहा! और पर से अपने परिणाम हों, ऐसी वस्तु की मर्यादा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : किसी को पर का काम करने में मदद नहीं करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे, धूल करे। मदद कौन करे? आहाहा! भिन्न-भिन्न पदार्थ, कौन मदद करे? किसी का कोई कर नहीं सकता। सूक्ष्म बात है, भाई!

यह कपड़ा है न, कपड़ा, ऐसे-ऐसे (उड़ता) है न! उसकी क्रिया हाथ करे? यदि हाथ करे उसकी (कपड़े की) पर्याय तो, वह द्रव्य पर्याय बिना का रह गया! वह तो उसकी पर्याय है, वह उसके परमाणु से हुई है, वह (हिलाने की) पर्याय हाथ से हुई हो तो वह पर्याय बिना का द्रव्य हो गया। पर्याय बिना के द्रव्य का नाश हो जायेगा। आहाहा! समझ में आया?

यह कहते हैं देखो! **यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों तो सर्व द्रव्यों का लोप हो जाये।** दो परमाणु एक आत्मा और दूसरा परमाणु अथवा एक आत्मा और दूसरा आत्मा, ऐसे दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों—एक होकर पर्याय में बदलने की (एक ही) क्रिया हो, तो सर्व द्रव्यों का लोप हो जायेगा। आहाहा! क्योंकि दूसरे के परिणाम को और अपने परिणाम को एक ने (एक होकर) किये तो दूसरे परिणाम बिना के द्रव्य रह गये तो (दूसरे) पर्याय बिना के हुए तो पर्याय बिना का द्रव्य होता ही नहीं। 'पर्याय विज्जुतं दव्वं'—पर्याय बिना का द्रव्य नहीं होता, आता है न पंचास्तिकाय में? पर्याय बिना का द्रव्य नहीं और द्रव्य बिना की पर्याय नहीं। आहाहा! भारी काम, भाई! आहाहा!

देखो! यह कागज है, इसकी पर्याय पलटकर ऐसे हुई, तो वह पलटने की क्रिया, अँगुली ने की हो तो वे (कागज के) परमाणु पर्याय बिना के रहे, तो पर्याय बिना का द्रव्य होता ही नहीं, तो (कागज को) अँगुलियों ने ऊँचा किया, ऐसा है ही नहीं। अरे! अरे! ऐई हिम्मतभाई!

मुमुक्षु : दिखता ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या दिखता है? ऐसा ऊँचा होता है (ऐसा दिखता है) अँगुली साथ में है, उसके कारण ऊँचा होता है? वह तो संयोग से देखा इसने, उसके (स्व)भाव

से नहीं देखा। देवीलालजी ? आहाहा! अज्ञानी को दृष्टि में भ्रमणा है। मैं मेरे (परिणाम का) कर्ता हूँ और पर का भी कर सकता हूँ, तो वह पर की पर्याय इसने की तो पर पर्याय बिना का रहा, तो पर्याय बिना का द्रव्य नहीं रहता, (ऐसे अभिप्राय में) द्रव्य का नाश हो जाता है। आहाहा! 'पर्याय विज्जुतं दव्वं' सूक्ष्म बात है, भाई! जैन परमेश्वर का कहा हुआ तत्त्व बहुत सूक्ष्म है।

ओहोहो! समय-समय की पर्याय-अवस्था, प्रत्येक पदार्थ (द्रव्य) स्वयं से करता है। यदि अपने परिणाम भी करे और पर के परिणाम भी करे, तो पर परिणाम रहित द्रव्य हो गया। उसने (पर का) किया तो यहाँ (पर में) परिणाम हुआ नहीं, तो परिणाम बिना का द्रव्य तो नाश हो जायेगा। आहाहा! अरे! आत्मा में राग है, उस (राग को) कर्म करे तो राग की पर्याय बिना का द्रव्य रह गया, कर्म ने पर्याय की भले मलिनपर्याय की, परन्तु कर्म ने की तो-कर्म ने कर्म की पर्याय की और कर्म ने राग पर्याय को भी की तो वह राग (आत्मा के) चारित्रगुण की विपरीत पर्याय जीव की थी, तो वह पर्याय कर्म ने की तो (जीवद्रव्य) पर्याय बिना का रहा (तो पर्याय बिना का द्रव्य होता नहीं)। आहाहा! न्याय से समझना पड़ेगा न, भाई! आहाहा! है ? यहाँ तो कर्म का बड़ा विवाद है, कहते हैं (वे लोग कि) बस, कर्म से विकार होता है, कर्म से विकार होता है और विकार करे तो कर्म को बँधना पड़े! राग न हो तो कर्म क्यों नहीं बँधते ? ऐसा प्रश्न था राजकोट में, बहुत वर्ष पहले। ऐसा कि राग न हो तो कर्म क्यों नहीं बँधते ? परन्तु राग है और कर्म की पर्याय कर्म से होती है, और राग न हो, तो प्रश्न ही कहाँ है। समझ में आया ?

(कहते हैं) ऐसा कि यहाँ राग किया, दया-दान का, तो वहाँ साता आदि की पर्याय बँधी, तो राग न होता तो बँधती ? परन्तु यह प्रश्न ही कहाँ है यहाँ ? राग है। बस राग है, इतना आत्मा में और वहाँ साता की पर्याय हुई वह जड़ की पर्याय से-जड़ से हुई है, वह राग से हुई यह नहीं, यदि राग से जड़ की (परमाणु की) पर्याय हुई हो तो पर्याय बिना के परमाणु कर्म के रहे, पर्याय बिना का द्रव्य रहता ही नहीं, (तब तो) नाश हो जाता है। न्याय समझ में आता है ? आहाहा! ऐसा मार्ग है !

इस गाथा के कलश बहुत ऊँचे हैं। कहो, रतिभाई! यह चश्मा लगाते हैं न ऐसे-ऐसे हाथ करते-करते (कहते हैं यहाँ कि) ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं कर सकता। ऐसा कहते

हैं, देखो, चश्मा की पर्याय ऐसी है और ऐसी होती है, वह अँगुली करे तो (चश्मा की) पर्याय अँगुली ने की, तो यह (चश्मा के परमाणु) पर्याय बिना का वह द्रव्य रह गया, तो द्रव्य का नाश हो जायेगा। चिमनभाई! पर की दया पाल सके तो पर की दया की पर्याय जो है, तो उससे उसमें (पर्याय) हुई, इसने की तो वह पर्याय बिना का द्रव्य वहाँ रह गया! क्या कहा? समझ में आया?

पर (जीव) है। शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है तो इस (परजीव को) जीवित रखता है-पर (के ऊपर) राग हुआ तो मैं (इस जीव को) जीवित रखता हूँ। (उसमें) उसकी पर्याय इस राग ने की, तो वह पर्याय बिना का द्रव्य रह गया, तो पर्याय बिना का द्रव्य नाश हो जायेगा। अहाहा!

मुमुक्षु : वह भागीदार होकर करता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं, भागीदार (होकर) करे पर्याय का, तो भी नाश हो गया। आहाहा! दो पदार्थ भिन्न-भिन्न है, आत्मा और कर्म, यदि आत्मा में राग का कार्य, कर्म करे तो राग की पर्याय उस समय की है, पर्याय का-त्रिकाल पर्याय का अंश गुण है और गुण का पिण्ड वह द्रव्य है। तो वह राग कर्म ने किया तो राग की पर्याय बिना का (आत्म) द्रव्य रह गया। तीन काल की पर्याय का पिण्ड, वह गुण है और अनन्त गुण का पिण्ड, द्रव्य है, तो (पर्याय बिना तो) द्रव्य रहा नहीं। आहाहा! समझ में आया? कठिन बात, भाई! जहाँ-तहाँ अहंकार... अहंकार... अहंकार...! हमने किया... हमने किया... हमने किया! जीव को ऐसा-ऐसा अनादि से...

आत्मधर्म बनाते हैं न, लो! आत्मधर्म पुस्तक क्या कहलाता है वह? मासिक (पत्र) वह। मासिक (पत्र) वह आत्मधर्म के परमाणु की पर्याय, दूसरा आत्मा कहे कि मैंने बनाया, बराबर अक्षर ठीक करके, तो वह परमाणु की जो पर्याय है, वह तूने की तो वह तो उस पर्याय बिना का द्रव्य रहा, उस द्रव्य का तो नाश हो जायेगा।

मुमुक्षु : परमाणु ने क्या किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : परमाणु ने किया कुछ नहीं। इसने किया, तब तो वह पर्याय बिना का द्रव्य रह गया, तो (उस परमाणु द्रव्य का) नाश हो जायेगा। आहाहा!

मुमुक्षु : कोई किसी को सहकार नहीं कर सकता, ऐसा हुआ!

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं कर सकता तीन काल में! कहो, मलूकचन्दभाई! सुनायी देता है या नहीं यह? आहाहा! भारी काम, भाई! क्या सिद्धान्त रखा!!

जो एक तत्त्व है... वह दूसरे तत्त्व के परिणाम उसके स्वयं से होते हैं, ऐसा नहीं, होकर तुझसे हुए, तो परिणाम बिना का वह द्रव्य परिणामी नहीं रहता। आहाहा! कौन-कौन आये हैं? जयन्तीभाई और हसमुखभाई आये हैं। ठीक! आहाहा! अरे! ऐसा कहाँ है, भाई!

आत्मा ऐसा माने कि मैंने उपदेश किया, तो (उसमें) उपदेश की पर्याय परमाणु की है, वह आत्मा ने की, तो पर्याय बिना के शब्द रह गये, पर्याय बिना के परमाणु रहे, यह भी झूठ है और परमाणु की पर्याय (भाषा की-शब्द की) हुई तो सुननेवाले को ज्ञान हुआ, परमाणु की भाषा आयी और यहाँ ज्ञान हुआ, तो यहाँ पर्याय है (ज्ञान की) वह ऐसी भाषा ने की, तो वह पर्याय बिना का द्रव्य वहाँ रह गया।

मुमुक्षु : कर्म के क्षयोपशम से तो काम होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म के क्षयोपशम से बिल्कुल नहीं। यही विवाद है न!

कर्म है, वह अपनी पर्याय में कर्ता है और यहाँ क्षयोपशम की पर्याय आत्मा अपने से करता है। कर्म का उघाड़ हुआ तो यहाँ विकास हुआ, ऐसा बिल्कुल नहीं। बड़ा विवाद था न यह, २०१३ के वर्ष, बाईस वर्ष पहले। आहाहा! कर्म का क्षयोपशम होवे तो... क्षयोपशम अर्थात्? वह तो कर्म की अवस्था जड़ की है, उसके कारण यहाँ ज्ञान की पर्याय का विकास हुआ हो तो वह कर्म की पर्याय भी हुई और यह विकास उससे हुआ, तो वह पर्याय बिना का द्रव्य (आत्मद्रव्य) रह गया। रतिभाई? यह तो न्याय से पकड़ में आता है। भाषा भले सादी हो परन्तु.... आहाहा!

कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई,
अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई।

आहाहा! कर्म, कर्म की पर्याय करे; आत्मा, आत्मा की पर्याय अज्ञानभाव से राग करे, अज्ञानभाव से। ज्ञानभाव से तो राग होता है और तो ज्ञान में ज्ञेय बनाता है तो ज्ञान की

पर्याय, वह ज्ञान की पर्याय करे और राग भी करे, ऐसा नहीं है। आहाहा! और सूक्ष्म बात आ गयी। यह तो यहाँ ज्ञान की बात (अभी इसमें) नहीं। यहाँ तो मात्र परिणाम, (परिणामी से होता है।) शुद्ध करे या अशुद्ध, वह परिणाम उसका अपना है, बस! पर के परिणाम पर में होते हैं।

पर के परिणाम से अपने में अशुद्धता हुई, मिथ्यात्व परिणाम जीव में हुए तो वह दर्शनमोह का उदय हुआ, उससे मिथ्यात्व परिणाम हुए, तो मिथ्यात्व परिणाम जो है, वह श्रद्धागुण की विपरीत पर्याय है तो यदि वह पर्याय पर ने (दर्शनमोह ने) की, तो वह पर्याय तो रही नहीं, पर्याय बिना का गुण नहीं और गुण बिना का द्रव्य नहीं। आहाहा! ऐसा अब मानना इसमें कहाँ?

कर्म का ऐसा तीव्र उदय आवे, लो, मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में भी ऐसा कहा है, कि तीव्र उदय होवे तो पुरुषार्थ नहीं कर सकता, मन्द उदय होवे तो कर सकता है, वह तो किस अपेक्षा से कथन है? तीव्र वीतरागभाव छोड़कर तीव्र विकार आत्मा करे तो उस समय कर्म के उदय को उदय कहा जाता है। यहाँ तो तीव्र करे इसलिए वहाँ तीव्र का उदय, ऐसा नहीं है। कर्म का उदय अन्दर मन्द हो और विकार तीव्र करे, वह तो स्वयं से करता है और कर्म का उदय तीव्र हो और यहाँ (अन्दर) राग की मन्दता करे, वह अपने से (आत्मा से) है, पर से बिल्कुल नहीं। आहाहा! ऐसा है।

धर्म समझना हो तो प्रत्येक की पर्याय अपने से होती है, किसी की पर्याय (दूसरी) किसी से नहीं होती, ऐसा समझकर फिर द्रव्यदृष्टि करना। यह राग का भी करनेवाला मैं हूँ, फिर यह भी छोड़ देना पड़े। राग के परिणाम मैं करता हूँ, मेरे परिणाम मेरे हैं और कर्म राग कराता नहीं, इतने निर्णय में तात्पर्य फिर ऐसा है कि राग भी मेरी पर्याय नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ, उसकी विकारी पर्याय कैसे हो? आहाहा! समझमें आया? आहाहा!

पहले तो राग का कर्ता मैं हूँ, कर्म उसका कर्ता नहीं, ऐसा निर्णय करके, इसमें तात्पर्य क्या? उसमें आत्मा को लाभ क्या? कि राग का कर्ता मैं हूँ और मेरी विपरीत पर्याय है, तो मेरा स्वभाव विपरीत नहीं; मेरी चीज़ तो निर्मलानन्द शुद्ध चैतन्य प्रभु है, ऐसी दृष्टि हुई कि राग के परिणाम का कर्ता था, वह कर्ता छूट जाता है। आहाहा!

कलकत्ता, मुम्बई और दिल्ली उसमें क्या यह सब लगायी, कहते हैं। पूरे दिन धमाल... धमाल चलती हो ऐसे। हजारों मण के कपड़े के ढ़ेर, बड़े क्या कहलाते हैं। तुम्हारे? ट्रक हैं न मुम्बई में, ट्रक भर-भरकर कपड़े होते हैं, दुकान में उतारे न, बड़े ट्रक भरे हों कपड़ों से और (दुकान में रखे) कपड़े के बाजार में। यहाँ है न सीमन्धरस्वामी भगवान का मन्दिर है, फिर ऐसे जाने पर आता है। बड़े-बड़े ट्रक कपड़े से भरे हों, उतारते हों और डालते हों। आहाहा! अरे रे! यह (ट्रक) ऊपर का कपड़ा जो है, वह नीचे उतरता है, वह उसकी पर्याय बदलने की करनेवाले वे परमाणु हैं। आदमी-मजदूर ऐसा माने कि मैंने यह ऊपर से नीचे (माल) उतारा—वह पर्याय मैंने की, तो वह पर्याय बिना का (परमाणु) द्रव्य रहा! बहुत कठिन बात! आहाहा!

यह खखार होती है न? वह परमाणु की पर्याय है, परन्तु वह परमाणु से (हुई) परन्तु खखार मुझसे हुई है, आत्मा से (हुई है) तो वह परमाणु पर्याय बिना का द्रव्य रह गया।

मुमुक्षु : परन्तु इच्छा तो की न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो मैंने नहीं कहा, कहा न कि उस इच्छा का भी कर्ता आत्मा परमार्थ से नहीं है तो... समझ में आया? परन्तु इच्छा हुई, वह इच्छा हुई तो कफ बाहर निकलता है, ऐसा भी नहीं - बिल्कुल नहीं। बहुत आगे गया! कहो, पण्डितजी! आहाहा! यह थूक है न थूक! मुँह में अमी उतरती है न नीचे (पेट में जाती है न)? वह आत्मा वृत्ति (करे) इच्छा करे, इसलिए इस थूक को नीचे उतार सकता है - यह दो क्रिया आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : वह थूक की क्रिया कौन करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी? थूक की क्रिया वह परमाणु करे नीचे उतरने की। यह इच्छा करे कि मैं नीचे उतारूँ, ऐसा है नहीं। अमी आती है न अमी, मुख में अमी, आत्मा (नीचे) उतार नहीं सकता। आहाहा! इसी प्रकार कर्म है, वह आत्मा को इच्छा नहीं करा सकता। आहाहा! क्या कहा यह? मिठास, अमी-अमी परमाणु उतरते हैं तो इसने इच्छा की और यह अमी उतरने की क्रिया हुई, ऐसा है नहीं। सूक्ष्म बात। भाई!

जैसे भिन्न तत्त्व है, वैसे भिन्नरूप से न माने और एकमेक (माने) उसकी क्रिया यह

करे और इसकी क्रिया वह करे तो तत्त्व भिन्न नहीं रहते, (तत्त्वों का-द्रव्यों का) नाश हो जाता है, इसकी तेरी श्रद्धा विपरीत है। आहाहा! ऐसी बात है।

यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों... दो द्रव्य एक होकर परिणमित हो **तो सर्व द्रव्य का लोप हो जाये...** पहले आया था न, पहले में आया था। उसमें ८६ की टीका में आया था, उस ओर देखो, है न? ८६ की टीका का भावार्थ, उसकी अन्तिम लाईन—'जड़-चेतन की एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्य पलट जाने से सर्व का लोप हो जायेगा, यह बड़ा दोष उपजे।'—यह (गाथा) ८६ की टीका का भावार्थ (अन्तिम लाईन है)। समझ में आया? ५१ कलश के ऊपर भावार्थ, टीका का भावार्थ है। समझ में आया? वह टीका के भावार्थ में कहा था और यह कलश के भावार्थ में कहा। सूक्ष्म बात, भाई! शान्ति से यह तो... टीका है न भावार्थ, अन्त में भावार्थ है न, उसकी चौथी लाईन (अन्त में) 'जड़-चेतन की एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्य पलट जाने से सर्व का लोप हो जाये-यह बड़ा दोष उत्पन्न हो।'

एक आत्मा, शरीर और वाणी और खाने-पीने की सब की क्रिया करे तो उस परिणाम का अभाव (दूसरे की पर्याय का अभाव होगा), इसलिए यदि इन सबकी क्रिया आत्मा करे—परिणाम करे तो उन सब पुद्गलों का नाश हो जायेगा, पुद्गल की अस्ति रहेगी नहीं-पर्याय बिना (द्रव्य की) अस्ति नहीं रह सकेगी। आहाहा! भारी कठिन काम। यह तो जहाँ हो वहाँ मैंने किया... मैंने किया... देखो मैंने यह बनाया और मैंने यह लिखा और मैं बोला और मैंने दूसरे को समझाया! ऐसी कठिन बातें, बापू! आहाहा!

एक आत्मा, सब शरीर को, वाणी को, मन को, दाल-भात-सब्जी और इन सबको खाने की क्रिया करे, (उसमें) एक आत्मा के परिणाम स्वयं करे और उसकी (दूसरे पदार्थों की) पर्याय को करे, तो सब परमाणु पर्याय बिना के हो जाते हैं। पर्याय बिना के द्रव्य का सबका नाश हो जायेगा। आहाहा! अनेक हैं, वे एक हो जायेंगे। अनेक हैं-अनन्त हैं, एक (द्रव्य) दूसरे का (कुछ भी) करे तो दूसरा दूसरे का करे तो ऐसे करते-करते अनेक (अनेकरूप से) नहीं रहेंगे, सब एक ही हो जायेंगे। आहाहा! कहो, शशीभाई! ऐसा बैठे, न बैठे क्या हो, भाई! ऐसा मार्ग है, यह ५३ (कलश) हुआ। अब ५४।

कलश-५४

पुनः इस अर्थ को दृढ़ करते हैं:-

(आर्या)

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एक-मनेकं यतो न स्यात्।।५४।।

श्लोकार्थ : [एकस्य हि द्वौ कर्तारौ न स्तः] एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, [च] और [एकस्य द्वे क्रिये न] एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होती; [यतः] क्योंकि [एकम् अनेकं न स्यात्] एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

भावार्थ : इस प्रकार उपरोक्त श्लोकों में निश्चयनय से अथवा शुद्धद्रव्यार्थिकनय से वस्तुस्थिति का नियम कहा है।।५४।।

कलश - ५४ पर प्रवचन

५४, कलश।

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एक-मनेकं यतो न स्यात्।।५४।।

आहाहा! **'ऐकस्य हि द्वौ कर्तारौ न स्तः' एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते...** द्रव्य अर्थात् परिणाम। एक द्रव्य के दो परिणाम के एक कर्ता नहीं होते। एक द्रव्य के (परिणाम के) दो कर्ता नहीं होते। अपने आत्मा में राग भी आत्मा करे और कर्म भी (राग को) करे, एक द्रव्य के (परिणाम के) दो कर्ता नहीं होते। आहाहा! एक परिणाम के दो कर्ता नहीं होते। आत्मा भी राग करे और कर्म भी राग करावे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! एक द्रव्य के (परिणाम के) दो कर्ता नहीं होते। और...

एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते... आहाहा! एक द्रव्य के (-परिणाम के) दो कार्य नहीं होते, एक द्रव्य का एक ही परिणाम-कार्य होता है। एक द्रव्य के (परिणाम के) दो कार्य-आत्मा राग भी करे और कर्म का बन्धन भी करे, ऐसा नहीं होता, और कर्मबन्धन

(अपना) उदय भी करे और आत्मा में राग भी करे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। आहाहा!

और **'एकस्य द्वे क्रिये न' एक द्रव्य की दो क्रियायें नहीं होती।** एक ही द्रव्य की दो पलटने की क्रिया नहीं होती। आत्मा अपनी पूर्व पर्याय से पलटकर राग करे और कर्म की पलटकर-परमाणु की पर्याय को पलटकर कर्म की पर्याय को भी करे, ऐसी दो क्रियायें नहीं होती। आहाहा! क्यों? **'एकम् अनेकम् न स्यात्' क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता...** एक द्रव्य अपने परिणामसहित है, वह दूसरे के परिणाम को नहीं करता, इसलिए अनेक द्रव्य (एक) नहीं हो जाते, **'एकम् अनेकम् न स्यात्'**— एक, अनेक हो तो एक दूसरे के परिणाम को करे, परन्तु एक, अनेक (रूप) नहीं होते, इसलिए अपने परिणाम को तो करे, पर के (परिणाम) करे नहीं। आहाहा! है?

भावार्थ :- इस प्रकार उपरोक्त श्लोक में निश्चयनय से अथवा शुद्धद्रव्यार्थिकनय से वस्तुस्थिति का नियम (मर्यादा) कहा है। वस्तु की यह मर्यादा है। आहाहा! आत्मा के अनादि से परद्रव्य के कर्ताकर्मपने का अज्ञान है। (क्या कहते हैं?) शरीर (की क्रिया मैं) करूँ, देश की सेवा करूँ, आहाहा! दुःखी को मैं मदद करूँ, आहार-पानी दूँ, दवा देकर दूसरे को (बचाऊँ)। आहाहा! **इस आत्मा के अनादि से परद्रव्य के कर्ताकर्मपने का अज्ञान है...** आहाहा! यह अज्ञान है। **यदि वह परमार्थनय के ग्रहण से...** आहाहा! अब उसका योगफल लिया वापस कि यह सब करके करना क्या है? **वह यदि परमार्थनय के ग्रहण से एक बार भी विलय को प्राप्त हो जाये तो फिर से न आवे,...** फिर से अज्ञान नहीं होता। आहाहा! (अब ऐसा कहते हैं) श्लोक-५५

कलश–५५

आत्मा को अनादि से परद्रव्य के कर्ताकर्मपने का अज्ञान है, यदि वह परमार्थनय के ग्रहण से एक बार भी विलय को प्राप्त हो जाये तो फिर न आये, अब ऐसा कहते हैं:–

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽह–मित्युच्चकै–
दुर्वारं ननु मोहिना–मिह महाहंकार–रूपं तमः।
तद्भूतार्थ–परिग्रहेण विलयं यद्येक–वारं व्रजेत्,
तत्किं ज्ञान–घनस्य बन्धन–महो भूयो भवे–दात्मनः ।।५५।।

श्लोकार्थ : [इह] इस जगत् में [मोहिनाम्] मोही (अज्ञानी) जीवों का '[परं अहम् कुर्वे] परद्रव्य को मैं करता हूँ' [इति महाहंकाररूपं तमः] ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार– [ननु उच्चकैः दुर्वारं] जो अत्यन्त दुर्निवार है वह– [आसंसारतः एव धावति] अनादि संसार से चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि– [अहो] अहो! [भूतार्थपरिग्रहेण] परमार्थनय का अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनय का ग्रहण करने से [यदि] यदि [तत् एकवारं विलयं व्रजेत्] वह एक बार भी नाश को प्राप्त हो [तत्] तो [ज्ञानघनस्य आत्मनः] ज्ञानघन आत्मा को [भूयः] पुनः [बन्धनम् किं भवेत्] बन्धन कैसे हो सकता है? (जीव ज्ञानघन है, इसलिए यथार्थ ज्ञान होने के बाद ज्ञान कहाँ जा सकता है ? नहीं जाता। और जब ज्ञान नहीं जाता, तब फिर अज्ञान से बन्ध कैसे हो सकता है ? कभी नहीं होता।)

भावार्थ : यहाँ तात्पर्य यह है कि–अज्ञान तो अनादि से ही है, परन्तु परमार्थनय के ग्रहण से, दर्शनमोह का नाश होकर, एक बार यथार्थ ज्ञान होकर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो पुनः मिथ्यात्व न आये। मिथ्यात्व के न आने से मिथ्यात्व का बन्ध भी न हो। और मिथ्यात्व के जाने के बाद संसार का बन्धन कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता अर्थात् मोक्ष ही होता है, ऐसा जानना चाहिए।।५५।।

कलश - ५५ पर प्रवचन

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽह-मित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिना-मिह महाहंकार-रूपं तमः।
तद्भूतार्थ-परिग्रहेण विलयं यद्येक-वारं व्रजेत्,
तत्किं ज्ञान-घनस्य बन्धन-महो भूयो भवे-दात्मनः ।।५५।।

आहाहा! योगफल तो वापस ऐसा कहना है न सब? यह कर्ताकर्म नहीं (ऐसा जानकर) भी वापस करना क्या? अब इसे (कहते हैं)। **'इह' इस जगत में मोही-अज्ञानी जीवों का परद्रव्य को मैं करता हूँ...** आहाहा! परद्रव्यों का मैं भला करता हूँ, परद्रव्यों को सुखी करता हूँ-परद्रव्यों को दुःखी करता हूँ, पर को जिलाता हूँ-परद्रव्यों को निभाता हूँ। यह सेठिया, ऐसे बहुत हो न पैसेवाले हों, बहुतों को निभावे न? धन्धा में नौकरों को निभावे। वह कहते थे, शान्तिलाल खुशाल (उसके पास) दो अरब चालीस करोड़ रुपये, दो अरब चालीस करोड़ रुपये। तो उनको कहा क्या अभी तक तुम कमाने के ऐसे बड़े पाप करते हो! ऐसे-ऐसे दो अरब रुपये हैं, ढाई अरब रुपये तुम्हारे पास हैं, (सुनकर) वह कहे, क्या हम हमारे लिये करते हैं, लोगों को निभाने के लिये करते हैं, ऐसा जवाब दिया, पावर फट गया (अभिमान चढ़ गया)।

मुमुक्षु : साहूकार न हो तो गरीब निभे कैसे?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी साहूकार से नहीं निभता, सब अपनी-अपनी पर्याय से निभते हैं।

(लो!) पोपटभाई को ऐसा जवाब दिया, उसके बहनोई को। पोपटभाई नहीं आते लींबडी से? यहाँ बैठते हैं। उन्होंने (उससे) कहा, यह क्या अब कितने पाप करते हो, हजारों लोगों को यह सब... तो क्या हम हमारे लिये करते हैं? हजारों लोग निभते हैं इसलिए करते हैं। इतना तो अभिमान अज्ञानियों का। आहाहा! वह जीन—चलावे न, (उसमें) हजारों लोग काम करते हैं, वहाँ एकदम सबको रोजी मिले-आजीविका मिले, उसके लिये करता है तू? मूढ है। आहाहा!

अज्ञानी जीवों का परद्रव्यों को मैं करता हूँ, **'इति महाअंकाररूपं तमः' ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार...** आहाहा! कठिन काम है। शरीर की क्रिया कर सकता नहीं, आहाहा! यह कैंसर होता है न! लो न, वह डॉक्टर कैंसर को काट नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। उसकी पर्याय वहाँ होनेवाली है, वह उससे होती है। कैसे माने! यह गले का कैंसर, छाती का कैंसर, आँख का कैंसर होता है न? आहाहा!

यह परमाणु-पुद्गल उस प्रकार की पर्यायरूप हुए है, वह पर्याय कोई दवा से रुक जाती है, वह (कैंसर की) पर्याय, (ऐसा नहीं है)। दवा से पर्याय भिन्न है और यह (रोग की) पर्याय भिन्न है। दवा की पर्याय से वहाँ (शरीर के) रोग की पर्याय मिट जाती है, (यह) अज्ञानी का भ्रम है! है?

मुमुक्षु : दया से तो मिट जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो इसकी पर्याय वहाँ मिटने का काल था, इसलिए मिट जाती है। आहाहा! ऐसा है।

अज्ञानी जीवों का परद्रव्य को मैं करता हूँ, **ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का महाअहंकाररूप अज्ञान अन्धकाररूप...** यह तो दृष्टान्त डॉक्टर का। डॉक्टर! (अरे लो न!) वकील हो, भाषा बराबर करके वापस कानून निकाले और यह करे और केस जीता दे, लो! रामजीभाई ने कितनों को जीता दिया। धूल में भी जिताया नहीं किसी को। घर का दृष्टान्त दिया जाये न! आहाहा! अरे, कौन करे भाई! भाषा ही जहाँ कर नहीं सकता, तो पर को केस जीता सके, यह बात कहाँ है, बापू! आहाहा! वह सबकी पर्याय परमाणु की उससे हुई है। आहाहा!

कहते हैं कि ऐसा जो अत्यन्त दुर्निवार अज्ञान अन्धकार! **'ननुं उचक्कै दुर्वारं'** उच्चकै अर्थात् अत्यन्त दुनिर्वार। आहाहा! अपने आत्मा के अतिरिक्त दूसरे आत्मा और दूसरे परमाणुओं का (कार्य) मैं कर सकता हूँ, आहाहा! आहाहा! पुत्र मेरा है...

मुमुक्षु : अनुभव का लाभ तो देना चाहिए न।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभव का लाभ दे? अज्ञान से माने, स्वयं २५-५० वर्ष से

धन्धा किया हो, फिर छोटे लड़कों को अनुभव दे कि देखो ऐसा करो-ऐसा करो। यह सब गप्प है समस्त। आहाहा! मार्ग अलग बापू! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आत्मा अपने अतिरिक्त, पर आत्मा और पर शरीर को अपना माने, यह मेरी स्त्री है, यह मेरे पुत्र हैं, मेरी पुत्री है, यह मेरा दामाद है। अरे रे! यह क्या है, प्रभु! वह चीज़ कहाँ तेरी है? और मैं पर को (दूसरे जीवों को) निभा सकता हूँ, मुझे लड़का नहीं तो लड़की का पति-दामाद को (पुत्र) बनाकर यहाँ घर रखूँ और निभा सकूँ-मैं भी निभूँ और उसे भी निभा दूँ। आहाहा! सब अज्ञान है, अन्धकार है।

मुमुक्षु : पैसेदार भाग्यशाली कहलाते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भाग्यशाली सब अज्ञानी के पूंछड़े हैं बड़े। कहो, चिमनभाई!

चारों ओर मैंने यह किया-मैंने यह किया। महा उद्योगपति, उद्योग मैंने बनाया (स्थापित किया), कारखाने बनाये ऐसे लाखों मनुष्यों को निभाया, वह सब अज्ञान है। पर को किया करके निभाया, यह तो मिथ्याभ्रम और अज्ञान है। अरे प्रभु! ऐसा अज्ञान अन्धकार, आहाहा! अत्यन्त दुर्निवार है।

'आसंसारतः ऐव धावति' अनादि संसार से चला आ रहा है... आसंसार-अनादि से। आहाहा! मैं पर का कर्ता हूँ और पर मेरा कर्ता है—यह तो अनादि से अज्ञान ही चला आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : मिटाना कठिन!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दुर्निवार कहा न? अज्ञानी को अभ्यास से इस कारण से अत्यन्त दुर्निवार है क्योंकि अनादि संसार चला आता है। आचार्य कहते हैं, अहो! '**भूतार्थ परिग्रहेण**' आहाहा! **परमार्थनय का ग्रहण अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनय का ग्रहण करने से...** भूतार्थ आत्मा का अनुभव करने से। आहाहा! मैं आनन्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूप हूँ, वह भूतार्थ-विद्यमान चीज़ है। वह विद्यमान चीज़ त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु भूतार्थ परिग्रहेण। वह पूर्ण पदार्थ आत्मा, उसका 'परि' अर्थात् समस्त प्रकार से अनुभव करने से, आहाहा! 'भूतार्थ परिग्रहेण' है न? परमार्थनय का ग्रहण करना-ग्रहण करना अर्थात् अनुभव करने से, आत्मा आनन्दस्वरूप है—ज्ञानस्वरूप है, उसका एक बार अनुभव कर!

अज्ञान का नाश हो जायेगा। आहाहा! गजब बातें, भाई!

'भूतार्थ परिग्रहेण' विद्यमान पदार्थ। भूतार्थ है न? ११वीं गाथा। **'भूदत्थमस्सिदो खलु'** त्रिकाली ज्ञायकभाव, अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड, एक-एक गुण में अनन्त गुण का रूप! ऐसा अनन्त गुणों का एकरूप वस्तु भगवान (निजात्मा), उसका एक बार परिग्रहेण पूरी चीज़ है, उसे परि अर्थात् समस्त प्रकार से अनुभव करने से, आहाहा! पर का तो कर नहीं सकता, परन्तु राग को भी नहीं कर सकता, ऐसा (शुद्धात्मा) परिग्रहेण करने से, आहाहा! सम्यग्दर्शन में भूतार्थ परिग्रहेण-त्रिकाली ज्ञायकभाव का अनुभव करने से, सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया?

और विशिष्टता तो यह है कि **'भूतार्थ परिग्रहेण'-परमार्थनय का अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक अभेदनय का ग्रहण-अनुभव करने से...** वस्तु अभेद-अखण्ड आनन्दकन्द है, उसका एक बार अनुभव करने से। अहो! यदि एक बार। **'तत् एकवारं विलयं व्रजेत' वह एक बार भी नाश को प्राप्त हो तो ज्ञानघन आत्मा को पुनः बन्धन कैसे हो सकता है?** एक बार भी नाश को प्राप्त हो। आहाहा! तो फिर से मिथ्यात्व कैसे हो-अज्ञान कैसे हो? ऐसा जोर दिया है, ऐसा आत्मा ही यहाँ लिया है। समझ में आया? आहाहा! गाथा ३८ में लिया था न, वही शैली यहाँ ली है। आहाहा!

परद्रव्य का अहंकार और परद्रव्य के निमित्त के संग में हुआ राग, वह भूतार्थ-त्रिकाली ज्ञायकभाव को पकड़ने से, उस राग को (अनादि से) पकड़ा है और मैं पर का कर्ता हूँ, यह (कर्ताभाव अहंकार) छोड़कर आत्मा त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु है, (उसका) एक बार भी भूतार्थ से अनुभव करने से, आहाहा! एक बार भी 'विलयं व्रजेत'—एक बार यदि अज्ञान का नाश हुआ, आहाहा! उस ज्ञानघन आत्मा को पुनः बन्धन कैसे होगा? (नहीं होगा)। अप्रतिहतभाव बतलाते हैं। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १७७, गाथा-८७, श्लोक-५५-५६ दिनांक २४-०१-१९७९, बुधवार, पौष कृष्ण-११

श्री समयसार ५५ कलश है, फिर से।

इस जगत में '**इह**' है न? '**मोही' अज्ञानी जीवों का परद्रव्य को मैं करता हूँ...** शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, पर को सुखी-दुःखी करता हूँ, यह परिवार पुत्र-पुत्री, स्त्री मेरे हैं, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उसे वह करता है, परद्रव्य को मैं करता हूँ, अर्थात् कि मिथ्यात्वभाव को करता हूँ। मिथ्यात्वभाव, वह वास्तव में परद्रव्य है। आहाहा! यह कुटुम्ब, कबीला आदि मेरे, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार मेरे, व्यापार मेरा, धन्धा मेरा, कर्म मेरे, अरे! राग-द्वेष के परिणाम भी वास्तव में मेरे, ऐसा जो परद्रव्य स्वरूप, उसे अपना माने अथवा उसका जो अभिप्राय कि यह पर मेरा, ऐसा जो मिथ्यात्व उसे जो करे, वह मिथ्यात्वरूपी भाव जो आत्मा के स्वभाव में नहीं है। उसे-उस मिथ्यात्व को करे। **ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का महाअहंकाररूप... 'ननु उच्चकैः दुर्वारम्' अत्यन्त दुर्निवार है...** अशक्य नहीं परन्तु दुर्निवार है, कठोर है, डीठ। डीठाई दशा है डीठ। मिथ्यात्व को मैं करता हूँ, परद्रव्य को मैं करता हूँ, यह डीठाई है, यह उसकी विपरीतता है, यह विपरीतता छोड़ना कठिन है। दुर्निवार का अर्थ कठिन है। आहाहा!

'**आसंसारतः एव धावति**' परन्तु यह कब से चलता है? अनादि संसार '**आसंसार**' यह अनादि संसार से मिथ्यात्व और परद्रव्य का अहंकार उसे चलता है। आहाहा! भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका अहंपना न आकर, परद्रव्य और परभाव के कर्ता का जो अभिप्राय, उसमें इसे अहंपना आता है। आहाहा! भारी कठिन काम इसमें।

पूरे दिन यह धन्धा करना, शान्तिभाई! जवाहरात का, लड़के का यह मैं करता हूँ, लड़कों को मैं सम्हालता हूँ, व्यापार-धन्धे में व्यवस्थित करता हूँ, मेरा अनुभव जो है, वह लड़के को दूँ तो लोग सरलता से धन्धा करे। ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उसे टालना बहुत दुर्निवार है, क्योंकि अनादि से है, ऐसा। अनादि से अभी तक है। आहाहा! **अनादि संसार से चला आ रहा है।**

आचार्य कहते हैं **अहो! 'भूतार्थ परिग्रहेण'** भूत-विद्यमान पदार्थ भगवान शुद्ध आनन्दकन्द घन है, आहाहा! उसे 'परिग्रहेण' समस्त प्रकार से जानना और अनुभव करना।

आहा! परमार्थनय का अर्थात् कि शुद्धद्रव्यार्थिकनय का अर्थात् कि अभेदनय का, चार शब्द प्रयोग किये हैं। जानकर, परि अर्थात् समस्त प्रकार से ग्रहेण (अर्थात्) जानकर अथवा त्रिकाली ज्ञायकभाव है, उसे वर्तमान में सर्वथा प्रकार से अनुभव कर अथवा उस परमार्थनय का जो विषय, ध्रुव, भूतार्थ द्रव्यार्थिकनय का विषय, परमार्थ कहो या शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय कहो या अभेदनय कहो, उसे जानने से, उसे अनुभव करने से। आहाहा! जो कोई पर को मैं करता हूँ, ऐसा मिथ्यात्व का जो अनुभव है, वह दुर्निवार है, अनादि का है इसलिए।

परन्तु यदि एक बार भी विद्यमान भगवान आत्मा, पदार्थ है, अस्ति है, महासत्ता है, द्रव्यार्थिकनय के द्रव्य का प्रयोजन जिसे, उस नय का विषय है। परमार्थस्वरूप है, जिसमें पर्याय का भी भेद नहीं, ऐसी अभेद चीज़ है, आहाहा! उसका यदि एक बार अनुभव किया जाये तो '**तप एकवारं विलयं व्रजेत**' **वह एक बार भी नाश को प्राप्त हो तो** '**ज्ञान घनस्य आत्मनः**' भगवान ज्ञानघन ज्ञान का पुंज ऐसा जो भगवान आत्मा। आहाहा! पुनः '**बंधनम् किं भवेत**' फिर से अब उसे एकत्वबुद्धि कैसे हो? आहाहा! यहाँ अर्थ में क्षायिक समकित लेंगे, परन्तु वास्तव में तो यहाँ अप्रतिहत भाव लिया है। जो ३८ (गाथा, समयसार) और ९२ (गाथा, प्रवचनसार) में कहा है न, वह लिया है। आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा अनादि से अज्ञान के अन्धकार में पड़ा हुआ है, परन्तु यदि एक बार ज्ञानस्वरूप भगवान पूर्णानन्द प्रभु को पकड़कर अनुभव करे तो वह फिर से पड़े नहीं, वही सम्यग्दर्शन और ज्ञान से अप्रतिहत भाव से केवलज्ञान लेगा, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! **एक बार भी नाश को प्राप्त हो तो ज्ञानघन आत्मा को पुनः...** बन्धन में एकत्वबुद्धि कैसे हो? फिर राग और पर के साथ की एकत्वबुद्धि नहीं होती।

इसमें एक भाई थे न वे, कैसे? एक नन्दलालजी थे। यहाँ (संवत्) २००० में आये थे। वे इसमें ऐसा अर्थ करते कि एक बार यदि मिथ्यात्व का नाश हो, तो फिर से उसे मिथ्यात्व होगा ही नहीं, भले वह निगोद में जाये, अन्यत्र जाये, परन्तु उसे मिथ्यात्व नहीं होगा, ऐसा वे कहते थे, ऐसा नहीं है। नन्दलालजी थे, समयसार का वाँचन करनेवाले। यहाँ आये थे (संवत्) २००० के वर्ष में। मुझे कहे, ऐसा कि हम समयसार पढ़ते हैं, तो दो-तीन व्यक्ति बैठे हों तब। यहाँ तो अपने २००० के वर्ष तुम्हारे यहाँ डेढ़ सौ-डेढ़ सौ लो,

हम समयसार पढ़ते हैं तो दो या तीन लोग बैठे हों। तब की बात है। यह तो अब तो समयसार में हजारों लोग आते हैं। ऐसा कहते कि एक बार यदि प्राप्त करे तो फिर से उसे एकत्व नहीं होता, ऐसा कहे, भिन्न ही रहता है, भले निगोद में जाये।

मुमुक्षु : परन्तु वह निगोद में जाये कैसे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ ऐसा कि उसका संसारपरित हो गया है, अर्थात् अब अपरित संसार अर्थात् दीर्घ नहीं होता, इतना। परन्तु यहाँ यह नहीं कहना।

मुमुक्षु : गिरता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो गिरता ही नहीं, ऐसा कहना है। आहाहा!

इस प्रकार भगवान विद्यमान चीज़ है, वस्तु है, पदार्थ है। जैसे अनादि का अज्ञान है, वैसे अनादि का विद्यमान पदार्थ है। आहाहा! आहाहा! ऐसी चीज़ को एक बार भी यदि सर्वथा प्रकार से अनुभव करे। आहाहा! अर्थात् कि राग की एकता तोड़कर स्वभाव की एकता का अनुभव करे, आहाहा! तो वह एकता टूटी, वह कभी एकता होती नहीं, ऐसा कहते हैं। मूल तो अप्रतिहत की बात करते हैं। आचार्य की उग्रता बहुत है। दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य की इतनी उग्रता है कि यहाँ तो कहे, हमें एक बार जो यह अनुभव हुआ तो अब हमें मिथ्यात्व फिर से होनेवाला नहीं है। आहाहा! भले क्षयोपशम समकित है, क्षायिक नहीं, परन्तु वह क्षयोपशम है, वह भी अब गिरनेवाला नहीं है। इस भाव से हम क्षायिक लेनेवाले हैं। आहाहा! लो, डंका बजा, नौ बजे, नौ। आहाहा!

'**भूतार्थ परिग्रहेण तत् एकवारं विलयं व्रजेत**' तो '**ज्ञानघनस्य आत्मनः भूयः**' **पुनः** '**बंधनम् किं भवेत्**' एकत्वबुद्धि कैसे हो ? आहाहा! ऐसा कहते हैं, फिर अर्थकार जरा क्षायिक समकित लेते हैं, परन्तु यह वास्तव में तो जो जोड़नी क्षायिक कहलाता है न, वह इसमें आता है। आहाहा! पंचम काल का जीव है और यह एक बार अन्तर में परि—समस्त प्रकार से आत्मा का ज्ञान हुआ, ग्रहण हुआ, अनुभव हुआ, वह अब फिर से गिरनेवाला नहीं है। जैसे अनादि का, वैसे यह परिग्रहण हुआ, वह आदिसहित है परन्तु अन्त बिना का है। क्या कहा यह ?

मुमुक्षु : फरमाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैसे अनादि अज्ञानात्—अज्ञान है, उसे (स्वभाव को) जहाँ एक बार अनुभव किया, वह सादि-अनन्त हो गया, यह कहते हैं। आहाहा! यहाँ अनादि था, आदि नहीं था, यहाँ अब उसका अन्त नहीं। ऐसी शैली है। आचार्य का हृदय यह है, आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

विद्यमान चीज़ है अन्दर, बेन की भाषा में तो आया था न, 'जागता जीव ध्रुव है न' ज्ञायकभाव, जागता अर्थात् ज्ञायक अभेदभाव, ध्रुवभाव, सामान्यभाव, एकरूपभाव, द्रव्यार्थिकनय का विषय, जो द्रव्य, वह भाव, परमार्थ वस्तु जो त्रिकाली, वह भाव। आहाहा! उसे यदि एक बार अनुभव में आवे तो वह वस्तु जैसे अवस्तु नहीं होती; इसी प्रकार उसका अनुभव हुआ, वह अभाव नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **'बंधनम् किं भवेत्' पुनः बन्धन कैसे हो सकता है?** उसे मिथ्यात्व का बन्धन नहीं, अर्थात् कि अब उसे मिथ्यात्व होनेवाला नहीं है। अर्थात् कि राग की एकता टूटी है, वह एकता अब होनेवाली नहीं है। आहाहा! ऐसा ही स्वरूप है, कहते हैं।

जीव ज्ञानघन है। ज्ञान का पिण्ड है। घन, घन, ज्ञान का घन है, पिण्ड है। आहाहा! ऐसा जो ज्ञानघन है, **इसलिए यथार्थ ज्ञान होने के बाद...** ज्ञानघन है, उसका यथार्थ ज्ञान होने के बाद, आहाहा! **ज्ञान कहाँ जा सकता है?** ज्ञानघन है, वह कहीं नहीं जाता। आहाहा! वह ज्ञानघन द्रव्य स्वभाव घन है, पिण्ड है, वह कहीं नहीं जाता, पर्याय में भी नहीं आता। आहाहा! ऐसा जो ज्ञानघन, उसका अनुभव होने पर, आहाहा! वह पर्याय ज्ञान कहाँ जाये? जैसे ज्ञानघन कहीं नहीं जाता, वैसे उसका ज्ञान होने पर पर्याय भी कहीं नहीं जाती। आहाहा! श्लोक बहुत सरस है। आहाहा!

यहाँ लाईन थी-डेढ़ दो, छोड़ दी, पूरा नहीं पड़े, कहा कल। परन्तु यह एक बात ऐसी है कि अन्तरवस्तु है, उसे दृष्टि पहुँच जाये और ज्ञान की पर्याय उस द्रव्य को एकत्व हो जाये, वह एकत्व हुआ, यह अब कहते हैं कि राग के साथ एकत्व नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया?

ज्ञानघन है, इसलिए यथार्थ ज्ञान होने के बाद... वह जैसा है, वैसा उसका यथार्थ ज्ञान होने के बाद। **ज्ञान कहाँ जा सकता है?** हुआ ज्ञान कहाँ जाये? आहाहा! नहीं जाता **और जब ज्ञान नहीं जाता तो फिर अज्ञान से बन्ध कैसे हो सकता है?** सूक्ष्म बात तो पड़ी,

परन्तु भाई! बहुत ऐसी बात कभी की नहीं। यह पहली-पहली हुई है यह सब। इसकी गहराई में यह है। समझ में आया?

वह ऐसा कहता था कि एक बार समकित पावे तो फिर से उसे मिथ्यात्व न हो। ऐसा कहते हैं – ऐसा नहीं है। मिथ्यात्व अज्ञान में जाये तो भी उसे मिथ्यात्व नहीं होता, ऐसा कहे, ऐसा नहीं है। यहाँ तो वह वस्तु है महाप्रभु, जिसका महा अस्तित्व सत्ता ज्ञानघन है, उसका एक बार अनुभव हुआ तो जैसे वह ज्ञानघन कहीं नहीं जाता, उसी प्रकार उस ज्ञानघन का अनुभव प्रतीति हुई—समकित हुआ वह अब नहीं जाता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो अन्तर की बातें हैं। आहाहा!

और जब ज्ञान नहीं जाता, तब फिर अज्ञान से बन्ध कैसे हो सकता है... आहाहा! उसे अब मिथ्यात्व का बन्धन ही नहीं है, कहते हैं। अस्थिरता का भले हो, वह हो। आहाहा! परन्तु भूतार्थ को परिग्रहेण—भूतार्थ एक वस्तु है, पूर्ण चीज़ महाप्रभु चैतन्य महाप्रभु, परमेश्वरस्वरूप ऐसा जो भगवान परमेश्वरस्वरूप उसे जिसने पर्यायबुद्धि छोड़कर भूतार्थ अर्थात् विद्यमान त्रिकाल का ग्रहण किया, ज्ञान किया, अनुभव किया। आहाहा! वह त्रिकाली चीज़ है, उसे अनुसरण कर अनुभव किया, अब कहते हैं कि वह अनुभव जायेगा नहीं, वह गिरेगा ही नहीं, ऐसी यहाँ तो बात ली है।

आस्रव में एक विषय बनाया है, वह शुद्धनय च्युता, यह, यह ज्ञान कराया परन्तु वस्तुस्थिति, आचार्य तो कहते हैं कि हम अभी इस प्रकार से कहते हैं। अरे! यहाँ कहते हैं कि अप्रतिबुद्ध श्रोता हो परन्तु यदि यह बात उसे समझने में अन्तर अनुभव में आवे, आहाहा! भले वह पाँचवें काल का प्राणी हो, प्राणी कोई पाँचवें काल का-चौथे काल का है नहीं। आहाहा! वह तो कालातीत वस्तु भगवान आत्मा, त्रिकाली ज्ञायकभाव त्रिकाल जिसे कोई काल लागू ही नहीं पड़ता। आहाहा! ऐसी चीज़ को जिसने अन्तर में अनुभव में लिया, उसका अनुभव अब गिरे, ऐसा नहीं है।

सम्यग्दर्शन हुआ, अब वह जानेवाला नहीं है, वह सम्यग्दर्शन भले क्षयोपशम हो, पंचम काल के प्राणी की बात यहाँ है न? यह कहनेवाले भी पंचम काल के सन्त हैं, और सुननेवाले भी हों ऐसे वे, यहाँ की यह बात है। आहाहा! समझ में आया? **कभी नहीं होता।** आहाहा! अब राग की एकता टूटी, वह कभी एकता नहीं होगी। स्वभाव की एकता हुई,

वह एकता कभी नहीं जायेगी। आहाहा! ऐसा जोर है।

भावार्थ—यहाँ तात्पर्य यह है कि.... इस टीका का नाम तात्पर्य है कि नहीं? यह तो समयसार है, प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति। आहाहा! **अज्ञान तो अनादि से ही है...** तात्पर्य ऐसा कहना है कि अब अज्ञान तो राग की एकताबुद्धि तो अनादि से है। आहाहा! **परन्तु परमार्थनय के ग्रहण से...** परमअर्थ पदार्थ भगवान आत्मा, पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द आत्मा, उसे ग्रहण करने से, उसे जानने से अर्थात् कि उसका अनुभव करने से, **दर्शनमोह नाश होकर...** आहाहा! **एक बार यथार्थ ज्ञान होकर,...** जो ज्ञाता है, उसका यथार्थ ज्ञान एक बार हो, क्षायिक समकित उपजे, तो ऐसा लिया है जरा, फिर से गिरता नहीं न, अभी पंचम काल के प्राणी क्षयोपशम ज्ञानी हैं, क्षयोपशम समकित है, इसलिए इन्होंने-अर्थकार ने जरा ऐसा लिया है, **पुनः मिथ्यात्व न आवे।** आहाहा!

यहाँ तो क्षयोपशम समकित हुआ, वह भी अब गिर-पड़े नहीं। आहाहा! ऐसा जोर है। **एक बार यथार्थ ज्ञान होकर समझे तो मिथ्यात्व न आवे। मिथ्यात्व नहीं आने से, मिथ्यात्व का बन्ध भी न हो...** वह आया था न, बन्ध कहाँ से हो? यह बन्ध की व्याख्या की। उसे मिथ्यात्व का बन्ध भी नहीं होगा। और यह 'परं अहं' है न, भाई! 'परं अहं कुर्वे' परद्रव्य का मैं करता हूँ, तब उन्होंने और ऐसा लिया है कलश-टीकाकार ने कि मिथ्यात्व है, वही परद्रव्य है। 'परं' का अर्थ ऐसा किया है। आहाहा! स्वद्रव्य स्वरूप जो है, उससे विरुद्ध मान्यता जो है, वह परद्रव्य स्वरूप है, आहाहा! वह स्वद्रव्य स्वरूप नहीं। आहाहा! और परद्रव्यस्वरूप जो मिथ्यात्वभाव, उसे स्वद्रव्यस्वरूप के अनुभव से एक बार नाश किया, आहाहा! वह स्वद्रव्य स्वरूप का अनुभव कहाँ जाये? आहाहा! ओहोहो! ऐसी बात, दिगम्बर आचार्यों के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं नहीं है। हृदय के उद्‍गार निकाले हैं। आहाहा!

और मिथ्यात्व जाने के बाद संसार का बन्धन कैसे रह सकता है? वास्तव में तो मिथ्यात्व, वही संसार है। आता है न? आस्रव (अधिकार) में (आता है), मिथ्यात्व, वह संसार है। फिर अव्रत और प्रमाद, वह तो अल्पस्थिति और अल्परस का संसार है, उसे गौण कर दिया है। आहाहा! जैसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र जैसे मोक्ष है; वैसे मिथ्यात्व, वह संसार है। क्या कहा? जैसे भूतार्थ भगवान आत्मा का अनुभव दर्शन, ज्ञान और चारित्र

को भगवान ने मोक्ष कहा है, वह मोक्ष है अथवा भगवान आत्मस्वरूप है, वह मुक्तस्वरूप ही है। 'मुक्त एव' आहाहा! मुक्तस्वरूप है, उसकी मुक्तदशा प्रगट होती है। मोक्षमार्ग की, तो वह स्वद्रव्य है। स्वद्रव्य मुक्त है, तो स्वद्रव्य की मोक्षमार्ग की दशा भी मुक्त है, और मिथ्यात्व है, वह संसार है, वह परद्रव्य है, वह संसार है। आहाहा! समझ में आया?

नहीं रह सकता अर्थात् मोक्ष ही होता है... आहाहा! ज्ञानघन भगवान प्रभु आत्मा का-घन का जहाँ अनुभव हुआ तो वह घन (जैसे) कहीं नहीं जाता, वैसे अनुभव कहीं नहीं जाता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! लो, यह बात हुई, आधे घण्टे हुई। यह मुद्दे की बात है। आहाहा! यह वार्ता-कथा नहीं। यह तो भगवत्स्वरूप प्रभु, आहाहा! भगवत्स्वरूप कहाँ जाये? ऐसे भगवत्स्वरूप का अनुभव कहाँ जाये? आहाहा! भगवानस्वरूप का जहाँ एकत्व हुआ, अब उसे फिर से राग की-भले अस्थिरता हो। आहाहा! एकत्वपना कहाँ हो अब उसे। ऐसी बात है। यह श्लोक पूरा हुआ, ५५।

मुमुक्षु : दो ५-५- है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो पाँच है।

अब ५६ श्लोक।

कलश-५६

अब पुनः विशेषतापूर्वक कहते हैं:-

(अनुष्टुप्)

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते।।५६।।

श्लोकार्थ : [आत्मा] आत्मा तो [सदा] सदा [आत्मभावान्] अपने भावों को [करोति] करता है और [परः] परद्रव्य [परभावान्] पर के भावों को करता है; [हि] क्योंकि जो [आत्मनः भावाः] अपने भाव हैं, सो तो [आत्मा एव] आप ही है और जो [परस्य ते] पर के भाव हैं, सो [परः एव] पर ही है, (यह नियम है)।।५६।।

कलश - ५६ पर प्रवचन

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते।।५६।।

आत्मा तो सदा अपने भावों को करता है। चाहे तो अशुद्धरूप परिणमो या शुद्धरूप परिणमो, ऐसा कहना है इसमें तो अब। समझ में आया? आत्मा तो सदा अपने भावों को करता है। आहाहा! अशुद्धभावों को भी यहाँ अपने कहा है अपेक्षा से, और शुद्धभाव भी अपना है, उसे करे, अपने अशुद्ध-शुद्धभाव को करता है। आहाहा! **परद्रव्य पर के भावों को करता है।** आहाहा! कर्म, शरीरादि परद्रव्य परभावों को करता है। **क्योंकि जो अपने भाव हैं, सो तो आप ही है।** आहाहा! अभेद किया, देखा? भले अशुद्ध परिणाम हो, परन्तु अपने ही है, इसलिए वह स्वयं ही है। आहाहा! ८७ गाथा में आयेंगे न दोनों, जीव-अजीव दो प्रकार। आहाहा!

अज्ञान और राग-द्वेष के भाव भी जीव के हैं, तो जीवस्वरूप ही हैं, आत्मा के हैं तो आत्मस्वरूप ही है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम आत्मा के हैं, इसलिए वे आत्मा ही हैं और कर्म के परिणाम, वे कर्म के हैं, इसलिए वे कर्म ही हैं, परद्रव्य ही हैं। इस शरीर के परिणाम शरीर के परिणाम होने से वे शरीररूप ही हैं। आहाहा! जैसे कर्म के परिणाम बन्धन होना, वे कर्म के परिणाम वे कर्म परद्रव्यस्वरूप ही है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! समझ में आया या नहीं इसमें? सूक्ष्म बहुत, बापू! आहाहा! यह वीतरागमार्ग, उसमें भी दिगम्बर सन्तों ने गजब काम किया है। काम किया है अपना, हों! यह वाणी की है, यह नहीं। आहाहा!

परद्रव्य परभावों को करता है। **क्योंकि जो अपने भाव हैं, वे तो अपने ही हैं।** आहाहा! यह विकारी भाव मिथ्यात्व और राग-द्वेष, वे जीव के होने से वे जीव-आत्मा ही हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! और जड़ के परिणाम शरीर आदि, यह हिलना-चलना, यह शरीर के होने से शरीररूप ही है। ये कर्म के परिणाम-कर्म के परिणाम वे कर्मरूप ही हैं, और आत्मा के परिणाम, वे आत्मारूप ही हैं। आहाहा! यहाँ तो पर से भिन्न दो बतलाना है न? आहाहा!

अन्यत्र फिर कहें जबकि परिणाम हैं, वे परिणाम के हैं। परिणाम, वे परिणामी के-द्रव्य के नहीं। यह दूसरी अपेक्षा से, यह तो अपने में भेद किया है। यहाँ तो अभी पर से भेद करना है। आहाहा! **आप ही है और जो पर के भाव हैं, सो पर ही है।** अब कोष्ठक में आता है।

(परद्रव्य के कर्ताकर्मपने की मान्यता को अज्ञान कहकर यह कहा कि जो ऐसा मानता है, सो मिथ्यादृष्टि है; यहाँ आशंका उत्पन्न होती है...) आशंका, हों! आपका कहना मिथ्या है, ऐसा नहीं, परन्तु मुझे उसमें समझ पड़ती नहीं, इसका नाम आशंका। **कि यह मिथ्यात्व आदि भाव क्या वस्तु है ?** मिथ्यात्व को आपने परद्रव्य कहा और एक ओर मिथ्यात्व को वापस स्वद्रव्य कहा। मिथ्यात्वादि भाव क्या वस्तु है ? **यदि उन्हें जीव का परिणाम कहा जाये, तो पहले रागादि भावों को पुद्‌गल का परिणाम कहा था...** यह राग-द्वेष मिथ्यात्व आदि सब पुद्‌गल के परिणाम हैं, यह ५० से ५५ गाथा में आ गया था न, २९ बोल में, मिथ्यात्व आदि सब पुद्‌गल के परिणाम हैं। आहाहा! और यहाँ कहते हो, वे जीव के परिणाम हैं। आहाहा!

पहले राग-द्वेष आदि भावों को **पुद्‌गल का परिणाम कहा था, उस कथन के साथ विरोध आता है; और यदि उन्हें पुद्‌गल का परिणाम कहा जाये तो जिनके साथ जीव को कोई प्रयोजन नहीं है, उनका फल जीव क्यों प्राप्त करे ?** भोगे ? यदि राग-द्वेष परिणाम पुद्‌गल के कहो तो उसका फल जीव को कैसे आवे ? प्रश्न समझ में आता है पहले ? अब ऐसी सूक्ष्म बातें। लोगों को साधारण यह धर्म क्या चीज़ है, बापू! यह कोई अलौकिक बात है, भाई! आहाहा! और उसमें ऐसा सुननेवाले भी थोड़े होते हैं, ऐसे सब यह पचास-पचास हजार इकट्ठे होकर इसमें क्या समझे! क्या कहते हैं यह ? घड़ीक में कहते हैं कि मिथ्यात्व और राग-द्वेष जीव के परिणाम हैं, घड़ीक में कहते हैं कि मिथ्यात्व और राग-द्वेष परिणाम पुद्‌गल के हैं। आहाहा!

यदि पुद्‌गल के परिणाम कहे जायें तो जिनके साथ कुछ, पर के परिणाम हैं तो आत्मा को उनका भोगना कैसे हो ? सुख-दुःख को भोगे, वह तो कर्म के परिणाम हैं। वह कर्म का फल यह आत्मा कैसे भोगे ? आपने तो सुख-दुःख को भी पुद्‌गल का परिणाम

कहा था। कहा था न ? यदि पुद्गल के हैं तो फिर जीव को कैसे भोगना, वह क्यों भोगे ? समझ में आया ? **जिनके साथ जीव को कोई प्रयोजन नहीं है, उनका फल जीव क्यों प्राप्त करे ? इस आशंका को...** यह आशंका; समझनेवाले की शंका नहीं परन्तु आशंका है। समझने के लिये यह पूछता है, तुम्हारा कहना झूठ है, ऐसा नहीं, परन्तु तुम जो कहना चाहते हो, उसमें मुझे समझ में नहीं आता। घड़ीक में कहो कि राग-द्वेष जीव के और घड़ीक में कहो राग-द्वेष जड़ के। राग-द्वेष जड़ के हों तो फिर आत्मा को भोगने का सुख-दुःख कहाँ से आया ? आहाहा! **ऐसा उपदेश, इसलिए लोगों को यह... इस आशंका को दूर करने के लिये अब गाथा कहते हैं।** यह आशंका दूर करने के लिये गाथा कहते हैं।

गाथा–८७

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीव–मजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा।।८७।।

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानम्।
अविरतिर्योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः।।८७।।

मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूरमुकुरन्दवज्जीवा–जीवाभ्यां भाव्यमानत्वाज्जीवाजीवौ।

तथाहि – यथा नीलहरितपीतादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमाना मयूर एव, यथा च नीलहरितपीतादयो भावाः स्वच्छताविकारमात्रेण मुकुरन्देन भाव्यमाना मुकुरन्द एव।

तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव, तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाश्चैतन्य–विकारमात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एव।।८७।।

(परद्रव्य के कर्ता–कर्मपने की मान्यता को अज्ञान कहकर यह कहा है कि जो ऐसा मानता है, सो मिथ्यादृष्टि है; यहाँ आशंका उत्पन्न होती है कि–यह मिथ्यात्वादि भाव क्या वस्तु हैं ? यदि उन्हें जीव का परिणाम कहा जाये तो पहले रागादि भावों को पुद्गल के परिणाम कहे थे, उस कथन के साथ विरोध आता है; और यदि उन्हें पुद्गल के परिणाम कहे जाये तो, जिनके साथ जीव को कोई प्रयोजन नहीं है, उनका फल जीव क्यों प्राप्त करे? इस आशंका को दूर करने के लिये अब गाथा कहते हैं:–)

मिथ्यात्व जीव अजीव दोविध, उभयविध अज्ञान है।
अविरमण, योग रु मोह अरु क्रोधादि उभय प्रकार है।।८७।।

गाथार्थ : [पुनः] और, [मिथ्यात्वं] जो मिथ्यात्व कहा है, वह [द्विविधं] दो

प्रकार का है – [जीवः अजीवः] एक जीवमिथ्यात्व और एक अजीवमिथ्यात्वा; [तथा एव] और इसी प्रकार [अज्ञानम्] अज्ञान, [अविरतिः] अविरति, [योगः] योग, [मोहः] मोह तथा [क्रोधाद्याः] क्रोधादि कषाय–[इमे भावाः] यह (सर्व) भाव जीव और अजीव के भेद से दो–दो प्रकार के हैं।

टीका : मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जो भाव हैं, वे प्रत्येक, मयूर और दर्पण की भाँति, अजीव और जीव के द्वारा भाये जाते हैं, इसलिए वे अजीव भी हैं और जीव भी हैं। इसे दृष्टान्त से समझाते हैं :– जैसे गहरा नीला, हरा, पीला आदि (वर्णरूप) भाव जो कि मोर के अपने स्वभाव से मोर के द्वारा भाये जाते हैं (–बनते हैं, होते हैं), वे मोर ही हैं और (दर्पण में प्रतिबिम्बिरूप से दिखाई देनेवाला) गहरा नीला, हरा, पीला इत्यादि भाव जो कि (दर्पण की) स्वच्छता के विकारमात्र से दर्पण के द्वारा भाये जाते हैं, वे दर्पण ही हैं; इसी प्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि अजीव के अपने द्रव्यस्वभाव से अजीव के द्वारा भाये जाते हैं, वे अजीव ही हैं और मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि चैतन्य के विकारमात्र से जीव के द्वारा भाये जाते हैं, वे जीव ही हैं।

भावार्थ : पुद्गल के परमाणु पौद्गलिक मिथ्यात्वादि कर्मरूप से परिणमित होते हैं। उस कर्म का विपाक (उदय) होने पर उसमें जो मिथ्यात्वादि स्वाद उत्पन्न होता है, वह मिथ्यात्वादि अजीव है; और कर्म के निमित्त से जीव विभावरूप परिणमित होता है, वे विभाव परिणाम चेतन के विकार हैं, इसलिए वे जीव हैं।

यहाँ यह समझना चाहिए कि – मिथ्यात्वादि कर्म की प्रकृतियाँ पुद्गलद्रव्य के परमाणु हैं। जीव उपयोगस्वरूप है। उसके उपयोग की ऐसी स्वच्छता है कि पौद्गलिक कर्म का उदय होने पर उसके उदय का जो स्वाद आये, उसके आकार उपयोगरूप हो जाता है। अज्ञानी को अज्ञान के कारण उस स्वाद का और उपयोग का भेदज्ञान नहीं है, इसलिए वह स्वाद को ही अपना भाव समझता है। जब उनका भेदज्ञान होता है अर्थात् जीवभाव को जीव जानता है और अजीवभाव को अजीव जानता है, तब मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है।।८७।।

गाथा - ८७ पर प्रवचन

८७ (गाथा)

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीव-मजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा।।८७।।

मिथ्यात्व जीव अजीव दोविध, उभयविध अज्ञान है।
अविरमण, योग रु मोह अरु क्रोधादि उभय प्रकार है।।८७।।

आहाहा! वह गाथा नहीं, २९ बोल के कचरे की, हाँ! उसमें तो मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग, मार्गणास्थान, जीवस्थान, उदयस्थान ये सब पुद्गल के परिणाम हैं, (ऐसा कहा है)। आहाहा! २९ बोल हैं न ५० से ५५ (तक की) छह गाथायें, वहाँ तो कहते हैं मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग—यह सब पुद्गल के परिणाम हैं, जीव के नहीं, और कहो कि वे जीव के, जीव को सुख-दु:ख भोगा जाता है। कर्म का फल सुख-दु:ख कर्म में होता है और उसे भोगता है, तो इन दो का मेल समझ में नहीं आता - ऐसा कहते हैं।

टीका - वह 'पुणं' शब्द है न? 'मिच्छतं पुणं', गाथा में है, इसलिए यहाँ ८६ गाथा में द्विक्रियावादी को मिथ्यादृष्टि कहा था, उसके साथ सम्बन्ध करने को यहाँ 'पुणं' शब्द है। 'पुणं' है न 'मिच्छतं पुणं' फुटनोट, और ऊपर पाठ में 'मिच्छतं पुणं' भाई! हमने कहा था परन्तु सुन, अब मिथ्यात्व के दो प्रकार हैं।

मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जो भाव हैं, वे प्रत्येक... प्रत्येक **मयूर और दर्पण की भाँति अजीव और जीव के द्वारा भाये जाते हैं, इसलिए वे अजीव भी है और जीव भी हैं।** आहाहा! एक मिथ्यादर्शन जीव है, और एक मिथ्यादर्शन जड़ पुद्गल है। एक मिथ्या अज्ञान है, वह जीव है और एक अज्ञान है, वह कर्म के परिणाम हैं। एक अविरति जीव के परिणाम है और एक अविरति जड़ की है। एक क्रोध जीव का है, एक क्रोध जड़ का है, ऐसे एक मान जीव का है, एक मान जड़ का है। रूपी है और एक अरूपी है, ऐसा। आहाहा! ऐसे एक माया जीव की है और एक माया जड़ की पर्याय

है। एक लोभ जीव के परिणाम हैं, तो एक लोभ जड़ का-कर्म का परिणाम है। आहाहा! ऐसा है।

अजीव और जीव द्वारा भाये जाते हैं, इसलिए मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति, क्रोध, मान, वह अजीव की अवस्था की भावना होने से अजीव है और मिथ्याज्ञान आदि जीव द्वारा भाये जाते होने से वे जीव है। **इसे दृष्टान्त से समझाते हैं।** आहाहा!

जैसे गहरा नीला, हरा, पीला (वर्णरूप) भाव जो कि मोर के अपने स्वभाव से मोर द्वारा भाया जाता है (होता है)। मोर में है वह, मोर का जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है, वह मोर में है, वह भाया जाता है अर्थात् बनाया जाता है मोर से बना हुआ है। **वह मोर ही है।** यह क्या कहा? गहरा नीला, हरा, पीला, बादली-बादली अर्थात् आकाशी (गहरा नीला) ऐसे जो भाव वे मोर के अपने भाव से भाये जाते हैं मोर में। उस स्वभाव से मोर भाया जाता है अर्थात् मोर से बना हुआ है, वह मोर ही है **और (दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से दिखायी देनेवाला)...** यह दर्पण में दिखता है न? काला, सफेद, गहरा नीला, आहाहा! **गहरा नीला, हरा, पीला इत्यादि भाव जो कि (दर्पण की) स्वच्छता के विकारमात्र से दर्पण के द्वारा भाया जाता है।** दर्पण के द्वारा भाया जाता है। दर्पण के द्वारा बनाया जाता है। **वह दर्पण ही है।** दो न्याय दिये। एक रंग, गन्ध, रस, स्पर्श जो मोर के हैं, वह मोर द्वारा बनाये गये मोर के हैं, और यहाँ जो दर्पण में दिखता है, वह दर्पण के भाव की दर्पण की दशा होने से दर्पण का है, ऐसा। समझ में आया? आहाहा!

दृष्टान्त कैसा सीधा दिया है, यह तो अमृतचन्द्राचार्य ने दिया है, पाठ में तो समुच्चय है, परन्तु अमृतचन्द्राचार्य ने दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है। आहाहा!

इसलिए **इसी प्रकार...** मोर और दर्पण, मोर के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श मोर में होने से मोर है और दर्पण में काले-लाल प्रतिबिम्ब हैं, वह दर्पण की अवस्था की स्वच्छता से उसके हैं, इसलिए वे दर्पण हैं। आहाहा! **इसी प्रकार मिथ्यादर्शन...** आहाहा! **अज्ञान अविरति इत्यादि भाव जो कि अजीव के अपने द्रव्यस्वभाव से अजीव के द्वारा...** दर्शनमोह कर्म का, वह कर्म का परिणाम है। है? अज्ञान, ज्ञानावरणी आदि जो है, वह जड़ का परिणाम है। अविरति जो चारित्रमोह आदि के परिणाम हैं अन्दर जड़ में, वह अविरति

वह जड़ है। क्रोध, मान, माया, लोभ जो परमाणु चारित्रमोह के भेद अन्दर जड़ में, कर्म की प्रकृति में, आहाहा! कि जो अजीव का अपना द्रव्यस्वभाव है, वे परमाणु कर्म हैं, वह द्रव्यस्वभाव से इस प्रकार मिथ्यात्वभाव, दर्शनमोह, चारित्रमोह, क्रोध, मान, माया, लोभ से हुआ है। **द्रव्यस्वभाव से अजीव के द्वारा भाये जाते हैं।** आहाहा! है? वे अजीव द्वारा बनाये हैं, कर्म में जो कुछ मिथ्यात्वभाव दर्शनमोह की पर्याय, अविरतिभाव चारित्रमोह की पर्याय, अज्ञान, ज्ञानावरणी का.... ज्ञानावरणी के कारण से होता अज्ञान, वह जड़ में है-वह जड़ में है। क्रोध, मान, माया, लोभ भी परमाणु जड़ की पर्याय है, जड़ से जड़ में। आहाहा! **वे अजीव ही हैं...** वे अजीव द्वारा बनाये गये, इसलिए अजीव ही हैं। है तो परिणाम परन्तु अजीव द्वारा हुए होने से वे अजीव हैं। आहाहा!

और जो मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति इत्यादि भाव जो कि चैतन्य के विकारमात्र से जीव के द्वारा भाये जाते हैं... आहाहा! मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान आत्मा का, अविरति, कषायभाव क्रोध, मान, माया, लोभ जो कि पर्यायें, भाव कि जो चैतन्य के विकारमात्र से-चैतन्य के विकारमात्र से जीव द्वारा भाये गये हैं, वे जीव द्वारा किये गये हैं। आहाहा!

एक ओर (गाथा) ७६-७७ में ऐसा कहते हैं कि कर्म व्यापक है और विकारी परिणाम उसका व्याप्य है। वह ज्ञानदृष्टि हुई है, द्रव्यदृष्टि का ज्ञान हुआ है द्रव्य का। द्रव्य और गुण शुद्ध हैं, उनका अनुभव होकर ज्ञान हुआ है, उसके परिणाम तो व्याप्य शुद्ध हों, व्यापक शुद्ध है तो व्याप्य शुद्ध हो। उसके परिणाम पर्याय में होते हैं, उन्हें अशुद्धता गिनकर अशुद्ध कर्म है, उसका वह व्याप्य है, आत्मा के शुद्ध स्वभाव के ज्ञानी का वह व्याप्य नहीं। समझ में आया? आहाहा!

यह प्रश्न हुआ था, वहाँ सोमचन्दभाई ने एक बार किया था। सोमचन्दभाई थे न वे खारा-खारा। उन्होंने वहाँ राजकोट में प्रश्न किया था कि एक ओर यहाँ कर्म व्यापक और राग व्याप्य, एक ओर ऐसा कहो कि विकार करनेवाला जीव व्यापक और विकार व्याप्य, इन दो का हमें समझना क्या? सोमचन्दभाई नहीं थे? सोमचन्दभाई को नहीं पहिचानते? गुजर गये। सोमचन्दभाई की बहू और है न वहाँ, वह महिला बहुत बीमार नहीं, क्या बहिन का नाम उसका? भाई! विजयाबेन। पक्षघात यहाँ से हो गया है, ऐसा आधा नीचे से—ऐसा

आधा नहीं वह। बहिन को वाँचन बहुत और विचार कर उसमें रहती हैं, सोलह वर्ष से है, बहुत वर्ष से। उसका ससुराल सोमचन्दभाई। रामजीभाई के मकान के पास है न, वे वहाँ थे। पहले जामनगर में नौकरी थी, फिर यहाँ राजकोट आये थे। रात्रि में यह प्रश्न हुआ था।

भाई! देखो! आत्मा का ज्ञान जिसे हुआ और आत्मा ज्ञान का अनुभव, उसका व्याप्यरूप से तो निर्मल परिणाम हों, क्योंकि द्रव्य और गुण निर्मल है, इसलिए उसके परिणाम निर्मल हों, और उसकी जो पर्याय में यहाँ द्रव्यबुद्धि से हुए हैं, उसके परिणाम तो निर्मल होते हैं, परन्तु पर्याय में जो हुए हैं, वे कर्म के निमित्त से हुए हैं, द्रव्य की दृष्टि से नहीं, इसलिए वह कर्म व्यापक और विकार को व्याप्य कहा गया है। आहाहा!

यहाँ तो दोनों का व्याप्यव्यापक स्वयं, आत्मा व्यापक है और कर्म के विकारी परिणाम अपने, वह अपना व्याप्य और अपने भाये हुए होने से वे जीव हैं। आहाहा! अब इतनी सब अपेक्षायें रखना। एक ओर कहे कि राग और द्वेष के परिणाम, मार्गणा के परिणाम, जीव स्थान के परिणाम, गुणस्थान के परिणाम वे, सब पुद्गल के परिणाम हैं। यहाँ कहते हैं कि वह तो ज्ञान की दृष्टि और द्रव्यस्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से कहा। और एक ओर कहे कि जीव काम, क्रोध, दया, दान, व्रत आदि के परिणाम जीव के हैं, वह जीव की पर्याय में जीव से होते हैं, इसलिए वे उसके कहे, उसके कहे नहीं परन्तु वे ही हैं वह। इसमें कितना याद रखना? अपेक्षायें हैं न? जिस अपेक्षा से कहते हैं, उस अपेक्षा से समझना। आहाहा!

और चैतन्य के विकारमात्र से, है न? जो चैतन्य के विकार मात्र, चैतन्य के विकार मात्र, कर्म का विकार नहीं वह। जीव में मिथ्याश्रद्धा, अज्ञान, राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया वह चैतन्य के विकारमात्र, जीव द्वारा वे जीव द्वारा हुए हैं, जीव द्वारा बनाये गये हैं, जीव द्वारा भाये गये हैं। आहाहा! **इसलिए वे जीव ही हैं...** दोनों को भिन्न किया। समझ में आया?

जैसे मोर के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श मोररूप है और दर्पण में जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श दिखता है, वह दर्पण के हैं। वह वर्ण, गन्ध की छाया वहाँ है, परन्तु वह दर्पण की है। इसी

प्रकार जीव के विकारी परिणाम वे जीव के हैं मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, योग आदि और अजीव के परमाणु, कर्म की अवस्था के परिणाम में जो है दर्शनमोह, चारित्रमोह, क्रोध, मान, जड़, वे जड़ के हैं। कहो, समझ में आता है न? पुंजाभाई! ऐसा है। गहन बात है।

यहाँ यह समझना चाहिए कि मिथ्यात्व आदि कर्म की प्रकृतियाँ हैं। जड़, जड़ दर्शनमोह, चारित्रमोह, **वे पुद्गलद्रव्य के परमाणु हैं,...** वे पुद्गलद्रव्य के परमाणु हैं। आहाहा! है?

जब उनका भेदज्ञान होता है अर्थात् जीव भाव को जीव जानता है और अजीव भाव को अजीव जानता है,... तब मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है। वह राग का स्वाद वह वास्तव में मेरी चीज़ नहीं है, मेरी चीज़ तो आनन्द का स्वाद और शान्ति का स्वाद और वीतरागभाव का स्वाद, वह मैं हूँ, ऐसा जब राग से भेदज्ञान होता है, तब अजीव भाव को अजीव जानता है, यह राग है, वह वास्तव में तो अजीव का परिणाम गिनने में आया है, उस जीव के निर्मल परिणाम नहीं, इसलिए, तब **मिथ्यात्वभाव का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है।** विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–८८

काविह जीवाजीवाविति चेत् –

पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छं च जीवो दु।।८८।।

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीव:।
उपयोगोऽज्ञान–मविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु।।८८।।

य: खलु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिरजीवस्तदमूर्ताच्चैतन्यपरिणामादन्यत् मूर्तं पुद्गलकर्म, यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि: जीव: स मूर्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्–चैतन्यपरिणामस्य विकार:।।८८।।

अब प्रश्न करता है कि मिथ्यात्वादि को जीव और अजीव कहा है, सो वे जीव मिथ्यात्वादि और अजीव मिथ्यात्वादि कौन हैं ? उसका उत्तर कहते हैं :–

मिथ्यात्व अरु अज्ञान आदि अजीव, पुद्गलकर्म हैं।
अज्ञान अरु अविरमण अरु मिथ्यात्व जीव, उपयोग हैं।।८८।।

गाथार्थ : [मिथ्यात्वं] जो मिथ्यात्व, [योग:] योग, [अविरति:] अविरति और [अज्ञानम्] अज्ञान [अजीव:] अजीव है, सो तो [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म है; [च] और जो [अज्ञानम्] अज्ञान, [अविरति:] अविरति और [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व [जीव:] जीव है [तु] वह तो [उपयोग:] उपयोग है।

टीका : निश्चय से जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव है सो तो, अमूर्तिक चैतन्यपरिणाम से अन्य मूर्तिक पुद्गलकर्म है; और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जीव है, वह मूर्तिक पुद्गलकर्म से अन्य चैतन्य परिणाम का विकार है।।८८।।

प्रवचन नं. १७८, गाथा-८८-८९, दिनांक २५-०१-१९७९, गुरुवार, पौष कृष्ण १२

यह समयसार सिद्धान्त है। ८७ गाथा हो गयी, ८८ गाथा है। सूक्ष्म विषय है। (गाथा) ८८ है। ऊपर (शीर्षक में) प्रश्न है।

अब प्रश्न करता है कि... ८८ गाथा के ऊपर, **मिथ्यात्वादि को जीव और अजीव कहा है, सो वे जीव मिथ्यात्वादि और अजीव मिथ्यात्वादि कौन हैं? उसका उत्तर कहते हैं :-**

(कहते हैं कि) पहले प्रश्न आ गया (गाथा) ८७ में, कि जो आत्मा है, वह तो आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द शुद्धचैतन्य सिद्धस्वरूप है। भगवान सर्वज्ञों ने, तीर्थंकरों ने इस आत्मा को शुद्ध, परमपवित्र, अनन्त गुण का पिण्ड देखा है। उसमें जो विकार होता है— हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना और दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि के जो विकल्प, वह सब विकार, दो (प्रकार के) हैं। दोनों (प्रकार के) विकार करने का जीव का स्वभाव नहीं है।

जीव-भगवान आत्मा जो यह है, वह तो जिनस्वरूपी है। वस्तु है, जो वस्तु, वह जिनस्वरूप है। जैसे परमात्मा को सर्वज्ञदशा प्रगट हुई और वीतराग हुए, तो यह आत्मा भी वीतराग और सर्वज्ञस्वरूप ही है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! ऐसा आत्मा होने पर भी अनादि कर्म के निमित्त के संग से अन्दर में जो कुछ मिथ्यात्वभाव, राग—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, वे सब विकार हैं। बलुभाई! यह क्या कहा? यह तुम्हारा वर्षीतप किया न, उसमें (शुभ) विकल्प था और (वह) राग था, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : हम उसमें धर्म समझते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य है... आहाहा! है?

आहाहा! अब यहाँ तो कहते हैं कि परमात्मा जिनेश्वरदेव कि आत्मा का स्वभाव तो वीतराग और जिनस्वरूप ही है, तो स्वभावरूप से परिणमना, वह उसका स्वरूप है, परन्तु जो उसमें पुण्य और पाप के भाव होते हैं, हिंसा, चोरी, झूठ, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ (के भाव होते हैं) अरे! यह तो ठीक, परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति-पूजा, तप,

उपवास आदि के (जो शुभ) विकल्प उठते हैं, वह सब विकार है। वह विकार, कर्म के संग से (हुआ है)। कर्म जड़ हैं-कर्म तो जड़-मिट्टी-धूल है। यह (शरीर) जैसे मिट्टी है, उसी प्रकार यह कर्म सूक्ष्म धूल है। कर्म जो आठ (प्रकार के) कर्म। उस कर्म के निमित्तपने का संग करने से अज्ञानी को अन्दर राग और द्वेष, पुण्य और पापभाव होता है। उसका वह (अज्ञानी) कर्ता होता है, वह परिभ्रमण का कारण है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात, भाई! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है, सूक्ष्म है। आहाहा!

कहते हैं कि यह परिणाम जो विकार है, वह आत्मा में उत्पन्न होते हैं तो (वह) स्वभाव तो है नहीं। वह तो कर्म के संग से जो उत्पन्न हुआ, वह विकार-पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति आदि के जो भाव, वे मेरे हैं और मैं उनका कर्ता हूँ, यह मिथ्यादर्शन, अज्ञानभाव है। आहाहा! तो कहते हैं कि विकार है, इसकी पर्याय में तो है तो वह किसका है? समझ में आया? ऊपर (भावार्थ में) कहा न, अज्ञानियों को अज्ञान के कारण स्वाद और उपयोग का भेदज्ञान नहीं है। अन्दर ऊपर है। आहाहा! वह शुभ-अशुभभाव का स्वाद मलिन और दु:खरूप है। आहाहा! खबर नहीं, इसे अनन्त काल से खबर नहीं। वह स्वाद जड़ का कर्म के संग से उत्पन्न हुआ है। अपना स्वभाव नहीं है।

अज्ञानियों को-मिथ्यादृष्टियों को, जिनकी दृष्टि अभी तत्त्व अन्दर भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु सिद्धस्वरूपी आत्मा क्या है, उसकी जिसे दृष्टि की खबर नहीं, वह पुण्य और पाप के भाव मेरे हैं, ऐसा मानकर अज्ञानरूप से कर्ता होता है। वह बन्ध का कारण-संसार के परिभ्रमण का कारण है। आहाहा! तो यहाँ पूछा कि जब तुम कहते हो कि इसका (आत्मा का) स्वभाव नहीं तो वे परिणाम किसके हैं? यह मिथ्यात्व, अज्ञान, राग-द्वेष के परिणाम किसके हैं? जीव के हैं या जड़ के हैं? समझ में आया? ऐसी सूक्ष्म बात, बापू! जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म!

अभी तो सम्प्रदाय (वालों) को भी खबर नहीं इस चीज़ की (शुद्ध आत्मतत्त्व की खबर नहीं।) बाहर से यह व्रत करो और अपवास करो हो गया धर्म! मर गया। अब यह तो अनन्त काल से राग करता है, यह तो राग की क्रिया है। आहाहा! वह राग है, वह जीव की पर्याय में होता है, परन्तु उपाधिभाव है, वह अपना स्वभावभाव नहीं है। भगवान

त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ऐसा कहते हैं कि तेरी पर्याय में जो शुभ-अशुभभाव होते हैं, वह विकार है, वह उपाधि है, तेरी चीज़ नहीं है परन्तु होती है तुझमें। आहाहा! यह पूछते हैं, देखो!

अब प्रश्न करता है कि मिथ्यात्वादि को जीव... यह मिथ्यात्व—उल्टी (विपरीत) मान्यता, अज्ञान, राग-द्वेष और पुण्य-पाप के भाव, ये **जीव और अजीव कहा है, सो वे जीव मिथ्यात्वादि और अजीव मिथ्यात्वादि कौन हैं ?** सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! ८८ गाथा, उसके ऊपर दो लाईनें। प्रश्न है कि जो आप कहते हो कि मिथ्याश्रद्धा, अज्ञान और राग-द्वेष, दया, दान, काम, क्रोध आदिक के भाव जीव हैं या अजीव ? आपने (दोनों कहा) आपने जीव और अजीव कहा, तो **वे जीव मिथ्यात्वादि और अजीव मिथ्यात्वादि कौन हैं ?** ऐसा शिष्य का प्रश्न है। ८८ गाथा के ऊपर है।

पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छं च जीवो दु।।८८।।

नीचे हरिगीत

मिथ्यात्व अरु अज्ञान आदि अजीव, पुद्गलकर्म हैं।
अज्ञान अरु अविरमण अरु मिथ्यात्व जीव, उपयोग हैं।।८८।।

टीका : निश्चय से.... वास्तव में तो, **जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव है....** जड़कर्म-जड़कर्म ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं न जड़ ? वह पुद्गल, वह दर्शनमोह है, वह पुद्गल जड़ है - अज्ञान है। वह ज्ञानावरणादि कर्मादि जड़ है और अविरति आदि भाव हैं, वे चारित्रमोह की जड़ की क्रिया है, अन्दर कर्म के परमाणु (कार्मणवर्गणा)। वह कर्म जड़ है। जैसे यह (शरीरादि) स्थूल जड़ है न, (उसी प्रकार) वह कर्म सूक्ष्म जड़ है, तो उस जड़ के मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति (कर्म प्रकृतियाँ) वे अजीव हैं। समझ में आया ? बलुभाई! कर्म है न आठ (प्रकार की प्रकृति) जड़—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय, मोहनीय, वेदनीय, नाम, गोत्र, आयु (ये प्रकृतियाँ) आठ, ये परमाणु हैं, जड़ हैं, (बारीक) मिट्टी-धूल है तो यह मिट्टी-धूल पुद्गल है, यह मिथ्यादर्शन / दर्शनमोहनीय वह पुद्गल है। अविरति / चारित्रमोह वह पुद्गल है; अज्ञान

वह ज्ञानावरणीय आदि पुद्गल है और क्रोध, मान, मोह, लोभ, यह चारित्रमोहनीय के कर्म जड़ हैं! आहाहा! अरे! अब ऐसी बात कहाँ! इसमें (क्या) पकड़ना?

मुमुक्षु : ऐसा समझे बिना पकड़ना?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! अनन्त काल से, इसने अनन्त काल से (यह पकड़ा नहीं और) अनन्त बार मुनिपना लिया, पंच महाव्रत अनन्त बार पालन किये हैं, बापू! अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया, ऐसा प्रभु कहते हैं। ऊपर नौ ग्रैवेयक हैं (वहाँ) अनन्त बार गया। महाव्रत, नग्न-दिगम्बर मुनि, हजारों रानियाँ छोड़कर, पंच महाव्रत पालन किये, परन्तु वे पंच महाव्रत तो राग है-आस्रव है-दु:ख है-विकार है-बन्ध के कारण हैं। आहाहा! ऐसी बातें कठिन पड़ती है, भाई! प्रभु का मार्ग तो यह है। भगवान परमात्मा (सीमन्धरनाथ) महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं, सर्वज्ञप्रभु हाजरा-हजूर विराजते हैं, सर्वज्ञ! महावीर आदि परमात्मा तो सिद्ध हो गये, यहाँ थे तब तो अरिहन्त थे। अभी तो सिद्ध, णमो सिद्धाणं (हो गये हैं)। उन्हें शरीर और वाणी कुछ नहीं है, किन्तु महाविदेह में सीमन्धर भगवान (साक्षात्) विराजते हैं। (इस प्रकार से) बीस भगवान तीर्थंकरदेव विराजते हैं। यह सामायिक में आज्ञा नहीं लेते? उसकी भी कहाँ खबर है? क्या है, यह तो सामायिक भी कहाँ थी, मिथ्यादर्शन-अज्ञानी को सामायिक कैसी? अभी राग क्या है, आत्मा क्या है? उसकी तो खबर नहीं। उन भगवान (सीमन्धरनाथ) के पास कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, संवत् ४९, दो हजार वर्ष हुए, वहाँ जाकर आठ दिन रहे, वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये हैं।

(यहाँ) कहते हैं कि जो मिथ्यादर्शन, दर्शनमोह एक जड़कर्म है; अज्ञान-ज्ञानावरणीय जड़कर्म है; अविरति-चारित्रमोह का जड़कर्म है; राग-द्वेष के परमाणु एक हैं, चारित्रमोह के परमाणु राग-द्वेष जड़ है, वह अजीव है।

इत्यादि अजीव है सो तो, अमूर्तिक चैतन्यपरिणाम से अन्य मूर्तिक पुद्गलकर्म है;.... भगवान आत्मा तो अमूर्त—वर्ण, गन्ध (रस), स्पर्शरहित (अमूर्तिक) चीज़ है। **चैतन्यपरिणाम से अन्य मूर्तिक पुद्गलकर्म है।** क्या कहा? आठ (प्रकार के) जड़कर्म हैं,... सूक्ष्म बातें हैं! इसे (जीव को) आठ कर्म हैं, उनकी १४८ प्रकृतियाँ हैं। भगवान ने देखी हैं। १४८ प्रकृतियाँ (भगवान ने देखी हैं) रात्रि को थोड़ी बात हो गयी थी। मिथ्यादृष्टि

को अनादि से १४० प्रकृतियाँ होती हैं। अनुमान ऐसा लगता है कि... सूक्ष्म तो उस समय संवत् १९८६ में अमरेली में कहा था। चातुर्मास था न ८६ में, ८६ के वर्ष, (अभी तो) यहाँ ६६ वर्ष तो दीक्षा लिये हुए। आहाहा! उस समय रात्रि में थोड़ा याद आया था। नहीं कहा था? कि प्रत्येक जीव को आठ कर्म हैं, वे आठ (प्रकार के) कर्म में १४८ प्रकृतियाँ होती हैं, तो अनादि अज्ञानी को १४८ प्रकृतियाँ नहीं होती। क्योंकि आयुष्य चार है, (उनमें) एक ही आयुष्य है, तीन नहीं; मिश्रमोहनीय, सम्यक्मोहनीय दो नहीं। (इस प्रकार तीन + दो=) पाँच और आहारक तथा आहारक अंग उपांग (ये) दो। (कुल) सात (हुई और) तीर्थंकर प्रकृति (इस प्रकार आठ) आठ प्रकृतियाँ तो होती नहीं अज्ञानी को। आहाहा! १४० प्रकृतियाँ होती हैं, ऐसा लगता है। तब, तब कहा था, ८६ के वर्ष की बात है। यह तो बहुत वर्ष हो गये, चौदह और पैंतीस = उनचास-पचास वर्ष पहले। आहाहा!

ये सब परमाणु सूक्ष्म-जड़ हैं। यह मिथ्यात्व-दर्शनमोह जो जड़ है, उसे यहाँ दर्शनमोह कहा; चारित्रमोह वह परमाणु जड़ है, उसे यहाँ अविरति और राग-द्वेष तथा काम-क्रोध, वह जड़ है-परमाणु, और उन परमाणुओं की जड़ दशा (मूर्तिक) और भगवान आत्मा अमूर्तिक है। उसे-आत्मा को वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श (आदि जड़ के गुण) नहीं हैं; आत्मा तो रंग, गन्ध, रस, स्पर्शरहित चीज़ अन्दर है। इन चैतन्यपरिणाम से अन्य- ये चैतन्यपरिणाम जो अरूपी अमूर्त हैं। यहाँ तो विकार भी उसमें लेना है, तो चैतन्य का जो परिणाम है, (वह अमूर्त है)। मिथ्यात्व अज्ञान अविरत, काम, क्रोध, शुभ-अशुभभाव, वे चैतन्य के विकारी परिणाम हैं - वे अमूर्त के हैं, उनसे उस जड़कर्म की पर्याय उनसे भिन्न है। कहो, वीरचन्दभाई! ऐसा सब निर्णय करना पड़ेगा, नहीं तो भटक मरेगा! आहाहा! अनन्त काल से चौरासी के अवतार कर-करके कचूमर निकल गया है, प्रभु! अनन्त (अवतार) नरक के, अनन्त पशु के, चींटी के, कौवे के, कुत्ते के अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. भव (किये हैं) आदिरहित काल में भटका है!

आहाहा! इसे (भटकाऊ जीव को) सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, उसकी इसे खबर नहीं है। यह कुछ व्रत और तप और भक्ति करे तो हो गया धर्म! ऐसे मिथ्यादृष्टि ने मिथ्यादृष्टि से माना, ऐसा माना परन्तु सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, इसकी खबर नहीं है। आहाहा! अन्तरभगवान आत्मा पूर्णानन्दमूर्ति प्रभु का अन्तर अनुभव होकर-सन्मुख होकर अनुभव

होना और अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना – उसमें प्रतीति होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया?

वह सम्यग्दर्शन, चैतन्य का निर्मल परिणाम है और यह जो मिथ्यादर्शन—(विपरीत) श्रद्धा, अज्ञान और अविरति के भाव, वे जीव के विकारी परिणाम हैं। वे जीव के अमूर्त परिणाम से जड़ के (पुद्गल के) परिणाम भिन्न हैं। यह परिणाम क्या और पर्याय क्या? कुछ खबर नहीं होती, अन्ध-अन्ध अनादि काल से। (यह) चीज़ क्या?-भगवान अजीव किसे कहते हैं और जीव किसे कहते हैं? (लोग) ऐसा बोले कि जीव को अजीव माने तो मिथ्यात्व; अजीव को जीव माने तो मिथ्यात्व। मिथ्यात्व पच्चीस में (पच्चीस प्रकार के मिथ्यात्व) आते हैं न! कुछ खबर नहीं होती, अजीव किसे कहना और जीव किसे कहना!

यहाँ तो परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि में ॐध्वनि, (होती है) उन्हें – भगवान को ऐसी (अपने जैसी) आवाज नहीं होती, क्योंकि वे तो (परिपूर्ण) वीतराग और सर्वज्ञ हैं, उन्हें इच्छा बिना ही वाणी निकलती है, उन्हें इच्छा नहीं होती, प्रभु (तीर्थंकरदेव को) वह वाणी-दिव्यध्वनि, उसमें यह आया, उसे सन्त जगत के समक्ष आड़तिया होकर प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा!

कहते हैं कि जड़ परमाणु है (वह), दर्शनमोह, चारित्रमोह, ज्ञानावरणीय वे सब मिथ्यादर्शन, अज्ञान वह जड़ है-रूपी है-परमाणु है-पुद्गल है, वह अमूर्तिक चैतन्यपरिणाम से अन्य ऐसा मूर्तिक पुद्गलकर्म है। आहाहा!

और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान,... अब आत्मा में पुण्य से धर्म होता है—दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, अपवास करने से धर्म होता है (ऐसी मान्यता), ऐसा मिथ्यादर्शन, ऐसी श्रद्धा मिथ्यात्वभाव है – महामिथ्यात्वभाव-पाप है। वह जीव का परिणाम है। है उपाधि, किन्तु है जीव में। आहाहा! समझ में आया?

मिथ्यादर्शन अर्थात् विपरीत श्रद्धा। मैं अपने अतिरिक्त शरीर का, वाणी का, परिवार का, देश का कुछ (काम) कर सकता हूँ—ऐसी श्रद्धा, वह मिथ्यादर्शन है। आहाहा!

मुमुक्षु : मैं बनिया हूँ, ऐसा मानना वह... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मैं बनिया हूँ, मनुष्य हूँ, यह मान्यता मिथ्यादर्शन है। मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं नपुंसक हूँ... यह नपुंसक-पावैया होते हैं न! यह मान्यता, ऐसी मान्यता मिथ्यादर्शन है। वह विपरीत मान्यता (उल्टा अभिप्राय) महापाप है।

मुमुक्षु : तो मैं हूँ कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा भगवान आत्मा अन्दर अरूपी आनन्दघन है, परन्तु यह आनन्दघन की-ज्ञान की बात अभी यहाँ नहीं है। अभी तो (जीव अनादि से) मिथ्यात्व / विपरीत श्रद्धा करता है और राग भी मेरा है, पुण्य की क्रिया मैंने की, मैं करता हूँ, व्रत-तप की यह मेरी क्रिया है। (अरे भाई!) वह तो राग की क्रिया है। ऐ... बलुभाई! क्या वह लंघन किया था न, सब बारह महीने का (वर्षीतप में) लंघन किया था, दूसरा क्या था। ऐसे तो बहुतों को देखा है न! इस एक को कहाँ!

मुमुक्षु : मैंने वर्षीतप किया, ऐसा तो माना था।

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्षीतप, तप माना था इनने। (आहा) मैंने आहार का त्याग किया, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। क्योंकि आत्मा पर के ग्रहण-त्याग से शून्य है। प्रभु का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, बापू! यह मार्ग वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं है।

आहा! (इस बात की) वीतराग के सम्प्रदाय में जन्मे हुए को भी खबर नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? यह अन्दर के परिणाम जो होते हैं, मिथ्याश्रद्धा—मिथ्यादर्शन शल्य, वह जीव के परिणाम हैं, क्योंकि मैं पर का कर सकता हूँ, पर मेरी चीज़ है—यह स्त्री मेरी है, पुत्र मेरे हैं, मकान मेरा है, पैसा मेरा है, यह मान्यता अत्यन्त मिथ्याश्रद्धा-मिथ्यादृष्टि की है। यह मिथ्यादर्शन जीव का परिणाम है, यह यहाँ लेना (कहना) है।

मूर्तिक पुद्गलकर्म से अन्य चैतन्य परिणाम का विकार है। यह जीव (चैतन्य) और यह मिथ्यात्वपरिणाम जीव से भिन्न है। आहाहा! परन्तु ऐसी बात कहाँ से निकाली, कोई ऐसा कहता है। ऐसी बातें कहाँ से निकाली, कोई ऐसा कहता था।

मुमुक्षु : यह तो वीतरागदेव ने कही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव वहाँ महाविदेह में फरमाते हैं, वह यह बात है। समझ में आया? यह मिथ्यादर्शन अर्थात् मिथ्याश्रद्धा अर्थात्

कि जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के शुभभाव-पुण्य, वह धर्म है - ऐसा मानना मिथ्यादर्शन शल्य-महापाप है। आहाहा! ऐसा है, प्रभु! मार्ग अलग, बापू! आहाहा! अरे! दुनिया कहाँ चलती है और प्रभु का मार्ग कहाँ है!

यह मिथ्यादर्शन, आत्मा के परिणाम अरूपी; वह दर्शनमोह जो जड़कर्म था, वह रूपी, जड़ और मूर्त। वह जड़ मूर्त चैतन्य के परिणाम से भिन्न और यह परिणाम हैं, वे जड़ के परिणाम जो कर्म हैं, उनसे भिन्न है। अरे रे! इसे कब समझे, मनुष्यपना मिला और चला गया, पचास-पचास, साठ-सत्तर (वर्ष) कितनों को हुए और मरण के समीप हो गया है। अब। (मरण का समय तो) निश्चित हो गया है। यह देह छूटने का समय निश्चित है न! आहाहा! कल सुना था न वह बड़ा डॉक्टर, होम्योपैथी का बड़े में बड़ा डॉक्टर, मुम्बई में शंकर राव, यहाँ आया था, उसे तुम ले आये थे न? आया था। उसके साथ कोई महिला कोकिला थी, उसकी साथी थी, वह ऐसा लिखती थी, सब वह पूछे वह सब। यह दूसरे डॉक्टर दवा वह होम्योपैथीवाले की नहीं लेते। वह पूछे, कैसे होता है, क्या होता है, कैसे चलता है-यह सब लिख ले और उसमें से (निदान करके) फिर दवा दे। वह होम्योपैथी (का डॉक्टर) मर गया! बेचारा ५५ वर्ष की छोटी उम्र थी। आहाहा! वहाँ डॉक्टर भी क्या करे? देह की स्थिति पूरी होने के काल में वहाँ देह छूटेगी ही। उसे लाख देव आवे और इन्द्र आवे, डॉक्टर आवे तो भी रख नहीं सकते। उसे तीन काल-तीन लोक में (कोई रख नहीं सकता)।

मुमुक्षु : डॉक्टर न मरे तो सब डॉक्टर ही हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! मैं इस शरीर को सम्हालकर रखूँ तो शरीर अच्छा रहे। आहार-पानी में (ध्यान रखूँ) भलीभाँति दूँ, यह सब मान्यता है, वह सब मिथ्यादर्शन शल्य, मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, प्रभु! मार्ग बहुत अलग, भाई! अभी तो मार्ग को —कुमार्ग को (यथार्थ) मार्ग माना है। अभी लोगों ने (ऐसा माना है)। आहाहा!

यह मिथ्यादर्शन (विपरीत श्रद्धा) वह आत्मा का अरूपी परिणाम है, वह जड़कर्म से भिन्न है। आहाहा! लो! मैं बोलता हूँ, यह भाषा जड़ है। वह भाषा मैं बोलता हूँ, ऐसी मान्यता (यह अभिप्राय) मिथ्यादर्शन शल्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : दूर से सुनायी दे कि यह तो मेरी आवाज है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आवाज कब (इसकी थी), जड़ की थी। आवाज तो जड़ की है। अभी इसमें (टेप में) रिकॉर्डिंग होती है न! (भाषा) जड़ है, वह रिकॉर्डिंग हो, आत्मा रिकॉर्डिंग हो? आत्मा तो अरूपी है। (वह टेप में रिकॉर्डिंग नहीं हो सकता)। अरे रे! यहाँ मिथ्यादर्शन-उल्टी / विपरीत मान्यता (यह है कि) शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, मैं पर की दया पाल सकता हूँ, यह सब मिथ्यादर्शन शल्य-महापाप-बड़ा (पाप) है वह जीव का परिणाम है। कहो, चिमनभाई! **अज्ञान,...** अज्ञानवस्तु...

मुमुक्षु : पानी में से मक्खी को निकाला वह....

पूज्य गुरुदेवश्री : पानी में से (मैं) मक्खी निकालता हूँ, यह (मान्यता) श्रद्धा मिथ्यात्व है। आत्मा इन अंगुलियों को हिला नहीं सकता! प्रभु! तुझे खबर नहीं है। (अंगुलियाँ) तो जड़ हैं, वे हिलती हैं, उनके कारण से (और) आत्मा कहता है (मानता है कि) मेरे कारण से हिलती है, यह अजीव को जीव माना। प्रभु! यह... आहाहा! समझ में आया? प्रभु अर्थात् आत्मा। अरे, तुझे तेरी खबर नहीं, प्रभु! तू कौन है? आहाहा!

यह मिथ्यादर्शन शल्य, वह तेरा परिणाम है, तुझमें वह उपाधि कर्म के निमित्त से हुई उपाधि, परन्तु हुई है तुझमें। वे परिणाम कर्म से नहीं हुए हैं, तथा वे तेरे स्वभाव के हैं, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! तथा **अज्ञान,...** जो विपरीत ज्ञान है, वह अज्ञान है। वह भी तेरे परिणाम हैं। आहाहा! कुछ को कुछ जानना—उल्टा जानना, वह अज्ञान परिणाम, वह तेरे परिणाम हैं। आहाहा! वे पुद्गल के-जड़ के थे, यह (परिणाम) जीव के हैं, ये दो अलग (अलग) चीज़ है। एकदम (अलग)! कर्म और आत्मा दोनों अत्यन्त भिन्न चीज़ है। जैसे यह शरीर (है वह) मिट्टी है और अन्दर भगवान (आत्मा) अन्दर अरूपी-चैतन्य है। (दोनों) अत्यन्त भिन्न चीज़ है। शरीर को आत्मा स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं; शरीर आत्मा को स्पर्श नहीं करता, ऐसी चीज़ अन्दर है। आहाहा! गजब बात, भाई! कहो, शान्तिभाई! क्या होगा यह सब तुम्हारा!

बसन्त पंचमी को क्या कुछ करने का था मकान का? कोई कहता था, चन्दुभाई। कोई ऐसा कहता था। यहाँ दो लाख का मकान लिया है। इनके (शान्तिभाई के) भाई

मधुभाई ने नवनीतलाल का, इनके भाई ने दो लाख का (मकान लिया है)। हांगकांग रहते हैं। दो लाख रुपये का मकान (लिया है)। बसन्त पंचमी को (आहार-पानी करने का योग)। किसका मकान और किसका पैसा? वह मकान जड़ है, यह आत्मा ऐसा मानता है कि वह (मकान) मेरा है, यह मिथ्यादर्शन शल्य-अज्ञान-मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : आप तो सर्वत्र मिथ्यादर्शन ही कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान ऐसा कहते हैं। पच्चीस (प्रकार के) मिथ्यात्व हैं। इन बलुभाई का बड़ा कारखाना था, वहाँ गये थे न, उतरे थे न! वह कारखाना बलुभाई का है। बलुभाई ऐसा मानते हैं कि मेरा है। मूढ़ है।

मुमुक्षु : वहाँ तो गोलियों का ढ़ेर था।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं था। दवायें निकलती नहीं? ऐसे घुमाते न! बीन कर देखा था और ये रामजीभाई (साथ में) थे, नानालालभाई थे। देखा था न-देखा है। रामजीभाई थे, नानालाल कालीदास राजकोटवाले थे तब, तुम्हारे कारखाने आये तब। आहाहा! बापू! किसका (कारखाना और) किसकी चीज़। आहाहा! एक रजकण भी आत्मा का नहीं है। ओहोहो! एक रजकण (आत्मा का नहीं)। यह तो (शरीर तो) अनन्त रजकणों का पिण्ड है, यह कोई एक चीज़ नहीं है! देखो! यह अंगुली, इसके टुकड़े करते-करते अन्तिम रजकण रहे, उसे परमाणु कहते हैं। परम+अणु=छोटे में छोटा भाग। भगवान ऐसा कहते हैं परमाणु। उस एक परमाणु में जड़ के अनन्त गुण हैं।

मुमुक्षु : कितने ही कम-ज्यादा गुण परमाणु में (कहलाते हैं न)!

पूज्य गुरुदेवश्री : जितने एक (सर्वव्यापक) आकाश में गुण हैं, उतने गुण एक परमाणु में हैं। जितने आत्मा में (गुण) है, उतने उस परमाणु में हैं। इसमें (परमाणु में) जड़ है और इसमें (आत्मा में) चैतन्य (गुण) हैं। भगवान! प्रभु! तूने सुना नहीं। यहाँ तो मुझे दूसरा कहना था कि यह एक परमाणु, उसके अनन्त गुण, वे कितने? तीन काल के समय से अनन्तगुने, आकाश के प्रदेश से अनन्तगुने, उनकी एक समय की पर्याय भी अनन्तगुनी, एक परमाणु में एक समय की पर्याय, तीन काल के समय से अनन्तगुनी! आहाहा! यह तो भगवान वीतराग परमात्मा कहते हैं। परमेश्वर (तीर्थंकरदेव) के अतिरिक्त यह बात

कहीं नहीं है। जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ (की वाणी में आया है)। यह एक (परमाणु..) यह (शरीर) तो जड़ है, यह तो बहुत रजकणों का दल है, इसे स्कन्ध (पिण्ड) कहते हैं। इस स्कन्ध में भिन्न-भिन्न एक-एक रजकण (परमाणु), उस परमाणु में एक परमाणु में, जितने सर्व व्यापक आकाश में गुण हैं, उतने गुण एक परमाणु में है। आकाश के गुण की पर्याय है, अनन्त, ऐसी एक परमाणु में अनन्त गुण की एक समय में अनन्त पर्याय... अनन्त पर्याय है। समय एक और पर्याय अनन्त - तीन काल के समय से अनन्तगुनी पर्याय! अरे, प्रभु! यह तो प्रभु का-वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का मार्ग है।

इस जड़ की (परमाणु की) पर्याय मेरी है, यह शरीर की दशा मेरी है, आहाहा! मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं पतला हूँ, मैं मोटा हूँ, यह सब मान्यता अज्ञानी की-मिथ्याश्रद्धा की है।

मुमुक्षु : परमात्मप्रकाश में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परमात्मप्रकाश, सर्वत्र आता है न! आहाहा! यह मिथ्यादर्शन जीव के विपरीत परिणाम हैं, भटकने के (परिणाम) हैं। अज्ञानपने के जीव के मूढ़ता के परिणाम हैं। आहाहा! इस स्त्री का आत्मा कहीं से भटकता आया, यहाँ स्वयं इकट्ठा हो गया तो कहता है मेरी स्त्री। परन्तु कहाँ तेरी स्त्री, कैसी तेरी? यह क्या है? यह लड़का मेरा, ऐसा हुआ। (परन्तु तेरा कहाँ है?) किसी समय कोई मर गया हो तो स्नान करने जाये न! बनिया स्वयं फुरसत में न हो (तो लड़के को कहे) जा न तू, मैं हूँ वह तू ही है, तू है वह मैं हूँ - ऐसे पागल के पागल। पागल के गाँव अलग होंगे? ऐई! ऐसी बातें! परमात्मा त्रिलोक के नाथ की यह बात है! जिनेश्वरदेव-सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ अरिहन्त परमात्मा (विराजमान हैं), उनकी वाणी में यह आया है, प्रभु! आहाहा! अरे! दुनिया को मिला नहीं। जैन के सम्प्रदाय में जन्मे, उन्हें भी नहीं मिला। आहाहा! है न?

हम तो जहाँ ६६ वर्ष, २१ वर्ष सम्प्रदाय में (स्थानकवासी में) रहे थे। उसमें (मुँहपत्ती में) २३ वर्ष संसार में, साढ़े तेईस। पैंतालीस वर्ष में यहाँ (सोनगढ़) आये थे। चालीस वर्ष हुए तो ९० हो गये, वैशाख शुक्ल दूज को नब्बेवाँ लगेगा। ९०-९० इस जड़ को-इस जड़ को लगेगा, हों! आत्मा को नहीं। आत्मा तो अनादि-अनन्त प्रभु है, उसका

आयुष्य कैसा ? उसे अवधि कैसी ? यह तो जड़-मिट्टी की (शरीर की) बात है। आहाहा! ऐसा काम है। आहाहा!

यह **अविरति....** आत्मा में जो अत्यागभाव, राग का अत्यागभाव, (वह) अविरतिभाव है। वह जीव का विकारी परिणाम है। आहाहा! राग-द्वेष, पुण्य-पाप का त्याग नहीं, ऐसा जो अविरतिभाव जीव का-वह जीव का विकारी अरूपी जीव का परिणाम है। वह कर्म जो जड़ है, उससे भिन्न परिणाम है। आहाहा! यह अव्रतभाव नहीं कहते! लोग जो व्रत (मानकर पालन करते हैं), वह व्रत नहीं, वह तो राग है। यह तो आत्मा का ज्ञान हो - सम्यग्दर्शन हो - आत्मा का आनन्द का अनुभव हो, पश्चात् आनन्द में विशेष लीन न हो, (तब) व्यवहारव्रत के विकल्प उठते हैं तो पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा! निश्चय सत्यव्रत तो भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द-पिण्ड प्रभु... आहाहा! उसका दर्शन और ज्ञान होकर उसमें लीन (एकाग्र) हो, अतीन्द्रिय आनन्द में, अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ प्रभु में लीन हो, उसका नाम निश्चयव्रत है।

बात-बात में अन्तर! शब्द-शब्द में अन्तर। 'आनन्द कहे परमानन्दा, माणसे-माणसे फेर, एक लाखै तो ना मिले ने एक त्रांबिया ना तेर!' आहाहा! इसी प्रकार प्रभु कहते हैं, बापू! मुझे और तुझे बात-बात में अन्तर है। भाई! तुझे खबर नहीं है। आहाहा! अरे रे! अनन्त काल से भटकता परिभ्रमण करता... मिथ्याश्रद्धा के पेट में (गर्भ में) अनन्त भव करने की ताकत है, ऐसी मिथ्याश्रद्धा! उसकी इसे खबर नहीं पड़ती। आहाहा! समझ में आया ? अपवास में आहार मैंने छोड़ा, यह मिथ्यादर्शन शल्य है, क्योंकि आहार जड़ है, उसे आना नहीं था। उसे ग्रहण भी नहीं किया था तो त्याग किया, वह तो आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! पर आहार का त्याग और ग्रहण वह आत्मा में है ही नहीं। भगवान आत्मा तो अरूपी, उस जड़ को (रूपी को) ग्रहण कैसे करे ? और जड़ को कैसे छोड़े ? कठिन काम है, भाई!

क्योंकि प्रभु आत्मा में; भगवान ऐसा कहते हैं कि त्याग-ग्रहण शून्य, पर का त्याग और पर के ग्रहण से भगवान आत्मा शून्य है। आहाहा! पर रजकणों को ग्रहण करना या छोड़ना, इससे शून्य भगवान आत्मा है। पर को कैसे ग्रहण करे और पर को-(रजकणों

को) कैसे छोड़े ? आहाहा ! अरे रे ! बहुत अन्तर, बापू ! थोड़े समय में समझ में आये, ऐसा यह नहीं है, बापू ! बहुत परिचय करे तो मुश्किल से पकड़ में आये, ऐसा है कि क्या कहते हैं। आहाहा !

मुमुक्षु : थोड़े परिचय में खबर नहीं पड़ती।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा है, बापू ! क्या हो ? खबर है न पूरी दुनिया की खबर है न !

मुमुक्षु : आपकी सब बातें अलग हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान की एक-एक बात अलग है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव जिनेश्वरदेव परमात्मा, उन अनन्त तीर्थंकरों का यह कथन है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ' आहाहा ! अनन्त तीर्थंकर (कह गये हैं और) वर्तमान में प्रभु विराजमान हैं, महाविदेह में दिव्यध्वनि खिरती है, इन्द्र और गणधर सभा में बैठते हैं, सिंह और बाघ जंगल में से आकर समवसरण में सुनने बैठते हैं, प्रभु विराजते हैं, आहाहा ! यह उनकी वाणी है। समझ में आया ?

यह **मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति...** अन्दर में जो अरुचि का भाव हुआ जो द्वेष, क्रोध हुआ, मान, माया, लोभ, मान, इच्छा, विषयवासना, ये सब जीव के विकारी परिणाम हैं। आहाहा ! ये (परिणाम) जड़कर्म से भिन्न हैं। आदि जीव हैं, अविरति इत्यादि अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारी दशा होती है न आत्मा में, वह जीव है। आहाहा ! अभी तो जीव के परिणाम सिद्ध करना है न !

वह मूर्तिक पुद्गलकर्म से अन्य चैतन्य परिणाम का विकार है। वह मूर्तिक पुद्गलकर्म से... मूर्तिक जो कर्म जड़ मूर्तिक आठ कर्म हैं, उनसे अन्य चैतन्यपरिणाम का विकार है। यह कमाने का भाव-धन्धे में बैठा हो, वह भाव, यह मैंने किया और यह मैंने दिया, ऐसा जो विकल्प-राग (इच्छा), वह अकेला विकार है, वह चैतन्य के परिणाम का विकार है। आहाहा ! गजब, भाई ! यह तीन लाईन है-ढाई लाईन। छपा चाहे जहाँ से परन्तु बात तो वीतराग की है न ! आहाहा ! पहले श्रीमद् से प्रकाशित है। श्रीमद् राजचन्द्रजी से प्रकाशित हुआ है। मूल तो वीतराग की वाणी है न ! यह तो चाहे जहाँ से प्रकाशित हुआ...

यह टीका और पाठ तो पहले अनादि काल से चलते हैं।

मुनि कुन्दकुन्दाचार्य हुए, दो हजार वर्ष पहले (हुए), उनकी ये गाथायें हैं। निमित्त से कथन है; और यह टीका है अमृतचन्द्राचार्य की। (वे) एक हजार वर्ष पहले दिगम्बर सन्त हुए, उनकी यह टीका है। आहाहा! समझ में आया? (उस टीका की) ढाई लाईन का यह अर्थ हुआ। पौन घण्टा हुआ (स्पष्टीकरण में)। भगवान! यह तो वीतराग की वाणी! प्रभु! समझने में बहुत ही सूक्ष्मता, अपूर्वता चाहिए, भाई! आहाहा!

परमाणु में जो अनन्त गुण हैं—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श (आदि), ऐसे-ऐसे अनन्त गुण, उसे (परमाणु को) एक समय में अनन्त पर्याय! क्या है यह! प्रभु का मार्ग! आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा, उसके अनन्त गुण हैं, उसकी एक समय में अनन्त गुण की (अनन्त) पर्यायें हैं। विपरीत या अविपरीत (पर्यायें हैं) परन्तु अनन्त गुण की (अनन्त) पर्यायें हैं। आहाहा! पर्याय किसे कहते हैं, इसकी भी खबर नहीं होती। पर्याय अर्थात् उसकी अवस्था। द्रव्य-गुण है, वह त्रिकाल चीज़ है, यहाँ पर्याय-अवस्था-परिणाम (हालत-दशा) उसे कहते हैं, वह इस ढाई लाईन में इतना भरा है। आहाहा! समझ में आया?

गाथा–८९

मिथ्यादर्शनादिश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत्–

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोह–जुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदि–भावो य णादव्वो।।८९।।

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोह–युक्तस्य।
मिथ्यात्व–मज्ञान–मविरति–भावश्च ज्ञातव्यः।।८९।।

उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणाम–विकारः।

स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोऽपि प्रभवन् दृष्टः। यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाः –स्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमाल–कदलीकाञ्चनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलो हरितः पीत इति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टः; तथोपयोगस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टव्यः।।८९।।

अब पुनः प्रश्न करता है कि – मिथ्यादर्शनादि चैतन्यपरिणाम का विकार कहाँ से हुआ? इसका उत्तर कहते हैं :–

है मोहयुत उपयोग का परिणाम तीन अनादि का।
–मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव ये त्रय जानना।।८९।।

गाथार्थ : [मोहयुक्तस्य] अनादि से मोहयुक्त होने से [उपयोगस्य] उपयोग के [अनादयः] अनादि से लेकर [त्रयः परिणामाः] तीन परिणाम हैं; वे [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अज्ञानम्] अज्ञान [च अविरतिभावः] और अविरतिभाव (ऐसे तीन) [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।

टीका : यद्यपि निश्चय से अपने निजरस से ही सर्व वस्तुओं की अपने

स्वभावभूत स्वरूप–परिणमन में सामर्थ्य है, तथापि (आत्मा को) अनादि से अन्य–वस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तपना होने से, आत्मा के उपयोग का, मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति के भेद से तीन प्रकार का परिणामविकार है। उपयोग का वह परिणामविकार, स्फटिक की स्वच्छता के परिणामविकार की भाँति, पर के कारण (–पर की उपाधि से) उत्पन्न होता दिखाई देता है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं :– जैसे स्फटिक की स्वच्छता की स्वरूप–परिणमन में (अपने उज्ज्वलतारूप स्वरूप में परिणमन करने में) सामर्थ्य होने पर भी, कदाचित् (स्फटिक को) काले, हरे और पीले ऐसे तमाल, केल और सोने के पात्ररूपी आधार का संयोग होने से, स्फटिक की स्वच्छता का, काला, हरा और पीला ऐसे तीन प्रकार का परिणामविकार दिखाई देता है; उसी प्रकार (आत्मा को) अनादि से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति जिसका स्वभाव है, ऐसे अन्य–वस्तुभूत मोह का संयोग होने से, आत्मा के उपयोग का, मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ऐसे तीन प्रकार का परिणामविकार समझना चाहिए।

भावार्थ : आत्मा के उपयोग में यह तीन प्रकार का परिणामविकार अनादि कर्म के निमित्त से है। ऐसा नहीं है कि पहले यह शुद्ध ही था और अब इसमें नया परिणामविकार हो गया है। यदि ऐसा हो तो सिद्धों को भी नया परिणामविकार होना चाहिए। किन्तु ऐसा तो नहीं होता। इसलिए यह समझना चाहिए कि वह अनादि से है।।८९।।

गाथा - ८९ पर प्रवचन

अब पुनः प्रश्न करता है कि - मिथ्यादर्शनादि चैतन्यपरिणाम का विकार कहाँ से हुआ? इसका उत्तर कहते हैं :- अब पुनः प्रश्न करता है, यह मिथ्यादर्शन आदि चैतन्यपरिणाम का विकार कहाँ से हुआ, क्योंकि भगवान आत्मा तो निर्मलानन्द शुद्धचैतन्यघन आनन्दकन्द है। भगवान जिनेश्वर ने आत्मा को तो शुद्ध आनन्दकन्द शुद्ध चिदानन्द देखा है, तो यह विकार हुआ कहाँ से? मिथ्यादर्शन–मिथ्याज्ञान–मिथ्याचारित्र राग आदि परिणाम, यह चैतन्यपरिणाम का विकार कहाँ से हुआ? इसका उत्तर गाथा में कहते हैं। बहुत सरस गाथा है। ८९ गाथा।

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोह-जुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदि-भावो य णादव्वो।।८९।।

नीचे हरिगीत

है मोहयुत उपयोग का परिणाम तीन अनादि का।
-मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव ये त्रय जानना।।८९।।

सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! यहाँ तो आचार्य, भगवानरूप से (ही) आत्मा को बुलाते हैं! भगवानस्वरूप अन्दर है। भगवानस्वरूप न हो तो पर्याय में भगवान (पना) कहाँ से आयेगा? बाहर से आती है कोई चीज़? घट-घट अन्तर भगवान आत्मा जिनस्वरूप है अन्दर। 'घट-घट अन्तर जिन बसे, अब घट-घट अन्तर जैन, मत मदिरा के पान सौ मतवाला समझे न' परन्तु मत के अभिप्राय की मदिरा पी है, अज्ञानी (ने) अपने मिथ्या (मत) की शराब पी है न, (इसलिए) सत्य क्या है, उसे समझता नहीं। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

टीका : .... धीरे से... कहा जाता है, प्रभु! शान्ति से... जैसे (कॉलेज के) प्रोफेसर (फटाफट) बोल जायें, एल.एल.बी. के, ऐसा नहीं है। यहाँ यह तो धीरे से (कहा जाता है कहते हैं) आहाहा! **टीका : ...** ८९ (गाथा की) टीका है न! **यद्यपि...** जो कि, यद्यपि शब्द है न पहला, ८९ की टीका। **निश्चय से....** वास्तव में तो **अपने निजरस से ही सर्व वस्तुओं की अपने स्वभावभूत स्वरूप-परिणमन में सामर्थ्य है,....** आहाहा! क्या कहते हैं? वास्तव में तो आत्मा जो आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, शान्तस्वरूप, वीतरागस्वरूप है, वह अपने निजरस से ही—अपनी शक्ति से ही सर्व वस्तुओं की अपने स्वभावभूत आत्मा में अपने स्वभावभूत ऐसा स्वरूप परिणमन का सामर्थ्य है। अहो! ऐसी बातें! वीतराग के मुख से ही निकली हुई बात है। यह आत्मा और परमाणु-मिट्टी आदि (विश्व के) प्रत्येक पदार्थ, अपने-निजस्वभावभाव से परिणमने का सामर्थ्य रखता है। प्रत्येक आत्मा; आत्मा तो अनन्त है और उससे तो अनन्तगुने परमाणु-मिट्टी (आदि) है। देखो! एक आत्मा है, यहाँ और (साथ-साथ में) तैजस, कार्मण और औदारिक तीन तो शरीर हैं। (उनमें) अनन्त परमाणु हैं। आहाहा!

एक अंगुल के असंख्य भाग में—लहसुन और प्याज का एक रजकण जितना (टुकड़ा) लो, रजकण जितना ही तो (छोटा टुकड़ा-कण)। रजकण जितना लहसुन और प्याज का, तो उस रजकण में असंख्य औदारिक शरीर हैं। भगवान ने कहा है, आहा! अंगुल के असंख्य भाग में असंख्य औदारिकशरीर हैं और एक-एक शरीर में अनन्त काल से अभी तक के सिद्ध हुए, उनसे अनन्तगुने जीव हैं। और एक-एक जीव के साथ तैजस और कार्मण अनन्त स्कन्ध, परमाणु के पिण्ड हैं, अंगुल के असंख्य भाग में! यह वीतरागमार्ग, बापू! आहाहा! उस अंगुल के असंख्य भाग में असंख्य तैजस और कार्मणशरीर है। (एक राई से छोटे टुकड़े में) अनन्त जीव हैं तो एक-एक जीव के साथ दो-दो शरीर और एक अंगुल में लो तो उससे असंख्यगुने शरीर और असंख्यगुने आत्मा-द्रव्य हैं। आहाहा! अंगुल, हों! यह अंगुली! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग जगत को सुनने को नहीं मिला, भाई!

यह बेचार तो जैन में जन्मा तो दया पालो, व्रत करो, अपवास करो। श्वेताम्बर होवे तो कहे पूजा करो यात्रा करो और गिरनार जाओ और दिगम्बर में जावे तो (अब) वस्त्र छोड़ दो और प्रतिमा लो! प्रभु! तेरा मार्ग अलग है, प्रभु!

यहाँ क्या कहा? **यद्यपि निश्चय से....** यद्यपि क्यों कहा है कि विकार परिणाम क्यों होते हैं? **यद्यपि निश्चय से अपने निजरस से....** आत्मा अपने निजरस! ज्ञान-आनन्दरस से ही **सर्व वस्तुओं की....** प्रत्येक वस्तुओं की, **अपने स्वभावभूत....**स्वरूप-**परिणमन में सामर्थ्य है,...** देखो! यह परमाणु है, परमाणु जो यह, वह भी अपने निजरस से-अपने स्वभाव से परिणमित होने की सामर्थ्य रखता है। बहुत समेटा है, संक्षिप्त भाषा की है, परन्तु भाव बहुत (गहरे हैं)! इसी प्रकार आत्मा, देह-मिट्टी के परमाणुओं से तो भिन्न, अन्दर आठ कर्म हैं-बारीक धूल-(सूक्ष्म शरीर) उससे तो प्रभु (आत्मा) भिन्न है। यह दया, दान, व्रत, (आदि के) परिणाम हों विकार और हिंसा, झूठ के (भाव) विकार, इससे (दोनों से) प्रभु (आत्मा) अन्दर भिन्न है, क्योंकि नौ तत्त्व में पुण्य-पाप तत्त्व हैं (वे भिन्न हैं और) आत्मा ज्ञायकतत्त्व (भिन्न है)। आहाहा!

यह ज्ञायकतत्त्व! यहाँ तो सब तत्त्वों की (पदार्थों की) बात है परन्तु ज्ञायकतत्त्व को

अपने निजरस से ही अपने स्वभावभूत स्वरूप परिणमन की सामर्थ्य है। आहाहा! (ऐसे) सर्व वस्तुओं को भी (अपने स्वभावभूत स्वरूप परिणमन की सामर्थ्य है)। आहाहा! भगवान आत्मा, भग अर्थात् आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त अतीन्द्रिय शान्ति, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द, अनन्त अनन्त भग अर्थात् लक्ष्मी स्व की (अनन्त गुण की लक्ष्मी)। इस धूल की नहीं। यह तुम्हारा बीस लाख का और सत्रह लाख का मकान है न, उस सब धूल की नहीं।

यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि आत्मा को भगवान क्यों कहते हैं? भग अर्थात् अन्दर अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त आनन्द, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता ऐसी-ऐसी भग अर्थात् लक्ष्मी, वान उस लक्ष्मीवान प्रभु आत्मा के आश्रय से (वह लक्ष्मी अनन्त गुण है)। उस निज रस से ही लक्ष्मीवान (आत्मा) है। आहाहा! यहाँ धूल की, जैसे पाँच-पचास लाख (रुपये) मिलें, करोड़-दो करोड़, पाँच करोड़ मिले वहाँ हो गया 'मैं चौड़ा और गली सकरी!' यह मलूकचन्दभाई, क्या कहा, सुना या नहीं? इसके एक-एक लड़के के पास चार-चार करोड़, पाँच-पाँच करोड़ है।

मुमुक्षु : उसमें इनका कितना भाग?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके पास कुछ नहीं, इसके लड़के के पास है। स्विटजरलैण्ड है न न्याल, बड़ा लड़का चार करोड़ और उससे छोटा मुम्बई पाँच करोड़, पूनमचन्द मलूकचन्द मुम्बई पाँच करोड़। सब आये हुए हैं, सुने हुए हों और इससे अधिक हैं, कहा हो, किसी ने कहा हो, उसके पिता को खबर है न! धूल है, मिट्टी है, यह कहे कि मेरा-मेरा।

मुमुक्षु : परन्तु आप धूल कहते हो और इसे धूल बढ़ती जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बढ़ती.. उसके कारण से (बढ़ती) जाती है।

यह यहाँ कहा न! परमाणु अपने निजरस से-स्वभाव से निर्मलरूप से परिणमित हुआ है, वह उसका स्वभाव है, इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव (अपने) निजरस से ही-निजशक्ति से-निजस्वभाव से ही शुद्धरूप से-निर्मलरूप से-वीतरागभावरूप से परिणमित होना, वह उसका स्वभाव है। आहाहा! इसमें कितना याद रखना? क्या सुनने गये थे? कौन जाने क्या कहते हैं? इनका ऐसा और इनका ऐसा, ऐसा कुछ कहते हैं। बापू! तूने सुना

नहीं भाई! यह वीतराग का मार्ग, जिनेश्वर तीन लोक के नाथ (तीर्थंकरदेव) का मार्ग सुना नहीं, प्रभु! आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं—यह तो आत्मा, परमाणु, आकाश (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल) इन छह द्रव्यों को भगवान ने देखा है। (जिसका विश्व बना हुआ है वे) छह द्रव्य भगवान ने (देखे हैं, जिसमें) अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश और असंख्य कालाणु, ये छह द्रव्य भगवान (सर्वज्ञ) ने देखे हैं। इन छहों द्रव्यों को कहते हैं (कि) निजरस से-निजरस से ही छहों द्रव्य, अपनी शक्ति से ही **निजरस से ही सर्व वस्तुओं की अपने स्वभावभूत स्वरूप-परिणमन में सामर्थ्य है,...** आहाहा! समझ में आया?

यह कोई कुछ कथा-वार्ता नहीं है (कि) वह चिड़िया लाई चावल का दाना और चिड़ा लाया मूँग का दाना, उसकी पकायी खिचड़ी... छोटी उम्र में गाते थे। वह कुम्हार को दी और कुम्हार ने घड़ा दिया और घड़े की खजूर ली! ऐसी बातें यह (बालकों को प्रसन्न करने की बातें हैं)! यह तो बापू! वीतराग की बातें हैं, भाई! आहाहा! अरे रे! इसने अनन्त काल में यथार्थ बात सुनी नहीं। यह आता है न चौथी गाथा में 'श्रुत परिचितानुभूता।' सुनी नहीं, प्रभु! तूने अन्तर की कथा-आत्मा की कथा (सुनी नहीं)। यह राग और दया, दान, व्रत, पुण्य करना, ऐसी बातें तूने सुनी है, यह तो अनादि का है और अनादि का (तूने) सुना है।

भगवान आत्मा... **निजरस से ही...** सर्व वस्तुएँ ली हैं न! (कहते हैं न) अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश ऐसे (विश्व में) छह द्रव्य (ही) हैं।

सर्व वस्तुओं की अपने स्वभावभूत... अपना जो स्वभाव है, उस स्वरूप-परिणमन में सामर्थ्य है,.... बदलने में - पर्याय होने में सामर्थ्य है (ताकत है-शक्ति है)। आहाहा! धीरे से कहा जाता है, भगवान! बापू! यह मार्ग क्या कहें! आहाहा!

तथापि... तथापि, अब कहते हैं, ऐसा होने पर भी। सभी वस्तुएँ भगवान ने (सर्वज्ञ ने) जितनी अनन्त देखी है—अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक

धर्मास्ति (काय), एक अधर्मास्तिकाय और एक (सर्व व्यापक) आकाश, ऐसे छह द्रव्य भगवान ने देखे हैं। ये छहों द्रव्य अपने वस्तु के स्वभाव से परिणमन करने की सामर्थ्य रखते हैं। है? सर्व वस्तुएँ हैं, सर्व में कोई बाकी रहा?

अपने स्वभावभूत.... अपना जो स्वभाव है, आत्मा का आनन्दस्वभाव है-ज्ञानस्वभाव है। परमाणु का वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श स्वभाव है, उस स्वरूप परिणमन में / पलटने में / पर्याय होने में (सर्व पदार्थों का) सामर्थ्य है। आहाहा! ऐसा याद भी नहीं रहता, क्या भाषा है! अनजान व्यक्ति को अटपटी जैसी लगती है। कभी बेचारे ने सुना न हो, उसे ऐसा लगता है यह क्या है, यह तो पागल जैसा लगे ऐसा है। मार्ग ऐसा है। भाई! दुनिया की सब खबर है। आहाहा!

ऐसा होने पर भी,... क्या ऐसा होने पर भी? कि प्रत्येक चीज़—आत्मा, परमाणु आदि अपने निजरस से ही-शक्ति से ही स्वभावरूप परिणमना, वह उसका स्वभाव की सामर्थ्य है। समझ में आया? ऐसा होने पर भी, आत्मा में मिथ्यादर्शन, अज्ञान, राग-द्वेष क्यों होते हैं? उसकी बात चलती है। आहाहा! ऐसा है। **(आत्मा को) अनादि से अन्य-वस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तपना होने से,....** परन्तु अन्य एक मोहकर्म है आत्मा में। आठ कर्म हैं न! मोहकर्म। अनादि से अन्य वस्तु-आत्मा से अन्य चीज़ है, वह जड़-मोहकर्म वह जड़वस्तुभूत वस्तु है। **मोह के साथ संयुक्तपना होने से,....** इस मोहकर्म के साथ भगवान आत्मा, अपने शुद्धस्वभावरूप बदलने की-परिणमने की सामर्थ्य होने पर भी, उस मोहकर्म के संयोग में आत्मा का उपयोग आत्मा के उपयोग का जो जानने-देखने का (स्वभाव), (उसे छोड़कर) मोह के संग में मिथ्याश्रद्धा, अज्ञान और अविरति - ऐसे तीन प्रकार के परिणाम विकार में हैं। मोहकर्म के निमित्त के संग से आत्मा में मिथ्यादर्शन, अज्ञान और राग-द्वेष के परिणाम होते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई! स्वभाव में तो शुद्धरूप परिणमने की सामर्थ्य है, तथापि मोह-अन्यकर्म है, उसके संयोग के सम्बन्ध से आत्मा में मिथ्यादर्शन—पुण्य से धर्म होता है, देह की क्रिया मैं कर सकता हूँ, (ऐसा अभिप्राय) मिथ्यादर्शन परिणाम, मोहकर्म के निमित्त के (संग में) अन्दर में आत्मा में होते हैं। आहाहा! विशेष कहेंगे.... (***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १७९, गाथा-८९, दिनांक २६-०१-१९७९, शुक्रवार, पौष शुक्ल १३

समयसार, गाथा ८९ टीका, थोड़ा चला है, फिर से (लेते हैं)। **यद्यपि निश्चय से अपने निजरस से ही सर्व वस्तुओं की अपने स्वभावभूत स्वरूप-परिणमन में सामर्थ्य है,...** क्या कहते हैं? कि (विश्व की) प्रत्येक वस्तु—आत्मा या परमाणु आदि जो वस्तुएँ, वे निजरस से—आत्मा का आनन्द और ज्ञानस्वभाव, ऐसा परिणमन उसका होना, वह ताकत-सामर्थ्य (उसमें) है। रागरूप—दया, दान, व्रतादि के परिणाम जो राग, उसरूप होना, वह उसका सामर्थ्य नहीं है। आहाहा! निज रस से ही अर्थात् कि अपने स्वभाव से ही, **सर्व वस्तुओं...** प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न और प्रत्येक रजकण (भिन्न-भिन्न) **अपने स्वभावभूत...** (अर्थात् कि) अपना जो स्वभाव है—आत्मा का ज्ञान-दर्शन-आनन्द, वह त्रिकाली स्वभाव है, तो उस स्वभावभूत स्वरूप परिणमन में सामर्थ्य है। आहाहा!

भगवान आत्मा में ज्ञान-दर्शन-आनन्द-शान्ति, यह स्वभाव और उस स्वभावरूप होना, वह उसकी सामर्थ्य है। समझ में आया? ऐसा होने पर भी अज्ञान क्यों हुआ? मिथ्याश्रद्धा क्यों हुई? आत्मा तो अपना चैतन्यप्रकाश, जिसका अनन्त-अनन्त कोड़ाकोड़ी सूर्य (प्रकाश) होवे तो भी जिसके (आत्मा के) ज्ञानप्रकाश का पार नहीं। (अपार ज्ञानप्रकाश) ऐसा ज्ञान अनन्त है, दर्शन अनन्त है, स्वभाव अनन्त-अनन्त है, प्रभुता अनन्त है, ऐसी अनन्त शक्तियों का निजस्वभाव है, उस स्वभावरूप परिणमन होना, वह उसका सामर्थ्य है। समझ में आया? तथापि क्या हुआ है अनादि से? आहाहा!

तथापि (आत्मा को) अनादि से अन्य-वस्तुभूत मोह के साथ.... मोह एक कर्म है मोह जड़। आहाहा! मोहकर्म के साथ (संयुक्तपना)-संयोग होने से। स्वाभाविक वस्तु भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द आदि स्वभाव से तो भरा है और अपनी निर्मल-वीतरागी परिणति करने की सामर्थ्य है, तथापि अनादि मोहकर्म के सम्बन्ध से; मोहकर्म से नहीं (परन्तु) मोहकर्म के सम्बन्ध से। जैसे स्वभावसम्बन्ध करना चाहिए, वैसा न करके मोहकर्म का सम्बन्ध (आत्मा ने) अनादि से किया है। आहाहा! **अनादि से अन्य-वस्तुभूत मोह...** कर्म-जड़ अन्य वस्तु है, (ऐसे) मोह के साथ संयोग होने से भगवान आत्मा का स्वभाव सामर्थ्य (स्वभावरूप परिणमित होने का) होने पर भी, मोहकर्म के

संयोग से-सम्बन्ध से, आत्मा का उपयोग—आत्मा का जो जानने-देखने का जो उपयोग है, उस उपयोग में अनादि से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान आत्मा में मोहकर्म के निमित्त से हुआ है। आहाहा! जो दया, दान, व्रत आदि के जो (शुभ) भाव हैं, वह राग है, तथापि वह धर्म है, ऐसी मिथ्याश्रद्धा अनादि से लगी है। आहाहा!

आत्मा अपने अतिरिक्त दूसरी किसी चीज़ का किंचित् कुछ कर नहीं सकता, तथापि मिथ्याश्रद्धा के कारण (निज) स्वभाव को छोड़कर, कर्म के संग में-सम्बन्ध में मिथ्याश्रद्धा के कारण, मैं पर की दया पाल सकता हूँ, पर को सुखी कर सकता हूँ, पर को जिलाता हूँ, पर को मार सकता हूँ, पर को सुविधा दे सकता हूँ, पर को असुविधा-दुःखी कर सकता हूँ—ऐसी मिथ्याश्रद्धा (अनादि से हुई है)। आहाहा! कठिन काम है। कहो, बलुभाई! यह कारखाना चला सकते हैं न? दवाखाने को... उस जड़ परपदार्थ में मैं कुछ (कार्य) कर सकता हूँ। आहाहा! अरे! शरीर का भी कुछ (नहीं) कर सकता, वह तो मिट्टी धूल है, (तथापि) अनादि से मोहकर्म के सम्बन्ध से (मानता है कि) मैं शरीर का भी कुछ कर सकता हूँ, ऐसी मिथ्याश्रद्धा-मिथ्यादर्शन है। आहाहा! शान्तिभाई! तुम्हारे तो बड़ी-बहुत उपाधि है। कितनी ही (उपाधि है)। ऐसा कल बलुभाई कहते थे। कहो, समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं कि प्रभु-आत्मा जो अन्दर है, वह तो अपने ज्ञान-आनन्द-शान्ति आदि अनन्त स्वभाव से भरा पड़ा है और उस अनन्त स्वभाव का निजरस से ही परिणमन करना, यह उसकी सामर्थ्य है। वीतरागस्वभावरूप होना—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होना, वह अपने स्वभाव की सामर्थ्य-शक्ति-सत्त्व है। ऐसा होने पर भी मोहकर्म के संयोग-सम्बन्ध से मिथ्यादर्शन है। है? मिथ्याश्रद्धा (अर्थात्) मैं पर की दया पाल सकता हूँ, पर को मदद कर सकता हूँ, मैं लड़के-प्रजा उत्पन्न कर सकता हूँ, जो यह लड़के (उन्हें) उत्पन्न कर सकता हूँ, वह तो परचीज़ है-जड़ है। जड़ को आत्मा उत्पन्न कर सकता है? आहाहा! मैं पर को शिक्षा दूँ, लड़के-लड़कियों को अच्छी (अच्छी शिक्षा दूँ) अभी विशेष शिक्षा बिना उसे अच्छा घर नहीं मिलेगा, (इसलिए) मैं शिक्षा दूँ (अर्थात् बहुत पढ़ाऊँ) ऐसी पर को मैं कर सकता हूँ, यह मान्यता (अभिप्राय) मिथ्याश्रद्धा अज्ञानी को मिथ्यादर्शन है। आहाहा!

और **मिथ्यादर्शन, अज्ञान...** (मिथ्याज्ञान) चाहे जो चीज़ माने तो कोई कारण में विपरीतता हो, या स्वरूप में विपरीतता हो या भेदाभेद में विपरीतपना का उसे अज्ञान है। आहाहा! राग से प्रभु (आत्मा) भिन्न है, परन्तु ऐसा न मानकर, मैं राग से एक हूँ, ऐसा अज्ञान है। ऐसी बात है। समझ में आया? भगवान जिनेश्वर परमात्मा का मार्ग सूक्ष्म है। पूरा मार्ग फेरफार! बहुत फेरफार हो गया है।

अज्ञान... जो अपना स्वरूप शुद्धचैतन्य है, उसे नहीं जानकर मैं विकार हूँ—ऐसा अज्ञान करता है और परवस्तु में मैं कारण बनूँ तो पर का कार्य होता है, ऐसा अज्ञान करता है। ऐसे अज्ञानभाव में अनेक प्रकार हैं। सत्य को असत्य, असत्य को सत्य, तत्त्व को अतत्त्व और अतत्त्व को तत्त्व—ऐसे अज्ञान से (मानता है)। यह अज्ञानभाव उत्पन्न हुआ है, यह विपरीत भाव है। आहाहा!

और अविरति.... अविरति... जो शुभ-अशुभराग है और उससे निवृत्ति नहीं है तथा (उसमें) प्रवृत्ति है। राग-द्वेष में (प्रवृत्ति), वह अविरतिभाव है। वह कर्म के संयोग में उपाधि उत्पन्न हुई है। कर्म से नहीं। आहाहा! (परन्तु) कर्म के संग से उपाधि उत्पन्न हुई-अविरतिभाव! कहो, देवीलालजी! मैं दुकान पर बराबर बैठूँ तो व्यवस्थित व्यवस्था पदार्थ की व्यवस्थित अवस्था मैं कर सकता हूँ, यह सब अज्ञानभाव और अविरतिभाव राग-द्वेष आदि परिणाम, वे अविरतिभाव हैं। आहाहा! बहुत कठिन काम। समझ में आया?

एक चीज़ जो एक स्थान में है, उसे मैं दूसरे स्थान में ले सकता हूँ-यह अज्ञान और अविरतिभाव है। यह 'इच्छामि पडिक्कमणं' में आता है। 'ठाणु उठाणा' यह अर्थ तो किसे आता है? जयनारायण, पहाड़े बोलते जाते हैं। 'इच्छामि पडिक्कमणं' नहीं आता - इरिया विरिया गमणा गमणी थाणा उठाणा - मैं एक स्थान की चीज़ को दूसरे स्थान में रखना हो तो वह झूठी बात है। भाई! ली नहीं जा सकती-उठायी नहीं जा सकती, फिरायी नहीं जा सकती (आत्मा से)। गजब बात है! बापू! अरे रे! अभी दुनिया को वीतराग परमात्मा ने कहा हुआ सत्य तत्त्व सुनने को मिलता नहीं, वह उसे (कब) श्रद्धा करे और कब पहिचाने? आहाहा! अरे रे!

यह अविरति अर्थात् कि जो कुछ शुभ-अशुभभाव, उनसे निवृत्ति नहीं—ऐसा जो

विकारभाव में परिणमन करना, वह अविरतिभाव है। उपाधिभाव है। आहाहा! मैल है। अविरति भेद से.. आहाहा! **भेद से तीन प्रकार का परिणामविकार है।** यह तीन प्रकार का परिणामविकार है। आहाहा! बहुत सरस बात है।

(कहते हैं) कि आत्मा जो वस्तु है, वह अपने शुद्ध अनन्त-अनन्त चैतन्यप्रकाश -अनन्त-अनन्त आनन्द की शीतलता का स्वभाव, अनन्त-अनन्त ईश्वरता - गम्भीर स्वभाव, अनन्त-अनन्त कर्ता-कर्म आदि शक्ति की व्यापकता की अनन्तता से व्याप्त आत्मा! आहाहा! ऐसे अपने स्वभाव का परिणमन करने की अपने में सामर्थ्य है। ऐसा होने पर भी, अपने स्वभावसन्मुख नहीं होने से और मोहरूपी कर्म है, उसके संग में (उसके वश होने से) अपने चैतन्यपरिणाम में परिणमता है न! तो तीन प्रकार का परिणाम विकार है - मिथ्याश्रद्धा, अज्ञान और अविरति यह तीन प्रकार का विकार-आत्मा की पर्याय में तीन प्रकार का विकार (अनादि का) है। आहाहा!

उपयोग का वह परिणामविकार,.... जानन-देखना, यह उपयोग है। उस उपयोग में यह तीन प्रकार का जो विकार है, वह कैसा है? **स्फटिक की स्वच्छता के परिणामविकार की भाँति,...** आहाहा! स्फटिक रत्न होता है। (हमने) इतना स्फटिक देखा है। जामनगर गये थे न पहले, डॉक्टर थे न, एक प्राणजीवन डॉक्टर, ढाई हजार का वेतन तब - १९९१ के वर्ष की बात है। १९९१ का मगसर महीना, पश्चात् वहाँ से आकर परिवर्तन किया चैत्र शुक्ल तेरस। वहाँ (जामनगर में) पहले गये थे। वहाँ एक छह लाख का सोलेरियम है - छह लाख की बड़ी मशीन है (किसी को) फोड़ा होवे और सूर्य का ताप दे (ऐसा मकान बड़ा) सोलेरियम है। छह लाख की मशीन है। जामनगर में व्याख्यान था, १०० गाथा की टीका चलती थी। इस समयसार की १००वीं गाथा की टीका चलती थी, १००वीं गाथा तब, हों! १००वीं गाथा ९१ के कार्तिक महीने की... वह उसने सुना। वह (डॉक्टर) कहता है, महाराज! हमारा सोलेरियम देखो, तुम्हें दृष्टान्त में काम आयेगा। (हम) गये थे, देखा तो इतना तो स्फटिक था, एक बड़ा (स्फटिक था)। उसके पास स्फटिक रत्न, वह स्फटिक रत्न स्वभाव से स्वच्छ होता है। है?

स्फटिक की स्वच्छता के परिणामविकार की भाँति,.... परन्तु वह स्वच्छता के

परिणाम में विकार होता है। है तो स्वच्छता का परिणाम है। उसमें भी स्फटिक की स्वच्छता के परिणाम होने पर भी, परिणामविकार अन्दर होता है। क्यों? पर के कारण-पर की उपाधि से। पर के कारण अर्थात् पर निमित्त है। उस पर की उपाधि से उत्पन्न होता हुआ दिखता है। स्फटिक (स्वभाव से) निर्मल होने पर भी निमित्त की उपाधि से, उसमें विकार देखने में आता है। क्या? यह कहते हैं **इसी बात को स्पष्ट करते हैं :-**

जैसे स्फटिक की स्वच्छता की स्वरूप-परिणमन में (अपने उज्ज्वलतारूप स्वरूप में परिणमन करने में) सामर्थ्य होने पर भी,.... यहाँ (पहले टीका में) आया था न! **अपने निजरस से ही सर्व वस्तुओं की अपने स्वभावभूत स्वरूप-परिणमन में सामर्थ्य है,....** निजरस से सर्व वस्तुओं का अपनी स्वभावभूत सामर्थ्य होने से। इसी प्रकार स्फटिक में भी-स्फटिक मणि में स्वच्छता के स्वरूप परिणमन में-निर्मल-निर्मल परिणमन में-उज्ज्वलतारूप स्वरूप परिणमन करने की सामर्थ्य होने पर भी, स्फटिक का अपना निर्मल परिणाम-स्वच्छ परिणाम होना, ऐसी सामर्थ्य है। ऐसा होने पर भी **कदाचित् (स्फटिक को)....** स्फटिक के पास-नजदीक **काले, हरे और पीले ऐसे तमाल, केल और सोने के....** काला तमाल, हरी केल, पीला सोना, ये तीन चीज़ें साथ में रखी जायें (इन तीन पात्ररूपी आधार का संयोग होने से) क्या कहते हैं? यह तो, भाई! संसार की बहियाँ देखने में बहुत होशियार देखे। यह बहियाँ अलग प्रकार की हैं। आहाहा!

(कहते हैं) **जैसे स्फटिक की स्वच्छता की स्वरूप-परिणमन में सामर्थ्य होने पर भी, कदाचित् (स्फटिक को) काले, हरे और पीले ऐसे तमाल, केल और सोने के पात्ररूपी आधार का संयोग होने से,....** स्फटिक की स्वच्छतास्वरूप परिणमन में (परिणमने की) सामर्थ्य होने पर भी कदाचित् काला तमालपत्र है। काला (होता है) यदि उसे स्फटिक के पास रखो तो अन्दर काली झाँईं हो जाती है - स्फटिक में काली झाँईं, काला तमालपत्र यदि नजदीक में रखो तो स्फटिक में काली झाँईं पड़ती है। अब केल-यह केल के पत्र, यह केल-केला (का वृक्ष), केल होता है न, उसके पत्ते हरे रंग के हैं। यदि स्फटिक के पास (नजदीक) रखो तो उस रंग की (स्फटिक में) अन्दर हरी झाँईं दिखायी देती है। यदि स्फटिक के नजदीक केल के पत्ते हों - केल के पत्ते पर स्फटिक रखा हो तो स्फटिक में हरे रंग की झाँईं दिखायी देती है, वह उपाधि है। आहाहा!

दो (दृष्टान्त हुए)। अब तीसरा – सोना, सोने के बर्तन में स्फटिक रखो, सोने की झाँईं स्फटिक में अपनी योग्यता से झाँईं दिखायी देती है, पीली (झाँईं दिखायी देती है।) स्फटिक तो स्वच्छ है और स्वच्छ (रूप से) परिणमित होने की सामर्थ्य है, ऐसा होने पर भी काले, हरे और पीले इन तीन के संग से—तमाल, केल और सोना—इन तीन के संग से काली, हरी और पीली झलक स्फटिक में दिखायी देती है, वह उपाधि है। आहाहा! अब ऐसी बातें! बनियों को धन्धे के कारण फुरसत नहीं मिलती! उसमें ऐसा मार्ग।

वह कहता है न एक! सुना है, ऐ बलुभाई! जापान में एक ऐतिहासिक है, ६७ वर्ष की उम्र का, बड़ा ऐतिहासिक, सब शास्त्र-बहुत शास्त्र लाखों देखे हैं और उसका जवान लड़का है, दोनों ऐतिहासिक हैं। उसका लेख आया था, बड़ा ऐतिहासिक, ऐतिहासिक ६७ वर्ष की उम्र का है। उसने ऐसा कहा कि अरे! जैनधर्म अर्थात् क्या? उसने बहुत शास्त्र पढ़े हैं। जैनधर्म, वह अनुभूति है। आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु है, उसका अनुभव करना, वह जैनधर्म है, ऐसा लिखा है।

परन्तु फिर अब आता है। भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यघन है, उसका अनुभव करना – वीतरागपर्याय का वेदन करना, वह जैनधर्म है। ऐसा (लेख में) लिखा है। फिर (लिखता है कि) परन्तु यह जैनधर्म बनियों को मिला। ऐतिहासिक, बड़ा ऐतिहासिक, अभी (उसका लेख) आया था। बनिये व्यापार के कारण धन्धे में निवृत्त नहीं होते। ऐ..शान्तिभाई! इसलिए यह अनुभूति करने का समय उन्हें नहीं मिलता। आहाहा! व्यापार... व्यापार... व्यापार... बड़ा होवे, उसे बड़ा व्यापार।

मुमुक्षु : परन्तु वह कमाता है न, कमाई करता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में, कमाया क्या, अभी कमाया किसे कहा जाये? पैसे (रुपये) तो पूर्व पुण्य के कारण यहाँ दिखते हैं (और मानता है कि) मेरे हैं, यह महा अज्ञान भ्रम है। (रुपये-पैसे) जड़ हैं, वे चैतन्य के कहाँ होते हैं? अजीव है, वे जीव के कैसे होंगे? आहाहा! कठिन बात है, भाई! यह तो वीतरागमार्ग है।

यह यहाँ कहते हैं कि व्यापारी व्यक्ति को व्यापार के कारण निवृत्ति नहीं – फुरसत नहीं, बस यह किया... यह किया... और यह किया, थोड़ी फुरसत मिले तो छह-सात घण्टे

तो नींद में जाते हैं, दो-चार घण्टे स्त्री, पुत्रों को प्रसन्न करने में जाते हैं। आहाहा! अर..र..! जिन्दगी चली जाती है! इस धर्म के नाम से जाये तो यह व्रत करो और अपवास करो, यह करो... वह तो सब राग की क्रिया है, उसमें जाये वहाँ तो उसमें समय चला जाता है। यह आत्मा अन्दर भगवान है, यह दया, दान के विकल्प से-राग से भी भिन्न है। उसका सम्यग्दर्शन और अनुभव करने का बनियों को समय नहीं मिलता। तुम्हारी सब पोलपट्टी उसने लिखी है। बनिया अर्थात् तुम्हारा सबका व्यापारियों का। व्यापारी तो खोजा भी व्यापारी कहलाता है। व्यापार करे वह बनिया, बनिया अर्थात् (व्यापार) खोजा करे, लुहार करे, खोजा भी व्यापार करे न, इसलिए वे सब व्यापार करें, वे (बनिये हैं)। कुछ खबर नहीं होती। सिर पर जो कहे वह हाँ, पर को मदद करो - कहे हाँ, परन्तु मदद की नहीं जा सकती तीन काल में। पर को (मदद की नहीं जा सकती)। आहार-पानी दो, सुखी करो, सुविधा (दो तो) यह तो कहे हाँ! (अरे भाई)! कौन सुविधा दे, असुविधा छोड़ दो। कौन दे और कौन छोड़े? प्रभु! आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि स्फटिक की स्वच्छता का स्वभाव सामर्थ्य तो वह स्वच्छता होने की है परन्तु उसे तमाल, केल और सोना, इन तीन के संग से तीन रंगों की झलक अन्दर (स्फटिक में) दिखायी देती है। काली, हरी और पीली, वह स्फटिक का स्वभाव नहीं है, वह तो स्फटिक में उपाधि है। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा। आहाहा! है न? यह काला, हरा, और पीला ऐसे तमाल, केल और सोने के पात्ररूपी आधार का संयोग होने से स्फटिक की स्वच्छता का काला, हरा और पीला ऐसे तीन प्रकार का परिणाम विकार दिखायी देता है। तीन प्रकार का विकार स्फटिक में दिखायी देता है। तीन प्रकार के पात्र में रखने से, पात्र की झाँईं (झलक) उसमें स्वयं की पर्याय में -पर्याय की योग्यता से दिखायी देती है। आहाहा! यह तो दृष्टान्त हुआ। (अब) सिद्धान्त।

उसी प्रकार (आत्मा को) अनादि से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति जिसका स्वभाव है.... देखो! किसका स्वभाव? मोह का। आहाहा! **ऐसे अन्य-वस्तुभूत मोह का संयोग होने से,...** क्या कहते हैं? मिथ्याश्रद्धा (विपरीत श्रद्धा) मिथ्याज्ञान (विपरीत ज्ञान) और अविरति अर्थात् राग-द्वेष का अनिवृत्तिभाव अर्थात् निवृत्ति नहीं, अन्य वस्तुभूत मोह, **अन्य-वस्तुभूत मोह का संयोग होने से,...** आहाहा! आत्मा के उपयोग का; जैसे

स्फटिक में काले, हरे और पीले रंग की झाँईं तीन (प्रकार की) उसका आधार देने से काली, हरी और पीली झाँईं (स्फटिक में) दिखायी देती है, वह उपाधि है; उसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूपी प्रभु में (उपयोग में) मोह के संग से मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण / राग, ये तीनों उसके परिणाम विकार में दिखायी देते हैं। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु अब सादी भाषा... भाषा में तो ऐसा कुछ संस्कृत और व्याकरण ऐसा नहीं है। आहाहा!

(कहते हैं कि) उस **मोह का संयोग होने से,...** जैसे स्फटिक में काले, हरे और पीले सोने का संयोग होने से जैसे काली, हरी और पीली झाँईं (स्फटिक में) दिखायी देती है, वह स्फटिक की उपाधि है; वह स्फटिक का स्वभाव नहीं है; उसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्द के प्रकाश की मूर्ति प्रभु चैतन्य के प्रकाश का सागर भगवान, उसकी पर्याय-परिणाम में निर्मल परिणाम करने की ताकत होने पर भी, मोह का संग करने से उसकी पर्याय में—चैतन्य के (उपयोग में) तीन प्रकार का विकार भासित होता है—मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और राग-द्वेष के परिणाम।

मुमुक्षु : मोहकर्म दिखता तो है नहीं, फिर संयोग कैसे कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोहकर्म-जड़कर्म का संयोग दिखता नहीं, परन्तु अपने स्वभावसन्मुख का लक्ष्य नहीं है, (इसलिए) वह पर के प्रति लक्ष्य करता है, पर के प्रति (लक्ष्य) करता है तो पर कौन? मोह। भले वह ख्याल में न आवे परन्तु ख्याल में ऐसा तो आता है कि मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, मिथ्यावर्तन, वह तो ख्याल में आ जाता है। तो उस निमित्त के संग से-निमित्त के कारण से (अर्थात् निमित्त के वश स्वयं होने से) उपाधि दिखायी देता है। उससे (निमित्त से) नहीं होता। होता है तो स्वयं से (आत्मा से)। स्फटिक में काली, हरी, पीली झाँईं स्फटिक की स्वयं की योग्यता से होती है। पर के कारण नहीं, पर तो निमित्तमात्र है।

मुमुक्षु : परन्तु पर होवे तो होती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं, नहीं, यह नहीं। पर होवे तो हो - पर होवे तो हो, यह नहीं। यहाँ हो, तब पर होता है, इतना।

देखो, न्याय देखो! यह लकड़ी यहाँ है। यहाँ (लकड़ी के नीचे) केल का पत्र रखो तो केल के पत्र से इसमें हरी झाँईं नहीं पड़ेगी क्योंकि इसमें (लकड़ी में) योग्यता नहीं है। समझ में आया? केल, नीचे केल का पत्र रखो, सोना रखो, सोना तो इसमें अन्दर पीली झाँईं नहीं पड़ेगी क्योंकि इसकी योग्यता नहीं है। इसमें नीचे (वह पात्र - आधार) रखो तो इसमें (लकड़ी में) झाँईं नहीं पड़ेगी। स्फटिक के नीचे रखो तो स्फटिक की स्वयं की योग्यता से अन्दर झाँईं पड़ती है। पर के कारण से (झाँईं) नहीं है। यह देखो, यह देखो! यह... यह है तो यहाँ झाँईं पड़ती है और वह उसकी योग्यता से (पड़ती है न)। इसे ऐसे नीचे रखो तो झाँईं नहीं पड़ती, क्योंकि इसमें योग्यता नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई! समझ में आया?

मुमुक्षु : यह आया, तब झाँईं पड़ी न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; वह झाँईं पड़ने की योग्यता से हुई है, यह तो निमित्त कहने में आता है। इसके लिए तो दृष्टान्त दिया है। आहाहा! क्या करे, भाई! प्रभु का मार्ग.. ऐसा मार्ग है। पाँचवाँ श्रमणसूत्र आता है न, उसमें यह आता है। 'इणमेव...' शाम-सवेरे प्रतिक्रमण करे, परन्तु अर्थ की कुछ खबर नहीं होती। पहाड़े बोलते हैं।

मुमुक्षु : अन्धेरे में गुड़ खाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुड़ था कब परन्तु वहाँ कण्डा था। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि आत्मा का स्वभाव तो स्वच्छ-निर्मल शुद्ध वीतरागभावरूप परिणमित होने का है, वह उसकी सामर्थ्य है। ऐसा होने पर भी, मोह का संग करने से, मोह से नहीं, कर्म से नहीं, परन्तु उसका संग करने से, स्वयं की (आत्मा की) पर्याय में मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की परिणति - चैतन्यविकार देखने में आता है। अरे! अब ऐसी बातें! कहो, रतिभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! परन्तु... प्रभु का मार्ग तो ऐसा...!

मुमुक्षु : ये भाव अनजाने हैं, इसलिए कठिन तो लगेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कभी किया ही नहीं, कभी सुना नहीं। आहाहा! अनादि से अज्ञानभाव से चलाया है। आहाहा! साधु भी अनन्त बार हुआ। (नग्न) दिगम्बर साधु, हों!

वस्त्रसहित साधु, वे तो कुलिंगी हैं, परन्तु (यह तो) द्रव्यलिंगी नग्नपना पंच महाव्रत भी अनन्त बार लिया, परन्तु वह तो बाह्यक्रिया जड़, राग तो विकार है। राग की क्रिया में धर्म माना तो मिथ्यात्व है। आहाहा! बलुभाई जैसे ने अपवास-वर्षीतप किया! इसलिए हो गयी निर्जरा? धूल भी निर्जरा नहीं। काल व्यर्थ गया। ऐ.. बलुभाई! आहाहा! क्योंकि मैं वहाँ परवस्तु का त्याग करता हूँ, तो परवस्तु का त्याग तो आत्मा में परवस्तु है ही नहीं, उसका तो त्याग ही है और मैंने त्याग किया (ऐसा माना), वह तो मिथ्याश्रद्धा है। समझ में आया? धूल भी नहीं, एक पाई भी नहीं इसके पास, इसके पास राग जो है, उस राग का अंश भी इसके स्वरूप में नहीं है। इसकी मोटर-फोटर तो कहीं रह गयी।

आहाहा! रात को दृष्टान्त नहीं, बलुभाई ने कहा था, उस ईरान के बादशाह को (देश में से) निकाल डाला तो उसके पास दो हजार करोड़ डॉलर लेकर गया, परन्तु उसमें धूल में क्या है? मरकर नरक में जानेवाला है क्योंकि वह तो अरबी-मुसलमान माँस खाये, मछलियाँ खाये.. अर..र..र..! झूठ बोले, चोरी करे, विषयसेवन महातीव्र गृद्धि से, पर में सुख मानकर (करे)। पर में सुख है नहीं और पर में सुख है, ऐसा मानकर विषय लेता है तो मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है; जैन नहीं। आहाहा! समझ में आया?

पर में सुख है, पैसे में सुख है, स्त्री में सुख है, परिवार में सुख है, विशाल कुटुम्ब बारह-बारह लड़के। अपने 'वीछिया' में बारह भाया है न, नहीं बारह भाया 'वीछिया' में? बारह लड़के और उन बारह-बारह लड़कों का बड़ा लश्कर। बारह भाया है न! अपने 'वीछिया' में है न! 'वीछिया' में तो हम बहुत बार गये हैं न! वह तो ठीक, परन्तु चक्रवर्ती को देखो! भरत चक्रवर्ती (को) बत्तीस हजार तो पुत्रियाँ, चौसठ हजार तो पुत्र (और) बत्तीस हजार पुत्रियाँ और बत्तीस हजार दामाद, चौसठ हजार पुत्र और उनकी चौसठ हजार स्त्रियाँ (पुत्रवधुएँ) अरे, उन्हें स्वयं को छियानवें हजार स्त्रियाँ, तथापि वे भरत चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि थे। एक भी चीज़ मेरी है, ऐसा वे नहीं मानते थे। (ऐसी) मान्यता करना, वह कहीं साधारण बात है!!

इस आत्मस्वभाव पर दृष्टि पड़ने से मैं ज्ञानस्वरूप-आनन्दस्वरूप हूँ, तो कोई राग आदि मेरी चीज़ नहीं है, ऐसी मान्यता अन्दर से होती है। आहाहा! यह मान्यता! आहाहा!

छियानवें हजार स्त्रियाँ (उनमें) एक बड़ी (मुख्य पटरानी) स्त्री चक्रवर्ती की, (जिसकी) एक हजार देव सेवा करते हैं, उस स्त्री की (सेवा करते हैं); तथापि अन्तर में (सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती मानता है कि) अरे! मैं तो प्रभु आत्मा आनन्द-ज्ञानस्वरूप, मैं तो (ऐसा हूँ और) राग जो होता है, वह मैं नहीं तो यह परवस्तु मेरी कहाँ से आयी? आहाहा! जिस प्रकार बीस वर्ष का जवान लड़का हो और चालीस वर्ष की (उसकी) माता हो, उसे देखकर जैसे (लड़के को) विषय की वासना (उत्पन्न ही) नहीं होती। होगी? मेरी माता है, जैसे उसे देखने पर तो उसे माँ का प्रेम आता है परन्तु विषय की वासना नहीं आती। मेरी जननी है। मैं नौ महीने इसके गर्भ में रहा हूँ, मेरी माँ है, भले जवान है। उसे देखने पर भी उसे माँ का प्रेम आता है परन्तु विषय की वासना नहीं आती; इसी प्रकार ज्ञानी को जगत के पदार्थों को देखकर, (वे) मेरे हैं, ऐसी मान्यता नहीं आती। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानी को बहुत शिष्य होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत शिष्य ठीक, उसे शिष्य एक भी नहीं होता। कौन गुरु और कौन शिष्य? लोग कहते हैं इतने शिष्य हैं। आहाहा! कठिन बातें, बापू! भगवान को इतने शिष्य थे (ऐसा) भाषा में बोला जाता है, बोला जाता है निमित्त समझावे वह। किसके शिष्य और किसके गुरु? कठिन बात है, भाई!

यहाँ तो कहते हैं (लो न!) आहाहा! ऋषभदेव भगवान, जिन्हें मति, श्रुत, अवधि तीन ज्ञान, त्रिरासी लाख पूर्व रहे संसार में। आत्मज्ञानी थे, तीन ज्ञान थे मति-श्रुत-अवधि। नौआखली, नौआखली क्या कहलाती है? नौआखली में मुसलमानों की और हिन्दुओं की बहुत तकरार हुई थी। गाँधीजी (मोहनदास करमचन्द गाँधी) गये थे, खबर है न सब बातों की। यहाँ तो बहुत बातें आती है। पश्चात् वहाँ आगे वह मुसलमान ऐसा करे, आहाहा! (बलजोरी से) २५-३० वर्ष का युवक, ४५-५० वर्ष की उसकी माँ, दोनों को नग्न करके ऐसे विषय ग्रहण के लिए दबाव करे। अर..र..र..! उसे ऐसा लगे, अर..र..र..! यह जमीन मार्ग दे तो समा जाऊँ, अर..र..र..! यह क्या करता है, भाई! बहिन और भाई को इकट्ठा करके दोनों को नग्न करे!! इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान को आनन्द का भान होने पर (अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेने पर) जगत की कोई चीज़ मेरी है (उसमें सुख है),

ऐसी मान्यता का विकल्प उसे नहीं होता। मैं तो अपने में समा जाऊँ, ऐसी चीज़ है; बाहर में मेरी कोई चीज़ नहीं है। आहाहा! गुजराती आ जाती है। आहाहा! मार्ग, बापू! वीतरागमार्ग बहुत अलग प्रकार है! आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि **अनादि से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति जिसका स्वभाव है ऐसे अन्य-वस्तुभूत मोह का संयोग होने से, आत्मा के उपयोग का,...** आत्मा के उपयोग में / जानने-देखने के परिणाम में मिथ्यादर्शन / मिथ्याश्रद्धा होती है। आहाहा! पर में सुख है, ऐसी मिथ्याश्रद्धा अज्ञानी को होती है। पर मेरे हैं, ऐसी मिथ्याश्रद्धा होती है। मैं पर का कुछ बिगाड़ सकता हूँ, (सुधार सकता हूँ)—ऐसी मिथ्याश्रद्धा अज्ञानी को होती है। ओहोहो!

मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान **अज्ञान... अविरति...** राग-द्वेष, **ऐसे तीन प्रकार का परिणामविकार...** तीन प्रकार के परिणाम विकार, **समझना चाहिए।** जैसे स्फटिक में तीन प्रकार का विकार देखने में आता है; उसी प्रकार आत्मा में-भगवान स्वभाव में कर्म का संयोग करने से... यह तो बड़ा प्रश्न हुआ था न! 'संग एव' - 'संग एव' वे कहते हैं, संग से होता है, यह कहते हैं संग एव - स्वयं ने संग किया, इसलिए (विकार) होता है। वहाँ बड़ा प्रश्न हुआ था। वर्णीजी के पास बड़े विद्वान (पण्डित) बंशीधरजी थे, वे बाद में यहाँ आये थे, फिर यहाँ स्वीकार किया - कहा कि बराबर है। पर का संग किया, इसलिए (विकार) हुआ, पर से नहीं हुआ। पर का संग किया, इसलिए हुआ है - मोह का संग करने से मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान आदि होते हैं। कर्म के कारण से मिथ्याश्रद्धा आदि होते हैं, ऐसा नहीं है। परद्रव्य से पर में कुछ भी नहीं होता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ नहीं कर सकता। आहाहा! यह ऐसी बात है।

परन्तु अज्ञानी (को) अनादि तीन प्रकार का परिणाम विकार होता है, ऐसा समझना चाहिए। अज्ञानी को यह तीन प्रकार का विकार होता है। मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र - अविरतिभाव। आहाहा! यह तो दृष्टान्त है- जैसे काली, हरी, पीली ऐसे तीन प्रकार डालना है तीन, (इसी प्रकार) यहाँ तीन प्रकार हुए, उसमें निमित्त भी यहाँ तीन प्रकार के हैं। मिथ्याश्रद्धा में दर्शनमोह निमित्त है; अज्ञान में ज्ञानावरणीय का निमित्त है और

अविरति में चारित्रमोह का निमित्त है। क्या कहा ? फिर से, ऐसा कि स्फटिक जो स्वच्छ है, उसे तो तीन प्रकार हुए—काला तमाल। तमाल का पत्र काला होता है। हरा केल, पीला सोना। इस (झाँईं के) तीन प्रकार हुए, तीन प्रकार की है, तो आत्मा में तीन प्रकार मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र (ये) तीन प्रकार हैं। क्या आया ? कि तीन प्रकार जड़ में निमित्त आये (यहाँ) मिथ्याश्रद्धा में दर्शनमोह का निमित्त, मिथ्याज्ञान में ज्ञानावरणीय का निमित्त, अज्ञान निमित्त और मिथ्याचारित्र में चारित्रमोह का निमित्त। अब ऐसा सब, अब कहाँ लोगों को फुरसत.. बलुभाई !

मुमुक्षु : निवृत्ति लेकर आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आये हैं, बाबूभाई को लेकर आये हैं न, बड़े भाई को साथ में लाये न ! ऐसा मार्ग, बापू ! क्या करें, भाई ! प्रभु का मार्ग अभी बहुत फेरफार हो गया है, भाई ! आहाहा ! यह ८९ गाथा (हुई)।

भावार्थ : .... इसका भावार्थ। **आत्मा के उपयोग में....** अर्थात् कि आत्मा के जानने-देखने के भाव में। **यह तीन प्रकार का परिणामविकार... तीन प्रकार का परिणामविकार अनादि कर्म के निमित्त से है।** विकार मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्या अविरति अनादि 'कर्म के निमित्त से' है, देखा ? संग किया न ! उसमें (टीका में) संयोग से कहा था न ? मोह के संयोग से। यहाँ (भावार्थ में) निमित्त से कहा है। 'निमित्त से' इसका अर्थ हुआ निमित्त से (विकार) हुआ नहीं, परन्तु निमित्त वह था, उसका संग करने से-उसका लक्ष्य करने से आत्मा में तीन प्रकार का परिणाम विकार होता है। कर्म के निमित्त से... है। **ऐसा नहीं है कि पहले यह शुद्ध ही था...** क्या कहते हैं ? पर्याय में पहले (आत्मा) शुद्ध था ? द्रव्य-गुण तो शुद्ध है—द्रव्य और गुण तो त्रिकाल शुद्ध ही है परन्तु पर्याय में-अवस्था में पहले शुद्ध था और पश्चात् अशुद्ध हुआ, ऐसा नहीं है। पर्याय में भी अशुद्धता अनादि की है। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसी बातें ! वह तो व्रत पालो, अपवास करो, महीने-महीने के मास खमण करे न। उसमें समझ में तो आये कुछ ! क्या धूल है वहाँ। अज्ञान है। मैं पर का त्याग कर सकता हूँ, ऐसा जो भाव-राग आया, वह धर्म है (यह मान्यता तो) मिथ्यात्व है। आहाहा ! इस मिथ्यात्व के गर्भ में आगे अनन्त जन्म-

मरण कराने की सामर्थ्य है। यह मिथ्याश्रद्धा (ऐसा पाप है)। बहुत कठिन बात है, बापू! आहाहा!

(कहते हैं) **ऐसा नहीं है कि पहले यह शुद्ध ही था...** कौन? पर्याय, हों! द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध ही है। (आत्मा) पर्याय में शुद्ध ही था **और अब इसमें नया परिणामविकार हो गया है।** ऐसा नहीं है। क्या कहा? कि भगवान आत्मा द्रव्य अर्थात् वस्तु; गुण अर्थात् शक्तिस्वभाव, वह तो त्रिकाल शुद्ध। अब उसकी पर्याय जो परिणाम-अवस्था है (वर्तमान), वह अवस्था शुद्ध थी और बाद में अशुद्ध हो गयी, ऐसा नहीं है। वह पर्याय में अशुद्धता अनादि की है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : दृष्टान्त तो स्फटिक का दिया है! स्फटिक स्वच्छ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो दृष्टान्त दिया न! समझाने के लिये दिया है। स्फटिक क्या पहले शुद्ध था? स्फटिक शुद्ध पहले से ही नहीं था, वह तो संग में है तो काली, हरी, पीली (झाँईंवाला) ही था। वरना तो स्वभाव है, ऐसा कहा संग के कारण वह हरा, पीला पर्याय में था - पर्याय में वह हरी-पीली है, यह तो दृष्टान्त है। यहाँ तो ऐसा ही कहा।

(कहते हैं) आत्मा का निजरस से ही शुद्ध परिणमित होने का स्वभाव है और स्फटिक का तो स्वच्छ होने का ही स्वभाव है, परन्तु संग में काली, हरी, पीली झाँईं दिखती है। उसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्यप्रकाश की मूर्ति प्रभु... आहाहा! कोड़ाकोड़ी सूर्य हों तो भी उस प्रकाश से प्रभु चैतन्य का प्रकाश अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. है। ऐसा चैतन्यप्रकाश की मूर्ति प्रभु (आत्मा) अपने में निर्मल परिणमन करने की सामर्थ्य रखता है। ऐसा होने पर भी, परिणमन पहले शुद्ध था और बाद में अशुद्ध हुआ, ऐसा नहीं है। पर्याय अनादि से बिगड़ी हुई (अशुद्ध) है।

पहले ऐसा कहा न कि (सर्व) वस्तुओं का अपने स्वभावभूत स्वरूप परिणमन में सामर्थ्य है - अपने स्वभावरूप परिणमित होने की सामर्थ्य है। शुद्ध परिणमित होने की सामर्थ्य (शक्ति, ताकत) है। परन्तु पर्याय में शुद्ध है, ऐसा नहीं है। क्या कहा? आत्मा में ज्ञान, आनन्द आदि जो स्वभाव हैं, तो उनमें शुद्धपरिणमन करने का स्वभाव है (शक्ति है), परन्तु पर्याय में शुद्ध है, ऐसा नहीं है। किन्तु स्वभाव ऐसा होने पर भी, मोह के संग से

मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और राग-द्वेष अविरति के परिणाम—चैतन्यपरिणाम का विकार (वह) तीन प्रकार की अशुद्धता उसमें (पर्याय में) उत्पन्न होती है।

मुमुक्षु : कर्म थे तो अशुद्धि आयी और कर्म गये तो अशुद्धि चली गयी, ऐसा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल झूठ बात है। स्वयं संग किया और संग छूट गया, इसलिए निर्मल हुआ। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

फिर से, यह अशुद्धता जो पर्याय में अनादि से है, वह तो अनादि से अपने में है और वह तो उसमें मोक्षमार्गप्रकाशक में लिया है न! अनादि में निमित्त का प्रश्न नहीं होता। भाई! उसमें आता है, मोक्षमार्गप्रकाशक में है। न, खबर है न! एक बात में सब बातों का ख्याल हो, परन्तु सब बात साथ में (एक साथ) कही जा सकती है? हजारों शास्त्र देखे हैं, करोड़ों श्लोक जाने हैं, परन्तु उस समय ख्याल में तो अनेक बातें होती हैं किन्तु उस समय तो जो कहने की हो, वह आवे न! उसमें यह लिया है कि अनादि में निमित्त था और अनादि अशुद्धता हुई, ऐसा नहीं है। यह अशुद्धता है अनादि से, बस! यह मोक्षमार्गप्रकाशक में है। समझ में आया? यह तो बापू! वीतराग जिनेश्वरदेव की वाणी, बापू! यह तो अलौकिक बातें हैं! अभी तो सब गुप्त-(गुप्त) सब हो गया है। साधुओं को खबर नहीं, पण्डितों को भी खबर नहीं।

मुमुक्षु : गुप्त था, वह आपने बाहर निकाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अन्दर है ही, वह अन्दर। आहाहा! वह तो (संवत्) १९७१ के वर्ष से मैं कहता हूँ, लाठी में १९७१ का चातुर्मास था, १९७० में दीक्षा। ६६ वर्ष हुए। दीक्षा का पहला चातुर्मास बोटाद था, दूसरा चातुर्मास लाठी (गाँव में किया था)।

दूसरे ही चातुर्मास में मैंने कहा था। हमारे गुरु थे, हमारे गुरुभाई मूलचन्दजी थे। हीरा (चन्दजी माहराज)। तीन ठाणा। लाठी में व्याख्यान, तब अष्टमी और पूर्णिमा को प्रौषध करते थे, वे लोग करे न! हमारे वीरचन्दभाई के पिता कानजी जसराज थे, तब बहुत प्रौषध करते थे। वीरचन्दभाई! तुम्हारा जन्म ७१ में था?

मुमुक्षु : ६२ में जन्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक, ठीक। ७१ में कानजीभाई प्रौषध करते थे, कानजीभाई

देसाई, मौनजी देसाई, वह हरगोविन्द, माणिकचन्द वृद्ध, वह हरगोविन्द नहीं ? सब। खबर है न! सब अष्टमी और पूर्णिमा को प्रौषध करे, २५-३० व्यक्ति। हमारे गुरु हैं, वे सवेरे व्याख्यान पढ़ते परन्तु अष्टमी, पूर्णिमा को २५-३० (लोग) प्रौषध करते। पूरे चातुर्मास में करते थे किन्तु पूरी सभा भर जाये, पश्चात् वे लोग कहें—अभी कानजीस्वामी थोड़ा बहुत पढ़े, एक घण्टे तो पढ़े, १९७१ की बात है। हम दोपहर को एक घण्टे पढ़ते थे। तब भी (मैंने तो) उस समय कहा था 'आत्मा में विकार होता है, वह स्वयं से होता है, कर्म से नहीं।' तब भगवती (सूत्र) पढ़ता था। भगवतीसूत्र है न! सोलह हजार श्लोक और एक लाख (श्लोक प्रमाण) संस्कृत की टीका, सब देखा है, बहुत बार देखा है (पढ़ा है)। सत्रह बार पढ़ा है। उस समय भी कहा था, जरा खलबलाहट हो गयी थी। बेचारे हमारे गुरु तो सुनते थे, हीराजी महाराज भद्रिक थे। कहते हैं कुछ यह! कि 'आत्मा में जो विकार होता है, वह कर्म से नहीं; अपने उल्टे पुरुषार्थ से होता है और सुलटे पुरुषार्थ से विकार का नाश करता है।'—भगवती में है, संशय का अधिकार है, सब सुनते थे। कोई बोलते नहीं किन्तु जरा दामोदरसेठ दामनगरवाला पैसेवाला था न, तब दस लाख। उस समय दस लाख अर्थात् अभी अब कीमत घट गयी, उसके पास दस लाख थे। दामोदर जगजीवन गोपालजी, दस लाख, (पूँजी) चालीस हजार की आमदनी तब थी, हों! १९७१, ६६ वर्ष पहले। एक दस हजार का गाँव था, घर में 'मुलियापाठ' घर में गाँव स्वयं को, अपने बनिया दशाश्रीमाली घर में बन्दूकधारी चौकीदार रखते थे। बन्दूक रखते थे दुकान में। अपने बनिया दशाश्रीमाली, तथापि उसे यह बात नहीं जँची, उसने यह बात सुनी, इसलिए उसे चोट लगी कि ऐसा कहाँ से निकाला। हमारे गुरु ने कभी कहा नहीं, हीराजी महाराज ने कहा नहीं और हमने सुना भी नहीं। यह नया कहाँ से निकाला ? फिर यह कहते थे (कि) ऐसी घर की बातें करते हैं, यह इनकी पतंग उड़कर कहाँ जायेगी ? ऐसा बोलते थे। गृहस्थ व्यक्ति थे परन्तु मैं तो किसी को गिनता नहीं, बड़ा गृहस्थ हो तो उसके घर का। यहाँ हमारे क्या है ? तब १९७१ में कहा था। राग और द्वेष तथा मिथ्याश्रद्धा जीव में जीव स्वयं अपने से करता है, कर्म से नहीं। यह तो तुम्हारे पिता भी व्याख्यान में बैठे थे। सब—कानजीभाई, हरगोविन्दभाई और वह हरगोविन्द का भाई था न, जरा साधारण, खीमचन्द, सब प्रौषध करते थे, १९७१ के वर्ष की बात है। कितने वर्ष हो गये ? ६४ वर्ष। परन्तु हमें तो कल के जैसा लगता है।

आहाहा! दहाड़कर कहा 'आत्मा में जो संशय और मिथ्यात्व होता है, वह स्वयं से होता है, कर्म से बिल्कुल नहीं और वह मिथ्यात्व, अज्ञान तथा राग-द्वेष परिणाम अपने पुरुषार्थ से नाश कर सकते हैं। अपने उल्टे पुरुषार्थ से होते हैं और सुल्टे पुरुषार्थ से नाश करते हैं।' ऐसे नगाड़ा पीटकर तब बात की थी! आठ दिन पढ़ा जाये, प्रौषध होवे न। जब अष्टमी और पूर्णिमा (को)। स्थानकवासी में चौदस नहीं माने। (और अपने) दिगम्बर में अष्टमी और चतुर्दशी - अष्टमी और चतुर्दशी तथा स्थानकवासी में अमावस्या और पूनम मानते हैं। वे लोग चौदस बड़ी चौदस मानें। यह चौदस है न कल, तो तब बहुत लोग प्रौषध करें। यह मौनजी देसाई। कहाँ गये हमारे मनसुखभाई? मौनजी देसाई थे, मनसुखभाई के पिता? कौन छगनभाई-छगन देसाई, छगन देसाई के पिता मौनजी देसाई - यहाँ तो वृद्ध के वृद्ध चार पीढ़ी को जानते हैं न! बस बेचारे प्रौषध करने बैठें भद्रिक, कुछ भान नहीं होता।

मुमुक्षु : प्रौषध करे और तीन रुपये दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी तीन रुपये अर्थात् (पुराने) चार आने। धूल में भी नहीं। अरे, बापू! अपवास में वह सब तो लंघन है, जहाँ आत्मज्ञान ही नहीं, सम्यग्दर्शन की ही खबर नहीं, वहाँ फिर उसे प्रौषध और सामायिक कैसे?

यहाँ तो यह कहते हैं, आहाहा! आत्मा के उपयोग में तीन प्रकार का परिणाम विकार अनादि कर्म के निमित्त से... ऐसा नहीं कि पहले वह शुद्ध ही था। कौन शुद्ध था? पर्याय-परिणाम शुद्ध थे और फिर (बाद में) अशुद्ध हुआ, ऐसा नहीं है और अभी उसमें (आत्मा में) नये परिणाम का विकार हो गया, ऐसा नहीं है। **यदि ऐसा हो तो सिद्धों को भी नया परिणामविकार होना चाहिए।** सिद्ध भगवान हैं न, णमो सिद्धाणं। निर्मल हुआ तो अभी पर्याय में शुद्ध और फिर विकार होवे तो सिद्ध में भी होना चाहिए - अनन्त सिद्ध हैं न, परमात्मा, नमः सिद्धाणं। मुक्ति शिला पर अनन्त सिद्ध भगवान विराजते हैं, वे तो निर्मल हैं। यदि निर्मल को विकार होवे तो उन्हें भी विकार होना चाहिए। समझ में आया? आहाहा! जो चना है चना, चना (उसे सेंककर) भुना चना हुआ, वह फिर उगेगा? नहीं उगेगा। भुना चना उगेगा?

मुमुक्षु : मक्खन का घी होता है, पश्चात् घी का मक्खन नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन काल में नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ आत्मा में (परिपूर्ण) निर्मल पर्याय हो गयी, फिर मलिन होगी? तीन काल में मलिन नहीं होगी।

अनादि से (पर्याय) मलिन है, उस मलिनता का, अपने स्वभाव का आश्रय लेकर नाश होगा तो फिर कभी भी मलिन परिणाम नहीं होंगे। मलिनता का नाश करने का उपाय कोई क्रियाकाण्ड नहीं है। आहाहा! शुद्धस्वभाव! एक समय में भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुणों का भण्डार भरा है। आहाहा! (जिस प्रकार) आकाश का पार नहीं है; उसी प्रकार (आत्मा के) गुणों की संख्या का पार नहीं है। आहाहा! सागर की गम्भीरता का पार नहीं है; उसी प्रकार प्रभु के अनन्त गुणों का पार नहीं है। यह प्रभु अर्थात् यह आत्मा अन्दर, हों! सूर्य के प्रकाश का तेज कोड़ाकोड़ी हो तो भी इस चैतन्य के तेज-प्रकाश का पार नहीं है, ऐसा जो भगवान आत्मा, अनादि से कर्म के (मोहकर्म के) संग से विकारी परिणाम करता है। पहले विकार (पर्याय में) नहीं था और पर्याय में विकार किया, ऐसा नहीं है (पर्याय में विकार अनादि है)।

पश्चात् विकार की पर्याय, अपने शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करने से अपने स्वरूप में रमणता करने से अशुद्धता का नाश होता है, फिर से अशुद्धता नहीं होती। चना सिंक गया, वह फिर से उगता नहीं है, मिठास देता है और उगता नहीं है। कच्चा चना मिठास नहीं देता, कड़वाहट देता है और उगता है। पका हुआ चना कड़वापन नहीं देता और मिठास देता है तथा उगता नहीं; उसी प्रकार भगवान आत्मा अज्ञान और राग-द्वेष में आत्मा का आनन्द नहीं और दुःख है, कड़वाहट में और उसके कारण उगता है (अर्थात् जन्म-मरण होता है)। अज्ञान के कारण मिथ्याश्रद्धा के कारण जन्मता है परन्तु जिसने मिथ्याश्रद्धा-अज्ञान का नाश किया और आत्मा का स्वाद (आनन्द) आया-अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, पश्चात् उगता नहीं (अर्थात्) जन्म-मरण नहीं होते। आहाहा! ऐसी बात है। विशेष कहेंगे... (***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–९०

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति–

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता।।९०।।

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरञ्जनो भावः।
यं स करोति भाव–मुपयोगस्तस्य स कर्ता।।९०।।

अथैवमयमनादिवस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषु परिणामविकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थतः शुद्धनिरञ्जनानादिनिधनवस्तुसर्वस्वभूतचिन्मात्रभावत्वेनैकविधोऽप्यशुद्धसाञ्जनानेकभावत्वमापद्यमानस्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूतः कर्तृत्वमुपढौकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मनः करोति तस्य तस्य किलोपयोगः कर्ता स्यात्।।९०।।

अब आत्मा के तीन प्रकार के परिणामविकार का कर्तृत्व बतलाते हैं :–

इससे हि है उपयोग त्रयविध, शुद्ध निर्मल भाव जो।
जो भाव कुछ भी वह करे, उस भाव का कर्ता बने।।९०।।

गाथार्थ : [एतेषु च] अनादि से ये तीन प्रकार के परिणामविकार होने से [उपयोगः] आत्मा का उपयोग–[शुद्धः] यद्यपि (शुद्धनय से) शुद्ध, [निरञ्जनः] निरंजन [भावः] (एक) भाव है, तथापि–[त्रिविधः] तीन प्रकार का होता हुआ [सः उपयोगः] वह उपयोग [यं] जिस [भावम्] (विकारी) भाव को [करोति] स्वयं करता है, [तस्य] उस भाव का [सः] वह [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है।

टीका : इस प्रकार अनादि से अन्यवस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तता के कारण अपने में उत्पन्न होनेवाले जो यह तीन मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिभावरूप परिणामविकार हैं, उनके निमित्त से (–कारण से) – यद्यपि परमार्थ से तो उपयोग शुद्ध,

निरंजन, अनादिनिधन वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्रभावपने से एक प्रकार का है, तथापि-अशुद्ध, सांजन, अनेकभावता को प्राप्त होता हुआ तीन प्रकार का होकर, स्वयं अज्ञानी होता हुआ कर्तृत्व को प्राप्त, विकाररूप परिणमित होकर जिस-जिस भाव को अपना करता है, उस-उस भाव का वह उपयोग कर्ता होता है।

भावार्थ : पहले कहा था कि जो परिणमित होता है, सो कर्ता है। यहाँ अज्ञानरूप होकर उपयोग परिणमित हुआ, इसलिए जिस भावरूप वह परिणमित हुआ, उस भाव का उसे कर्ता कहा है। इस प्रकार उपयोग को कर्ता जानना चाहिए। यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा कर्ता नहीं है, तथापि उपयोग और आत्मा एक वस्तु होने से अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा को भी कर्ता कहा जाता है।।९०।।

प्रवचन नं. १८०, गाथा-९०, दिनांक २८-०१-१९७९, रविवार, पौष कृष्ण १५

(समयसार) गाथा ९० के ऊपर एक लाईन (शीर्षक) है। **अब आत्मा के तीन प्रकार के परिणामविकार का कर्तृत्व बतलाते हैं :-** क्या कहते हैं ? कि आत्मा जो है, वह तो शुद्धचैतन्य आनन्दघन है। (यह) आगे आयेगा। पूर्ण आनन्दस्वरूप, पूर्ण ज्ञानस्वरूप, ऐसा होने पर भी अनादि से उसे इसका ज्ञान नहीं तो उसके अज्ञान से, पर्याय में-परिणाम में-उपयोग में तीन प्रकार का परिणमन उपयोग होता है—मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति (अव्रत)। आहाहा! यह कहते हैं, (गाथा ९०)

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता।।९०।।

इससे हि है उपयोग त्रयविध, शुद्ध निर्मल भाव जो।
जो भाव कुछ भी वह करे, उस भाव का कर्ता बने।।९०।।

टीका : इस प्रकार अनादि से अन्यवस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तता के कारण.... भगवान आत्मा तो शुद्धचैतन्यघन, ऐसा होने पर भी अन्य वस्तु जो मोह है, उससे संयुक्तता के कारण—मोह के सम्बन्ध के कारण **अपने में उत्पन्न होनेवाले....** अपनी पर्याय में-उपयोग में (उत्पन्न) होनेवाला (विकार- राग-द्वेष)। मोहकर्म तो निमित्त है, परन्तु

मोह की संयुक्तता के कारण (मोह के) सम्बन्ध से, अज्ञानी को अनादि से अपने शुद्ध चैतन्य के ज्ञान का भान नहीं है, उसमें मोह के संग में (उसका) तीन प्रकार का उपयोग परिणमन होता है। है ? **मिथ्यादर्शन,....** आहाहा! (अर्थात्) अपने शुद्धस्वरूप-चैतन्य विज्ञानघन (शुद्धात्मा) होने पर भी, (उसकी) खबर नहीं है। आहाहा!

कल गाया न! अपने मोहनभाई (दर्जी है,) उसने गाया था। 'मृगला ने मोड़ी खबरूँ पड़ी' थे या नहीं शान्तिभाई ? मधुभाई नहीं थे, सवेरे गाया था। यहाँ दर्जी है न मोहनभाई! 'मृगला ने मोड़ी खबरूँ पड़ी' हिरण है न हिरण (कस्तूरी मृग), उसकी नाभि में कस्तूरी है परन्तु वह कस्तूरी को बाहर ढूँढ़ता है। (यह) सुगन्ध कहाँ से आती है ? कहाँ से सुगन्ध आती है न! है तो अन्दर, परन्तु हिरण को देरी से खबर पड़ी। जब शिकारी ने बाण मारा, तब नाभि में जो कस्तूरी थी, वह बाहर गिर गयी, तब उसे खबर पड़ी कि अरे! यह कस्तूरी तो मेरे पास (ही) थी। मेरे पास कस्तूरी थी। आहाहा! शशीभाई! मृग को देरी से खबर पड़ी। देरी-देरी से (खबर पड़ी); इसी प्रकार भगवान आत्मा... टीका में है सब!

अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप प्रभु आत्मा तो है। उस अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप की खबर नहीं है तो इसने अज्ञान के कारण मोह के सम्बन्ध में मिथ्याश्रद्धा, राग आदि भाव होते हैं—दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के (भाव), वह राग मेरी चीज़ है, ऐसी मिथ्याश्रद्धा (अज्ञानी को है)। मेरी चीज़ अन्दर शुद्ध चैतन्यघन है, उसके (ज्ञान के) अभाव के कारण.. आहाहा! अपना अस्तित्व तो शुद्ध आनन्दकन्द है तो ऐसे अस्तित्व की-सत्ता की खबर नहीं तो कहीं (अपना) अस्तित्व तो मानना पड़ेगा न! आहाहा!

तो.... अनादि काल से राग—पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं, ऐसा मानकर मिथ्याश्रद्धारूप परिणमित होता है। आहाहा! **मिथ्यादर्शन,....** अपना अस्तित्व / सत्ता / मौजूदगी तो पूर्ण शुद्ध और अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भरी है। ऐसी सत्ता के अस्तित्व की जिसे अनादि से खबर नहीं है, वह तो उसकी वर्तमान दशा में मोहकर्म का संयुक्तपना होने से मिथ्याश्रद्धारूप परिणमन करता है और वह उसका कर्ता होता है-मिथ्याश्रद्धा का कर्ता होता है। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहाहा!

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान (अर्थात्) पर को अपनेरूप जानना और अपने को भूल

जाना, ऐसा अज्ञान। राग-विकार जो होता है, वह मेरा है—ऐसा अज्ञान। वह अज्ञानी अनादि से उसरूप से परिणमन होता है **और अविरतिभावरूप....** राग का भाव जो है, वह अविरतिभाव है, मलिनभाव है परन्तु वह (अज्ञानी) अविरतिभावरूप से परिणमता है। अरे रे! अब ऐसी बातें! मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या अविरतिभाव -परिणाम विकार, वह परिणाम का विकार है-परिणाम में है। समझ में आया?

परिणाम बिना चीज़ (पदार्थ) तो है नहीं। कोई भी चीज़ (पदार्थ-वस्तु) परिणाम बिना नहीं होती। तब उस चीज़ को परिणाम है, परन्तु कैसे? विकारी परिणाम है। मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्या—राग का त्याग नहीं, ऐसा (अविरतिभाव), ऐसे अज्ञानभावरूप से (अनादि से जीव) परिणमन करता है और कर्ता होता है। है?

परिणामविकार हैं, उनके निमित्त से (-कारण से).... आहाहा! क्या कहते हैं? **यद्यपि परमार्थ से तो उपयोग शुद्ध, निरंजन, अनादिनिधन वस्तु (के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्रभावपने से एक प्रकार का है....)** आहाहा! आत्मा का मूलस्वभाव तो परमार्थ से-वास्तव में उपयोग शुद्ध त्रिकाल! आहाहा! शुद्ध उपयोग उसका त्रिकाल स्वभाव है। परिणति बाद में, परिणति तो उसका (त्रिकाली का) जब स्वीकार करती है, तब परिणति प्रगट होती है। स्वीकार नहीं तो विकार परिणति उत्पन्न होती है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो समयसार है! 'ग्रन्थाधिराज तारा मां भावो ब्रह्माण्डना भर्या' आहाहा!

मुमुक्षु : आपश्री को खोलने पड़ेंगे न ये भाव!

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर भरे पड़े हैं, वे खोलते हैं। आहाहा!

क्या कहते हैं? ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या अविरतिरूप से परिणमता है। क्यों?—कि भगवान आत्मा है तो त्रिकाली शुद्ध। है तो त्रिकाली शुद्ध। है? **परमार्थ से तो उपयोग शुद्ध,...** यह त्रिकाली की बात है। है न? उसका उपयोग शुद्ध त्रिकाल है, निरंजन है, उसमें राग का—अंजन का मैल अन्दर नहीं है। आहाहा! और **अनादिनिधन....** (अर्थात्) अन-आदि, अ-निधन—जो शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु (निजात्मा), जिसका उपयोग अर्थात् स्वभाव त्रिकाल, (उसकी) आदि नहीं,—अन्त नहीं, ऐसा अनादि-अनन्त आत्मा अन्दर शुद्ध चैतन्यघन है। समझ में आया?

उपयोग शुद्ध,... (त्रिकाली) **निरंजन,...** अंजन अर्थात् पुण्य और पाप के राग के मैलरहित और आहाहा! **अनादिनिधन....** (अर्थात्) अनादि-अनन्त, अन-आदि और अ-निधन (अर्थात्) अन-आदि और अनिधन अर्थात् अन्त नहीं, (अनादि-अनन्त) वह **वस्तु के सर्वस्वभूत...** आहाहा! वस्तु जो भगवान आत्मा, उसके सर्वस्वभूत-सर्वस्वभूत (अर्थात्) जो सर्व-स्व अर्थात् सर्व आनन्द आदि अनन्त गुण शुद्ध, वह सर्व -स्वभूत अपने हैं। आहाहा! सर्व-स्व-भूत। **चैतन्यमात्रभावपने....** वह तो चैतन्य-ज्ञान-दर्शन-आनन्द, चैतन्यमात्रभावपने तो वह प्रभु आत्मा-वस्तु तो ऐसी है, अनादि से है। है ? **एक प्रकार का है...** वस्तु तो त्रिकाली शुद्ध निरंजन... आहाहा! अनादि-अनन्त आनन्दघन स्वभाव प्रभु 'एक' स्वभाव है। समझ में आया ?

तथापि... अशुद्ध, सांजन, अनेकभावता को प्राप्त होता हुआ तीन प्रकार का होकर,.... तथापि, तो भी, ऐसा होने पर भी। कैसा होने पर भी ? कि जिसका परमार्थ से तो अन्दर उपयोग शुद्ध, निरंजन-अंजनरहित और अनादि-निधन वस्तु के सर्वस्वभूत भगवान (आत्मा) वस्तु के स्व-भूत, सर्व-स्व-भूत—शुद्ध आनन्द और शुद्ध ज्ञान और शुद्ध वीतरागता, ऐसी वस्तु (निजात्मा) ऐसी वस्तु के सर्वस्वभूत, ऐसा होने पर भी, आहाहा! चैतन्यमात्र स्वभावपने से त्रिकाली तो चैतन्यमात्र भाव से भरा पड़ा प्रभु है, एकरूप स्वरूप है परन्तु उसकी दृष्टि अनादि से नहीं है। आहाहा! एक होने पर भी... है ?

तथापि... तो भी **अशुद्ध,...** पुण्य और पाप के भाव मेरे हैं, ऐसा (मानकर) अशुद्धरूप से परिणमता है। यहाँ शरीर और लक्ष्मी की (बाहर की-दूर की चीज़ की) बात तो यहाँ है नहीं, क्योंकि वह तो परचीज़ है। यहाँ तो अन्दर में शुद्ध चैतन्यप्रभु-सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूपी प्रभु, ऐसा होने पर भी, एकरूप त्रिकाल शुद्ध स्वभाव है (तो भी) मोह के संयुक्तपने के सम्बन्ध में अशुद्धपने परिणमता है। यह पुण्य और पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव या काम-क्रोध के, कमाने के भाव, ये सब पापभाव (दोनों शुभाशुभभाव) अशुद्ध हैं। आहाहा! कहो, यह पैसा कमाना, दुकान में-धन्धे में ध्यान रखना, यह सब अशुभभाव, वह अशुद्धभाव-मलिनभाव है।

मुमुक्षु : परन्तु यह दुकान करना, नौकरी करना या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या (आत्मा) नौकरी कर सकता है? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि अपना स्वभाव अनादि-अनन्त शुद्ध, निरंजन—मल/मैलरहित चीज़ अन्दर है। ऐसी चीज़ की दृष्टि नहीं होने से, अनादि-संयोग कर्म का होने से... यहाँ अनादि शुद्ध का संयोग-सम्बन्ध न होने से, कर्म का संयोग-उसके सम्बन्ध से अशुद्ध... आहाहा! पुण्य और पाप के भाव, वे अशुद्ध हैं। चाहे तो दया के भाव-दान के, व्रत के, तप के (भाव हों) मैं अपवास करूँ, यह विकल्प अशुद्ध मैल (विकार) है। आहाहा!

मुमुक्षु : यहाँ रुपये दे तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ (रुपये) दे, वह भी शुभराग हो तो मैल है। कहो, शान्तिभाई! ये दोनों भाई यहाँ बैठे हैं।

मुमुक्षु : कोई नहीं देगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : दे कौन और ले कौन? यह चीज़ (पैसा आदि) जहाँ जानेवाली है, वहाँ जायेगी और जहाँ रहनेवाली है, वहाँ रहेगी ही। इसे कोई दे सके और ले सके, (ऐसी) ताकत नहीं है। उसकी तो यहाँ बात नहीं है। वह तो मात्र अपने परिणाम में अशुद्ध-मैल परिणाम का कर्ता बनता है। पैसा कमाने का यहाँ प्रश्न नहीं है। उसका जो भाव है, वह मैल है (विकार है)। कहो, मधुभाई! यह वहाँ हांगकांग में बहुत पैसा कमाता है, धूल का! आहाहा!

यहाँ तो प्रभु सर्वज्ञदेव, त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव फरमाते हैं, उसे सन्त आढ़तिया बनकर जगत के लिए प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! भगवान! तू तेरी चीज़ तो अन्दर शुद्ध निरंजन आनन्दकन्द है न! अतीन्द्रिय आनन्द से भरा है न! परन्तु ऐसी दृष्टि नहीं करके, मोह के संयोग में तेरे परिणाम में (तूने) अशुद्धता की है। पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव, दोनों अशुद्ध हैं। उस अशुद्धपने को करता है। आहाहा! पर को करता है, यह बात यहाँ है नहीं। पर को तो पर सकता ही नहीं। परन्तु अज्ञानभाव से यह (विकार) कर सकता है। आहाहा!

अशुद्ध, सांजन,... मैल, यह शुभ-अशुभभाव जो है, वह मैल है, अंजन है, मैल है। यह अंजन (अर्थात्) आंजन नहीं लगाते? वह अंजन सफेद होगा या काला? अंजन कैसा होगा? काला। इसी प्रकार शुभ और अशुभभाव अंजन है-मैल है, काले हैं। कठिन

बात है, बापू! आहाहा! **अशुद्ध, सांजन, अनेकभावता...** वह एकरूप था—त्रिकाली ज्ञायकभाव-शुद्धभाव-चैतन्यभाव-आनन्दभाव-प्रभुत्वभाव-ईश्वरभाव-परिपूर्णभाव शुद्ध चैतन्य, वह एकरूप होने पर भी, कर्म का संयोग सम्बन्ध करने से, मलिनभाव जो पुण्य-पाप के अशुद्धभाव हैं... सांजन अर्थात् मैल और अनेक प्रकार के। वह (स्वभाव) शुद्ध एक प्रकार का त्रिकाली था और यह अशुद्ध मैल और अनेक प्रकार के, यह पुण्य और पाप के (भाव) असंख्य प्रकार के—शुभ असंख्य प्रकार के और अशुभ असंख्य प्रकार के। आहाहा! ऐसे **अनेकभावता को प्राप्त होता हुआ....** ऐसे मलिन परिणाम को-अनेकप्रकारता को प्राप्त होता हुआ। आहाहा! **तीन प्रकार का होकर,...** मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अर्थात् राग-द्वेष, इन तीन प्रकार के उपयोग के परिणाम में भाव होते हैं। आहाहा! अज्ञानी को अनादि से अपने स्वरूप की खबर नहीं है, इस कारण से अज्ञानी को अपने परिणाम में तीन प्रकार की मलिनता की दशा उत्पन्न होती है। आहाहा!

अब ऐसा सुनने को भी नहीं मिलता। यह क्या है—यह बात कहाँ से आयी? भगवान! तेरी बात अन्दर ऐसी अलौकिक है प्रभु चैतन्य! लौकिक की चीज़ से तो वह पार है परन्तु उस चीज़ का अन्तर अनुभव नहीं-दृष्टि नहीं-आश्रय से नहीं-अवलम्बन नहीं; इस कारण मोह का आश्रय करके अपनी पर्याय में अशुद्ध-मलिन, मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र—राग, इन तीन प्रकार का होकर **स्वयं अज्ञानी होता हुआ...** आहाहा! किसी कर्म ने अज्ञानी किया, ऐसा नहीं है। स्वयं अज्ञानी होता हुआ। आहाहा! 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।' अपना शुद्ध निरंजन आनन्दस्वरूप प्रभु, उसे भूलकर स्वयं अज्ञानी होता हुआ। आहाहा! **कर्तृत्व को प्राप्त,...** इन शुभ-अशुभभाव का अज्ञानी स्वयं (उस भाव का) कर्ता होता है। पर के कर्ता की तो बात यहाँ है ही नहीं। हीरा, हीरा बेचना और उसकी बात तो यहाँ है ही नहीं क्योंकि वह तो कर ही नहीं सकता। यह कर सकता है विपरीत दृष्टि; अपने शुद्ध चैतन्य परमात्मा जो सर्वज्ञ हुए 'जिन सो हि है आत्मा' यह आत्मा जिनस्वरूप (वीतरागस्वरूप) भगवान वीतरागस्वरूप आत्मा अन्दर है। आहाहा! कैसे जँचे? ऐसा एकरूप और वीतराग तथा शुद्ध होने पर भी, अपने स्वरूप को अज्ञान के कारण पर्याय अर्थात् परिणाम में तीन प्रकार के विकारी परिणाम का कर्ता होता है। आहाहा! पुण्य और पाप दोनों अज्ञानभाव से करता है।

मुमुक्षु : पाप को पलटकर पुण्यभाव कर सकता है या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जिस समय होता है, उस समय पुण्य-पाप एक साथ ही है। शुभभाव हो तो भी सातावेदनीय बँधती है और घातिकर्म भी बँधता है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा शुभभाव से सातावेदनीय भी बँधता है और घातिकर्म ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय भी बँधते हैं। शुभभाव है परन्तु आत्मा का घात करता है (आनन्द) शान्ति का (घात करता है)। आहाहा! कठिन काम।

मुमुक्षु : विद्रोह है पूरी दुनिया के सामने।

पूज्य गुरुदेवश्री : विद्रोह है दुनिया के सामने बात सत्य। दुनिया के सामने यह विद्रोह है वीतराग का!

मुमुक्षु : आप श्री ने कहा हीरा का व्यापार नहीं कर सकता परन्तु अपने परिणाम में फेरफार कर सकता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह परिणाम अज्ञानी कर सके-अज्ञानपने के परिणाम करे। फेरफार अर्थात् पुण्य-पाप के दोनों एक जाति के अज्ञान हैं। पुण्य करे या पाप करे, शुभ करे या अशुभ करे, दोनों एक चीज़ है। कठिन बात है, बापू! दोनों अशुद्ध हैं, सांजन हैं, मैल है, अनेक प्रकार के हैं, तीन बोल लिये न!

भगवान आत्मा शुद्ध है-निरंजन है, अन्दर एक प्रकार का है। उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं, इस कारण पर्याय में तीन प्रकार के (विकार का) परिणमन करता है। धर्मी (ज्ञानी) जो होता है, वह अपने शुद्ध चैतन्यघन, ज्ञान और दर्शन अन्दर (दृष्टि) होने से, उसकी पर्याय में शुद्ध परिणमन होता है। उस शुद्ध परिणाम का कर्ता धर्मी है। आहाहा!

परिणामरहित तो कभी भी कोई चीज़ रहती नहीं। तीन काल-तीन लोक में कभी कोई चीज़ परिणमन-पर्यायरहित नहीं है। पर्याय नहीं और द्रव्य अकेला है। समझ में आया ? वेदान्त तो ऐसा कहता है कि परिणमन नहीं और अकेला द्रव्य ही है। बौद्ध ऐसा कहता है, द्रव्य नहीं और परिणमन अकेला है।

मुमुक्षु : दोनों के बीच समाधान ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों मिथ्यादृष्टि-मूढ़ हैं। वह (वेदान्त) ऐसा कहता है कि अकेला द्रव्य ही है, परिणति (पर्याय) नहीं है। समझ में आया? यहाँ कहते हैं कि दोनों साथ में हैं, द्रव्य भी है और पर्याय भी है।

यदि शुद्ध का भान होवे तो द्रव्य शुद्ध है, इसलिए तो परिणाम शुद्ध है। शुद्ध का भान न होवे तो द्रव्य शुद्ध, परिणाम अशुद्ध! भाषा तो सादी है परन्तु अब क्या करे, कभी अभ्यास नहीं! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि... ऊपर से लिया था कि परमार्थ से उपयोग अर्थात् त्रिकाली स्वभाव शुद्ध-निरंजन-अनादि-निधन-वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्रभावपने-चैतन्यमात्रभाव, ज्ञातादृष्टा स्वभाव त्रिकाल एक प्रकार का है, तथापि-तो भी... अब गुलाँट खाता है। एक प्रकार का (है, उसका) ख्याल नहीं है, आहाहा! तो परिणाम तो चाहिए। शुद्ध जो शुद्ध वस्तु त्रिकाल है, उसका ऐसा परिणमन नहीं है क्योंकि उसकी (आत्मा की) दृष्टि नहीं है, तो परिणाम बिना की चीज़ रहती नहीं, तो परिणमन जब शुद्ध नहीं है, उस शुद्धस्वभाव की दृष्टि नहीं और शुद्ध का परिणमन नहीं तो शुद्ध वस्तु होने पर भी दृष्टि राग के ऊपर है तो अशुद्धपने का (परिणमन है), उसका कर्ता होता है।

कोई भी चीज़ तीन काल-तीन लोक में परिणमन न हो और अकेला द्रव्य हो, ऐसा कभी नहीं होता। परिणमन और द्रव्य दोनों मिलकर प्रमाण का विषय है। यहाँ प्रमाण क्या और (द्रव्य-पर्याय क्या)? समझ में आया? आहाहा! तो यहाँ कहते हैं कि उसका परिणमन अनादि का कैसा है? कि अनादि का परिणमन अर्थात् पर्याय में-उपयोग में मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान और राग-द्वेष के विकारी परिणाम-मलिन-अशुद्ध अनेक प्रकार का परिणाम है, उसका वह कर्ता होता है। कहो, शान्तिभाई! भाषा तो सादी है, प्रभु! आहाहा! अन्दर भगवान विराजता है।

'जिन सो हि है आत्मा अन्य सो हि है कर्म, इसी वचन से समझ ले जिनप्रवचन का मर्म' तीन लोक के नाथ वीतरागी की वाणी ऐसा कहती है। 'जिन सो हि है'—यह जिनस्वरूप ही तेरी चीज़ है। शुद्ध निरंजन चैतन्यमात्र एकरूप स्वभाव ही तू है! आहाहा! परन्तु ऐसा होने पर भी, परिणमनरहित चीज़ तो रहती ही नहीं। तो कहते हैं कि परिणमन

अनादि का कैसा है अज्ञानी का ? मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान और मिथ्या (चारित्र)—राग-द्वेष का परिणमन है, उसका वह कर्ता होता है। वह परिणमन मेरा-मलिन परिणाम मेरे, उसका वह अज्ञानी कर्ता होता है। आहाहा! यह दया के परिणाम जो राग हैं, वह राग भी मलिन परिणाम है। उस मलिन परिणाम का कर्ता अज्ञानी होता है। आहाहा!

अब एक ओर दया, वह धर्म है (ऐसा) लोग (मानते-)कहते हैं। वह दया तो आत्मा की दया है। राग-द्वेष की उत्पत्ति न होना और जिनस्वरूपी प्रभु शुद्ध प्रभु निरंजन है, ऐसी परिणति-निर्मल परिणति उत्पन्न होना, वह अपनी दया, वह दया है-अहिंसा है। जब ऐसा अहिंसा का परिणमन नहीं और वस्तु तो वीतरागस्वरूप ही-अहिंसकस्वरूप ही है। ऐसा होने पर भी, स्वभाव का सम्बन्ध नहीं करने से मोह का सम्बन्ध करने से मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का परिणमन पर्याय में होता है और उसका कर्ता अज्ञानी होता है। समझ में आता है ? कठिन काम है, बापू! क्या हो ? आहाहा!

यह त्रिकाली चीज़ शुद्ध और परिणमन अशुद्ध! क्यों हुआ ? यह तो पहले कहा कि मोह के संयोग-सम्बन्ध में आया तो (ऐसा हुआ)। अपने स्वभाव का सम्बन्ध छोड़ दिया और पर के सम्बन्ध में आया तो पर से हुआ—ऐसा नहीं, परन्तु पर के सम्बन्ध में आया तो मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान और राग-द्वेष के परिणमन का विकार होता है और अज्ञानी उसका कर्ता होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर से लाभ होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी लाभ नहीं होता। पर में लाभ कब था ? पर में लाभ है या आत्मा में है ? अन्दर भगवान आनन्दमूर्ति प्रभु (है)। आहाहा!

भाई ने कल गाया नहीं था ? 'मृगला को देरी से खबर पड़ी।' यह हिरण जैसे मनुष्य, अन्दर आनन्द पड़ा है, उसकी तो इसे देरी से खबर पड़ी। आहाहा! चिमनभाई! अरे नाथ! तुझमें अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है, प्रभु! आहाहा! भरचक भगवान का स्वभाव-तेरा स्वरूप अन्दर पूर्ण पड़ा है, भाई! चैतन्य चमत्कारिक चीज़ अन्दर है। जो एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाने, आहाहा! ऐसी एक समय की पर्याय; ऐसी अनन्त पर्यायों का चमत्कारिक (एक) गुण तुझमें पड़ा है। ऐसे अनन्त गुण (का पिण्ड) चैतन्य

चमत्कारिक वस्तु। कोड़ाकोड़ी सूर्य हो तो भी उनके प्रकाश की अपेक्षा चैतन्य का प्रकाश उससे अनन्तगुना (चैतन्य प्रकाश) अन्दर में है, हों! कोड़ाकोड़ी चन्द्र हों और कोड़ाकोड़ी चन्द्र की शीतलता-ठण्डा, उससे भी इस (भगवान) आत्मा में अनन्त शीतलता.. शीतलता.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. पड़ी है।

अरे रे! कहाँ देखता है यह? सागर के ढ़ेर हों स्वयंभूरमण समुद्र जैसे असंख्य समुद्र हों - गम्भीर, स्वयंभूरमण समुद्र है अन्तिम का असंख्य योजन चौड़ा है, (तल में) नीचे रेत नहीं, नीचे अकेले रत्न हैं। भगवान के आगम में भगवान ने यह कहा है। अन्तिम समुद्र है और अन्तिम, वह भी अकेले रत्न। अकेले असंख्य योजन में रत्नों से भरा समुद्र है, ऐसे असंख्य समुद्र हों तो (उससे अनन्तगुने) यह तो-भगवान तो अनन्त गुण के रत्न से भरपूर है। चेतन रत्न से यह भगवान आत्मा तो भरा पड़ा है, भरचक है। उसके अनन्त गुण की गम्भीरता का पार नहीं, प्रभु! (अपार-अपार)!

और जैसे आकाश का (सर्व) व्यापकपना है, कहीं उसका अन्त नहीं है। अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. है; उसी प्रकार तुझमें तेरे अनन्त गुण की संख्या का कोई अन्त नहीं है। आहाहा! ऐसा प्रभु शुद्ध निरंजन होने पर भी अनादि से अज्ञानी पर के लक्ष्य से-अपने लक्ष्य के अभाव से, पर के लक्ष्य से; पर से नहीं (परन्तु) पर का लक्ष्य करने से मिथ्याश्रद्धा, यह दया, दान के परिणाम धर्म है, ऐसी मान्यता मिथ्याश्रद्धा है (और) यह मिथ्याज्ञान है और मिथ्याचारित्र-आचरण है, यह तीन प्रकार का परिणाम विकार का कर्ता अज्ञानी होता है। पर की बात तो यहाँ है ही नहीं। भाषा तो सादी है, प्रभु! ऐसी बहुत सूक्ष्म ऐसी सब बड़ी संस्कृत-व्याकरण नहीं है। आहाहा!

चैतन्य के स्फटिक रत्न से भरपूर भगवान, ऐसा प्रभु निर्मलानन्द शुद्ध चैतन्य निरंजन एक अनादि-अनन्त, ऐसा होने पर भी, उसकी सत्ता का-स्वभाव का सम्बन्ध (न होकर) और अनादर होने से-सम्बन्ध छोड़ दिया, अनादर किया और कोई राग आया - शुभाशुभ राग आया, उसका आदर किया, तो शुभाशुभ का आदर करनेवाले ने त्रिकाली शुद्धस्वभाव भगवान का उसने अनादर किया। आहाहा! समझ में आया?

यह पर की दया का भाव राग-राग है। उसका जिसने आदर किया तो उसने

त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु का अनादर किया। ऐसी बातें सुनना कठिन पड़ता है। अभी कहीं चलता नहीं है। शुभभाव का आदर किया (तो) पवित्र भगवान का अनादर किया। परमात्मप्रकाश में है न, भाई! जिसने शुभराग का आदर किया, उसने आत्मा को हेय किया। जिसने शुभभाव को उपादेय किया– आदरणीय माना, उसने भगवान पूर्णानन्द के नाथ का (अनादर अर्थात्) हेय किया और जिसने भगवान पूर्णानन्द के नाथ को उपादेय किया, उसने राग को हेय किया। भाषा तो सादी है। मधुभाई! वहाँ हांगकांग में कुछ नहीं मिलता, वहाँ सब होली है! आहाहा! जहाँ हो, वहाँ पड़े हों बेचारे! आहाहा!

अन्दर वस्तु है, प्रभु। अन्दर समुद्र भरा है। स्वयंभूरमण समुद्र तो असंख्य योजन में है। यह तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण में। आहाहा! जिसके गुण का पार नहीं होता, प्रभु! तेरी एक समय की पर्याय, वह भी अनन्त है। आहाहा! जो शुद्धस्वरूप त्रिकाली है, उसकी जो दृष्टि की तो पर्याय एक समय है परन्तु वह है अनन्त। अनन्त पर्याय बिना का द्रव्य कभी रहता नहीं। समझ में आया? तो अपने जो अनन्त गुण हैं—संख्या से मर्यादारहित अनन्त शक्तियाँ, उनका भान होने से पर्याय में एक समय में अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. पर्याय प्रगट होती है। परिणमन बिना का द्रव्य नहीं रहता। अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. पर्याय–परिणमन द्रव्य में नहीं। द्रव्य में नहीं है; परिणमन में है, वह द्रव्य में नहीं। द्रव्य में है, वह परिणमन में नहीं। आहाहा!

तुम्हारे वेदान्त द्रव्य को मानता है, पर्याय को नहीं मानता। पर्याय है ही नहीं, द्रव्य ही है। (ऐसा मानता है)। यहाँ तो कहते हैं द्रव्य जो वस्तु.. द्रव्य अर्थात् पैसा नहीं, हों! यह द्रव्य अर्थात् पदार्थ–आत्मा! है! यहाँ है ऐसा कहते हैं, हांगकांग जाए वहाँ दृष्टि बदल जाए, यहाँ फिर हाँ करे, ऐसा कहते हैं। यह तो दृष्टान्त घर का दिया न! ऐसा सबको है न! आहाहा! यहाँ तो बापू! दूसरा क्या हो? मार्ग तो यह है। ओहोहो! अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त का पार नहीं होता, इतने अनन्त गुण का समुद्र प्रभु और जिसमें अनन्त चैतन्य के रत्न अन्दर भरे हैं, उसकी दृष्टि के अभाव से, पर के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ जो मिथ्याश्रद्धा–मिथ्याज्ञान और राग आदि, उस अशुद्ध मलिन परिणमन का कर्ता अज्ञानी होता है। कर्ता बिना तो रहता नहीं। समझ में आया?

जो धर्मी–सम्यग्दृष्टि जीव है, वह भी परिणमन बिना तो है नहीं। परिणमन बिना तो द्रव्य कभी नहीं होता। अकेला द्रव्य है और परिणमन नहीं तथा सब परिणमन द्रव्य में घुस गया! यह तो मिथ्यादृष्टि मानता है। यह वेदान्त मानता है। समझ में आया इसमें? आहाहा! अनन्त पर्याय–परिणमन, जो अनन्त पर्याय हो, एक समय में। वह पर्याय द्रव्य की दृष्टि से अनन्त पर्याय शुद्ध एक समय में–एक समय, समय एक और अनन्त पर्याय परिणमन में है, उन अनन्त पर्याय के परिणमन बिना द्रव्य कभी नहीं रहता, (तथापि) द्रव्य में परिणमन नहीं है। आहाहा! परन्तु द्रव्य की पर्याय बिना तो द्रव्य कभी नहीं है। अकेला (द्रव्य है), ऐसा तीन काल में नहीं है, पर्याय के बिना द्रव्य नहीं है। समझ में आया?

इसलिए यहाँ कहते हैं कि परिणाम–परिणमन बिना द्रव्य नहीं है। तो कैसा परिणमन है? कि अज्ञान का परिणमन है, परिणमन तो है। आहाहा! मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और राग–द्वेष के परिणाम, वे मिथ्या हैं।

'परम सत्य साहेब।' प्रभु, सत्य–भूतार्थ–सत्यार्थ प्रभु त्रिकाली चैतन्यसूर्य। चैतन्यमात्र कहा न! वे सब गुण यहाँ चैतन्यमात्र कहे गये हैं। वास्तव में तो ज्ञान और दर्शन का उपयोग है परन्तु सब गुणों को चैतन्यमात्र कहा जाता है परन्तु भाग पाड़ना हो (भेद करना हो) तो चैतन्य का उपयोग है, वही उपयोग चैतन्य है और उसमें दूसरे गुण हैं, उनमें उपयोग नहीं तो उपयोग के बिना हैं, परन्तु सबको चैतन्य कहने में आया है। आहाहा! अपने में आनन्द है, शान्ति है, स्वच्छता है, प्रभुता है, उन अनन्त शक्तियों को चैतन्यमात्र कहने में आया है। अब ऐसा उपदेश! बनियों को फुरसत नहीं मिलती। बाईस घण्टे तक (संसार के काम में) रचे–पचे रहें और दो घण्टे समय निकाले फिर किसी समय सामायिक में घण्टे भर बैठे। घण्टे भर प्रतिक्रमण में बैठे, वह भी अज्ञान से। भान तो कुछ नहीं होता। आत्मा क्या, राग क्या (इसकी कुछ समझ नहीं और) णमो अरिहन्ताणं... णमो सामायिक है। आहाहा! वह तो राग है, उसमें सामायिक कहाँ से आयी? राग की सामायिक है। आहाहा! कहो, मधुभाई! सामायिक करते थे न, की होगी या नहीं?

मुमुक्षु : हाँ पाड़ते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : की है। हमने भी सब किया था। पालेज में खूब करते थे, परन्तु

आठ दिन करते, हों! फिर नहीं। व्यापार-धन्धा करते थे न! पर्यूषण के आठ दिन, बाद में नहीं। बाद में पाप का धन्धा। आहाहा! आठ दिन होते हैं न पर्यूषण के आठ, (उनमें) चार उपवास करते थे। पहले दिन अपवास, दूसरे दिन पारणा, फिर अपवास, फिर दो दिन खाने के और एक उपवास और अन्तिम उपवास, ऐसे उपवास किये न और एक दिन ऐसा उपवास किया था और पूरे दिन दुकान पर बैठे और प्यास ऐसी लगी कि हमारे कुँवरजी भाई की दुकान थी, वहाँ सायंकाल गया, पीछे घड़े में पानी भरा था, वहाँ जाकर पी आया! दुकान में पूरे दिन बहुत बैठे न! उपवास में पानी नहीं पीवे, चतुर्विध आहार त्याग तब करते थे... तब, हों! १७-१८-१९ वर्ष के (हम थे)। बहुत प्यास लगी थी। अब कहना किसे? उसमें फिर पीछे पानी भरा था, कुँवरजीभाई की दुकान के पीछे। हमारी दुकान थी वहाँ बैठे थे... पीछे जाकर पी आया! क्या हो! सहन करने की शक्ति नहीं थी।

मुमुक्षु : तब किसी को कहा था कि पानी पिया या अभी ही कहते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, कहा था हमने। प्यास ऐसी लगी, पानी पी लिया। शाम को वह प्रतिक्रमण किया हो न! मैं प्रतिक्रमण कराता था, (पश्चात्) दुकान में मैं जाऊँ, बैठूँ, यह ऐसा है। आहाहा!

भगवान आनन्द का नाथ प्रभु, उसका निर्विकल्प रस जिसने पीया, उसे राग का रस नहीं होता और यह निर्विकल्पता का पान पिया नहीं, वहाँ राग का-राग का रस पीता है। राग पीता है। दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, कमाने का भाव, सब राग-विकारभाव- दुःख-दुःख का वेदन करता है। वकालात का भाव कैसा होगा? नटुभाई! वकालात करते हैं। पालीताणा में। नरभेरामभाई वकील थे, उनका पुत्र है पालीताणा में पाप की वकालात करता है।

यहाँ तो यह कहते हैं जिसे जहाँ आत्मा भगवान शुद्ध निरंजन एक स्वरूपी प्रभु का जिसे अन्दर में आदर और स्वीकार और सत्कार नहीं, उस जीव को पाप और पुण्य का स्वीकार और सत्कार से अशुद्ध परिणमन का वह कर्ता होता है, वह दुःखी प्राणी है। आहाहा!

यहाँ आया न? **कर्तृत्व को प्राप्त,...** होता है। **विकाररूप परिणमित होकर....** अज्ञानी पुण्य-पाप के भाव (करता है)। है? **विकाररूप परिणमित होकर जिस-जिस**

भाव को अपना करता है,... जिस-जिस भाव को अपना करता है, **उस-उस भाव का वह उपयोग कर्ता होता है।** जिस भाव को करे, उस भाव का उपयोग कर्ता होता है। आहाहा! यह एक गाथा भी कठिन! यह तो वीतराग, तीन लोक के नाथ की वाणी-भाषा है, भाई! जिनेश्वरदेव प्रभु महाविदेह में साक्षात् विराजते हैं। आहाहा! यह वह वाणी (वहाँ से) आयी है।

भावार्थ : पहले कहा था कि जो परिणमित होता है, सो कर्ता है। जो कोई पर्याय में परिणमे, वह कर्ता, यदि अशुद्धरूप परिणमे तो अशुद्ध का कर्ता (और) शुद्धरूप परिणमे तो शुद्ध का कर्ता। कर्ता के बिना कोई चीज़ तो कभी है नहीं। समझ में आया? पहले कहा था कि जो परिणमित होता है... पर्याय में परिणमित होता है। द्रव्य तो त्रिकाल (है)। (जो) परिणमता है, वह कर्ता है। परिणमे, वह कर्ता। परिणमन अर्थात् पर्याय - अवस्था जो होती है, उसका कर्ता। अवस्था कहो, दशा कहो, परिणमन कहो, परिणाम कहो, ऐसा है। ऐसा तो तुम्हारे नामा में भी नहीं आता होगा? आता होगा? (नहीं-नहीं) नामा भी बहुत देखा है न! आहाहा!

यहाँ अज्ञानरूप होकर उपयोग परिणमित हुआ, इसलिए जिस भावरूप वह परिणमित हुआ, उस भाव का उसे कर्ता कहा है। क्या कहा? कि पहले कहा था कि जो परिणमित होता है, (वह कर्ता)। अवस्था में जो दशा होती है, वह उसका कर्ता, बस इतनी बात। यह सिद्धान्त। यहाँ - यहाँ जो कहा है, वह अज्ञानरूप होकर (अर्थात्) अपना शुद्धस्वभाव भगवान, उस स्वभाव का अज्ञान होकर-अपने शुद्धस्वभाव के भान हुए बिना, उपयोग परिणमित हुआ। पर्याय में उपयोग व्यापार परिणमित दशा हुई, इसलिए जिस भावरूप वह परिणमित हुआ, जिस भावरूप—दया, दान, काम, क्रोधरूप, कमाना, कमाने के जिस भावरूप परिणमित हुआ, उस भाव का वह कर्ता है। **इस प्रकार उपयोग को कर्ता जानना चाहिए।** क्या कहते हैं यहाँ? कि परिणाम जो है, यह मलिन उपयोग, राग और द्वेष आदि। उस उपयोग का कर्ता उपयोग है। उस परिणाम का कर्ता, (वह) परिणाम है। है? ऐसा होने पर भी, **यद्यपि....** यद्यपि है न?

यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा कर्ता नहीं है,... वस्तु जो भगवान आत्मा

(वह) तो पर्याय का कर्ता नहीं है। द्रव्य तो पर्याय का कर्ता नहीं है। शुद्ध परिणमन हो तो भी कर्ता द्रव्य नहीं है और अशुद्ध हो तो भी द्रव्य कर्ता नहीं है। है तो परिणाम ही कर्ता है। आहाहा!

यह क्या कहा ? नित्यानन्द प्रभु ध्रुववस्तु, वह कहीं परिणाम की कर्ता नहीं है। जो परिणाम अशुद्ध हो तो अशुद्ध परिणाम, अशुद्ध का कर्ता है। परिणाम, परिणाम का कर्ता है परन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से (अर्थात्) शुद्ध द्रव्यस्वरूप भगवान त्रिकाली है, उस नय से आत्मा कर्ता नहीं है। आहाहा! उस नय से तो परिणाम का कर्ता आत्मा नहीं है। चाहे तो शुद्धपरिणमन हो, धर्म का परिणमन हो परन्तु द्रव्य जो त्रिकाल है, वह तो कर्ता-परिणाम का कर्ता द्रव्य नहीं है। आहाहा! और यह क्या द्रव्य और पर्याय ?! आहाहा!

शुद्ध द्रव्यस्वरूप त्रिकाल ऐसा आत्मा तो परिणाम का कर्ता नहीं है, तथापि **उपयोग और आत्मा एक वस्तु होने से...** उपयोग और आत्मा को एक गिनकर, अशुद्ध जो परिणमन उपयोग है और आत्मा (एक वस्तु), ऐसा गिनकर **अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से....** अशुद्ध द्रव्य से आत्मा तो परिणाम का कर्ता है, ऐसा कहने में आता है। घड़ीक में कुछ और घड़ीक में कुछ! जिस भावरूप परिणमता है, उस (भाव का) कर्ता होता है।

इस प्रकार, है न ? **शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा कर्ता नहीं है,....** क्या कहते हैं ? जो अशुद्धपरिणमन हुआ, उसका परिणमन-परिणाम का कर्ता परिणाम है, द्रव्य नहीं। अरे! शुद्धपरिणमन धर्म का (परिणाम) हो—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम हो, उसका भी कर्ता द्रव्य तो नहीं; द्रव्य तो ध्रुव और एकरूप रहनेवाली चीज़ है। आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य भिन्न और पर्याय, उसकी ही क्रीड़ा आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! पर से कुछ नहीं होता और पर में अपने से कुछ नहीं होता। अशुद्ध परिणमन करे तो वह करे परिणाम और वह अशुद्ध (उपयोग) कर्ता है-परिणाम, परिणाम का कर्ता अशुद्ध का कर्ता है परन्तु शुद्धद्रव्यार्थिकनय से देखो तो उस अशुद्ध परिणाम का भी कर्ता नहीं। परिणाम का कर्ता परिणाम!

आहाहा! परन्तु अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से देखो तो... अशुद्धद्रव्यार्थिकनय का अर्थ:

द्रव्य जो पर्याय में अशुद्धरूप से परिणमा, उसे अशुद्धद्रव्यार्थिक कहा—अशुद्धद्रव्यार्थिक कहो, व्यवहार कहो, अशुद्ध निश्चयनय कहो, पर्यायनय कहो, व्यवहारनय कहो, (सब एकार्थ है)। अरे रे! अब ऐसी भाषा। इसमें एक ओर कहे शुद्ध द्रव्य-वस्तु जो है, वह तो परिणाम का कर्ता है नहीं। वह परिणमता कहाँ है? परिणमती है वह तो पर्याय। पर्याय परिणमती है त्रिकाल, किसी भी समय परिणमन बिना द्रव्य नहीं रहता। समझ में आया?

(ओहोहो!) तीन काल-तीन लोक में कोई भी द्रव्य, ज्ञानी का द्रव्य हो या अज्ञानी का परिणमन बिना का द्रव्य कभी नहीं होता; अकेला द्रव्य होता ही नहीं। क्योंकि आया न पंचास्तिकाय में! 'पर्याय विज्जुतं दव्वं' - पर्याय बिना द्रव्य नहीं होता। चाहे जिस काल में परिणमन बिना द्रव्य हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! पर्यायरहित द्रव्य नहीं और द्रव्यरहित पर्याय नहीं, यहाँ सिद्ध तो अपना करना है न! आहाहा! इसमें कहाँ लोगों को निवृत्ति है! स्त्री, पुत्र सम्हालना, उनका निभाव करना, कमाना, लड़कों को बड़ा करना और अपना अनुभव हो, वह लड़कों को देना, दुकान में बैठे, उसका ऐसा करना और ऐसा करना। अब वह करना या यह करना?

मुमुक्षु : वृद्धपन में ध्यान रखे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वृद्धपन रहेगा या नहीं, यह किसे खबर है? बीस-बीस वर्ष के जवान चले जाते हैं। आहाहा! अभी दो (जवान) मनुष्य मर गये न यहाँ, ३८-३८ वर्ष की उम्र। अपने बाबूभाई फतेपुरवाले की लड़की के ननदोई हैं। वे माणिकचन्द गाँधी के दामाद-माणिकलाल के दामाद। डॉक्टर थे, डॉक्टर थे। बहुत पैसा। माणिकलाल बहुत लाखोंपति, बहुत पैसा। उसका बड़ा दामाद। चार दिन में बारह-तेरह हजार रुपये खर्च किये, प्रभु! परन्तु उड़ गया (-गुजर गया)। तेरी धूल वहाँ क्या काम करे? डॉक्टर था, उसके लिये बहुत डॉक्टर आये, चार दिन पीलिया, पीलिया में से पीलिया हो गयी, उड़ गया।

एक हमारे बिंछियावाले मोटे हरीभाई हैं। उनका एक भाई 'जदसण' रहता है, एक भाई मुम्बई रहता है। उसे पीलिया हुआ, अभी आ गया खबर निकालने। उसे पीलिया चार

दिन रहा। दस-बारह हजार रुपये खर्च किये, ३५ वर्ष की उम्र। यह समय पूरा हुआ, उसे कौन रखे।

यहाँ कहते हैं, परिणमन बिना द्रव्य नहीं रहता किसी भी समय (नहीं रहता) तो उस परिणमन में शुद्ध द्रव्य से देखो तो आत्मा परिणाम का कर्ता नहीं है, तथापि उपयोग और आत्मा को एक गिनने से, अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा को कर्ता भी कहा गया है। मलिन परिणमन का कर्ता आत्मा, उस अशुद्धनय से कहने में आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : नय में ले गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ज्ञान में लेना है और नय तो सुना भी नहीं होगा। विशेष कहेंगे.....

(***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-९१

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमतीत्याहह्न-

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं।।९१।।

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलं द्रव्यम्।।९१।।

आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्ता स्यात्, साधकवत्। तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते।

तथाहि - यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना परिणममानो ध्यानस्य कर्ता स्यात्, तस्मिन्स्तु ध्यानभावे सकलसाध्यभावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्तारमन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यन्ते विषव्याप्तयो, विडम्ब्यन्ते योषितो, ध्वन्स्यन्ते बन्धाः।

तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेनात्मना परिणममानो मिथ्यादर्शनादि-भावस्य कर्ता स्यात्, तस्मिन्स्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सत्यात्मानं कर्तारमन्तरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते।

अब, यह कहते हैं कि जब आत्मा के तीन प्रकार के परिणामविकार का कर्तृत्व होता है, तब पुद्गलद्रव्य अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होता है:-

जो भाव जीव करे स्वयं, उस भाव का कर्ता बने।
उस ही समय पुद्गल स्वयं, कर्मत्वरूप हि परिणमे।।९१।।

गाथार्थ : [आत्मा] आत्मा [यं भावम्] जिस भाव को [करोति] करता है, [तस्य भावस्य] उस भाव का [सः] वह [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है; [तस्मिन्] उसके कर्ता होने पर [पुद्गलं द्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य [स्वयं] अपने आप [कर्मत्वं] कर्मरूप [परिणमते] परिणमित होता है।

टीका : आत्मा स्वयं ही उस प्रकार (उसरूप) परिणमित होने से जिस भाव को वास्तव में करता है, उसका वह – साधक की (मन्त्र साधनेवाले की) भाँति–कर्ता होता है; वह (आत्मा का भाव) निमित्तभूत होने पर, पुद्गलद्रव्य कर्मरूप स्वयमेव (अपने आप ही) परिणमित होता है। इसी बात को स्पष्टतया समझाते हैं :– जैसे साधक उस प्रकार के ध्यानभाव से स्वयं ही परिणमित होता हुआ ध्यान का कर्ता होता है और वह ध्यानभाव समस्त साध्यभावों को (साधक के साधनेयोग्य भावों को) अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर, साधक के कर्ता हुए बिना (सर्पादिक का) व्याप्त विष स्वयमेव उतर जाता है, स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बना को प्राप्त होती हैं और बन्धन स्वयमेव टूट जाते हैं; इसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान के कारण मिथ्यादर्शनादिभावरूप स्वयं ही परिणमित होता हुआ मिथ्यादर्शनादिभाव का कर्ता होता है और वह मिथ्यादर्शनादिभाव पुद्गलद्रवय को (कर्मरूप परिणमित होने में) अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर, आत्मा के कर्ता हुए बिना पुद्गलद्रव्य मोहनीयादि कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होते हैं।

भावार्थ : आत्मा तो अज्ञानरूप परिणमित होता है, किसी के साथ ममत्व करता है, किसी के साथ राग करता है, किसी के साथ द्वेष करता है; उन भावों का स्वयं कर्ता होता है। उन भावों के निमित्तमात्र होने पर, पुद्गलद्रव्य स्वयं अपने भाव से ही कर्मरूप परिणमित होता है। परस्पर निमित्तनैमित्तकभाव मात्र है। कर्ता तो दोनों अपने अपने भाव के हैं, यह निश्चय है।।९१।।

प्रवचन नं. १८१, गाथा-९१, दिनांक २९-०१-१९७९, सोमवार, माघ शुक्ल-१

समयसार, कर्ताकर्म अधिकार ९१ गाथा, ९० (गाथा) हो गयी। अब ऐसा कहते हैं। ९१ के ऊपर। **अब, यह कहते हैं कि आत्मा के तीन प्रकार के परिणाम विकार का कर्तृत्व होता है, तब पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होता है।**

(कहते हैं कि) **जब आत्मा के तीन परिणाम विकार का कर्तृत्व होता है,...** आत्मा में मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और राग–द्वेष, इन तीन प्रकार के परिणाम का विकार होता है आत्मा में, अनादि की भूल से अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ज्ञान न होने से अज्ञान से पुण्य–पाप के भाव मेरे हैं ऐसा, ऐसे अज्ञान से मिथ्याभाव में रमणता, वैसे तीन प्रकार

के परिणाम विकार आत्मा करता है, तब मिथ्यात्वभाव, इस अज्ञान में मिथ्यात्वभाव होता है, पुण्य-पाप के विकार आत्मा करता है। **तब पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होता है...** सूक्ष्म बात है। यह मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी कर्तारूप हो तब अर्थात् राग मेरा है, राग मुझमें है, यह मान्यता मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी की है। उस समय में कर्म-पुद्गल अपने आप कर्मरूप परिणमित होता है। आत्मा ने उसे कर्म को परिणमाया, ऐसा नहीं है, ऐसा बताते हैं। आहाहा! गाथा (९१)

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं।।९१।।

जो भाव जीव करे स्वयं, उस भाव का कर्ता बने।
उस ही समय पुद्गल स्वयं, कर्मत्वरूप हि परिणमे।।९१।।

टीका - आत्मा स्वयं ही उसरूप परिणमित होने से... किस रूप? मिथ्याश्रद्धारूप, मिथ्याज्ञानरूप और राग-मिथ्या आचरणरूप। समझ में आया? स्वयं उसरूप परिणमित होने से। कर्म के कारण से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ९१ की टीका है। आत्मा स्वयं अपनी भूल से अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप से च्युत होने से स्वयं ही उसरूप परिणमित होने से मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और राग-द्वेषरूप परिणमित होता है। **उस भाव को वास्तव में करता है...** उस भाव का आत्मा कर्ता होता है।

साधक की... अर्थात् **मन्त्र साधनेवाले की भाँति...** वह कर्ता है। दृष्टान्त देते हैं। मन्त्र साधता है न! उसका—मन्त्र का कर्ता होता है। मन्त्र साधनेवाले के सामने चीज़ जो होती है, उसका कर्ता नहीं। कहेंगे विशेष। **वह आत्मा का भाव निमित्तभूत होने पर...** आत्मा विकारी श्रद्धा, अनादि से राग जो पुण्य-पाप के भाव, ये दया, दान, व्रतादि के भाव भी विकार है। आहाहा! उस विकार को अपना मानता है, वह मिथ्याश्रद्धा / मिथ्यादर्शन है। उस राग को अपना जानता है, वह मिथ्याज्ञान है और राग में रमणता करता है, वह मिथ्याचारित्र है। समझ में आया?

वह अपने भाव का कर्ता होता है (आत्मा का भाव) निमित्तभूत होने पर, परिणाम (विकार के) तो मात्र निमित्त है, जो नये कर्म बँधते हैं उनमें, नया कर्म बँधता है, उसे

आत्मा बाँधता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! परन्तु निमित्तभूत होने पर अर्थात् निमित्त, अर्थात् निमित्त है इसलिए (नया कर्म) बँधता है, ऐसा भी नहीं है। बहुत सूक्ष्म बात है! निमित्तभूत होने पर **पुद्गलद्रव्य कर्मरूप...** पुद्गल है जड़, वह **कर्मरूप स्वयमेव (अपने आप ही) परिणमित होता है...** वह कर्म की पर्याय जो होती है पुद्गल की, वह स्वयं कर्मरूप होती है, परन्तु इसने मिथ्याश्रद्धा / राग-द्वेष किया तो उसे-कर्म को परिणमित होना पड़ा, ऐसा नहीं है। यहाँ जब आत्मा मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-राग-द्वेषरूप परिणमता है, इसलिए वह निमित्त है। पर में भी पर का परिणमन हुआ, वह स्वयं कर्मरूप परिणमता है। आत्मा ने मिथ्या—राग-द्वेष किया (इसलिए) पुद्गल को कर्मरूप परिणमना पड़ा, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : वह नहीं होता तो नहीं परिणमता!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रश्न ही नहीं है। है, वह होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

आत्मा, अपने स्वरूप की अनादि काल से खबर नहीं है, मैं तो शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द हूँ तो अज्ञानभाव से यह पुण्य और पाप के भाव करता है, वह मेरी चीज़ है, ऐसी मिथ्याश्रद्धा, वह (राग) मेरा है, ऐसा जानना वह मिथ्याज्ञान और उसमें-राग में परिणमन करना वह मिथ्याचारित्र। आहाहा! यह अनादि से आत्मा मिथ्यात्वादिरूप परिणमकर (उनका कर्ता होता है)। आत्मा का भाव निमित्त होने पर, इतना! पुद्गलद्रव्य का कर्मबन्धन जो होता है, वह कर्मरूप स्वयमेव (अपने आप ही) अनन्त परमाणु हैं, उनमें से जितने कर्मरूप पर्याय होने की योग्यतावाले परमाणु कर्मरूप होते हैं। समझ में आया? आहाहा!

(दृष्टान्त) जैसे कि मैं इच्छा करके शरीर को हिलाऊँ तो इच्छा का कर्ता अज्ञानी है, परन्तु यह हाथ हिलता है, तो वह हिलने की पर्याय, हिलने का कर्म वह पुद्गल की पर्याय उसमें होनेवाली है। इच्छा की, इसलिए पुद्गल हिला है, ऐसा नहीं है। (देखो न!) यह पर्याय, इस समय अपने से थी, तो वह हिलने की पर्याय का कर्ता वह परमाणु होता है, यहाँ इच्छा हुई तो परमाणु की पर्याय, हिली-चली, ऐसा नहीं है। ऐ बलुभाई! क्या कहते हैं यह सब? कभी.... आहाहा! समझ में आया?

यहाँ आत्मा ने तो इतना किया। अपने परिणाम में अज्ञान से अपनी चीज़ शुद्धचैतन्य

ज्ञान-दर्शन आनन्दकन्द प्रभु है, उसका भान अनादि से नहीं होने से, अपने अज्ञान से अपने में मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान और राग-द्वेषरूप परिणमन करता है, बस। उस परिणाम का कर्ता अज्ञानी आत्मा है। अज्ञानी। आहाहा! परन्तु उस समय जो कर्म बँधता है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है। मिथ्याश्रद्धा आदि (भाव का) कर्ता (आत्मा) है, परन्तु उसका (कर्म-पुद्गलकर्म का) कर्ता नहीं है। उस समय कर्म होने के योग्य, पुद्गल के परमाणु अपने से स्वयं कर्मरूप परिणमित होते हैं। उसका कर्ता वह कर्मरूपी पुद्गलपर्याय का कर्ता, वह कर्मपुद्गल है, आत्मा के परिणाम उसके कर्ता हैं, ऐसा नहीं है। ऐसी बातें, भाई!

मुमुक्षु : प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वतन्त्र है। प्रत्येक वस्तु (की) अपनी पर्याय (जिस) समय में होती है, वह स्वयं से स्वतन्त्र होती है। आहाहा! कठिन काम! (देखो!) इच्छा हुई कि मैं बोलूँ, तो उस इच्छा का कर्ता वह अज्ञानी है, अज्ञानी। धर्मी तो इच्छा होती है, उसका जाननेवाला रहता है। ऐसी बातें, भाई! अज्ञानी इच्छा का कर्ता होता है, इतना निमित्त और भाषा की पर्याय उस समय होनेवाली थी तो भाषा हुई, उस भाषा की पर्याय का कर्ता, इच्छा करनेवाला आत्मा उसका कर्ता नहीं है। अरे... अरे! ऐसी बातें अब! यह क्या है? समझ में आया?

लो, यह मशीन, ऐसी मशीन, मनुष्य खड़ा हो वहाँ (उसे) इच्छा हुई कि इसे-मशीन को चलाऊँ तो उस इच्छा का कर्ता वह अज्ञानी है। (उसे) राग है न, (इसलिए उस) राग का कर्ता अज्ञानी है। धर्मी (ज्ञानी) राग का कर्ता नहीं है। राग आता है, उसे अपने में-ज्ञान में रहकर, ज्ञान में जानता है। आहाहा! तो इच्छा का कर्ता होता है, तो मशीन चले, ऐसी मशीन चले, उस क्रिया का कर्ता इच्छावान आत्मा नहीं है। वह तो उस समय में परमाणु की पर्याय-मशीन की उसी प्रकार से चलने की थी तो वह परिणमती है—वे परमाणु जो मशीन के चले, उस पर्याय के कर्ता वे परमाणु हैं, इच्छा करनेवाला (मनुष्य) उसका कर्ता नहीं है। कहो, बलुभाई! पूरे दिन तुम करते हो न, बड़ा सत्तर लाख का मकान (फैक्ट्री) दवा-दवा (बनाने की), नहीं थी इतनी बड़ी?

मुमुक्षु : वह दवा दबाकर करते।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन दबाये? रामजीभाई थे, नानालालभाई थे राजकोटवाले के करोड़पति नानालाल कालीदास जसाणी, सब थे वहाँ। कौन करे भाई! आहाहा! बहुत कठिन काम। इच्छा हुई कि यह हीरा हाथ में लूँ, तो यह अज्ञानी उस इच्छा का कर्ता है, परन्तु जब हाथ में हीरा आया, उसकी-हीरा लाने की क्रिया हुई, वह इच्छा से हुई, ऐसा है नहीं। समझ में आया?

जाने जाने, ज्ञान की दृष्टि अपने द्रव्यस्वभाव के ऊपर (ही) है। धर्मी उसे कहते हैं कि जिसने ज्ञायकस्वभाव आत्मा शुद्धचैतन्यघन है, (उसके ऊपर) समकिती की दृष्टि-धर्मी की दृष्टि वहाँ है। इस कारण उसके परिणाम में निर्मल परिणाम होते हैं, उन निर्मल परिणाम का कर्ता धर्मी है। राग होता है, उसे ज्ञान में ज्ञेयरूप से जानता है। अरे! अब ऐसी बातें हैं, बहुत काम! पूरा मार्ग वीतराग का, अभी चलता है इससे पूरा अलग प्रकार है। आहाहा!

वीतराग सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि देखो! कि आत्मा तो अपने परिणाम का कर्ता है अज्ञानी। यह राग-द्वेष के परिणाम का कहना है न? वह आत्मा निमित्तभूत होने पर पुद्‌गलद्रव्य-जड़कर्म, कर्मरूप स्वयं परिणमित होता है। उस पुद्‌गल में उस समय में कर्मरूप होने की ताकत से स्वयं से कर्मरूप होता है। आहाहा! वह कुदरत से ऐसा कि अपने आप (परिणमता है)। ऐसा ही होता है। (जैसे कि) सूर्य उगे और पक्षी इकट्ठे हों, वे एक के बाद एक स्वयं से स्वयं के रास्ते चले जाते हैं (उड़ जाते हैं)। वह सूर्य उदित हुआ, इसलिए जाते हैं, ऐसा नहीं है। और सूर्यास्त हो तो पक्षी वृक्ष के ऊपर आते हैं और सब (पक्षी) जहाँ खुला हो, कोई आगे-पीछे के हों वहाँ सब इकट्ठे होते हैं। वे स्वयं से, वह कहीं सूर्यास्त हुआ होने से आये हैं, ऐसा नहीं है। अपनी पर्याय से वहाँ आये हैं। अपनी पर्याय से वहाँ रहे हैं। और जहाँ सूर्य उगता है कि वहाँ से चले जाते हैं, तो वे अपनी पर्याय से (वहाँ) चले जाते हैं। सूर्य उगा, इसलिए उन्हें चलना (उड़ना) पड़ा, ऐसा नहीं है। अरे... अरे! ऐसा है। यह किस प्रकार की बात!! वीतराग के घर की बात है, प्रभु! प्रत्येक द्रव्य-प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी वर्तमान अवस्था करने में स्वतन्त्र है। उसे दूसरा, उसकी पर्याय करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता।

मुमुक्षु : सेठ का काम नौकर तो करता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ धूल भी करता नहीं, कौन करे? नौकर का!

यह आत्मा उसकी इच्छा को करे और इच्छा को करने पर भी, यह हाथ और पैर की क्रिया कर नहीं सकता।

मुमुक्षु : इसलिए तो नौकर रखते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन नौकर रखता है? कोई नौकर कौन किसका नौकर? उसकी आत्मा भिन्न, इसका आत्मा-शरीर भिन्न, सेठ का आत्मा भिन्न-उसका शरीर भिन्न, शरीर-आत्मा भिन्न। सब काम... वीतराग का तत्त्व! प्रत्येक पदार्थ अपने से स्वतन्त्र है। किसी के आधीन कोई नहीं है। किसी को कौन रखता है, धूल भी नहीं रखता। कोई किसी के आधीन है ही नहीं।

मुमुक्षु : पैसे को तो यह रखता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह धूल भी अज्ञानी राग को करे कि मैं पैसे को यहाँ रखूँ, परन्तु पैसा रहे वहाँ वह अपनी पर्याय से पर्याय की योग्यता से वहाँ रहता है।

मुमुक्षु : सेठिया मानता है कि मैं रखता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठिया सब कौन? सेठिया को भान भी कहाँ है? ऐ... शान्तिभाई! यह सब सेठिया को उड़ाते हैं तुम सबको। कहो, मधुभाई?

मुमुक्षु : पैसे आये इसलिए राग किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग स्वयं ने किया है, अपने अज्ञानभाव से (किया है)। पैसे, पैसे के कारण से आये और गये। आहाहा! स्वतन्त्र द्रव्य है न! समझ में आया?

मुमुक्षु : पैसे कमाने की मेहनत करना या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता है? परन्तु पैसा राग कराता है? पैसा आया और गया, वह जड़ के कारण से और राग (इच्छा) करे, उसका देने का भाव किया, इसलिए पैसा वहाँ जाता है, ऐसी चीज़ है ही नहीं, आहाहा! वह विपरीत मान्यता है। मैं पैसा पर को देता हूँ और मैं पैसा लेता हूँ, यह विपरीत (मान्यता) है। वह जड़ की पर्याय का कर्ता होता

है, जड़ की पर्याय जड़ से होती है और कर्ता स्वयं (अज्ञानी) होता है, मिथ्यात्वभाव से। आहाहा!

मुमुक्षु : किसी के पास से पैसा उछन्ति के ले आवें और आवे तब वापस दे देवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ले आवे कहाँ से? वे पैसे आनेवाले हैं तो आते हैं। इसने राग किया, इसलिए वे पैसे आये हैं, ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : ऐसी बात झट गले उतरे, ऐसी नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गले न उतरे तो उतारनी पड़ेगी। बाबूभाई! बापू! मार्ग तो यह है नाथ!

भगवान परमात्मा ने अनन्त द्रव्य देखे हैं - तीर्थंकर परमेश्वर सर्वज्ञदेव ने अनन्त द्रव्य-अनन्त परमाणु, अनन्त आत्मायें (आदि छह द्रव्य) देखे हैं, तो अनन्त आत्मायें अनन्त रूप से और अनन्त परमाणु अनन्तरूप से कब रहे? कि अपनी-अपनी पर्याय के कर्ता हैं, तो इस प्रकार से (अनन्त रूप) रहे। परन्तु पर की पर्याय के कर्ता हों तो पर तो पर्याय बिना का (हुआ) परचीज़ तो नहीं रही, पर की पर्याय यह पर (दूसरा द्रव्य) करे तो पर पर्याय बिना नाश हो जाये, न्याय से जरा, परन्तु बात कठिन है। अभी तो (यह बात) चलती नहीं। अभी तो दया पालन करो और व्रत करो, अपवास करो—मर जाये, मर जाये, ऐई चिमनभाई! करो और मरो—यहाँ कर्ताबुद्धि है, वह मरने की बुद्धि है - यह राग की क्रिया मैं करूँ, यह 'करना सो करना' है। खबर नहीं, बापू! क्या हो?

यहाँ यह कहते हैं, **पुद्‌गलद्रव्य कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होता है...** पुद्‌गलद्रव्य जड़ है न, पुद्‌गल है न! वह कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होता है। तीसरी लाईन है (टीका की) **इसी बात को स्पष्टतया समझाते हैं...** यहाँ इसी बात को स्पष्टरूप से समझाते हैं। इस बात को स्पष्टरूप से दृष्टान्त देकर समझाते हैं। **जैसे साधक...** मन्त्र साधता है न मन्त्र। यह बिच्छू उतारने का मन्त्र, सर्प का जहर उतारने का मन्त्र होता है न! मन्त्र तो बहुत प्रकार के (होते हैं)। तो कहते हैं, दृष्टान्त से सुनो!

जैसे मन्त्र साधक उस प्रकार के ध्यानभाव से स्वयं ही परिणमित होता हुआ... अपनी पर्याय में राग हुआ, वह अज्ञानी राग का कर्ता स्वयमेव वहाँ होता है। ऐसा कि

साधक को जो मन्त्र के परिणाम हुए, करने के (जहर उतारने के) उन परिणाम का कर्ता होता है। समझ में आया? और वह ध्यानभाव, समस्म साध्यभावों को जिसने जहाँ करना है, उसके भाव हैं कि मैं यह मन्त्र करूँ तो सर्प का जहर उतर जाये—मन्त्र करूँ तो बिच्छू का जहर उतर जाये, यह मन्त्र करूँ तो यह स्त्री नृत्य करे (धुन करे) पागल हो जाये। समझ में आया? आहाहा!

वह ध्यानभाव समस्त साध्यभावों को... साध्य (भावों को) अर्थात् जो सामने होनेवाले हैं (वे भाव), **साधक के साधनेयोग्य भावों को अनुकूल होने से...** सामने चीज़ को साधक का भाव निमित्त-अनुकूल होने से, **निमित्तमात्र होने पर साधक के कर्ता हुए बिना (सर्पादिक का) व्याप्त विष स्वयमेव उतर जाता है...** आहाहा! (क्या कहते हैं?) इसने-साधक ने तो मन्त्र साधने के परिणाम किये। उस मन्त्र की भाषा का कर्ता भी नहीं और परिणाम किये और यहाँ सर्प का विष उतर गया तो वह तो स्वयं के कारण से (उतरा है)। वह जहर उतरनेयोग्य था तो उतरा है, इसने (साधक ने) मन्त्र किया तो वहाँ (जहर) उतरा है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : मन्त्र साधक ने तो मन्त्र साधा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात, परन्तु यह प्रश्न ही कहाँ है? मन्त्र हुआ और यहाँ यह हुआ उसके कारण से, उसके-(मन्त्र के) कारण से हुआ, ऐसा नहीं है। भारी कठिन काम। यह तो जहाँ हो वहाँ 'मैं करूँ... मैं करूँ... मै करूँ यही अज्ञान है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे'—गाड़ी चलती हो और नीचे कुत्ता (चलता हो) उसे ठांठु स्पर्श करे! दो सौ मण का बड़ा गाडा, बैल द्वारा चले, वह (कुत्ता) ऐसा मानता है कि गाड़ी मेरे से चलती है।

आहाहा! इसी प्रकार जगत की चीज़ें—धन्धे की, पैसे की आने-जाने की, खाने-पीने की (आदि) क्रिया सब अपने-अपने से होती है, अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं यह करता हूँ। गाड़ी के नीचे कुत्ता जाये, ठांठु छुए और माने कि गाड़ी मुझसे चलती है, इसी प्रकार दुकान की गद्दी पर बैठा और जो पैसा आवे-जावे, माल आये-जाये, ग्राहक आये-जाये वह कर्ता की पर्याय मैं करता हूँ, (अभिमान है!) आहाहा! ऐसा काम है। जगत को वीतराग का मार्ग बैठना... बहुत अलौकिक है, बापू!

जिनेश्वर-परमेश्वर (तीर्थंकर) ऐसा कहते हैं कि (अपने) अज्ञान से तूने राग-भाव किया तो तू राग का कर्ता है, परन्तु उस समय कर्म का बन्धन हो, उसका तू कर्ता नहीं। आहाहा! क्योंकि कर्मबन्धन पुद्गल है, वह तुझसे भिन्न चीज़ है और भिन्न चीज़ का परिणमन होना, वह उसके कारण से है, तेरे कारण से उसमें कर्मरूप परिणमन हो, (ऐसा नहीं है)। ऐसी बात है। आहाहा!

मुमुक्षु : तो भी कर्मबन्धन तो पड़ता है योग में!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उसके कारण से पड़ता है। योग तो उसमें निमित्तमात्र है, परमाणु का आना-जाना परमाणु की पर्याय में वह कर्म के कारण से, योग के कारण से नहीं। योग तो निमित्तमात्र है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, यह तो सादी भाषा से काम चलता है!

आत्मा में योग है जो कम्पन, मन-वचन-काया (का योग वह) तो जड़ है, वह तो निमित्त और अपने में कम्पन होता है, (आत्म) प्रदेशों में योग, वह योग होने से परमाणु के प्रदेश में और प्रकृति आती है, वह उसके कारण से आती है—उस समय होनेवाली पर्याय से—उसके कारण से, और अज्ञानी ने (जो) कषायभाव किया, उस योग से प्रकृति-प्रदेश हुए, उसमें उसके कारण से और यहाँ कषाय की क्रोध-मान-राग-द्वेष-दया-दान आदि परिणाम तो उस परिणाम का कर्ता अज्ञानी है और उस (अज्ञानी के) परिणाम हुए तो कर्म में स्थिति-अनुभागरस पड़ा, ऐसा है नहीं। शास्त्रभाषा ऐसी आती है कि योग से प्रकृति और परमाणु बँधते हैं और कषाय से स्थिति और अनुभाग-कर्म के चार प्रकार हुए न, परमाणु की संख्या, परमाणु का स्वभाव, परमाणु में रहने की स्थिति, परमाणु में फल देने की अनुभाग शक्ति!

मुमुक्षु : भेदज्ञान अपने आप होता है या करने से होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भेदज्ञान वह है, राग से भिन्न जिसने आत्मा को जाना—सम्यग्दर्शन हुआ, वह राग का कर्ता नहीं। और जो राग होता है, उसे वह जानता है, और उस समय (जो) कर्म बँधते हैं, उन्हें भी (जानता है), यहाँ राग हुआ तो वह (कर्म) बँधे नहीं। वे बँधते हैं, उन्हें भी यह जानता है।

मुमुक्षु : भेदज्ञान स्वयं होता है या पुरुषार्थ से करना पड़ता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहो! वह तो अनन्त पुरुषार्थ है, भेदज्ञान (कहीं) अपने आप होता है? राग से भिन्न मेरी चीज़ (आत्मतत्त्व) है, वह महाप्रयत्न है। वह कभी किया नहीं वह प्रयत्न!

मुमुक्षु : वह गुरुकृपा से होवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं होता गुरुकृपा से। यहाँ तो यह बात (नहीं)। यह बात मिथ्या है।

भगवान ऐसा कहते हैं कि मेरी मान्यता करता है, वह तो इसे राग होता है और राग से इसे बन्धन होता है। पुद्गल की पर्याय वह इसकी स्वतन्त्रता से होती है। आहाहा! ऐसी बात है भाई! नव तत्त्व, नौ कहे न? नौ, नौ तत्त्व अपनी-अपनी पर्याय से भिन्न-भिन्न है। जीव, अजीव, पुण्य और पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। आहाहा! यह विषय अभी चलता नहीं, इसलिए लोगों को ऐसा लगता है कि यह नया कहाँ से निकाला? ऐसा लोगों को नया (लगता है)। बापू! परन्तु अनादि का मार्ग (ही) यह है। वीतराग परमात्मा, वे ऐसा कहते हैं कि प्रभु! तेरी चीज़ में तो आनन्द पड़ा है न! आहाहा! उस आनन्द की तुझे खबर नहीं, ख्याल नहीं, समझ नहीं, इस कारण से तुझमें शुभ और अशुभराग—मैल होता है, इसका तू कर्ता होकर परिणमन करता है, वह परिणमन करने में कर्म (द्रव्यकर्म जड़ है) तो राग-द्वेष का परिणमन हुआ, ऐसा नहीं है। और राग-द्वेष तूने किये तो कर्मबन्धन हुआ-कर्मबन्धन होना ही पड़ा, ऐसा नहीं है। वह परमाणु की पर्याय, कर्म (रूप) होने की योग्यतावाले (पुद्गल) कर्मरूप होते हैं। अरे, अरे! अब ऐसी बातें! इसमें कहीं मिलाने खाये, (ऐसा) नहीं होता।

पूरे दिन राग करे और कहे कि राग करनेवाला तू माने तो तू अज्ञानी मूढ़ है मिथ्यादृष्टि! क्योंकि तेरी चीज़ में तो राग है नहीं, वह तो स्वभाव-आनन्दकन्द है। तो वह अज्ञानी राग को करे और उस समय कर्मबन्धन हो, तो राग किया तो कर्मबन्धन का कर्ता भी आत्मा हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु इसमें भाव तो (जो है वह) इसने पकड़ा नहीं कभी! अभी तो यह सुनने को मिलता नहीं। अभी तो जहाँ हो वहाँ उसमें कहे, यह सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, व्रत करो, दान करो, मुनि को

आहार-पानी दो, सब ऐसी क्रिया! करो... करो... करो-करने की बातें बतावे। श्वेताम्बर में जाये तो इसे भक्ति करो, पूजा करो, यात्रा करो, गिरनार जाओ, शत्रुंजय जाओ, यह सब राग की क्रिया बतावे। आहाहा!

मुमुक्षु : आप कौन सी क्रिया बताते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह रागरहित आत्मा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करना, वही धार्मिक क्रिया है। शान्तिभाई! आहाहा! यह धर्म करने की पद्धति!

मुमुक्षु : जहाँ धर्म हो वहाँ जाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ जाये? अज्ञानी ने इच्छा की कि मैं इस पृष्ठ को ऊँचा करता हूँ, वह अज्ञानी इच्छा का कर्ता है, परन्तु इस (पृष्ठ) की ऊँची होने की पर्याय का कर्ता, यह आत्मा है-ऐसा नहीं है। ऐसी बातें हैं, प्रभु! आहाहा!

(देखो) पैर चलते हैं, इच्छा हुई कि मैं चलूँ, बस! इच्छा का तो अज्ञानी कर्ता हुआ। पैर चलता है, वह पैर की पर्याय से पैर चलता है, इच्छा से नहीं। अब यह बात कौन माने? प्रभु, गले उतरती नहीं। समझना कठिन। परन्तु बापू! मार्ग तो यह है, भाई! आहाहा! अनन्त-अनन्त काल से दुःखी है, प्रभु! कल बहुत नहीं कहा था? भाई! नरक में तूने ऐसे दुःख सहन किये कि बापू! सुने जायें नहीं। भगवान का पुकार है, प्रभु! तू नरक में अनन्त बार गया! अनन्त-अनन्त सागरोपम के नरक के दुःख तूने वहाँ भोगे। एक-एक नरक में अनन्त बार गया प्रभु! तू, ऐसा प्रभु कहते हैं, एक पहले नरक की दस हजार (वर्ष की) स्थिति में, अनन्त बार दस हजार और एक समय की स्थिति वह दस हजार और दो समय की स्थिति में अनन्त बार, ऐसे तीन, चार, पाँच, सात, दस, संख्यात-असंख्यात मिनिट और दस हजार और मिनिट की स्थिति में अनन्त बार, फिर दस हजार और दो मिनिट की स्थिति में अनन्त बार, ऐसे तैंतीस सागर तक अनन्त-अनन्त बार भव किये, बापू! आहाहा! एक मिथ्यात्व के कारण। वह मिथ्यात्व क्या चीज़ है, इसकी खबर नहीं! समझ में आया?

यह तो (अज्ञान से) मानो मैं दया पालता हूँ और व्रत करता हूँ और धर्म! यह तो दया और व्रत के परिणाम तो राग हैं, (उसे) अज्ञानी धर्म मानता है और मनाता है अभी

तो क्या करना ? ऊपर साधु होकर भी ऐसा मनाता है और करनेवाले मानते हैं, सब खबर है भाई ! आहाहा ! ८० के वर्ष में (संवत् १९८०) बोटाद में चातुर्मास था, ८०-८०, कितने वर्ष हुए इसे ? ५५ वर्ष, तो बोटाद तो बड़ा सम्प्रदाय न ! और व्याख्यान में मैं बैठूँ तो लोग तो समाये नहीं, उपाश्रय में इतने लोग बैठे हों, वह क्या कहलाती है ? गली, गली में बैठे। ऐसे हों और खिड़की-खिड़की में यहाँ वाँचन और गली में बैठे, इतने अधिक लोग (हों)। बोटाद, ३०० घर। सेठिया रायचन्द गाँधी, बड़े गृहस्थ, लाखों (पति) दशाश्रीमाली और विशाश्रीमाली नारण भूधर-बहुत लोग हों। हमारी तो इज्जत बड़ी थी न तब, ८० में, बहुत लोग इकट्ठे हों, भाई ! आहाहा !

तब (हम) ऐसी बात वहाँ करते थे, सत्य बात आयी थी, एक २८वें अध्ययन में भाई ! उत्तराध्ययन का २८वाँ अध्ययन वाँचन करते हैं, उसमें आया था... देखो, भाई, कहा। यह सम्प्रदाय की दृष्टि है न, (उसे) रखकर ऐसा माने कि हम समकिती हैं, हम दया पालते हैं और व्रत करते हैं, इसलिए हम समकिती हैं। अब अपने समकित तो है और व्रत पालन करो तो चारित्र (होगा), तो यह मिथ्याश्रद्धा है, कहा। ८० के वर्ष में, हजारों लोग थे। उपाश्रय भर गया था और बाहर पूरी गली। तब हमारे जो गुरुभाई थे, उन्हें नहीं रुचा। वे मूलचन्दजी थे। विशाश्रीमाली (थे)। (उन्हें) नहीं रुचा। इसलिए एक पूरा चौमासा हो गया और कार्तिक कृष्ण एकम् (अगहन कृष्ण एकम्) को उठने का हो न ! सबको बुलाकर, मैं ऊपर जाकर बैठा कमरे में ऊपर, (उन्होंने) सबको बुलाकर कहा, देखो भाई ! अपने को तो गौतमस्वामी जैसी श्रद्धा मिली है, अब तो अपने व्रत और प्रत्याख्यान आदि करना, उसे चारित्र गिनना। ऐसा कि यह और कानजी ने दूसरा कहा है, ऐसा उन्हें (वे) कहते थे। क्या करे परन्तु उन्हें भी खबर नहीं होती बेचारों को ! लोगों को (अभिमान चढ़ जाता है)। लो, उन्होंने ऐसा कहा।

(दूसरा भी) मैंने कहा कि यह संक्षेप रुचि का अर्थ चलता था तो भाई ! संक्षेप रुचि का-संक्षेप रुचि का अर्थ चलता था। वह क्या ? २८वें अध्ययन (में पाठ है) मोक्षमार्ग का उत्तराध्ययन का, उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययन हैं, उसका २८वाँ, (हमारे तो) प्रत्येक अक्षर-अक्षर कण्ठस्थ था न ? उसमें क्या है ? छह-सात हजार श्लोक तो कण्ठस्थ थे। संक्षेपरूचि की (बात) व्याख्यान में आयी, इसलिए उसमें ऐसा कहा कि, यह सम्प्रदाय

है स्थानकवासी या मन्दिरमार्गी, ऐसे हम यह सम्प्रदायी हैं, वह हमारी श्रद्धा सच्ची है और दूसरे की खोटी है, ऐसी मान्यता है, वह बात सच्ची नहीं है, कहा। यह सम्प्रदाय है, वह मानता है और मनाता है, यह दृष्टि अत्यन्त विपरीत है। यह भगवान संक्षेपरुचि तो उसे कहते हैं कि विशेष ज्ञान न हो परन्तु अन्दर वास्तविक चीज़ जो है आत्मा, उसकी जिसे दृष्टि अन्दर हुई हो तो उसे ज्ञान विशेष न हो, तो भी उसे संक्षेप रुचि-समकित कहा जाता है।

परन्तु... यह सब सम्प्रदाय, हम यह क्रिया करते हैं और व्रत पालते हैं और भक्ति करते हैं और यह करते हैं, इसलिए उसमें धर्म है, ऐसा माने, वह तो वह मान्यता मिथ्यात्व है, कहा। फिर हमारे मूलचन्दजी और वह,... मूलचन्दजी को पहिचानते थे तुम, भाई! ७१ में चातुर्मास लाठी, तत्पश्चात् सबको बुलाकर (उन्होंने) कहा, मैं तो ऊपर बैठा था—कमरे में। देखो, भाई! अपने तो गौतम जैसी श्रद्धा मिली है, हों! बदलना नहीं, अपने व्रत और तप करो अब तो चारित्र लो, तो हो गया। आहाहा! क्या करें परन्तु बापू! समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि अज्ञानी, अनादि से अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर, यह पुण्य और पाप के (भाव) दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के भाव का अज्ञानरूप से कर्ता होता है। हो, उसे स्वतन्त्ररूप से अज्ञानी करता है, कर्म है तो वहाँ राग करना पड़ा, ऐसा नहीं। और यहाँ राग, कर्तारूप से किया और वहाँ कर्मबन्धन हुआ और राग है तो कर्मबन्धन वहाँ हुआ, ऐसा है नहीं। वह परमाणु में क्रमसर होनेवाली कर्मपर्याय होनेवाली थी तो कर्मपर्याय हुई है। ऐसी बात अब कहीं, बहुत कठिन काम है, बापू! सत्य के पक्ष में आना और असत्य पक्ष से छूटना, यह बहुत कठिन काम है।

मुमुक्षु : बहुत कठिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न गुलाबचन्दजी और रतनचन्दजी से बात हुई अन्दर, रतनचन्दजी के गुरु शतावधानी, ९० के वर्ष में चोटीला के उपाश्रय में कमरे में ऊपर कहा कि देख भाई! 'ज्ञानक्रियाभ्यांमोक्ष' यह बात नहीं।

वे कहें, परन्तु अपन तो ऐसा कहते हैं न अभी तक कि शास्त्रज्ञान वह ज्ञान, दया

पालना और व्रत करना, वह क्रिया (इसका नाम ज्ञानक्रियाभ्यांमोक्ष)। ऐसा नहीं, कहा, भाई! तब तो मैं उसमें (स्थानकवासी में) था, चोटीला। (कहा कि) ऐसा नहीं है। तब? यहाँ राग बिना का आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान और उस ज्ञान में रमणता, वह क्रिया—वह चारित्र, वह 'ज्ञानक्रियाभ्यांमोक्ष'। बात तो सच्ची लगती है, (उन्होंने) कहा। विचार, नरम व्यक्ति थे, पचपन वर्ष की दीक्षा तब, तो यहाँ अभी ऐसे ९० (वर्ष हुए) इसलिए मुझे तो बीस और एक, ४२-४३ वर्ष का (अन्तर) था, उनकी तो पचपन वर्ष की दीक्षा, बात सच्ची लगती है, कहे। दो बातें एकान्त में हुई थी, हों!

दूसरी बात यह हुई थी कि शास्त्र में प्रतिमा है, यह बत्तीससूत्र में पूजा है—प्रतिमा-मूर्ति है। (वे कहें) है, यह मुझे खबर है, परन्तु क्या करें अब, जाना कहाँ मुझे? यदि शिष्य पढ़ेंगे तो उन्हें मेरी श्रद्धा नहीं रहेगी। रतनचन्दजी के, शतावधानी थे न, उनके गुरु थे यह, और रतनचन्दजी को भी अन्दर में था, एक शब्दकोश बनाया, उसमें चैत्य शब्द जहाँ आया, चैत्य, वहाँ प्रतिमा उसका अर्थ उन्होंने नहीं किया। (मैंने) पूछा, ऐसा कैसे? तो कहे कि नहीं कहा जाता, चैत्य का अर्थ प्रतिमा होता है। वह भी किसमें—मैं क्या करूँ? कहे यह (कहा जाता है)? बहुत मानी-सम्प्रदाय की दृष्टि छोड़ना-उसमें से निकलना, वह कठिन।

यहाँ तो मैंने तो छोड़कर 'चाहे जो हो' कहा, भाई! मैं तो छोड़ देनेवाला हूँ, बड़े भाई को-खुशालभाई को कहा था, ८७ में, यहाँ ९१ (संवत् १९९१) में परिवर्तन किया। उससे पहले चार वर्ष पहले बीछिया में बड़े भाई को कहा, भाई! मैं इसमें-इस मार्ग में रहनेवाला नहीं हूँ, यह मार्ग नहीं है। मार्ग दूसरा है। आपने दीक्षा दिलाई बड़ी धूमधाम से। ६५-६६ वर्ष पहले १८०० रुपये घर के खर्च करके, हों! घर से (दीक्षा) ली थी न दीक्षा उमराला में, वह दीक्षा नहीं, वह साधुपना नहीं।

मुमुक्षु : वास्तविक क्रान्ति लाये!

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, भाई को बहुत प्रेम था न, भाई! महाराज! आपकी ख्याति बहुत है तो धीरे-धीरे करना। एकदम करना नहीं। फिर उनकी मौजूदगी में ही यहाँ ९१ में हीराभाई का मकान है न वहाँ (स्थानकवासी सम्प्रदाय) छोड़ दिया। मकान है, वहाँ तीन वर्ष रहे थे और जंगल में मकान है, उनकी मौजूदगी में। स्वयं भाई यहाँ ही रहते, निवृत्त

होकर, दुकान छोड़ दी थी। पुत्र-पुत्री नहीं थे, इसलिए फिर यहाँ ही रहते, (संवत्) १९९३ में गुजर गये। बापू! मार्ग अलग, भाई! कहा। आ पड़ा इसमें, कहा मैं अब इसमें नहीं रह सकूँगा! चिमनभाई! यह तो ८७ की बात है, बींछिया में कहा था।

मुमुक्षु : हमारे लिये ही परिवर्तन हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : मार्ग यह है, बापू! बाबूभाई जैसे अभी सुनने आये हैं, सब छोड़कर, देखो न! इसलिए आये हैं न सुनने, आये इतना तो बस, इन्हें रुचता है न! मार्ग यह है, बापू! क्या करें?

मुमुक्षु : पन्द्रह दिन शान्ति से सुने तो बदल जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बदल जाये। आहाहा!

यह तो सत्य है, यह कहाँ कोई पक्ष है। भगवान तीन लोक के नाथ ने पुकार करके कहा है, वह यह बात है। आहाहा!

साधक-मन्त्रसाधक कर्ता (हुए) बिना, मन्त्र साधता है न? यहाँ तो दृष्टान्त दिया है। वह मन्त्र का साधक, साधक कर्ता हुए बिना सर्पादिक का **साधक के कर्ता हुए बिना (सर्पादिक का) व्याप्त विष स्वयमेव उतर जाता है...** वह उसके कारण से, यहाँ मन्त्र साधा है, इसलिए (जहर) उतरा, ऐसा नहीं, (ऐसा) कहते हैं। आहाहा! है? रामजीभाई बिच्छू का उतारते थे, बिच्छू का उतारते थे... वह तो बात ऐसी है। वह यहाँ बिच्छू काटा हो और वहाँ उसके जहर का पिण्ड जैसा हो जाये, इसलिए फिर मन्त्र बोले वह और ऐसे-ऐसे घिसे, इसलिए पृथक् पड़ जाये। यह सब खबर सब। ऐसा करता था, ऐसा एक जगह (जहर) जमा हो, वहाँ कहे, मन्त्र बोलते जाये और घिसे, इसलिए वह (जहर) पृथक् पड़ जाये, इसलिए उतर गया, लो अब। ऐई! सभी खेल देखे हैं, बापू! एक-एक की बातें अन्दर देखी है और देखी है पहले, इसलिए फिर मन्त्र से उतर गया, (ऐसा लोग मानते हैं)! रामजीभाई ने मन्त्र पढ़ा, इसलिए उतर गया? मैंने कहा धूल भी नहीं, हाँ उससे नहीं उतरा, उतरा उसके कारण से उतरा है, बापू! क्या हो! सर्पादिक का जहर कहा न!

मन्त्र का साधक स्वयं उसके परिणाम को करे, परन्तु सामने जो सर्प का जहर आदि उतरता है, वह उसके कारण से उतर जाता है, इसके कारण से नहीं, यह तो निमित्तमात्र है।

आहाहा! इसी प्रकार यह दवा में भी ऐसा है। शरीर की पर्याय जिस प्रकार से हो रोग की, दवा आवे, तब शरीर की पर्याय दूसरे प्रकार से बदलने की थी, तब उसको – दवा को निमित्त कहा जाता है। दवा से वहाँ परमाणु पलटे हैं, ऐसा नहीं है। अरे, अरे! अब ऐसी बातें! बात-बात में अन्तर!

७१ में (संवत् १९७१ में) कहा था न? हमारे वीरचन्दभाई के पिता और सब थे, तब मोहनजीभाई थे, तब मोहनजीभाई (की जो) उनके पिता के पिता नहीं? मनसुखभाई के पिता छगनभाई, छगनभाई के पिता मोहन देसाई। कैसे मोहनजी देसाई, सब प्रौषध करते थे, वहाँ ७१ में। तब वहाँ कहा, दोपहर में एक बजे वांचन था, अष्टमी (थी) 'कर्म के कारण विकार तीन काल में आत्मा में नहीं होता।' कहा। मेरे गुरु सुनते थे बेचारे, विरोध नहीं किया! उन्होंने कहा नहीं कभी कुछ, परन्तु विरोध नहीं किया! कर्म के कारण आत्मा में विकार होता है, बिल्कुल झूठ बात है।

मिथ्यात्व-संशय शब्द है, भगवती (सूत्र) में, संशय-मिथ्यात्व होता है, वह कर्म के कारण होता है, बिल्कुल झूठी बात है। अज्ञानी स्वयं (अपने को) भूलकर मिथ्यात्वभाव को करता है, इसलिए वह मिथ्यात्वभाव का अज्ञानी कर्ता होता है। वह स्वतन्त्र है। भगवती(सूत्र में) संशय (ऐसा पाठ है), उसके ऊपर से निकाला है (कहा है) संशय का पाठ था न तब! चार-चार महीने एकान्तरा अपवास करते, शास्त्रों का भारी पठन चलता था न, उसमें उपधानरूप से एक दिन अपवास चतुर्विध आहार (त्याग) हों! दूसरे दिन एक बार खाना, तीसरे दिन चतुर्विध आहार त्याग और (चौथे दिन) एक बार। चारों महीने ७१ के चातुर्मास में। उसमें एक हमारे गुरु भी तब करते थे। कुछ वर्षा की खींच थी ७१ में, पहले हीराजी महाराज, मूलचन्दजी और मैं तीनों थे। परन्तु... बात यह कही कि यह मिथ्यात्व आदि राग-द्वेष के परिणाम, जीव से होते हैं, वह कोई ऐसा कहे कि कर्म के कारण होते हैं (वह) झूठी बात है, कहा। ऐई! खलबलाहट हो गयी। क्योंकि सब सम्प्रदाय में यह बात, स्थानकवासी भी ऐसा माने कि कर्म के कारण विकार होता है, श्वेताम्बर ऐसा माने कि कर्म के कारण विकार होता है, दिगम्बर भी ऐसा माने कि कर्म के कारण विकार होता है... ऐई! खलबलाहट हो गयी। कहा, लाख खलबलाहट होओ, परन्तु मार्ग तो यह

है। यह कर्म है तो यहाँ (जीव में) राग-विकार हुआ है, ऐसा नहीं है। और जीव में विकार हुआ तो (वहाँ) कर्मबन्धन हुआ, ऐसा नहीं है। अपने-अपने कारण से है। आहाहा! ऐसी वस्तु है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : घाति-अघाति के भाग किसने किये?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाग? वह परमाणु ने किये, आत्मा ने नहीं।

यह दृष्टान्त दिया है (समयसार में है)। सुनो! कि जैसे यह आहार लेता है मनुष्य, (उसमें उस आहार में) कितने ही परमाणु रक्तरूप, कितने ही परमाणु वीर्यरूप, कितने ही हड्डीरूप, कितने ही चमड़ीरूप परिणमते हैं, परन्तु उन्हें परिणमावे कौन? वह उनकी (परमाणु की) परिणमने की योग्यता प्रमाण परिणमते हैं। दृष्टान्त है, इसका समयसार में दृष्टान्त है। आस्रव है न, भाई! आहाहा!

(दूसरा) दृष्टान्त, सेर-डेढ़ सेर बादाम का मैसूर (बनाया हो न) उसे खाया लो न बादाम का मैसूर होता है न! पिस्ता का मैसूर होता है, यह पहले होते थे। अब तो महँगा पड़ा न (हुआ न)! सवा-सवा सौ रुपये का (एक) किलो बादाम! और पिस्ता तो डेढ़ सौ-दो सौ किलो है। पिस्ता बहुत महँगा है। है न, सब खबर है न! तब तो बारह आने सेर बादाम थी, हम दुकान में बेचते थे तब। (मुझे) यहाँ दूसरा कहना है कि बादाम को मैसूर हो, वह मैसूर हो और खाये, इसलिए उसके परमाणु जो हैं (बादाम के, उनमें) कितने ही रक्तरूप, रक्तरूप होने के हों, वे रक्तरूप होते हैं; वीर्यरूप होने के हों, वे वीर्यरूप होते हैं; थूकरूप होने के हों, वे थूकरूप होते हैं; चमड़ीरूप होने के हों, वे चमड़ीरूप होते हैं; हड्डियाँरूप होने के हों, वे हड्डियाँरूप होते हैं। दृष्टान्त है न समयसार का। आहाहा! उसे कोई बदलानेवाला नहीं है-भाग करनेवाला नहीं है। आहाहा! परमाणु परमाणु एक-एक स्वतन्त्र है, जिस समय जो क्रमबद्ध में उनकी पर्याय जो होनेवाली है, (वही) होती है। कठिन काम, भाई! सत्य को सत्य रीति से मानना बहुत कठिन है, भाई! आहाहा!

यह आया है, यहाँ पत्र आया, मोहनभाई का आया है यहाँ, हिरन को देरी से खबर पड़ी-मृग को देरी से खबर पड़ी। अभी भाई पत्र दे गये। आहाहा! इसी प्रकार इस अज्ञानी को देरी से खबर पड़ी। मेरा नाथ! यहाँ आनन्दस्वरूप है, उस आनन्द को बाहर खोजने

जाता है। स्त्री में से आनन्द मिलेगा, पैसे में से मिलेगा, भोग में से मिलेगा, विषय में से मिलेगा, पैसे में से मिलेगा, अरे! मूर्ख! कहाँ जाता है तू?

यह मरने का अवसर आया तब फिर (मुँह फेर लेता है) फिर हाय! हाय! अरे रे! अब... दामनगर में एक था खुशालभाई-खुशाल प्रेमचन्द, गृहस्थ लोग वहाँ (उसे) एक आँख नहीं थी, उसकी लड़की यहाँ थी झबुबेन, आया था न गढडा में विवाह किया था (वह खुशालभाई) गाँव के बहुत काम करे—गाँव के लोगों के। वे खुशालभाई थे।

सब वहाँ चातुर्मास किया था न, भाई! (वे खुशालभाई) मरने पड़े तब भाई रोवे और आँख में से आँसू बहते जायें! सेठिया देखने जाये दामोदर सेठ जैसे देखने जाये! अरे रे! मैंने मेरा कुछ नहीं किया, मैंने दुनिया के-गाँव के काम में (समय गँवाया)। गाँव के चतुर थे, गाँव का काम करे। आहाहा! गाँव के काम में मेरी जिन्दगी गयी! अभी देह अन्तिम स्थिति में है अब। रोवे... रोवे... वह रोवे-रोवे! खुशाल प्रेमचन्दभाई थे, प्रेमचन्द वृद्ध थे, उनके पुत्र सब दामनगर, अरे रे! कोई नहीं मेरा, अभी ऐसा बोले, मैंने मेरा कुछ नहीं किया, भाई! मैंने मेरा बिगाड़ा, दुनिया के काम में जा-जाकर मेरा सब समय गया। वह (रोवे... रोवे)। देह छूट गयी देह... जाओ... जाओ...! कहो, शान्तिभाई! यह स्त्रियाँ और पुत्र के लिये करके, व्यापार-धन्धा कर-करके मर गया उनके लिये! अपना जो करने का है, वह क्या है, उसे भूल ही गया।

मुमुक्षु : यह राग करे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह राग, परन्तु यह राग करता है तो वह स्वयं न! राग करता है, वह कहीं पर का नहीं कर सकता। आहाहा! बराबर सुनाई देता है जमुनादासभाई? हमारे पुराने व्यक्ति हैं, लाठी के पास के पीपलवा के हैं। पीपलवा (गाँव) है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! तू अज्ञानी होकर तेरा स्वरूप जो आनन्दघन-सच्चिदानन्द प्रभु ज्ञाता-दृष्टा, जाननेवाला-देखनेवाला तेरा स्वभाव है, उसे तू न जाने, तो तेरी (दशा में) राग और पुण्य पाप के परिणाम, उन परिणाम का कर्ता होकर परिणमता है और वह अज्ञानरूप से जो राग-द्वेष किये और उनका कर्ता तू हुआ और सामने जो कर्मबन्धन हुआ, वह तूने राग-द्वेष किये; इसलिए कर्मबन्धन हुआ, ऐसा नहीं है। कर्मबन्धन हुए परमाणु की पर्याय

की योग्यता से कर्मबन्धन हुआ है। श्रीपालजी! ऐसी बातें हैं। और भी तो गड़बड़ बहुत, महाराज-साधुओं ने तो गड़बड़ कर दी है। बहुत कठिन, कठिन काम है भाई! क्या हो! किसी की निन्दा के लिये नहीं, वस्तु की स्थिति ऐसी है, भाई!

मुमुक्षु : वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु का ऐसा (स्वरूप ही) है। आहाहा! समझ में आया?

अज्ञानी (होने पर भी) अब तो लाखों लोग विचारवान हो गये हैं। इस ओर तो अधिक हो गये हैं, अपने इस ओर की अपेक्षा उत्तर में। क्योंकि भाई हैं न हुकमचन्दजी, हुकमचन्दजी ४३ वर्ष की उम्र परन्तु उनका मस्तिष्क! बड़ा पण्डित है! पाँच सौ वेतन देते हैं, भाई पूरणचन्द गोदिका, सौ रुपये बढ़ा दिये तो इनकार किया कि अब नहीं, बस, इतना बस है मुझे और मुझे तो थोड़े से वर्ष ही रहना है, बाकी लड़के तैयार हो जायें तो छोड़ देना है। बहुत मस्तिष्कवाला व्यक्ति, ४३ वर्ष का। पन्द्रह-पन्द्रह हजार लड़कों की परीक्षा लेते हैं।

मुमुक्षु : आपका हाथ है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाथ-बाथ... उस ओर यहाँ का बहुत प्रचार है। उनका और एक ज्ञानचन्दजी हैं। ज्ञानचन्दजी विदिशा के हैं—वे विदिशा के हैं। अपने (यहाँ का तत्त्व) सबको देते हैं। दस-दस हजार लोगों को देते हैं इस प्रकार का व्याख्यान, लोग तन्मय होकर सुनते हैं! अरे! हमें-हमको तो खबर भी नहीं थी, यह क्या कहते हैं! हम तो सोनगढ़वालों को, हमने गिना भ्रान्तिवाले में और सोनगढ़ ने तो नया धर्म निकाला न! (ऐसा मानते थे)।

(यहाँ का तत्त्व) सुन-सुनकर बहुत तैयार हो गये हैं। इस ओर तो सब श्वेताम्बर थे, वहाँ दिगम्बर बहुत, इसलिए दिगम्बर में यह बात करते तो दिगम्बर में लोगों को इस बात की घड़ बैठ जाती है। उसमें एक बाबूभाई है गुजरात में अपने फतेपुरवाले, इन तीन का (उस ओर) अधिक प्रचार है। आहाहा!

यहाँ क्या कहते हैं? कि अज्ञानी अपने स्वरूप को भूलकर जो कुछ पुण्य और पाप के विकार का कर्ता हुआ, तो उस समय जो कर्मबन्धन हुआ, वह स्वयं के कारण से हुआ

है। कर्म के कारण से बन्धन हुआ है। किस प्रकार ? कि मन्त्रसाधक जीव, मन्त्र को साधता है, बस वही उसकी पर्याय का कर्ता है मन्त्र का (और) सामने जो सर्प का (जहर) उतर जाता है, वह उसके कारण से उतर जाता है, जहर के कारण से उतर जाता है, इसके (मन्त्र साधक के) कारण से नहीं। है ? **साधक के कर्ता हुए बिना (सर्पादिक का) व्याप्त विष स्वयमेव उतर जाता है, स्त्रियाँ स्वयमेव बिडम्बना को प्राप्त होती हैं...** ऐसा मन्त्र पढ़े न, वहाँ स्त्रियाँ धुनने लग जायें। परन्तु उनके (स्त्रियों के) कारण से, इसके (मन्त्र साधक) के कारण से नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु मन्त्र असर तो करता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, बिल्कुल नहीं, पर को कुछ असर नहीं करता। यह बात है। है ? स्त्रियाँ स्वयमेव—वह मन्त्र जपे वह तो वहाँ (जपने का) कर्ता है, यहाँ स्त्रियाँ उनके-स्वयं के कारण से धुनने लगती हैं। आहाहा!

और बन्धन स्वयमेव टूट जाते हैं। उन्हें-साधु को बन्धन था न ? मानतुंगाचार्य, उन्हें बन्धन में डाला था। भगवान की स्तुति करते... करते... करते वह (बेड़ी) टूटने की थी वह टूट गयी, परन्तु भाषा में ऐसा कहा जाता है कि मन्त्र जपा (स्तुति ऐसी की) इसलिए टूटा! समझ में आया ?

चन्दनबाला, भगवान को आहार दिया, ऐसा कहते हैं न, भगवान महावीर को चन्दनबाला ने (आहारदान किया)। वह सेठानी थी, उसने बेड़ी में डाल दिया था। क्योंकि उसकी सेठानी को वहम पड़ा कि यह मेरे पति ने कोई दूसरी रखी है। उसको तो पुत्री के समान थी। परन्तु बहुत रूपवान थी, इसलिए उसकी सेठानी को वहम ऐसा वहम पड़ गया। बेड़ी में डाल दिया। उसमें भगवान महावीर पधारे आहार के लिये, अभी (महावीर) छद्मस्थ थे, केवली नहीं। यह (भगवान महावीर) पधारे, वहाँ इसे (चन्दनबाला को) भाव हो गया अरे रे! आहाहा! मैं आहार कैसे दूँ! उबले हुए उड़द थे उसके पास, वे उबले हुए उड़द ऐसे देने से (एकदम) बेड़ी टूट गयी! आहा! एकदम। आता है न ? और जहाँ भगवान को आहार दिया, वहाँ देव ऊपर से अहो! अहो! दानम्... अहो! अहो! दानम्! देखो! यह सहज वहाँ होने की पर्याय है। आहाहा! अहो! अहो! चन्दनबाला ने बहुत

आहार दिया—भगवान महावीर को आहार (आहारदान किया), ऐसा कहते हैं। वह तो पुण्य का भाव है। आहार देना, वह कहीं धर्म नहीं है, वह तो एक शुभभाव है।

धर्म तो रागरहित अपना अन्तर स्वभाव चैतन्य भगवान शुद्ध की दृष्टि और ज्ञान करे, उसमें एकाग्रता हो, तो धर्म होता है। बाकी सब बातें व्यर्थ हैं।

मुमुक्षु : चन्दनबाला आहार दे, ऐसा एक अभिग्रह था भगवान को?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह शुभभाव था और वहाँ बेड़ी टूटनेयोग्य थी तो टूटी (उसका काल था) और आहार देने की क्रिया भी आहार के कारण ही होनेवाली थी, वह हुई। चन्दनबाला ने तो शुभभाव किया। ऐसी बातें बहुत! एक ग्रास भी (आहार का) आत्मा ले सके और खा सके, (ऐसा) तीन काल में नहीं है, वह जड़ की क्रिया है। कहो, मधुभाई! भारी कठिन पड़े तुम्हारे सब हीरा के व्यापार में पूरे दिन लवलीन हो जाये न... हीरा चलता हो, दो-पाँच लाख पैदा हो जाये बारह महीने में वहाँ तो... आहाहा! कैसा! हमने होशियारी करके कैसा यह किया!

मुमुक्षु : राग का जत्थाबन्ध व्यापार।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहा? भाई! यह तो तुम्हारा दृष्टान्त, तुम्हारा, बाकी सब ऐसा है—पूरी दुनिया! यह तो तुम नये आये हो, क्यों, शान्तिभाई? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, बहुत समय होने आया नहीं? मन्त्र के साधक के परिणाम मन्त्र के साधक ने किये परन्तु सामने जो क्रिया हुई, वह उसके कारण से हुई है, इसके (मन्त्रसाधक के) कारण से नहीं। इस प्रकार जीव ने राग-द्वेष किये और सामने (कर्म का) बन्धन हुआ, वह बन्धन के कारण से हुआ; राग-द्वेष के कारण से नहीं, यह विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १८२, गाथा-९१-९२, दिनांक ३०-०१-१९७९, मंगलवार, माघ शुक्ल-३

श्री समयसार, (गाथा ९१ चलती है, थोड़ा चला है)।

जैसे, जिस प्रकार मन्त्र साधक पुरुष है, वह मन्त्र के परिणाम को साधता है। उसमें तो वह तो निमित्तमात्र है। उसके कारण पर में सर्प का जहर उतर जाये, बिच्छू का डंक (का जहर) उतर जाये, स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बना को प्राप्त हो, इत्यादि वह उसकी पर्याय उनके कारण से होती है, मन्त्र के परिणाम से हुई, ऐसा नहीं हैं। कहो! यह तो दृष्टान्त हुआ। है?

इसी प्रकार यह आत्मा... (गाथा) ९१ में नीचे चौथी लाईन है—नीचे से चौथी लाईन। ९१ (गाथा की) इसी प्रकार, (यहाँ से) है? चौथी लाईन नीचे से, ९१ (गाथा) बहियाँ देखने में देरी लगे? वह घर की बहियाँ देखना आता है! कहते हैं कि जैसे मन्त्र साधक मनुष्य अपने परिणाम में मन्त्र की साधना करता है तो पर में (अपने-अपने) कारण से वहाँ स्त्रियाँ विडम्बना (पाती हैं), सर्पादिक का जहर उतरता है, वह उस मनुष्य से नहीं। आहाहा! ऐसा निमित्त, निमित्त का सम्बन्ध। इसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान के कारण अपना शुद्धस्वरूप चैतन्य मैं (हूँ)। आनन्द मैं हूँ, इसकी खबर नहीं। अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव के अज्ञान के कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान आदि भावरूप मिथ्याश्रद्धारूप (राग-द्वेष भावों को पाता है)। आहाहा! समझ में आया?

मैं पर के (कार्य) कर सकता हूँ, पर से मुझमें लाभ होता है, मैं पर की दया पालन कर सकता हूँ, राग पुण्य आदि भाव है, वह धर्म है (मेरा कर्तव्य है), ऐसी मिथ्याश्रद्धारूपी जो प्राणी अपने में ऐसा परिणमन करता है, अज्ञान के कारण से। अपना चैतन्य-शुद्ध चैतन्यस्वरूप का जिसे भान नहीं है, (वह) मिथ्यादृष्टि, यह पर में मैं करता हूँ, पर से मुझमें, पर मेरा करता है-पर से मुझमें कुछ होता है और मुझसे पर में कुछ होता है, ऐसी मिथ्याश्रद्धा (मिथ्या अभिप्राय) है, वह तो अज्ञानी है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याराग आदि भावरूप स्वयं ही परिणमता है। वह कर्म के कारण से नहीं, ऐसा कहते हैं। मिथ्याश्रद्धा करता है, वह अपने परिणाम करने में कर्ता स्वयं ही है, पर के कारण से नहीं।

कहते हैं कि भाई ! कर्म का उदय ऐसा आया, (इसलिए) हमारे मिथ्यादर्शन—मोह, मिथ्याश्रद्धा करनी पड़ी - ऐसा नहीं है। स्वयमेव मिथ्याश्रद्धा (करता है)। मैं राग का कर्ता, मैं दया-दान के राग का कर्ता, मैंने राग किया, मैं कर्ता हूँ - ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। आहाहा ! वह अज्ञानरूप से अपने परिणाम में मिथ्याश्रद्धा करे-मिथ्याज्ञान करे और मिथ्याचारित्र—रागरूप परिणमे तो वह स्वयं ही परिणमन करता है। समझ में आया ? स्वयं से वह मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और रागरूप होता है। उन मिथ्यादर्शनादि भावों का कर्ता होता है-वह अपने विकारी भाव का अज्ञानी अपने स्वरूप का भान नहीं तो मिथ्याश्रद्धा आदि के उन परिणामों का अज्ञानी कर्ता होता है। समझ में आया इसमें कुछ... ? ऐसी बात है।

(अब कहते हैं) **और वह मिथ्यादर्शनादिभाव पुद्गलद्रव्य को (कर्मरूप परिणमित होने में) अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर...** क्या कहते हैं ? उस समय मिथ्याश्रद्धा-ज्ञानरूप अज्ञानी आत्मा परिणमित हुआ, तो उस समय जो कर्म बन्धन होता है, उस कर्मबन्धन में यह परिणाम निमित्त है-अनुकूल है। तथापि वह मिथ्यात्व का-दर्शनमोह आदि का परिणमन होता है, वह स्वयं से होता है, वह परिणमन कर्म से होता है, आत्मा से नहीं। आहाहा !

आत्मा अपने चैतन्य शुद्धस्वरूप को भूलकर मैं पर का कर्ता हूँ—दया पालता हूँ, पर को सुविधा दे सकता हूँ, मैं पर की सेवा कर सकता हूँ—यह भाव अज्ञानी, अपने में अपनी (मिथ्या) श्रद्धा से परिणमता है और उस श्रद्धा का कर्ता वह अज्ञानी स्वयं है। समझ में आया ? वह परिणाम नये पुद्गलकर्म बँधते हैं, उसमें वे परिणाम अनुकूल निमित्त हैं, तथापि वे पुद्गल के परिणाम तो पुद्गल से होते हैं। आहाहा ! ऐसी सूक्ष्म बात है। जहाँ परिणाम विकारी स्वयं करने का मानता है, वहाँ दर्शनमोह परमाणु कर्मरूप परिणमते हैं। वे उसके कारण से हैं। उस समय परमाणु के दर्शनमोहनीय (प्रकृतिरूप) परिणति होने की योग्यता से परिणमते हैं। उसमें जब अन्तर यह इतना भी निमित्त-निमित्त सम्बन्ध होने पर भी एक-दूसरे के परिणाम के कर्ता कोई (दूसरे) नहीं हैं। आहाहा ! (द्रव्यकर्म) नजदीक की चीज़ अन्दर है, कि यहाँ (जीव ने) मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान और राग-द्वेष किये, उसी

समय कर्म, कर्मरूप परिणमित हुए तो ऐसा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध होने पर भी वह मिथ्याश्रद्धा है, वह दर्शनमोह का परिणमन करनेवाली है, ऐसा है नहीं तथा दर्शनमोह का उदय हुआ तो (उससे) यहाँ (जीव को) मिथ्याश्रद्धा हुई, ऐसा नहीं है। आहाहा! नजदीक में है तो भी ऐसा है, तो दूर की तो क्या बात?

कि भाई! इस शरीर को आत्मा हिला सकता है, आत्मा बोल सकता है। आहाहा! आत्मा खा सकता है-रोटी, रोटी खाता है न! मैसूर, रसगुल्ला खा सकता है या नहीं? वह क्रिया तो जड़ की जड़ में होती है, मात्र उसमें (उस क्रिया में) राग आया (जीव को कि) मैं खाता हूँ—यह राग (इच्छा) निमित्त है, परन्तु उस राग से वह खाने की क्रिया जड़ की हुई, ऐसा नहीं है। आहाहा! और खाने की क्रिया जड़ की हुई तो उससे यहाँ राग हुआ, यह भी नहीं है। समझ में आया? वहाँ नजदीक में (है द्रव्यकर्म), तो भी राग-द्वेष का (अपने) अज्ञान से कर्ता (जीव) होता है। वह स्वयं कर्ता है। कर्म विकार का कर्ता है, ऐसा नहीं। विकार स्वयं करता है तो नया कर्म बँधता है और उसमें वह (जीव के) परिणाम निमित्त हैं-अनुकूल हैं, परन्तु नया परिणमन हुआ, वह राग हुआ-मिथ्याश्रद्धा हुई, तो नये-नये परिणमन वह करता है (द्रव्यकर्म के) वह आत्मा करता है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : राग न करे तो नये कर्म बँधते ही नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रश्न ही नहीं। प्रश्न यहाँ क्या है? वहाँ यहाँ राग हो, मिथ्याश्रद्धा होती है न, वहाँ दर्शनमोह का परिणमन परमाणुओं में होता ही है, परन्तु यहाँ राग हुआ तो वहाँ होता है, ऐसा नहीं है। राग तो निमित्तमात्र है। आहाहा! भारी कठिन काम! लोगों को बेचारों को सत्य बात सुनने को नहीं मिलती।

(अभी तो यह प्ररूपणा) यह करो... यह करो... यह करो। यह सब मिथ्याश्रद्धा की प्ररूपणा है। आहाहा! देश की सेवा करो, गरीबों को दान दो, भूखे को आहार दो, प्यासे को पानी दो, रोगी को औषध दो। लोगों को अच्छा लगे, लो! है?

मुमुक्षु : मदद तो हो सकती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हो नहीं सकती—यह कर नहीं सकता। आहाहा! पर की पर्याय (आत्मा कर नहीं सकता) आहार जाना हो, पैसा जाना हो (दान में), उसे आत्मा किस

प्रकार कर सकता है ? आहाहा ! काम बहुत कठिन है। साधक (मन्त्रसाधक) वह निमित्त कहा जाता है।

मुमुक्षु : पागल जैसा लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल ही है। आहाहा !

यहाँ भगवान आत्मा... उसमें आया है न ? १८२ श्लोक है, प्रज्ञाछैनी के बाद (१८२ श्लोक) '**भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि भिद्यन्तां न मिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति।** आहाहा ! 'कारकाणि' कहते हैं कि यह भगवान आत्मा में कर्ता-कर्म-करण आदि षट्कारक हो, भेदरूप कथन करने में, कथन हो ! (यदि कारकाणि वा यदि धर्माः वा यदि गुणाः भिद्यन्ते, भिद्यन्ताम्) जो कारकों के अथवा धर्मों के अथवा गुणों के भेद पड़े तो भले पड़ो (विभौ विशुद्धे चिति भावे काचन भिया न अस्ति) परन्तु विभु ऐसे शुद्ध (समस्त विभावों से रहित) चैतन्यभाव में तो कोई भेद नहीं है। (इस प्रकार प्रज्ञा द्वारा आत्मा का ग्रहण कराते हैं)। ऐसा भेदरूप कथन हो, तो उसमें (आत्मा में) अनन्त धर्म है, नित्यानित्य, एक अनेक आदि वह भी कथन से कहो, परन्तु अन्दर तो अभेद-एकाकार वस्तु है। आहाहा ! यह तो (आत्मा में) अनन्त गुण और अनन्त धर्म। वस्तु है वस्तु ! वह अनन्त गुण; गुण अर्थात् ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि और धर्म अर्थात् नित्य-अनित्य, शुद्ध-अशुद्ध, एक-अनेक अपेक्षित धर्म, ऐसे अनन्त गुण और अनन्त धर्म होने पर भी वस्तु में भेद नहीं है। (आत्मा अभेद है)। आहाहा !

उस अभेद चिदानन्द प्रभु की दृष्टि करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। भेद, कथन से-वाणी से हो, परन्तु अन्दर में भेद नहीं है, अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु अनन्त गुणों का-एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनन्त धर्मों का पिण्ड प्रभु; और अपने में कर्ता-कर्म आदि शक्तियाँ हैं, परन्तु भेद नहीं है। देवीलालजी ! बहुत कठिन काम, अभी तो बहुत गड़बड़ बहुत बड़ी हो गयी अभी (प्ररूपणा ही उल्टी है)। आहाहा ! (भेदकथन) यह भी वाणी से कथन करना हो तो करो, वस्तु में तो भेद है नहीं। वस्तु तो अनन्त गुणों और धर्म के कारक आदि का षट्कारक का पिण्ड है-वह तो पिण्ड है। आहाहा ! ऐसी चीज़ जो अखण्ड-अभेद, जिसमें गुणों के भेद का भी लक्ष्य नहीं, ऐसी अन्तर्दृष्टि करना, उसका

नाम सम्यग्दर्शन है। उससे विरुद्ध करना (कि) यह धर्म-गुणों की (भेद) दृष्टि नहीं है और जो राग—पुण्य, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के जो परिणाम करता है, उसकी पर दृष्टि (-बाह्य दृष्टि) है तो उनका कर्ता अज्ञानी होता है। आहाहा! तो (यहाँ) कहते हैं कि कर्ता होने पर भी नये कर्म (द्रव्यकर्म) जो बँधते हैं, वह बाँधने के परिणमन की क्रिया आत्मा नहीं करता। आहाहा! समझ में आया?

यह कहा (देखो!) **और वह मिथ्यादर्शनादिकभाव पुद्गलद्रव्य को (कर्मरूप परिणमित होने में) अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर, आत्मा कर्ता हुए बिना पुद्गलद्रव्य मोहनीय आदि कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होते हैं।** आत्मा में (अपने) परिणाम जो अज्ञान किये, उसका कर्ता परन्तु पर का बन्धन उसके परिणाम का कर्ता हुए बिना, आहाहा! यह तुम्हारे लोहे के (धन्धे को) सब करते हैं न! कलश-कलश करते थे न! उसके कारखाने में एक बार गये थे, लो, एक लोटा या लोटा स्टील का, स्टील का? कहा, हम तो कुछ लेते नहीं। कारखाना है न तुम्हारे भाई को। आहाहा! अरे कौन दे और कौन ले, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : इनके भाई का कारखाना है या लोहे का कारखाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : इनके भाई का निमित्त से कहा जाता है। है तो लोहे का कारखाना, लोहा से हुआ है। वह कारीगर नीचे नजरें करके खड़ा है, उससे भी नहीं होता। आहाहा! ऐसा काम! समझ में आया?

यहाँ यह कहते हैं कि नया कर्म जो बँधता है, उस परिणमन में—नय बन्धन के परिणाम में आत्मा कर्ता हुए बिना नया कर्म स्वयं से बँधता है। आहाहा! ऐसी बात निश्चय-निश्चय की लगे, वह व्यवहार की बातें करना, ऐसी अच्छी लगे लोगों को! सभा भरे दस-दस हजार लोग, बीस-बीस हजार लोग, प्रसन्न-प्रसन्न, परन्तु सब मिथ्याश्रद्धा है। समझ में आया? लोकरंजन! सभारंजन! उसमें (अध्यात्मतत्त्व में) तो सभा समझ सके नहीं, ऐसी बात सूक्ष्म। आहाहा! (यहाँ कहते हैं) तेरे परिणाम में मिथ्याश्रद्धा आदि के परिणाम का कर्ता तू (स्वयं) है, उस समय कर्म की जो पर्याय बँधती है, उस परिणाम का कर्ता तू नहीं है। आहाहा!

(कहते हैं) तो फिर यह शरीर, वाणी, मन-जड़ की पर्याय जो होती है, उसका कर्ता आत्मा है नहीं। मैं हाथ हिलाता हूँ, मैं लोहे को टीपूं, यह क्रिया आत्मा की नहीं है। यह (क्रिया) आत्मा कर सकता ही नहीं।

मुमुक्षु : रोटी के टुकड़े तो कर सकता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : टुकड़े भी नहीं कर सकता। श्रीमद् में नहीं आया एक बार! श्रीमद् में (श्रीमद् राजचन्द्र में) आया है। भाषा दूसरे प्रकार से करके समझाया है। 'तिनके के दो टुकड़े करने की हमारी शक्ति नहीं है' (ऐसा उन्होंने कहा है) तो इसका अर्थ यह है कि (सड़े हुए) तिनके के दो टुकड़े होना, वह आत्मा से नहीं होते। दो टुकड़े होते हैं तो उसकी पर्याय होनेवाली, उससे (तिनके के टुकड़े) होते हैं। दूसरा कहे कि मैंने तिनके-तृण के दो टुकड़े किये, रोटी के दो टुकड़े मैंने किये, वह तीन काल में कर नहीं सकता। कोई भी आत्मा पूरी रोटी के दो टुकड़े नहीं कर सकता। आहाहा!

(देखो न!) यहाँ जो रोटी बनती है, वह स्त्री की इच्छा से रोटी बनती है, ऐसा नहीं है। वह इच्छा से तो नहीं बनती परन्तु उस आटे का क्या करे? लोई, उसमें फिर बेलन फिरता है, बेलन... बेलन भी उसे स्पर्श नहीं करता, क्या कहते हैं यह? बेलन आटे को स्पर्श नहीं करता। आटे की चौड़ाई होती है, रोटी गोल-गोल बनती है, उसका कर्ता वह बेलन नहीं, बाई तो कहीं रह गयी! कठिन काम, भाई! क्योंकि बेलन के परमाणु भिन्न हैं और आटे के परमाणु भिन्न हैं। तो भिन्न परमाणु की पर्याय भिन्न परमाणु करे, यह तीन काल में नहीं हो सकता। आहाहा! बहुत कठिन पड़ेगा जगत को!

आत्मा कर्ता हुए बिना पुद्‌गलद्रव्य मोहनीयादि कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होते हैं। आहाहा! उस समय में क्रमबद्ध परमाणु की पर्याय में कर्मरूप होने की योग्यता से कर्म होते हैं। अज्ञानी ने मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान किये, इसलिए वहाँ परमाणु को कर्मरूप होना पड़ा, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो सिद्धान्त है! **मोहनीयादि कर्मरूप स्वयमेव...** मोहनीय (कर्म), ज्ञानावरणीय कर्मबन्धन में छह कारण से बँधता है। पण्डितजी नहीं आये? ठीक नहीं होगा, पण्डितजी नहीं।

मुमुक्षु : भावनगर गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भावनगर...

छह कारण-ज्ञान की असातना करना, ज्ञान का विरोध करना, ऐसे परिणाम अज्ञानी करे, परन्तु वे परिणाम ऐसे हुए तो ज्ञानावरणीय बँधता है, वह परिणाम के कारण, वे परिणाम कर्ता और कर्मबन्धन की पर्याय कार्य—ऐसा है नहीं। आहाहा! छह कारण से, ज्ञान का दोष करके-असातना करके, सच्चे ज्ञान का भान नहीं और सत्य का विरोध करता है, आहाहा! इस कारण से कर्म बँधते हैं, ऐसा (शास्त्र में) कहा गया है, वह तो निमित्त से (कथन) है। कर्मबन्धन तो उसकी पर्याय के कारण में पर्याय कर्म की होती है। अज्ञानी ने ज्ञानावरणीय-परकर्म के अनुकूल ज्ञान की असातना आदि के भाव किये, परन्तु उस भाव से कर्मबन्धन किया, ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी काम इसका!

भावार्थ-**आत्मा तो अज्ञानरूप परिणमित होता है।** अपने स्वरूप की खबर नहीं कि मैं (तो) ज्ञाता-दृष्टा-आनन्द हूँ। पर में सुख मानकर... आहाहा! अपने अज्ञानरूप परिणमित होता है। मेरा सुख... कल कोई नहीं गाता था, भाई मोहनभाई ने (गाया था), काया में कस्तूरी अे मृगला बाहर शोधे कस्तूरी का! आहाहा! उसकी नाभि में होती है न, मृग को नाभि में कस्तूरी (होती है) ऐसी गन्ध आती है कि (मृग को लगता है) कि यहाँ बाहर होगी-बाहर होगी, इस प्रकार (बाहर में) खोजता है, परन्तु यहाँ है, वह खबर नहीं। उसी प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का धाम (निज) आत्मा है, वह अतीन्द्रिय आनन्द स्वयं में है, उसे वहाँ न खोजकर, बाहर में स्त्री में, पुरुष में, पैसे में इज्जत में और पर में सुख है, ऐसी कल्पना अज्ञानी करता है, इसलिए वह उस कल्पना का कर्ता है, परन्तु कर्मबन्धन (जो) होता है, उसका कर्ता नहीं। आहाहा! गजब बात है, भाई! आहाहा! समझ में आया?

स्त्री का शरीर जो है माँस, हड्डियाँ और चमड़ी, वह तो जड़ की—अजीव की पर्याय है। यह दूसरा, आत्मा ऐसा मानता है कि मैं उसे भोगता हूँ, (परन्तु) तीन काल में भोग नहीं सकता। आहाहा! मानता है कि मैं उसे भोगता हूँ, ऐसे अज्ञान के परिणाम करे, उस अज्ञान को भोगता है। समझ में आया? सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा! यह राग करे और उस राग को अज्ञानी भोगता है, परन्तु पर चीज़ को करे और पर को भोगे, यह तीन काल में होता ही नहीं। आहाहा! (यह) आम का रस, आम-आम मीठा आम, हाफुस आम, टुकड़े

करे, तो उस आम के टुकड़े आत्मा नहीं कर सकता, आम के टुकड़े को आत्मा छूता भी नहीं। जीभ भी उसे स्पर्श नहीं करती, आत्मा जीभ को स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

आम का रस देखकर ज्ञान में आत्मा 'यह ठीक है' ऐसा राग करता है, उस राग को भोगता है, (परन्तु) उस आम के रस को आत्मा कर सके (आम) घोल सके और (रस को) खा सके, ऐसा नहीं है। बढ़िया आम होता है न, फिर घोलते हैं न, ऐसे-ऐसे-ऐसे फिर रस निकलता है और चूसते हैं। भगवान इनकार करते हैं कि आम का घोलन आत्मा नहीं कर सकता। उसमें से अन्दर से ऐसे रस नहीं निकाल सकता और रस यहाँ जीभ में, आत्मा (रस को) चख नहीं सकता। काम बहुत कठिन। उस रस के काल में उस रस को देखकर 'ठीक है' ऐसा राग (आत्मा) करता है और वह (ठीक है) ऐसे राग को भोगता है, रस को (भोगता) नहीं। आहाहा! बहुत अन्तर, वास्तविक तत्त्व का श्रवण करनेवाले भी थोड़े हैं न! यह आया न (समयसार) ११वीं गाथा में, शुद्धनय का पक्ष तो किसी-किसी को है, विरले को है। आहाहा! बाकी अज्ञानी तो यह सब बाहर के खेल! (इसमें ही रचे-पचे हैं)।

(देखो न!) विशाल सभा एकत्रित हो—दस, दस और बीस-बीस हजार (लोग इकट्ठे हों) और उसमें लगावे अन्दर से (वक्ता)! यह करो, यह करो, इससे होगा, लोगों को ठीक लगता है, दीनवृत्ति-भिखारी! और दूसरे तुझे दें तो ठीक हो, ऐसा कहे तो ठीक लगे इसे! कौन दे और कौन ले, प्रभु! आहाहा!

मुमुक्षु : एक-दूसरा, एक-दूसरे पर उपकार करो?

पूज्य गुरुदेवश्री : उपकार करना, यह रखते हैं न अभी? वहाँ अखबार में वह चौदह राजूलोक का चित्र और नीचे (लिखते हैं) 'परस्परोपग्रहो जीवानाम'—पस्परोपग्रहो—परस्पर उपकार करो! परन्तु उपकार की व्याख्या क्या? निमित्त हो, उसे उपकार कहते हैं। निमित्त को उपकार (शब्द से) कहा। उपकार कर सके (ऐसा) तीन काल में नहीं है। अभी बड़ी गड़बड़ चलती है और उसके कहनेवाले का प्ररूपण ऐसा हो, वह ऐसा लोगों को ठीक लगता है। आहाहा! मिथ्याश्रद्धा का पोषक है-मिथ्यादर्शन। आहाहा!

आत्मा तो अज्ञानरूप परिणमित होता है, किसी के साथ ममत्व करता है... क्या

कहते हैं ? किसी के साथ यह मेरे हैं, ऐसा ममत्व करता है—मिथ्यात्व की बात है, यह मिथ्यात्व (कि जो) राग मेरा है, शरीर मेरा है, स्त्री मेरी है, पुरुष मेरा है, मकान मेरा है, लक्ष्मी मेरी है! आहाहा! मकान में फर्नीचर हो दो-पाँच लाख का। मेरा मकान, मेरा फर्नीचर और बीच में बैठा हो कुर्सी में तो यह कुर्सी मेरी, शरीर मेरा। शान्तिभाई! ऐसा है, बापू! यहाँ यह कहते हैं, किसी के साथ ममता करता है-ममता करता है। चिमनभाई! ऐसा है बापू! आहाहा!

प्रभु! तू भिन्न है न! यह करना है (तुझे) आत्मा को भिन्न करना है, (वह तो) भिन्न है। ऐसा भिन्न जानना और अपने आत्मा की दृष्टि करना, यह करना है। समझ में आया? भाषा तो सादी है, समझ में आये या नहीं? वहाँ भी तू आता था नहीं, मुम्बई में नहीं? सामने बैठता था। आहाहा! समझ में आया?

(कहते हैं) यह राग से मैं राग को भोगूँ तो पर को भी भोग सकता हूँ, यह छोड़ दे! और राग है, वह मेरा कार्य है, यह भी छोड़ दे! तुझे (तेरा) कल्याण करना हो तो (ऐसा मान कि) मैं तो राग से भिन्न चिदानन्द आनन्द हूँ, उस आनन्द के परिणाम का मैं कर्ता हूँ—और आनन्द का कार्य—पर्याय कर्ता नहीं—आनन्द के परिणाम मेरा कार्य है, ऐसी दृष्टि करना, इसलिए यह कहते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में आया है न एक, कि भाई! हमारे वीतरागमार्ग में तो वीतरागता के पोषण का प्रयोजन है। जहाँ-जहाँ चारों अनुयोगों में, मोक्षमार्गप्रकाशक में आया है कि चारों अनुयोगों में जहाँ-जहाँ वीतरागता का ही पोषण है और तुम्हारे में कुछ न कुछ राग का पोषण अज्ञानी, उसे करता है और वे सब (अन्य) मार्ग हैं? वे जैनमार्ग नहीं। ऐसा आता है भाई! मोक्षमार्गप्रकाशक में! समझ में आया? आहाहा!

(आत्मा) पर का कर्ता नहीं-पर का इससे होता है, ऐसा नहीं। तुम राग के कर्ता अज्ञानभाव से, इसका प्रयोजन क्या? तो वहाँ राग में रहना, इसके लिये कहते हैं? आहाहा! एक जगह है, मोक्षमार्गप्रकाशक में ऐसा कि अन्यमत और जैनमत की जहाँ व्याख्या है न? वहाँ है। है यहाँ (शास्त्र)? जहाँ-तहाँ वीतरागता का पोषण है, ऐसा है अन्दर! तुम्हारे में तो कहीं अनेक प्रकार के पोषण उल्टे हैं। कहीं है, देखो न! इसमें कहीं है, वह इसमें है, इस ओर ऊपर है। आहाहा! 'जैनमत के चाहे जो कथन हो, उस कथन का तात्पर्य

वीतरागभाव का है और वीतरागभाव का पोषण करने के लिये अनेक (प्रकार से) कथन किया है।' और वीतरागभाव कब होता है? कि जब जिनस्वरूपी भगवान आत्मा का आश्रय करने से वीतरागभाव होता है, इसलिए चारों अनुयोग का तात्पर्य है। उस ओर के पृष्ठ पर है। उस ओर के पृष्ठ पर सामने है वहाँ। यह अन्यमत का पोषण तुम्हारे में ऐसा कि जहाँ-तहाँ राग का पोषण किया है, और यहाँ तो वीतरागता का पोषण किया है। यह सब कहीं याद रहता है? पृष्ठ-बृष्ठ का ख्याल नहीं होता, भाव का ख्याल रहता है, हजारों शास्त्र (मस्तिष्क में होते हैं)। आहाहा! तुमने तो अवतार करके राग का पोषण किया है-अमुक करके, ऐसा कह दिया है। यहाँ तो... अकेला जहाँ-तहाँ चार अनुयोगों में—द्रव्यानुयोग, कथानुयोग, चरणानुयोग, गणितानुयोग सबमें तो वीतरागता का (ही) पोषण है। आहाहा! समझ में आया?

अज्ञानरूप से तुम राग करते हो तो (इसलिए) तुम कर्ता बनते हो, उस समय (जो) कर्म बँधते हैं, परन्तु उसका तात्पर्य क्या? यह समझने के लिये (कहते हैं) तुम राग के कर्ता हो तो (कर्ताभाव) छोड़ दे! इस राग का कर्ता अज्ञानरूप से सिद्ध किया परन्तु उसमें (क्या राग को) रखने का बताया है? समझ में आया? उस राग का कर्ता (कर्तापन) छोड़ दे, प्रभु! तू आत्मा है न प्रभु! तो तुम तो आनन्द और शान्ति के सागर हो। आहाहा! तुझमें तो चैतन्य का प्रकाश, कोटि-कोटि सूर्य से भी अनन्त गुणा पड़ा है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक में) यह ऊपर है, वहाँ बस वहाँ, देखा था परन्तु कहीं पृष्ठ सब याद रहते हैं? ऐसा है। हाँ, यह है वहाँ पृष्ठ है (१९७) अन्यमत निराकरण लो, वहाँ उपसंहार करते हैं। 'जैनमत में तो एक वीतरागभाव के पोषण का प्रयोजन है।'— कथानुयोग में... देखो, कथायें करते हैं (कहते हैं) परन्तु उनमें भी वीतरागभाव बतलाना है, कथाओं में, लोक आदि निरूपण में—करणानुयोग में (भी वही), आचरण में— चरणानुयोग में (भी वही), तत्त्वों में—द्रव्यानुयोग में जहाँ-तहाँ (सर्वत्र) वीतरागता का ही पोषण किया है, परन्तु अन्यमतों में सरागभाव पोषण का प्रयोजन होने से, कषाय जीव अनेक युक्ति बनाकर कल्पित रचना की है। कितना कहा है!

देखो! जैनमत में तो सर्व (वीतरागभावरूप है) कोई ऐसा कहे कि सर्व मतों का

प्रयोजन तो एक ही है, इसलिए (वे कहते हैं कि) सर्व को समान जानो, सब धर्म सर्वधर्म समान सभी हैं, कहते हैं ने अभी कितने ही-विश्वधर्म की जय! विश्वधर्म (अर्थात्) सभी—सर्वधर्म समान है! धूल भी नहीं। यह यहाँ प्रश्न किया है, सर्व मतों का प्रयोजन तो एक ही है—सर्वपने में स्वलक्ष्य कराने के लिये आत्मा को (सर्व मत कहते हैं)।— कि नहीं, नहीं झूठ है, यदि प्रयोजन एक ही हो तो अलग-अलग मत किसलिए कहे? एक मत में तो एक ही प्रयोजन होगा, प्रयोजनसहित अनेक प्रकार के व्याख्यान हों, उसे अलग मत कौन कहे, परन्तु प्रयोजन भिन्न-भिन्न हो, वह यहाँ दर्शाते हैं। गजब बात की है, एक-एक बात (गजब) है, सभी लम्बी बात है। दूसरे ने ऐसा किया, ऐसा कहे, यहाँ तो वीतरागभाव का ही पोषण है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १४१ दूसरा पैराग्राफ) 'जैनमत में एक वीतरागभाव पोषण का प्रयोजन होने से, कषायी जीव अनेक युक्ति बनाकर कल्पित रचना करके, कषायभाव को ही पोषण करते हैं, जैसे कि अद्वैतब्रह्मवादी, सर्व को ब्रह्म मानने द्वारा; सांख्यमती, सर्व कार्य प्रकृति के मानकर अपने को शुद्ध-अकर्ता मानने द्वारा; शिवमती, तत्त्व को जानने से ही सिद्धि होना मानने द्वारा; मीमांसक, कषायजनित आचरण में धर्मध्यान द्वारा; बौद्ध, क्षणिक मान्य द्वारा तथा चार्वाक, परलोक आदि नहीं मानने द्वारा विषयभोगादिरूप कषाय कार्यों में स्वच्छन्दी होने का ही पोषण करते हैं।' आहाहा! मोक्षमार्गप्रकाशक, (पण्डित) टोडरमलजी (ऐसा कहते हैं)। समझ में आया?

यहाँ कहना क्या है? क्या कहना है कि अज्ञानी, अपने भान बिना, अज्ञानरूप होता हुआ परिणमता है, वह राग-द्वेष और मिथ्यात्व, इन भाव में ममत्व करता है—यह स्त्री मेरी, परिवार मेरा, पैसा मेरा, गुरु मेरे, देव मेरे, यह मेरे, लो! आहाहा! ममता करता है, वह मिथ्यादर्शन है। **किसी के साथ राग करता है...** अनुकूल जानकर राग करता है **और किसी के साथ द्वेष करता है, उन भावों का स्वयं कर्ता होता है।** (दूसरा) कोई कराता नहीं। कर्म-बर्म कराता नहीं।

उन भावों के निमित्तमात्र होने पर... आत्मा कर्ता हुए बिना, **पुद्‌गलद्रव्य...** मोहनीय आदि कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होते हैं। स्वयं अपने भाव से पुद्‌गल स्वयं अपनी पर्याय

से ही **कर्मरूप परिणमित होता है।** आहाहा! है? भावार्थ, ९१ का भावार्थ। **परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भावमात्र है। कर्ता तो दोनों अपने-अपने भाव के हैं, यह निश्चय है।** लो! है?

(गाथा) ९१ का भावार्थ, थोड़े में भी कितना भर दिया है! (देखो!) यह लकड़ी ऊँची होने में, अपनी पर्याय से उपादान से, यह उत्पन्न (ऊँची होने की क्रिया) होती है। यह अँगुलियाँ निमित्त-अनुकूल है। यह अँगुलियाँ निमित्त होने पर भी अँगुलियों से (यह लकड़ी) ऊँची नहीं हुई। है? समझ में आया?

मुमुक्षु : धर्मास्तिकायवत्-उदासीन!

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्मास्तिकाय(वत्) अर्थात् निमित्तरूप है।

मुमुक्षु : धर्मास्तिकाय को सहायक कहा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सहायता नहीं, सहाय अर्थात् साथ में है, परन्तु उससे उसमें कुछ होता नहीं। इष्टापदेश ३५वीं गाथा। जीव स्वयं से गति करता है, तब धर्मास्ति (काय) को निमित्त कहा जाता है। निमित्त यहाँ (उसे) गति कराता है, ऐसा नहीं है। तो निमित्त की सहायता से गति करता है, ऐसा नहीं है। है, बस इतना। आहाहा! यह सब धर्मास्तिकायवत्। इष्टोपदेश, ३५वीं गाथा! आहाहा! गजब काम!

यह ९१वीं (गाथा) हुई।

गाथा–९२

अज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह–

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाण–मओ जीवो कम्माणं कारगो होदि।।९२।।

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति।।९२।।

अयं किलाज्ञानेनात्मा परात्मनोः परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सति परमात्मानं कुर्वन्नात्मानं च परं कुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति।

तथाहि – तथाविधानुभवसम्पादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसम्पादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गल–परिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यन्तभिन्नायास्तन्निमित्त तथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यन्तभिन्नस्याज्ञानात्परस्पर–विशेषानिर्ज्ञाने सत्येकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणेवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन्स्वय–मज्ञानमयीभूत एषोऽहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणः कर्ता प्रतिभाति।।९२।।

अब, यह तात्पर्य कहते हैं कि अज्ञान से ही कर्म उत्पन्न होता हैः–

पर को करे निजरूप अरु निज आत्म को भी पर करे।
अज्ञानमय यह जीव ऐसा कर्म का कारक बने।।९२।।

गाथार्थ : [परम्] जो पर को [आत्मानं] अपनेरूप [कुर्वन्] करता है [च] और [आत्मानम् अपि] अपने को भी [परं] पर [कुर्वन्] करता है, [सः] वह [अज्ञानमयः जीवः] अज्ञानमय जीव [कर्मणां] कर्मों का [कारकः] कर्ता [भवति] होता है।

टीका : यह आत्मा अज्ञान से अपना और पर का परस्पर भेद (अन्तर) नहीं जानता हो, तब वह पर को अपनेरूप और अपने को पररूप करता हुआ, स्वयं

अज्ञानमय होता हुआ, कर्मों का कर्ता प्रतिभासित होता है। यह स्पष्टता से समझाते हैं :- जैसे शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है; इसी प्रकार ऐसा अनुभव कराने में समर्थ ऐसी रागद्वेषसुख-दु:खादिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है। जब आत्मा अज्ञान के कारण उस रागद्वेषसुखदु:खादि का और उसके अनुभव का परस्पर विशेष नहीं जानता हो, तब एकत्व के अध्यास के कारण, शीत-उष्ण की भाँति (अर्थात् जैसे शीत-उष्णरूप से आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है उसी प्रकार), जिनके रूप में आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है, ऐसे रागद्वेषसुखदु:खादिरूप अज्ञानात्मा के द्वारा परिणमित होता हुआ (अर्थात् परिणमित होना मानता हुआ), ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ, 'यह मैं रागी हूँ (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ)' इत्यादि विधि से रागादि कर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ : रागद्वेषसुखदु:खादि अवस्था पुद्गलकर्म के उदय का स्वाद है; इसलिए वह, शीत-उष्णता की भाँति, पुद्गलकर्म से अभिन्न है और आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। अज्ञान के कारण आत्मा को उसका भेदज्ञान न होने से यह जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है; क्योंकि ज्ञान की स्वच्छता के कारण रागद्वेषादि का स्वाद, शीत-उष्णता की भाँति, ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने पर, मानों ज्ञान ही रागद्वेष हो गया हो इस प्रकार अज्ञानी को भासित होता है। इसलिए वह यह मानता है कि 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ' इत्यादि। इस प्रकार अज्ञानी जीव रागद्वेषादि का कर्ता होता है।।९२।।

गाथा - ९२ पर प्रवचन

अब ऐसा तात्पर्य कहते हैं, **अज्ञान से ही कर्म उत्पन्न होता है।** (गाथा ९२)। **अब यह तात्पर्य कहते हैं कि अज्ञान से ही कर्म उत्पन्न होता है।**

सम्यक्-ज्ञान हुआ-आत्मा शुद्धचैतन्यमूर्ति प्रभु... राग आदि में मैं नहीं, एक समय

की पर्याय जितना भी मैं नहीं और अनन्त गुणों का भेदरूप मैं नहीं। आहाहा! अभेद त्रिकाली भगवान आत्मा, ऐसी दृष्टि होने से, अज्ञान का नाश होता है और उसे कर्मबन्धन भी होता नहीं, इस प्रकार का तात्पर्य है (कि) अज्ञान से ही कर्म उत्पन्न होता है। ९२, ९२ गाथा है न।

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाण-मओ जीवो कम्माणं कारगो होदि।।९२।।

पर को करे निजरूप अरु निज आत्म को भी पर करे।
अज्ञानमय यह जीव ऐसा कर्म का कारक बने।।९२।।

टीका - **यह आत्मा अज्ञान से...** अपने स्वरूप का भान नहीं होने से **अपना और पर का परस्पर भेद (अन्तर) नहीं जानता हो तब...** आहाहा! आत्मा आनन्दस्वरूप और राग विकारस्वरूप, आत्मा अपनी सत्ता में है और परवस्तु उसकी सत्ता में है, ऐसा भेद (अन्तर) नहीं करता-नहीं जानता, **तब वह पर को अपनेरूप और अपने को पररूप करता हुआ...** तब वह पर को अपनेरूप—शरीर मेरा है (शरीर ही मैं हूँ), वाणी मेरी है, पुत्र मेरा है, स्त्री मेरी है, देश मेरा, गाँव मेरा, मकान मेरा—ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा!

(क्या कहते हैं?) **यह आत्मा अज्ञान से अपना और पर का परस्पर भेद (अन्तर) नहीं जानता हो, तब वह पर को अपनेरूप और अपने को पररूप करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ...** दया, दान आदि के जो परिणाम होते हैं—दया, दान का राग वह विकल्प है-पर है, उसे अज्ञानी अपना मानता है कि मैंने (वे भाव) किये। आहाहा! समझ में आया? अपना और पर का परस्पर... देखो! परस्पर—अपने से पर भिन्न है और पर से स्वयं भिन्न है, ऐसा पर से भेद नहीं जानता, तब अज्ञान से आत्मा परस्पर का भेद नहीं जानता हो तब वह पर को अपनेरूप (मानता है)। आहाहा! (कहते हैं,) राग-द्वेष के परिणाम—दया, दान, व्रत, आदि के परिणाम (भाव) होते हैं, वह भी पर है, वह अपना स्वरूप नहीं, परन्तु अज्ञानभाव से (राग-द्वेषरूप) परिणमन करता है, वह! समझ में आया? आहाहा!

पर को अपनेरूप और अपने को पररूप करता हुआ... अपने को रागरूप करता

हुआ, पररूप करता हुआ **स्वयं अज्ञानमय होता हुआ कर्मों का कर्ता प्रतिभासित होता है...** यह दृष्टान्त देते हैं। **यह स्पष्टता से समझाते हैं—जैसे शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है...** क्या कहते हैं? देखो! अग्नि और बर्फ—अग्नि उष्ण है और बर्फ ठण्डा है, है? वह उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्गलपरिणाम, अग्नि की पर्याय पुद्गल की पर्याय है और बर्फ की पर्याय पुद्गल की पर्याय है—(दोनों पर्यायें) **पुद्गल से अभिन्नता के कारण...** वह पर्याय उष्ण और शीतल, वह पुद्गल से एकमेक है। है? आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है... वह शीत और उष्ण अवस्था पुद्गल से अभिन्न (एकमेक) है। आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। **और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण...** यहाँ क्या कहते हैं? शीत और उष्ण का जो वेदन-राग हुआ, वह राग आत्मा से अभिन्न है, यहाँ अज्ञानी की बात है न! समझ में आया? आहाहा!

शीत और उष्ण अवस्था, वह पुद्गल की है और शीत और उष्णता का वेदन, यहाँ वेदन हुआ-राग हुआ, वह राग आत्मा से अभिन्न है। वह चीज़ शीत-उष्ण की अवस्था, वह पुद्गल से अभिन्न है; आत्मा से वह भिन्न है। आहाहा! जैसे कि मुँह में मिर्ची आयी, मिर्ची चरपरी, तो चरपरी अवस्था जो है मिर्ची की, वह अभिन्न है, आत्मा से भिन्न है। परन्तु उस चरपराहट के समय जो उसमें-पर्याय में राग आया कि बहुत चरपरा, यह द्वेष आया, वह आत्मा से अभिन्न है। अज्ञानी की बात करते हैं न! आहाहा! समझ में आया? चरपरी मिर्ची होती है न बहुत चरपरी! ऐसे ढोकला-ढोकला होता है न ऐसा, (मिर्ची का) भुजिया हो बहुत चरपरा-चरपरा, यह हरी मिर्ची लो न! हरी मिर्ची बहुत चरपरी होती है, वह चरपरी की पर्याय तो जड़ के साथ अभिन्न है, परन्तु यहाँ (जीव के भाव में) उससे जो ठीक नहीं, ऐसा द्वेष (भाव) आया, वे द्वेष के परिणाम आत्मा से अभिन्न है। यह अज्ञानी की बात करनी है न? समझ में आया? आहाहा!

वह **शीत-उष्ण परिणाम की अवस्था...** पुद्गल से एक है। क्योंकि **आत्मा से सदा अत्यन्त भिन्न है।** आहाहा! यह शीत-उष्ण की यह पर्याय जड़ के साथ अभिन्न है। आहाहा! और यह शीत-उष्ण में जो राग आदि होता है कि यह उष्ण चीज़ ठीक है, यह

शीत बहुत ठीक नहीं, ऐसे राग-द्वेष होते हैं, वे (भाव) आत्मा से अभिन्न हैं। यहाँ तो पर से भिन्न बतलाना है। और फिर अज्ञान से भिन्न तो फिर करेंगे, परन्तु यह पहले ख्याल ही नहीं, वहाँ भिन्न किस प्रकार करे? आहाहा! समझ में आया?

और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव... अर्थात् राग-द्वेष, वह आत्मा से अभिन्न है, क्योंकि राग-द्वेष हुए, वे राग-द्वेष (आत्मा की) अपनी पर्याय में किये हैं, वे राग-द्वेष अज्ञानी को अभिन्न है। यहाँ तो अज्ञानी की बात है न? **पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है...** यह शीत-उष्ण का वेदन हुआ, ठीक-अठीक—ऐसा राग-द्वेष, वह पुद्गल से भिन्न है, अपनी पर्याय अपने से अभिन्न है, ऐसी बात अब! निवृत्ति कहाँ इसमें? आहाहा! सदा ही अभिन्न.... यह तो दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार ऐसा अनुभव कराने में समर्थ ऐसी राग-द्वेष-सुख-दुःखादिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण... अर्थात् कर्म की अवस्था जड़ में हुई, उसकी बात करते हैं—राग-द्वेष, सुख-दुःखादि, सातावेदनीय आदि अन्दर जो कर्म में होता है, वह पुद्गलपरिणाम की अवस्था उस पुद्गल से अभिन्न है। समझ में आया? सुख-दुःख, सातावेदनीय-असातावेदनीय अन्दर जो सुख की कल्पना, जड़ में सुख, हों! जड़ क्या, यहाँ सुख में निमित्त जो जड़ वह जड़ की पर्याय जड़ से अभिन्न है और यहाँ जो सुख-दुःख की कल्पना करता है अज्ञानी, वह सुख-दुःख की कल्पना आत्मा से अभिन्न है। अरे... अरे!

(कहते हैं कि) पुद्गल परिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्न और आत्मा से सदा ही भिन्न है। और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव... किसका अनुभव? अन्दर जो राग-द्वेष का अनुभव—सुख-दुःख की कल्पना का अनुभव, वह आत्मा से अभिन्न है। पर का अनुभव नहीं। पर का अनुभव नहीं, पर से भिन्न अनुभव अपने राग का है। आहाहा! पुद्गल सदा ही अत्यन्त भिन्न है, इस आत्मा में जो राग-द्वेष हुए, यह ठीक है-यह ठीक नहीं—ऐसे राग-द्वेष हुए, वे अज्ञानी के आत्मा के साथ अभिन्न है और जो पुद्गल की दशा है, मोहनीयकर्म की चारित्रमोहनीय का उदय, दर्शनमोह का उदय, वे परिणाम जड़ के साथ अभिन्न हैं। आहाहा!

इसमें कारखाने के कारण निवृत्ति कहाँ? दुनिया तो (दुनिया का जाने)। दुनिया का

यहाँ क्या काम है, तू तेरा कर न! स्वयं को भूख लगती है तो स्वयं खाने जाता है, सबको खिलाकर खाने जाता है? उस (दुनिया में) बहुत अधिक भूखे हैं तो उनको (सबको) खिलाकर मैं खाऊँ, ऐसा खाने जाता है? मुम्बई में तो बहुत बड़े वे उल्टे-सीधे नहीं? गरीब लोग! क्या कहलाता है वह? फुटपाथ, हाँ, हाँ वह। मकान भी नहीं होता, स्त्री नहीं होती, पुत्र भी नहीं होता बेचारे अकेले गरीब! एक जवान लड़का था एक, (मुझसे पूछा) महाराज! माँ-बाप भी नहीं, मैं तो अकेला घूमता हूँ। पानी पीने के लिये लोटा भी नहीं होता, सोने के लिये गोदड़ी नहीं होती, मकान तो किसका होगा? फुटपाथ पर सोता है और भीख माँगता है, कहीं से माँग-माँगकर (पेट भरता है)। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जो बाहर की अवस्था है, वह पुद्‌गल से अभिन्न है परन्तु उसमें जो सुख-दुःख की कल्पना करता है, वह आत्मा से अभिन्न है। वे चीज़ें सुख-दुःख की कल्पना नहीं करातीं। आहाहा! (परन्तु) अज्ञानी अपने से, अपने को भूलकर हर्ष-शोक का कर्ता बनता है। गाथा बहुत अच्छी है! यह ९२ (गाथा)। आहाहा!

वह (अज्ञानी) **अज्ञान के कारण उस राग-द्वेष, सुख-दुःखादि का और उसके अनुभव का परस्पर विशेष (भिन्नता) नहीं जानता हो...** जड़ के जो सुख-दुःख निमित्त है, (वह) चीज़, सुख-दुःख संयोग, सुख (की कल्पना को) अनुकूल संयोग और प्रतिकूल संयोग (दुःख की कल्पना) वह संयोग, वह सब जड़ की पर्याय है और उस समय में जो राग-द्वेष करता है कि यह ठीक है, यह अठीक है, वह राग (भाव) अपने से अभिन्न है। अपनी पर्याय पर से भिन्न है; पर की पर्याय अपने से भिन्न है। आहाहा! बहुत इसमें याद कितना रखना! है? अज्ञान के कारण राग-द्वेष और सुख आदि का अनुभव, अपने में जो सुख-दुःख की कल्पना हो, वह और संयोगी अनुकूल-प्रतिकूल जो चीज़, वे दोनों भिन्न हैं। परन्तु दोनों में ऐसा परस्पर विशेष (अन्तर) नहीं जानता हुआ, दोनों को भिन्न-भिन्न **न जानता हो, तब एकत्व के अभ्यास के कारण...** मैं शीतल हो गया, मैं उष्ण हो गया, मैं मीठा हो गया, मैं कड़वा हो गया, ऐसी मान्यता अज्ञानी करता है। आहाहा! दृष्टान्त तो देखो! शीत-उष्ण का दृष्टान्त। शीत-उष्ण दशा जड़ के साथ अभिन्न है। परन्तु यहाँ शीत-उष्ण का राग करता है, वह (रागभाव) आत्मा के साथ अभिन्न है। आहाहा! यह शीत-उष्ण की दशा राग नहीं कराती और शीत-उष्ण की अवस्था राग है, तो इससे है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

शीत-उष्ण की भाँति (अर्थात्) जैसे शीत-उष्णतारूप से आत्मा द्वारा परिणमन करना अशक्य है, उसी प्रकार... क्या कहते हैं ? शीत-उष्ण अवस्था आत्मा की होना, यह अशक्य है। जड़ की शीत-उष्ण अवस्था आत्मा में होना अशक्य है, उस रूप शीत-उष्ण अवस्थारूप आत्मा का होना अशक्य है। उसी प्रकार **जिस रूप आत्मा द्वारा परिणमन करना अशक्य है...** कौन ? जड़ की जो पर्याय है, वह उसमें (उसरूप आत्मा को) परिणमन करना अशक्य है। **ऐसे राग-द्वेष सुख-दुःखादिरूप अज्ञान आत्मा के द्वारा परिणमित होता हुआ....** आहाहा! राग-द्वेष और उसरूप पर का मैं अनुभव करता हूँ, ऐसा मानता हुआ। **(अर्थात् परिणमित होना मानता हुआ) ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ।** आहाहा! निश्चय से तो पर की पर्याय का अनुभव करना अशक्य है। परन्तु अज्ञानी आत्मा, मैं पर का अनुभव करता हूँ, इस प्रकार राग-द्वेष का कर्ता होता है। आहाहा! बहुत अन्तर, अभी तो प्ररूपणा ऐसी सब हो गयी है न! आहाहा!

....यहाँ रसगुल्ले आये, रसगुल्ले! यह रसगुल्ला हो और इस रसगुल्ले की पर्याय पुद्गल से अभिन्न है परन्तु यहाँ ठीक है, ऐसा राग आया, उस राग से वह भिन्न चीज़ है और (वह चीज़-रसगुल्ला) से राग भिन्न है, परन्तु अज्ञानी दोनों को भिन्न न मानकर (मैंने रसगुल्ला खाया) मैं पर का कर्ता हूँ और पर का भोक्ता हूँ, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! समझ में आया ? शीत-उष्णरूप से आत्मा के द्रव्य से परिणमन करना अशक्य है। वह (पर्याय शीत-उष्ण) जड़ की है। पर की-जड़ की-कर्म की पर्याय का, उससे राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप, अज्ञान आत्मा द्वारा परिणमित होता हुआ, परन्तु वह अज्ञान आत्मा द्वारा राग-द्वेषरूप परिणाम करता हुआ, स्वभाव तो उसका है नहीं, राग-द्वेषरूप, (आत्मा का) स्वभाव परिणमन करे, यह तो अशक्य है, परन्तु अज्ञानरूप से (अज्ञानी) राग-द्वेष को अज्ञानभाव से परिणमन करता है। (अर्थात् कि परिणमित होना मानता है—यह मान्यता करता है)। ऐसा कहते हैं। **ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं...** स्वयं **अज्ञानमय होता हुआ, यह मैं रागी हूँ, (अर्थात्) यह मैं राग करता हूँ,....** मैं द्वेषी हूँ **इत्यादि विधि से रागादि कर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है...** पर का (कर्ता) प्रतिभासित होता है और राग का कर्ता भी अज्ञानभाव से प्रतिभासित होता है। परन्तु वह अज्ञानभाव है, वह सत्यभाव नहीं है। विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १८३, गाथा-९२, दिनांक ३१-०१-१९७९, बुधवार, माघ शुक्ल-४

श्री समयसार, ९२ गाथा, फिर से।

यह आत्मा... टीका - टीका है न टीका, ९२ गाथा की टीका—**यह आत्मा अज्ञान से...** अपना शुद्धस्वरूप आनन्द, उसके अज्ञान से अपनी चीज़ जो आनन्द और शुद्ध है, उसका अज्ञानी को ज्ञान नहीं है, अज्ञान के कारण अपना और पर का, परस्पर भेद नहीं जानता। आहाहा! भगवान आत्मा तो ज्ञान-आनन्दस्वरूप और पर—राग-द्वेष और कर्म, नोकर्म (वह) पर, यह अपना और पर का परस्पर भेद (अन्तर) न जानता हो, तब **वह पर को अपनेरूप और अपने को पररूप करता हुआ...** तब वह पर को अपनेरूप और इन राग-द्वेष के परिणाम, कर्म और नोकर्म इस पर को अपनेरूप मानता है। आहाहा! और अपने को पररूप करता हुआ - अपना स्वरूप शुद्धचैतन्यघन (है, तथापि) उसे राग मेरा है, कर्म मेरे हैं, नोकर्म-कर्म के फल आदि मेरे हैं, इस प्रकार पर को अपना करता हुआ, **स्वयं अज्ञानमय होता हुआ...** आहाहा! स्वयं अज्ञानमय होता हुआ, कर्म के कारण नहीं। आहाहा! (स्वयं-अपने से) **कर्मों का कर्ता प्रतिभासित होता है।** आहाहा!

यह पुण्य और पाप के भाव—दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, वह राग है। अज्ञानी को राग का कर्ता मैं हूँ, ऐसा भासित होता है। समझ में आया? **यह स्पष्टता से समझाते हैं - जैसे शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ...** शीत और उष्ण जड़ की अवस्था, उसका अनुभव—ज्ञान कराने में निमित्त, स्वयं को ज्ञान कराने में वह शीत-उष्ण (अवस्था) निमित्त है। **ऐसी शीत-उष्ण पुद्गल परिणाम की अवस्था...** वह शीत और उष्ण अवस्था पुद्गल-जड़ की है, यह शीत पड़ी न, ११०/१२ डिग्री धूप ताप, वह जड़ की पर्याय है, वह **पुद्गल परिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण...** वह पुद्गल से शीत-उष्ण अवस्था अभिन्न / एकमेक है। है? और **आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है।** वह शीत-उष्ण अवस्था आत्मा से सदा अत्यन्त भिन्न है **और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव...** शीत और उष्ण का यहाँ ज्ञान होता है, वह ज्ञान है, वह आत्मा से अभिन्न है और शीत-उष्ण अवस्था पुद्गल की है, वह भिन्न है। और उससे (उसके

निमित्त से) ज्ञान जो हुआ, उस ज्ञान की पर्याय से आत्मा अभिन्न है। आहाहा! यह तो अभी दृष्टान्त है, हों!

(कहते हैं कि) **और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव...** उस प्रकार का अनुभव (अर्थात्) जैसा शीत-उष्ण है, वैसा ही यहाँ अपने में ज्ञान होता है। **उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है...** यह शीत-उष्ण जो पुद्गल की दशा है, जड़ में है, वह जड़ से अभिन्न है—एकमेक है, और शीत-उष्ण का यहाँ ज्ञान हुआ, वह ज्ञान की परिणति आत्मा से अभिन्न है और पर से भिन्न है। शीत-उष्ण का जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्मा से अभिन्न है। परन्तु उसकी (पुद्गल की) जो शीत-उष्ण दशा है, वह आत्मा से भिन्न है। यह तो अभी दृष्टान्त है।

इसी प्रकार ऐसा अनुभव कराने में समर्थ ऐसी राग-द्वेष-सुख-दुःखादिरूप पुद्गल परिणाम... आहाहा! यहाँ ऐसा नहीं लेना (नहीं समझना कि) कर्म में सुख-दुःख होते हैं। यहाँ तो आत्मा का स्वभाव शुद्धचैतन्य है, इस अपेक्षा से जो कुछ दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम होते हैं और सुख-दुःख की कल्पना होती है—वह होता है तो अपनी पर्याय अपने से, परन्तु यहाँ यह सिद्ध नहीं करना है। यहाँ तो वह जड़ की पर्याय है।

मुमुक्षु : आत्मा से निकल जाता है इसलिए!

पूज्य गुरुदेवश्री : निकल जाता है और आत्मा की है ही नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! अभी तो बड़ा विवाद उठा है इसमें, शुभभाव—दया, दान, व्रत, पूजा करे तो कल्याण होगा! यहाँ तो कहते हैं कि शुभभाव तो पुद्गल की दशा है। (क्योंकि) अपने स्वभाव में से विकार उत्पन्न हो, ऐसा कोई स्वभाव (आत्मा का) नहीं है। आहाहा!

इसी प्रकार उस प्रकार का अनुभव कराने में समर्थ ऐसी राग-द्वेष, सुख-दुःख... क्या कहा? राग-द्वेष और सुख-दुःख की जो कल्पना है, वह कर्म का कार्य है। उसका ज्ञान आत्मा में होता है, वह ज्ञान आत्मा का है, उस ज्ञान से आत्मा अभिन्न है परन्तु यह राग-द्वेष, सुख-दुःख के परिणाम जो हैं, वह पुद्गल की पर्याय उस पुद्गल से अभिन्न है। अरे! ऐसी बातें हैं। सूक्ष्म बात है, भाई! राग-द्वेष होते हैं तो अपनी पर्याय में, कोई ऐसा यहाँ लगा दे (मान ले) कि देखो, कर्म से राग-द्वेष हुए, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! यहाँ तो

दूसरी चीज़ है। (स्वभाव बतलाना है) यह तो राग-द्वेष होते हैं तो अज्ञान से अपनी पर्याय में, परन्तु यह राग-द्वेष-पुण्य, दया-दान (आदिभाव) आत्मा का स्वभाव नहीं है। आहाहा! इस कारण से यह दया, दान, व्रत, तप, भक्ति का विकल्प, व्रतादि विकल्प उठता है, वह राग, पुद्गल की अवस्था है, ऐसा कहा गया है। आहा! कहो, बलुभाई! क्या कहा? यह तुम्हारा वह वर्षीतप किया है, उसमें राग मन्द होवे तो वह पुद्गल-जड़ था, ऐसा कहते हैं। उसने तो सुना है न बहुत बार? है? (क्या कहा?) यह अन्दर राग किया न मन्द, अपवास करने में, दया पालने में, व्रत करने में। समझ में आया? यह करने में मन्द राग है, वह राग है (उसे) यहाँ पुद्गल की अवस्था गिनने में आयी है। उस राग का जहाँ ज्ञान होता है, वह ज्ञान अवस्था आत्मा से अभिन्न है। परन्तु वह राग, वह ज्ञान अवस्था से अत्यन्त भिन्न है। कहो, शान्तिभाई! कैसी बातें हैं।

आहा! जिसे लोग धर्म मानें—दया, दान, व्रत, अपवास, वह विकल्प है—राग है और वह राग पुद्गल की (दशा है), पुद्गल के निमित्त के आधीन होकर हुई है न? वह अपने स्वभाव के आधीन नहीं हुई, इस कारण से उसे पुद्गल में गिना है। आहाहा! ऐसी बात! और उस प्रकार का ज्ञान आत्मा से अभिन्न है—राग और दया-दान के विकल्प जो राग उठा, उसका यहाँ ज्ञान हुआ। क्योंकि आत्मा का (ज्ञानस्वभाव) स्व-परप्रकाशक है, तो अपने स्वरूप का ज्ञान करता है और (साथ-साथ) राग का भी यहाँ ज्ञान होता है। तो वह ज्ञान है-राग का ज्ञान है, वह आत्मा से अभिन्न है और रागभाव है, वह पुद्गल से अभिन्न है। आत्मा से भिन्न है। अब ऐसी बातें कहाँ दुनिया के साथ मिलान (खाये)?

लो, कल ही बड़ा (लेख) आया था। व्रत और शुभ, पूजा, भक्ति धर्मज्योति धर्मध्यान है। और ये सोनगढ़वाले कहते हैं कि वह बन्ध का कारण है। अरे, भगवान! भाई! वह राग बन्ध का कारण है और वास्तव में तो (वह) दशा, इस आत्मा के जितने अनन्त गुण हैं, वे अनन्त गुण शुद्ध हैं, उनका परिणमन होता है, वह तो शुद्ध (ही) होता है, (तब) इस राग का परिणमन तो निमित्त आधीन-पर का है (परालम्बी तो) पर का है। आहाहा!

जिस प्रमाण जैसा यहाँ राग हुआ, दया-दान-व्रत का विकल्प, उसी प्रकार का यहाँ ज्ञान होता है। ज्ञान तो जैसी वस्तु है, वैसा ही ज्ञान होता है न! यथार्थ ज्ञान तो उसे कहते

हैं कि जैसा वहाँ दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा, काम-क्रोध-हिंसा-झूठ जो परिणाम हुए, तो उन परिणाम का यहाँ ज्ञान होता है, वह जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान का परिणमन आत्मा से एकमेक है और रागभाव है, वह पुद्गल से एकमेक है—आत्मा से भिन्न है। आहाहा! यह बड़ा झगड़ा है। वे कहते हैं कि धर्मध्यान है, यहाँ (आचार्यदेव) कहते हैं कि वह राग पुद्गल की दशा है। उसका ज्ञान होता है, वह ज्ञान की दशा आत्मा की दशा है। शशीभाई! ऐसी बात है।

(कहते हैं कि) **उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है...** कौन? जो राग-द्वेष का ज्ञान हुआ, वह ज्ञान पुद्गल से एकदम भिन्न है-अत्यन्त भिन्न है। क्या कहा, समझ में आया? क्योंकि आत्मा का ज्ञानस्वभाव है ज्ञान... ज्ञान... स्वभाव-स्वरूप है, तो ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। (इसीलिए तो) इस कारण जो कुछ शुभ-अशुभ राग उत्पन्न हुए, उनका यहाँ ज्ञान होता है, वह ज्ञान उनका होता है, यह तो निमित्त का कथन है, बाकी ज्ञान तो अपने में अपने से हुआ है। आहाहा! वह ज्ञान का परिणमन है, वह आत्मा से एकमेक-अभिन्न है और राग-द्वेष आदि पुद्गलपर्याय से (एकमेक है), उससे यह ज्ञान का परिणाम भिन्न है। धीरे से समझना, बापू! यह तो वीतराग का मार्ग बहुत अलौकिक है! अभी तो सर्वत्र बड़ा फेरफार हो गया। विरोध करते हैं, बड़ा विरोध! निमित्त से होता है—कि इनकार करते हैं, यह ऐसा कहते हैं वहाँ! देखो! भाई, परन्तु उसे ऐसा लगे!

देखो! यह लकड़ी है, यह लकड़ी यहाँ पड़ी है, लो! वह तो ऐसे अँगुली से ऊँची करे तो ऊँची होती है, ऐसा अज्ञानी को भासित होता है, क्योंकि वह यहाँ से (संयोग से) देखता है, वह यहाँ से (स्वभाव से) देखे कि यह ऊँची हुई, वह अपनी पर्याय से, तो (यथार्थ कहलाये)। समझ में आया इसमें? आहाहा! अग्नि से पानी गर्म हुआ, यह भी झूठ है, कहते हैं। पानी अपनी पर्याय से उष्ण हुआ है, अग्नि तो निमित्त है। अग्नि से पानी गर्म हुआ, यह बात झूठ है। अब यह बात कैसे जँचे? आहाहा! अग्नि की पर्याय, वह अग्नि में है और पानी यहाँ उष्ण हुआ, वह पर्याय पानी में है, वह भी यहाँ (ऐसा) तो उससे आगे लेना है। समझ में आया?

यह राग की पर्याय होती है अपनी पर्याय में, कर्म निमित्त है परन्तु वह निमित्त आधीन होकर स्वभाव-भाव नहीं है, इस कारण से उस रागभाव को पुद्गल से अभिन्न कहा गया है और उस राग का यहाँ ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्मा से अभिन्न है। आहाहा! समझ में आया?

परन्तु... इसमें से वापस ऐसा निकाले (समझे कि) देखो, राग-द्वेष अपने कर्म से होते हैं। देखो, इसमें (टीका में) आया या नहीं? किस अपेक्षा से? यहाँ तो पुण्य-पाप के भाव, कर्म और नोकर्म तीनों एक ही चीज़ है-जड़ की है, ऐसा बतलाना है। समझ में आया? आहाहा! कल तो जरा उस (लेख में था न) सोनगढ़ कहे, निमित्त से नहीं होता, इसमें तो निमित्त से होता है ऐसा समझ ले, बस। ऐसा है नहीं; होता है तो अपनी पर्याय में अपने से, परन्तु वह (रागभाव) स्वभाव नहीं-चैतन्य जो अनन्त गुण स्वभाव है, उसका तो यह भाव नहीं, ऐसा गिनकर राग और जड़ से भिन्न आत्मा का भेदज्ञान नहीं, वे (लोग) राग को अपना मानते हैं। समझ में आया? यह बात यहाँ सिद्ध करनी है, उस प्रकार का, ऐसा कहना है न यहाँ कि जैसे पुण्य और पाप के भाव हुए, वैसा ही यहाँ ज्ञान होता है, ज्ञान तो यथार्थ होता है या नहीं? (होता है)। तो जैसे दया के परिणाम हुए, तो दया के परिणाम राग हैं तो (वैसा ही) राग का ज्ञान यहाँ हुआ तो ज्ञान कहने में आया, वह यथार्थ है, ऐसा कहना है कि जैसा राग है, वैसा ही यहाँ ज्ञान हुआ है। वह ज्ञान हुआ, वह आत्मा की चीज़ है और राग है, वह अपनी (आत्मा की) चीज़ नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

यह राग है, वह तो पुण्य-पाप तत्त्व है तो ज्ञायकपर्याय में स्व-परप्रकाशक (ज्ञान) हुआ परन्तु वह ज्ञान स्व-परप्रकाशक पर्याय हुई अपने से वह एकमेक है और वह रागतत्त्व (आत्मा से) भिन्न है, यहाँ यह लेना है न! रागतत्त्व-पुण्य-पापतत्त्व-अजीवतत्त्व-आस्रवतत्त्व सब एक (एकार्थ) है। आहाहा! समझ में आया?

(अब कहते हैं) **जब आत्मा अज्ञान के कारण उस राग-द्वेष-सुख-दुःखादि का और उसके अनुभव का परस्पर विशेष नहीं जानता हो...** क्या कहते हैं? अज्ञानी आत्मा, भेदज्ञान के अभाव से (अर्थात् कि) यह राग-द्वेष आदि परिणाम और उनका ज्ञान यहाँ अनुभव, इन दोनों का भेदज्ञान न जानने से, राग मैं हूँ, ऐसा अज्ञानी मान लेता है। आहाहा!

राग से भिन्न, ऐसा ज्ञान अपना है, परन्तु राग अपना नहीं, किन्तु अज्ञानी को राग और ज्ञान के परिणाम का भेदज्ञान-भिन्नता का ज्ञान नहीं है, तो राग मेरा है - ऐसा मान लेता है। आहाहा!

जब यह आत्मा अज्ञान के कारण इन राग-द्वेष, सुख-दुःख, सुख-दुःख की कल्पना होती है न? यह पैसा है तो ठीक, निर्धनता अठीक—ऐसी जो कल्पना है, वह निश्चय से तो वह पुद्‌गल की पर्यय है, पुद्‌गल में है। आहाहा! कठिन काम है।

मुमुक्षु : घड़ीक में पुद्‌गल की, घड़ीक में आत्मा की?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए यहाँ कहते हैं न भाई! है पर्याय इसकी। पहले ऐसा ही मान ले कि कर्म के कारण राग हुआ—कर्म के कारण राग हुआ, तो यह बात झूठी है। आहाहा! परन्तु यहाँ कहते हैं, राग पर्याय में होता है तो वह द्रव्यस्वभाव से हुआ, यह बात झूठी है। आहाहा! (आत्म) द्रव्य का स्वभाव चिदानन्द भगवान आत्मा; राग होता है, उसका ज्ञान करता है, वह ज्ञान अपना है, राग अपना नहीं। यह तो अभी तो भेदज्ञान करने की बात है न! भेदज्ञान नहीं करनेवाले की यह बात है। भेदज्ञान करनेवाले की बात (गाथा) ९३ में आयेगी। आहाहा! यह बड़ा अन्तर। निमित्त से होता है और व्यवहार से होता है, (यह) बड़ा अन्तर है। है?

निमित्त बिना कहीं होता है (कोई कार्य)? देखो! यह जो वाणी पड़ती है, तो ज्ञान होता है, वहाँ मुम्बई में थे, वहाँ कारखाने में, वहाँ यह ज्ञान होता था? पर्याय में यह ज्ञान (सुनने का) यह शब्द कान में पड़ते हैं तो ज्ञान होता है। ऐसा अज्ञानियों को भ्रम होता है। परन्तु (वास्तव में तो) इस समय में, इस समय की पर्याय ज्ञान होने की योग्यता से ज्ञान उत्पन्न होता है। (ज्ञान होने में) शब्द तो निमित्त है, शब्द से यहाँ ज्ञान नहीं हुआ। अरे! ऐसी बातें, भाई! दुनिया से बहुत अन्तर है, हों! भाई! बड़ा अन्तर।

मुमुक्षु : ज्ञानी इसलिए ही निःशंक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात है। सुख-दुःख और राग-द्वेष के जो भाव हैं, वह विकृत अवस्था है, उसे पुद्‌गल की गिनने में आया और वह राग-द्वेष-सुख-दुःख की कल्पना, जिसे पुद्‌गल कहा जाता है, उसका जो ज्ञान यहाँ हुआ, वह ज्ञान और सुख-दुःख

की अवस्था, दोनों का भेदज्ञान नहीं होने से – दोनों की भिन्नता का ज्ञान नहीं होने से आहाहा! **तब एकत्व के अध्यास के कारण...** आहाहा! यह राग और द्वेष और स्वभाव का ज्ञान (दोनों की) एकत्वबुद्धि के कारण अनादि से यह अध्यास से एकत्व हुआ है। आहाहा! समझ में आया?

(ओहोहो!) बड़ा झगड़ा है, दुनिया के सामने, दुनिया इसके सामने झगड़ा करती है। आहाहा! बापू! प्रभु का मार्ग (अलग है)। यहाँ तो कहते हैं कि जो अन्दर में कर्म के निमित्त से अथवा निमित्त के आधीन होकर जो कुछ दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव हैं, वे सब (भाव) पुद्गल की दशा है। (अरे भाई!) आत्मा क्या? आत्मा तो शुद्ध पवित्र है, उसका (स्वभाव तो) जानना–देखना (ज्ञाता–दृष्टा की) दशावाला है। (शुभाशुभभाव की) वह दशा है पुद्गल की और उसका जो ज्ञान, यहाँ ज्ञान होता है, वह अपना है। परन्तु उस ज्ञान और राग–द्वेष की पर्याय का भेदज्ञान नहीं होने से—दोनों की भिन्नता है, ऐसा भिन्नता का भान नहीं होने से, आहाहा! तुम्हारे हीरा–बीरा तो कहीं (दूर) रहे गये और हमारे चिमनभाई का लोहा कहीं रह गया (दूर का दूर)।

मुमुक्षु : आप तो फरमाते हो कि हीरा तो पुद्गल का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हीरा तो पुद्गल का है, परन्तु हीरा का प्रेम–राग हुआ, वह भी पुद्गल में है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। बलुभाई! ऐसा है बापू। प्रभु! प्रभु! प्रभु! तू कौन है? बापू! भगवान तो ऐसा कहते हैं कि तू है कौन आत्मा? वह क्या रागरूप आत्मा है? नौ तत्त्व है तो उसमें राग और पुण्य–पाप तत्त्व तो (आस्रवतत्त्व है) उसे (आत्मा से) भिन्न गिनने में आया है। नौ तत्त्व है या नहीं? पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध तत्त्व तो भिन्न गिनने में आये हैं।

भगवान आत्मा तो ज्ञायकतत्त्व है। तो इसका अर्थ यह है कि उसका ज्ञान करनेवाला और अपना ज्ञान करनेवाला (वह एक) ज्ञायक तत्त्व है। (वह ज्ञायक तत्त्व) भी अपना ज्ञान और उसका (पर का) ज्ञान, यह (दोनों का ज्ञान) वह अपना स्वभाव है। वह चीज़ राग आदि अपना स्व–भाव नहीं, (इसलिए) राग आदि भिन्न है और उसका ज्ञान करनेवाली चीज़ (ज्ञायक) भिन्न है।—ऐसा भेदज्ञान नहीं होने से, आहाहा! ऐसी बातें, अब मुश्किल से जिन्दगी में किसी को तो कान में पहली बार पड़े! पूरी बात में बहुत अन्तर है, बापू!

अरे रे! मनुष्यभव चला जाता है, मौत की अवस्था इस समय नजदीक आती है, क्योंकि (मृत्युसमय) निश्चित है भगवान के ज्ञान में, और उसकी आयुष्य में कि यह इसी समय, इसी क्षेत्र में, इस लोक में, यह देह छूटना है, (वह छूटेगी ही)। उसमें तीन काल में फेरफार होता (ही) नहीं। आहाहा!

अरे रे! उसके समीप में (मृत्यु के समीप में) आयुष्य की (क्षण-क्षण घटती स्थिति!) वह अपने नहीं कहते? कि 'बुढ़िया कहे मेरा लड़का बड़ा होता है; भगवान कहे तेरा लड़का बड़ा होता है और मरण के समीप जाता है!' अब इसका मेल कहाँ करना? बराबर है?

मुमुक्षु : माँ तो ऐसा ही कहे न, मेरा पुत्र बड़ा होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सब कहे, ऐसा ही कहे, लड़का बड़ा हुआ? सुमनभाई को नहीं पढ़ाया हो पैंतीस हजार रुपये खर्च करके, (परदेश में) अमरेली क्या? अमेरिका में। पाप करके पैसे इकट्ठे किये और पाप करके उसे पढ़ाया, इन रामजीभाई ने, सत्य बात होगी? विकल्प था। कठिन बात, भाई! पढ़ाया, वह पढ़ाया तो नहीं परन्तु पढ़ाने का जो विकल्प है, वह इसका स्वरूप नहीं। आहाहा! ऐसी बात है भगवान! यह तो घर की बात कहते हैं (दृष्टान्त घर का) सबको समझ में आये न? रतिभाई! यह हमारे रतिभाई रहे, बड़े करोड़पति, लो! कारखाना बड़ा और लड़के! बड़े भाई मर गये और दो-तीन लड़के सब काम करते हैं, वह भी राजकोट में बड़ा कारखाना है। अररर! कौन करे प्रभु! यहाँ तो कहते हैं सुन न बात! आहाहा!

प्रभुभाई तो अन्तिम स्थिति में असाध्य हो गये थे। नहीं? मौके से वहाँ असाध्य हो गये थे, कितने समय से... चौबीस घण्टे से, सहज ऐसा मेल हो गया कि मैं वहाँ गया, वहाँ यहाँ से... वहाँ पहले थे असाध्य ऐसा फिर चन्दुभाई डॉक्टर हैं न अपने चन्दुभाई, उन्होंने कहा, प्रभुभाई! महाराज आये हैं, कौन जाने कैसे हुआ तुरन्त ही साध्य (होश) आ गया। ऐसे हाथ ऊँचा किया, असाध्य थे, प्रभुभाई असाध्य थे, सहज ही मैं गया तब भी असाध्य थे, जहाँ चन्दुभाई ने उन्हें कहा कि महाराज आये हैं, प्रभुभाई को ऐसा जहाँ कहा, वहाँ आँख में से आँसू, हाथ ऐसे ऊँचा किया, होश आ गया, दस मिनिट रहे, बस फिर जाते

समय पाँच हजार रुपये देने को हाथ में रखे। उन्होनें देने के उस समय साध्य नहीं था। यहाँ से मैं सवेरे गया था और शाम को वापस आया, आया था सवेरे राजकोट, अन्त में वे पाँच हजार रुपये देने लगे, उनके हाथ में नोट दो, ऐसा कि तब साध्य नहीं था... यह सब पैसेवाले हैं। 'वाळा' हैं सब। एक 'वाळा' निकले पैर में तो चिल्लाहट मचाये। यह कितने (वाळा) है ?

मुमुक्षु : इस वाळा की कीमत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस वाळा की कीमत है भटकने की... पैसेवाला, स्त्रीवाला, पुत्रवाला, मकानवाला, इज्जतवाला! कितनेवाला तुम्हारे भी हैं, हें ? अच्छे दामादवाला- अच्छे दामाद, दस-दस, बीस-बीस लाखवाले! चार लड़कियाँ बड़े घर में विवाहित। कुटुम्ब-कबीला बड़ा न! ओहोहो! क्या है परन्तु यह तुझे ? शान्तिभाई! हड़किया लगा है! आहाहा!

प्रभु कहते हैं, एक बार सुन भाई! तेरा स्वरूप तो प्रभु! ये राग आदि आवे, उसका ज्ञान करने का तेरा स्वभाव है। ऐसा न जानकर राग मेरा है, (ऐसा माने वह) मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा! गजब बात है। पर की दया पालने का भाव (हो परन्तु) दया पाल नहीं सकता क्योंकि वह तो (उस जीव का) आयुष्य हो तो वहाँ रहे (जीवे) और न रहे (परन्तु) तुझसे दया पाली नहीं जा सकती, परन्तु भाव आया वह राग है, उस राग का ज्ञान करना, वह आत्मा का स्वभाव है परन्तु राग को अपना मानना, वह अपना स्वभाव नहीं है। परन्तु जिसे राग और राग का ज्ञान करने का भेदज्ञान नहीं, आहाहा! 'तब वह एकत्व के अभ्यास के कारण' आहाहा! राग और उसका ज्ञान करनेवाला आत्मा, दोनों के एकत्व के अध्यास के कारण। आहाहा! विभाव के साथ अध्यास—एकत्व किया।

श्रीमद में (श्रीमद् राजचन्द्र के) एक पत्र में है, 'विभाव के साथ अध्यास के कारण विभाव अपना माना।' ऐसा एक पत्र में है। यहाँ तो वह लागू पड़ती हो ऐसी बात वाँचन में आयी हो! तो बैठ गयी तो बैठ गयी! बात बराबर, कहीं है, यह एक पत्र में है। आहाहा! यह राग का भाव, विकारभाव-व्रत का भाव, तप का भाव, अपवास करूँ, ओळी करूँ, वर्षीतप करूँ, ऐसा जो विकल्प-राग है, उस राग का आत्मा उसका ज्ञान करनेवाला है।

उसका (राग का) ज्ञान और राग (दोनों) भिन्न है, ऐसा जिसे भान नहीं है (एकपने का) उस अध्यास के कारण **शीत-उष्ण की भाँति (जिस प्रकार शीत) और उष्ण अवस्था आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है...** क्या कहते हैं ? यह शीत और उष्ण अवस्थारूप आत्मा का होना अशक्य है। आत्मा अरूपी ज्ञानघन और यह जड़ की अवस्था शीत-उष्ण, तो आत्मा को शीत-उष्ण अवस्थारूप होना अशक्य है। बराबर है ? अब कठिन आयेगा!

उसी प्रकार जिसरूप आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है... आहाहा! जैसे उस शीत-उष्ण अवस्थारूप से आत्मा का होना अशक्य है, कभी भी शीत-उष्णरूप आत्मा नहीं होता। आहाहा! इस प्रकार जिसरूप आत्मा का होना अशक्य है। ऐसे राग-द्वेष, सुख-दुःख की कल्पना, ऐसे भाव से इस आत्मा का उसरूप परिणमन करना अशक्य है। आहाहा! जैसे शीत-उष्ण अवस्था में आत्मा उष्ण-शीत अवस्थारूप होना अशक्य है, उसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप प्रभु, वह दया-दान-काम-क्रोध के परिणामरूप परिणमना (आत्मा को) अशक्य है।

मुमुक्षु : वे पुद्‌गल के परिणाम हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे पुद्‌गल के परिणाम हैं। आहाहा! धीरे-धीरे तो कहा जाता है, भाई!

मुमुक्षु : बहुत स्पष्ट होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बहुत स्पष्ट होता है, लो!

मुमुक्षु : शीत ज्वर आता है, तब कंपकंपी छूटती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कंपकंपी पुद्‌गल की पर्याय है, यहाँ तो कंपकंपी हुई, उसका ज्ञान उसे स्वयं से होता है। वह ज्ञान का परिणमन अपना है। कंपकंपी जड़ की पर्याय (जड़ में) है।

(देखो!) बुखार आता है, बुखार कहते हैं न ? १०६ डिग्री (बुखार चढ़ा हो तब) पहले गर्मी आवे, गर्मी (फिर) सर्दी आवे, (बहुत) सर्दी (लगे तब) सर्दी का बुखार आवे रजाईयाँ ओढ़ावे - (मुझे) रजाईयाँ ओढ़ाओं और जहाँ वह (गर्मी चढ़े) लगता है

निकाल डालो परन्तु वह तो रजाई को निकाल डालने की गर्म और शीत अवस्था वह जड़ की है। आहाहा! शरीर में सर्दी आयी काँपने (लगा शरीर) वह जड़ की अवस्था है। वह बुखार आया, वह जड़ की अवस्था है, परन्तु उस जड़ की अवस्था का ज्ञान यहाँ आत्मा करता है, और जड़ की अवस्था जड़ में रहती है, परन्तु दोनों की भिन्नता का भान नहीं तो उसे ऐसा हो जाता है कि यह मैं ठण्डा हो गया, मैं गर्म हो गया। **उसी प्रकार जिसरूप आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है, ऐसे राग-द्वेष-सुख-दुःखादिरूप...** आहाहा! दृष्टान्त वहाँ कठिन है न! शीत और उष्ण अवस्थारूप आत्मा का होना अशक्य है, तथापि यह मानता है कि मैं शीत-उष्ण अवस्थारूप मैं हो गया! इसी प्रकार दया-दान-व्रत-भक्ति-काम-क्रोध के भाव, वे विकार और अनुकूलता देखकर मैं सुखी हूँ, लोग (भी) ऐसा कहे न, पाँच-पच्चीस लाख मिले, इसलिए यह अपने से सुखी है। (ऐसा लोग मानते हैं)। समझ में आया?

एक बार कहा था न! अपने यहाँ नानालालभाई के रिश्तेदार, एक बार यहाँ आये थे वढ़वाणवाले। क्या कहलाते हैं वे? चूड़गर, वे नानालाल कालीदास (जसाणी) राजकोट, करोड़पति? सब यहाँ आनेवाले न! इसलिए फिर वह बोला कि हमारे रिश्तेदार सुखी हैं, इसलिए मैंने कहा, सुखी की व्याख्या क्या? (भाई) चूड़गर नहीं थे वे वकील, थे न? क्या कहलाते हैं वे? बैरिस्टर, पोपटलाल बैरिस्टर चूड़गर थे न! यहाँ आये थे न? यहाँ आये थे। सब आ तो गये हो, चूड़गर बड़े बैरिस्टर थे, उनके परिवारी चूड़गर थे, उनके रिश्तेदार में नानालाल कालीदासभाई थे। मुम्बई, हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। मैंने कहा, सुखी की व्याख्या क्या? सुखी का स्वरूप क्या? यह पैसा-बैसा मिला, वह सुखी है?

(अरे भाई!) वह तो दुःख का निमित्त है, यह पैसा यह कहीं सुख और दुःख का कारण नहीं है। पैसा, वह वास्तव में दुःख करता है, उसमें निमित्त है, और (पैसे में) सुख की कल्पना करता है, वह तो (सच्चा) सुख नहीं है, वह तो दुःख है, उसमें भी लक्ष्मी निमित्त है। अरे! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

यहाँ तो परमेश्वर जिनेश्वर त्रिलोकनाथ (तीर्थंकरदेव की) वाणी में ऐसा आया कि प्रभु! जिस प्रकार शीत-उष्ण अवस्था पुद्गल से अभिन्न है, उसका ज्ञान तुझे हो, क्योंकि

तेरा ज्ञान में स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से, तुझमें तो उसका ज्ञान होता है, वह ज्ञान तेरी चीज़ (आत्मा) है, परन्तु वह शीत और उष्ण (अवस्था) तेरी चीज़ नहीं है। उसी प्रकार अन्दर में दया-दान-व्रत-भक्ति-काम-क्रोध-कमाना आदि कमाने का भाव आया, वह भाव (सब) वास्तव में तो पुद्‍गल की ही दशा है। उसका तू ज्ञान कर, वह तेरी पर्याय है। आहाहा! इसमें बहुत अन्तर। मधुभाई!

यह सब लाखों रुपये यहाँ पैदा करे, तो वह सब धूल है-धूल है वह तो सब। और धूल में राग करता, वह राग भी धूल-जड़ है।

मुमुक्षु : दीक्षा लेनेवाला और देनेवाला जीव है या पुद्‍गल है?

पूज्य गुरुदेवश्री : दीक्षा का विकल्प जो उठता है, वह पुद्‍गल है और व्रत का विकल्प है, वह भी पुद्‍गल है। सूक्ष्म बात, भाई! (आहा!) शुद्ध जो आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप भगवान, वह विकल्प, राग से भिन्न भगवान, अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु, उसकी दृष्टि करके जो आनन्द की पर्याय अतीन्द्रिय (आनन्द) की उत्पन्न होती है, वह आत्मा है। अरे! भगवान बहुत अन्तर, बापू! चिमनभाई! आहाहा! ऐसा तो हिम्मतभाई ने सुना नहीं था। श्रीमद् के भगत थे। देखा है न, वहाँ आहार लेने घर में आये थे न अन्दर डेले, तब हिम्मतभाई थे डेले के अन्दर। यह बात बहुत अन्तर!

उन लोगों में भक्ति करे भगवान की, गुरु की!...

मुमुक्षु : यह वह नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भक्ति करे तो उससे कल्याण होगा (ऐसी मान्यता है) परन्तु भक्ति गुरु की तो पर की, राग है, वह तो आता है, श्रीमद् में आता है न? (आत्मसिद्धि शास्त्र गाथा ९०) 'बीता काल अनन्त वह, कर्म शुभाशुभभाव; उन्हीं शुभाशुभ छेदते, उपजे मोक्ष स्वभाव।'—यह आत्मसिद्धि में आता है, कौन विचारे? लो, कहो! तुम्हारे पिता भी विचार नहीं करते! वे विचारते थे, हों! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि जैसे शीत और उष्ण अवस्था पुद्‍गल में (पुद्‍गल से) अभिन्न है, और शीत-उष्ण की अवस्था का अपने में (आत्मा में) ज्ञान करने की ताकत होने से, स्व-परप्रकाशकरूप से ज्ञान हुआ, वह ज्ञान है वह अपने से अकेला अभिन्न है। परन्तु उस

शीत-उष्ण और ज्ञान का भेदज्ञान नहीं होने से, वह अज्ञानी अपने में मैं ठण्डा हो गया, मैं गर्म हो गया, ऐसा मानता है। इसी प्रकार आत्मा में, वह तो-भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूपी स्व-परप्रकाशक स्वभाव (होने से) तो राग आया—दया का, दान का, व्रत का, अपवास का, वह विकल्प वह तो है, वह विकल्प वास्तव में तो पुद्‌गल की अवस्था है, क्योंकि शुद्धस्वभाव भगवान (आत्मा) की अवस्था (वह) नहीं है। आहाहा! उस राग का ज्ञान करना, वह ज्ञान की अवस्था आत्मा की है। क्योंकि दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम में आत्मा द्वारा परिणमन करना अशक्य है। भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप, वह रागरूप कैसे परिणमे ? आहाहा!

यह व्यवहार के पक्षवाले को तो यह सब पागल जैसा लगे!

मुमुक्षु : समझ में ही नहीं आवे उसे।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या ? बात बैठे ही नहीं। वीतरागमार्ग बापू! ओहोहो! वीतरागभाव से मार्ग-धर्म उत्पन्न होता है, राग से उत्पन्न होता है ? आहाहा!

तो... राग है। उसका ज्ञान करने में अपने में राग का नियमन करना, राग को स्पर्श किये बिना—राग को अपना माने बिना, अपने में ज्ञान हुआ, वह वीतरागी अवस्था, वह अपनी (आत्मा की) है। आहाहा! परन्तु राग और ज्ञान-राग का ज्ञान, दोनों की एकताबुद्धि से, भेदज्ञान की बुद्धि के अभाव से, आत्मा राग-द्वेष और सुख-दुःख की कल्पनारूप परिणमना अशक्य है, तथापि यह परिणमन मैंने किया, ऐसा मानता है। आहाहा! मधुभाई! मौके से आया है यह सब ऐसा (तत्त्व!) उसे (वहाँ) वास्तु है कल। आहाहा! व्याख्यान भी वहाँ है, वहाँ, वहाँ हॉल में! हॉल में व्याख्यान होगा। तब किया था नवनीतभाई थे तब! आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु! ऐसा कहा था न! ज्ञान से तादात्म्य है। जैसे अग्नि उष्णता से तद्‌रूप है-तादात्म्य है, वैसे भगवान आत्मा अपने ज्ञान से तद्‌रूप है, राग से तद्‌रूप नहीं। राग से तद्‌रूप हो तो राग का कभी नाश नहीं होगा। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! अभी तो पूरा सम्प्रदाय ऐसी गड़बड़ में चढ़ा है और बनियों को निवृत्ति नहीं मिलती धन्धे से। पूरे दिन पाप का धन्धा। मधुभाई! यह हीरे बेचे और दो लाख (रुपये) मिले और

धूल मिली ऐई! उसमें से निवृत्त घण्टे भर हो तो कुछ सुनने जाये तो वे कुगुरु लूट लेते हैं। तू ऐसा कर, तू ऐसा कर, व्रत कर, अपवास कर, तेरा कल्याण हो जायेगा। ऐई! राग कर तो कल्याण होगा?

मुमुक्षु : वह सरल पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सरल भटकने का धन्धा-भटकने का सरल। आहाहा! (यहाँ) भाषा तो कैसी सख्त (स्पष्ट) है कि जैसे शीत और उष्ण अवस्था, वह पुद्गल के स्पर्शगुण की अवस्था है, उसरूप आत्मा का शीत-उष्ण अवस्थारूप आत्मा का होना अशक्य है-असमर्थ है। तथापि अज्ञानी, शीत-उष्ण अवस्था और उसका ज्ञान, दोनों का भेदज्ञान नहीं तो ऐसा मानता है कि मैं ठण्डा हो गया, मैं गर्म हो गया।

(देखो!) यह ढोकला-ढोकला खाते हैं न! ढोकला, क्या कहते हैं? ढोकला में मिर्ची बहुत होती है न, ऊपर छिड़के तो मिर्ची का पाउडर छिड़के, लाल पाउडर होता है न! इसलिए ऊपर लाल पाउडर छिडकते हैं, इसलिए फिर घी में या तेल में (बघारकर) खायी जाती है, अब वह मिर्च (का पाउडर) चरपरा होता है न, मुँह में जाये कि चरपरा है, तो मैं चरपरा हो गया (ऐसा माने!) उससे (ऐसा तो) मुँह चरपरा हुआ है, वह जड़ की अवस्था है, वह उसके कारण (मिर्ची के) कारण नहीं है। आहाहा! वह मिर्ची चरपरी हो, हरी मिर्च बहुत चरपरी होती है न! यहाँ कहते हैं कि मुँह चरपरा वह इस वस्तु के कारण (मिर्ची के कारण) मुँह चरपरा हुआ नहीं। (तो किस प्रकार है?) मुँह की पर्याय उसके चरपरेपनेरूप परिणमने की (अपनी) ताकत से चरपरी हुई है, अब यह होने पर इसे ऐसा लगे कि मैं चरपरा हो गया! मेरा मुँह चरपरा हो गया। अरे! अरे! पागल के गाँव अलग नहीं हैं, यहाँ कहते हैं। ऐ बलुभाई! क्या है यह सब? यह चुनीभाई ने सुना नहीं था। ऐसा नारायण सेठ ने सुना नहीं था। आहाहा! ऐसी बात, बहुत अन्तर बापू! बहुत अन्तर! वीतराग का मार्ग, वीतरागभाव से उत्पन्न होता है - यह बताते हैं। यह राग आया और राग से मुझे धर्म हुआ, मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। आहाहा!

वापस इसमें से ऐसा नहीं निकालना, (ऐसा नहीं समझना) देखो, राग तो कर्म से हुआ! कर्म का नाम दिया। वह तो यहाँ द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करानी है, इसलिए (जो)

राग उत्पन्न होता है तो अशुद्ध उपादान-स्वयं से होता है, परन्तु अशुद्धउपादान, वह तो व्यवहार हुआ, व्यवहार हुआ तो वह राग निमित्त के आधीन हुआ है। निमित्त के आधीन हुआ है तो उसे यहाँ (पुद्गल का) गिनने में आया, अपने आधीन—स्वभाव के आधीन उत्पन्न नहीं हुआ है। आहाहा! इसमें कितनी बात याद रखना, सब बात ही अलग है। आहाहा! पुंजाभाई! नैरोबी में मिले ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : ऐसा कहीं नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु अब तो वहाँ अपना चलता है न! रिकॉर्डिंग, क्या कहलाता है? टेप रिकॉर्डिंग। आहाहा!

जैसे शीत-उष्णरूप से आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है... परिणमन अर्थात् पर्याय में अशक्य है। **उसी प्रकार जिसरूप आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है...** किसरूप? ऐसे राग-द्वेष-सुख-दुःखादि जड़स्वरूप आत्मा द्वारा परिणमन करना अशक्य है? क्या? यह राग-द्वेष और सुख-दुःख, विकारी दशा, आहाहा! और भगवान आत्मा निर्विकारी प्रभु, वह विकारी परिणमन करना (आत्मा के द्वारा परिणमना) अशक्य है। आहाहा! बहुत मार्ग...!

इस प्रकार जिसरूप से, किस रूप से? **ऐसे राग-द्वेष-सुख-दुःखादिरूप से...** सुख-दुःख की तो कल्पना है न? उन आदिरूप से **अज्ञानात्मा के द्वारा परिणमित होता हुआ...** अज्ञान आत्मा द्वारा उसे आत्मा का भान नहीं न, उसके द्वारा परिणमित होता हुआ **परिणमित होना मानता हुआ..** राग-द्वेषरूप होता हूँ, ऐसा मानता हुआ, तथापि आत्मा है वह राग-द्वेषरूप नहीं होता। आहाहा! यह व्यवहारवालों को तो बहुत कठिन पड़े। सब मनाया है न अभी, व्रत करो और अपवास करो, आम्बेल करो न! वर्षीतप करो न! ओली करो और होली करो न! वह सब राग, अरे... अरे... ऐसी बातें! चौविहार—रात्रि में नहीं करना, वह भी एक शुभभाव है। यह सोलहभावना-सोलहभावना तीर्थंकरगोत्र बाँधे वह (भाव भी) राग है। राग अपना नहीं।

मुमुक्षु : परन्तु भाता तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, भाता नहीं, आ जाता है-राग आ जाता है, तथापि राग को

अपना नहीं मानता। तीर्थंकर प्रकृति हमने बाँधी ठीक है, ऐसा नहीं मानता। बहुत कठिन बात, बापू! कठिन काम जगत से!

है न? राग-द्वेष अर्थात् पुण्य-पाप के भाव, सुख-दुःख की कल्पना! पैसे मिले तो मैं सुखी हूँ, निर्धन तो मैं दुःखी हूँ, लड़के अच्छे (हुए) साधारण में जन्में हों स्वयं और मिले करोड़पति की कन्या, हम सुखी हैं, ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। यह सुख है न?

मुमुक्षु : जगत में रहना और नहीं मानना सुखी हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी है नहीं, इसे कहाँ (सुख है)? करोड़ों के मकान हों, ऐसे हीरा के पलंग में सो रहा हो, ऊपर रेशमी रजाई ओढ़ी हो, हजार-हजार, पाँच-पाँच सौ की गर्म रजाईयाँ हों, जैसे यह महिलाओं की साड़ियाँ पाँच-पाँच हजार की होती है न, वैसे कीमती रजाईयाँ हों! यहाँ बहुत बार हमारे पास देने आते हैं। भाई! हमारे ऐसा नहीं लिया जाता। हमारे तो सादे वस्त्र होते हैं, अभी एक आया था... ढाई सौ रुपये की रजाई, महाराज लो! परन्तु भाई, हमारे तो यह कपड़ा चाहिए, हों! ऐसे रजाई-वजाई तो... आहाहा! उसे वह सुखी माने। रेशम के गद्दे भरे हुए हों, उसमें वह कीमती रुई, रुई नहीं परन्तु अभी दूसरी चीज़ आती है परदेश में-अमेरिका में ऐसी बारीक चीज़ रुई जैसी आती है, बहुत कोमल होती है ऐसे दबाओ तो वह रुई है और वह दबकर फिर बैठ जाये वह चीज़ एक ऐसी होती है दबाये तो भी बैठे नहीं। पोला-पोला हो, ऐसी (कोमल-कोमल) चीज़ आती है, नाम भूल गये। नहीं था कुछ वह? अभी रजाई लाया था न, उसमें वह था। कौन लाया था? यह शान्तिभाई का पुत्र लाया था, वह जला, वह कलकत्ता में जला न, वह, उसकी माँ जल गयी। शान्तिलाल छोटालाल दो भाई यहाँ आ गये अभी, ऐई थान में, थान, थान। निरंजन, वह लाया था। कि लाल कपड़ा है, मैं सफेद कपड़ा (लाऊँ) कहा। सफेद होता है या लाल, इसमें हमारा काम नहीं। ऊँची रजाई थी ढाई सौ रुपये की, वह उसमें की रुई नहीं थी। दूसरी कोई न कोई ऐसी चीज़ आती है। परन्तु वह तो जड़ की दशा, प्रभु! तुझे यह ठीक है और यह अठीक है—ऐसी कल्पना, वह राग-द्वेष है। वह राग-द्वेष भी आत्मा की पर्याय नहीं। आहाहा! यहाँ तक पहुँचना! आहाहा!

कहते हैं, **ऐसे राग-द्वेष-सुख-दुःखादिरूप अज्ञानात्मा के द्वारा परिणमित होता हुआ...** अज्ञान आत्मा द्वारा अर्थात् कि स्वरूप के भान बिना, परिणमता हुआ अर्थात् कि **परिणमित होना मानता हुआ...** मानता है कि मैं पर-रागरूप हुआ हूँ, अरे (आत्म) द्रव्य है वस्तु, वह तो रागरूप कभी होती नहीं। आहाहा! यह मान्यता है, वह भी वस्तु में नहीं। पर्याय में मानता है, वह मानता हुआ – आहाहा! ऐसी बातें भारी कहलाये। समझ में आया?

दस लाख रुपया एक महीने में पैदा हो, वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। नौकरी पाँच सौ की हो और सेठ ने तीन सौ बढ़ा दिये प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये कि आहाहा! ऐई! क्या है परन्तु यह?

मुमुक्षु : वेतन बढ़े तो क्या रोना?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह कहाँ आत्मा की चीज़ कहाँ है? वह पारसी था महेरबान सेठ, जामनगर के दीवान थे, पारसी वकील था, व्याख्यान में आया था महेरबान सेठ, वह उसे आठ सौ (रुपये) वेतन, तब की बात है, बहुत वर्ष (पहले की) बात। आठ सौ का वेतन था फिर दरबार ने दो सौ बढ़ा दिये, हजार (वेतन कर दिया), उसने पढ़ा कि यह हजार किसने किया? कहे, दरबार साहब ने कहा था। दरबार साहब क्यों कहे? कोई दरबार का केस आवे तो मैं ढीला कर दूँ ऐसा, इसलिए यह दो सौ बढ़ाये? निकाल दो दो सौ, मुझे आठ सौ की नौकरी है। परन्तु मैं तो दरबार का केस आवे या गाँव की बस्ती का आवे, मैं तो न्याय प्रमाण करूँगा। वह व्याख्यान में आये थे राजकोट। निकाल डालो कि किसने बढ़ा दिये दो सौ? राज का काम अनुकूल करने के लिये बढ़ा दिये? न्याय से विरुद्ध नहीं करूँगा। राजा का हो या रानी का हो। (नीतिवान) नैतिक मनुष्य था, तथापि वह राग है और वह राग मेरी चीज़ और मैंने राग किया, यह मिथ्यात्वभाव है! बहुत कठिन काम, भाई!

वह **ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ...** क्या कहते हैं? भगवान आत्मा तो ज्ञान से तादात्म्यस्वरूप है, वह ज्ञान प्रगट करना चाहिए, उसे छोड़कर अज्ञान अर्थात् राग प्रगट किया तो अज्ञानभाव प्रगट किया। आहाहा! आज का व्याख्यान जरा सूक्ष्म पड़े, ऐसा है। मधुभाई! मौके से यहाँ आया है।

मुमुक्षु : बहुत स्पष्टता।

पूज्य गुरुदेवश्री : मौके से इसमें है इसलिए। आहाहा! सम्प्रदाय की दृष्टिवाले को तो पागल जैसा लगे, ऐसा है! बलुभाई! बलुभाई तो हमारे अब बहुत वर्ष का परिचय, पुराने हो गये। आहाहा! कहते हैं कि जैसे शीत और उष्ण अवस्था पुद्गल की है तो उस अवस्थारूप से आत्मा का होना अशक्य है; इसी प्रकार प्रभु! राग और द्वेष के परिणाम वह पुद्गल की जाति-विकारी (भाव) रूप आत्मा द्वारा होना अशक्य है, तथापि अज्ञानी उस रागरूप मैं परिणमा, ऐसा मिथ्यादृष्टिरूप से मानता है। आहाहा! पानी-पसीना उतर जाये ऐसा है।

यह मैं रागी हूँ, देखो! **स्वयं अज्ञानमय होता हुआ,...** देखो! अब स्वयं अपने से राग को अपना मानकर अज्ञानमय होता हुआ **मैं रागी हूँ...** मैं तो दया पालनेवाला हूँ। आहाहा! मैंने गौशाला की (सम्हाल की) राग हुआ परन्तु यह राग करनेवाला मैं हूँ। है? यह मैं राग करता हूँ इत्यादि विधि से रागादि कर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है—रागादि, राग-द्वेष आदि, फिर तो जड़कर्म और नोकर्मपने का भी कर्ता शामिल है। आहाहा! कर्ता प्रतिभासित होता है, अज्ञानी। वास्तव में तो वह राग का कर्ता है नहीं। समझ में आया?

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १८४, गाथा-९२, दिनांक ०१-०२-१९७९, गुरुवार, माघ शुक्ल-५

श्री समयसार गाथा ९२। भावार्थ। टीका चल गयी है कल। आज तो गुजराती चलेगा न? मधुभाई ने कहा। सूक्ष्म बात है, भगवान! बहुत सूक्ष्म परन्तु अपूर्व तत्त्व है। आहाहा!

भावार्थ – **राग-द्वेष-सुख-दुःखादि...** आहाहा! आत्मा की पर्याय में जो राग-द्वेष दिखते हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति का राग या विषय भोग वासना का राग, वह राग और द्वेष प्रतिकूल चीज़ को देखकर अन्दर द्वेष-अरुचि आती है, वह राग और द्वेष और अनुकूल चीज़ में कल्पना होती है कि यह मुझे सुख है। पैसे में, स्त्री में आदि में कल्पना, भक्ति, भगवान की भक्ति में भी जो राग है, वह राग है, वह राग और द्वेष और सुख-दुःख की कल्पना, वह पुद्गल की दशा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

भगवान आत्मा तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसकी दशा तो आनन्द अतीन्द्रिय और ज्ञान और शान्ति, वह उसकी दशा है। यह **राग-द्वेष-सुख-दुःखादि...** रति, अरति आदि भाव उत्पन्न होते हैं, वह **अवस्था पुद्गलकर्म के उदय का स्वाद है...** आहाहा! भारी कठिन काम! यह पुद्गलकर्म जड़, इसका पाक होता है, तब ज्ञान में उसका स्वाद ज्ञात होता है, ऐसी बात है। सूक्ष्म बहुत, भाई! तथापि वह स्वाद है, वह मेरा है, ऐसी जो मान्यता, वह मिथ्यादृष्टि मानता है। आहाहा! बहुत कठिन बात! दया, दान, व्रत, तप का, भक्ति का भाव, वह राग है और प्रतिकूल चीज़ को देखकर वहाँ अरुचि आवे, वह द्वेष और स्त्री आदि या लक्ष्मी आदि को देखकर मुझे मजा आता है, ऐसा जो सुखभाव और प्रतिकूलता में अरुचि द्वेषभाव-दुःखभाव, यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं, प्रभु! वह राग-द्वेष और सुख-दुःख तो पुद्गल-जड़ की दशा है। शान्तिभाई! ऐसी बातें हैं। पंकजभाई! नयी बात है यह तुम्हारे काका के उसमें, यहाँ तो वास्तु अन्दर करने की बात है। आहाहा!

जो पुण्य और पाप का भाव तथा हर्ष-शोक का भाव, उसे यहाँ परमात्मा कहते हैं कि वह तेरी दशा नहीं है। प्रभु! वह तो पुद्गल जड़ की दशा है। आहाहा! बहुत कठिन काम। अभी तो सुनने मिलना मुश्किल है। लोग तो कहे यह करो... यह करो... यह करो,

व्रत करो, उपवास करो, भक्ति करो, पूजा करो, दान करो, परन्तु यहाँ तो परमात्मा कहते हैं, प्रभु! यह तो सब राग की क्रिया है। यह राग है, वह पुद्गल की दशा हैय तेरी नहीं, प्रभु! आहाहा! कठिन बात है। तेरा घर तो राग-द्वेष और सुख-दुःख की कल्पना से पार अन्दर है। वह तेरा निज घर अन्दर है। उस निजघर में दृष्टि करके वहाँ स्थिर होना, वह तेरा वास्तु और घर का विश्राम है। आहाहा! ऐसी बातें कभी सुनी न हो, यहाँ भावार्थ बहुत ऊँचा आया है। आहाहा!

राग-द्वेष चाहे तो व्रत का राग हो या भक्ति का राग हो और चाहे तो स्त्री आदि अनुकूल और विषय की लीनता में सुख की कल्पना हो या अन्दर शरीर में जहर छिड़का हो, तेजाब छिड़के और अन्दर कल्पना हो कि अहहं! ऐसी दुःख की दशा, प्रभु! वह राग-द्वेष और दुःख की दशा परमात्मा, जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ इन्द्र और गणधरों की सभा के बीच प्रभु वहाँ ऐसा कहते हैं—महाविदेह में, वह यह बात है। आहाहा! कठिन काम। राग-द्वेष=शुभ-अशुभभाव, सुख-दुःख=अनुकूल, प्रतिकूलता में कल्पना कि हम सुखी हैं और हम दुःखी हैं, यह सब दशायें प्रभु! अवस्था-हालत पुद्गलकर्म के उदय का स्वाद है। आहाहा! वह तेरा घर नहीं, वह तेरी चीज़ नहीं। आहाहा! यहाँ है न तुम्हारे, देखो न! विभावभाव जो यह पुण्य-पाप और हर्ष-शोक का भाव है, वह आत्मा का देश नहीं है। आहाहा! है? हमें यहाँ नहीं सुहाता, यह शुभ-अशुभभाव... सामने है भाई! 'हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता, हमारा देश नहीं है।' आहाहा! यह शुभभाव भक्ति का भाव होता है, दया का राग होता है, वह हमारा देश नहीं है, हम कहाँ चढ़ आये यहाँ?

जहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्य आदि अनन्त गुण हमारा परिवार बसता है अन्दर, वहाँ हमारा देश-स्वदेश है। आहाहा! बाबूभाई! चौका देखो सामने, आये हैं, बाबूभाई बराबर अवसर में। यह मेरा देश नहीं, नाथ! आहाहा! अज्ञानी पुण्य-पाप और हर्ष-शोक, सुख-दुःख की कल्पना, वह हमारा देश और हमारा स्वरूप है, ऐसा अज्ञान से मानता है। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं कि राग-द्वेष, सुख-दुःखादि अर्थात् रति, अरति, हर्ष, शोक, दीनता, मूर्खता, आहाहा! यह सब दशायें पुद्गल जड़कर्म की अवस्थायें हैं, प्रभु! तेरी अवस्था यह नहीं। आहाहा! ऐसा अब सुना।

इसलिए वह शीत-उष्णता की भाँति... जैसे शीत और उष्ण अवस्था, वह पुद्‌गल के साथ पुद्‌गल से अभिन्न है। उष्ण अवस्था, वह पुद्‌गल जो अग्नि है, उसकी अवस्था है। उससे अभिन्न है। शीत अवस्था, बर्फ आदि वह शीत अवस्था उस बर्फ के साथ अभिन्न है। आहाहा! है? शीत-उष्ण **पुद्‌गलकर्म से अभिन्न है...** कौन? यह राग-द्वेष-सुख-दुःखादि अवस्था, वह पुद्‌गलकर्म के उदय का स्वाद है। बहुत सूक्ष्म बातें, भगवान! अरे! प्रभु का मार्ग है शूरों का वहाँ कायर का काम नहीं, भाई!

कहते हैं कि भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रभु है। उसमें जो राग-द्वेष, सुख-दुःख की कल्पना का भास होता है, वह सब पुद्‌गल का स्वाद है, ज्ञान में वह भासित होता है कि यह चीज़ है इतना, परन्तु वह ज्ञान की-आत्मा की चीज़ नहीं है। समझ में आया? आहाहा! यह पुद्‌गलकर्म के उदय का स्वाद है। आहाहा! प्रभु! यह तेरा स्वाद नहीं। आहाहा! तू तो आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु, आहाहा! तेरा स्वाद तो अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे, वह तेरा स्वाद है। अब ऐसी बातें कहाँ? यह भगवान! मार्ग ऐसा है कुछ प्रभु का! अभी तो ऐसी सब गड़बड़ चली है, बहुत कठिन पड़े। इसमें एकान्त लगे, उन लोगों को, हों! आहाहा!

जो यह व्यवहाररत्नत्रय कहा जाता है न, देव, गुरु, शास्त्र, सच्चे अरिहन्त, गुरु और शास्त्र, उनकी श्रद्धा का भाव भी राग है। अररर! पंच महाव्रत के परिणाम भी राग हैं और यह शास्त्र का, शास्त्र की ओर झुकाव से पठन, वह भी राग है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसे तो पुद्‌गल कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे भगवान! यह पुद्‌गल की दशा है, प्रभु! आहाहा! भाई! तुझे भेदज्ञान नहीं। उस पुद्‌गल की दशा से प्रभु! तेरी चीज़ अन्दर भिन्न है। आहाहा!

अरे रे! उसने अनन्त काल में कभी भगवान आत्मा आनन्द अतीन्द्रिय और अतीन्द्रिय ज्ञान की मूर्ति है, और उसका स्वाद अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द और शान्ति उसका स्वाद है। धर्मी को उसका स्वाद स्वयं को आत्मा का लगता है; अज्ञानी को, आहाहा! यह राग-द्वेष और सुख-दुःखादि की कल्पना जो पुद्‌गल की स्वाद दशा है, वह अज्ञानी को मेरी है, ऐसा भासित होता है।

आज तो गुजराती आया, मधुभाई! हिन्दी तो सादी हिन्दी है। अपने को कोई यह सब यहाँ गुजराती भाषा हिन्दी कुछ हिन्दी लोग बोले, ऐसी भाषा नहीं होती, सादी भाषा। एक है, छे उसमें है आवे।

मुमुक्षु : गुजराती में आपको जितना आनन्द आवे, उतना हिन्दी में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुजराती तो सहज भाषा है न? ठेठ की ८९ वर्ष की, छोटी उम्र की... आहाहा! तेरह वर्ष की उम्र में छठी कक्षा पास हुए। इससे पहले सात कक्षा थी और फिर मेट्रिक हो गया। और अब तो सब बदल गया। कोई भी तब छठी कक्षा पास होकर फिर दुकान में पालेज चले गये। पढ़ाई बन्द कर दी। मुझसे छोटा भाई था वह फिर पढ़ता था वहाँ, मुझसे छोटा था। दो वर्ष, वह वहाँ पढ़ता। परन्तु वह भी छोटी उम्र में विवाह करके-बीस वर्ष की उम्र में विवाह किया और बाईस वर्ष में गुजर गया। मुझसे छोटा था। वह भी मेरी दीक्षा के बाद। शरीर बहुत लट्ठ जैसा था जवान बड़ा और दुकान-बुकान चलती स्थिति अच्छी, परन्तु आठ दिन की कोई बीमारी ऐसी आयी, देह छूट गयी। दो वर्ष का विवाहित, मेरे बड़े भाई कहे, अरे रे! मैंने कानजी को आज्ञा दे दी और यह चला जाता है ऐसे का ऐसा। आहाहा! बड़े भाई थे बहुत सरल थे, बहुत सरल। आहाहा! अरेरे! यह दशा संसार की।

यहाँ तो कहते हैं कि उस समय जो अरुचि उत्पन्न हो और कोई पाँच-पच्चीस लाख मिले और ठीक, ऐसा राग आवे, वह राग और द्वेष, वह सब जड़ की अवस्था, प्रभु, वह तेरा... स्वरूप नहीं। आहाहा! है? पढ़ते आना मुश्किल पड़े। आहाहा! वह **पुद्‌गलकर्म से अभिन्न है।** क्या कहा? कि शीत-उष्ण अवस्था जैसे पुद्‌गल से अभिन्न है, एकमेक है; वैसे राग-द्वेष और सुख-दुःख की कल्पना का भाव, कर्म जड़ से अभिन्न है। आहाहा! अरे रे! अभी तो यह करो, यह करो, यह करो, यह करो। बड़ी सभा भरे, ऐसे व्याख्यान में और सभा को बैठे भी, तो अब तो लोग सुनते हैं, कहते हैं कुछ महाराज, ४४ वर्ष से एक धारा लगायी है। आहाहा!

यह प्रभु! मार्ग तो यह है, प्रभु! तू सच्चिदानन्द प्रभु है, सत् है, चिदानन्द ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु तू है न? प्रभु! तेरी दशा यह राग-द्वेष और सुख-दुःख

की नहीं। क्योंकि प्रभु! तुझमें ऐसा कोई गुण नहीं कि राग-द्वेष और सुख-दुःख की विकृत अवस्था वह करे, ऐसा कोई गुण नहीं। आहाहा! अनन्त-अनन्त गुण हैं, प्रभु! कल नहीं कहा था? अनन्त नय हैं और एक-एक पदार्थ में अनन्त गुण और अनन्त धर्म हैं। धर्म अर्थात् यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान वह यहाँ नहीं अभी यह बात (नहीं)। एक-एक पदार्थ में जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, विभुता, प्रभुता ऐसे अनन्त गुण हैं और उसमें पर की अपेक्षा से स्वयं नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। ऐसे नित्य, अनित्य, एक-अनेक को धर्म कहा जाता है। ऐसे अनन्त धर्म एक आत्मा में हैं और अनन्त गुण आत्मा में हैं, उन एक-एक गुण और एक-एक धर्म में अनन्त-अनन्त नय एक-एक में व्याप्ति हैं। आहाहा! यह कहाँ बनिये को निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण का कोई पार नहीं, ऐसे अनन्त गुणों का पार नहीं उसके एक-एक गुण में इन अनन्त-अनन्त गुण का रूप, ऐसे अनन्त-अनन्त गुण का पार नहीं, ऐसा प्रभु वह तो शुद्ध आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु है। उसकी अवस्था-उसकी दशा तो अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे और अतीन्द्रिय ज्ञान का ज्ञान हो, वह उसकी दशा है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि की दशा वह है, परन्तु वह दशा अनादि काल से स्वद्रव्य को भूलकर, यह राग-द्वेष और सुख-दुःख को मेरा मानकर मिथ्यादृष्टि होकर चार गति में दुःखी होकर भटकता है।

यह दुःखी है, हों, सब। कैसे यह पैसे पाँच-सात लाख की आमदनी हो तो भी दुःखी?

मुमुक्षु : भारी दुःखी।

मुमुक्षु (2) : आमदनी हो तो भी कहाँ, ममता के कारण दुःखी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आमदनी हो ममता की... पैसा तो पैसे में है, उसमें यह मानो कि आये कहीं पच्चीस-पचास लाख। कहते हैं कि वह मुझे आये हैं, यह ममता है, वह तो दुःख है। यहाँ तो निश्चय में वह दुःख भी जड़ की अवस्था है, क्योंकि आत्मा में वह दुःख की दशा हो, ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा!

भाषा तो अत्यन्त सादी है, प्रभु! पूरी दुनिया... पूरी दुनिया को जानते हैं, हों!

हिन्दुस्तान में दस-दस हजार मील तीन बार घूमे हैं। और यों भी दुकान से भी १७ वर्ष से, दुकान से भी मैं तो शास्त्र पढ़ता था, वहाँ पालेज, दुकान चलती है न पालेज में, भरूच और बड़ोदरा के बीच पालेज है, पालेज दुकान चलती है। चालीस लाख रुपये हैं, तीन-चार लाख की आमदनी है। (भागीदार के) लड़के हैं तीन हमारे बुआ के लड़के भागीदार थे, दो। दो वे थे और दो हम भाई, दो दुकानें थीं, सब पाप का धन्धा। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि उस पापरूप, यहाँ तो भगवान की ऐसी आवाज है-आज्ञा है कि प्रभु! यह सुख-दुःख की कल्पना, यह कहीं सुख-दुःख की दशा ऐसा कोई तेरा गुण है कि उस दशा में से वह दशा हो? आहाहा! ऐसे दया, दान, भक्ति का राग हो, प्रभु! ऐसा तुझमें कोई गुण है कि जिसकी अवस्था राग हो? आहाहा!

अनन्त-अनन्त गुण का समुद्र / सागर प्रभु, अनन्त गुण और एक-एक गुण और एक-एक धर्म के अनन्त नय परिणमे। वे अनन्त गुण एक-एक गुण में उनका रूप हो, ऐसे एक गुण में अनन्त का रूप, दूसरे में अनन्त का रूप, ऐसे अनन्त में अनन्त का रूप। आहाहा! परन्तु कोई गुण ऐसा नहीं कि उसकी शक्ति और सत्व जो सत् का सत्व है, कस है, उसका जो आत्मा वस्तु, उसका कस है। अरे... अरे..! ऐसी भाषा! उसका कस तो ज्ञान, आनन्द और शान्ति उसका कस है, तो उसकी दशा भी आनन्द और शान्ति की दशा हो, वह उसकी दशा है। आहाहा! द्रव्य शुद्ध, अनन्त-अनन्त गुण वे शुद्ध और उसकी दृष्टि करने से पर्याय में शुद्धता आवे, वह उसकी पर्याय। आहाहा! गजब भाई! एकदम अनजान लोगों को तो पागल जैसा लगे, ऐसा है। यह तो क्या निकाला ऐसा तुमने? बाबूभाई तो जरा प्रेमवाले हैं तो जरा,... अनजाने को बापू! ऐसा लगे, ऐसा है, हों! परन्तु भाई लेकर आये, ऐसी बात क्या कहें, बापू! नहीं तो है न? प्रेम से सुनते हैं न, इनके सामने। आहाहा!

यह भगवान आत्मा, कहते हैं कि यह पुद्गल की अवस्था, वह कर्म से अभिन्न है **और आत्मा से अत्यन्त भिन्न है।** है? इतने में कितना भरा है इसमें!

मुमुक्षु : सच्चा हीरा भरा है इसमें।

पूज्य गुरुदेवश्री : हीरा भरे हैं, बापू! तुम्हारे यह सब मधुभाई के और यह हीरा सब धूल के हैं। आहाहा! भगवान आत्मा, उससे पुण्य, राग, द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख वह

आत्मा से तो अत्यन्त भिन्न है। अब यह कैसे बैठे ? आहाहा! अभी तो बड़े-बड़े भाषण - व्याख्यान दे। लोग दस-दस हजार, बीस-बीस हजार एकत्रित हो और बातें, एक-दूसरे को मदद करो, एक-दूसरे को साथ रखो, एक-दूसरे का उपकार करो, अन्योनो उपकार, नहीं आता ? 'परस्परोपग्रहो' जहाँ-तहाँ वह लोक का आकार रखते हैं न ? लोक का, उसमें नीचे लिखे 'परस्परोपग्रहो (जीवानाम)' तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र है। परन्तु यह परस्पर उपकार का व्याख्या अलग है, प्रभु! तुझे खबर नहीं। एक-दूसरे को निमित्त हो, उसे उपकार कहा जाता है, यह निमित्त उसे कुछ करता नहीं। आहाहा! बहुत कठिन काम।

मुमुक्षु : बात-बात में आपका अर्थ अलग होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात-बात में अन्तर, बापू! क्या करें ? अरे कहाँ से हम आ पड़े भाई! आहाहा!

वस्तु ऐसी है। तीन लोक के नाथ तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का यह सार है। आहाहा! सम्प्रदाय में तो यह अक्षर भी मिला नहीं था। इक्कीस वर्ष और चार महीने तो उसमें (स्थानकवासी में) रहे।

मुमुक्षु : कड़क पालन किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठोर था। हमारी क्रिया ऐसी सख्त थी, रायचन्द गाँधी बोटाद, उनकी बहू, पचास-पचास हजार की आमदनी तब.... उसके घर में क्या कहलाता है ? खरीदी दिनशानी खरीदी, वह ऐसे पचास-पचास सौ-सौ लोग भोजन करे, पचास हजार की आमदनी वर्ष में तब, हों! साठ वर्ष पहले, रायचन्द गाँधी बोटाद में। परन्तु आहार लेने जायें तो महिलायें काँप उठें। एक तो शरीर रूपवान, शरीर छोटा, क्यों काँपते हो बापू! तुम क्यों काँपते हो ? क्यों तुम कहीं आहार दोगे नहीं, कहीं भूल हो जायेगी न तो तुम नहीं, आहार दोगे।

मुमुक्षु : उनके घर में।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे आहार लेने जायें और पचास, सौ लोगों का आम का रस हो, खड़े हों। बहिन! ध्यान रखो इसमें गुठली है या नहीं ? महाराज! हमें खबर नहीं, दूर रहो, इसे छूना नहीं, अन्दर गुठली है, एकेन्द्रिय जीव है, छूना नहीं, हम रस नहीं लेंगे और

जो इससे छू गया न और यदि गुठली निकली, आहार बन्द। उसके घर में नहीं। बहुत सख्त किया थी, परन्तु वह सब हठ की, मानी हुई कि यह कुछ धर्म है। आहाहा! वह तो राग था, वह राग तो पुद्गल की दशा है, वह यहाँ तो कहते हैं। आहाहा!

वह पुद्गल की दशा पुद्गल से एकमेक, अभिन्न है और आत्मा से अत्यन्त भिन्न। भाषा देखी। आत्मा से भिन्न, इतना शब्द नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर। आहाहा! मृग की नाभि में कस्तूरी, उस कस्तूरी की उसे कीमत नहीं होती। गाया नहीं था भाई ने–मोहनभाई ने ? कस्तूरी काया में किन्तु कस्तूरी की खबर नहीं होती। उस मृग को देरी से खबर पड़ी, हाय! हाय! मरते हुए ऐसा हो। यह सब अरबों रुपये, यह मकान पचास–पचास लाख के और अब यह जाता हूँ, कहाँ जाऊँगा ? हाय.. हाय! अरे रे! अब मेरा कोई नहीं, मुझे तड़पता देखकर कोई दुःख छुड़ाता नहीं। आहाहा! शान्तिभाई! आहाहा!

कहा नहीं था ? दामनगर के एक खुशालभाई थे, गृहस्थ थे, ऐसे खानदानी मनुष्य बेचारे, लोक में–गाँव में भला करने के लिये जाये, जो वह जाये और वे जाये तो लोक में विवाद हो कोई खेत का, वे जाये तो किसी का वह कर डाले – विवाद समाप्त कर डाले, ऐसी छाप थी। मरते हुए भाई, दामोदर सेठ गृहस्थ दस लाख, भाई जानते होंगे न दामोदर सेठ को ? वह देखने जाये इज्जतवाले लोग सब। देखने जाये वहाँ रोवे, आँख में से आँसू बहते जायें। अरे.. अरे..! मैंने कुछ नहीं किया, मैंने गाँव के लोगों के लिये रुककर मैंने मेरी जिन्दगी गँवा दी, आँख में आँसू की धारा बहती जाये, देह छूट गयी। आहाहा! अरे भगवान! आहाहा! दामोदर सेठ को नहीं जानते जमनादासभाई ? जमनादासभाई पीपलवाले! दामोदर, दामनगर। दामोदर सेठ, जानते तो होंगे न ? आहाहा! ये पुराने व्यक्ति हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन तो सही, नाथ! अरे! तू कौन है ? चैतन्य हीरा प्रभु तू। आहाहा! तुझमें तो चैतन्य के रत्न की खान भरी है। चैतन्य रत्नाकर कहा है। क्या यह तुम्हारे रत्न नहीं।

मुमुक्षु : बापू! आपके लिये उनकी कोई कीमत नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ कीमत नहीं, बात सच्ची। सच्ची बात। पीपलवाले हैं।

आहाहा! धीरुभाई नहीं? तलकचन्दभाई और धीरुभाई नहीं? उनकी बहिन इनके लड़के को विवाही थी, इनके लड़के के साथ। विधवा हो गयी बहुत समय से। खबर है न, सबको जानते हैं। यहाँ तो ६६ वर्ष तो दीक्षा को हुए। गाँव-गाँव में घूमे हैं। अरे रे! यह मार्ग कहीं नहीं मिलता। साधु नाम धरानेवाले भी सब व्यवहार की बातें करे, परन्तु इस आत्मा में राग और द्वेष हो, पर की दया का भाव हो, वह भी पुद्गल की दशा है, वह तेरी नहीं, प्रभु! आहाहा! तेरी दशा हो तो तुझसे पृथक् नहीं पड़े। राग पृथक् पड़ जाता है, प्रभु! आहाहा! केवलज्ञान और जहाँ आत्मज्ञान होता है, तब वह राग पृथक् पड़ जाता है, वह राग आत्मा का हो तो आत्मा से पृथक् नहीं पड़े। बाबूभाई बराबर प्रेम से सुनते हैं, हों! भाग्यशाली है, बापू! यह है सब भाई! क्या करें?

मुमुक्षु : आपकी वाणी का प्रभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इनकी योग्यता है न, इनकी स्वयं की योग्यता है न। समझ में आया? बापू! इस लाईन में कितना भरा है? यह आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। कौन? यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम और प्रतिकूलता के द्वेष के परिणाम और अनुकूलता में सुख की बुद्धि तथा प्रतिकूलता में दुःख और द्वेष की बुद्धि, ये सब परिणाम आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। पुद्गल से अभिन्न हैं। अरे रे! यह कहाँ बापू इसे... आहाहा!

अज्ञान के कारण, अब आता है, इसे आत्मा की खबर नहीं, खबर नहीं इन सुख-दुःख की, **अज्ञान के कारण आत्मा को उनका भेदज्ञान नहीं होने से...** है? स्वरूप भगवान आनन्द का नाथ प्रभु और राग-द्वेष, सुख-दुःख की जड़ की अवस्था, दोनों का भेदज्ञान नहीं होने से, दोनों की भिन्नता का ज्ञान नहीं होने से, आहाहा! जैसे गेहूँ में कंकड़ है, वैसे यह राग-द्वेष और सुख-दुःख ये कंकड़ हैं, जड़ के हैं, कहते हैं, ऐसा। वह अज्ञान के कारण, गेहूँ और कंकड़ इकट्ठा पीस डालता है। कंकड़ निकाले बिना कितने ही दलते हैं न कितने ही? और कितनों को पूछे कि बहिन! क्या करती हो? वह कंकड़ बीनती हों, कहती है कि गेहूँ बीनती हूँ, ऐसा बोले भाषा उसकी देखी, सुनी है न? क्योंकि गेहूँ बीनती हूँ, इसका अर्थ क्या कि मूँग और चावल नहीं बीनती, इतना बतलाने के लिये (ऐसा कहते हैं), बाकी बीनती तो है कंकड़, गेहूँ तो बहुत हैं, वे कहाँ बीनने के हैं। समझ में आया?

इसी प्रकार भगवान के गुण तो अनन्त का पार नहीं होता, उन्हें कहाँ पहुँच सकता है! वे कंकड़ मेरे पुण्य और पाप मेरे हैं, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! क्या होगा अब यह ? भाई! प्रभु का मार्ग, जिनेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर अनन्त तीर्थंकर, वर्तमान बीस तीर्थंकर विराजते हैं, परमात्मा साक्षात् केवलज्ञानी लाखों प्रभु मनुष्यक्षेत्र में विराजते हैं। उन सबका यह वाक्य है। 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पन्थ।' आहाहा! परमार्थ का पन्थ जो अन्दर राग और दया, दान के परिणाम से भिन्न, ऐसा जो आत्मा का स्वरूप (है, उसे) अज्ञानी ऐसा न मानकर उन पुण्य और पाप तथा हर्ष-शोक को आत्मा की चीज़ है (ऐसा) अज्ञान के कारण (मानता है)। आत्मा को उनका भेदज्ञान नहीं होने से (ऐसा मानता है)। आहाहा! यह विकल्प जो उठा शुभराग, वह वास्तव में तो पुद्गल की अवस्था निमित्त के सम्बन्ध से हुई, कर्म है तब तक होती है, ऐसा गिनकर वह कर्म का है, पुद्गल का है। ऐसा गिनने में आया है। आहाहा! पंकजभाई! ऐसा कहीं नहीं आता तुम्हारे वहाँ पिता-पुत्र बैठे तब हीरा की बातें करे या तो अमेरिका भेजो इसे भटकने। कहो, समझ में आया ? उसकी बात कहाँ, यह तो सबकी बात है न, सामने बैठे हैं इसलिए... आहाहा!

प्रभु! तूने तेरी चीज़ को वीतराग कहते हैं, वैसी सुनी नहीं, भाई! यह अज्ञान के कारण अर्थात् कि मेरा स्वरूप शुद्ध आनन्द है और यह राग-द्वेष, हर्ष-शोक के परिणाम पुद्गल के-जड़ के उस ओर के झुकाववाले हैं, आहाहा! ऐसी अज्ञान के कारण खबर नहीं होने से, खबर नहीं, इस कारण आत्मा को, आहाहा! **उसका भेदज्ञान नहीं होने से वह ऐसा जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है...** जैसे ज्ञान में शीत-उष्ण अवस्था ज्ञात हो, वहाँ वह जाननेवाला ऐसा मानता है कि मैं शीत और उष्ण हो गया। इसी प्रकार अज्ञानी उसकी दशा में राग-द्वेष और सुख-दुःख हो, उसका भेदज्ञान नहीं, भिन्नपने का (भान नहीं), इसलिए वह मैं हूँ, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा!

यह राग और द्वेष तथा सुख-दुःख का स्वाद... यहाँ स्वाद लिया। अब स्वाद तो भाई! यह मैसूर का स्वाद, मौसम्बी का स्वाद, ऐसा कहलाये न ? वह स्वाद इसे नहीं आता, प्रभु! मौसम्बी का स्वाद इसे नहीं आता। इसका मौसम्बी की ओर लक्ष्य जाता है न ? आहाहा! बहुत प्यास लगी है न ? ठीक, ऐसा राग है, उस राग का स्वाद लेता है।

मौसम्बी का स्वाद नहीं लेता, मैसूर का स्वाद नहीं लेता। मैसूर होता है न? एक सेर आटा चने का और चार सेर घी पिलाये, तब उसे मैसूर कहते हैं और एक सेर गेहूँ का आटा और उसमें चार सेर घी पिलाये, उसे शक्करपारा कहते हैं। यह तो हमने तो सब देखा है, जाना है। आहाहा!

(संवत्) १९८१ का चातुर्मास गढडा में था न तब! तब प्रीतिभोज १९८१ का चातुर्मास गढडा में था न, मैं तब वहाँ था न? किया था शक्करपारा का, गढडा, ८१ की बात है। बहुत-कितने वर्ष हुए? ५४ वर्ष हुए। गढडा-गढडा में जा आये न तुम वहाँ। मूल मेरे बाप-दादा का मूल गाँव तो गढडा है। पिताजी वहाँ के जन्मे हुए हैं, वे वहाँ ८१ के चातुर्मास में प्रीतिभोज के लिये शक्करपारा बनाये थे, किसी लाठीवाला ने, कोई खबर नहीं। लाठीवाला है न पैसेवाले बाहर गाँव बहुत अधिक हैं। वे वहाँ गढडा में, लाठीवाला भायाणी कहलाये न, यह सब खबर है न? वहाँ सब रहते हैं। गढडा में तो हम बहुत वर्ष रहे थे, वह शक्करपारा बनाया। कहा, शक्करपारा अर्थात् क्या? कहे, एक सेर गेहूँ का आटा और चार सेर घी, उसे पिलाकर शक्कर डालकर बनावे, उसे शक्करपारा कहा जाता है। और एक सेर चने का आटा, शक्कर और चार सेर घी पिलाये, उसे मैसूर कहा जाता है। वह मैसूर का स्वाद नहीं आता अब इसे। मैसूर तो जड़ है, धूल है, मिट्टी है परन्तु मैसूर की ओर लक्ष्य जाकर, बहुत अच्छा-ऐसा राग करता है, उस राग का इसे स्वाद आता है। उस राग का स्वाद कहते हैं, वह पुद्गल का है, प्रभु! तेरा नहीं। वह मैसूर का स्वाद तो तेरा नहीं, परन्तु मैसूर की ओर में ठीक लगा कि भाई! ऐसा यह रसगुल्ला होता है दूध का सफेद दूध का पोचा, बिना दाँत के लोग खायें। उस रसगुल्ला का स्वाद नहीं, वह तो जड़-धूल है, वह अजीव है, मिट्टी है और प्रभु तो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श रहित चीज़ है। उस मिट्टी को कैसे? मिट्टी का स्वाद इसे नहीं आता, परन्तु उस ओर लक्ष्य जाकर अनादि का... आहाहा! मीठा है, ऐसा जो राग है, उस राग का स्वाद है।

यहाँ तो कहते हैं कि उस राग का स्वाद, वह जड़ का है, तेरा नहीं, मैसूर का तो नहीं परन्तु उसकी ओर से तुझे ख्याल में आया कि यह ठीक है, ऐसा राग, वह भी तेरा स्वाद नहीं। वह जड़ का स्वाद है। आहाहा! गजब बातें हैं। समझ में आया? इस अज्ञान के कारण ऐसा जानता है कि यह स्वाद मेरा 'ही' है। देखा? है? आहाहा! शीत-उष्ण अवस्था

जड़ की परन्तु ज्ञान का स्वभाव है कि उसे जाने, जानने पर अज्ञानी को ऐसा हो जाता है कि मैं ठण्डा हो गया, मैं गर्म हो गया। आहाहा! इसी प्रकार पुण्य और पाप तथा हर्ष-शोक का भाव पुद्‌गल का स्वाद है, परन्तु अज्ञानी को स्वचीज़ और पर का भेदज्ञान, भिन्नता का नहीं है, इससे अज्ञानी ऐसा मानता है कि वह स्वाद मेरा है, आहाहा! बहुत कठिन काम, ऐसा तो सुनने को मुश्किल से मिले, कहते हैं। क्या लगायी है यह ? प्रत्यक्ष देखते हैं कि मैसूर खाते हैं। उस मैसूर के टुकड़े भी तू नहीं कर सकता। सुन न! वह चूरा होता है, वह उसकी पर्याय से होता है, उसके कारण से। उसका स्वाद तो नहीं, आहाहा! यह स्त्री के शरीर के भोग के समय भी वह भोग इसे शरीर का नहीं है। इसे अनादि से कल्पना है कि यह माँस और हड्डियाँ अच्छे रूपवान ठीक हैं, ऐसी कल्पना, वह राग का स्वाद है। वह राग का स्वाद भी यहाँ, शरीर का तो नहीं परन्तु उस राग का स्वाद, वह जीव का नहीं। आहाहा! वह पुद्‌गल का है। भाई! यह तुझे खबर नहीं, बापू! तेरा स्वाद तो अतीन्द्रिय आनन्द का अन्दर मिठास आवे, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे, वह तेरा स्वाद तो अतीन्द्रिय आनन्द की अन्दर मिठास आवे, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे, वह तेरा स्वाद है। आहाहा!

एकदम अनजान व्यक्ति हो और किसी दिन आया हो तो ऐसा लगे कि यह क्या बात है! अब प्रत्यक्ष कहते हैं कि हमें मैसूर का स्वाद आता है, रसगुल्ला खाते हैं, खट्टा नींबू चूसते हैं, हमें खट्टा ज्ञात होता है। वह बापू! खट्टा है, वह तो जड़ है। वह भगवान खट्टा खट्टे में नहीं जाता और खट्टे का उसे स्वाद है ही नहीं। उसे स्वाद हो, वह खट्टा है, वह मुझे ठीक पड़ेगा, ऐसा जो राग है, उसका उसे स्वाद है और वह भी स्वाद जड़ का है, आत्मा का नहीं। आहाहा! अब ऐसी बातें! वीतराग परमात्मा गणधर और एकावतारी इन्द्रों के बीच यह कहते हैं प्रभु! आहाहा! वह बात यहाँ आयी है। यह। आहाहा!

क्योंकि ज्ञान की स्वच्छता के कारण... ज्ञान का स्वभाव है स्वच्छ। **स्वच्छता के कारण राग-द्वेषादि का स्वाद, शीत-उष्णता की भाँति ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने पर...** क्या कहा यह ? आहाहा! कि ज्ञान स्वरूप है, वह स्वच्छ है, निर्मल अन्दर, उसके कारण राग-द्वेष का स्वाद, किसकी भाँति ? कि शीत-उष्णता की भाँति ज्ञान में प्रतिबिम्बित अर्थात् ज्ञान में ज्ञात होता है, ज्ञान में ज्ञात होता है। ज्ञान में शीत-उष्ण है, ऐसा ज्ञान में ज्ञात होता है; इसी प्रकार इस ज्ञान में राग-द्वेष, सुख-दुःख हैं, ऐसा ज्ञात होता है। जानते हुए यह

मेरा है, ऐसा मान लेता है। आहाहा! समझमें आया ? ऐसा मार्ग है, इन चार लाईन में कितना भरा है, पाँच-छह लाईन में। आहाहा!

यह शीत-उष्णता की भाँति शीत-उष्ण वह ज्ञान में ज्ञात होता है। दर्पण है न दर्पण, कहा न ? दर्पण में अग्नि और बर्फ ऐसे सामने होते हैं, तो अग्नि ऐसे-ऐसे हो, वैसा यहाँ होता है, बर्फ पिघलता जाये तो यहाँ दर्पण में, ऐसा होता है। वह कहीं अग्नि और बर्फ वहाँ नहीं है, वह तो दर्पण की अवस्था है; उसी प्रकार यहाँ तो यह दर्पण तो जड़ है। यह ज्ञान प्रभु दर्पण है, चैतन्य दर्पण, आहाहा! जिसके प्रकाश का कोटिकोटि सूर्य से भी जिसका चैतन्य प्रकाश अनन्त है। करोड़ों-करोड़ों चन्द्र की शीतलता से भगवान की शीतलता अन्दर अनन्त-अनन्त है। सागरों के गम्भीर के पानी की अपेक्षा सैकड़ों सागर और उनकी गम्भीरता से आत्मा के अनन्त गुणों की गम्भीरता अनन्त है। आकाश के छोर का पार नहीं- अव्यापक है, व्यापक, ऐसे और ऐसे हो गया, वह कहीं पूरा नहीं कहीं, उसी प्रकार भगवान के अनन्त गुणों का कहीं पार नहीं है। ऐसे भगवान के-आत्मा के गुणों का जिसे ज्ञान नहीं, वह यह राग-द्वेष और सुख-दुःख की कल्पना ज्ञान में ज्ञात होती है, उसे मान लेता है कि मेरी है।

मुमुक्षु : बड़ी में बड़ी भूल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपनी बड़ी भूल, बापू! यह मिथ्यात्व। अरे! लोगों को अभी मिथ्यात्व अर्थात् क्या ? और मिथ्यात्व का अनन्त पाप, कि जिसके गर्भ में निगोद और नरक है, बापू! आहाहा! वह यह देह छूटकर भगवान तो-आत्मा तो रहनेवाला है। कहाँ रहेगा ? जिसकी ऐसी दृष्टि है कि राग-द्वेष और सुख-दुःख मेरे हैं, वह मिथ्यात्व में वहाँ रहेगा, दुःखी होकर रहेगा। चार गति में। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, जैसे वह शीत-उष्ण, ज्ञान का स्वच्छ स्वभाव है, उस ज्ञान में ज्ञात होते हैं कि यह शीत-उष्ण है, ऐसे ज्ञान की स्वच्छता में, प्रभु चैतन्य के प्रकाश की स्वच्छता में यह राग-द्वेष सुख-दुःख की झलक प्रतिबिम्ब ज्ञात होता है, बिम्ब वह चीज़ और उसका यहाँ प्रतिबिम्ब पड़े अर्थात् ज्ञान में ज्ञात हो, वहाँ यह अज्ञानी ऐसा मान लेता है कि राग-द्वेष और सुख-दुःख मेरे हैं। आहाहा! समझ में आया ?

यह **शीत-उष्णता की भाँति ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने पर...** प्रतिबिम्बित, समझ में आता है ? दर्पण है न, सामने अग्नि और बर्फ हो, वह बिम्ब कहलाता है और इसे प्रतिबिम्ब कहा जाता है। उसकी छाया पड़े, वह। बिम्ब-प्रतिबिम्ब। यह भगवान की मूर्ति है, वह प्रतिबिम्ब है। भगवान जो थे वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ, वे बिम्ब, उनका यह प्रतिबिम्ब, रूप है मूर्ति तो। समझ में आया ? ऐसे दर्पण में जो बाहर चीज़ हो, उसे बिम्ब कहा जाता है और उसमें छाया दिखाई दे, उसे प्रतिबिम्ब कहा जाता है। उसी प्रकार आत्मा ज्ञानदर्पण है, उसमें हर्ष-शोक और राग-द्वेष के परिणाम बिम्ब हैं, उनका यहाँ प्रतिबिम्ब हो, अर्थात् ज्ञात हो, जानने पर वह ऐसा मान लेता है कि यह मेरे हैं। आहाहा!

बहुत कठिन काम, बापू! जन्म-मरणरहित होने की भगवान की जो कला सम्यग्दर्शन, वह कोई अलौकिक चीज़ है, उसकी तो अभी कोई कीमत नहीं। अभी तो बस सम्यग्दर्शन-बर्शन कुछ नहीं। व्रत पालो, भक्ति करो, यह करो, यह पालो, दूसरे को मदद करो। आहाहा! और सुननेवालों को भी अच्छा पड़े और ठीक लगे। ऐसा समझ में तो आये। अब यह क्या समझना, उसमें कहीं। आहाहा! यहाँ तो परमात्मा त्रिलोकनाथ की वाणी में-दिव्यध्वनि की आवाज में आया उसे प्रवचनसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने रचा, आहाहा! उसमें अमृतचन्द्राचार्य ने उसकी टीका की और स्पष्टीकरण किया। परमात्मा ऐसा कहना चाहते हैं। समझ में आया ? आहाहा!

शीत-उष्णता की भाँति ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने पर मानो ज्ञान ही राग-द्वेष हो गया हो... देखो! वह शीत-उष्ण ज्ञात होने पर मानो मैं शीत-उष्ण हो गया, उसी प्रकार ज्ञान में राग और सुख-दुःख ज्ञात हो, तब मानो ज्ञान ही राग-द्वेष हो गया। आहाहा! अधिकार तो बहुत अच्छा है, बहुत ऊँचा है। यह पर में वास्तु लेता है, कहते हैं, परन्तु प्रभु यह आनन्द का नाथ अन्दर है, राग और द्वेष और सुख-दुःख की कल्पना से भिन्न है, उसमें ही दृष्टि करके वास नहीं लेता। यह उसका नाम वास्तु है, बाकी यह तो सब वास्तु सब धूल की बाहर की बातें हैं। आहाहा! निज घर बसे, उसे वास्तु कहते हैं। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि इसे घर की खबर नहीं न ? मेरा घर अन्दर आनन्द और शान्ति के स्वभाव से भरपूर प्रभु, मेरी दशा तो शान्ति और आनन्द की मेरी दशा होती है, जो गुण है, वैसी ही उसकी दशा

होती है। ऐसा न जानकर, ज्ञान में यह हर्ष-शोक और सुख-दुःख ज्ञात होते हैं, जानने पर अज्ञान के कारण ज्ञान मानो मैं सुख-दुःखरूप हो गया, यह राग-द्वेष की भक्ति आदि के परिणामरूप हो गया। आहाहा! है? **मानो कि ज्ञान ही राग-द्वेष हो गया...** ऐसा, राग-द्वेष-सुख-दुःख आदि लेना, **इस प्रकार अज्ञानी को भासित होता है।** है? आहाहा!

माल आया है माल। आहाहा! सुनने तो आये हैं निवृत्त (होकर)। यह तो भगवान आत्मा की बात बापू! यह कोई पक्ष नहीं, यह कोई सम्प्रदाय नहीं, यह तो तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की वाणी, उसमें जो माल आया वह माल यहाँ रचा गया है। बाबूभाई! आहाहा! यह गोदाम में नहीं? यहाँ प्रभु आत्मा तो अनन्त गुण का गोदाम है, नाथ! यह राग और द्वेष, हर्ष-शोक उसमें नहीं है, वह अनन्त गुण का गोदाम है। आहाहा! हमारे पालेज के लड़के हैं न, बड़े गोदाम, तेरह तो बड़े गोदाम हैं, पचास-पचास, साठ-साठ हजार का एक, अभी तो कीमत बड़ी हो गयी है, सब लड़के पैसेवाले हैं। अभी अलग हो गये हैं। चालीस लाख रुपये हैं, तीन-चार लाख की आमदनी थी। इकट्ठे थे तब। अब अलग हो गये हैं, अब। रोने लगे, कहा न आठ दिन रहे अभी, यह मागसर शुक्ल ग्यारस।

सहज ऐसा आया कि दसमीं को मूहूर्त था वडोदरा में मन्दिर का, नया। दो लाख की जमीन ली थी और पाँच लाख का मन्दिर और सर्दी में निकलते नहीं, ठण्ड लगती है न, परन्तु इस कारण से निकले। फिर हमारे उन्हें ग्यारस का मुहूर्त था मन्दिर का। बाईस वर्ष हुए थे, तेईसवाँ वर्ष लगता था, मन्दिर बनाया है न ४५-५० हजार वह तब। ग्यारस को गये तब उसे (पालेज जिन मन्दिर को) तेईसवाँ वर्ष लगता था, फिर आठ दिन रहे थे। सब सुनते थे बेचारे। उठे तब विहार किया, वे रोवे... रोवे... रोवे... अरे! अरे! हमारा समवसरण बिखर जायेगा। लड़का छोटा था उसने गाया था गायन बनाया था। अरे रे! हमारा हमेशा कोई नहीं।

मुमुक्षु : नटु ने, नटु ने।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ नटु-नटु ने गाया था। कुँवरजी जादवजी दुकान उसे मिली है, दूसरे दो को अलग दुकानें मिली हैं। आहाहा! क्या भाषा थी! हमारा कोई नहीं हमें कोई बचाओ रे, गायन जोड़ा था। बापू! नहीं तो व्यापारी है परन्तु... हमें कोई बचाओ रे हम कहाँ

जायेंगे ? यह क्या होगा हमारा ? बेचारे पैसेवाले हैं, परन्तु यहाँ के हमारे ऊपर बहुत प्रेम है, हम तो वहाँ दुकान में थे, वहाँ बहुत प्रेम। वे तीनों रोने लगे। मनसुख, नटु। अरे रे! हमको हमारा सब बिखर जायेगा, लो! आठ-आठ दिन हमें लाभ मिला। प्रेम है न ? अरे! यह यहाँ तो कहते हैं, वह प्रेम, वह राग है, वह भी तेरा स्वरूप नहीं है, ले! आहाहा!

उस अज्ञानी को ऐसा भासित होता है कि यह राग-द्वेष और सुख-दुःख मेरी दशा है, क्योंकि इसके स्वरूप का राग-द्वेष और सुख-दुःख की दशा से भिन्न स्वरूप है, उसकी इसे खबर नहीं। अज्ञान है, मिथ्यात्व है। आहाहा! उसके कारण यह राग-द्वेष हुए—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि आहाहा! वे मेरे हैं, ऐसा अज्ञानी को भासित होता है, परन्तु मैं अन्दर आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु हूँ, ऐसा भासित नहीं होता। आहाहा!

इसलिए वह यह मानता है... है ? **कि मैं रागी हूँ...** है ? यह राग, वह मैं हूँ, मैं रागी हूँ। आहाहा! भगवान तो अनाकुल वीतरागी मूर्ति आत्मा है। 'घट-घट अन्तर जिन बसे, घट-घट अन्तर जैन, मत मदिरा के पान सो मतवाला समझे न।' बनारसीदास, बहुत श्रृंगारी थे, व्यभिचारी (श्रृंगाररस के कवि) थे, बाद में जब धर्म प्राप्त हुआ, आहाहा! फिर उन्होंने यह ऐसा बनाया, बनारसीदास 'घट-घट अन्तर जिन बसे, घट-घट अन्तर जैन, मत मदिरा के पान सो मतवाला समझे न।' अपने मत के पागल अभिप्रायवाले, अन्दर जिनस्वरूपी विराजमान आत्मा है, वह जिनस्वरूपी प्रभु इस राग को अज्ञान के कारण **मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं क्रोधी हूँ...** आहाहा! जरा क्रोध आया न, वह वास्तव में तो जड़ की दशा है, परन्तु उससे भिन्नता का भान नहीं है, इसलिए मैं क्रोधी हूँ। लोग नहीं कहते, मेरी प्रकृति कठोर है। ऐसा कितने ही कहते हैं, बातें करते हुए कहते हैं, मेरे सामने बोलना नहीं। अरे! परन्तु प्रकृति क्रोध है, वह कहाँ तेरा स्वभाव है। आहा! **मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ...** मैं मानी हूँ, ऐसा कहते हैं, मानी, मैं कहीं कोमलता नहीं बताता, अक्खड़ हूँ। **इत्यादि। इस प्रकार अज्ञानी जीव राग-द्वेषादि का कर्ता होता है।** लो, इस प्रकार अज्ञानी राग और द्वेष का कर्ता होता है, ज्ञानी उनका कर्ता नहीं होता। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–९३

ज्ञानात्तु कर्म न प्रभवतीत्याह–

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माण–मकारगो होदि।।९३।।

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन्।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति।।९३।।

अयं किल ज्ञानादात्मा परात्मनोः परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति परमात्मानम–कुर्वन्नात्मानं च परमकुर्वन्स्वयं ज्ञानमयीभूतः कर्मणामकर्ता प्रतिभाति।

तथाहि – तथाविधानुभवसम्पादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसम्पादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यन्तभिन्नायास्तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यन्तभिन्नस्य ज्ञानात्परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति नानात्वविवेकाच्छीतोष्णरूपेणेवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना मनागप्यपरिणममानो ज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रकटी–कुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः एषोऽहं जानाम्येव, रज्यते तु पुद्गल इत्यादिविधिना समग्रस्यापि रागादेः कर्मणो ज्ञानविरुद्धस्याकर्ता प्रतिभाति।।९३।।

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञान से कर्म उत्पन्न नहीं होता :–

पर को नहीं निजरूप अरु निज आत्म को नहिं पर करे।
यह ज्ञानमय आत्मा अकारक कर्म का ऐसे बने।।९३।।

गाथार्थ : [परम्] जो पर को [आत्मानम्] अपनेरूप [अकुर्वन्] नहीं करता [च] और [आत्मानम् अपि] अपने को भी [परम्] पर [अकुर्वन्] नहीं करता [सः] वह [ज्ञानमयः जीवः] ज्ञानमय जीव [कर्मणाम्] कर्मों का [अकारकः भवति] अकर्ता होता है अर्थात् कर्ता नहीं होता।

टीका : यह आत्मा जब ज्ञान से पर का और अपना परस्पर विशेष (अन्तर) जानता है, तब पर को अपनेरूप और अपने को पर नहीं करता हुआ, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ, कर्मों का अकर्ता प्रतिभासित होता है। इसी को स्पष्टतया समझाते हैं :- जैसे शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ, ऐसी शीत-उष्ण पुद्‌गलपरिणाम की अवस्था पुद्‌गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्‌गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है; उसी प्रकार वैसा अनुभव कराने में समर्थ ऐसी रागद्वेषसुखदु:खादिरूप पुद्‌गलपरिणाम की अवस्था पुद्‌गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्‌गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है। जब ज्ञान के कारण आत्मा उस रागद्वेषसुखदु:खादि का और उसके अनुभव का परस्पर विशेष जानता है तब, वे एक नहीं किन्तु भिन्न हैं, ऐसे विवेक (भेदज्ञान) के कारण शीत-उष्ण की भाँति (जैसे शीत-उष्णरूप आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है उसी प्रकार), जिनके रूप में आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है, ऐसे रागद्वेषसुखदु:खादिरूप से अज्ञानात्मा के द्वारा किंचित्‌मात्र परिणमित न होता हुआ, ज्ञान का ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ, 'यह मैं (राग को) जानता ही हूँ, रागी तो पुद्‌गल है (अर्थात् राग तो पुद्‌गल करता है)' इत्यादि विधि से, ज्ञान से विरुद्ध समस्त रागादि कर्म का अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ : जब आत्मा रागद्वेषसुखदु:खादि अवस्था को ज्ञान से भिन्न जानता है अर्थात् 'जैसे शीत-उष्णता पुद्‌गल की अवस्था है, उसी प्रकार रागद्वेषादि भी पुद्‌गल की अवस्था है', ऐसा भेदज्ञान होता है, तब अपने को ज्ञाता जानता है और रागादिरूप पुद्‌गल को जानता है। ऐसा होने पर, रागादि का कर्ता आत्मा नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है।।९३।।

प्रवचन नं. १८५, गाथा-९३, दिनांक ०२-०२-१९७९, शुक्रवार, माघ शुक्ल-६

श्री समयसार, ९३ गाथा। गाथा के ऊपर की एक पंक्ति।

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञान से कर्म उत्पन्न नहीं होता। क्या कहा यह ? कि जिसे

धर्मदृष्टि प्रगट होती है, पुण्य और पाप के भाव जो दया, दान, व्रत आदि के, राग, उस राग से आत्मा भिन्न है, ऐसा जिसे आत्मज्ञान होता है, अर्थात् कि सम्यग्दर्शन होता है, उस ज्ञानी को ज्ञान से राग की उत्पत्ति नहीं होती। आहाहा!

धर्मी जीव जिसे कहते हैं, वह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से भी मेरा स्वरूप भिन्न है, ऐसा उसे अनुभव होता है। सूक्ष्म बात है। आहाहा! ऐसा जिसे राग के विकल्प से स्वरूप भगवान आत्मा भिन्न है, ऐसा जिसे अन्तर्भेदज्ञान हुआ अर्थात् कि पर से भिन्न और अपने स्वभाव से अभिन्न, ऐसा अन्तर में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ, उस ज्ञान से राग की उत्पत्ति नहीं होती। आहाहा! ऐसी बात है। राग उसे होता है परन्तु उस राग को अपना मानकर, राग को उत्पन्न नहीं करता। आहाहा! यह बात करते हैं। ९३ (गाथा)।

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माण-मकारगो होदि ।।९३।।

पर को नहीं निजरूप अरु निज आत्म को नहिं पर करे।
यह ज्ञानमय आत्मा अकारक कर्म का ऐसे बने।।९३।।

आहा! यहाँ तो जिसे प्रथम धर्मदृष्टि हुई, उसकी बात है। अनादि अज्ञान से राग उत्पन्न करता है, यह बात ९२ (गाथा) में गयी। यह दया, दान, व्रत, तप का विकल्प जो राग, वह मेरा है और मुझे लाभदायक है, ऐसा जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि, उसे अज्ञान से राग की उत्पत्ति होती है, वह राग का कर्ता होकर राग में एकाकार होता है। अरे! ऐसी बात! धर्मी, जिसे आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है और यह शुभ-अशुभराग, वह वास्तव में कर्म की-पुद्गल की दशा है, मेरी दशा नहीं। धर्मी की दशा तो ज्ञान और आनन्द की अवस्था हो, वह उसकी दशा है। आहाहा! कहो, यह यहाँ बात करते हैं, देखो!

टीका - यह आत्मा जब ज्ञान से... टीका है न? पहला शब्द है। सूक्ष्म बात है। **यह आत्मा जब ज्ञान से...** अर्थात् आत्मा का जहाँ ज्ञान हुआ है, राग के विकल्प से भिन्न पड़कर, यह **आत्मा जब ज्ञान से पर का और अपना परस्पर विशेष (अन्तर) जानता है तब...** यह दया, दान, व्रत, भक्ति, शुभ-अशुभभाव को पर जानता है और अपने को आनन्द और ज्ञानमय जानता है। आहाहा! है? पर का और अपना, पर अर्थात् शुभ-अशुभराग और स्वयं

ज्ञानानन्दस्वरूप, दोनों का परस्पर, राग से मैं भिन्न और मुझसे वह भिन्न। आहाहा! समझ में आया?

(गाथा) ९३, ९३। धर्म की पहली दृष्टि सम्यग्दर्शन होने पर, अभी चौथा गुणस्थान (होने पर), श्रावक तो बाद में। अभी तो यह वस्तु दृष्टि नहीं, वहाँ श्रावक कहाँ से? साधु कहाँ जाये! यहाँ तो प्रथम नवतत्त्व में पुण्य-पाप का तत्त्व, वह रागादि भिन्न है, पृथक् है। मेरा तत्त्व ज्ञायकस्वरूप वह पृथक् है, इस प्रकार पर और अपनी परस्पर भिन्नता जानता हुआ, राग से मैं भिन्न हूँ और मेरे आत्मा के आनन्द के ज्ञान से राग भिन्न है। आहाहा! ऐसा जो ज्ञान का **परस्पर विशेष (अन्तर) जानता है, तब पर को अपनेरूप नहीं करता हुआ...** आहाहा! यह रागादि विकल्प उठे, उसे धर्मी जीव अपना नहीं मानता, अपना नहीं करता, **और अपने को पर नहीं करता हुआ...** स्वयं ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप प्रभु जिनस्वरूप वीतरागस्वरूप आत्मा वीतरागस्वरूप को रागरूप न करता हुआ, राग को वीतरागस्वरूप में न लाता हुआ, आहाहा! वीतराग अर्थात् आत्मा अभी, हों! आहाहा!

जिनस्वरूपी प्रभु भगवान आत्मा, वह वीतराग की मूर्ति चैतन्यमूर्ति। आहाहा! यह सूर्य जब ऐसे फिरा और जरा ऐसे थोड़ा फिरता है। ऐसे था और पाट पर बैठे तो सूर्य सामने आया था, पहले ऐसे आड़ा रहता था। उसमें भगवान की शाश्वत् प्रतिमायें हैं, मन्दिर हैं, अन्दर जिनमन्दिर है। कहा। यह जैसे अकृत्रिम प्रतिमा शाश्वत् है, उसी प्रकार यह भगवान जिनप्रतिमा वस्तु वह शाश्वत् है। आहाहा! समझ में आया? भरत चक्रवर्ती को पाँच विशाल महल होते हैं, उन महल के ऊपर रहकर सूर्य, जिसमें प्रतिमा, भगवान का मन्दिर है, उन प्रतिमा के दर्शन करते थे, इतनी अधिक आँख की तीव्रता थी। वे अन्दर भगवान का मन्दिर है, वहाँ प्रतिमा है। वे देव उन्हें वन्दन करते हैं। यह लोग सवेरे सूर्यनारायण को वन्दन करते हैं न? वह सूरज नारायण सूरज पत्थर को नहीं, परन्तु लोग समझते नहीं, इसलिए यह सूर्यनारायण कहते हैं। अन्दर जिनप्रतिमा शाश्वत् है। आहाहा! अकृत्रिम, नयी नहीं हुई, अनादि से चैतन्य जिनप्रतिमा वहाँ है।

जैसे यह अकृत्रिम जिनप्रतिमा शाश्वत् है, उसी प्रकार इस देह में भगवान जिनस्वरूपी आत्मा, अकृत्रिम जिनप्रतिमा अनादि की है। आहाहा! ऐसा जिनप्रतिमा प्रभु, अर्थात्? वीतराग स्वरूपी आत्मा, और राग स्वरूपी विकार, इस राग को धर्मी अपने में न करता हुआ, और

आत्मा को रागरूप नहीं बनाता हुआ। आहाहा! ऐसा है, है ?

पर को अपने रूप नहीं करता हुआ... पर अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का विकल्प राग। वह राग पर है, उसे अपनेरूप—आत्मा जिनस्वरूपी प्रभु, उस राग को जिन-स्वरूप में न लेता हुआ **और अपने को पर नहीं करता हुआ...** वीतरागस्वरूप को रागरूप नहीं करता हुआ। राग को वीतरागस्वरूप में न लाता हुआ जिनस्वरूपी प्रभु है। आहाहा! कठिन काम! अभी, हों! अनादि अनन्त। आहाहा!

जैसे अकृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमा सूर्य में, चन्द्र में, असंख्य द्वीप समुद्र में है, देवलोक में है, सौधर्म आदि देवलोक में जिन प्रतिमायें शाश्वत् हैं, इनके अतिरिक्त नन्दीश्वर द्वीप में बावन जिनालय है। आठवें द्वीप में, एक सौ आठ रत्न की शाश्वत् प्रतिमायें हैं। उसी प्रकार यह भगवान आत्मा राग के विकल्प से भिन्न, जिनस्वरूपी अकृत्रिम प्रतिमा चैतन्य प्रतिमा यह आत्मा अनादि का है। आहाहा! यह ऐसी बातें अब। यह कहते हैं, ऐसी जिनप्रतिमा... श्रीमद् में ऐसा कहते हैं एक बार चैतन्य प्रतिमा हो... चैतन्य प्रतिमा हो... आता है उसमें। आहाहा! जिसे जिनस्वरूपी आत्मा का जिसे ज्ञान और अनुभव हुआ है, धर्मी को, वह धर्मी राग को 'वह मेरा है', ऐसा नहीं करता तथा आत्मा को रागरूप हुआ नहीं मानता। आहाहा!

पर को नहीं करता, **स्वयं ज्ञानमय होता हुआ...** ज्ञानमय अर्थात् वीतरागस्वरूप आत्मा है, उसे ज्ञानप्रधान से वीतरागमय, ज्ञानमय होता हुआ, जाननेवाला होता हुआ, जाननेवाले को जाननेवाले के रूप में रखता हुआ, आहाहा! **स्वयं ज्ञानमय होता हुआ...** जाननस्वभाव, आनन्दस्वभाव, वीतरागस्वभाव, उस वीतरागस्वभावरूपी दशारूप होता हुआ, आहाहा! **कर्मों का अकर्ता प्रतिभासित होता है...** कर्म शब्द से (आशय) जो दया, दान, पूजा, भक्ति, अपवास का विकल्प जो राग उठता है, उस राग का ज्ञानी अकर्ता प्रतिभासित होता है। आहाहा! यह गाथा बहुत अच्छी आयी है।

यह लाखों के और कराड़ों के दान दे, इसलिए उसे धर्म हो जाये, ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। और उसमें राग की मन्दता हो तो पुण्य हो तो धर्मी तो उस पुण्य के परिणाम को अपना नहीं करता। आहाहा! बन्ध-राग है, यह ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : थोड़ा पुण्यभाव हो तो काम तो आवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी (नहीं), काम आवे न? वह पुण्यपरिणाम मेरा है, यह मिथ्यात्वभाव आवे। इन्होंने बहुत लंघन की थी न, वर्षीतप की। हमारे प्रवीणभाई आये हैं न? उनके काका हों न? आहाहा! यहाँ तो....

मुमुक्षु : हमारे हीरा धूलधाणी हो गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूलधाणी, भाई ने कहा नहीं था?

मुमुक्षु : यहाँ तो आपका हीरा चालू है, चैतन्य चिन्तामणि।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हीरा है, यह चैतन्य चिन्तामणि है। गाया था न यह, किसने गाया था, बनाया था कंचनबेन ने? हाँ, कंचनबेन-कोई कहता था सवेरे। आहाहा! जिसमें अनन्त वीतरागी गुणों का पुंज पड़ा है, जिसमें राग के अंश का सम्बन्ध नहीं, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, ऐसा जो राग, वह समकिती को होता है, तथापि उस राग का आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! यह कहते हैं।

स्वयं ज्ञानमय होता हुआ... जाननस्वभाव भगवान आत्मा प्रज्ञाब्रह्म, ज्ञान और आनन्द की मूर्ति प्रभु है, उसे—राग को अपना नहीं करता हुआ धर्मी, राग से भिन्न अपने को ज्ञानमय और वीतराग की पर्यायमय करता हुआ,... आहाहा! है? **कर्मों का अकर्ता प्रतिभासित होता है।** कर्म शब्द से दया, दान का जो राग है, वह भावकर्म है। आहाहा! उस भावकर्म का ज्ञानी अकता भासित होता है, उसका कर्ता वह ज्ञानी नहीं होता। आहाहा! भारी कठिन काम।

इसी को स्पष्टतया समझाते हैं... यह जो कहा, उसे अब स्पष्टता से समझाया जाता है। **जैसे शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्गल परिणाम की अवस्था...** शीत और उष्ण, वह जड़ की अवस्था। अग्नि गर्म और बर्फ शीतल, वह सब जड़ की अवस्था, **पुद्गल से अभिन्नता के कारण...** यह शीत और उष्ण अवस्था, वह पुद्गल से एकमेक पुद्गल की है, **आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है...** यह शीत और उष्ण की अवस्था पुद्गल से अभिन्न एकमेक है और आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। शीत-उष्ण अवस्था। **और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव आत्मा से**

अभिन्नता के कारण... आहाहा! शीत-उष्ण का जो यहाँ ज्ञान हुआ, वह ज्ञान हुआ, वह स्वयं से अभिन्न है और शीतल-शीत उष्ण अवस्था वह पुद्गल से अभिन्न है और आत्मा से भिन्न है, और वह पुद्गल शीतल-शीत और उष्ण अवस्था का यहाँ ज्ञान हुआ स्वयं से, वह ज्ञान अवस्था और राग अवस्था दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। आहाहा!

ऐसा है, सूक्ष्म। अभी तो सम्यग्दर्शन होने पर उसकी कैसी दशा होती है, 'भेदविज्ञान जग्या जिन के घट' राग के विकृत की दशा, दया, दान, व्रत और तप की, अपवास की क्रिया, वह राग है। उससे...

भेदविज्ञान जग्यो जिन के घट,
शीतल चित्त भयो जिम चन्दन,
केलि करे शिव मारग में,
जगमांहि जिनेश्वर के लघुनन्दन॥

आहाहा! यह राग से भी भगवान आत्मा भिन्न है, ऐसा ज्ञानी धर्मी अपने शीतल-शीत आनन्दस्वभाव को अनुभव करता हुआ,... आहाहा! 'शीतल चित्त भयो जिम चन्दन' जैसे चन्दन शीतल होता है, वैसे ज्ञानी की—धर्मी की प्रथम श्रेणी की दशा में राग की आकुलता से भिन्न पड़ा हुआ प्रभु, उसका ज्ञान और अनुभव होने पर पर्याय में शीतलता शान्ति और आनन्द आता है। 'शीतल चित्त भयो जिम चन्दन, केलि करे शिव मारग में जगमांहि जिनेश्वर के लघुनन्दन।' यह तीर्थंकर त्रिलोक के नाथ का छोटा पुत्र है, लघुनन्दन। साधु हैं, वे बड़े पुत्र हैं। परन्तु वह साधु किसे कहना, बापू! यह तो अभी तो, आहाहा! यह साधु है वह बड़ा पुत्र है और समकिती है, वह लघुनन्दन है। आहाहा!

परन्तु कौन? 'भेदविज्ञान जग्यो जिन के घट।' यह राग के विकल्प की क्रिया से भी प्रभु! मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा जिसे अन्तर भेदज्ञान हुआ। 'भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट, शीतल चित्त भयो जिम चन्दन, शीतल चित्त भयो जिम चन्दन।' आहाहा! शान्ति... शान्ति... शान्ति... अरागी शान्ति, ऐसी चित्त में जागृति जगी। आहाहा! केलि करे शिवमारग में। वह समकिती मोक्षमार्ग में केलि करता है, क्रीड़ा करता है। आहाहा! राग की क्रीड़ा जिसने छोड़ दी है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। 'केलि करे शिवमारग में जगमांही जिनेश्वर के

लघुनन्दन।' तीन लोक के नाथ जिनेश्वर केवली परमात्मा का वह भेदविज्ञानी, छोटा नन्दन—पुत्र है। आहाहा! और पाँचवें गुणस्थान में श्रावक जो होता है, इस सम्यग्दर्शन उपरान्त शान्ति जो बढ़ जाये, वह मध्यम पुत्र है और सन्त जो साधु, मुनि, नग्न दिगम्बर और अन्दर में आनन्द की केलि करते हैं, वह भगवान का बड़ा पुत्र है। आहाहा! गजब बात, भाई!

ऐसा कहते हैं, कि यह राग का भाव है, शरीर तो पृथक् धूल मिट्टी जड़, उसकी तो यहाँ बात है नहीं। इसी तरह अन्दर शुभराग होता है, उसे वह बहिर्वस्तु है, वह अन्तर में चीज़ नहीं, अन्तर जो चीज़ अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसमें वह राग नहीं। वह दया, दान, व्रत, भक्ति का जो राग है, उसे अपना मानता है, वह बालक—बहिर् आत्मा है, वह बालक है, अज्ञानी है। और उस राग से भिन्न आत्मा अपना शुद्ध चैतन्यमूर्ति, उसे जिसने जाना और अनुभव किया है, वह जवान-युवक वह आत्मा का जवान जीव हुआ है, उसे जवानी लागू पड़ी है। आहाहा! यह (शरीर की) जवानी तो जड़ की है, वृद्धावस्था, बाल। यह तो अन्दर में भगवान जिनस्वरूपी प्रभु को रागवाला माने, वह बालक—बहिरात्मा / मिथ्यादृष्टि / मूढ़ है। आहाहा! और उस राग से भिन्न पड़कर अन्तरात्मा वस्तु जिनस्वरूपी को जाने-अनुभव करे, वह धर्म में धर्मी जवानी में आया। उसे जवानी जगी, और वह जब केवलज्ञान पाता है, तब वह आत्मा वृद्ध हुआ। धर्म में, आहाहा!

ऐसी बातें हैं, जगत से बहुत अलग पड़ती है। बहुत अन्तर है, इसलिए लोग विरोध करते हैं न? अरे भगवान! उसे चलता सम्प्रदाय है, वह भी सब धर्मी हैं, ऐसा उसे मानवाना है, अरे प्रभु! उसमें हित क्या है, भाई? हित का पन्थ तो जगा नहीं, और तू उसे साधर्मी ठहराता है! आहाहा!

चैतन्य हीरा अन्दर अनन्त-अनन्त गुण और धर्म अर्थात् स्वभाव से भरपूर प्रभु, वह जिनस्वरूपी प्रभु, जिनस्वरूपी अन्तर में विराजता है। वह जिनस्वरूप न हो तो परमात्मा को वीतरागता हुई, वह कहाँ से आयी? कहीं बाहर से आती है? आहाहा! चौंसठ पहरी पीपर जो है, लैंडीपीपर, उसकी चौंसठ पहरी शक्ति अन्दर पड़ी है, पूर्ण चौंसठ पहरी, चौंसठ अर्थात् रुपया-सोलह आना। उसे घोंटने से अन्दर जो थी चौंसठ पहरी अर्थात्

सोलह आना अर्थात् रुपया—पूर्ण चरपराहट, वह बाहर आती है। वह थी, वह बाहर आती है; उसी प्रकार इस भगवान आत्मा में चौंसठ पहरी अर्थात् रुपया-रुपया (पूर्ण) आनन्द, ज्ञान और शान्ति ऐसे अनन्त गुण पूर्ण भरे हैं। आहाहा!

अब ऐसी बातें, वीतराग त्रिलोकनाथ भगवान परमात्मा ऐसा फरमाते हैं। यह चौंसठ अर्थात् पूर्ण स्वरूप भगवान (आत्मा), उसके बाहर में राग आदि हों, उन्हें अपना माने, वह मिथ्यादृष्टि है, बहिरात्मा है, अज्ञानी है। और यह पूर्णानन्द का नाथ प्रभु जिनस्वरूपी मैं हूँ, यह राग मैं नहीं, भले राग हो परन्तु राग का कर्ता नहीं, राग का जाननेवाला रहे, यह मध्यम युवक दशा और मध्यम अन्तर आत्मा। जघन्य चौथे से शुरु होता है, पश्चात् विशेष मध्यम अन्तर (आत्मा) आवे और अन्तर पूर्णदशा प्रगट हो, वह परमात्मदशा, अरिहन्त की दशा, केवली परमात्मा की दशा, वह यहाँ जघन्य दर्शन से, मध्यम की बातें हैं यहाँ अभी। है?

जैसे इस शीत-उष्णता का अनुभव कराने में समर्थ... शीत-उष्ण अवस्था तो यहाँ शीत-उष्ण का ज्ञान कराने में वह निमित्त है। शीत-उष्ण अवस्था पुद्गल की, यहाँ ज्ञान में शीत-उष्ण का ज्ञान हो, उस ज्ञान में वह निमित्त है। यह स्पष्टता की जाती है। **ऐसी शीत-उष्ण पुद्गल परिणाम की अवस्था...** पुद्गल परिणाम की अवस्था, पुद्गल द्रव्य है, उसके परिणाम-परिणति की अवस्था, **पुद्गल से अभिन्नता के कारण...** शीत-उष्ण अवस्था पुद्गल परमाणु से एकमेक है, **आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव,...** शीत और उष्ण अवस्था का यहाँ ज्ञान होता है, उस ज्ञान में वह निमित्त है। **आत्मा से अभिन्नता के कारण...** यह ज्ञान हुआ, वह आत्मा से भिन्न नहीं है। शीत-उष्ण अवस्था भिन्न है परन्तु शीत-उष्ण अवस्था का यहाँ ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्मा से अभिन्न, एकमेक है। आहाहा!

पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है। यह शीत-उष्ण का यहाँ ज्ञान हुआ, यह ज्ञान हुआ है स्वयं से, परन्तु ऐसा कहा जाता है कि शीत-उष्ण के कारण यहाँ हुआ है। परन्तु हुआ है तो वह स्वयं से, परन्तु उस शीत-उष्ण की अवस्था का ज्ञान, वह ज्ञान आत्मा से एकमेक है, और वह ज्ञान पुद्गल की अवस्था से अत्यन्त भिन्न है। शीत-उष्ण की अवस्था से भिन्न है।

अब ऐसी बातें, ऐसा उपदेश! ऐसा धर्म किस प्रकार का कहे? आहाहा! बापू! यह वीतराग का मार्ग प्रभु जिनेश्वर, तीन लोक के नाथ उनकी रीति और मार्ग कोई अलग है, बापू! आहाहा! अरे! जिसे ऐसा सत्य सुनने को न मिले, वह कब विचार करे और कब उसकी अन्तर में रुचि करे? आहाहा! दुर्लभ वस्तु हो गयी है, प्रभु! आहाहा!

यह दृष्टान्त शीत-उष्ण का दिया, कि शीत-उष्ण अवस्था पुद्गल के साथ है, आत्मा से अत्यन्त भिन्न है और शीत-उष्ण अवस्था का यहाँ ज्ञान होना, वह ज्ञान पुद्गल से भिन्न है और आत्मा से अभिन्न है, कहो, दृष्टान्त बराबर समझ में आया? अब आत्मा में, अब आत्मा में, इसका सिद्धान्त उतारते हैं। आहाहा!

उसी प्रकार... है न? 'जैसे' अन्दर था न, शीत-उष्ण का अनुभव, **उसी प्रकार वैसा अनुभव कराने में समर्थ ऐसी राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप पुद्गल परिणाम की अवस्था...** आहाहा! अन्दर में जो कोई राग हो, दया का, दान का, व्रत का, भक्ति का, दान का, वह शुभराग है, आहाहा! और अन्दर में द्वेष हो कदाचित् प्रतिकूल हो तो, और उसमें सुख की कल्पना हो, अनुकूल पैसा स्त्री, कुटुम्ब आदि, राजपाट अनुकूल हो, शरीर निरोगी हो और उसमें लड्डू और अरबी के (भुजिया) खाता हो, चूरमा के और अरबी के (भुजिया) बनते हैं न? अरबी के पत्तों के पतरवेलिया होता है न? चने का आटा डालकर बीड़ा करके टुकड़े करके तलते हैं न? उसमें यह चूरमा के लड्डू और अरबी के (भुजिया) खाता हो, उस समय उसे ऐसा लगे, आहाहा! मुझे क्या मजा आता है? वह सुख की कल्पना, वह पुद्गल की दशा है। आहाहा! अरे! कैसे जँचे, प्रभु! और छह डिग्री का बुखार शरीर में आया या किसी ने छुरे की चोट मारी और अन्दर में प्रतिकूल द्वेष आया, उंहुं हुं हुं, कहते हैं कि यह द्वेष, वह दुःख की पुद्गल की अवस्था है। आहाहा! तू उसका जाननेवाला है। आहाहा!

यह राग और द्वेष की दशा तथा सुख-दुःख की दशा। है? **राग-द्वेष सुखदुःखादिरूप पुद्गल परिणाम की अवस्था,...** पुद्गल परिणमा है, उसकी अवस्था, दशा तो देखो एक, आहाहा! भगवान परिणमे, तब तो वीतरागरूप परिणमे। आहाहा! भगवान अर्थात् यह आत्मा जिनस्वरूपी प्रभु, वह वीतराग मूर्ति है तो परिणमे तो दशा हो तो उसकी वीतरागी

दशा हो, और यह राग, द्वेष और सुख-दुःख की दशा, वह पुद्गल परिणमा, इसलिए उसकी दशा हुई है। समझ में आया ? सूक्ष्म बातें कहना और फिर समझ में आया कहना वापस। कहो प्रवीणभाई ! ऐसा सूक्ष्म है। आहाहा !

यह राग-द्वेष और सुख-दुःख आदि अर्थात् रति, अरति आदि कल्पना हो, वह सब जड़ की अवस्था है, वह पुद्गल स्वयं ध्रुव है और वह यहाँ परिणमा है, वह परिणाम पुद्गल परिणाम की अवस्था है। भगवान आत्मा की वह अवस्था नहीं। आहाहा !

मुमुक्षु : कर्मधारा और ज्ञानधारा के बीच कितना अन्तर रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों में अन्तर अत्यन्त भिन्न। रागधारा पुद्गल के परिणाम और ज्ञानधारा आत्मा के परिणाम। आहाहा ! क्योंकि आत्मा 'घट-घट अन्तर जिन बसे, घट-घट अन्तर जैन' यह जिनस्वरूपी वीतरागमूर्ति प्रभु, उसका परिणमन हो, वह जैनपना है। आहाहा !

जिनस्वरूपी भगवान आत्मा, अनन्त-अनन्त गुण परन्तु सब जिनस्वरूपी वीतरागस्वरूपी हैं। ऐसा भगवान जिनस्वरूपी प्रभु, उसका परिणमन अर्थात् परिणमे और पर्याय हो, वह तो वीतरागी पर्याय हो। उस वीतरागी पर्याय का कर्ता ज्ञानी है, परन्तु जो राग और द्वेष तथा सुख-दुःख के पुद्गल की परिणाम की अवस्था, उसका यहाँ ज्ञान हुआ, वह ज्ञान की अवस्था आत्मा से अभिन्न है परन्तु यह राग-द्वेष और सुख-दुःख की अवस्था पुद्गल से अभिन्न है और आत्मा से भिन्न है। आहाहा ! सुख-दुःखादि पुद्गल परिणाम की अवस्था, पुद्गल की अवस्था ऐसा नहीं कहा। पुद्गल परिणाम की, परिणमा है वह पुद्गल इस प्रकार से, आहाहा ! भगवान परिणमा है, इस प्रकार से, क्या ? कि जो राग-द्वेष और सुख-दुःख की पुद्गल के परिणाम की अवस्था है, उसे जाननेरूप, वीतराग परिणामरूप आत्मा परिणमा है, उसे आत्मा कहते हैं और उसे ज्ञानी और धर्मी कहते हैं। आहाहा !

ऐसा फिर यह लगे लोगों को कि निश्चय... निश्चय... निश्चय। व्यवहार कहते नहीं बीच में, ऐसा कहते हैं। परन्तु व्यवहार कब बापू ! सुन तो सही ! यह राग से भिन्न पड़कर जिनस्वरूप का ज्ञान-भेदज्ञान हुआ, तत्पश्चात् वह राग आवे, उसे-उस राग को व्यवहार कहा जाता है। परन्तु उस राग को तो यहाँ पुद्गल की अवस्था में डाल दिया,

इसलिए उसे व्यवहार कहा है। आहाहा! ऐसा है। ऐसा कि व्यवहार कहते नहीं, परन्तु व्यवहार, सुन तो सही प्रभु! यह व्यवहार नहीं कहा? दया, दान, व्रत, भक्ति आते हैं, होते हैं, उस पुद्गल की अवस्था को व्यवहार कहा जाता है।

भगवान आत्मा जिनस्वरूपी का ज्ञान हो, उस राग-द्वेष, सुख-दुःख का यहाँ ज्ञान हो, वह आत्मा की अवस्था है, वह निश्चय है। आहाहा! त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ऐसा फरमाते हैं। इसे वीतराग की सच्ची वाणी भी सुनने को मिलती नहीं। आहाहा! कल्पित बनायी हुई बातें सुनावे और सुने, जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! यह राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप—सुख-दुःखादिरूप, वह स्वरूप ही मानो पुद्गल परिणाम की अवस्था है। ऐसा। आहाहा! वह **पुद्गल से अभिन्नता के कारण...** यह कर्म जड़ है, वह जड़ इस प्रकार से परिणमा है, राग-द्वेष, सुख-दुःख की कल्पना जो है, वह जड़ इस प्रकार से हुआ है। वह कर्म का जो सामर्थ्य अनुभाग में है, इस प्रकार वह परिणमा है। आहाहा! समझ में आया?

यह पुद्गल परिणाम की अवस्था राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप हों, सुखादिरूप ऐसा कि मानो उसका स्वरूप ही पर्याय का है, पुद्गल में, ऐसा। आहाहा! दो द्रव्य लिये। एक भगवान चैतन्यस्वरूप द्रव्य और एक कर्मद्रव्य। वह कर्मद्रव्य परिणमता है, तब ऐसा कहते हैं कि राग-द्वेष, सुख-दुःखादि की दशा होती है। भगवान आत्मा परिणमता है, तब उसे वीतरागी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के परिणाम होते हैं। आहाहा! कहो, मधुभाई! यह हांगकांग में सुनने को मिले ऐसा वहाँ नहीं है। हैरान हो-होकर....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह वीतरागमूर्ति है, उसका स्वभाव ही वीतराग स्वरूप है, उसका स्वभाव ही अकषाय स्वरूप है, उसका स्वभाव ही आनन्दस्वरूप है , तब यह राग-द्वेष आदि वे पुद्गल के परिणाम, वे दुःखस्वरूप हैं। आहाहा! वह पुद्गलद्रव्य मानो परिणमकर मानो आकुलता उत्पन्न हुई हो, ऐसा कहते हैं। आहाहा! और भगवान परिणमकर अनाकुलता उत्पन्न होती है। प्रभु आत्मा आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु सर्वज्ञ ने कहा वह है, हों! अन्यमति सब कहते हैं कि आत्मा... आत्मा, वह आत्मा उन्होंने देखा नहीं।

जिनेश्वर परमेश्वर सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ ने जो आत्मा देखा, उस आत्मा की बात है। अज्ञानी आत्मा... आत्मा... करे, परन्तु उसे आत्मा की खबर नहीं। जैन परमेश्वर के अतिरिक्त किसी ने आत्मा पूर्ण कैसा है, यह देखा नहीं।

भले वेदान्ती बातें करे (कि) आत्मा सर्व व्यापक है और ऐसा है और वैसा है और अमुक है। परन्तु वह तो फिर ऐसा भी कहते हैं कि आत्मा अनुभव करे? हें? आत्मा और अनुभव दो, यह भी इनकार करते हैं। आत्मा का अनुभव? वह पर्याय हुई न? यह राग-द्वेष, सुख-दुःख को जानने की पर्याय है, वह पर्याय है, वह अवस्था है, वह वीतरागी अवस्था आत्मा का परिणाम है। वेदान्त तो मानता नहीं, मानता ही नहीं न वह तो। लोग वेदान्त में सुधरे हुए में बहुत चला है। आहाहा! वेदान्त-वेदान्त सर्व व्यापक... सर्व व्यापक, एकदम मिथ्या है। आहाहा! यहाँ तो इसलिए दो शब्द प्रयोग किये कि राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप पुद्गल परिणाम की अवस्था, उसके इस परिणाम की दशा, और **पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही भिन्न है।**

अब **और उसके निमित्त से होनेवाला...** राग-द्वेष और सुख-दुःख के परिणाम पुद्गल की अवस्था गिनकर, उस प्रकार का **उसके निमित्त से होनेवाला...** अनुभव अर्थात् ज्ञान। राग-द्वेष, सुख-दुःख का यहाँ ज्ञान होता है, वह उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्न है। वह ज्ञान होना, वह अनुभव होना, वह आत्मा से एकमेक है। आहाहा! **पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है... उस प्रकार का अनुभव...** देखा? वेदान्त यह भी नहीं मानता। अनुभव और कैसा? (ऐसा वह) कहता है। राग-द्वेष का ज्ञान अनुभव, ज्ञान वह परिणाम?

'अनुभवी ने एटलुं रे आनन्दमां रहेवुं रे' हाँ, यह। कहाँ उसे ख्याल है। यह छोटी उम्र में आठ-दस वर्ष की उम्र थी, उमराला में वहाँ हमारे साथ हमारे माँ के पीहर के ब्राह्मण रहते थे। बड़ा मकान था। फिर उन्हें मूलजीमामा कहते है, और साथ में घर में। था हमारा मामी का घर, किराये से रहते थे। मूलजीमामा अकेले रहते थे। स्त्री-स्त्री वहाँ भुँभली रहती थी, भुँभली, भावनगर के पास है न? भुँभली में मेरी माँ का ननिहाल था, इसलिए उन्हें मामा कहते। वे नहाते थे, हम छोटी उम्र में दस-बारह वर्ष की उम्र में। (वे) नहाते-नहाते

ऐसा बोले 'अनुभवी ने अेटलुं रे आनन्दमां रहेवुं रे, भजवा परिब्रह्म ने बीजुं कांई न कहेवुं रे।' उन्हें कुछ खबर नहीं। मुझे अन्दर में ऐसा लगता था कि यह क्या कहते होंगे मामा? उन्हें भी कुछ खबर नहीं होती। यह अनुभवी ने अेटलुं रे आनन्दमां रहेवुं रे, यह राग और पुण्य-पाप के भाव हों, उनका ज्ञान वह अनुभव आत्मा का। उस अनुभवी ने अेटलुं रे आनन्दामां रहेवुं, भजवा परिब्रह्म,... परिब्रह्म अर्थात् भगवान आत्मा। दूसरा कोई ईश्वर-बीश्वर नहीं। वीतराग भी नहीं। वीतराग, वे परद्रव्य हैं। भजवा परिब्रह्म- परिब्रह्म भगवान पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञान का सागर, उसका भजन करना एकाग्रता से। बीजुं कांई न कहेवुं रे, दूसरा उसे कुछ लगाना अच्छा-बुरा कहकर उसके पीछे नहीं पड़ना कि राग का कर्ता है और पुण्य का कर्ता है... आहाहा!

ऐसी बातें हैं। कोई कहे कि यह तो कहीं वीतराग के घर की जिनेश्वर की होंगी? भाई हम तो जिन-में तो कुछ यह सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, रात्रिभोजन नहीं करो, कन्दमूल नहीं खाओ, देव-गुरु की भक्ति करो, देव-गुरु को मानो, देव-गुरु को, गुरु आदि को आहार दो - ऐसा सुनते हैं, बापू! आहाहा! श्वेताम्बर में ऐसा कहते हैं कि सिद्धचक्र की पूजा करो, कर्मदहन की पूजा करो, गिरनार की यात्रा करो, सम्मेदशिखर की यात्रा करो, शत्रुंजय की करो, और शत्रुंजय की यात्रा करके यहाँ साधु को आहार-पानी दो तो बड़ा महाधर्म होगा। यात्रा करो, ऐसा आता है। शत्रुंजय माहात्म्य में, शत्रुंजय माहात्म्य की पुस्तक है न? उसमें यह आता है, सब देखा है। यात्रा करके वह नीचे उतरे, साधु को आहार-पानी दे तो बहुत लाभ होता है। परन्तु यह साधु कहाँ था वह अभी? और तेरी यात्रा का भाव, वह तो राग था - पुण्य था। आहाहा! राग मन्द करके किया हो तो, अभिमान-दूसरों को बतलाने के लिये किया हो तब तो और पाप है। आहाहा!

इसी प्रकार अपने यहाँ महावीरकीर्ति यहाँ आये थे। वह नहीं था न, तब तो यहाँ कमरा था। उसमें उतरे थे। उसमें भी वहाँ उतरे थे। फिर उसमें मैं आहार करके घूमता हूँ न तो वहाँ गया था, तब वे कहे कि हमारे पास सम्मेदशिखरजी की एक पुस्तक है। महावीरकीर्ति थे, अभी गुजर गये, वह पुस्तक है, उसमें ऐसा लिखा है कि सम्मेदशिखर की यात्रा करे तो ४९ भव में मोक्ष होता है। मैंने कहा, यह शत्रुंजयवाले कहते हैं, वैसे यह

तुम्हारे सम्मेदशिखरजी की ४९ भव में मोक्ष हो, यह बात भगवान की नहीं है, कहा। यात्रा करके संसार घटे और ४९ (भव में मोक्ष हो), यह वीतराग की वाणी नहीं है। वीतराग की वाणी तो आत्मा अनन्त आनन्द का नाथ है, उसमें एकाकार हो, और लीन हो, तब उसका संसार परित—घट जाता है, मैंने कहा। यात्रा-बात्रा गिरनार की और तुम्हारे सम्मेदशिखर की लाख करे, तो भव घटे, यह वस्तु नहीं है, कहा। पहले तो ऐसा बोल गये, यह फिर मैंने कहा तब हाँ... हाँ... ऐसा कहने लगे। दिगम्बर साधु थे। कुछ खबर नहीं। देवी-देवला को माने। वह पद्मावती देवी नहीं? उसे साथ में रखे, देवी को माने, अब यह। आहाहा! जैन को देवी -देवला कैसे? आहाहा! यह तीन लोक के नाथ को मानना, वह भी एक शुभभाव है, तो ऐसी देवी-देवला अम्बाजी को क्या कहते हैं, वह शत्रुंजय की वह चक्रेश्वरी, चक्रेश्वरी है न? देखा है न? देवी अम्बाजी और शिकोतेर और अमुक और अमुक... सब बाहर के मिथ्याभ्रम हैं, अपने कुदेव को मानो, लो न। हमारा बाप तीसरी पेढ़ी से ऐसे थे और फिर यह ऐसे हुआ और कुलदेव को मानते हैं, यह सब अज्ञानियों की भ्रमणा है।

मुमुक्षु : ऐसी सच्ची बात किसी ने कही ही नहीं थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं कही थी। बात सही है।

मुमुक्षु : शास्त्र में कहा है कुदेव को मानना, वह पत्थर की नाव...

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व है, अज्ञान है। चार भूलवाले हैं। तीन लोक के नाथ परमेश्वर त्रिलोकनाथ को मानना, वह भी एक शुभराग है, तो फिर अन्य को मानने की बात ही कहाँ है? उसमें अम्बाजी और शिकोतेर और कुलदेवी और कुलदेवा और क्षेत्रपाल... आता है न? वह हनुमान को। आहाहा! सरस्वतीदेवी, बैल के ऊपर बैठकर। चार हाथ और हाथ में सरस्वती। वह सरस्वती कहाँ, वहाँ थी? सरस्वती तो यहाँ (अन्दर) है।

यह आत्मा का ज्ञान और आनन्द हो, वह परिणति सरस्वती है। अरे! परन्तु क्या हो भाई! व्यवहार में हो तो वीतराग की वाणी, वह सरस्वती है। परन्तु उसे मानना, यह भी एक शुभभाव है, धर्म नहीं। कठिन बातें, भाई! आहाहा! इस शुभराग को जाननेवाला ज्ञान, वह आत्मा का है; यह राग आत्मा का नहीं। आहाहा!

यह भक्तिवालों को कठिन पड़ता है। भगवान की और गुरु की भक्ति करें तो

कल्याण हो जाये। यह भगवान कहते हैं कि मेरी भक्ति कर तो राग है। मैं परद्रव्य हूँ, तेरा स्वद्रव्य छोड़कर हमारे ऊपर आयेगा तो राग है। आहाहा! और इस राग से कल्याण मानेगा तो मिथ्यात्व है। भारी कठिन काम, बापू! जन्म-मरण से रहित होने का प्रभु का मार्ग अलौकिक है। आहाहा!

क्या कहा? यह पुद्‌गल की परिणाम की अवस्था पुद्‌गल से अभिन्नपने के कारण आत्मा से सदा ही भिन्न है और यह राग-द्वेष, सुख-दुःख के परिणाम पुद्‌गल के गिनकर, उनका जो यहाँ ज्ञान होता है, है? वह ज्ञान आत्मा से अभिन्न है और पुद्‌गल से-राग से अत्यन्त भिन्न है। यह राग जो हुआ है, वह पुद्‌गल की दशा, उसके निमित्त से यहाँ जो ज्ञान हुआ है, उस ज्ञान से पुद्‌गल की दशा अत्यन्त भिन्न है, और राग की दशा से आत्मा का ज्ञान हुआ, जो राग का, उस ज्ञान से, पर्याय राग की अत्यन्त भिन्न है और राग से यह ज्ञान की पर्याय अत्यन्त भिन्न है।

यह तो हजारों वर्ष से टीका हो गयी है। मुनि सन्त दिगम्बर सन्तों ने की हुई है। दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य की गाथायें हैं। वे भगवान के पास गये थे, संवत् ४९। आहाहा! अरे रे! सत्य है, उसे सुनने को नहीं मिलता। सुनने में भी शुभराग है, और आत्मा तो राग से भिन्न है। समझ में आया? उस राग का यहाँ ज्ञान होता है, उस ज्ञान से राग भिन्न है और उस ज्ञान से आत्मा अभिन्न है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। है या नहीं इसमें?

मुमुक्षु : अकेला राग का ज्ञान या साथ में आत्मा का भी ज्ञान?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आत्मा का ही ज्ञान है न? राग का ज्ञान, वह किसका ज्ञान? वह तो राग का ज्ञान कहकर, ज्ञान तो अपना है।

मुमुक्षु : स्व-परप्रकाशक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यहाँ राग.... स्व-परप्रकाशक अपेक्षा से है। यह राग हुआ उस समय भी स्वयं आत्मा का ज्ञान है और उस ज्ञान में राग का ज्ञान तो निमित्त से कहा है। बाकी वह ज्ञान तो अपना है, राग सम्बन्धी का ज्ञान वह अपना है। यह राग है, वह तो परज्ञेय है और उस राग का यहाँ ज्ञान हुआ है, वह स्वज्ञेय है।

अरे! अब ऐसी बातें! अब इसमें अता-पता कहीं हाथ नहीं आवे! मार्ग ऐसा है,

बापू! वीतराग तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव के निकट एकावतारी इन्द्र आते हैं, वे पिल्ले की भाँति सुनने बैठते हैं। बापू! वह वाणी कैसी होगी, भाई! अररर! उसके भाव कैसे होंगे? आहाहा! अलौकिक है।

यह राग-द्वेष और सुख-दुःख के परिणाम का यहाँ ज्ञान होता है आत्मा में, वह आत्मा का ज्ञान है, उसका (राग का) ज्ञान कहना, वह तो निमित्त से समझाते हैं।

वह **आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है।** यह राग-द्वेष के परिणाम से राग-द्वेष का जो ज्ञान, उस ज्ञान से राग-द्वेष के भाव अत्यन्त भिन्न हैं। और राग-द्वेष से उस राग-द्वेष का ज्ञान हुआ, वह राग-द्वेष से अत्यन्त भिन्न है। अरे... अरे...! ऐसा ध्यान रखे तो मुश्किल से यह पकड़ में आये ऐसा है न! पंकजभाई! इसमें अभी इसे थोड़ा रस है न, ऐसा पकड़ना पड़े, बापू! संसार होता है भले, परन्तु यह साथ में। आहाहा! इसका सच्चा ज्ञान करना पड़ेगा, प्रभु! यह जन्म-मरण चलते जाते हैं। आहाहा!

तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की यह वाणी है, सन्त आड़तिया होकर जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! अरे रे! कहीं सुनने को मिलता नहीं और सत् हो, उसे फिर एकान्त की यह, ऐई यह एकान्त निश्चय... निश्चय की बातें करते हैं। परन्तु निश्चय...

मुमुक्षु : यहाँ सुनने भी आते नहीं और वहाँ बातें करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बातें करते हैं क्या? आये तब बात करते थे। अभी तक तुमने समयसार के उसमें... अब मैं व्यवहार का बातें करता हूँ। वह ऐसा बोले तो विद्यानन्दजी और वे भी ऐसा यह बोले थे, क्या हो प्रभु!

यह राग होता है, उसे आत्मा का ज्ञान राग से भिन्न पड़कर हुआ, वह निश्चय ज्ञान है, और राग का जानना वह व्यवहार है। यहाँ राग को पुद्गल परिणाम कहा तो ज्ञान का विषय पर है, ऐसा गिनकर (कहा), परन्तु हैं तो आत्मा के परिणाम, परन्तु वे विकारी परिणाम हैं, वह अविकारी स्वभाव का परिणमन नहीं है, ऐसा गिनकर विकार के परिणाम पुद्गल के गिनकर उनका यहाँ ज्ञान होता है, वह आत्मा का है और राग का ज्ञान हो, वह भी व्यवहार है, ज्ञान तो अपना स्व-परप्रकाशक के कारण से हुआ है। आहाहा! ऐसा सब अन्तर कहाँ करना?

मुमुक्षु : आप अकेले ज्ञान की बात करते हो, शुष्क लगती है, साथ में क्रिया की बात करो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु क्रिया, यह राग की क्रिया नहीं ? और साथ में यह ज्ञान की एकाग्रता, वह क्रिया नहीं ? द्रव्य है, वस्तु है, अक्रिय है, उसका ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र होना, वह सक्रिय पर्याय है। निश्चय से तो वह शुद्धपरिणाम हुए, वह भी व्यवहार है, सद्भूतव्यवहार है। बहुत कठिन बातें, बापू ! बहुत खोलने जायें तो... आहाहा !

राग है, वह तो असद्भूतव्यवहार है, और उसे असद्भूत कहकर सत् में से नहीं आया, उसे पुद्गल के परिणाम गिनकर, उसका यहाँ ज्ञान हुआ, वह तो ज्ञान है तो अपना, अपना ज्ञान और पर का ज्ञान है स्व-परप्रकाशक अपना, परन्तु यहाँ निमित्त को सिद्ध करना है कि वहाँ एक चीज़ है, उसका यहाँ ज्ञान हुआ, वह ज्ञान है, वह आत्मा का, परन्तु राग वह आत्मा का नहीं है। आहाहा !

परस्पर अन्तर जानता है तब... है न ? **जब ज्ञान के कारण...** आत्मा का ज्ञान हुआ राग से भिन्न पड़कर, उसके कारण **आत्मा उन राग-द्वेषादि का और उनके अनुभव का परस्पर विशेष जानता हो तब, वे एक नहीं परन्तु भिन्न हैं।** आहाहा ! यह राग-द्वेष और सुख-दुःख के परिणाम और उन्हें जानने के परिणाम दोनों एक नहीं परन्तु भिन्न हैं। आहाहा ! एक नहीं परन्तु भिन्न हैं। **ऐसे विवेक के कारण...** ऐसी भिन्नता के कारण **शीत-उष्ण की भाँति (जैसे शीत-उष्णरूप आत्मा के द्वारा परिणमना अशक्य है)।** आहाहा ! आत्मा है वह शीत-उष्ण का ज्ञान करे, उस ज्ञानरूप परिणमे, परन्तु आत्मा का शीत-उष्णरूप होना अशक्य है। उसी प्रकार आत्मा राग-द्वेष, सुख-दुःख का ज्ञान करे, परन्तु आत्मा के राग-द्वेष, सुख-दुःखरूप से परिणमन करना अशक्य है, इसका विस्तार विशेष है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १८६, गाथा-९३, दिनांक ०४-०२-१९७९, रविवार, माघ शुक्ल-८

श्री समयसार ९३ गाथा है।

पीछे का थोड़ा बाकी है न? यहाँ से लेना, देखो! **शीत-उष्ण की भाँति...** बीच में है। जैसे पुद्गल की अवस्था शीत और उष्ण है, उसरूप आत्मा का उसरूप परिणमन करना अशक्य है। शीत और उष्ण की अवस्था, वह जड़ की है। यह आत्मा उस शीत और उष्णरूप परिणमन करे, यह अशक्य है। क्योंकि वह जड़ है और यह चैतन्य है। यह चैतन्य जड़ की पर्यायरूप हो, यह अशक्य है, यह तो दृष्टान्त है। आहाहा! **(जैसे शीत-उष्णरूप आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है...)** है न कोष्ठक में? कोष्ठक में है। सूक्ष्म बात है आज।

जिनके रूप में आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है, ऐसे राग-द्वेष-सुख-दुःखादिरूप से अज्ञानात्मा के द्वारा किंचित्मात्र परिणमित न होता हुआ... आहाहा! जैसे शीत और उष्ण अवस्था पुद्गल की है, यह आत्मा उसरूप होना अशक्य अर्थात् तीन काल में नहीं हो सकता; उसी प्रकार यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, जिसे अन्तर में राग से भिन्न पड़कर भान हुआ है। आहाहा! ऐसे धर्मी जीव को राग-द्वेष और सुख-दुःख की कल्पना जो पुद्गल की है, उसरूप ज्ञान में होना अशक्य है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है। कहीं शीत-उष्ण अवस्था वह पुद्गल की है। भगवान आत्मा अरूपी, उस रूपीरूप कैसे परिणमित हो? आहाहा! इसी प्रकार आत्मा राग और दया-दान और सुख-दुःख की कल्पना से भिन्न पड़कर जिसे आत्मज्ञान हुआ, धर्म हुआ, जिसे धर्म, आहाहा! धर्म अर्थात् आत्मज्ञान, धर्म अर्थात् आत्मा शुद्ध चैतन्य है, उसका अनुभव में प्रतीति, ऐसा जिसे धर्म हुआ, उस धर्मी को, आहाहा! राग-द्वेष-सुख-दुःख आदिरूप से, वह अज्ञान आत्मा अज्ञानस्वरूप है। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

राग—दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम और सुख-दुःख की कल्पना, वह अज्ञानस्वरूप है। वह जड़स्वरूप है। आहाहा! उसरूप ज्ञानस्वरूप धर्मी जीव, जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान और धर्मदशा प्रगटी हुई है, आहाहा! वह धर्मी उन राग-द्वेष और सुख-

दु:ख अज्ञानरूप से परिणमना, उसे अशक्य है। आहाहा! ऐसी बात है। शीत-उष्ण अवस्था वह जड़, उसरूप प्रभु आत्मा नहीं हो सकता, इसी प्रकार जिसे राग और दया-दान और सुख-दु:ख की दशा से भिन्न प्रभु है। आहाहा! वह तो केवलज्ञान और केवलदर्शन की मूर्ति पर से भिन्न है। दोपहर में आया था। आहाहा! केवल अर्थात् अकेला ज्ञान, दर्शन और आनन्द ऐसा जो आत्मा, वह दया, दान, व्रत, भक्ति और सुख-दु:ख की कल्पना से वह भिन्न है। आहाहा! उस भिन्न का जहाँ भान है, उसे उन राग-द्वेष और सुख-दु:ख की अज्ञान अवस्था, जिसमें ज्ञान नहीं, पुण्य-पाप का भाव और सुख-दु:ख की कल्पना में यह ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा का ज्ञान उनमें नहीं है। हीरालालजी! आहाहा!

जैसे शीत और उष्ण अवस्था में आत्मा का ज्ञान नहीं, उसमें ज्ञान का अभाव है। इसलिए उसरूप होना आत्मा में अशक्य है, इसी प्रकार जिसे राग-द्वेष पुण्य-पाप के भाव से भगवान भिन्न है, ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और धर्म हुआ, आहाहा! कठिन बातें हैं। वह धर्मी जीव ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप होने से, उसकी पर्याय में परिणमन तो ज्ञान और आनन्द का है, उसे राग-द्वेष और सुख-दु:ख, जिसमें ज्ञान का अभाव है, ऐसे अज्ञानरूप ज्ञान कैसे परिणमे? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। समझ में आया? देखो, ऐसा धर्म! ऐसा धर्म कोई है? जो दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम हो, या इष्ट-अनिष्ट लगकर कुछ सुख-दु:ख की कल्पना हो, ऐसी दशा में आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसके अंश का उनमें अभाव है। आहाहा! इसलिए वे अज्ञानस्वरूप है। अज्ञान अर्थात्? मिथ्यात्वस्वरूप, ऐसा नहीं। है?

अज्ञानात्मा अर्थात् पुण्य और पाप का भाव और सुख-दु:ख की कल्पना, वह अज्ञानस्वरूप अर्थात् उनमें ज्ञानस्वरूप नहीं है। आहाहा! अज्ञानात्मा अर्थात् मिथ्यात्व आत्मा, ऐसा नहीं यहाँ। अज्ञान अर्थात् कि जिसमें ज्ञान नहीं। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु, ऐसा जिसे अन्तर में भान हुआ, वह धर्मी जीव, वह ज्ञानी जीव कहो या धर्मी कहो; वह ज्ञानी जीव राग और दया, दान के विकल्प जो अज्ञानस्वरूप है, उसरूप ज्ञान का होना अशक्य है। अरे! ऐसी बातें अब। यहाँ तो दया, दान और व्रत के परिणाम करे तो धर्म हो गया लो अज्ञानी को।

मुमुक्षु : सरल है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सरल क्या ? अनादि का अज्ञान है। आहाहा !

यहाँ तो चैतन्यस्वरूप जो आत्मा, दोपहर में तो आया था न, कि भगवान को जैसे केवलज्ञान और केवलदर्शन दशा में है, वह जैसे पर से भिन्न है, उसी प्रकार यह भगवान (आत्मा) अन्दर केवल-अकेला ज्ञान और अकेला दर्शन और अकेला आनन्द, ऐसा जो भगवान आत्मा वह शुभ-अशुभ दया, दान, व्रत, के परिणाम और काम-क्रोध के परिणाम और सुख-दुःख के भाव से वह भिन्न है। कहो, समझ में आया ? आहाहा !

वह **अज्ञानात्मा द्वारा किंचित्मात्र भी परिणमित नहीं होता...** आहाहा ! कहो, बलुभाई ! यह क्या तुमने यह दवा का छोड़ा और उसमें राग था, उस रागरूप परिणमता है, वह अज्ञान है—ऐसा कहते हैं। दे क्या ? दृष्टान्त आया न, घर का दृष्टान्त। आहाहा ! शशीभाई ! आहाहा !

भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वभाव, आनन्दस्वभाव, दर्शनस्वभाव,... आहाहा ! प्रभुता स्वभाव, ईश्वर स्वभाव, स्वच्छत्व स्वभाव, ऐसा जो भगवान आत्मा, जिसे धर्म प्रगट हुआ है, अर्थात् कि दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के परिणाम से भिन्न आत्मा को जाना है और जिसे आत्मज्ञान हुआ है। आत्मज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन। ज्ञान की अपेक्षा से आत्मज्ञान और श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन। आहाहा ! ऐसा जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानी जीव, जैसे शीत-उष्ण अवस्थारूप होना वह चैतन्य का अशक्य है, कभी नहीं हो सकता, आहाहा ! उसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दमूर्ति प्रभु, ऐसा जिसे अन्तर में सम्यग्दर्शन और धर्म की दशा प्रगटी है, वह धर्मी... जो राग और सुख-दुःख की कल्पना, व्रत-तप का विकल्प, वह तो अज्ञान है, उसमें ज्ञान का अभाव है अर्थात् आत्मा का उसमें अभाव है, इससे यह अज्ञानात्मा कहा यहाँ। आहाहा ! गजब आवे यह रविवार आता है, तुम्हारे तब गजब बात आती है, भावनगर। ऐसी बात है, प्रभु ! आहाहा ! वहाँ तो रविवार को भारी आता है। यह रविवार आता है, तुम्हारे तब भावनगर से लोग आते हैं, आवे तब अच्छा आता है। शशीभाई। आहाहा !

प्रभु चैतन्य ज्योति अन्दर है। आहाहा ! यह ज्ञान का दीपक प्रभु है, ज्ञान का सूर्य,

ज्ञान का चन्द्र है, ऐसा जिसने अन्तर में यह शुभ-अशुभभाव और सुख-दुःख की कल्पना से भिन्न पड़कर ज्ञान और आनन्द का जहाँ भान हुआ है, अर्थात् आत्मज्ञान और आत्मदर्शन हुआ है, वह जीव, यह राग और द्वेष और सुख-दुःख की कल्पना जो अज्ञानात्मा है। उसमें ज्ञानस्वरूप नहीं है, अज्ञानस्वरूप है। आत्मा अर्थात् अज्ञानस्वरूप, ऐसा। है ? बहुत संक्षिप्त भाषा, माल भरा है अकेला। आहाहा !

अज्ञानस्वरूप द्वारा, आहाहा ! चैतन्य-ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु, ऐसा जिसे अन्तर में भान हुआ, धर्मी जीव को उसका भान हुआ होता है, तब उसे धर्मी कहा जाता है। आहाहा ! ऐसे धर्मी को अर्थात् कि ज्ञानस्वरूप ऐसा भगवान आत्मा, आनन्दस्वरूप ऐसा भगवान आत्मा, उसका जहाँ अन्तर में राग से भिन्न पड़कर भान हुआ, वह भानवाला जीव, आहाहा ! यह दया, दान और काम-क्रोध के परिणाम और सुख-दुःख की अवस्था वह अज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञानस्वरूप नहीं। आहाहा ! समझ में आया ?

क्या कहा यह ? यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम यह अज्ञानस्वरूप है, क्योंकि भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उस ज्ञान का एक भी अंश इन दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम में वह अंश आया नहीं। आहाहा ! कहो, चिमनभाई ! ऐसा तत्त्व है। आहाहा ! अब सुनने को मिलता नहीं, प्रभु ! तू कौन है ? श्रीमद् में आया नहीं ? वहाँ तो सोलह वर्ष में, श्रीमद् सोलह वर्ष में (लिखते हैं) 'मैं कौन हूँ ? आया कहाँ से ? और मेरा रूप क्या ? सम्बन्ध दुःखमय कौन है स्वीकृत करूँ परिहार क्या ? इसका विचार विवेकपूर्वक' राग से भिन्न पड़कर आत्मा का विवेक अर्थात् भेदज्ञान होना 'इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिये तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये।' आहाहा ! जिसे यहाँ दुनिया अभी राग का भाव, व्रत का भाव, तपस्या, अपवास करूँ, ऐसा जो विकल्प का भाव, उसे दुनिया धर्म मानती है, उसे यहाँ परमात्मा त्रिलोकनाथ, वीतराग जिनेश्वरदेव, वीतरागभाव से धर्म होता है और रागभाव से नहीं होता, ऐसा बतलाते हैं। आहाहा !

वीतरागभाव अर्थात् ? आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, ऐसी जो दृष्टि और प्रतीति और रमणता हुई, वह वीतरागभाव है, और वस्तु स्वयं जिनस्वरूप है। वस्तु भगवान आत्मा जिन-वीतरागस्वरूप है, वह वीतरागस्वरूप, वीतराग पर्यायरूप परिणमे, वह तो इसका

धर्म है। आहाहा! परन्तु वह वीतरागस्वरूप जिसे ज्ञान में-भान आया है। वह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम जो तप के, अपवास के, ऐसा जो राग और सुख-दुःख की कल्पना, उस अज्ञानस्वरूप से ज्ञानस्वरूप (का) परिणमन अशक्य है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह अज्ञानस्वरूप होना अशक्य है। आहाहा!

सुनना कठिन पड़े, वाडा बाँधकर बैठे, व्रत करो और अपवास करो और सामायिक करो और प्रौषध करो, वह धर्म, धूल भी नहीं। वह तो राग की क्रिया है, बापू! तुझे खबर नहीं भाई! आहाहा! और वह राग, वह अज्ञानस्वरूप है। अर्थात्? उसमें ज्ञान चैतन्य ज्योति प्रभु की किरण उस राग में आयी नहीं, राग तो अन्धकार है। आहाहा! कहो, हीरालालजी! वह गया परन्तु यह सुनने का रह गया, इसलिए बापू भाग्यशाली कहो न! बाकी वह तो होनेवाला हो, वह होता है, बापू! उसमें कुछ है नहीं। भाग्यशाली। आहाहा! इन्होंने हिम्मत बहुत रखी। ओहोहो! मानो कुछ हुआ ही नहीं। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, प्रभु!...

मुमुक्षु : आपको बोध का प्रताप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नरम व्यक्ति, बहुत नरम व्यक्ति है। भगवान! तुझे तो भगवानरूप से तो प्रभु बुलाते हैं, प्रभु! ७२ गाथा समयसार की। भगवान आत्मा! आहाहा! पुण्य और पाप के दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम वे अशुचि हैं, ऐसा ७२ गाथा में है। अशुचि है, प्रभु! तुझे खबर नहीं। वह मैल है। यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम अशुचि मैल और दुःख है। और बीच में इसे जड़ कहा, वह यहाँ लिया है। तीन बोल लिये हैं ७२ गाथा में, आ गया अपने। आहाहा! अरे रे! दुनिया को सच्चा सुनने को मिलता नहीं, बेचारे कहाँ जाये। मनुष्यपना मिला, पूरे दिन पाप में-धन्धे में रुके, निवृत्त हो तो फिर स्त्री, पुत्र को प्रसन्न करने में जाये। अररर! उसमें सुनने जाये घण्टे भर, वहाँ इसे ऐसा कहे, तुझे व्रत कर और अपवास कर (तो) तुझे धर्म होगा। कुगुरु इसका घण्टा भर लूट लेता है। ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

जिनेश्वरदेव तीर्थंकर वीतरागमूर्ति प्रभु। आहाहा! यह वीतराग का धर्म वीतरागभाव से होता है। वीतराग का धर्म राग भाव से नहीं होता। आहाहा! यह वीतरागी स्वरूप जिन, उसका आश्रय लेकर अर्थात् सम्यग्दर्शन की पर्याय स्वतन्त्र कर्तारूप से हुई और उसका

लक्ष्य करती है द्रव्य के ऊपर। आहाहा! तब उसे वीतरागी सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, चौथे गुणस्थान में (प्रगट होता है)। आहाहा! उस वीतरागस्वरूप की प्रतीति का ज्ञान होने पर वीतराग पर्यायरूप दर्शन होता है, सम्यग्दर्शन। उस वीतरागरूप परिणमनेवाला धर्मी, वह दया, दान, व्रत और तप के विकल्प के रागरूप-अज्ञानरूप कैसे परिणमे? आहाहा! ऐ मूलचन्दभाई! ऐसी है जरा, बापू! आहाहा! दुनिया में लोगों को कठिन पड़े। अभी के साधु और सुननेवाले सबने यह करो, यह करो, व्रत करो, अपवास करो, भक्ति करो, पूजा करो, वह तो राग की क्रिया है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसे सच्चा दूसरा खबर हो तो बतावे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अब सब फेरफार हो गया है, बहुत सब। आहाहा!

वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा जिनस्वरूपी उसका स्वरूप ही जिनस्वरूप है, अकषाय स्वरूप—वीतरागस्वरूप प्रभु है। आहाहा! उसका जिसने आश्रय लेकर, अवलम्बन लेकर, जिसने आत्मज्ञान अर्थात् कि निर्विकल्प वीतरागी ज्ञान प्रगट हुआ, सम्यग्दर्शन अर्थात् वीतरागी पर्याय प्रगट हुई और स्वरूप में रमणता ऐसा वीतरागी चारित्र प्रगट हुआ, वह तीनों यहाँ इकट्ठा लिया। भले चौथे में वीतरागी विशेष चारित्र न हो, परन्तु स्वरूपाचारण वीतरागी होता है। समझ में आया इसमें? आहाहा! श्रावक होने से पहले की बात है। श्रावक जो पाँचवें गुणस्थान की दशा है, यह वह श्रावक है, वे सब श्रावक नहीं कोई। आहाहा!

श्रावक तो उसे कहते हैं कि 'श्र' वर्ण 'क' श्रावक है न? जिसने वीतरागी स्वरूप श्रवण किया है, है? और जिसने वीतरागीस्वरूप 'व' अर्थात् विवेक से पर से भिन्न करके प्रगट किया है। श्रावक है न? और जिसने वीतरागी पर्याय की है, उसे श्रावक अथवा समकिती कहते हैं पहला। आहाहा! अब ऐसा मार्ग।

यह यहाँ कहते हैं। जिनके रूप में आत्मा द्वारा होना, परिणमना अर्थात् होना 'आत्मा के द्वारा जिसके रूप में होना अशक्य है' ऐसे राग-द्वेष-सुख-दुःखादिरूप से अज्ञानस्वरूप यह राग और सुख-दुःख के भाव में दया, दान के भाव में तो अज्ञान है। आहाहा! यहाँ तो 'दया वह सुख की बेलडी, दया वह सुख की खान' आता है न? आहा! वह दया नहीं, भाई! वह पर की दया का भाव तो राग है। आहाहा! वह राग है, वह अज्ञानस्वरूप है,

उसमें ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, आत्मस्वरूप उस राग में नहीं है। आहाहा!

सुख-दुःखादिरूप से अज्ञानात्मा के द्वारा किंचित्मात्र परिणमित न होता हुआ। आहाहा! भाषा तो देखो, देखो! यह सन्तों की वाणी! वीतराग परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ सीमन्धर भगवान विराजते हैं, उनकी यह वाणी आयी है। महाविदेह में प्रभु विराजते हैं, जिनेश्वरदेव, णमो अरिहन्ताणं है। महावीर परमात्मा आदि तो णमो सिद्धाणं में हो गये हैं, वे तो सिद्ध है। यहाँ थे, तब तक अरिहन्त थे, सिद्ध हो गये। यह अरिहन्तरूप से विराजते हैं, अरिहन्त को वाणी होती है जड़ की। सिद्ध को वाणी और शरीर नहीं होता। आहाहा! उस वाणी द्वारा यह आया, उसे सन्त कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे न दिगम्बर मुनि, आहाहा! यह सन्देश प्रभु का, यह लाये हैं कि प्रभु तो ऐसा कहते हैं। उनको तो था ही यह।

सर्वज्ञदेव जिनेश्वरदेव का यह हुकम है, कि जिसे दया, दान और व्रत के विकल्प से भिन्न पड़कर आत्मा का ज्ञान और धर्म हुआ, वह धर्मी जीव रागरूप, पुण्य-पापरूप, व्रत के विकल्परूप वे अज्ञानस्वरूप हैं, वह ज्ञानस्वरूपी प्रभु, अज्ञानस्वरूप कैसे परिणमे? किंचित्मात्र नहीं परिणमे। आहाहा! ऐसी बात सुनने को मिलना मुश्किल, बापू! आहाहा! इतनी लाईन में तो कितना भरा है! है न?

बनिये चक्रवृद्धि ब्याज नहीं निकालते। आठ आना के रूप से था न पहले। अब और यह डेढ़ (रुपया) हो गया, पहले आठ आना और बैंक में तीन आना थे। बैंक में तीन आना थे। साठ वर्ष पहले और अभी तो डेढ़ रुपया हो गया। तुम्हारे यहाँ बैंक में कहीं बारह आने या ऐसा हो गया। ऐसा कहे, लोग कहे वह सुना हो, अपने को कहाँ (खबर)। आहाहा! वहाँ उसका ब्याज निकाला हो तो निकाले कि सौ का डेढ़ रुपये का ब्याज, पाँच लाख का एक दिन का कितना ब्याज आवे, उसे चढ़ावे, उसे चढ़ाकर दूसरे दिन उसके सहित का डेढ़ प्रतिशत का ब्याज चढ़ावे। ऐसा बारह महीने का चढ़ावे। उसके नाम चक्रवृद्धि ब्याज कहलाता है।

यहाँ परमात्मा त्रिलोकनाटा आत्मा का ब्याज चढ़ाते हैं। बापू! आत्मा तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप है न, प्रभु! वह तो ज्ञान और आनन्दरूप हो न! आहाहा! समझ में आया? वह तो जानना-देखना और आनन्दरूप हो न! आहाहा! वह राग और पुण्य और दया, दान

और सुख-दु:ख की कल्पना तो अज्ञानस्वरूप है न? आहाहा! उसमें ज्ञानस्वरूप नहीं है, अज्ञान अर्थात्? वह ज्ञानस्वरूपी भगवान, उस राग-अज्ञानस्वरूप कैसे परिणमे? आहाहा! है? वह **अज्ञानात्मा द्वारा किंचित्मात्र भी परिणमित नहीं होता।** भाषा कठिन है न? आहाहा! इतना ही। धर्मी जीव तो ज्ञान-आनन्दरूप परिणमता हुआ जो रागादि हुए, उन्हें परज्ञेयरूप से जानता है। आहाहा! समझ में आया?

अब ऐसी बात कहते हैं। यह तो चौथे काल की बातें होंगी? पाँचवें काल के साधु तो पाँचवें काल के श्रोता को सुनाते हैं।

मुमुक्षु : मुनि के लिये नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अभी चौथे गुणस्थान की बात करते हैं। यह पहले आ गया है। अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। आहाहा! जो कोई अनादि का अज्ञानी है, उसे समझाते हैं। और समझा तब उसकी दशा कैसी होती है, उसका यह वर्णन है। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है, भाव दूसरा। आहाहा! इतनी एक लाईन में तो कितना भरा है। आहाहा!

जिनके रूप में आत्मा के द्वारा परिणमना करना... जिनके रूप में अर्थात्? - कि राग-द्वेष-सुख-दुखादिरूप से, जिसके द्वारा अर्थात् आत्मा के द्वारा, जिसके रूप में आत्मा द्वारा आनन्दरूप से आनन्द ज्ञान द्वारा, जिनके रूप में अर्थात् राग-द्वेष-सुख-दु:खादिरूप से, अज्ञानपने द्वारा किंचित्मात्र भी नहीं परिणमता। आहाहा! है या नहीं सामने लाईन। आहाहा!

अरे! ८४ के अवतार कर-करके दु:ख होकर हैरान हो गया है। ये सब करोड़ोंपति और अरबोंपति बेचारे भिखारी। भगवान इन्हें भिखारी कहते हैं। क्यों? भिखारी, भिखारी है। पैसे दो, स्त्री मिले, इज्जत दो, कीर्ति लाओ, बड़ा कहो, माँगनेवाला है बड़ा भिखारी है।

मुमुक्षु : भावनगर दरबार को कहा था न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा था न, दरबार को स्वयं कहा था न, भावनगर दरबार, भावनगर दरबार आये थे। करोड़ रुपये की आमदनी। कृष्णकुमार आये थे न, व्याख्यान में दो बार आये थे। लाख माँगे छोटा भिखारी, करोड़ माँगे बड़ा भिखारी है। कहा, अन्दर

भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता, अनन्त सुख महालक्ष्मी पड़ी है। उसकी तो माँग नहीं और इस धूल की माँग। दो–पाँच करोड़ रुपये हुए, मानो कि मैं बहुत बढ़ गया। बड़ा भिखारी है, रंक। ऐई! यहाँ तो ऐसा है। शास्त्र में उसे वराँका कहा है, भगवान ने (कहा है) वराँका अर्थात् भिखारी, माँगनेवाला... माँगनेवाला... माँगनेवाला। पैसा लाओ, अच्छी स्त्री लाओ, अच्छे पुत्र लाओ, बड़ी इज्जत लाओ, भिखारी... भिखारी... भिखारी... और बड़ा भिखारी...

धर्मी है वह, भिखारी मिटकर आत्मा में अन्दर माँगता है, आत्मा में से शान्ति लाओ, कहो, रसिकभाई! ऐसा है। इस एक लाईन में बहुत है।

न परिणमित होता हुआ, ज्ञान का ज्ञानात्व प्रगट करता हुआ... क्या कहते हैं अब? आहाहा! ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, वह रागादि दया, दान, सुख–दुःख की कल्पना के अज्ञानस्वरूप नहीं होता, ज्ञानस्वरूप को प्रगट करता हुआ। ज्ञान का ज्ञानत्व, आत्मा का आत्मपना, आत्मा का आत्मपना। आत्मा–ज्ञान उसका ज्ञानपना, पर्याय में। आहाहा! है न सामने श्लोक? यह सोनगढ़ का नहीं है, हों! यह हमारे बलुभाई कहते हैं कि यह पुस्तक तो सोनगढ़ का प्रकाशित है न? दूसरे को कहने के लिये समझाने को। आहाहा! यह तो बालक और सबको समझ में आये ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा! शरीर, शरीर का काम करे, जड़, जड़ का काम करे, प्रभु! तुझे और उसे क्या सम्बन्ध है? आहाहा! अरे! यहाँ राग हो तो भी कहते हैं कि तुझे और उसे क्या सम्बन्ध है? प्रभु! आहाहा! यह व्रत का, तप का और अपवास का और यह वीर्षतप का जो विकल्प उठता है, वह राग है। वहाँ तपस्या–बपस्या नहीं है, वह तो सब लंघन है। आहाहा! अभी लक्ष्य बलुभाई का नहीं था, हों! अभी समुच्चय था। कहो, समझ में आया? आहाहा!

वह विकल्प है, वृत्ति उठती है, वह राग है। भाई! उसे तू धर्म माने और तप मानता है, मिथ्यात्वभाव, अज्ञानभाव, संसारभाव भटकने का भाव है। आहाहा! वह अज्ञानस्वरूप है। आहाहा! भारी कठिन काम। अरे! कितने दुःख सहन किये इसने संसार में! इसके दुःख देखकर देखनेवाले की आँखों में आँसू बहते हैं, बापू! तुझसे खबर नहीं। तू भूल गया, प्रभु! आहाहा! कच्चरघान सिर पर घूम गया। आहाहा! रेल घूम जाये, कचरा–चूरा, चूरा। हमारे पालेज में एक बार हुआ था। मैं खड़ा था तो जरा उसमें रेल सिर पर घूम गयी। चूरा

(हो गया)। आहाहा! देखने गये थे सब। फिर हमको देखने न दे। आहा! ऐसा तो अनन्त बार हुआ है।

मुमुक्षु : शरीर को हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर की ऐसी स्थिति अनन्त बार हुई है परन्तु यह उसे मेरी मानकर भटक मरता है। वह तो जड़ की दशा है। उसे तो कहीं रखा अलग। आहाहा! यहाँ तो दया, दान और व्रत का परिणाम भी राग है,तुझसे भिन्न चीज़ है, वह तेरी चीज़ नहीं। और वह तुझमें नहीं और तू उसमें नहीं। आहाहा! ऐसा, अब इसलिए सोनगढ़ का विरोध करे न! अरे रे! वहाँ तो दया, दान, व्रत के परिणाम को भी राग कहते हैं, जहर कहते हैं, जहर है। आत्मा अमृतस्वरूप प्रभु है, सुखस्वरूप है, उससे उल्टा राग, वह जहरस्वरूप है, दु:खस्वरूप है। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा की शक्ति को घात डालता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! घाते क्या? हिंसा करता है अपनी, इसे खबर-भान कहाँ है! आहाहा!

ज्ञान का ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ.... आहाहा! धर्मी जीव उसे कहते हैं कि आत्मस्वरूप 'ज्ञान' शब्द से पूरा आत्मा है यहाँ। पूरा आत्मा है, उसका आत्मपना प्रगट करता हुआ; राग को प्रगट करना, वह तो अज्ञानस्वरूप है, उसे प्रगट नहीं करता। आहाहा! ज्ञान का अर्थात् आत्मा का आत्मपना अर्थात् वीतरागीपना, आहाहा! प्रगट करता हुआ **स्वयं ज्ञानमय होता हुआ...** आहाहा! स्वयं वीतरागी पर्यायरूप होता हुआ। अरे! ऐसा धर्म! भाई! ऐसा तो हमने अभी तक कहीं सुना नहीं था, जैनधर्म में। स्थानकवासी में जाये तो कहे सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, रात्रिभोजन नहीं करो, कन्दमूल नहीं खाओ - ऐसा सुनते हैं। यह और कहाँ से निकाला नया? श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी में जाये तो कहे-गिरनार की यात्रा करो, सम्मेमदशिखर की पूजा करो, भक्ति (करो), कर्म दहन की, क्या कहलाती है वह? पूजा। पूजा करो। पूजा करो। परन्तु वह सब बापू! तुझे खबर नहीं। वे सब परिणाम जो अन्दर हों तो शुभराग की क्रिया है, और बाहर की क्रिया जो है, हो...हा... स्वाहा, ओम, वह तो जड़ की क्रिया है। शरीर ऐसे बोले भाषा णमो अरिहन्ताणं-

अरिहन्ताणं, वह तो जड़ की क्रिया है। 'णमो अरिहन्ताणं', तिख्खुतो आयरियाणं, वह तो जड़ की भाषा में जाता है, वह कहीं तेरी है ? और अन्दर राग होता है, वह राग भी विकार है। आहाहा! अब ऐसा हो वहाँ फिर विरोध करे न बेचारे,...

मुमुक्षु : न समझे वे करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : न समझे तो करे, क्या हो ? आहाहा! दो-तीन लाईन में तो कितना भरा है!

'निज पद रमे सो राम कहिये' यह राग में रमे, उसे हराम कहिये। आनन्दघनजी कहते हैं। उसी प्रकार यहाँ आत्मा का आत्मपना प्रगट करता हुआ, वह राग को प्रगट करना, वह तो अज्ञानपना है, यह उसे नहीं प्रगट करता हुआ, उसरूप नहीं होता हुआ, आहाहा! गाथा तो गाथा! **स्वयं ज्ञानमय होता हुआ,...** आहाहा! धर्मी जीव ज्ञान अर्थात् आत्मारूप होता हुआ, शुद्ध श्रद्धा, शुद्ध ज्ञान और रागरहित दशा स्वरूपाचरण उसरूप होता हुआ, **यह मैं राग को जानता ही हूँ...** देखो, है सही। आहाहा! धर्मी है, उसे अभी राग आता है, परन्तु उस राग को मैं जानता हूँ, मैं जाननेवाला हूँ, रागरूप होनेवाला मैं नहीं। आहाहा! कहो, देवीलालजी! कहाँ इसमें कहीं स्थानकवासी और मन्दिरमार्गी, चिल्लाहट मचाये न बेचारे, फिर विरोध न करे ? इन सोनगढ़ियों ने तो ऐसा किया, ऐसा।

मुमुक्षु : यहाँ आकर सुने तो खबर पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : करे बेचारे, खबर नहीं, धर्म क्या है वीतराग का। परमेश्वर तीन लोक के नाथ धर्म किसे कहते हैं, यह बेचारे को सुनने को मिलता नहीं। आहाहा! उसकी जिन्दगी चली जाती है, चली जाती है अज्ञान में। आहाहा!

यहाँ कहते हैं 'यह मैं', यह मैं, मैं तो चैतन्य स्वरूपी हूँ 'राग को जानता हूँ'। राग हो, परन्तु उसे मैं जाननेवाला हूँ। राग मेरा स्वरूप है, ऐसा नहीं तथा राग मुझे जानने में आता नहीं, ऐसा नहीं। जानने में आता है.. है.. है...। आहाहा! यह मैं, राग अर्थात् पुण्य-पाप के दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम को **राग को मैं जानता ही हूँ...** जानता 'ही' हूँ, ऐसा कहा है। आहाहा! एकान्त ? कथंचित् जानता हूँ और कथंचित् रागरूप होता हूँ, ऐसा नहीं ? 'ही' है। आहाहा!

अधिकार अच्छा आया, हीरालालजी ! यह बहुत सरस अधिकार है। आये हो न बराबर, गाथा बहुत अच्छी, बहुत मीठी। आहाहा ! प्रभु ने तो अमृत का सागर उछाला है।

मुमुक्षु : इस गाथा में आपने एकडा घुंटाकर बहुत दिया हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें है, इतना भरा है। आँकड़ा एक करोड़ है, ऐसा लिखा जाता है परन्तु उसका, अभी वह नोट हो गये, पहले रुपये थे, वह करोड़ की कितनी थैलियाँ हों ? पहले तो कहाँ नोट थे ? रोकड़ रकम थी। दामोदर सेठ थे न ? दामनगर दामोदर सेठ। तब रोकड़ रुपये बहुत और दस लाख रुपये, फिर रुपये आवे बाहर से लाख, दो लाख (की) थैलियाँ, हजार, हजार की सौ थैलियाँ, दो सौ थैलियाँ। मजदूर को अन्दर न जाने दे। अन्दर तिजोरी हो वहाँ घर के लोग, वह लड़के को बुलावे अन्दर, अन्दर ले जाओ। मजदूर लावे परन्तु बाहर रख जाये, फिर अन्दर ले जाये फिर उनका एक पुत्र था, रायचन्द, दामोदर सेठ का। विवाह किया था बेचारा राजकोट में। विवाह करके छह महीने में गुजर गया। वैशाख में विवाह और आसोज शुक्ल पूर्णिमा को गुजर गया। परन्तु वह पढ़ता था पूना। फिर पूना में पढ़ता था तब था। बहुत वर्ष पहले। भाई पूना रहते हैं अभी। यह तो ७३-७४ की बात है। यह पूना में पढ़ता था। पालियाद में चातुर्मास था। यह उसे पैसे देता उसका पिता। खर्च का, पुस्तक का, सबका। परन्तु उसने एक बार लिखा, बापूजी ! तुम खर्च के ऐसे पैसे भेजते हो परन्तु महीने में मुझे दो सौ जेब खर्च के दूसरे चाहिए। जेब खर्च के। आहाहा ! तब वापस उसने लिखा, बापूजी ! दो भाई दूसरे थे (कुल) तीन भाई थे। तुमको यदि ऐसा न हो तो भाई का और काका के नाम से या तुम्हारे नाम से लिखकर दो, परन्तु जब वह रुपये आते हैं, तब कमर टूटती है, वह हमारी टूटती है। कहते हैं थैलियाँ भी हम रखने जाते हैं वहाँ अन्दर। सौ-सौ, दो-दो सौ थैलियाँ आवें। गृहस्थ व्यक्ति न, हजार-हजार की थैलियाँ हों सब। उठाकर हमें रखनी पड़ती हैं। ऐई ! दुनिया को कठोर लगे। दो सौ रुपये खर्च के (भेजो) हम गरीब के घर नहीं आये, अच्छे घर में आये हैं, पैसे के ठिकाने, जेब खर्च के दो सौ चाहिए दूसरे। भेजो। यहाँ तो कहते हैं, प्रभु ! तेरा खर्च तो आत्मा के आनन्द का खर्च है, उसे भेज। आहाहा !

भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु ज्ञानस्वरूप वीतरागस्वरूप उसका परिणमन होना वह उसका आत्मा का भोग है, वह आत्मा का भोग है, यह जीव रागरूप जरा भी नहीं होकर,

आहाहा! उसे जानता ही हूँ। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग आवे, व्रत का राग आवे, भक्ति-भगवान की भक्ति का राग आवे, परन्तु धर्मी कहता है कि मैं तो उसे ही जानता ही हूँ। आहाहा! उस रागरूप मैं नहीं होता, आहाहा! परिणमित नहीं होता। आहाहा! कहो, रसिकभाई! उसमें कलकत्ता में नहीं और कहीं नहीं अन्यत्र। कौन सा गाँव तुम्हारा? वांकानेर। वहाँ भी नहीं मिलता। आहाहा! प्रभु! तेरा स्वरूप अन्दर आनन्द और ज्ञान है, प्रभु! यह राग के परिणाम, वह विकल्प है, वह तेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा!

इसलिए जिसे राग से भिन्न पड़कर, धर्म की दृष्टि, स्वभाव की दृष्टि हुई है, वह दृष्टिवन्त ऐसा कहता है कि मेरा ज्ञानस्वरूप आत्म स्वरूप, उस रागरूप होने को अशक्य है। मैं तो मेरे ज्ञान और आनन्दरूप परिणमूँ, वह मेरी सामर्थता है, वह मेरा बल है, और वह मेरी शक्ति है। आहाहा! रागरूप होना, वह मुझे अशक्य है। हाँ, राग आयेगा, जब तक मैं वीतराग नहीं हुआ, तब तक राग आयेगा, परन्तु उसे जानता ही हूँ। आहाहा! समझ में आया?

थोड़े शब्द परन्तु प्रभु अलौकिक बातें हैं। आहाहा! लो, अब प्रकाश आया इसके ऊपर, ऊपर का आया प्रकाश। यह मैं इस राग को जानता ही हूँ। आहाहा! मेरा चैतन्य प्रकाश ऐसा भगवान मैं, राग आवे उसे मेरेरूप न मानकर उसे पररूप से जानता हूँ। ऐसा धर्म पन्थ, वर्षीतप किया, तब पहले सुना था ऐसा?

मुमुक्षु : पहले तो कहते थे न धर्म मानता था।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सच्ची पहले तो ऐसा कहते थे और बात सच्ची है। बात भी सच्ची है। सम्प्रदाय के पहले में तो यह सब कहते थे, बात सच्ची है। आहाहा! बहुत अच्छी बात आयी है हीरालालजी! भाग्यशाली बराबर बाहर आये हैं और ऐसी अच्छी गाथा आयी है। आहाहा!

प्रभु! तू आनन्द का सागर है न, नाथ! अतीन्द्रिय आनन्द के सागर को तूने जाना हो, तो तेरे परिणमन में आनन्द का परिणमन हो, और रागादि का परिणमन तो दुःखरूप है। प्रभु! वह आनन्दरूपी भगवान दुःखरूप कैसे हो? आहाहा! आहाहा! हाँ, उसे राग आवे, वह दुःखरूप दिखायी दे, परन्तु मैं उसे जानता हूँ। आहाहा! चेतन आया है?

मुमुक्षु : हाँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक, यह चेतन की बात चलती है। समझ में आया? आहाहा! परन्तु गजब गाथा भाई! आहाहा! **मैं राग को जानता ही हूँ...** तब कहे **राग तो पुद्गल है।** है? यह दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव आवे, भाव व्रत का, यह तो कहते हैं कि पुद्गल है, प्रभु! वह तो राग है, मैं नहीं, मेरी जाति नहीं अर्थात् वह पुद्गल है। मेरी जाति तो ज्ञान और आनन्द की है। आहाहा! जिसे दुनिया अभी धर्म मान बैठी है, वाडा में। साधु नाम धरानेवाले यह प्ररूपणा करे, माननेवाले यह मानकर चल निकले। बापू! वीतराग का मार्ग प्रभु! अलग है, भाई!

जिनेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा अरिहन्तदेव का यह कथन है। यह सन्त आड़तिया होकर भगवान के माल को देते हैं। भगवान ऐसा कहते हैं, प्रभु। आहाहा! समझ में आया? यह तो **रागी तो पुद्गल है...** गजब हो गया। इसमें से वे ऐसा निकालते हैं कि कर्म के कारण राग होता है और मेरा पुरुषार्थ, वह यहाँ अभी यह नहीं कहना। वापस उसमें से यह निकाले कि पहले दिन कहा था थोड़ा। राग तो स्वयं पुरुषार्थ की विपरीतता से करता है परन्तु इसका स्वभाव नहीं है, इसलिए राग को पुद्गल में डाल दिया, यहाँ आत्मस्वभाव में वह चीज़ नहीं है, उससे विरुद्ध है, इसलिए पुद्गल में डाला। यह तो जाननेवाले ने धर्मी ने धर्म जाना उसे, परन्तु पहले से ऐसा माने कि यह कर्म के कारण राग होता है, कर्म के कारण राग होता है, मेरे क्या है? ऐसा नहीं। आहाहा!

राग तो तेरी पर्याय में अशुद्ध उपादान से तुझसे होता है परन्तु यहाँ शुद्ध उपादान का जहाँ भान हुआ है। आहाहा! शुद्ध चैतन्य भगवान पूर्णानन्द का नाथ जहाँ जानने में आया, उसे अशुद्ध परिणमन है, उसकी पर्याय में, तथापि उसे पुद्गल कहकर निकाल डाला है। आहाहा! अब इतनी सब अपेक्षायें और किसे याद रखना?

अरे! जीवन चला जाता है, बापू! मृत्यु के समीप जाता है। उसमें यदि यह नहीं किया और जाना, आहाहा! वह आँधी का तिनका कहाँ जाकर पड़ेगा? इसी प्रकार मिथ्याश्रद्धावाला जीव कहाँ जाकर भटकेगा? आहाहा! इसलिए इसे सच्ची श्रद्धा कराते हैं कि **(राग तो पुद्गल करता है)...** ले, कोष्ठक में है न? परन्तु इस अपेक्षा से, हों! मैं एक

शुद्ध हूँ, त्रिकाल हूँ, उसका भान हुआ है, इसलिए शुद्ध में से रागरूप परिणमना, ऐसा कोई गुण नहीं है।

अनन्त... अनन्त... अनन्त गुण की राशि प्रभु है, परन्तु कोई गुण ऐसा नहीं कि रागरूप परिणमे, इस अपेक्षा से, उस त्रिकाली आनन्द के नाथ को जिसने जगाया और जाना। आहाहा! ऐसे धर्मी को ऐसा कहते हैं कि प्रभु! तू तो राग से भिन्न है न, नाथ! तो राग, वह तेरी चीज़ नहीं, वह राग तो पुद्गल करता है, आत्मा नहीं, आत्मा किस प्रकार करे? आत्मा तो पवित्र आनन्द का नाथ है। आहाहा! भाषा तो समझ में आये ऐसी है, प्रभु! भाषा तो सादी है, इसमें तो कहीं बहुत... परन्तु, बापू! मार्ग अभी प्रचलित प्रवाह से अलग प्रकार है। आहाहा!

इत्यादि विधि से... इत्यादि अर्थात् द्वेष, राग, सुख-दु:ख आदि के असंख्य प्रकार के राग, असंख्य प्रकार के द्वेष इत्यादि। **इत्यादि विधि से ज्ञान से विरुद्ध ऐसे...** ओहोहो! क्या टीका? आत्मा से विरुद्ध **ऐसे समस्त रागादि कर्म का अकर्ता प्रतिभासित होता है...** आहाहा! उसने लिखा है न भाई ने क्रमबद्ध में, वीतरागमार्ग अकर्तापने को सिद्ध करता है। पर का कर्ता तो नहीं परन्तु राग का भी कर्ता नहीं, वह तो नहीं परन्तु आगे नहीं जाते, नहीं गये, वरना तो वास्तव में तो द्रव्य, पर्याय का कर्ता नहीं। ऐसा प्रभु का मार्ग है। आहाहा! ईश्वर कर्ता तो नहीं, तथा परद्रव्य का आत्मा कर्ता नहीं, तथा राग का आत्मा कर्ता नहीं, आत्मद्रव्य है, वह स्वभाव विरुद्ध उस राग को कैसे करे? परन्तु वास्तव में तो सम्यग्दर्शन और ज्ञान जो पराकाररूप से परिणमता है धर्म। आहाहा! वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो राग से भिन्न और राग से उसकी अज्ञानदशा से ज्ञान भिन्न, ऐसा जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान, वह षट्कारकरूप से परिणमता है, कर्ताकर्म आदि, वह उसका कार्य द्रव्य का भी नहीं, वह द्रव्य अकर्ता। आहाहा! ऐसा अकर्ता का प्रभु मार्ग कहीं है नहीं। समझ में आया? आहाहा! ज्ञान से विरुद्ध ऐसे समस्त दया, दान, व्रत, राग और सुख-दु:ख की (कल्पना) कर्म, कर्म अर्थात् परिणाम का अकर्ता प्रतिभासित होता है। धर्मी को आत्मा राग का अकर्ता भासित होता है। आहाहा! विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १८७, गाथा-९३, दिनांक ०५-०२-१९७९, सोमवार, माघ शुक्ल-९

श्री समयसार, ९३ गाथा का भावार्थ।

जब आत्मा राग-द्वेष, सुख-दुःखादि अवस्था को... आहाहा! शुभ-अशुभराग और सुख-दुःख की दशा, उस **अवस्था को ज्ञान से भिन्न जानता है...** है? **जैसे शीत-उष्णता पुद्‌गल की अवस्था है...** शीत और उष्ण अवस्था / पर्याय / दशा वह जड़ की है, **उसी प्रकार राग-द्वेषादि भी पुद्‌गल की अवस्था है।** आहाहा! दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रत, तप, वह सब राग जो है। आहाहा! वह तो पुद्‌गल की अवस्था है। क्योंकि आत्मा... ९३ गाथा का भावार्थ, आहाहा!

आत्मा शुद्ध चैतन्य अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप का भाव तो अतीन्द्रिय आनन्द और वीतरागी पर्याय उसका भाव है। आहाहा! इस अपेक्षा से यहाँ बात ली है, और जितना रागादि दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा या काम-क्रोध का जो विकल्प-राग उठे, वह सब पुद्‌गल की अवस्था है। उस ज्ञान से, आत्मा से भिन्न जाने, उसे आत्मा से भिन्न—पृथक् जाने।

जैसे शीत-उष्ण अवस्था पुद्‌गल की है, उसी प्रकार राग-द्वेष, सुख-दुःखादि पुद्‌गल की अवस्था है, **ऐसा भेदज्ञान होता है...** आहाहा! ऐसा राग का और आत्मा का भेदज्ञान होता है, आहाहा! **तब अपने को ज्ञाता जानता है...** तब आत्मा को तो जाननेवाला-देखनेवाला जानता है। यह राग और पुण्य-पाप के भाव, वे मेरे हैं—ऐसा वह नहीं जानता। धर्मी जीव सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा के स्वभाव को राग के भाव से भिन्न जानते हुए, वह ज्ञान, ज्ञानी राग से भिन्न अपने स्वभाव को जानता है और अपने स्वभाव से राग को भिन्न जानता है। अरे! ऐसी बात है।

अभी तो कहे दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, वह तो धर्म है - ऐसा लोग अभी मानते हैं। धर्म तो आत्मा का स्वभाव शुद्ध त्रिकाली आनन्द है, उसकी दृष्टि होकर जब आनन्द और शान्ति के परिणाम अविकारी हों, वह आत्मा की दशा और आत्मा के परिणाम हैं। उस राग से भिन्न पड़कर अपने आत्मा का स्वभाव ज्ञातादृष्टा है, ऐसे ज्ञातादृष्टा के परिणाम हों, उसका नाम राग से भेदज्ञान और समकिती है, वह धर्मी है। आहाहा! ऐसा है।

राग-द्वेषादि पुद्गल की अवस्था है। ऐसा भेदज्ञान होता है, तब अपने को ज्ञाता जानता है। आहाहा! मैं तो एक जानने-देखनेवाला भगवान, सच्चिदानन्द, सत् अर्थात् शाश्वत, ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु (हूँ) तो मेरी दशा तो आनन्द की, शान्ति की, वीतराग की अवस्था, वह मेरी अवस्था है। उसका मैं कर्ता और वह मेरा कार्य है, धर्मी को ऐसा होता है। आहाहा! अब ऐसा सूक्ष्म। **और रागादिरूप पुद्गल को जानता है।** देखा? मैं एक आत्मा तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द का भण्डार हूँ, उसकी परिणति की दशा, राग से भिन्न ज्ञाता-दृष्टा की दशा, वह मेरी दशा है - ऐसा धर्मी जानता है। आहाहा! और रागादि के परिणाम वह मेरे ज्ञान का परज्ञेय पुद्गल की अवस्था है। ऐसा है, काम बहुत कठिन है। है?

राग-द्वेष, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभभाव पुद्गल के जानता है। **ऐसा होने पर, रागादि का कर्ता आत्मा नहीं होता...** इस प्रकार पुण्य-पाप के भाव से भगवान आत्मा भिन्न है, ऐसा जिसे ज्ञान और दर्शन ज्ञाता-दृष्टा हुआ, वह अपने परिणाम शुद्ध का कर्ता होता है, परन्तु वह रागादि का कर्ता नहीं होता। अरे! अब ऐसी बातें गले उतरना... कहो, दया का भाव वह राग; व्रत का भाव, वह राग, विकल्प की वृत्ति उठती है न? वस्तु तो ज्ञानस्वरूप आनन्द है। उसमें भी वृत्ति उठती है। उठती है, वह राग है। आहाहा! दान का भाव—पाँच-पच्चीस हजार, लाख-दो लाख दिये, राग की मन्दता, परन्तु वह राग है वह तो। आहाहा! वह निश्चय से तो पुद्गल-जड़ की अवस्था है। आहाहा!

आत्मा तो उसका जानने-देखनेवाला ज्ञातादृष्टा है। ऐसा जब भेदज्ञान—यथार्थ ज्ञान, वास्तविक ज्ञान राग से भिन्न पड़े, तब वह ज्ञातादृष्टा होता है। है? उन **रागादि का कर्ता आत्मा नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है।** आहाहा! ऐसा काम। जगत से उलट-पुलट है।

मुमुक्षु : सच्चा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मार्ग यह है, बापू! वीतराग परमात्मा का मार्ग तो वीतरागी पर्याय है। वीतरागी पर्याय कब होती है?-कि राग से भिन्न पड़कर स्वयं चैतन्यस्वरूप हूँ, आनन्दकन्द हूँ, ज्ञान और आनन्द का सागर हूँ, ऐसा अन्तर में राग से भिन्न पड़े, तब उसे ज्ञातादृष्टा के परिणाम होते हैं, तब उसे धर्म होता है, ऐसा कहा जाता है। अरे... अरे! ऐसी बातें। यह ९३वीं गाथा पूर्ण हुई।

●●●

मैं परमात्मा हूँ - ऐसा नक्की कर!
मैं परमात्मा हूँ - ऐसा निर्णय कर!
मैं परमात्मा हूँ - ऐसा ऐसा अनुभव कर!
- पूज्य गुरुदेवश्री

श्री महावीर कुंदकुंद दिगंबर जैन परमागममंदिर